एक बार ज़रूर पढ़िये

पाठक महाशय !

यह आपका पवित्र धर्मशास्त्र है। हस्तलिखित ग्रंथोंके समान आपको इसका विनय पूजन नमन करना चाहिये। यदि आप ऐसा न करेंगे और अन्यान्य छपी पुस्तकोंकी तरह इसकी अविनय दुर्दशा करेंगे, तो हम समझेंगे कि आप ग्रंथोंका नहीं किंतु—

रुपयोंका विनय

करते हैं। क्योंकि आपके मनमें यह सिद्धांत घुसा हुआ है कि हस्तलिखितग्रंथ जितने आदरणीय होते हैं, उतने छपे हुए नहीं होते किंतु विचार पूर्वक देखा जाय तो पूज्यपना दोनोंमें समान है।

निवेदक—प्रकाशक।

मंगलाचरण ।

(इसै शास्त्र वाचनेके पहले निरतर पढना चाहिये)

ओंकारं बिंदुसंयुक्तं नित्यं ध्यायंति योगिनः ।
कामदं मोक्षदं चैव ओंकाराय नमोनमः ॥१॥
अविरलशब्दघनौघप्रक्षालितसकलभूतलकलङ्का ।
मुनिभिरुपासिततीर्था सरस्वती हरतु नो दुरितान् ॥२॥
अज्ञानतिमिरांधानां ज्ञानांजनशलाकया ।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥३॥

परमगुरवे नमः परंपराचार्यश्रीगुरवे नमः । सकलकलुषविध्वंसकं श्रेयसां परिवर्द्धकं धर्मसंबंधकं भव्यजीवमनःप्रतिबोधकारकमिदं शास्त्रं श्रीपद्मनंदिपंचविंशतिकानामधेयं अस्यमूलग्रंथकर्त्तारः श्रीसर्वज्ञदेवाः तदुत्तरग्रंथकर्त्तारः श्रीगणधरदेवाः तेषां वचोनुसारमासाद्य श्रीपद्मनंद्याचार्येण विरचितं श्रोतारः सावधानतया शृण्वंतु ।

मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी ।
मंगलं कुंदकुंदाद्यो जैनधर्मोस्तु मंगलम् ॥

॥ पद्मनंदी आचार्यके कुछ जीवन विषयका उल्लेख ॥

पाठकगण ।

कोई समय इस जैनधर्मकेलिये इसभारतवर्षमें ऐसा वीत चुका है कि जिससमय इस पवित्र जैनधर्मका नक्कारा चारो ओर इस भूमडल पर निर्भयरीतिसे वजता था।। अनंते केवली इसभूमडलपर विहारकर अपने ज्ञानरूपीसूर्यसे समस्त संसारके अज्ञानाधकारको दूरकरते थे। जीवोंको उत्तममार्गका उपदेश देकर मोक्षकी ओर झुकाते थे। अनते निर्ग्रंथ मुनिगण भाति २ के उग्रतपोंको करतेथे, उग्रध्यानके वलसे अपने आत्मस्वरूपके रसको भलीभांति आस्वादन करते थे, और जीवोंको भी आस्वादन करानेकी रातदिन कोशिश किया करते थे। उन निर्ग्रंथ मुनीश्वरो में कोई तो आचार्यपदके और कोई उपाध्यायपदके धारी होते थे। शिक्षा दीक्षा देना इत्यादि आचार्योंका मुख्य कर्म था उसको वे आचार्य भली भाति करते थे। उन्हीं आचार्योंकी कृपासे एव शिक्षासे अनगिनते जीव निर्ग्रंथ अवस्था प्राप्तकरते थ और मोक्षकी प्राप्तिमें सदा प्रयत्नशील रहा करते थे। इसी भाति अनेक उपाध्यायगण भी इस पृथ्वी मडल ऊपर विहार करते थे। अपने पठन पाठन कर्ममें ये पवित्र आत्माके स्वरूपके जाननेवाले उपाध्याय सदा निष्णात रहते थे। जिस दिशाकी ओर देखो उसदिशामें यही देखनेमें आता था कि उपाध्यायपदके धारी मुनीश्वर हजारों शिष्योंको वास्तविक स्वरूपका अध्यापन करारहे हैं। कहीं पर किसी विषयका और कहीं पर किसी विषयका वर्णन किया जा रहा है।

पचम कालके प्रभावसे वह प्राचीन ऋषि समाज वहुकालसे दृष्टि गोचर नहीं होने लगा तव जैनधर्मका पठन पाठन वहुत कम होने लगा। यहां तक कि २५ वर्ष पहले की वात है कि संस्कृत शास्त्रोंके पाठी कहीं कोई दृष्टि गोचर होते थे। परतु हर्ष है कि १०–१५ वर्ष से फिर इस पवित्र धर्मका पठन पाठन इसतरह वढ रहा है कि जिससे विधर्मी लोगोंकी भी श्रद्धा जैनधर्म पर होने लगी है।

पाठक ! यह कृपा और किसीकी मत समझिये, सिर्फ यह सव कृपा है तो जैनग्रथोंकी ही है क्योंकि जवसे लोगोको जैनग्रंथोंके देखनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ है। जवसे उन्होंने जैनधर्मके स्वरूपको जाना है तवही से यह वात हुई है।

जैनधर्मके प्रेमियो ! यद्यपि आप के कुछ प्राचीन ग्रन्थों का अव उद्धार हुआ है तथापि अव भी आपके सैकडों ग्रथ भडारोंमें कीडोंके भोजन वन रहे हैं दयाकर उनके उद्धारका प्रयत्न कीजिये। नहीं तो आचार्योंका प्रयत्न व्यर्थ जायगा और आपलोगोको कृतघ्नी वनना पडेगा क्योंकि लोग वरावर जैनधर्मके देखनेकी, उसके ग्रथोंके अभ्यास करनेकी अभिलाषा प्रगट कररहे हैं। ग्रथोंको मगा रहे हैं किंतु खेद है जैन ग्रथ उनको मागनेपर भी नहीं मिलते हैं। मिले कहासे ? सिर्फ एक २ दो २ प्रतिया हैं उनको वे रक्खें या मागनेवालेको देवें क्योंकि शुद्ध लेखक मिलते नहीं वड़ी कठिनाई सी अटक गई है।

इस उक्त त्रुटिके दूरकरनेकेलिये तथा हरएक मनुष्यको सुलभरीतिसे जैनधर्मके स्वरूपका ज्ञान होवे इसवास्ते यह अत्युत्तम महान ग्रंथ **श्रीपद्मनंदिपंचविंशतिका** प्रकाशित किया गया है। कोई २ कहते हैं कि यह ग्रंथ साहित्यका मामूली ग्रंथ है किंतु यह उनकी वडी भारीभूल है इसग्रथका अभ्यासी वखूबीरीतिसे जैनधर्मका जानकार होसकता है, इसमें कोई संदेह नहीं। इसग्रथका पद्मनंदिपंचविंशतिका नाम इसलिये पड़ा है कि पद्मनन्द्याचार्यने इसग्रथमें बड़ीभारी सुदरकवितामें पचीस अध्यायोंमें पचीस प्रकरणोंका वर्णन किया है उन प्रकरणोंके नाम तथा संक्षेप रीतिसे वर्णन इसप्रकार हैं। प्रथमही प्रथम इसग्रथमें **धर्मोपदेशामृतरूप** अधिकारका वर्णन कियागया है इसअधिकारमें धर्मका सामान्यस्वरूप, विस्तारपूर्वक दयाधर्मका स्वरूप, श्रावकधर्मका स्पष्टतया स्वरूप, मुनिधर्मका विस्तारपूर्वक कथन, सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्-चारित्ररूप रत्नत्रय धर्मका स्वरूप, उत्तम क्षमा मार्दव आर्जव सत्य शौच संयम तप त्याग आकिंचन्य ब्रह्मचर्य इसप्रकार स्पष्टरीतिसे दशधर्मका स्वरूप, शुद्ध आत्माकी परिणतिरूप धर्मका स्वरूप और धर्मकी महिमा, धर्मका दुर्लभपना, आदिक वातोंका विस्तार पूर्वक सरलरीतिसे वर्णन कियागया है। १। दूसरा अधिकार **दानोपदेशाधिकार** है। इसमें उत्तम पचोंसे आहार औषध अभय और शास्त्र इनचार दानोंका विस्तार पूर्वक कथन किया गया है। तीसरा अधिकार **अनित्यत्वाधिकार** है। इसमें समस्त वस्तुओंकी अनित्यताका वर्णन कियागया है। चौथा **एकत्वाधिकार** है इसमें एकही जीव उत्पन्न होता है एकही गर्भमें शरीर ग्रहण करता है एक ही वालक और युवा है इसकी दूसरा कोई चीज ससारमे नहीं है इत्यादि वातोंका भलीभाति वर्णन है। पाचवां अधिकार **यतिभावनाष्टक** है। इसअधिकारमें भलीभांति यतियोंकी भावनाओंका वर्णन कियागया है। छठवां अधिकार **उपासकसंस्कार** है इसमें भलाभाति श्रावकोंके व्रतोंका वर्णन किया गया है और वारह भावनाओंका भी स्वरूप दिखायागया है। ७ सातवा **देशव्रतोद्योतन** नामक अधिकार है इसमें एकदेशव्रतका भलीभाति प्रकाश कियागया है ८ वा अधिकार **सिद्धपरमेष्ठिस्तुति** है इसमें सिद्धोंके स्वरूपकी उत्तम रीतिसे स्तुति कीगई है। ९वा **अलोचनाधिकार** है इस अधिकारमें जिनेंद्रदेवके सामने वैठकर पापोंकी आलोचनाका भलीभाति वर्णनकिया है। १० वा अधिकार **सद्बोधचंद्रोदय** है इसमें वखूबी रीतिसे चैतन्यतत्त्वका वर्णन कियागया है ११ वा अधिकार **निश्चयपंचाशत** है इसमें ५० श्लोकोंमें निश्चयनयका वर्णन उत्तम रीतिसे कियागया है १२ वां **ब्रह्मचर्यरक्षावर्ती** अधिकार है इसमें ब्रह्मचर्यकी रक्षा किसप्रकार क्यों करना चाहिये तथा ब्रह्मचर्यकी रक्षाकरनेसे मनुष्यों का क्या फायदा होता है इनवातोंका भलीभाति वर्णन किया गया है। १३ वां अधिकार **ऋषभजिनेंद्रस्तोत्र** है। इसस्तोत्रमें प्राकृतभाषामें भलीभाति जिनेन्द्रभगवान की स्तुति की गई हैं। १४ वा **जिनेंद्रस्तोत्राधिकार** है इस अधिकारमें भलीभाति सामान्यरीतिसे जिनेंद्रभगवानकी स्तुतिकी गई है। १५ वा **सरस्वतीस्तोत्र** नामका अधिकार है इसमें जिनवाणी माताके गुणोंका भलीभाति वर्णन है। १६ वा **स्वयंभूस्तोत्र** नामका

॥२॥

अधिकार है इसमें चौबीसों तीर्थंकरोंकी उत्तमरीतिसे स्तुति की है । १७ वां प्रभाताष्टक नामका अधिकार है इसमें जिनेंद्रके सुप्रभातका भली भांति वर्णन कियागया है यह स्तोत्र प्रात कालमें बोलने के लिये बहुत ही अपूर्व है । १८ वा शांतिनाथस्तोत्र है इसमें शांतिनाथ भगवानकी उत्तमरीतिसे स्तुति की गई है । १९ वा पूजाष्टक है इसमें जल चदन आदिके जुदे २ अष्टकोंका वर्णन कियागया है । २० वा करुणाष्टक है यह स्तोत्र इतना मधुर है कि इसके पढनेसे कंठ करुणासे गद्गदहोजाता है । २१ वा क्रियाकांड चूलिका नामका अधिकार है इसमें वस्तुवां रीतिसे जिनेन्द्र भगवानके सामने पापोंके प्रायश्चित्तका वर्णन कियागया है । २२ वा एकत्वभावना नामक अधिकार है इसमें एकत्वभावनाका विस्तार पूर्वक कथन है २३ वा परमार्थविंशति नामक अधिकार है इसमें भलीभांति परमार्थका वर्णन कियागया है । २४ वा शरीराष्टक नामक आधकार है इसमें इस शरीर के गुणदोषोंका वर्णन है । २५ वा स्नानाष्टक है इस अधिकारमें स्नानसे शुद्धिमाननेवालोंकी निंदाका वर्णन कियागया है । इन पचीस आधिकारोंके अतिरिक्त अतमें ब्रह्मचर्याष्टक है इन आचार्य महाराजकी ब्रह्मचर्यमें सब धर्मोंसे अधिक भक्ति थी इसलिये ब्रह्मचर्य अधिकारमें इस ग्रथकी समाप्ति की है ऐसा माॡम होता है ॥ इति ॥

हमारी समझसे यह ग्रथ प्रत्येक भडार तथा घरमें रहना चाहिये और यह ग्रथ औपदेशिक परीक्षामें भी भर्ती होजाना चाहिये क्योंकि जो विद्यार्थी ओपदेशिक परीक्षा देंगे वे अवश्य ही इसग्रथको याद करेंगे और इसके यादकरनेसे वे अच्छीतरह जैनधर्मके जानकार हो जावेंगे तथा उत्तमवक्ता भी होजावेंगे इसमें किसी प्रकारका संदेह नहीं ॥

इसग्रथकी कविता बहुत ही उत्तम और गभीर है ॥

आचार्यवर पद्मनंदी ।

सज्जनगण ! यह जो ग्रंथ आपके सामने विराजमान है इस ग्रथके कर्ता महात्मा आचार्य पदके धारी श्रीपद्मनंदी आचार्य हैं । जैनियोंका इतिहास सबसे पीछे पछडा हुवा है, सामग्री कुछभी नजर नहीं आती, एक २ नामके कई आचार्य भी होगये हैं इसलिये पद्मनंदिनी सरीखे विद्वानोंमें ये कौन पद्मनदी आचार्य थे इसबातका हम जराभी निर्णय नहीं करसकते, क्या करें ।

पूना लायब्रेरीकी रिपोर्टसे यह पतालगा है कि पद्मनदीनामके कई आचार्य होगये हैं उनमें एक पद्मनदी जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति के कर्ता हैं जो कि वीरनदीके शिष्य बलनदी, बलनदीके शिष्य पद्मनदी हैं । ये आचार्य विजयनगरके निकट वारानगरके शक्ति भूपालके समयमे हुवे हैं । दूसरे पद्मनदीने पचविंशतिका, चरणसारप्राकृत, धर्मरसायनप्राकृत ये तीन ग्रथ बनाये हैं । इनके समयादिका कुछ भी पता नहीं लगता । तीसरे कर्णाटग्राममें हुवे हैं जिन्होंने सुगधदशमीउद्यापनादि बनाये हैं । चौथे पद्मनदी कुडलपुरनिवासी हुवे हैं जिन्होंने चूलिकासिद्धातकी वृत्तिनामक व्याख्या १२००० श्लोकोंमें बनाई हैं । पाचवें विक्रम स० १३९५ में हुवे हैं छट्टे पद्मनदी भट्टारक नामसे प्रसिद्ध हुवे हैं जिनकी बनाई हुई

देवपूजा रत्नत्रयपूजा पूनाकी लाइब्रेरीमें प्राप्त है। सातवें विक्रम सं० १३६२ में भट्टारक नामसे हुवे हैं इनकी लघुपद्मनंदी संज्ञा भी है इनके बनाये हुवे यत्याचार आराधनासंग्रह परमात्मप्रकाशकी टीका, निघटु (वैद्यक) श्रावकाचार कलिकुंडपार्श्वनाथविधान अनतकथा आदि ग्रंथ हैं किंतु पद्मनंदी जोकि जम्बूद्वीप प्रज्ञप्तिके कर्ता हैं और विजयनगरके निकट वारानगरके शक्तिभूपालके समयमें हुवे हैं वेही पद्मनंदिपचविंशतिकाके कर्ता जानपडते हैं क्योंकि इसमें प्रथम प्रमाणतो यह है कि ये प्राकृत भाषाकेभी पूर्ण जानकार थे क्योंकि इन्होंने इसग्रंथमें ऋषभ स्तोत्रका तथा जिनेंद्रस्तोत्रका प्राकृत भाषामें वर्णन किया है इसलिये प्राकृत ग्रथ जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति इन्हीका बना हुवा होना चाहिये। दूसरे—जगह २ इसग्रथमें इन्होंन वीरनदी गुरुको नमस्कार किया है इसलिये यदि ये वीरनदीके शिष्य प्रशिष्योंमें से हैं तो इस पद्मनंदिपंचविंशतिकाके कर्ता येही हैं इन्होने बलनदीको इसग्रथमें नमस्कार नहीं किया है इसलिये सभावना होती है कि शायद बलनदी इनके सहपाठियोंमें उत्तम नंबर के सहपाठी हों इसलिये इनकी प्रखर गुरुत्व बुद्धि उनमें न हो? इनप्रमाणोंसे यह भी बात समझमें आती है कि दूसरे पद्मनदीनामके आचार्यने जो पचविंशतिका बनाई है वह इस पचविंशतिकासे भिन्न कोई दूसरी पचविंशतिका होनी चाहिये यद्यपि इनके बनाये हुवे ग्रंथोंसे यह बात बखूबी रीतिसे जानी जाती है कि प्राकृत भाषाके जानकार ये भी थे इसलिये इस पद्मनदिपचविंशतिकाके कर्त्ता ये भी होसकते हैं किन्तु इसबातका बतलानेवाला कोई बलवान प्रमाण नजर नहीं आता कि ये वीरनंदीके शिष्य प्रशिष्योंमेंसे ही होवे इसलिये यही बात निर्विवाद सिद्ध होती है कि इस पद्मनदिपंचविंशतिकाके कर्ता प्रथम पद्मनदी ही है। जो विद्वगण जैनजातिमें इतिहासके वेत्ता हैं उनको चाहिये कि वे इसग्रथके कर्ता पद्मनदी आचार्यके समयादिका पतालगावें और इनके समय आदिका निर्णय करें हमारे पास सामग्री आदिके न होंनेसे हम ऐसे महान आचार्योंके समय आदिके निर्णय करनेमें सर्वथा असमर्थ है।

पाठकवृद! मुझ अल्पज्ञमें इतनी शक्ति नहीं थी कि इसग्रथका अनुवाद कर मैं पूराकर सकता किंतु कई कारणोंसें मुझे यहकाम अवरन हाथमें लेनापडा और यथासाध्य करना भी पडा इसलिये विद्वानोंके सामने मेरी यह सविनय प्रार्थना है कि वे मेरा इस अनुवादका प्रथमकार्य जानकर त्रुटितस्थलोंपर क्षमाप्रदान करें। मेरेभाई आदिकी बीमारियोंके कारण आपत्तियोंमें मुझे इधर उधर भागना पडा था इसलिये कई फारमोंका सशोधन मैं नहीं कर सका जहां तक बना है अशुद्धिपत्रमें उनफार्मोंकी अशुद्धिया लेली गई हैं। मुझे इसग्रथके संपादन करते समय दो पुस्तक मिलीं थीं उनके आधार पर ही यह इसकी भाषाटीका की है, अपनी ओरसे मैंने कुछ नहीं किया है। विशेष इसप्रकारके गभीर ग्रथके अनुवादमें मेरा कोरा साहस ही विद्वद्गण समझें और मुझे क्षमा करें।

विद्वज्जनोंका सेवक,

गजाधरलाल जैन।

अधिकारोंके नाम

अशुद्धि	शुद्धि	पृष्ठ	पंक्ति
नात्माया	नात्मीया	३३९	७
एिद्धांत है	सिद्धात है	३४५	४
कन्चुरिय	कन्चुरिय	३४९	१५
सव्वध	सव्वट्ठ	३२	१३
दिट्टे	दिट्ठे	३५४	१०
दिठ्ठपणिठ्ठा	दिट्ठपणिट्ठा	३५८	८
दिठ्ठा	दिट्ठा	३५८	९
णट्ठे	णट्ठे	३५०	१३
णिव्विव्घ	णिव्विग्घ	३७२	१२
पुरउ	पुरओ	३७५	८
सझीणे	सझीणो	३७७	१४
उसस	उससे	३८०	४
सव्वपि	सव्वपि	३८४	९
सहलहिआइ	सहली हूआइ	३८८	३
दिट्ठे	दिट्ठे	३८८	१२
दिट्ठी	दिट्ठी	३९२	११
रावलं	करावलं	३९७	४
इट्टे	दिट्ठे	४००	१६
वद्रामिते	उद्रामिते	४०३	३
क्योंकिं	क्योंकि	४०४	५
वर्धने	बर्धने	४२२	१६
पदार्थोको	पदार्थोंको	४२५	१७
वृहस्पति	वृहस्पति	४२६	१३
क्षतव्य	क्षंतव्यं	४२६	१४
वाणीका चपलता है	वाणीकी चपलताहै	४२७	१
वावदूकपनेको	वावदूकपनेको	४२७	१
जीवोंको	जीवोंका	४२८	१५
उसतत्वका	उसतत्त्वका	४३०	९
वेष्ठित हुवा	वेष्टितहुवा	३३१	४
ध्वजाकी यारी है	ध्वजाका धारी है	४३१	१६
बातकी बात पलभरमें	पलभरमें	४३६	५
कोन होगा	कौन होगा ?	४३५	१
कुथुनाथ भगवानकें	कुथुनाथ भगवानके	४३७	८
बीसवे	वीसवे	४३९	१०
कामासक्तवियामपि	कामासक्तधियामपि	४४६	७
शुभ्राभ्रालेशौ	शुभ्राभ्रलेशौ	४५१	९
वस्तुतत्वकथनात्	वस्तुतत्त्वकथनात्	४५२	३१
सस्वती	सरस्वती	४५२	१४
वद्धः	बद्धा.	४४५	१६
शुचिपुष्पसुरैः	शुचिपुष्पसरे	४५६	१०
कुवन्	कुर्वन्	४५८	९
किकरे त्र	किंकरेऽत्र	४६०	१३
कुरुते	कुर्वे	४६१	१२
मतिविभ्रतो	मति विभ्रमतो	४६४	७
अभिमानी है	अभिमानी हैं	४६४	१०
तत्वोंक्य	तत्वों का	४६६	५
मध्यान्हकाल	मध्याह्नकाल	४७१	१०
चिंतायमपि	चिंतायामपि	४९१	६
बिना प्रयोजनका	विना प्रयोजनका	५००	५
इसकी बराबर	इसके बराबर	५०४	१२



॥८॥

ॐ

नमः सिद्धेभ्यः ।

भाषानुवाद सहित–

पद्मनन्दिपञ्चविंशतिका ।

मंगलाचरण

स्रग्धरा ।

कायोत्सर्गायताङ्गो जयति जिनपतिर्नाभिसूनुर्महात्मा मध्यान्हे यस्य भास्वानुपरि परिगतो राजतेस्मोग्रमूर्तिः
चक्रं कर्मेन्धनानामतिबहुदहतो दूरमौदास्यवातस्फूर्यत्सद्ध्यानवन्हेरिव रुचिरतरः प्रोद्गतो विस्फुलिङ्गः॥ १॥

अर्थः—दुपहरके समय जिस आदीश्वर भगवानके ऊपर रहाहुआ तेजस्वीसूर्य ज्ञानावरणादि कर्मरूपी ईंधनको पलभरमें भस्म करनेवाली तथा वैराग्यरूपी पवनसे जलाई हुई, ध्यानरूपी अग्निसे उत्पन्न हुवे मनोहर फुलिंगाके समान जान पड़ता है ऐसे कायोत्सर्गसहित विस्तीर्णशरीरके धारी तथा अष्टकर्मोंके जीतनेवाले उत्तम-पुरुषोंके स्वामी महात्मा श्रीनाभिराजाके पुत्र श्रीऋषभदेव भगवान सदा जयवन्त है ।

भावार्थ—इस श्लोकमें उत्प्रेक्षालंकारहै इसलिये ग्रन्थकार उत्प्रेक्षा करते हैं कि जिसप्रकार पवनसे चेताई हुई अग्नि जिससमय काष्टके समूहको जलाती है उससमय जैसे उसके फुलिंगे आकाशमें उड़कर जाते हैं । उसहीप्रकार श्रीऋषभदेवभगवानने भी अपनी वैराग्यरूपीअग्निसे ज्ञानावरणादिकर्मोंके समूहको जलाया था

तथा उसके भी फुलिंगे आकाशमें उड़करगयेथे उन फूलिंगाओंमेंसेही यह सूर्य भी एक फुलिंगा है।

सारार्थ—भगवानकी ध्यानरूपी अग्नि सूर्यसे भी अधिक तेजवाली थी ॥ १ ॥

हाथोंको नीचे किये तथा निश्चल और नासाग्रदृष्टि तथा एकान्तस्थानमें ध्यानी भगवानको
अपने मनमें ध्यानकर ग्रन्थकार फिर भी उत्प्रेक्षा करते हैं।

शार्दूलविक्रीड़ित।

नो किञ्चित्करकार्यमस्ति गमनप्राप्यं न किञ्चिद्दृशोर्दृश्यं यस्य न कर्णयोः किमपि हि श्रोतव्यमप्यस्ति न।
तेनालम्बितपाणिरुज्झितगतिर्नासाग्रदृष्टीरहःसंप्राप्तोऽतिनिराकुलो विजयते ध्यानैकतानो जिनः ॥ २ ॥

अर्थः—भगवानको हाथसे करने योग्य कोई कार्य नहीं रहा है इसलिये तो उन्होंने हाथोंको नीचे लटका-दिया है तथा जानेके लायक कोई स्थान नहीं रहा है इसलिये वे निश्चल खड़े हुवे हैं और देखने योग्य कोई पदार्थ नहीं रहा है इसलिये भगवानने नाकके ऊपर अपनी दृष्टि दे रक्खी है तथा एकान्त बास इसलिये किया है कि भगवानको पासमें रहकर कोई बात सुननेके लिये नहीं रही है इसलिये इसप्रकार अत्यंत निराकुल तथा ध्यानरसमें लीन भगवान सदा लोकमें जयवन्त हैं ॥ २ ॥

रागो यस्य न विद्यते क्वचिदपि प्रध्वस्तमोहग्रहादस्त्रादेः परिवर्जनान्न च बुधैर्द्वेषोऽपि सम्भाव्यते।
तस्मात्साम्यमथात्मबोधनमतो जातः क्षयःकर्मणामानन्दादिगुणाश्रयस्तु नियतं सोऽर्हन् सदा पातु वः ॥३॥

अर्थः—मोह तथा परिग्रहके नाश हो जानेके कारण न तो किसी पदार्थमें जिस अर्हतका रागही प्रतीत होता है तथा अर्हत भगवानने समस्त शस्त्र आदिकों छोड़ दिया है इसलिये विद्वानोंको किसी में जिस अर्हतका द्वेषभी देखनेमें नहीं आता तथा द्वेषके न रहनेके कारण जो शान्तस्वभावी है तथा शान्तस्वभावी होनेके

ही कारण जिसअर्हतने अपनी आत्माको जान लिया है तथा आत्माका ज्ञाता होनेके कारण जो अर्हत कर्मोंकर रहित है तथा कर्मोंसे रहित होनेके ही कारण जो आनन्दआदिगुणोंका आश्रय है ऐसा अर्हत भगवान मेरी सदा रक्षा करो अर्थात् ऐसे अर्हत भगवानका मैं सदा सेवक हूं।

भावार्थ—जो रागी तथा द्वेषी है और जो निरन्तर स्त्रियोंमें रमण करता है तथा जो मोही है और शत्रुसे भीत होकर जो निरन्तर शस्त्रको अपने पास रखता है तथा कर्मोंका मारा नानाप्रकारकी गतियोंमें भ्रमण करता रहता है ऐसा स्वयं दुःखी अर्हत दूसरेकी क्या रक्षा कर सक्ता है? किंतु जो वीतराग है तथा काम मोह आदि जिसके पास भी नहीं फटकने पाते और जो जन्म मरणादिकर रहित है और कर्मों का जीतनेवाला है वही दूसरे की रक्षा करसक्ता है इसलिये ऐसही आप्त (अर्हन्त) के मैं शरण हूं ॥ ३ ॥

इन्द्रस्य प्रणतस्य शेखरशिखारत्नार्कभासानखश्रेणीतेक्षणबिम्बशुम्भदलिभृद्दूरोल्लसत्पाटलम् ।
श्रीसद्माङ्घ्रियुगं जिनस्य दधदप्यम्भोजसाम्यं रजस्त्यक्तं जाड्यहरं परं भवतु नश्चेतोऽर्पितं शर्मणे ॥ ४ ॥

अर्थः—जिस प्रकार कमलोंपर भ्रमर गुंजार करते हैं उसहीप्रकार भगवानके चरणकमलोंको बड़े २ इन्द्र आकर नमस्कार करते हैं तथा उनके मुकुटके अग्रभागमें लगे हुये जो रत्न उनकी प्रभासहित भगवानके चरणोंके नखोंमें उन इन्द्रोंके नेत्रोंके प्रतिबिम्ब पड़ते हैं इसलिये भगवानके चरणोंपर भी इन्द्रों के नेत्ररूपी भौंरे निवास करते हैं-तथा जिसप्रकार कमल कुछसफेदीलिये लाल होते हैं उसही प्रकार भगवानके चरणकमल भी कुछ सफेदी लियेहुए लालवर्ण है नथा जिसप्रकार कमलोंमें लक्ष्मी रहती है उसही प्रकार भगवानके चरणकमल भी लक्ष्मीके स्थान है अर्थात् चरण कमलोंके आराधन करने से भव्य जीवोंको उत्तम मोक्षरूपी लक्ष्मीकी प्राप्ति होती है। इसालिये यद्यपि कमल तथा भगवानके चरणकमल इन गुणोंसे समान

है तथापि कमल धूलिसहित है तथा जड़ है और भगवानके चरणकमल धूलि (पाप) रहित है तथा जड़ताके दूर करनेवाले हैं अतः कमलोंसे भी उत्कृष्ट भगवानके चरणकमल सदा मेरे मनमें स्थित रहो तथा कल्याण करो।

भावार्थ—रजका अर्थ धूलिभी होता है तथा पापभी होता है इसलिये कमलतो धूलिकर सहित है किन्तु भगवानके चरणकमल धूलिकर रहित है अर्थात् चरणकमलोंकी सेवा करनेसे समस्त पापोंका नाश होजाता है। तथा कमल सर्वथा जड़ है किन्तु भगवानके चरणकमलोंमें अंशमात्र भी जड़ता नहीं है अर्थात् चरणकमलोंकी आराधना करनेसे समस्त प्रकारकी जड़ता नष्ट होजाती है ॥ ४ ॥

मालिनी ।

जयति जगदधीशः शान्तिनाथो यदीयं स्मृतमपि हि जनानां पापतापोपशान्त्यै ।
विबुधकुलकिरीटप्रस्फुरन्नीलरत्नद्युतिचलमधुपालीचुम्बितंपादपद्मम् ॥ ५ ॥

अर्थ—नाना प्रकारके देवताओंके जो मुकुट उनमें लगी हुई जो चमकती हुई नीलमणि उनकी जो प्रभा वही जो चलती हुई भ्रमरोंकी पंक्ति उसकर सहित जिस शान्तिनाथ भगवानके चरणकमल स्मरण कियेहुवेही समस्त जनों के पाप तथा संताप को दूरकर देते हैं ऐसे वे तीनलोकके स्वामी श्रीशांतिनाथ भगवान सदा जयवंत हैं ॥ ५ ॥

स जयति जिनदेवो सर्वविद्विश्वनाथोऽवितथवचनहेतुक्रोधलोभादिमुक्तः ।
शिवपुरपथपांथप्राणिपाथेयमुच्चैर्जनितपरमशर्मा येन धर्मोऽभ्यधायि ॥ ६ ॥

अर्थ—सबके जाननेवाले तथा तीनलोकके स्वामी और क्रोधलोभादिकर रहित इसीलिये सत्यवचनके बोलनेवाले श्रीजिनदेव सदा जयवंत हैं जिन श्रीजिनदेवने मोक्षमार्गको गमन करनेवाले प्राणियोंको पाथेय (टोसा) स्वरूप तथा उत्तम कल्याणके करनेवाले उत्कृष्ट धर्मका निरूपण किया है ॥ ६ ॥

इस प्रकार मंगलाचरणकर आचार्य धर्मके स्वरूप के वर्णन का प्रारम्भ करते हैं
प्रथमही धर्म कितने प्रकारका है इस बातको बतलाते हैं ।

शार्दूलविक्रीडित ।

धर्मो जीवदया गृहस्थशमिनोर्भेदाद्द्विधा च त्रयं रत्नानां परमं तथा दशविधोत्कृष्टक्षमादिस्ततः ।
मोहोद्भूतविकल्पजालरहिता वागङ्गसङ्गोज्झिता शुद्धानन्दमयात्मनः परिणतिर्धर्माख्यया गीयते ॥७॥

अर्थ—समस्त जीवोंपर दयाकरना इसीका नाम धर्म है अथवा एकदेश गृहस्थका धर्म तथा सर्वदेश मुनियोंका धर्म इस प्रकार उसधर्मके दो भी भेद हैं अथवा उत्कृष्ट रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक् चारित्र) ही धर्म है अथवा उत्तमक्षमा मार्दव आर्जव आदिक दश प्रकारभी धर्म है अथवा मोहसे उत्पन्न हुवे समस्त विकल्पोंकर रहित तथा जिसको वचनसे निरूपण नहीं करसक्ते एसी जो शुद्ध तथा आनन्दमय आत्माकी परणति उसीका नाम उत्कृष्ट धर्म है इसप्रकार सामान्यतया धर्मका लक्षण तथा भेद इसश्लोक में बतलाये गये हैं ॥७॥

अब आचार्य चार श्लोकोंमें दयाधर्मका वर्णन करते हैं ।

आद्या सद्व्रतसञ्चयस्य जननी सौख्यस्य सत्सम्पदां मूलं धर्मतरोरनश्वरपदारोहैकनिःश्रेणिका ।
कार्या सद्भिरिहाङ्गिषु प्रथमतो नित्यं दया धार्मिकैः धिङ्नामाऽप्यदयस्य तस्य च परं सर्वत्र शून्या दिशः ॥८॥

अर्थः—जो समस्त उत्तम व्रतोंके समूहमें मुख्य है तथा सच्चे सुख और श्रेष्ट संपदाओंकी उत्पन्न करनेवाली है और जो धर्मरूपी वृक्षकी जड़ है (अर्थात् जिसप्रकार जड़ बिना वृक्ष नहीं ठहरता उसही प्रकार दया बिना धर्मभी नहीं ठहर सक्ता) तथा जो मोक्षरूपी महलके अग्रभागमें चढ़नेकेलिये सीढ़ीके समान है ऐसी धर्मात्मा पुरुषोंको "समस्त प्राणियों पर दया" अवश्य करनी चाहिये किन्तु जिस पुरुषके चित्तमें लेशमात्र भी दया नहीं है उस पुरुषकेलिये धिक्कार है तथा समस्त दिशा उसकेलिये शून्य है अर्थात् जो निर्दयी है उसका कोईभी मित्र नहीं होता॥

संसारे भ्रमतश्चिरं तनुभृतः के के न पित्रादयो जातास्तद्वधमाश्रितेन खलु ते सर्वे भवन्त्याहताः ।
नन्वात्मापि हतो यदत्र निहतो जन्मान्तरेऽपि ध्रुवं हन्तारं प्रतिहन्ति हन्त वहुशः संस्कारतो ना क्रुधः॥९॥

अर्थः—चिरकालसे संसारमें भ्रमण करते हुवे इसदीनप्राणीके कौन कौन माता पिता भाई आदिक नहीं हुवे? अर्थात् सर्व ही हो चुके इसलिये यदि कोई प्राणी किसी जीवको मारे तो समझना चाहिये कि उसने अपने कुटुम्बीको ही मारा तथा अपनी आत्माकाभी उसने घात किया क्योंकि यह नियम है जो मनुष्य किसी दीन प्राणीको एकबार मारताहै उससमय उस मरेहुवे जीवके क्रोधादिकी उत्पत्ति होती है तथा जन्मान्तरमें उसका संस्कार बैठा रहता है इसलिये जिससमय कारण पाकर उसमृतप्राणीका संस्कार प्रकट होजाता है उस समय वह हिंसकको (अर्थात् पूर्वभवमें अपने मारनेवाले जीवको) अनेक बार मारता है इसलिये ऐसे दुष्ट हिंसककेलिये धिक्कार हो ॥९॥

त्रैलोक्यप्रभुभावतोऽपि सहजोऽप्येकं निजं जीवितं प्रेयस्तेन विना स कस्य भवितेत्याकांक्षतः प्राणिनः।
निःशेषव्रतशीलनिर्मलगुणाधारात्ततो निश्चितं जन्तोर्जीवितदानतस्त्रिभुवने सर्वप्रदानं लघु ॥ १० ॥

अर्थः—यदि किसी दरिद्रीसे भी यह बात कही जावे कि भाई तू अपने प्राणदेदे तथा तीनलोककी संपदा लेले तब वह यही कहताहै कि यदि मैं ही मरजाऊंगा तो उस संपदाको कौन भोगेगा। अतःतीनलोककी संपदामे भी प्राणियोंको अपने प्राण प्यारे हैं। इसलिये समस्त व्रत तथा शीलादि निर्मलगुणोंका स्थानभूत जो यह प्राणीका जीवितदान है उसकी अपेक्षा संसारमें सर्वदान छोटे हैं यह बात भलीभांति निश्चित है।

भावार्थः—अहार १ औषधि अभय तथा शास्त्र इसप्रकार दानके चारभेद हैं उन सबमें अभयदान सब से उत्कृष्ट दान माना गया है तथा अभयदान उसही समय पल सक्ता है जब किसी जीवके प्राण न दुखाये जाय इसलिये इसउत्तमअभयदानके आकांक्षी मनुष्योंको किसी भी जीवकी हिंसा नहीं करनी चाहिये ॥१०॥

शार्दूलविक्रीडित ।

स्वर्गायाऽव्रतिनोऽपि सार्द्रमनसः श्रेयस्करी केवला सर्वप्राणिदया तया तु रहितः पापस्तपस्थोऽपि च ।
तद्दानं बहु दीयतां तपसि वा चेतः स्थिरं धीयतां ध्यानञ्च क्रियतां जना न सफलं किञ्चिद्दयावर्जितम् ॥११॥

अर्थः—चाहे मनुष्य अव्रती व्रतरहित क्यों न होवे यदि उसका चित्त समस्त प्राणियोंके प्राणोंको किसी प्रकार दुःख न पहुंचानारूप दयासे भींगा हुआ है तो समझना चाहिये कि उस पुरुषको वह दया स्वर्ग तथा मोक्षरूप कल्याणको देनेवाली है किंतु यदि किसी पुरुषके हृदयमें दयाका अंश न हो तो चाहे वह कैसा भी तपस्वी क्यों न होवे तथा वह चाहे इच्छानुसार ही दान क्यों न देता हो अथवा वह कितना भी तपमें चित्तको क्यों न स्थिर करता हो तथा वह कैसाभी ध्यानी क्यों न हो पापीही समझा जाता है क्योंकि दयारहित कोई भी कार्य सफल नहीं होता॥

अब आचार्य श्रावकधर्मका वर्णन करते हैं—

सन्तः सर्वसुरासुरेन्द्रमहितं मुक्तेः परं कारणं रत्नानां दधति त्रयं त्रिभुवनप्रद्योति काये सति ।
वृत्तिस्तस्य यदन्नतः परमया भक्त्यार्पिताज्जायते तेषां सद्गृहमेधिनां गुणवतां धर्मो न कस्य प्रियः॥१२॥

अर्थः—जिस सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्ररूपी रत्नत्रयकी समस्त सुरेन्द्र तथा असुरेन्द्र भक्ति से पूजन करते हैं तथा जो मोक्षका उत्कृष्ट कारण है, अर्थात् जिसके बिना कदापि मुक्ति नहीं हो सक्ती तथा जो तीन लोकका प्रकाश करनेवाला है ऐसे सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक् चारित्ररूप रत्नत्रयको देहकी स्थिरता रहते सन्तेही मुनिगण धारण करते हैं तथा श्रद्धातुष्टि आदि गुणोंकर संयुक्त गृहस्थियोंके द्वारा भक्तिसे दिये हुए दानसे उनउत्तममुनियोंके शरीरकी स्थिति रहती है इसलिये ऐसे गृहस्थोंका धर्म किसको प्रिय नहीं है अर्थात् सब ही उसको प्रिय मानते हैं॥१२॥

स्रग्धरा ।

आराध्यन्ते जिनेन्द्रा गुरुषु च विनतिर्धार्मिकैः प्रीतिरुच्चैःपात्रेभ्यो दानमापन्निहतजनकृते तच्च कारुण्यबुद्ध्या

तत्वाभ्यासः स्वकीयव्रतिरतिरमलं दर्शनं यत्र पूज्यं तद्गार्हस्थ्यं बुधानामितरदिह पुनर्दुःखदो मोहपाशः१३

अर्थः—तथा जिस गृहस्थाश्रममें जिनेन्द्रभगवानकी पूजा उपासना की जाती है तथा निर्ग्रंथगुरुओंकी भक्ति सेवा आदि की जाती है और जिस गृहस्थाश्रममें धर्मात्मापुरुषोंका परस्परमें स्नेहसे वर्ताव होता है तथा मुनि आदि उत्तमादिपात्रोंको दान दिया जाता है तथा दुःखी दरिद्रियोंको जिस गृहस्थाश्रममें करुणासे दान दिया जाता है और जहांपर निरन्तर जीवादि तत्वोंका अभ्यास होता रहता है तथा अपने २ व्रतोंमें प्रीति रहती है और जिस गृहस्थाश्रममें निर्मल सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होती है वह गृहस्थाश्रम विद्वानों के द्वारा पूजनीक होता है किन्तु उससे बिपरीत इस संसारमें केवल दुःख का देनेवाला है तथा मोह का जाल है ॥१३॥

अब आचार्य श्रावकोंकी ग्यारह प्रतिमाओंके नाम बताते हैं—

आदौ दर्शनमुन्नतं व्रतमितः सामायिकं प्रोषधस्त्यागश्चैव सचित्तवस्तुनि दिवाभक्तं तथा ब्रह्म च ।
नारम्भो न परिग्रहोऽननुमतिर्नोद्दिष्टमेकादशस्थानानीति गृहिव्रते व्यसनितात्यागस्तदाद्यः स्मृतः ॥१४॥

अर्थः—सबसे पहले जीवादिपदार्थोंमें शंकादिदोषरहित श्रद्धानरूपसम्यग्दर्शनका जिसमें धारण होवे उसको दर्शनप्रतिमा कहते हैं तथा अहिंसादि पांच अणुव्रत तथा दिग्व्रतादि तीन गुणव्रत और देशावकाशिकादि चारशिक्षाव्रत इसप्रकार जिसमें बारहव्रत धारण किये जावे वह दूसरी व्रतप्रतिमा कहलाती है २ तथा तीनोंकालोंमें समता धारण करना सामायिकप्रतिमा है ३ और अष्टमी आदि चारोपर्वोंमें आरम्भरहित उपवास करना चौथी प्रोषधप्रतिमा है ४ तथा जिस प्रतिमामें सचित्त वस्तुओंका भोग न किया जाय उसको सचित्तत्याग नामक पांचवींप्रतिमा कहते हैं ५ । तथा जिस प्रतिमाके धारण करनेमें रात्रिभोजनका सर्वथा निषेध किया गया है उसको रात्रिभुक्तत्यागप्रतिमा कहते हैं ॥ ६ ॥

तथा जिस प्रतिमाके धारण करनेसे आजन्म स्वस्त्री तथा परस्त्री दोनोंका त्याग करना पड़ता है वह ब्रह्मचर्यनामक सातवींप्रतिमा है तथा किसीप्रकार धनादिका उपार्जन न करना आरम्भत्यागनामक आठवींप्रतिमा है और जिसप्रतिमाके धारण करते समय धनधान्य दासीदासादिका त्याग किया जाता है वह नवमी परिग्रहत्यागनामक प्रतिमा है तथा घरके कामोंमें और व्यापारमें (ऐसा करना चाहिये ऐसा नहीं करना चाहिये) इत्यादि अनुमतिका न देना अनुमतित्यागनामक दशमीप्रतिमा है तथा ग्यारहवींप्रतिमा उसको कहते हैं कि जहांपर अपने उद्देशसे भोजन न किया गया हो ऐसे गृहस्थोंके घरमें मौनसहित भिक्षापूर्वक आहार करना—इसप्रकार ये ग्यारह व्रत (प्रतिमा) श्रावकोंके हैं, इन सब व्रतोंमें भी प्रथम सप्तव्यसनोंका त्याग अवश्य कर देना चाहिये क्योंकि व्यसनोंके विना त्याग किये एक भी प्रतिमा धारण नहीं की जा सक्ती ॥ १४ ॥

शार्दूल विक्रीडित ।

यत्प्रोक्तं प्रतिमाभिरेभिरभितो विस्तारिभिः सूरिभिर्ज्ञातव्यं तदुपासकाध्ययनतो गेहिव्रतं विस्तरात् ।
तत्रापि व्यसनोज्झनं यदि तदप्यासूत्र्यतेऽत्रैवयत्तन्मूलः सकलः सतां व्रतविधिर्याति प्रतिष्ठां पराम् ॥१५॥

अर्थः—समन्तभद्र आदि बड़े २ आचार्योंने ग्यारह प्रतिमा तथा और भी गृहस्थोंके व्रत अत्यन्त विस्तारकेसाथ अपने २ ग्रन्थोंमें वर्णन किये हैं इसलिये उपासकाध्ययनसे इनका स्वरूप विस्तारसे जानना चाहिये और उन्हीं आचार्योंने जूआ खेलना १ मद्यपीना २ मांस खाना ३ आदि सातो व्यसनोंका भलीभांति स्वरूप दिखाकर उनके त्यागकी अच्छी तरह विधि बतलाई है तथा इसग्रन्थमें भी उन सप्तव्यसनोंके त्यागका वर्णन किया जायगा क्योंकि सप्तव्यसनोंके त्यागसे ही सज्जनोंकी व्रतविधि अत्यन्त प्रतिष्ठाको प्राप्तकरती है विना व्यसनोंके त्यागके नहीं ॥ १५ ॥

अनुष्टुप ।

द्यूतमांससुरावेश्याखेटचौर्यपराङ्गनाः ।
महापापानि सप्तेति व्यसनानि त्यजेद्बुधः ॥ १६ ॥

अर्थः—जूआ खेलना १—मास खाना २—मद्यपीना ३—वेश्याके साथ उपभोग करना ४—शिकार खेलना ५—चोरी करना ६—परस्त्रीका सेवन करना ७ ये सात व्यसनोंकेनाम हैं तथा विद्वानोंको इन व्यसनोंका त्याग अवश्य करना चाहिये ॥ १६ ॥

आचार्य सप्तव्यसनोंसे उत्पन्न हुई हानि तथा सप्तव्यसनोंके स्वरूपको पृथक् २ वर्णन करते हैं ।

प्रथमही दो श्लोकोंमें द्यूतनामक व्यसनका निषेध करते हैं ।

मालिनी ।

भुवनमिदमकीर्तेश्चौर्यवेश्यादिसर्वव्यसनपतिरशेषापन्निधिः पापबीजम् ।
विषमनरकमार्गेष्वग्रयायीति मत्वा क इह विशदबुद्धिर्द्यूतमङ्गीकरोति ॥ १७ ॥

अर्थः—जो समस्त अपकीर्त्तिओंका घर है अर्थात् जिसके पीनेसे संसारमें अकीर्त्ति ही फैलती है तथा जो चोरी वेश्यागमन आदि बचे हुवे व्यसनोंका स्वामी है (अर्थात् जिसप्रकार राजाके आधीन मंत्री आदि हुआ करते हैं उस ही प्रकार जूआके आधीन समस्त बचे हुवे व्यसन हैं) और जो समस्तआपत्तियोंका घर है तथा जिसके संबन्धसे निरंतर पापकी ही उत्पत्ति होती रहती है तथा जो समस्त नरकादिखोटीगतियोंका मार्ग बतलानेवाला है ऐसे सर्वथा निकृष्ट जूआनामक व्यसनको कौन बुद्धिमान अंगीकार कर सक्ता है ? अर्थात् कोई नहीं ॥१७॥

शार्दूल विक्रीडित ।

क्वाकीर्तिः क्व दरिद्रता क्व विपदः क्व क्रोधलोभादयश्चौर्यादिव्यसनं क्व च क्व नरके दुःखं मृतानां नृणाम् ।

चेतश्चेद्गुरुमोहतो न रमते द्यूते वदन्त्युन्नतप्रज्ञा यद्भुवि दुर्नयेषु निखिलष्वेतद्धुरि स्मर्यते ॥ १८ ॥

अर्थः—इस जूआके विषयमें बड़ें २ गणधरादिकोंका यह कथन है कि मोहके उदयमे मनुष्यकी जूआमें प्रवृत्ति होती है यदि मनुष्यके मोहके उपशम होनेसे जूआमें प्रवृत्ति न होवे तो कदापि संसारमें इसकी अकीर्त्ति नहीं फैल सक्ती है और न यह दरिद्री ही बन सक्ता है तथा न इसको कोई प्रकारकी विपत्ति घेर सक्ती है और इस मनुष्यके क्रोधलोभादिकी भी उत्पत्ति कदापि नहीं हो सक्ती तथा चोरी आदि व्यसन भी इसका कुछ नहीं करसक्ते और मरने पर यह नरकादि गतियोंकी वेदनाका भी अनुभव नहीं करसक्ता क्योंकि समस्तव्यसनोंमें जूआ ही मुख्य कहा गया है इसलिये सज्जनोंको इस जूवेसे अपनी प्रवृत्तिको अवश्य हटा लेना चाहिये ॥१८॥

आगे दो श्लोकोंमें मांस व्यसनका निषेध किया जाता है।

स्रग्धरा।

बीभत्सुप्राणिघातोद्भवमशुचि कृमिस्थानमश्लाघ्यमूलं हस्तेनाक्ष्णापि शक्यं यदिह न महतां स्पृष्टुमालोकितुंच
तन्मांसं भक्ष्यमेतद्वचनमपि सतां गर्हितं यस्य साक्षात्पापं तस्यात्र पुंसो भुवि भवति कियत्कागतिर्वा न विद्मः॥

अर्थः—देखतेही जो मनुष्योंको प्रवल घृणाका उत्पन्न करनेवाला है तथा जिसकी उत्पत्ति दीनप्राणियों-के मारने पर होती है और जो अपवित्र है तथा नानाप्रकारके दृष्टिगोचर जीवोंका जो स्थान है और जिसकी समस्त सज्जनपुरुष निन्दा करते हैं तथा जिसको इस संसारमें सज्जनपुरुष न हाथसे ही छूसक्ते हैं और न आंखसे ही देख सक्ते हैं और "मांस खाने योग्य होता है" यह वचन भी सज्जनोंको प्रबल घृणाका उत्पन्न करनेवाला है ऐसे सर्वथा अपावन मांसको जो साक्षात् खाता है आचार्य कहते हैं हम नहीं जान सक्ते उस मनुष्यके कित-ने पापोंका संसारमें संचय होता है ! तथा उसकी कौनसी गति होती है ! ॥ १९ ॥

शिखरणी ।

गतो ज्ञातेः कश्चिद्बहिरपि न यद्येति सहसा शिरो हत्वा हत्वा कलुषितमना रोदिति जनः ।
परेषामुत्कृत्य प्रकटितमुखं खादति पलं कले रे निर्विण्णा वयमिहभवाच्चित्रचरितैः ॥ २० ॥

अर्थः—यदि कोई अपना भाई पिता पुत्र आदि दैवयोगसे (मरना तो दूर रहे) बाहर भी चलाजावे तथा वह जल्दी लौट कर न आवे तो मनुष्य शिरकूट २ कर रोता है तथा नानाप्रकारके मनमें बुरेभावों का चिंतवन करता है किन्तु अपने कुटुम्बियोंसे भिन्न दूसरेजीवोंके मांसको उपाट २ कर खाता है तथा लेशमात्र भी लज्जा नहीं करता है इसलिये आचार्य कहते हैं कि अरे कलिकाल तेरे नानाप्रकार के चरित्रोंसे हम सर्वथा विरक्त हैं, अर्थात् तेरे चरित्रों का हमको पता नहीं लगसक्ता ॥ २० ॥

अब आचार्य दो श्लोकोंमें मदिराका निषेध करते हैं ।

मालिनी ।

सकलपुरुषधर्मभ्रंशकार्यत्रजन्मन्यधिकमधिकमग्रे यत्परे दुःखहेतुः ।
तदपि यदि न मद्यं त्यज्यते बुद्धिमद्भिः स्वहितमिहाकिमन्यत्कर्म धर्माय कार्यम् ॥२१॥

अर्थः— यह मदिरा इस जन्ममें समस्त पीनेवालेप्राणियोंके धर्मको मूलसे खोनेवाली है तथा परलोकमें अत्यन्त तीव्र नानाप्रकारके नरकोंके दुःखोंकी देनेवाली है ऐसा होने पर भी यदि विद्वान् मद पीना न छोड़ें तो समझ लेना चाहिये कि उन मनुष्योंके द्वारा अपने हितकारी धर्म के लिये कोई भी उत्कृष्ट कार्य नहीं बनसका क्योंकि व्यसनी कुछ भी उत्तमकार्य नहीं करसक्ते ॥ २१ ॥

मन्दाक्रान्ता ।

आस्तामेतद्यदिह जननीं वल्लभां मन्यमाना निन्द्याश्चेष्टा विदधति जना निस्त्रपाः पीतमद्याः ।

तत्राधिक्यं पथि निपतिता यत्किरत्सारमेयाद्वक्त्रे मूत्रं मधुरमधुरं भाषमाणाः पिबन्ति ॥ २२ ॥

अर्थः—आचार्य कहते हैं कि मदिराके पीनेवालेमनुष्य यदि निर्लज्ज होकर अपनी माता को स्त्री मानें तथा उस के साथ नाना प्रकार की खोटी चेष्टा करें तो यह बात तो कुछ बात नहीं किन्तु सब से अधिक बात यह है कि मद्यके नशेमें आकर जब मार्गमें गिरजाते हैं तथा जिससमय उनके मुखमें कुत्ता मूतते हैं उसको मिष्ट २ कहते हुवे तत्काल गटक जाते हैं ।

भावार्थः—जो मनुष्य मद्यपान करते हैं वे समस्त खोटीचेष्टा करते हैं तथा उनकी बुरी हालत होनी है और उनको किसीप्रकार हितका मार्ग भी नहीं सूझता इस लिये विद्वानोंको इस निकृष्ट मद्यसे जुदाही रहना चाहिये ॥ २२ ॥

अब आचार्य दो श्लोकोंमें वेश्या व्यसनका निषेध करते हैं ।

शार्दूल विक्रीडित ।

याः खादन्ति पलं पिबन्ति च सुरां जल्पन्ति मिथ्यावचः स्निह्यन्ति द्रविणार्थमेव विदधत्यर्थप्रतिष्ठाक्षतिम् ।
नीचानामपि दूरवक्रमनसः पापात्मिकाः कुर्वते लालापानमहर्निशं न नरकं वेश्यां विहायापरम् ॥ २३ ॥

अर्थः—जो सदा मांस खाती हैं तथा जो निरन्तर मद्यपान करती हैं और जिनको झूठ बोलने में अंशमात्र भी संकोच नहीं होता तथा जिनका स्नेह विषयीमनुष्योंकेसाथ केवल धनके ही लिये है और जो द्रव्य तथा प्रतिष्ठा को मूल से उड़ाने वाली हैं अर्थात् वेश्याकेसाथ संयोग करनेसे धन तथा प्रतिष्ठा दोनोंकिनारा कर जाते हैं तथा जिनके चित्त में सदा छल कपट दगाबाजी ही रहती है और जो अत्यन्त पापिनी हैं तथा जो धन के लाभ से अत्यन्त नीचधीवर चमार चाण्डाल आदि की लारका भी निरन्तर पान करती हैं ऐसी

वेश्याओंसे दूसरा नरक संसारमें है! यह बात सर्वथा झूठ है।

भावार्थः—वेश्या ही नरक है ॥ २३ ॥

आर्या।

रजकशिलासदृशीभिः कुक्कुरकर्परसमानचरिताभिः।
गणिकाभिर्यदि सङ्गः कृतमिह परलोकवार्ताभिः ॥ २४ ॥

अर्थः—जो वेश्या धोबीकी कपड़ेपछीटनेकी शिलाके समान है अर्थात जिसप्रकार शिलापर समस्त प्रकारके कपड़े लाकर पछीटे जाते हैं उसही प्रकार इस वेश्याकेसाथ भी समस्त निकृष्टसे निकृष्ट जातिके मनुष्य आकर रमण करते हैं अथवा दूसरा इसका आशय यह भी है कि जिस प्रकार शिला पर समस्त प्रकारके कपड़ोंके मैलका संचय होता है उसही प्रकार वेश्यारूपी शिलापर भी नाना जातियों के मनुष्य के वीर्यरूपी मैलका समूह इकट्ठा होता है तथा जो वेश्या कुत्ताओंके लिये कपालके समान हैं अर्थात् जिस प्रकार मरे हुवे मनुष्यके कपाल पर लड़ते लड़ाते नानाप्रकार के कुत्ते इकट्ठे होते हैं उसहीप्रकार इस वैश्या परभी नाना जातियोंके मनुष्य आकर टूटते हैं तथा नानाप्रकारके परस्परमें कलह करते हैं इसलिये ऐसी निकृष्टवेश्याओंकेसाथ यदि कोईपुरुष संबन्ध करे तो समझलेना चाहिये कि उसका परलोक उत्तम हो चुका।

भावार्थः—जो मनुष्य वेश्याओंके साथ संबन्ध करते हैं उनके इहलोक तथा परलोक दोनों सर्वथा बिगड़ जाते हैं ॥२४॥

अब आचार्य दो श्लोकोंमें शिकार व्यसन का निषेध करते हैं।

स्रग्धरा।

यादुर्देहैकवित्ता वनमधिवसति त्रातृसंबन्धहीना भीतिर्यस्याः स्वभावाद्दशनधृततृणा नापराधं करोति।

वध्यालं सापि यस्मिन्ननुमृगवनितामांसपिण्डस्यलोभादाखेटेऽस्मिन्रतानामिहकिमुनकिमन्यत्रनो यद्विरूपम्

अर्थः—जिस बिचारीमृगीके सिवाय देहके दूसरा कोई धन नहीं है तथा जो सदा बनमें ही भ्रमण करती रहती है और जिसका कोई भी रक्षा करनेवाला नहीं है तथा जिसको स्वभावसे ही भय लगता है तथा जो केवल तृणकी ही खानेवाली है और किसीका जो लेशमात्र भी अपराध नहीं करती ऐसी भी दीन मृगी को केवल मासटुकड़ेके लोभी तथा शिकारके प्रेमी, जो दुष्टपुरुष विनाकारण मारते हैं उनको इस लोक-में तथा परलोकमें नानाप्रकारके विरुद्ध कार्योंका सामना करना पडता है अर्थात् इसलोकमें तो वे दुष्टपुरुष रोग शोक आदि दुःखोंका अनुभव करते हैं तथा परलोकमें उनको नरक जाना पड़ना है ॥ २५ ॥

मालिनी ।

तनुरपि यदि लग्ना कीटिका स्याच्छरीरे भवति तरलचक्षुर्व्याकुलो यः स लोकः ।
कथमिह मृगयासानन्दमुत्खातशस्त्रो मृगमकृतविकारं ज्ञातदुःखोऽपि हन्ति ॥२६॥

अर्थः—आचार्य महाराज कहते हैं कि जो मनुष्य शरीरसे किसीप्रकार कीड़ी आदिके संबन्ध हो जाने सेही अधीर होकर जहांतहां देखने लग जाता है (अर्थात् उसको वह चिंउटी आदि का संबन्ध ही पीड़ा का पैदा करनेवाला होजाता है) तथा जो दुःखका भलीभांति जाननेवाला है वह मनुष्य भी शिकार में आनन्द मानकर निरपराधदीनमृगको हथियार उठाकर मारता है ? यह बड़ा आश्चर्य है ।

भावार्थः—बिना जाने किसी कार्य करने में आश्चर्य नहीं किन्तु जो भलीभांति अपने तथा परके दुःखको जानता है फिर ऐसा दुष्टकाम करता है उसकेलिये आश्चर्य है ॥ २६ ॥

शार्दूल विक्रीड़ित ।

यो येनैव हतः स हन्ति वहुशो हन्त्येव यैर्वञ्चितो नूनं वञ्चयते स तानपि भृशं जन्मान्तरेऽप्यत्र च ।

स्त्रीबालादिजनादपि स्फुटमिदं शास्त्रादपि श्रूयते नित्यं वञ्चनहिंसनोज्झनविधौ लोकाः कुतो मुह्यते२७॥

अर्थः—स्त्री बालक आदिसे तथा शास्त्रसे जब यह बात भलीभांति मालूम है कि जो प्राणी इस जन्ममें एकबार भी दूसरेप्राणीको मारता है वह दूसरे जन्ममें उस मरेहुवे प्राणीसे अनन्तबार माराजाता है तथा जो मनुष्य इस जन्ममें एकबार भी दूसरे प्राणीको ठगता है वह दूसरे जन्ममें अनन्तबार उसी पूर्वभवमे ठगेहुवे प्राणीसे ठगाया जाता है फिर भी हे लोक तू दूसरेके ठगनेमें तथा मारनेमें छोड़नेमें रातदिन लगा रहता है यह बड़े आश्चर्यकी बात है इसलिये भव्यजीवोंको चाहिये कि वे ऐसे अनर्थके करनेवाले दूसरेके मारने ठगनेमें अपने चित्तको न लगावे २७॥

और भी आचार्य चोरी कपट करनेका दोष दिखाते हैं।

अर्थादौ प्रचुरप्रपञ्चरचनैर्ये वञ्चयन्ते परान्नूनं ते नरकं व्रजन्ति पुरतः पापिव्रजादन्यतः ।
प्राणाः प्राणिषु तन्निबन्धनतया तिष्ठन्ति नष्टे धने यावान् दुःखभरो नरे न मरणे तावानिह प्रायशः॥२८॥

अर्थः—जो दुष्टमनुष्य नानाप्रकारके छल कपट दगाबाजीसे दूसरे मनुष्योंको धन आदिकेलिये ठगते हैं उनको दूसरेपापीजनोंसे पहिले ही नरक जाना पड़ता है क्योंकि (धनं वै प्राणाः) इस नीतिके अनुसार मनुष्योंके धन ही प्राण हैं, यदि किसी रीतिसे उनका धन नष्ट होजावे तो उनको इतना प्रबल दुःख होता है कि जितना उनको मरते समय भी नहीं होता इसलिये प्राणियोंको चाहिये कि वे प्राणस्वरूप दूसरेके धनको कदापि हरण न करै तथा न हरण करनेका प्रयत्न ही करै ॥ २८ ॥

परस्त्रीसेवनमें क्या २ हानि है इसबातको आचार्य दो श्लोकोंमें दिखाते हैं ।

चिन्ताव्याकुलताभयारतिमतिभ्रंशोऽतिदाहभ्रमक्षुत्तृष्णाहतिरोगदुःखमरणान्येतान्यहो आसताम् ।
यान्यत्रैव पराङ्गनाहतमतेस्तद्भूरिदुःखं चिरं श्वभ्रे भावि यदग्निदीपितवपुर्लोहाङ्गनालिङ्गनात् ॥२९॥

जो मनुष्य परस्त्रीके सेवन करनेवाले हैं उनको इसीलोकमें जो चिंता, व्याकुलता, भय, द्वेष, बुद्धिकाभ्रष्ट-पना, शरीरकादाह, भूख, प्यास, रोग, जन्ममरणआदिक दुःख होते हैं वे कोई अधिक दुःख नहीं किन्तु जिस समय उन परस्त्रीसेवीमनुष्योंको नरकमें जाना पड़ता है तथा वहांपर जब उनको परस्त्रीकी जगह लोहकी पुतलीसे आलिंगन करना पडता है उससमय उनको अधिक दुःख होता है ।

भावार्थ—जो मनुष्य परस्त्रीकेसेवी हैं उनको निरंतर अनेकप्रकारकी चिंता लगीरहती है; तथा उस स्त्रीसे मैं कैसे मिलूं कैसे उसको प्रसन्न करूं इसप्रकार उनको निरंतर आकुलता भी रहती है, और कोई हमें संभोग करते देख न लेवे तथा कोई मार न देवे, इसप्रकारका उनको सदा भय भी लगा रहता है तथा परस्त्री सेवन करनेवाले मनुष्यकी किसीके साथ प्रीति भी नहीं होती सबके साथ द्वेष ही रहता है तथा परस्त्रीसेवन करने-वाले मनुष्यकी बुद्धि भी भ्रष्ट होजाती है क्योंकि उसको माता, बहिन, पुत्री आदिका कुछ भी ध्यान नहीं रहता तथा जो मनुष्य परस्त्रीके विलासी हैं उनका शरीर सदा कामज्वरसे संतप्त रहता है तथा परस्त्रीसेवीपुरुषोंको भूख प्यास आदि नानाप्रकारके दुःख भी आकर सताते हैं और उनको अनेक प्रकारके गर्मी आदि प्राणघातक रोगोंका भी सामना करना पड़ता है तथा अनेकप्रकारके दुःख भी उन्हें भोगने पड़ते हैं और अंतमें वे मर भी जाते हैं ये तो इस भवके दुःख हैं किन्तु जिससमय वे परभवमें नरक जाते हैं तथा जिससमय उनको गरम कीहुई लोहकी पुतलीसे चिपका दिया जाता है तथा कहा जाता है कि जिस प्रकार तुमने पूर्वभव में परस्त्री के साथ संभोग किया था वैसीही यह स्त्री है इसके साथ भी वैसाही संभोग करो तब उनको और भी अधिक दुःख होता है इसलिये उत्तमपुरुषोंको चाहिये कि वे किसी भी परस्त्रीकेसाथ संबंध न करें ॥ २९ ॥ और भी आचार्य उपदेश देते हैं ।

शार्दूल विक्रीड़ित ।

धिक्तं पौरुषमासतामनुचितास्ताबुद्धयस्तेगुणा माभून्मित्रसहायसम्पदपि सा तज्जन्म यातु क्षयम् ।
लोकानामिह येषु सत्सु भवति व्यामोहमुद्राङ्कितं स्वप्नेऽपि स्थितिलङ्घनात्परधनस्त्रीषु प्रसक्तं मनः ॥३०॥

अर्थः—जिन पौरुष आदिके होते सन्ते अपनी स्थितिको उल्लंघन कर मोहसे स्वप्नमें भी परस्त्री तथा पर धनमें मनुष्योंका मन आसक्त हो जावे ऐसे उस पौरुषकेलिये धिक्कार हो तथा वह अनुचित बुद्धि भी दूर रहो तथा वे गुण भी नहीं चाहिये और ऐसी मित्रोंकी सहायता तथा संपत्तिकी भी आवश्यकता नहीं ।

भावार्थः—जागृत अवस्थाकीतो क्या बात ! जिन पौरुष आदिके होते संते मनुष्योंका चित्त स्वप्नमें भी यदि परस्त्री में आसक्त हो जावे तो, ऐसे पौरुष आदिकी कोई आवश्यकता नहीं इसलिये भव्यजीवों को कदापि परस्त्रीमें चित्त नहीं लगाना चाहिये ॥ ३० ॥

अब आचार्य इसबातको दिखाते हैं कि किन २ को क्या २ जूवा आदि खेलनेसे हानि उठानी पड़ी ।

द्यूताद्धर्मसुतः पलादिह बको मद्याद्यदोर्नन्दनाश्चारुः कामुकया मृगान्तकतया स ब्रह्मदत्तो नृपः ।
चौर्यत्वाच्छिवभूतिरन्यवनितादोषाद्दशास्यो हठादेकैकव्यसनोद्धता इति जनाः सर्वैर्न को नश्यति॥३१॥

अर्थः—जूवासे तो युधिष्ठिरनामक राजा राज्यसे भ्रष्ट हुए तथा उनको नानाप्रकारके दुःख उठाने पड़े तथा मांसभक्षणसे वक नामका राजा राज्यसे भ्रष्ट हुआ तथा अंतमें नरक गया और मद्यपीनेसे यदुवंशीराजाके पुत्र नष्टहुवे तथा वेश्याव्यसनके सेवनसे चारुदत्त सेठि दरिद्रावस्थाको प्राप्त हुवे तथा और भी नानाप्रकारके दुःखोंका उनको सामना करना पड़ा और शिकारकी लोलुपतासे ब्रम्हदत्त नामका राजा राज्यसे भ्रष्ट हुवा तथा उसे नरक जाना पड़ा। तथा चोरीव्यसनसे सत्यघोषनामके पुरोहित गोबर खाना सर्वधनहरण हो जाना आदि नानाप्रकारके दुःखोंको सहनकर अंतमें मल्लकी मुष्टिसे मरकर नरकको गया। तथा परस्त्रीसेवनसे रावणको अनेक दुःख भोगने

पड़े। तथा मरकर नरक गया। अचार्य कहते हैं कि एक २ व्यसनके सेवनसे जब इन मनुष्योंकी ऐसी बुरी दशा हुई तथा ये नष्टहुवे तब जो मनुष्य सातों व्यसनोंका सेवन करनेवाला है वह क्यों नहीं नष्ट होगा ? इसलिये भव्यजीवोंको चाहिये कि वे किसी भी व्यसनके फन्देमें न पड़े ॥ ३१ ॥

नपरामियन्ति भवन्ति व्यसनान्यपराण्यपि प्रभूतानि ॥
त्यक्त्वा सत्पथमपथप्रवृत्तयः क्षुद्रबुद्धीनाम् ॥ ३२ ॥

अर्थः—आचार्य महाराज और भी उपदेश देते हैं कि जिन व्यसनोंका ऊपर कथनकियागया है वे ही व्यसन हैं ऐसा नहीं समझना चाहिये किन्तु और भी व्यसन हैं वे यही हैं अल्पबुद्धी मिथ्यादृष्टियोंकी श्रेष्ट मार्गको छोड़कर निकृष्टमार्गमें प्रवृत्ति हो जाना इसलिये जीवोंको चाहिये कि वे व्यसनोंकी रक्षाकेलिये निकृष्ट मार्गोंमें प्रवृत्ति न करै ॥ ३२ ॥

और भी आचार्य व्यसनोंका दोष दिखाकर निषेध करते हैं।

सर्वाणि व्यसनानि दुर्गतिपथा स्वर्गापवर्गार्गला वज्राणि व्रतपर्वतेषु विषमाः संसारिणां शत्रवः।
प्रारम्भे मधुरेषु पाककटुकेष्वेतेषु सद्धीधनैः कर्तव्या न मतिर्मनागपि हितं वाञ्छद्भिरत्रात्मनः ॥३३॥

जिन मनुष्योंकी बुद्धि निर्मल है तथा जो अपनी आत्माका हित चाहते हैं उनको कदापि व्यसनोंकी ओर नहीं झुकना चाहिये क्योंकि ये समस्तव्यसन दुर्गतिको लेजानेवाले हैं तथा स्वर्गमोक्षके प्रतिबंधक हैं और समस्तव्रतोंके नाश करनेवाले हैं। तथा प्राणियोंके ये परम शत्रु हैं। तथा प्रारंभमें मधुर होनेपर भी अंतमें कडुे हैं इसलिये इनसे स्वप्नमें भी हितकी आशा नहीं होती ॥ ३३ ॥

आचार्य और भी उपदेश देते हैं।

मिथ्यादृशां विसदृशां च पथच्युतानां मायाविनां व्यसनिनां च खलात्मनां च।

सङ्गं विमुञ्चत बुधाः कुरुतोत्तमानां गन्तुं मतिर्यदि समुन्नतमार्ग एव ॥ ३४ ॥

अर्थः—हे भव्यजीवो यदि तुम उत्तममार्गमें जानेकेलिये चाहते हो तो तुम कदापि मिथ्यादृष्टि विपरीत बुद्धी मार्गभ्रष्ट छली व्यसनी दुष्टजीवोंके साथ संबंध मत करो यदि तुमको संबंध ही करना है तो उत्तम मनुष्योंके साथ ही संबंध करो ।

भावार्थ—जैसी संगति की जाती है उसी प्रकारके फलकी प्राप्ति होती है यदि तुम मिथ्यादृष्टि आदि दुष्टपुरुषोंके साथ संगति करोगे तो तुमको कदापि उत्तममार्ग आदिकी प्राप्ति नहीं हो सक्ती यदि तुम उत्तम मनुष्योंकी संगति करोगे तो तुमको नानाप्रकारके गुणोंकी तथा उत्तममार्गकी प्राप्ति होगी इसलिये यदि तुम उत्तम मार्गकी प्राप्ति करना चाहते हो तो तुमको उत्तम मनुष्योंकी ही संगति करना चाहिये ॥ ३४ ॥

स्निग्धैरपि व्रजत मा सह सङ्गमेभिः क्षुद्रैः कदाचिदपि पश्यत सर्षपाणाम् ।
स्नेहोऽपि सङ्गतिकृतः खलताश्रितानां लोकस्य पातयति निश्चितमश्रु नेत्रात् ॥ ३५ ॥

अर्थः—यह नियम है कि दुष्टपुरुष जब अपना काम निकालना चाहते हैं तब मीठे बचनोंसे ही निकालते हैं किन्तु आचार्य इसबातका उपदेश देते हैं कि दुष्टपुरुष चाहे जैसे सरल तथा मिष्टवादी क्यों न हों तो भी उनके साथ कदापि सज्जानेंको संबंध नहीं करना चाहिये क्योंकि इसबातको प्रत्यक्ष देखो कि जब सरसों खलरूपमें परिणत हो जाती है उससमय उससे निकलाहुवा तेल आंखोंमें लगाते ही मनुष्योंको अश्रुपात करा देता है।

भावार्थ—खलका अर्थ खल भी होता है तथा दुष्ट भी होता है उसीप्रकार स्नेहका अर्थ प्रीति भी होता है तथा तेल भी होता है जबतक सरसों अपने रूपमें रहती है तबतक वह किसीका कुछ भी बिगाड नहीं करती किन्तु जिस समय उसकी खलरूप पर्य्याय पलट जाती है उससमय उससे उत्पन्नहुवा तेल आंखोंमें लगाते ही मनुष्योंको अश्रुपात करा देता है । उसीप्रकार जबतक मनुष्य सज्जन रहते हैं तबतक तो वे किसीका कुछ भी

बिगाड़ नहीं करते किन्तु जिससमय वे दुष्ट हो जाते हैं उससमय उनसे उत्पन्नहुई प्रीति मनुष्योंको नानाप्रकारके दुःखोंका अनुभव कराती है इसलिये सज्जनोंको चाहिये कि वे किसी भी दुष्टके साथ संबंध न करैं ॥ ३५ ॥

कलावेकः साधुर्भवति कथमप्यत्र भवने सचाघातः क्षुद्रैः कथमकरुणैर्जीवति चिरम् ।
अतिग्रीष्मे शुष्यत्सरसि विचरच्चञ्चुरतया बकोटानामग्रे तरलशफरी गच्छति कियत् ॥ ३६ ॥

अर्थः—जिससमय ग्रीष्मऋतुमें तलावोंका पानी सूखजाता है उससमय पानीके अभावसेही विचारी मछलियां मरजाती हैं यदि दैवयोगसे दश पांच बच भी रहैं तो लंबी चोंचोंके धारी बगले उनको बातकी बातमें गटक जाते हैं इसलिये ग्रीष्मऋतुमें मछलियोंका नामनिशान दृष्टिगोचर नहीं होता उसीप्रकार प्रथमतो इसकलिकालमें सज्जन उत्पन्नही नहीं होते यदि दैवयोगसे एक दो उत्पन्न भी होते हैं तो दयारहित दुष्टपुरुषोंके फन्दमें फँसकर अधिक समय तक जीने नहीं पाते इसलिये इसकलिकालमें प्रायः सज्जनोंका अभावसा ही है ॥ ३६ ॥

इह वरमनुभूतं भूरि दारिद्र्यदुःखं वरमतिविकराले कालवक्त्रे प्रवेशः ।
भवतु वरमितोऽपि क्लेशजालं विशालं न च खलजनयोगाज्जीवितं वा धनं वा ॥ ३७ ॥

अर्थः—आचार्य कहते हैं कि संसार में दरिद्रताका दुःख भोगना अच्छा है अथवा मरजाना अच्छा है वा और भी सांसारिक नानाप्रकारकी पीड़ाओं का सहन करना उत्तम है किन्तु दुष्टजनके संबंधसे जीना तथा दुष्टजनके साथ धन कमाना उत्तम नहीं ॥ ३७ ॥

अब आचार्य मुनिधर्मका वर्णन करते हैं

आचारो दशधर्मसंयमतपोमूलोत्तराख्यागुणाः मिथ्यामोहमदोज्झनं शमदमध्यानाप्रमादस्थितिः ।
वैराग्यं समयोपबृंहणगुणा रत्नत्रयं निर्मलं, पर्यन्ते च समाधिरक्षयपदानन्दाय धर्मो यतेः ॥ ३८ ॥

अर्थः—जिसधर्ममें दर्शनाचार ज्ञानाचार चारित्राचार तप आचार, वीर्याचार इसप्रकार पांच प्रकारके

आचार, तथा उत्तमक्षमा उत्तममार्दव उत्तमआर्जव उत्तमसत्य उत्तमशौच उत्तमसंयम उत्तमतप, उत्तमत्याग, उत्तमआकिंचन्य तथा उत्तमब्रह्मचर्य इसप्रकारका दश धर्म, तथा बारह प्रकारका संयम, तथा बारह प्रकारका तप, और आठ प्रकारके मूलगुण, तथा चौरासीलाख उत्तरगुण, तथा मिथ्यात्व मोह मदका त्याग, और शम दम ध्यान तथा प्रमाद रहित स्थिति और वैराग्य, तथा जिनशासनकी महिमाके बढ़ाने वाले अनेकगुण और सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र स्वरूप निर्मलरत्नत्रय तथा अंतमें समाधि विद्यमान हैं ऐसा मुनियोंका धर्म अक्षयपद आनन्दके लिये हैं ॥ ३८ ॥

स्वं शुद्धं प्रविहाय चिद्गुणमयभ्रान्त्याणुमात्रेऽपि यत् संबन्धाय मतिः परे भवति तद्बंधाय मूढात्मनः ।
तस्मात्त्याज्यमशेषमेव महतामेतच्छरीरादिकं तत्कालादि विनादियुक्तित इदं तत्त्यागकर्मव्रतम् ॥३९॥

अर्थ—अपने शुद्धचैतन्यको छोड़कर परमाणुमात्र परपदार्थोंमें भी चैतन्यगुणके भ्रमसे यदि मूढ़पुरुषोंकी बुद्धि लगजावे तो उसबुद्धिसे केवल कर्मबंधही होता है इसलिये सज्जनपुरुषोंको शरीर आदिके समस्तपदार्थोंका अवश्य त्याग करदेना चाहिये यदि आयुःकर्मके प्रवलहोनेसे शरीरादिका त्याग न हो सके तो शरीरादिके त्याग करने के लिये मुनिव्रत ही धारण करने योग्य है क्योंकि मुनिव्रत धारण करनाही शरीर आदिके त्याग की क्रिया हैं ॥ ३९ ॥

मुक्त्वा मूलगुणान्यतेर्विदधतः शेषेषु यत्नं परं दण्डो मूलहरो भवत्यविरतं पूजादिकं वाञ्छतः ।
एकं प्राप्तमरेः प्रहारमतुलं हित्वा शिरश्छेदकं रक्षत्यङ्गुलिकोटिखण्डनकरं कोऽन्यो नरो बुद्धिमान् ॥४०॥

अर्थः—युद्धकरते समय अनेकप्रकारके प्रहारहोते हैं उनमें कई एकतो शिरके छेदनेवाले होतेहैं तथा कई एक अंगुलिके अग्रभागके छेदनेवाले होते हैं उनमें यदि कोईपुरुष शिरके छेदनेवाले प्रहारको छोड़कर अंगुलीके अग्रभागको छेदनकरने वाले प्रहारसे रक्षाकरै तो उसका जिसप्रकार उससे रक्षा करना व्यर्थ है उसी

उत्तरगुणोंकेपालनकरनेके लिये प्रयत्न करते हैं तथा निरंतर पूजा
प्रकार जो, यति मूलगुणोंको छोड़कर शेष
आदिको चाहते हैं उनको आचार्य मूलछेदक दण्ड देते हैं इसलिये मुनियोंको प्रथम मूलगुणव्रत पालना चाहिये
पीछे उत्तरगुणोंका पालन करना चाहिये ॥ ४० ॥

आचेलक्य मूलगुण किसलिये पाला जाता है इसबातको आचार्य दिखाते हैं।

म्लाने क्षालनतः कुतः कृतजलाद्यारम्भतः संयमो नष्टे व्याकुलचित्तताथ महतामप्यन्यतः प्रार्थनम्।
कौपीनेऽपि हृते परैश्च झटिति क्रोधःसमुत्पद्यते तन्नित्यं शुचिरागहृच्छ्रमवतां वस्त्रं ककुम्मण्डलम् ॥४१॥

अर्थः—यदि संयमी वस्त्र रक्खे तो उसकें मालिन होनेपर धोनेकेलिये जल आदिका उनको आरंभ करना
पड़ेगा और यदि जल आदि का आरम्भ करना पड़ा तो उनका संयम ही कहां रहा तथा यदि वह वस्त्र नष्ट हो
गया तब उनके चित्तमें व्याकुलता होगी तथा उसके लिये यदि वे किसीसे प्रार्थना करेंगे तो उनकी अयाचक
वृत्ति छूट जावेगी और वस्त्रोंको छोड़कर यदि वे कौपीन (लगोट) ही रक्खे तोभी उसके खोजाने पर उनको
क्रोध पैदा होगा इस लिये समस्तवस्त्रोंका त्यागकर मुनिगणोंका नित्य पवित्र रागका नाशक दिशाका मंडल
ही वस्त्र है ऐसा समझना चाहिये ॥ ४१ ॥

आचार्यवर लोचनामक मूलगुणको दिखाते हैं।

काकिण्या अपि संग्रहो न विहितः क्षौरं यया कार्यते चित्तक्षेपकृदस्त्रमात्रमपिवा तत्सिद्धये नाश्रितम्।
हिंसाहेतुरहोजटाद्यपि तथा यूकाभिरप्रार्थनैर्वैराग्यादिविवर्धनाय यतिभिः केशेषु लोचः कृतः ॥४२॥

अर्थः—मुनिगण अपने पास एक कौड़ी भी नहीं रखते जिससे कि वे दूसरेसें मुंण्डन करा सकें तथा
मुंण्डनके लिये छुरा कैंची आदि अस्त्रभी नहीं रखते क्योंकि उनके रखनेसे क्रोधादिकी उत्पात्तिसे चित्त
बिगड़ता है तथा वे जटाभी नहीं रख सक्ते क्योंकि जटाओंमें अनेक जूं आदि जीवोंकी उत्पाति होती है इस

लिये जटा रखनेसे हिंसा होती है तथा मुंण्डन करानेकेलिये वे दूसरेसे द्रव्यभी नहीं मांग सक्ते क्योंकि उनकी अयाचक वृत्तिका परिहार होता है इसलिये वैराग्यकी अतिशय वृद्धिकेलिये ही मुनिगण अपने हाथोंसे केशोंको उपाटते हैं, इसमें अन्य कोई मानादि कारण नहीं है ॥ ४२ ॥

अब आचार्य स्थितिभोजन नामक मूलगुणको बताते हैं ।

यावन्मे स्थितिभोजनेऽस्ति दृढता पाण्योश्च संयेजने भुञ्जे तावदहंरहाम्यथ विधावेषा प्रतिज्ञा यतेः ।
कायेऽप्यस्पृहचेतसोऽन्त्यविधिषु प्रोल्लासिनःसन्मतेर्नह्येतेन दिविस्थितिर्न नरके सम्पद्यते तद्विना ४३

अर्थः—जो मुनिगण अपने शरीरमेंभी ममत्वकर रहित हैं तथा समाधिमरण करनेमें उत्साही है तथा श्रेष्टज्ञानके धारक हैं उनकी विधीमें यह कड़ी प्रतिज्ञा रहती है कि जब तक हमारी खड़े होकर अहार लेनेमें तथा दोनों हाथोंको जोड़नेमें शक्ति मौजूद है तब तक हम भोजन करेंगे नहीं तो कदापि न करेंगे जिससे उनको स्वर्गकी प्राप्ति होती है तथा उनको नरक नहीं जाना पड़ता किन्तु जो इसप्रतिज्ञासे रहित हैं उनको अवश्य नरक जाना पड़ता है ॥ ४३ ॥

और भी आचार्य मुनिधर्मका वर्णन करते हैं ।

एकस्यापि ममत्वमात्मवपुषःस्यात्संसृतेःकारणं कोवाह्यर्थकथाप्रथीयसि तथाप्याराध्यमानेऽपि च ।
तद्वासां हरिचन्द्रनेऽपि च समःसांश्लिष्टतोऽप्यङ्गतो भिन्नं स्वं स्वयमेकमात्मनि धृतं यास्यत्यजस्रं मुनिः४४

अर्थ—विस्तीर्णतपके आराधन करनेपरभी यदि एक अपने शरीरमें भी "यहमेरा है" ऐसा ममत्व हो जावे तो वह ममत्वही संसारमें परिभ्रमणका कारण हो जाता है तब यदि शरीरसे अतिरिक्त धनधान्यमें ममता की जावेगी तो वह ममता क्या न करेगी ? ऐसा जानकर तथा चाहै कोई उनके शरीरमें कुल्हाड़ी मारे

चाहे उनके शरीरमें चन्दनका लेपकरै तोभी कुल्हाड़ी और चंदनमें सम होकर मुनिगण क्षीरनीरके समान आत्मा शरीरका संबंध होनेपरभी अपनेमें अपनेसे अपनेको निरंतर भिन्नही देखते हैं ॥ ४४ ॥

शिखरिणी ।

तृणं वा रत्नं वा रिपुरथ परं मित्रमथवा सुखं वा दुःखं वा पितृवनमदो सौधमथवा ।
स्तुतिर्वा निन्दा वा मरणमथवा जीवितमथ स्फुटं निर्ग्रन्थानां द्वयमपि समं शान्तमनसाम् ॥ ४५ ॥

अर्थ—तथा उन शान्त रसके लोलुपी मुनियोंके तृण तथा रत्न, मित्र और शत्रु, सुख तथा दुःख, श्मसान-भूमि और राजमन्दिर, स्तुति तथा निन्दा, मरण और जीवित दोनो समान है ॥

भावार्थ—जो मुनि परिग्रहकर रहित हैं तथा शान्त स्वरूप है वे तृणसे घृणाभी नहीं करते हैं तथा रत्नको अच्छा भी नहीं समझते हैं और अपने हितके करने वालेको मित्र नहीं समझते हैं तथा अहितके करने वालेको वैरी नहीं समझते हैं तथा सुख होनेपर सुख नहीं मानते हैं दुःख होनेपर दुःख नहीं मानते हैं और श्मसान भूमिको बुरी नहीं कहते हैं तथा राजमन्दिरको अच्छा नहीं कहते हैं तथा स्तुति होनेपर संतुष्ट नहीं होते हैं तथा निन्दा होनेपर रुष्ट नहीं होते हैं तथा जीवित मरणको समान मानते हैं ॥ ४५ ॥

वीतरागी इसप्रकारका विचार करते हैं ।

मालिनी ।

वयमिह निजयूथभ्रष्टसारङ्गकल्पाः परपरिचयभीताः क्वापि किंचिच्चरामः ।
विजनमधिवसामो न व्रजामः प्रमादं सुकृतमनुभवामो यत्र तत्रोपविष्टाः ॥ ४६ ॥

अर्थः—जिस प्रकार मृग अपने समूहसे जुदा होकर तथा दूसरों से भयभीत होकर जहांतहां विचरता

फिरता है तथा एकान्तमें रहता है तथा प्रतिसमय प्रतिवुद्ध रहता है और जहांतहां बैठकर आनन्द भोगता है उसीप्रकार हमारे लियेभी वह कौंनसा दिन आवेगा जिसदिन हम अपने कुटुम्बियोंसे जुदे होकर तथा फिर उन से परिचय न होजावे इससे भयभीत होकर हमभी यहां वहां विचरैंगे तथा एकान्तवासमें रहेंगे और प्रमादी न वनेंगे, तथा जहां तहां वैठकर अपने आत्मानंदका अनुभव करैंगे. ॥ ४६ ॥

और भी वीतरागी इसप्रकारकी भावना करते रहते हैं ।

कति न कति न वारान् भूपतिर्भूरिभूतिः कति न कति न वारानत्र जातोऽस्मि कीटः ।
नियतमिति न कस्याप्यस्ति सौख्यं न दुःखं जगति तरलरूपे किं मुदा किं शुचा वा ॥ ४७ ॥

अर्थः—इस संसारमें कितनी २ वारतो हम बड़ी २ संपत्तिके धारी राजा न होगये तथा कितनी २ वार इसी संसार में हम क्षुद्र कीड़े न होचुके इसलिये यही मालूम होता है कि चंचलरूप इस संसारमें किसीका सुख तथा दुःख निश्चित नहीं है अतः सुख और दुःखके होने पर हर्ष और विषाद कदापि नहीं करना चाहिये ४७

पृथ्वी ।

प्रतिक्षणमिदं हृदि स्थितमतिप्रशान्तात्मनो मुनेर्भवति संवरः परमशुद्धहेतुर्ध्रुवम् ।
रजःखलु पुरातनं गलति नो नवं ढौकते ततोऽपि निकटं भवेदमृतधाम दुःखोज्झितम् ॥ ४८ ॥

अर्थ—परमशांत मुद्राके धारी मुनियोंके इसप्रकार उपर्युक्त भावना करनेसे परम शुद्धिका करनेवाला संवर होता है तथा उसके होते सन्ते जो कुछ प्राचीन कर्म आत्माके साथ लगे रहते हैं तब गलजाते हैं- तथा नवीन कर्मोंका आगमन भी बंद होजाता है तथा उन मुनियोंकेलिये समस्तप्रकारके दुःखोंकररहित मुक्तिभी सर्वथा समीप रहजाती है ॥ ४८ ॥

और भी आचार्य मुनिधर्मकी महिमाका वर्णन करते हैं ।

शिखरिणी ।

प्रबोधो नीरन्ध्रं प्रवहणममन्दं पृथुतपः सुवायुर्यैः प्राप्तो गुरुगणसहायाः प्रणयिनः ।
कियन्मात्रस्तेषां भवजलधिरेषोऽस्य च परः कियद्दूरे पारः स्फुरति महतामुद्यमवताम् ॥ ४९ ॥

अर्थः—जिन मुनियोंके पास छिद्ररहित सम्यग्ज्ञानरूपी जहाज मोजूद है, तथा अमन्द विस्तीर्ण तपरूपी पवनभी जिनके पास है तथा स्नेही बड़े २ गुरूभी जिनके सहायी हैं उन उद्यमी महात्मा मुनियोंकेलिये यह संसाररूपी समुद्र कुछ भी नहीं है तथा इस संसाररूपीसमुद्रका पारभी उनके समीपमें ही है ॥

भावार्थः—जिस मनुष्यके पास छिद्ररहित जहाज तथा जहाजकेलिये योग्य पवन तथा चतुर खेवटि-या होतेहैं वह मनुष्य वातकी वातमें समुद्रकी चौरसको तय करलेता है उसीप्रकार जो मुनि सम्यग्ज्ञानके धार-क हैं तथा विस्तीर्ण तपके करनेवाले हैं. और जिनके बड़े २ गुरूभी सहायी हैं वे मुनि शीघ्रही संसारसमुद्रसे तरजाते हैं तथा मोक्ष उनके सर्वथा समीपमें आजाती हैं ॥ ४९ ॥

आचार्य मुनियोंको शिक्षा देते हैं।

वसंततिलका ।

अभ्यस्यतान्तरदृशं किमु लोकभक्त्या मोहं कृशीकुरुत किं वपुषा कृशेन ।
एतद्द्वयं यदि न किं बहुभिर्नियोगैः क्लेशैश्च किं किमपरैः प्रचुरैस्तपोभिः ॥ ५० ॥

अर्थः—भो मुनिगण ? आनन्द स्वरूप शुद्धात्माका अनुभव करो लोकके रिझावनेके लिये प्रयत्न मत करो तथा मोहको कृष करो शरीरके कृषकरनेमें कुछ भी नहीं रक्खा है क्योंकि जब तक तुम इन दो बातोंको

न करोगे तबतक तुम्हारा यम नियम करना भी व्यर्थ है तथा तुम्हारा क्लेश सहना भी विना प्रयोजनका है और तुम्हारे, नाना प्रकारके, किये हुवे तप भी व्यर्थ हैं ।

भावार्थ—जबतक ज्ञानानन्दस्वरूप शुद्धात्माका अनुभव न कियाजायगा तथा मोहको कृष न किया जायगा तबतक वाह्यमें तुम चाहे जितना यम नियम उपवास तप आदि करो सब तुम्हारे व्यर्थ हैं इसलिये सब से प्रथम तुमको ज्ञानानन्दस्वरूप शुद्धात्माका अनुभव करना चाहिये पीछे इनबातोंपर ध्यान देना चाहिये ॥५०॥

॥ और भी आचार्य मुनिधर्मके स्वरूपका बर्णन करते है ॥

वंशस्थ ।

जुगुप्सते संसृतिमत्र मायया तितिक्षते प्राप्तपरीषहानपि ।
न चेन्मुनिर्दुष्टकषायनिग्रहाच्चिकित्सति स्वान्तमघप्रशान्तये ॥ ५१ ॥

अर्थः—जो मुनि सर्वथा आत्माके अहित करनेवाले दुष्ट कषायोंको जीतकर पापोंके नाशके लिये अपने चित्तको स्वस्थ बनाना नहीं चाहता वह मुनि समस्तलोकके सामने कपट से संसारकी निन्दा करता है तथा कपट से ही वह क्षुधा तृषा आदि बाईस परीषहों को सहन करता है ।

भावार्थः—संसार का त्याग तथा परीषहों को जीतना उसी समय कार्यकारी मानाजाता है जबकि कषायों का नाश होवे तथा चित्त स्वस्थ रहे किन्तु जिन मुनियों का चित्त कषायके नाश होने से शुद्ध ही नहीं हुवा हैं वे मुनि क्या तो संसार का त्याग कर सक्ते हैं ? तथा क्या वे परीषहों को ही सहन कर सक्ते हैं; यदि ये संसारकी निन्दा करै तथा परीषहोंका सहन भी करै तो उनका वह सर्वकार्य ढोंगसे किया हुवा ही समझना चाहिये । इसलिये मुनियोंको चाहिये कि वे प्रथम कषायआदिको नाशकर चित्तको शुद्ध बना लेवे पीछे संसारकी निन्दा तथा परीषहोंका सहन करै ॥ ५१ ॥

॥२८॥

शार्दूल विक्रीडित ।

हिंसा प्राणिषु कल्मषं भवति सा प्रारम्भतः सोऽर्थतः तस्मादेव भयादयोऽपि नितरां दीर्घा ततः संसृतिः ।
तत्रासातमशेषमर्थत इदं मत्वेति यस्त्यक्तवान् मुक्त्यर्थी पुनरर्थमाश्रितवता तेनाहतः सत्पथः ॥५२॥

अर्थः—प्राणियोंको मारनेसे पाप होता है तथा वह पाप आरंभसे होता है और वह आरंभ धनके होते संते होता है तथा घनके होते संते लोभ आदिकी उत्पत्ति होती है और लोभ आदिके होनेसे दीर्घ संसार होता है तथा संसारसे अनन्त दुःख होते हैं इसप्रकारसे सब बातें द्रव्यसे होती है इसबातको जानकर मोक्षके अभिलाषी मुनियोंने द्रव्यका त्याग करदिया है किन्तु जिसने धनको आश्रयण किया है उसने सच्चे मार्गका नाश ही करदिया है ऐसा समझना चाहिये ॥ ५२ ॥

दुर्ध्यानार्थमवद्यकारणमहो निर्ग्रन्थताहानये शय्याहेतुतृणाद्यपि प्रशमिनां लज्जाकरं स्वीकृतम् ।
यत्तत्किं न गृहस्थयोग्यमपरं स्वर्णादिकं साम्प्रतं निर्ग्रन्थेष्वपि चैतदस्ति नितरां प्रायः प्रविष्टः कलिः ॥५३॥

अर्थः—आचार्य कहते हैं निर्ग्रंथमुनि शय्याके कारण यदि घासआदिको भी स्वीकार करलें तो वह स्वीकार भी उनके खोटे ध्यानकेलिये होता है तथा निन्दाका करनेवाला और निर्ग्रंथतामें हानि पहुंचानेवाला होता है तथा लज्जाको करनेवाला भीहोता है तब वे निर्ग्रंथ यतीश्वर गृहस्थके योग्य सुवर्णआदिको कब रख सक्ते हैं ? यदि इसकालमें निर्ग्रंथ सुवर्ण आदिको रक्खे तो समझना चाहिये कि यह कलिकालका ही माहात्म्य है ॥ ५३ ॥

आर्या ।

कादाचित्को बंधः क्रोधादेः कर्मणः सदा सङ्गात् ।
नातः क्वापि कदाचित्परिग्रहग्रहवतां सिद्धिः ॥५४॥

अर्थः—अमूल्य रत्नत्रय रूपी संपत्ति के धारी होकर भी जो निर्ग्रन्थपनेके धारक हैं तथा शान्तस्वरूपके धारी होनेपर भी जो कामदेव रूपी बैरीकी स्त्रीको विधवा करनेवाले हैं ऐसे वे आचार्य सदा नमस्कार करनेयोग्य हैं ।

भावार्थः—इस श्लोक में विरोधाभास नामक अलंकार है इसलिये आचार्य विरोधाभास को दिखाते हैं कि जिसके अमूल्य रत्नत्रय मौजूद है वह परिग्रह करके रहित कैसे हो सकता है । तथा जो शान्त है वह कामदेव की स्त्री को विधवा कैसे बना सकता है इसलिये ऐसे चमत्कारी गुरु सदा वन्दनीय ही हैं ।

सारांश:—रत्नत्रयको धारी हैं तथा निर्ग्रन्थ हैं और शान्त मुद्राके धारक हैं तथा कामदेव के जीतनेवाले हैं उन गुरुओंको सदा मैं मस्तक झुकाकर नमस्कार करता हूं ॥ १८ ॥

आचार्य परमेष्ठी की स्तुति ।

शार्दूलविक्रीडित ।

ये स्वाचारमपारसौख्यसुतरोर्बीजं परं पञ्चधा सद्बोधाः स्वयमाचरन्ति च परानाचारयन्त्येव च ।
ग्रन्थग्रन्थिविमुक्तमुक्तिपदवीं प्राप्ताश्च यैः प्रापितास्ते रत्नत्रयधारिणः शिवसुखं कुर्वन्तु नः सूरयः ॥१९॥

अर्थः—जो सम्यग्ज्ञानके धारक आचार्य अपार जो मोक्षरूपी सुख उसको उत्पन्न करनेवाले पांचप्रकारके आचारको स्वयं आचरण करते हैं तथा दूसरोंको आचरण कराते हैं तथा जहां पर किसी प्रकारके परिग्रहका ... नहीं ऐसी मुक्तिको स्वयं जाते हैं और दूसरोंको पहुंचाते हैं इसलिये इस प्रकार निर्मलरत्नत्रय के धारी आचार्यवर हमारेलिये मोक्षसुखको प्रदान करो ॥ १९ ॥

वसन्ततिलका ।

... येषु जन्मकक्षे पन्थानमेकममृतस्य परं नयन्ति ।
... प्रणमामि तेभ्यस्तेनाप्यहं जिगमिषुर्गुरुनायकेभ्यः ॥२०॥

अर्थः—इससंसार में भ्रमके करनेवाले अनेकमार्गोंमें से जो गुरु लोकको सुखके देनेवाले एक मोक्षमार्ग को लेजाते हैं तथा स्वयं उच्चज्ञानके धारक हैं ऐसे उन श्रेष्ठ गुरुओंको उसीमार्गमें जानेकी इच्छाकरनेवाला मैं भी मस्तक झुकाकर नमस्कार करता हूं ॥ ६० ॥

॥ उपाध्याय परमेष्टीकी स्तुति ॥

शार्दूल विक्रीड़ित ।

शिष्याणामपहाय मोहपटलं कालेन दीर्घेण यज्जातं 'स्यात्पदलाञ्छितोज्वलवचो-दिव्याञ्जनेन' स्फुटम् ।
ये कुर्वन्ति दृशं परामतितरां सर्वावलोके क्षमां लोके कारणमन्तरेण भिषजस्ते पान्तु नोऽध्यापकाः ॥६१॥

अर्थः—जो उपाध्यायपरमेष्ठी अनादिकालसे लगेहुवे मोहके परदेको स्याद्वादसे अविरोधी एसे अपने उपदेशरूपी दिव्यअंजनसे हटाकर शिष्योंकी दृष्टिको अत्यंत निर्मल तथा समस्तपदार्थोंके देखनेमें समर्थ बनाते हैं एसे बिनाकारणके ही वैद्य वे उपाध्याय मेरी इस संसारमें रक्षा करो ॥ ६१ ॥

साधु परमेष्ठीकी स्तुति ।

शार्दूल विक्रीड़ित ।

उन्मुच्यालयबंधनादपि दृढात्कायेऽपि वीतस्पृहाश्चित्ते मोहविकल्पजालमपि यद्दुर्भेद्यमन्तस्तमः ।
भेदायास्य हि साधयन्ति तदहो ज्योतिर्जितार्कप्रभं ये सद्बोधमयं भवन्तु भवतां ते साधवः श्रेयसे ॥६२॥

अर्थः—जो साधु परमेष्ठी अत्यन्तकठिन भी गृहरूपी बंधनसे अपनेको छुटाकर तथा अपने शरीरमें भी इच्छा रहित होकर कठिनतासे भेदने योग्य ऐसे मोहसे पैदाहुवे विकल्पोंके समुहरूप भीतरी अंधकारके नाश करनेकेलिये सूर्यकी प्रभाको भी नीची करनेवाली सम्यग्ज्ञानरूपीज्योतीको निरन्तर सिद्ध करते रहते हैं । ऐसे उन साधु परमेष्ठीकेलिये नमस्कार है अर्थात् वे मेरे कल्याणकेलिये होवे ॥ ६२ ॥

॥ वीतरागकी महिमाका वर्णन ॥

वसंत तिलका ।

वज्रे पतत्यपि भयद्रुतविश्वलोकमुक्ताध्वनि प्रशमिनो न चलन्ति योगात् ।
वोधप्रदीपहतमोहमहान्धकाराः सम्यग्दृशः किमुत शेषपरीषहेषु ॥ ६३ ॥

अर्थः—जिस वज्रके शब्दके भयसे चकित होकर समस्तलोक मार्गको छोड़ देते है ऐसे वज्रके गिरने पर भी जो शान्तात्मामुनि ध्यानसे कुछ भी विचालित नहीं होते तथा जिन्होंने सम्यग्ज्ञानरूपीदीपकसे समस्त मोहान्धकारको नाशकरदिया है और जो सम्यग्दर्शनके धारी हैं वे मुनि परीषहोंके जीतनेमें कब चलायमान हो सक्ते हैं? अर्थात् परीषह उनका कुछ भी नहीं कर सक्तीं ॥ ६३ ॥

॥ ग्रीष्मऋतुमें पर्वतके शिखरपर ध्यानीमुनीश्वरोंकी स्तुति ॥

शार्दूल विक्रीडित ।

प्रोद्यत्तिग्मकरोग्रतेजसि लसच्चण्डानिलोद्यद्दिशि स्फारीभूतसुतप्तभूमिरजसि प्रक्षीणनद्यम्भसि ।
ग्रीष्मे ये गुरुमेघनीध्रशिरसि ज्योतिर्निधायोरसि ध्वान्तध्वंसकरं वसन्ति मुनयस्ते सन्तु नः श्रेयसे ॥६४॥

अर्थः—जिस ग्रीष्मऋतुमें अत्यंत तीक्ष्ण धूप पड़ती है तथा चारो दिशाओंमें भयंकर लू चलती हैं तथा जिसऋतुमें अत्यंत संतापका देनेवाला गरम रेता फैलाहुवा है तथा नदियोंका पानी सूख जाता है ऐसी भयंकर ग्रीष्मऋतुमें जोमुनि समस्त अन्धकारको नाश करनेवाली सम्यग्ज्ञानरूपी ज्योतिको अपने मनमें रखकर अत्यंत ऊंचे पहाड़की चोटीपर निवास करते हैं उन मुनियोंकेलिये मेरा नमस्कार हो अर्थात् वे मुनि मेरे कल्याणकेलिये होवे ॥६४॥

॥ वर्षाकालमें वृक्षोंके नीचे स्थित मुनियों की स्तुति ॥

॥३४॥

शार्दूल विक्रीडित ।

ते वः पान्तु मुमुक्षवः कृतरवैरब्दै रतिश्यामलैः शश्वद्वारि वमद्भिरब्धिविषयक्षारत्वदोषादिव ।
काले मज्जदिले पतद्गिरिकुले 'धावद्धुनीसंकुले' झंझावातविसंस्थुले तरुतले तिष्ठन्ति ये साधवः ॥६५॥

अर्थ—जिस वर्षाकालमें काले २ मेघ भयंकर शब्द करते हैं तथा समुद्रके क्षारदोषसे ही मानो जो जहां तहां जल बर्षाते हैं तथा जिस कालमें जमीन नीचेको धसक जाती है तथा पर्वतोसे बड़े २ पत्थर गिरते है तथा जलकी भरी हुई नदियॉ सब जगह दौड़ती फिरती हैं तथा जो वर्षाकाल वृष्टिसहित पवनसे भयंकर हो रहा है ऐसे भयंकर वर्षाकालमें जो मोक्षाभिलाषीमुनि वृक्षोंके नीचे बैठ कर तपकरते हैं उन मुनियोंके लिये नमस्कार है अर्थात् वे मुनि मेरी रक्षा करो ॥ ६५ ॥

शीतकालमें खुले हुवे मैदानमें तप करनेवाले यतीश्वरोंकी स्तुति ।

शार्दूल विक्रीडित ।

म्लायत्कोकनदे गलत्पिकमदे भ्रंश्यद्द्रुमौघच्छदे हर्षद्रोमदरिद्रके हिमऋतावत्यन्तदुःखप्रदे ।
ये तिष्ठन्ति चतुष्पथे पृथुतपः सौधस्थिताः साधवो ध्यानोष्णप्रहितोग्रशीतविधुरास्ते मे विदध्युः श्रियम् ॥६६

अर्थः—जिस शीतकालमें कमल कुम्हला जाते है तथा वन्दरोंका मद गल जाता है और वृक्षोंके पत्ते जल जाते है तथा जिस शीतकालमें वस्त्ररहित दरिद्रोंके शरीरपर रोमांच खड़े हो जाते है और भी जो नाना प्रकारके दुःखोंका देनेवाला है ऐसे भयंकर शतिकालमें अत्यंततपस्वी तथा ध्यानरूपीअग्निसे समस्तशीतको नाशकरनेवाले जो यतीश्वर खुलेमैदानमें निर्भयतासे निवास करते हैं वे यतीश्वर मुझे अविनाशी लक्ष्मीं प्रदान करो ॥६६॥

॥३५॥

और भी मुनिधर्मके स्वरूपको आचार्य दिखाते है ।

वसंत तिलका

कालत्रये वहिरवस्थितजातवर्षा शीतातपप्रमुखसंघटितोग्रदुःखे ।
आत्मप्रबोधविकले सकलोऽपि कायक्लेशो वृथा वृतिरिवोज्झितशालिवप्रे ॥६७॥

अर्थः—जो मुनि अपने आत्मज्ञानकी कुछभी परवा न कर वाहिरमें रहकर वर्षा शीत गर्मी तीनोंकालों-में उत्पन्न हुवे दुःखोंको सहन करते हैं उनका उस प्रकारका दुःख सहना वैसाही निरर्थक मालूम होता है जैसाकि धान्यके कटजाने पर खेतकी वाड़ लगाना निरर्थक होता है इसलिये मुनियोंको आत्मज्ञानपर विशेष ध्यान देना चाहिये ॥ ६७ ॥

शार्दूल विक्रीडित ।

सम्प्रत्यस्ति न केवली किल कलौ त्रैलोक्यचूड़ामणिः स्तद्वाचः परमासतेऽत्र भरतक्षेत्रे जगद्द्योतिकाः ।
सद्रत्नत्रयधारिणो यतिवरास्तेषां समालंवनं तत्पूजा जिनवाचिपूजनमतः साक्षाज्जिनः पूजितः ॥६८॥

अर्थः—यद्यपि इस समय इसकलिकालमें तीन लोकके पूजनीक केवली भगवान विराजमान नहीं है तोभी इस भरतक्षेत्रमें समस्त जगतको प्रकाशकरने वाली उनकेवलीभगवानकी वाणी मौजूद हैं तथा उन वाणियोंके आधार श्रेष्ट रत्नत्रयके धारी मुनि हैं इसलिये उन मुनियोंकी पूजनतो सरस्वती की पूजन है तथा सरस्वतीकी पूजन साक्षात्केवली भगवानकी पूजन है एसा भव्यजीवोंको समझना चाहिये ॥ ६८ ॥

शार्दूल विक्रीड़ित ।

स्पृष्टा यत्र मही तदंघ्रिकमलैस्तत्रैति सत्तीर्थतां तेभ्यस्तेपि सुराः कृताञ्जलिपुटा नित्यं नमस्कुर्वते ।
तन्नामस्मृतिमात्रतोऽपि जनता निष्कल्मषा जायते ये जैना यतयश्चिदात्मनिरता ध्यानं समातन्वते॥६९

अर्थः—जो यतीश्वर आत्मामें लीन होकर ध्यानकरते हैं उन जैनयतीश्वरोंके चरणकमलोंसे स्पृष्ट भूमि

उत्तमतीर्थ बन जाती है तथा उन यतीश्वरोंको हाथ जोड़ मस्तक नवाकर बड़े २ देव आकर नमस्कार करते हैं तथा उनके स्मरणमात्रसे ही जीवोंके समस्तपाप गल जाते हैं इसलिये यतीश्वरोंको सदा ध्यानमें लीन रहना चाहिये ॥६९॥

शार्दूल विक्रीडित ।

सम्यग्दर्शनवृत्तबोधनिचितः शान्तः शिवैषी मुनिः मन्दैः स्यादवधीरितोऽपि विशदः साम्यं यदालम्ब्यते ।
आत्मा तैर्विहतो यदत्र विषमध्वान्ताश्रिते निश्चितं सम्पातो भविताग्रदुःखनरके तेषामकल्याणिनाम् ॥७०॥

अर्थः—सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्रिकाधारी तथा शांत और मोक्षाभिलाषी जोमुनि दुष्टोंसे अपमानित होकरभी स्वच्छअंतःकरणसे समताको धारण करता है उसकी तो आत्मा शुद्धही होती है किन्तु जो उनकी निन्दा करनेवाले हैं उन्होंने अपनी आत्माका घात करलिया क्योंकि वे दुष्ट कल्याणरहित पुरुष एसेनरक में गिरेंगे जो नरक भयंकर अंधकार से व्याप्त है तथा कठिन दुःखका स्थान है इसलिये मुनियोंको चाहिये कि दुष्ट कैसी भी निंदा करैं तोभी उनको समताही धारण करनी योग्य हैं ॥ ७० ॥

स्रग्धरा ।

मानुष्यं प्राप्य पुण्यात्प्रशममुपगता रोगवद्भोगजालं मत्वा गत्वा वनांतं दृशि विदि चरणे ये स्थिताःसंगमुक्ताः
कस्तोता वाक्पथातिक्रमणपटुगुणैराश्रितानांमुनीनांस्तोतव्यास्तेमहद्भिर्भुवि य इह तदंघ्रिद्वयेभक्तिभाजः

अर्थः—पुण्ययोगसे मनुष्यभवको पायकर तथा शान्तिको प्राप्तहोकर और भोगोंको रोगतुल्य जानकर तथा वनमें जाकर समस्त परिग्रहसे रहित होकर जो यतीश्वर सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्रमें स्थितहोते हैं बचनागोचर गुणोंकर सहित उन मुनियोंकी प्रथमतो कोईस्तुतिका करनेवालाही नहीं यदि कोई स्तुतिकरसकै भी तो वेही पुरुष उनकी स्तुति करसक्ते हैं जो उनमुनियोंके चरणकमलोंको आराधन करनेवाले महात्मापुरुषहैं॥७१॥

इसप्रकार धर्मोपदेशामृताधिकारमें मुनिधर्मका वर्णन समाप्त हुवा ॥

अब आचार्य रत्नत्रयधर्मका वर्णन करते हैं ।

शार्दूल विक्रीडित ।

तत्वार्थाप्ततपोभृतां यतिवराः श्रद्धानमाहुर्दृशं ज्ञानं जानदनूनमप्रतिहतं स्वार्थावसन्देहवत् ।
चारित्रं विरतिः प्रमादविलसत्कर्मास्रवाद्योगिनामेतन्मुक्तिपथस्त्रयं च परमोधर्मो भवच्छेदकः ॥७२॥

अर्थः—गणधरादिदेव जीवादिपदार्थ तथा आप्त और गुरुओंपर श्रद्धान रखनेको सम्यग्दर्शन कहते हैं तथा जिसमें किसी प्रकारकी वाधा नहीं है तथा जो संशय रहित तथा पूर्ण है एसे ज्ञानको सम्यग्ज्ञान कहते हैं तथा प्रमादसहित कर्मोंके आगमनके रुकजानेको सम्यक् चारित्र कहते हैं तथा सम्यग्दर्शन सम्मयग्ज्ञान सम्यक्चारित्रही मुक्तिका मार्ग हैं तथा संसारको नाशकरनेवाला परम धर्म है ॥७२॥

मालिनी ।

हृदयभुवि दृगेकं वीजमुप्तंत्वशङ्काप्रभृतिगुणसदम्भःसारिणीसिक्तमुच्चैः ।
भवदवगमशाखश्चारुचारित्रपुष्पस्तरुरमृतफलेन प्रीणयत्याशु भव्यम् ॥७३॥

अर्थः—आचार्य कहते हैं कि अतःकरणरूपी पृथ्वीमें बोयाहुआ तथा निःशंकित आदि आठगुण रूपी उत्तमजलकी भरी हुई नलियोंसे सीचा हुवा सम्यग्दर्शनरूपीबीज सम्यग्ज्ञानरूपी शाखाओंकाधारी तथा चारित्र रूपीपुष्प करसहित वृक्षरूपमें परिणत होकर शीघ्र ही भव्यजीवोंको मोक्षरूपी फलसे संतुष्ट करता है ॥

॥ और भी आचार्य रत्नत्रयकी महिमा दिखाते हैं ॥

दृगवगमचरित्रालंकृतः सिद्धिपात्रं लघुरपि न गुरुः स्यादन्यथात्वे कदाचित् ।
स्फुटमवगतमार्गो याति मन्दोऽपि गच्छन्नभिमतपदमन्यो नैव तूर्णोऽपि जन्तुः ॥७४॥

अर्थः—जिसको मार्गमालूम है ऐसामनुष्य यदि धीरे २ चले तो भी जिसप्रकार अभिमत स्थानपर पहुंच जाता है किन्तु जिसको मार्ग कुछ भी नहीं मालूम है वह चाहे कितनी भी जल्दी चले तोभी वह अपने अभिमत स्थानपर नहीं पहुंचसक्ता उसी प्रकार जो मुनि तप आदिकातो बहुत थोड़ा करनेवाला है किन्तु सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्रकाधारी है वह शीघ्रही मुक्तिको प्राप्त हो जाता है किन्तु जो तपआदिका तो बहुत करनेवाला है परन्तु सम्यग्दर्शन आदिरत्नत्रयका धारी नहीं है, वह कितनाभी प्रयत्न करै तौभी मोक्षको नहीं पासक्ता इसलिये मोक्षाभिलाषियों को सम्यग्दर्शनादिकी सबसे अधिक महिमा समझनी चाहिये ॥७४॥

मालिनी ।

वनशिखिनिमृतोऽन्धः सञ्चरन्गाढमंघ्रिद्वितयविकलमूर्ति र्वीक्षमाणोऽपि खञ्जः ।
अपि सनयनपादोऽश्रद्दधानश्च तस्माद्दृगवगमचरित्रैः संयुतैरेव सिद्धिः ॥७५॥

अर्थः—बनमें अग्नि लगनेपर उसबनमें रहने वाला अंधा तो देख न सका इसलिये दौड़ता हुआ भी मरगया तथा दोनों चरणोंका लूला लगीहुई अग्निको देखता हुवा दौड न सकनेके कारण तत्काल भस्म होगया और आंख तथा पैर सहितभी आलसी इसलिये मरगया कि उसको अग्नि लगनेका श्रद्धानही नहीं हुवा इसलिए आचार्य उपदेश देते हैं कि केवल सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान और केवल सम्यक्चारित्र मोक्षके लिये कारण नहीं है किन्तु तीनों मिलेहुवेही है ॥७५॥

भावार्थ—यद्यपि अंधेको अग्निका श्रद्धान तथा आचरणथा तो भी देखना रूपज्ञान न होनेके कारण वह मरगया तथा पंगुको ज्ञान श्रद्धान होनेपर दौड़नारूप आचरण नहीं था इसलिये भस्म हो गया । आलसीको ज्ञान भी था और आचरण भी था किन्तु श्रद्धान नहीं था इसलिये वह जलकर मरगया यदि इनतीनोंके पास

॥३९॥

तीनों चीजें होतीं तो उनमें से एकभी नहीं मरता इसलिये जुदे २ सम्यग्दर्शन आदि केवल दुःखही के देनेवाले हैं किन्तु तीनों मिले हुवेही कल्याणके देनेवाले हैं इसलिये भव्यजीवों को तीनोंकाही आराधन करना चाहिये ॥

मालिनी ।

बहुभिरपि किमन्यैः प्रस्तरैः रत्नसंज्ञै र्वपुषिजनितखेदैर्भारकारित्वयोगात् ।
हतदुरिततमोभिश्चारुरत्नैरनर्घैं स्त्रिभिरपि कुरुतात्मालंकृतिं दर्शनाद्यैः ॥७६॥

अर्थ—संसारमें यद्यपि रत्नसंज्ञा बहुतसे पत्थरोंकी भी है किन्तु उनसे कुछ भी प्रयोजन नहीं क्योंकि वे केवल भारकारी होनेके कारण शरीरको खिन्न करनेवाले ही हैं इसलिये आचार्य उपदेश देते हैं कि हे मुनीश्वरो जो समस्त अंधकारके नाश करनेवाले हैं तथा अमूल्य और मनोहर हैं ऐसे सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चरित्ररूपी तीन रत्नोंसे ही अपनी आत्माको शोभित करो. येही वास्तविकरत्न है ॥७६॥

मालिनी ।

जयति सुखनिधानं मोक्षवृक्षैकबीजं सकलमलविमुक्तं दर्शनं यद्विना स्यात् ।
तिरपि कुमतिर्नु दुश्चरित्रं चरित्रं भवति मनुजजन्म प्राप्तमप्राप्तमेव ॥७७॥

जिस सम्यग्दर्शनके बिना ज्ञान मिथ्याज्ञान कहलाता है चारित्र मिथ्याचरित्र कहलाता है प्राप्तहुवा न्म न पायाहुवासा कहलाता है ऐसा सुखस्वरूप तथा मोक्षरूपीसुखका देनेवाला और निर्मल सम्य नरूपीरत्न सदा इसलोकमें जयवंत है ॥७७॥

आर्या

भुजगनागदमनी दुःखमहादावशमनजलवृष्टिः ।
क्तसुखामृतसरसी जयति दृगादित्रयी सम्यक् ॥७८॥

अर्थ—संसाररूपी सर्पको नाश करनेमें नागदमनी तथा दुःखरूपी दावानलके बुझानेकेलिये जलवृष्टि और मोक्षरूपी सुखामृतकी सरोवरी (तालाव) ऐसी समीचीन रत्नत्रयी सदा इसलोकमें जयवंत है ॥७८॥

अब आचार्य निश्चयरत्नत्रयका वर्णन करते हैं ॥

मालिनी ।

वचनविरचितैवोत्पद्यते भेदबुद्धिर्दृगवगमचरित्राण्यात्मनः स्वं स्वरूपम् ।
अनुपचरितमेतच्चेतनैकस्वभावं व्रजति विषयभावं योगिनां योगदृष्टेः ॥७९॥

अर्थः—व्यवहारनयकी अपेक्षासे ही सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र जुदे २ मालूम पड़ते हैं निश्चयनयकी अपेक्षासे इनमें किसी प्रकारका भेद नहीं है किन्तु ये तीनों आत्मस्वरूप ही है तथा समस्त लोकालोकको देखनेवाले केवली-भगवान् वास्तविक रीतिसे इन तीनोंको चैतन्यसे अभिन्न स्वरूप ही देखते हैं।

उपेन्द्रवज्रा ।

निरूप्य तत्वं स्थिरतामुपागता मतिः सतां शुद्धनयावलम्बिनी ।
अखण्डमेकं विशदं चिदात्मकं निरन्तरं पश्यति तत्परं महः ॥८०॥

अर्थः—जीवाजीवादिसमस्ततत्वोंको देखकर जिन सज्जनोंकी मति स्थिर हो गई है तथा शुद्धनयको आश्रयण करनेवाली हो गई है वे ही मनुष्य निर्मल तथा उत्कृष्ट चित्स्वरूप ज्योतिको देखते हैं ॥८०॥

स्रग्धरा ।

दृष्टिर्निर्णीतिरात्माह्वयविशदमहस्यत्र बोधः प्रबोधः शुद्धं चारित्रमत्र स्थितिरिति युगपद्बंधविध्वंसकारि ।
बाह्यं बाह्यार्थमेव त्रितयमपि तथा स्याच्छुभोवाऽशुभोवा बंधः संसारमेवं श्रुतिनिपुणधियः साधवस्तं वदन्ति ८१

अर्थः—आत्मारूपी निर्मलतेजमें निश्चय (विश्वास) करना तो निश्चयसम्यग्दर्शन है तथा उसी तेजमें जानपना निश्चयज्ञान है तथा सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञानस्वरूपमें स्थित रहना सम्यक्चारित्र है और इन तीनोंकी एकता कर्मबंधके नाशकरनेवाली है तथा इसनिश्चयरत्नत्रयसे जो वाह्य है सो वाह्य ही है और चाहै वह शुभ हो चाहै अशुभ हो बंधका ही कारण है। तथा बंधका कारण होनेसे संसारका भी कारण है ऐसा श्रुतज्ञानके पारंगत आचार्य कहते हैं। इसलिये भव्यजीवोंको निश्चयरत्नत्रयके ही लिये प्रयत्न करना चाहिये। तथा व्यवहाररत्नत्रयको भी सर्वथा न छोड़कर निश्चय रत्नत्रयका साधक समझना चाहिये ॥८१॥

॥ इसप्रकार रत्नत्रयका वर्णन समाप्त हुआ ॥

॥ अब आचार्य दशधर्मका वर्णन करते हैं ॥

उत्तमक्षमाधर्मका स्वरूप ।

मालिनी ।

जड़जनकृतवाधाक्रोधहासप्रियादावपि सति न विकारं यन्मनो याति साधोः ।
अमलविपुलचित्तैरुत्तमा सा क्षमादौ शिवपथपथिकानां सत्सहायत्वमेति ॥८२॥

अर्थः—मूर्खजनोंकर कियेहुवे वंधन हास्य आदिके होनेपर तथा कठोर वचनोंके बोलनेपर जो साधु अपने निर्मल धीर वीर चित्तसे विकृत नहीं होता उसीका नाम उत्तमक्षमा है तथा वह उत्तमक्षमा मोक्षमार्गको जानेवाले मुनियोंको सबसे प्रथम सहायता करनेवाली है ॥८२॥

वसंत तिलका ।

श्रामण्यपुण्यतरुरत्र गुणौघशाखापत्रप्रसूननिचितोऽपि फलान्यदत्वा ।

याति क्षयं क्षणत एव घनोग्रकोपदावानलात् त्यजत तं यतयोऽत्र दूरम् ॥८३॥

अर्थः—आचार्य कहते हैं कि गुणरूपी जो शाखा पत्र फूल उनकरके सहित ऐसा यह यतिरूपी वृक्ष है यदि इसमें भयंकर क्रोधरूपी दावानल प्रवेश करजावे तो यह किसीप्रकार फल न देकर ही बातकी बातमें नष्ट हो जाता है इसलिये यतीश्वरों को चाहिये कि क्रोध आदिको वे दूरसे ही छोड़ देवे ॥

भावार्थ—जिसवृक्षपर नानाप्रकारकी मनोहर शाखा मौजूद है तथा पत्र फूलोंसे भी जो शोभित हो रहा है और अल्पकालमें ही जिसपर फल आनेवाले हैं ऐसे वृक्षमें यदि अग्नि प्रवेश कर जावे तो वह शीघ्र ही जल जाता है तथा उसपर किसी प्रकारका फल नहीं आता उसी प्रकार जो मुनि सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र आदि गुणोंकर सहित है किन्तु अभीतक उसके क्रोध मानादिक शान्त नहीं हुवे हैं ऐसे मुनिको कदापि स्वर्ग मोक्षादिकी प्राप्ति नहीं हो सक्ती इसलिये मुनियोंको चाहिये कि वे क्रोधादिको अपने पास भी न फटकने देवे ॥

॥ उत्तमक्षमाधारी इसप्रकार विचार करते हैं ॥

शार्दूल विक्रीड़ित ।

तिष्ठामो वयमुज्वलेन मनसा रागादिदोषोज्झिता लोकः किञ्चिदपि स्वकीयहृदये स्वच्छाचरो मन्यताम् ।
साध्या शुद्धिरिहात्मनः शमवतामत्रापरेण द्विषा मित्रेणापि किमु स्वचेष्टितफलं स्वार्थः स्वयं लप्स्यते ॥८४॥

अर्थः—रागद्वेषादिसे रहित होकर हमतो अपने उज्वल चित्तसे रहेंगे स्वेच्छाचारी यहलोक अपने हृदयमें चाहै हमको भला बुरा कैसा भी मानो क्योंकि शभी पुरुषोंको अपने आत्माकी शुद्धि करनी चाहिये और इस लोकमें बैरी अथवा मित्रोंसे हमको क्या है ? अर्थात् वे हमारा कुछ भी नहीं करसक्ते क्योंकि जो हमारे साथ द्वेषरूप तथा प्रीतिरूप परिणाम करेगा उसका फल उसको अपने आप मिल जावेगा ॥८४॥

और भी उत्तमक्षमावाला क्या चिन्तवन करता है इसबातको आचार्य दिखाते हैं—

स्रग्धरा ।

दोषानाघुष्य लोके मम भवतु सुखी दुर्जनश्चेद्धनार्थी मत्सर्वस्वं गृहीत्वा रिपुरथ सहसा जीवितं स्थानमन्यः।
मध्यस्थस्त्वेवमेवाखिलमिह हि जगज्जायतां सौख्याराशिर्मत्तो माभूदसौख्यं कथमपि भविनः कस्यचित्पूत्करोमि

अर्थ—मेरे दोषोंको सबके सामने प्रकटकर संसारमें दुर्जन सुखी होवे तथा धनका अर्थी मेरे समस्त धन आदिको ग्रहणकर सुखी होवे तथा बैरी मेरे जीवनको लेकर सुखी होवे और जिनको मेरे स्थानके लेनेकी अभिलाषा है वे स्थान लेकर आनन्दसे रहैं तथा जो रागद्वेषरहित मध्यस्थ होकर रहना चाहैं वे मध्यस्थ रहकर ही सुखसे रहैं। इसप्रकार समस्त जगत सुखसे रहो किन्तु किसी भी संसारीको मुझसे दुःख न पहुंचै ऐसा मैं सबके सामने पुकार २ कर कहता हूं ॥८५॥

शार्दूल विक्रीडित ।

किं जानासि न वीतरागमखिलं त्रैलोक्यचूडामणिं किंतद्धर्ममुपाश्रितं न भवता किंवा न लोकोजडः।
मिथ्यादृग्भिरसज्जनै रपटुभिः किञ्चित्कृतोपद्रवाद्यत्कमार्जनहेतुमस्थिरतया वाधां मनोमन्यसे ॥८६॥

अर्थः—मिथ्यादृष्टि दुर्जन मूर्ख जनोंसे किये हुवे उपद्रवसे चंचल होकर कर्मोंके पैदा करनेमें कारणभूत ऐसी वेदनाका तू अनुभव करता है सो क्या ? हेमन तीन लोकके पूजनीक वीतरागपनेको तू नहीं जानता है अथवा जिसधर्मको तूने आश्रयण किया है उस धर्मको तू नहीं जानता है अथवा यह समस्त लोक अज्ञानी जड़ है इस बातका तुझै ज्ञान नहीं है।

भावार्थः—तीन लोकके पूजनीक वीतरागभावको जानता हुआ भी तथा सच्चे धर्मका अनुयायी होकरभी

तथा समस्त लोकको जड़ समझता हुवा भी "हेमन" मिथ्यादृष्टियोंसे दिये हुवे दुःखसे दुःखित होता है यह बड़ा आश्चर्य है ॥८६॥

मार्दवधर्मका वर्णन ।

वसंत तिलका

धर्माङ्गमेतदिह मार्दवनामधेयं जात्यादिगर्वपरिहरमुषन्ति सन्तः ।
तद्धार्यते किमु न बोधदृशा समस्तं स्वप्नेन्द्रजालसदृशं जगदीक्षमाणैः ॥८७॥

अर्थ—उत्तमपुरुष जाति बल ज्ञान कुल आदि गर्वोंके त्यागको मार्दव धर्म कहते हैं तथा यह धर्मोंका अंगभूत है इसलिये जो मनुष्य अपनी सम्यग्ज्ञानरूपीदृष्टिसे समस्तजगतको स्वप्न तथा इन्द्रजालके तुल्य देखते हैं वे अवश्यही इस मार्दवनामक धर्मको धारण करते हैं ॥ ८७ ॥

शार्दूल विक्रीडित ।

कास्था, सद्मनि, सुन्दरेऽपि,परितो, दंदह्यमानेऽग्निभिः कायादौतुजरादिभिःप्रतिदिनं गच्छत्यवस्थान्तरम्
इत्यालोचयतो, हृदि, प्रशमिनः भास्वद्विवेकोज्वले[1] गर्वस्यावसरः कुतोऽत्र घटते भावेषु सर्वेष्वपि ॥८८॥

अर्थः—अत्यन्त मनोहर भी है किन्तु जिसके चारो तरफ अग्नि जलरही है ऐसे घरके बचने में जिसप्रकार अंशमात्र भी आशा नहीं की जाती उसही प्रकार जो शरीर वृद्धावस्थाकर सहित है तथा प्रतिदिन एक अवस्था को छोड़कर दूसरी अवस्थाको धारण करता रहता है वह शरीर सदाकाल रहेगा यह कब विश्वास हो सक्ता है ? इस प्रकार निरन्तर विवेकसे अपने निर्मलहृदयमें विचार करनेवाले मुनिके समस्त पदार्थोंमें अभिमान करनेके लिये अवसर ही नहीं मिल सक्ता इसलिये मुनियोंको सदा ऐसाही ध्यान करना चाहिये॥८८॥

[1] शश्वाद्विवेकोज्वल-इत्यापि पाठान्तरम्।

आर्या

हृदि यत्तद्वाचि वहिः फलति तदेवार्जवं भवत्येतत्
धर्मो निकृतिरधर्मो द्वाविह "सुरसद्मनरकपथौ" ॥८९॥

अर्थः—मनमें जो बात होवे उसहीको वचनसे प्रकट करना (नाकि मनमें कुछ दूसरा होवे तथा वचनसे कुछ दूसराही बोले) इस को आचार्य आर्जव धर्म कहते हैं तथा मीठी बात लगाकर दूसरे को ठगना इस को अधर्म कहते हैं और इनमें आर्जवधर्मसे स्वर्गकी प्राप्ति होती है तथा अधर्म नरकको ले जाने वाला होता है इसलिये आर्जव धर्मके पालन करने वाले भव्य जीवोंको, किसीके साथ मायासे वर्ताव नहीं करना चाहिये।

शार्दूल विक्रीड़ित ।

मायित्वं कुरुते कृतं सकृदपिच्छायाविघातं गुणेष्वाजातेर्यमिनोऽर्जितेष्विह गुरुक्लेशैः शमादिष्वलम् ।
सर्वे तत्र यदासते विनिभृताः क्रोधादयस्तत्वतस्तत्पापं वत येन दुर्गतिपथे जीवश्चिरंभ्राम्यति ॥९०॥

अर्थः—आचार्य कहते हैं कि यदि एकवारभी किसीके साथ मायाचारी की जावे तो वह मायाचारी वड़ी कठिनतासे संचयकिये हुवे अहिंसा सत्यादि मुनियोंके गुणोंको फीका वना देती है अर्थात् वे गुण आदरणीय नहीं रहने पाते और उस मायारूपी मकानमें नाना प्रकारके क्रोधादि शत्रु छिपे हुवे बैठे रहते हैं और उसमायाचारसे उत्पन्न हुवे पापसे जीव नाना प्रकारके दुर्गति मार्गोंमें भ्रमण करता फिरता है इसलिये मुनियोंको माया अपने पास भी नहीं फटकने देना चाहिये ॥ ९० ॥

आगे आचार्य सत्यधर्मकावर्णन करते हैं ।

आर्या ।

स्वपरहितमेव मुनिभिर्मितममृतसमं सदैव सत्यं च

१ समाधिष्वपीत्यपिपाठान्तरम् ।

वक्तव्यं वचनमथ प्रविधेयं धीधनैर्मौनम् ॥ ९१ ॥

अर्थः—उत्कृष्टज्ञानके धारण करनेवाले मुनियोंको प्रथमतो बोलनाहीं नहीं चाहिये यदि बोलै तो ऐसा वचन बोलना चाहिये जो समस्त प्राणियोंके हितका करने वाला हो तथा परमित हो और अमृत के समान प्रिय हो तथा सर्वथा सत्य हो किन्तु जो वचन जीवोंको पीड़ा देनेवालाहो तथा कड़वा हो तो उसवचनकी अपेक्षा मौन साधना ही अच्छा है ॥ ९१ ॥

सति सन्ति व्रतान्येव सूनृते वचसि स्थिते
भवत्याराधिता सद्भिर्जगत्पूज्या च भारती ॥ ९२ ॥

अर्थः—जो मनुष्य सत्य वचन बोलने वाला है अर्थात् सत्य व्रतका पालन करने वालाहै उसके समस्त व्रत विद्यमान रहते हैं अर्थात् सत्यव्रतके पालन करनेसे ही वह समस्त व्रतोंका पालन करनेवाला होजाता है और वह सत्यवादीसज्जनपुरुष तीनलोककी पूजनीक सरस्वतीको भीं सिद्ध करलेता है।

भावार्थः—सरस्वती भी उसके आधीन होजाती है ॥ ९२ ॥

शार्दूल विक्रीड़ित ।

आस्तामेतदमुत्र सूनृतवचाः कालेन यल्लप्स्यते सद्भूपत्वसुरत्वसंसृतिसरित्पारासिमुख्यं फलम् ।
यत्प्राप्नोति यशः शशांकविशदं शिष्टेषु यन्मान्यतां यत्साधुत्वमिहैव जन्मनि परं तत्केन संवर्ण्यते ॥९३॥

अर्थः—तथा और भी आचार्य कहते हैं कि सत्यवादी मनुष्य परभवमें जाकर श्रेष्ठ चक्रवर्तीराजा बनते हैं तथा इन्द्रादिफलको प्राप्त करलेते हैं और सबसे उत्कृष्ट मोक्षरूपी फलको भी प्राप्त करलेते हैं यहबात तो दूर रहो किन्तु इसी भवमें वे चन्द्रमाके समान उत्तमकीर्तिको पा लेते हैं तथा शिष्ट मनुष्य उनको बड़ी प्रति-

ष्ठासे देखते हैं और वे सज्जन कहे जाते हैं इत्यादि नानाप्रकारके उत्तम फल उनको मिलते हैं जोकि सर्वथा अवर्णनीय है। इसलिये सज्जनोंको अवश्य ही सत्य बोलना चाहिये ॥९३॥

अब आचार्य शौचधर्मका वर्णन करते हैं।

आर्या।

यत्परदारार्थादिषु जन्तुषु निस्पृहमहिंसकं चेतः
दुर्भेद्यान्तमलहृत्तदेव शौचं परं नान्यत् ॥९४॥

अर्थः—जो परस्त्री तथा पराये धनमें इच्छारहित है तथा किसीभी जीवके मारनेकी जिसकी भावना नहीं है और जो अत्यन्त दुर्भेद्य लोभ क्रोधादिमलका हरण करनेवाला है ऐसा चित्तही शौच धर्म है किन्तु उससे भिन्न कोई शौचधर्म नहीं है।

भावार्थ—गंगा आदि नदियोंमें स्नान भी किया तथा पुस्कर आदि तीर्थोंमें भी गये किन्तु मन लोभ आदि कर ही संयुक्त बना रहा तो कदापि शौचधर्म नहीं पल सक्ता इसलिये मनको सबसे पहले शुद्ध करना चाहिये ९४

शार्दूल विक्रीड़ित।

गंगासागरपुष्करादिषु सदा तीर्थेषु सर्वेष्वपि स्नातस्यापि न जायते तनुभृतः प्रायो विशुद्धिः परा।
मिथ्यात्वादिमलीमसं यदि मनो वाह्येऽतिशुद्धोदकैर्धौतं किं वहुशोऽपि शुद्ध्यति सुरापूरप्रपूर्णो घटः ९५

अर्थः—आचार्य कहते हैं जिसप्रकार अत्यन्तघृणित मद्यसे भराहुआ घड़ा यदि बहुतवार शुद्धजलसे धोया भी जावे तो भी वह शुद्ध नहीं हो सक्ता उसहीप्रकार जो मनुष्य वाह्यमें गंगा पुष्कर आदि तीर्थोंमें स्नान करनेवाला है किन्तु उसका अंतःकरण नानाप्रकारके क्रोधादिकषायोंसे मलीमस हैं तो वह कदापि उत्कृष्ट

१ इच्छयेत्यपि पाठान्तरम्।

शुद्धिको प्राप्त नहीं करसक्ता इसलिये मनुष्यको सबसे प्रथम अपने अंतःकरणको शुद्ध करना चाहिये क्योंकि जबतक अंतःकरण शुद्ध न होगा तबतक सर्व बाह्यक्रिया व्यर्थ हैं ॥९५॥

अब आचार्यवर संयमधर्मका वर्णन करते हैं ।

आर्या ।

जन्तुकृपार्दितमनसः समितिषु साधोः प्रवर्तमानस्य
प्राणेंद्रियपरिहारः सयममाहुर्महामुनयः ॥९६॥

अर्थः—जिसका चित्त जीवोंकी दयासे भींगाहुवा है तथा जो ईर्या भाषा एषणा आदि पांच समितियोंका पालन करनेवाला है ऐसे साधुके जो षट्कायके जीवोंकी हिंसाका तथा इन्द्रियोंके विषयोंका त्याग है उसीको गणधरादिदेव संयमधर्म कहते हैं ।

भावार्थ—जबतक दयासे चित्त भींगा न रहेगा तथा ईर्या भाषा एषणा आदि समितियोंका पालन न किया जावेगा और समस्त जीवोंकी हिंसाका तथा इन्द्रियोंके विषयाका त्याग न किया जावेगा तबतक कदापि संयम धर्म नहीं पल सक्ता इसलिये संयमियोंको उपर्युक्तबातोंपर विशेषतया ध्यान देना चाहिये ॥९६॥

शार्दूल विक्रीडित ।

मानुष्यं किल दुर्लभं भवभृतस्तत्रापि जात्यादयस्तेष्वेवाप्तवचःश्रुतिःस्थितिरतस्तस्याश्च दृग्बोधने ।
प्राप्ते ते अपि निर्मले अपि परं स्यातां न येनोज्झिते स्वर्मोक्षैकफलप्रदे स च कथं न श्लाघ्यते संयमः ॥९७॥

अर्थः—आचार्य कहते हैं कि प्रथम तो इससंसाररूपीगहनवनमें भ्रमण करते हुवे प्राणियोंको मनुष्य

१ अतिनिर्मले—इत्यपि पाठान्तरम् ।

होनाही अत्यन्त कठिन है किन्तु किसीकारणसे मनुष्यजन्म प्राप्त भी होजावे तो उत्तमब्राह्मणादिजाति मिलना अति दुःसाध्य है यदि किसी प्रवलदैवयोगसे उत्तमजातिभी मिलजावे तो अर्हन्तभगवानके बचनोंका सुनना बड़ा दुर्लभ है यदि उनके सुननेका भी सौभाग्य प्राप्त होजावे तो संसारमें अधिकजीवन नहीं मिलता यदि अधिकजीवन भी मिलै तो सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञानकी प्राप्ति होनी अतिकठिन है यदि किसी पुण्यके उदयसे अखण्ड तथा निर्मलसम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञानकी प्राप्ति भी होजावे तो उससंयमधर्मके विना वे स्वर्ग तथा मोक्षरूपी फलके देनेवाले नहीं होसक्ते इसालिये सबकी अपेक्षा संयम अतिप्रशंसनीय है अतः ऐसे संयमकी अवश्य संयमियोंको रक्षा करनी चाहिये ॥ ९७ ॥

आचार्य तपधर्मका वर्णन करते हैं ।

आर्या ।

कर्ममलविलयहेतोर्बोधदृशा तप्यते तपः प्रोक्तम्
तद्द्वेधा द्वादशधा जन्माम्बुधियानपात्रमिदम् ॥९८॥

अर्थः—सम्यग्ज्ञानरूपीदृष्टिसे भलेप्रकार वस्तुके स्वरूपको जानकर ज्ञानावरणादिकर्ममलके नाशकी बुद्धिसे जो तप किया जाता है वही तप कहा गया है तथा वह तप मूलमें वाह्य अभ्यन्तर भेदसे दो प्रकार है और अनशन १ अवमौदर्य २ वृत्तिपरिसंख्यान ३ रसपरित्याग ४ विविक्तशय्यासन ५ कायक्लेश ६ इसरीतिसे छै प्रकारका वाह्य तथा प्रायश्चित्त १ विनय २ वैयावृत्य ३ स्वाध्याय ४ व्युत्सर्ग ५ ध्यान ६ इसप्रकार छैप्रकारका अभ्यन्तर इसरीतिसे उसतपके वारह भी भेद हैं तथा वह तप संसाररूपीसमुद्रसे पार करनेकेलिये जहाजके समान है अर्थात् मोक्षका देनेवाला है ॥९८॥

पृथ्वी ।

कषायविषयोद्भटप्रचुरतस्करौघो हठात्तपःसुभटताडितो विघटते यतो दुर्जयः ।
अतोहि निरुपद्रवश्चरति तेन धर्मश्रिया यतिः समुपलक्षितः पथि विमुक्तिपुर्याः सुखम् ॥९९॥

अर्थः——आचार्य कहते हैं यद्यपि क्रोधादिकषायरूपी उद्धत तथा प्रबल चौरोंका समूह दुर्जय है अर्थात् साधारणरीतिसे जीतनेमें नहीं आसक्ता तो भी जिससमय तपरूपीप्रबलयोधा उसके सामने आता है उससमय उसकी कुछ भी तीन पांच नहीं चलती अर्थात् बातकीबातमें वह जीत लिया जाता है इसलिये जो योगीश्वर तपरूपसुभटकेसाथ धर्मरूपीलक्ष्मीकर युक्त है । वह मोक्षरूपी नगरके मार्गमें निरुपद्रव तथा सुखसे चला जाता है।

भावार्थ——जिसप्रकार कोईमनुष्य विदेशको निकले तथा उसकेपास लक्ष्मी भी हो किन्तु उसकेपास कोई सुभट न हो तो वह बातकीबातमें भयंकर डाकुओंसे लूटालियाजाता है परन्तु यदि उसकेपास थोड़ेसे भी प्रबलयोधा होवें तो उसका डांकू कुछ भी नहीं करसक्ते अर्थात् उनडाकुओंको योधा तत्कालमें जीत लेते हैं उसहीप्रकार संसारमें कषाय तथा विषयरूपी योधा यद्यपि अत्यन्त दुर्जय है किन्तु जिसमुनिके पास तपरूपी प्रबल सुभट मौजूद हैं उसका वे कुछ भी नहीं करसक्ते तथा वे मुनि उपद्रवरहित सुखसे मोक्षको चले जाते हैं इस लिये मोक्षाभिलाषीमुनियोंको तप सबसे प्रिय समझना चाहिये ॥९९॥

मन्दाक्रान्ता ।

मिथ्यात्वादेर्यदिह भविता दुःखमुग्रं तपोभ्यो जातं तस्मादुदककणिकैकेव सर्वाब्धिनीरात् ।
स्तोकं तेन प्रसभमखिलकृच्छ्रलब्धे नरत्वे यद्येतर्हि स्खलसि तदहो का क्षतिर्जीव ते स्यात् ॥१००॥

आचार्य कहते हैं कि हे जीव जिसप्रकार समस्तसमुद्रकी अपेक्षा जलका कण अत्यन्त छोटा होता है उस

हीप्रकार तपके करनेसे बहुत थोड़े दुःखका तुझे अनुभव करना पड़ता है किन्तु जिससमय मिथ्यात्वके उदयसे तू नरक जावेगा उससमय तुझको नानाप्रकारके छेदन भेदन आदि असह्यदुःखोंका सामना करना पड़ेगा तो भी तू न जाने तपसे क्यों भयभीत होता है ? तथा तेरी तपके करनेमें क्या हानि है ? ॥१००॥

त्यागधर्मका वर्णन ।

शार्दूल विक्रीडित ।

व्याख्या या क्रियते श्रुतस्य यतये यद्दीयते पुस्तकं स्थानं संयमसाधनादिकमपि प्रीत्या सदाचारिणा ।
स त्यागो वपुरादिनिर्ममतया नो किंचनास्ते यतेराकिंचन्यमिदं च संसृतिहरो धर्मः सतां सम्मतः ॥१०१॥

अर्थः—शास्त्रोंका भलीभांति व्याख्यानकरना तथा मुनियोंको पुस्तकें तथा स्थान और संयमके साधन पीछी कमण्डलु आदिका देना सदाचारियोंका उत्कृष्ट त्याग धर्म है और मेरा कुछ भी नहीं है ऐसा विचार कर अत्यन्तनिकटशरीरमें भी ममता छोड़ देना आकिंचन्यनामक धर्म है तथा वह यतिके होता है और वह समस्त संसारका नाश करनेवाला है तथा समस्त श्रेष्ट पुरुषोंकेद्वारा वह आदरणीय है ॥१०१॥

और भी अकिंचन्यधर्मका स्वरूप वर्णन किया जाता है ।

शिखरिणी ।

विमोहा मोक्षाय स्वहितनिरताश्चारुचरिता गृहादि त्यक्त्वा ये विदधति तपस्तेऽपि विरलाः ।
तपस्यंतोऽन्यस्मिन्नपि यमिनि शास्त्रादि ददतो सहायाः स्युर्ये ते जगति यमिनो दुर्लभतराः ॥१०२॥

अर्थः—जिनका सर्वथा मोह गलिगया है तथा अपने आत्माके हितमें ही निरन्तर लगे रहते हैं और सुन्दरचारित्रके धारण करनेवाले हैं तथा घर स्त्री पुत्रादिको छोड़कर मोक्षकेलिये तप करते हैं वे मुनि

जो शास्त्रा-
संसारमें बिरले ही हैं तथा जो स्वतः अपने हितकेलिये तप करनेवाले हैं तथा दूसरे तपस्वियोंकेलियें जो शास्त्रा-
दिका दान करते हैं और उनके सहायी भी हैं ऐसे योगीश्वर तो संसारके बीचमें अत्यन्त ही दुर्लभ है अर्थात्
बड़ी कठिनाईसे मिलते हैं ॥१०२॥

परंमत्वा सर्वं परिहृतमशेषं श्रुतविदा वपुः पुस्ताद्यास्ते तदपि निकटं चेदिति मतिः ।
ममत्वाभावे तत्सदपि न सदन्यत्र घटते जिनेन्द्राज्ञाभंगो भवति च हठात् कल्मषमृषेः ॥१०३॥

अर्थः—समस्तशास्त्रके जाननेवाले वीतरागने अपनी आत्मासे समस्तवस्तुको भिन्न जानकर सबका त्याग
करदिया है यदि कहोगे कि सबको छोड़ते समय शरीर पुस्तकादिका क्यों नहीं त्याग किया ? तो उसका समा-
धान यही है कि उनकी शरीरादिमें भी किसीप्रकारकी ममता नहीं रही है इसलिये वे मौजूद भी नहींमौजूदकी
तरह ही है अर्थात् मुनियोंका शरीरादि "विना आयुकर्मके नाशहुवे छूट नहीं सक्ता यदि वे बीचमें ही छोड़
देवे तो उनको प्राणघातकरनेके कारण हिंसाका भागी होना पड़ेगा इसलिये शरीरादि तो रहता है किन्तु वे
शरीरादिमें किसीप्रकारका ममत्व नहीं रखते परन्तु यदि वे शरीरादिमें किसीप्रकारका ममत्व करै तो उनको
जिनेन्द्रकी आज्ञाभंगरूप महानदोषका भागी होना पड़े अर्थात् जबतक ममत्व रहेगा तबतक वे मुनि ही
नहीं कहलाये जा सक्ते ॥१०३॥

आगे ब्रह्मचर्यधर्मका वर्णन करते हैं।

स्रग्धरा

यत्संगाधारमेतच्चलति लघु च यत्तीक्ष्णदुःखौघधारं मृत्पिण्डीभूतभूतं कृतबहुविकृतिभ्रान्तिसंसारचक्रम् ।
ता नित्यं यन्मुमुक्षुर्यतिरमलमतिः शान्तमोहः प्रपश्येज्जामीः पुत्रीः सवित्रीरिवहरिणदृशस्तत्परं ब्रह्मचर्यम्॥

अर्थः—जिसप्रकार कुम्भकारकाचाक जमीनके आधारसे चलता है तथा उसचाककी तीक्ष्ण धारा रहती है और उसकेऊपर मिट्टीका पिण्ड भी रहता है तथा वह चाक नानाप्रकार के कुसूल स्थास आदि घटके विकारोंको करता है उसहीप्रकार संसाररूपीचाककी आधार यह स्त्री है अर्थात् यह स्त्री न होती तो कदापि संसारमें भटकना न फिरता तथा इससंसाररूपी चाकमें अत्यंततीक्ष्णदुःखोंका समूह ही धार है अर्थात् संसारमें नानाप्रकारके नरकादिदुःखोंका सामना करना पडता है और इससंसाररूपीचाकके ऊपर नानाप्रकारके जीव जो हैं वे ही पिण्ड हैं तथा वहसंसाररूपीचाक देव मनुष्यादि नानाप्रकारके विकार कराकर जीवोंको भ्रमण करानेवाला है अतः स्त्री ही संसारचक्रकी कारण है इसलिये जो मोक्षका अभिलाषीमनुष्य उनस्त्रियोंको माता बहिन पुत्रीकेसमान मानता है उसहीके उत्कृष्टधर्मका भलीभांति पालन होता है अतः ब्रह्मचारीमनुष्योंको चाहिये कि वे कदापि स्त्रियोंकेसाथ सम्बन्ध न रक्खे ॥१०४॥

मालिनी

अविरतमिह तावत्पुण्यभाजो मनुष्या हृदिविरचितरागाः कामिनीनां वसन्ति ।
कथमपि न पुनस्ता जातु येषां तदंघ्रीः प्रतिदिनमतिनम्रास्तेऽपि नित्यं स्तुवन्ति ॥१०५॥

अर्थः—जो पुरुष निरन्तर स्त्रियोंके हृदयमें प्रीति उपजावनेवाले हैं अर्थात् जिनको स्त्रियां चाहतीं हैं यद्यपि वे भी संसारमें धन्य हैं परन्तु जिनमनुष्योंके हृदयमें स्त्रियां स्वप्नमें भी निवास नहीं करतीं वे उनसे भी अधिक धन्य है तथा उनवीतरागीपुरुषोंके चरणकमलोंको स्त्रियोंकेप्रियपात्र बड़े २ चक्रवर्ती आदि भी शिर झुकाकर नमस्कार करते हैं इसलिये जिनपुरुषोंको संसारमें अपनी कीर्त्तिफैलानेकी इच्छा है उनको कदापि स्त्रियोंके जालमें नहीं फसना चाहिये ॥१०५॥

स्रग्धरा

वैराग्यत्यागदारुकृतरुचिरचना चारु निश्रेणिका यैः पादस्थानैरुदारैर्दशभिरनुगता निश्चलैर्ज्ञानदृष्टेः ।
योग्या स्यादारुरुक्षोः शिवपदसदनं गन्तुमित्येषु केषां नो धर्मेषु त्रिलोकीपतिभिरपि सदा स्तूयमानेषु हृष्टिः॥

अर्थः—आचार्य कहते हैं कि जिसके इधर उधर वैराग्य तथा त्यागरूपी मनोहर काष्ट लगे हुवे हैं तथा जिसमें बड़े २ मजवूत दशधर्मरूपी पादस्थान (दण्डे) मौजूद हैं ऐसी सीढ़ी मोक्षरूपी महलकी चढ़नेकी इच्छा करनेवाले मनुष्यके चढ़नकेलिये योग्य है क्योंकि जो तीनलोकके पतिइन्द्रादिकोंसे बन्दनीक हैं उनदशधर्मोंके धारण करनेमे किसको हर्ष नहीं हो सक्ता है? अर्थात् समस्त मोक्षाभिलाषी उनको हर्षकेसाथ पाल सक्ते हैं ॥१०६॥

॥ इसप्रकार दशधर्मका निरुपण हो चुका ॥

अब आचार्य शुद्धात्माकी परणतिरूपधर्मका वर्णन करते हैं ।

शार्दूल विक्रीड़ित ।

निःशेषामलशीलसद्गुणमयामत्यन्तसम्यास्थितां वंदे तां परमात्मनः प्रणयिनीं कृत्यान्तगां स्वस्थताम् ।
यत्रानन्तचतुष्टयामृतसरित्यात्मानमन्तर्गतं न प्राप्नोति जरादिदुःसहशिखः संसारदावानलः ॥१०७॥

अर्थः—समस्तनिर्मलशीलगुणस्वरूप तथा सर्वथा समतारूप अवस्थामें होनेवाली और उत्कृष्ट आत्मासे प्रीति करानेवाली तथा जिसके होतेसन्ते किसीप्रकारका कर्तव्य बाकी नहीं रहता ऐसी स्वस्थताको मैं नमस्कार करता हूं जिस अनंतविज्ञानादि अनन्तचतुष्टपस्वरूप, स्वस्थतारूपी अमृतनदीके भीतर रहेहुवे आत्माको जरा आदि दुःसहशिखाको धारण करनेवाला भी संसाररूपी बड़वानल प्राप्त नहीं हो सक्ता ।

भावार्थ—जिसप्रकार कोई नदीके जलमें प्रवेशकरजावे तो उसका भयंकर भी अग्नि कुछ भी नहीं कर

सक्ती उसहीप्रकार जो अनन्तचतुष्टयस्वरूप स्वस्थतारूपी अमृतनदीमें प्रविष्ट है उसको असह्य भी संसाररूपीवड़वाग्नि अंशमात्र भी नहीं सता सक्ती ॥१०७॥

आयातेऽनुभवे भवारिमथने निर्मुक्तमूर्त्याश्रये शुद्धेऽन्यादृशि सोमसूर्यहुतभुक्कान्तेरनन्तप्रभे ।
यस्मिन्नस्तमुपैति चित्रमचिरान्निःशेषवस्त्वन्तरं तद्वन्दे विपुलप्रमोदसदनं चिद्रूपमेकं महः ॥१०८॥

अर्थः—समस्तकर्मादिवैरियोंके नाश करनेवाले तथा शरीरआदिके आश्रयकर रहित अर्थात् जिसको किसी प्रकारके शरीर आदिका आश्रय नहीं है, और शुद्ध तथा दूसरेके प्रत्यक्षके अगोचर तथा चन्द्रमा सूर्य और अग्निसे भी अनन्तगुणी प्रभाको धारण करनेवाले जिस चैतन्यस्वरूपउत्कृष्टतेजके अनुभव होनेपर बातकीबातमें समस्तपरपदार्थ अस्त हो जाते हैं ऐसे अनेकप्रकारके प्रमोदको पैदा करनेवाले उस चैतन्यस्वरूपतेजको मैं शिर-झुकाकर नमस्कार करता हूं ॥१०८॥

जातिर्याति न यत्र यत्र च मृतो मृत्युर्जरा जर्जरा जाता यत्र न कर्मकायघटना नोवाग्रुजो व्याधयः।
यत्रात्मैवपरं चकास्ति विशदं ज्ञानैकमूर्तिर्विभुर्नित्यं तत्पदमाश्रितो निरुपमा सिद्धाः सदा पान्तु व ॥

अर्थः—जहांपर न जन्म है, न मरण है, न जरा है, न कर्मोंका तथा शरीरका सम्बन्ध है, न वाणी है और न रोग है तथा जहांपर निर्मलज्ञानका धारण करनेवाला और प्रभु आत्मा सदा प्रकाशमान है ऐसे उस अविनाशी पदमें रहनेवाले उपमारहित (अर्थात् जिनको किसीकी उपमा ही नहीं दे सक्ते ऐसे) सिद्ध भगवान् मेरी रक्षा करो अर्थात् ऐसे सिद्धोंका मैं शरण लेता हूं ॥१०९॥

दुर्लक्ष्येपि चिदात्मनि श्रुतवलात्किंचित्स्वसंवेदनात् ब्रूमः किंचिदिह प्रबोधनिधिभिर्ग्राह्यं न किञ्चिच्छलम् ।
मोहे राजनि कर्मणामतितरां प्रौढेन्तराये रिपौ दृग्बोधावरणद्वये सति मतिस्तादृक्कुतो मादृशाम् ११०॥

अर्थः—जिसप्रकार अमूर्तीक होनेके कारण आकाश आदि किसीके देखनेमें नहीं आसक्ते उसहीप्रकार यद्यपि यहआत्मा किसीके दृष्टिगोचर नहीं है तो भी उसचैतन्यस्वरूपआत्माके स्वरूपको शास्त्रके वलसे अथवा अपने अनुभवसे मैं वर्णन करता हूं इसलिये बुद्धिमानोंको इसमें किसीप्रकारकी दगावाजी नहीं समझनी चाहिये क्योंकि समस्तकर्मोंका राजा मोहनीय और अत्यंतप्रवलअंतरायरूपीशत्रु तथा ज्ञानावरण दर्शनावरण अभी मेरी आत्माके साथ लगेहुवे हैं इसलिये वास्तविकस्वरूपके कहनेमें मेरी वुद्धि कैसे प्रवीण हो सक्ती है ? ।

भावार्थः—वास्तविकरीतिसे आत्माके स्वरूपका वर्णन अर्हन्त ही करसक्ते हैं अल्पज्ञानी नहीं । तथा अभी मैं अल्पज्ञानी हूं इसलिये मेरा कथन सर्वज्ञदेवप्रणीतशास्त्रके अनुसार होनेके कारण तथा कुछ अनुभवसे होनेकेकारण विद्वानोंको अवश्य मानना चाहिये ॥११०॥

शार्दूलविक्रीड़ित ।

विद्वन्मान्यतया सदस्यतितरामुद्दण्डवाग्डम्बराः शृङ्गारादिरसैः प्रमोदजनकं व्याख्यानमातन्वते ।
ये ते च प्रतिसद्म सन्ति वहवो व्यामोहविस्तारिणो येभ्यस्तत्परमात्मतत्वविषयं ज्ञानं तु ते दुर्लभाः ॥१११॥

अर्थः—अपनेको विद्वान् मानकर शृङ्गारादिरससहित नानाप्रकारके प्रमोदजनकव्यख्यानोंको कहने वाले तथा सभामें व्यर्थ वचनोंके आडम्बरको धारण करनेवाले और मनुष्योंको सन्मार्गके भुलानेवाले पुरुष संसारमें प्रतिग्रह वहुतसे मिलैंगे परन्तु जो परमात्मतत्वके ज्ञानके देनेवाले हैं ऐसेमनुष्य बड़ी कठिनाईसे मिलते हैं ॥१११॥

आपद्धेतुषु रागरोषनिकृतिप्रायेषु दोषेष्वलं मोहात्सर्वजनस्य चेतसि सदा सत्सु स्वभावादपि ।
तन्नाशाय च संविदे च फलवत्काव्यं कवेर्जायते शृङ्गारादिरसं तु सर्वजगतो मोहाय दुःखाय च ॥११२॥

अर्थः—समस्तमनुष्योंके चित्तोंमें नानाप्रकारके दुःख देनेवाले ऐसे राग द्वेष माया क्रोध लोभ आदि

दोष स्वभावसे ही रहे आते हैं इसलिये जो कविका काव्य उनको मूलमें उड़ा देता है तथा सम्यग्ज्ञानका उत्पन्न करनेवाला होता है वास्तवमें वही कार्यकारी समझना चाहिये अर्थात् जिसमें वीतरागपनेका वर्णन होवे वही काव्य फलके देनेवाला है और शृंगारादिरस तो समस्तजगतको मोहके उत्पन्न करनेवाले तथा दुःखके देनेवाले हैं इसलिये भव्योंको चाहिये कि वे वीतरागभावको दर्शानेवाले शास्त्रोंका ही अभ्यास करैं ॥११२॥

वसंततिलका

कालादपि प्रसृतमोहमहांधकारे मार्गं न पश्यति जनो जगति प्रशस्ते।
क्षुद्राःक्षिपन्ति दृशि दुःश्रुतिधूलिमस्य न्नस्यात्कथं गतिरनिश्चितदुष्पथेषु ॥११३॥

अर्थः—आनादिकालसे फैलेहुवे मोहरूपीमहान्अन्धकारसे व्याप्त इसजगतमें विचारे मोहीजीव एकतो स्वयमेव ही श्रेष्टमार्गको नहीं देख सक्ते हैं यदि किसीरीतिसे देखभीसकें तो दुष्टपुरुष और भी उनकी आंखोंमें शृंगारादिशास्त्र सुनाकर धूली डालते हैं इसलिये कहांतक वे जीव खोटे मार्गमें गमन नहीं कर सक्ते ?।

भावार्थः—जिसप्रकार जात्यन्ध पुरुषको एक तो स्वयमेव ही मार्ग नहीं सूझता किन्तु उसकी आंखोंमें यदि धूलि डाल दी जावे तो औरभी वह घबड़ाकर खोटे मार्गमें गिरपड़ता है उसहीप्रकार संसारमें भ्रमण करतेहुवे प्राणियोंको एक तो मोहके उदयसे स्वयं मार्ग नहीं सूझता परन्तु शृंगारादि रसोंके सुननेसे वे और भी खोटे मार्गोंमें गिरते हैं इसलिये भव्यजीवोंको चाहिये कि वे कदापि शृंगारादिरूपशास्त्रोंको न सुने जिससे उनको खोटे मार्गमें न गिरना पड़े ॥११३॥

शार्दूलविक्रीडित।

विण्मूत्रक्रिमिसंकुले कृतघृणैरंत्रादिभिः पूरिते शुक्रासृग्वरयोषितामपि तनुर्मातुः कुगर्भेऽजनि।
सापि क्लिष्टरसादिधातुघटिता पूर्णा मलाद्यैरहो चित्रं चंद्रमुखीति जातमतिभिर्विद्वद्भिरावर्ण्यते ॥११४॥

अर्थः—यह स्त्रीका शरीर विष्टा मूत्र तथा नानाप्रकारके कीड़ोंकर व्याप्त और प्रबलघृणाको पैदा करनेवाले आंत मास आदिकर पूरित तथा वीर्य रक्त आदिसे पुष्ट ऐसे खोटे माताके गर्भसे उत्पन्नहुवा है और स्वयं भी वह स्त्री नानाप्रकारके खोटे वीर्य रक्त आदिकर बनीहुई है तथा मल आदिसे युक्त है तो भी नीचविद्वानकवि ऐसीस्त्रीको चन्द्रमुखी कहते हैं यह बड़े आश्चर्यकी बात है ॥११४॥

शिखरिणी ।

कचा यूकावासा मुखमजिनवद्धास्थिनिचयः कुचौ मांसोच्छ्रायौ जठरमपि विष्टादिघटिका ।
मलोत्सर्गे यंत्रं जघनमवलायाः क्रमयुगं तदाधरस्थूणे किमिह किल रागाय महताम् ॥११५॥

अर्थः—स्त्रीके केशतो जुवांके घर हैं मुख, चर्मसे वेष्टित हाड़ोंका समूह हैं स्तन मासके पिण्ड हैं उदर विष्टा आदि खराबचीजोंका घरहै योनिस्थान, मूत्र आदिके वहनेका नालाहै और दोनोंचरण उसयोनिस्थानके ठहरनेके लिये खभोंकेसमान हैं इसलिये ऐसी खराबस्त्रीमें विद्वान पुरुष कदापि राग नहीं करसके ॥११५॥

द्रुतविलम्बित ।

परमधर्मनदाज्जनमीनकान्शशिमुखीवडिशेनसमुद्धतान् ।
अतिसमुल्लसिते रतिमुर्मुरे पचति हा हतकःस्मरधीवरः ॥११६॥

अर्थः—आचार्य कहते हैं कि यहहिंसक कामदेवरूपीधीवर जीवरूपमछलियोंको उत्कृष्टधर्मरूपीतालावसे निकालकर स्त्रीरूपीमांससहितकाटेपर लटकाकर अत्यंतप्रज्वलितसंभोगरूपीभूभरमें भूंजती है यह बड़े दुःखकी बात है।

भावार्थः—जिसप्रकार धीमर जिह्वाइन्द्रियकी लोभीमछलियोंको मांसलिप्तकाटेसे वाहर निकालकर भूभरमें भूंजता है उसहीप्रकार यहकामदेव भी जीवोंको धर्मसे हटाकर स्त्रियोंके जालमें फसादेता है इसलिये भव्यजीवोंको चाहिये कि वे सर्वथा प्राणोंके घातकरनेवाले इसकामदेवको अपने हृदयमें फटकने तक न देवे ॥११६॥

शार्दूल विक्रीड़ित।

येनेदं जगदापदाम्बुधिगतं कुर्वीत मोहो हठात् येनैते प्रतिजन्तु हन्तुमनसः क्रोधादयो दुर्जयाः।
येन भ्रातरियं च संसृतिसरित् संजायते दुस्तरा स्तज्जानीहि समस्तदोषविषमं स्त्रीरूपमेतद्ध्रुवम् ११७

अर्थः—जिसस्त्रीके रूपकी सहायतासे मोह, जवर्दस्ती मनुष्यको नानाप्रकारके दुःख देता हैं तथा उसी-रूपकी सहायतासे समस्तजीवोंके नाशक क्रोधादि कषाय दुर्जय होजाते हैं और उसीरूपकी सहायतासे संसाररूपीनदी तिरी नहीं जासक्ती अर्थात् अथाह होजाती है इसलिये आचार्य उपदेश देते हैं कि हे भव्यो उसस्त्रीके रूपको समस्तदोषोंसे भी भयंकर समझो।

भावार्थः—जितने भर संसारमें दोषहैं वे किसीन किसी अहितको तो अवश्यही करते हैं परन्तु स्त्रीका रूप भयंकर अहितको करता है इसलिये हितैषियोंको कदापि स्त्रीके रूपमें नहीं फंसना चाहिये ॥ ११७ ॥

मोहव्याधभटेन संसृतिवने मुग्धेणवंधापदे पाशाः पंकजलोचनादिविषयाः सर्वत्र सज्जीकृताः।
मुग्धास्तत्र पतन्ति तानपि वरानास्थाय वांछन्त्यहो हा कष्टं परजन्मनेऽपि न विदः क्वापीति धिङ्मूर्खताम्

अर्थः—इस संसारबनमें भोलेजीवरूपीमृगोंको वांधकर दुःखदेनेकेलिये मोहरूपीसुभट चिड़ियामारने सवजगह लोचनादिविषयरूपीजाल फैला रक्खे हैं और उनविषयरूपीजालोंको श्रेष्ट मानकर भोले जीव उनमें आकर फंसजाते हैं यह वड़े दुःखकी वात है किन्तु आत्माके स्वरूपको जाननेवाले विद्वान् स्वप्नमें भी उन जालोंमें नहीं फंसते और परलोककेलिये भी उन विषयोंको हितकारी नहीं समझते इसलिये आचार्य कहते हैं कि मूर्खताकेलिये धिक्कार है॥

भावार्थः—जिसप्रकार चिड़ियामार कुछ चावल आदि डालकर बनमें जाल बिछादेते हैं उसमें चावलोंके लोलुपी नानाप्रकारके कबूतर आदि पक्षी फंसजाते हैं उसही प्रकार संसारमें मोहके उदयसे मुग्धपुरुष

॥६०॥

विषयोंमें प्रवृत्त होजाते हैं तथा नानाप्रकारके दुःखोंको भोगते हैं किन्तु बुद्धिमानपुरुष विषयोंके दुःखोंको जानकर विषयोंमें नहीं फंसते हैं तथा उनविषयोंकी आकांक्षा भी नहीं करते इसलिये सदा सुखी रहते हैं अतः विद्वानोंको विषयोंकी तरफ कदापि ऋजु नहीं होनाचाहिये ॥ ११८ ॥

एतन्मोहठकप्रयोगविहितभ्रान्तिभ्रमचक्षुषा पश्यत्येषजनोऽसमंजसमसद्बुद्धिर्ध्रुवं व्यापदे ।
अप्येतान्विषयाननन्तनरकक्लेशप्रदानस्थिरान् यच्छश्वत्सुखसागरानिव सतश्चेतःप्रियान्मन्यते ॥११९॥

अर्थः—यहकुबुद्धिमनुष्य मोहरूपी जो ठग उसके प्रयोगसे उत्पन्नहुए भ्रमसे, भ्रान्त जो नेत्र उससे विपरीत ही देखता है तथा विपरीत देखनेसे नानाप्रकारके दुःखोंका अनुभव करता है तो भी अनन्तनरकोंकेदुःखोंको देनेवाले तथा विजलीकेसमान चचलइनविषयोंको स्थिर तथा निरन्तर सुखकेदेनेवाले और चित्तको प्रिय मानता है।

भावार्थः—जिसप्रकार कोईबैरी किसीमनुष्यपर मंत्रादिका प्रयोग करता है तो उसमे उसके नेत्र घूमने लगजाते हैं तथा वह नानाप्रकारकी आपत्तियोंको भोगता है उसहीप्रकार यहकुबुद्धिजन मोहरूपीबैरीके प्रयोगसे विषयोंमें प्रवृत्त हो जाता है तथा समस्तचीजें उसको विपरीत ही सूझ निकलती हैं तथा उसीविपरीतताके सबब वह नानादुःखोंको भोगता है तो भी विषयोंको अच्छा मानता है यह कितने दुःखकीबात है ॥११९॥

शार्दूल विक्रीडित ।

संसारेऽत्र घनाटवीपरिसरे मोहष्ठकः कामिनीक्रोधाद्याश्च तदीयपेटकमिदं तत्सान्निधौ जायते ।
प्राणी तद्विहितप्रयोगविकलः तद्वश्यतामागतो न स्वं चेतयते लभेत विपदं ज्ञातुः प्रभोः कथ्यताम् ॥१२०

अर्थः—इससंसाररूपी विस्तीर्णबनमें ठगतो मोह है और स्त्री तथा क्रोध मान माया आदि उसकेपास प्राणियोंको ठगनेकी सामिग्री है, (अर्थात् स्त्रीक्रोधादिकारणोंसे ही वह प्राणियोंको ठगता है) तथा प्राणी उसके

प्रयोगसे विकल होकर उसके आधीन पड़ेहुवे हैं और अपने स्वरूपको भी नहीं जानते हैं तथा नानाप्रकारकी आपत्तियोंको सहते हैं इसलिये ग्रन्थकार कहते हैं कि हे जीव तुझे उस ज्ञानानन्दस्वरूप आत्माहीका अर्थात् श्रीसर्वज्ञदेवकाही आश्रयण करना चाहिये।

भावार्थः—ज्ञानानन्दस्वरूपआत्माके आश्रयण करने पर प्रबल भी ठग मोह कुछ भी नहीं करसक्ता है इसलिये भव्यजीवोंको ज्ञानानन्दस्वरूपआत्माकाही आराधन करना चाहिये ॥१२०॥

ऐश्वर्यादिगुणप्रकाशनतया मूढा हि ये कुर्वते सर्वेषां टिरिटिल्लितानि पुरतः पश्यन्ति नो व्यापदः।
विद्युल्लोलमपि स्थिरं परमपि स्वं पुत्रदारादिकं मन्यन्ते यदहो तदत्र विषमं मोहप्रभोः शासनम् ॥१२१॥

अर्थः—मूढपुरुष मैं लक्ष्मीवान् हूं तथा मै ज्ञानवानहूं इत्यादि अपने गुणोंको प्रकाशित करते हैं तथा समस्तपुरुषोंके सामने नानाप्रकारकी गालियोंको वकते हैं किन्तु आनेवाली नरकादि विपत्तियोंपर कुछभी ध्यान नहीं देते तथा विजलीके समान चंचलभी पुत्र स्त्री आदिको स्थिर मानते हैं और अपनेसे भिन्न भी उनको अपना मानते हैं इसलिये आचार्य कहते हैं कि मोहचक्रवर्तीकी आज्ञा बड़ी कठोर है।

भावार्थः—परको अपना मानना तथा चंचलको स्थिर मानना और मत्त होकर व्यर्थ नाना प्रकार की खराव चेष्टाकरना मोहके उदयसेही होता है इसलिये उत्तम पुरुषोंको मोहके नाश करनेकेलिये अवश्य प्रयत्न करना चाहिये ॥ १२१ ॥

शिखरिणी।

क्वयामः किंकुर्मः कथमिह सुखं किंनु भविता कुतोलभ्या लक्ष्मीः कइहनृपतिः सेव्यत इति।
विकल्पानां जालं जड़यति मनः पश्यत सतामपिज्ञातार्थानामिहमहदहो मोहचरितम् ॥१२२॥

अर्थः—हम कहांजावें क्याकरैं कैसे सुख हो किसरीति से लक्ष्मी मिलै किस राजाकी सेवा टहल करैं इत्यादि नाना प्रकारके विकल्पोंके समूह संसारमें प्राणियोंके उत्पन्न होते रहते हैं तथा भलेप्रकार वस्तुके स्वरूपको जाननेवाले भी मनुष्योंके मनको जड़ वनादेते हैं यह प्रत्यक्ष गोचर है इसलिये ग्रन्थकार कहते हैं कि मोहका चरित्र वड़ाआश्चर्यकारी है ॥

भावार्थः—मोहके उदयसे मनुष्योंको नाना प्रकारके नहींकरनेयोग्य भी काम करने पड़ते हैं इसलिये सवसे पहले मोहसे मोह अवश्य तोड़ना चाहिये ॥ १२२ ॥

विहाय व्यामोहं धनसदनतन्वादिविषये कुरुध्वं तत्तूर्णं किमपि निजकार्यं वत बुधाः ।
न येनेदं जन्म प्रभवति सुनृत्वादिघटना पुनः स्यान्नस्याद्वा किमपरवचोऽडम्वरशतैः ॥१२३॥

अर्थः—आचार्य उपदेश देते हैं कि अरे वुद्धिमानों विशेष कहांतक कहैं शीघ्र स्त्री पुत्र धन घर आदि पदार्थोंसे मोह छोड़कर ऐसा कोई काम करो जिससे तुमको फिर जन्म न धारणकरना पड़े क्योंकि नहीं मालूम फिर उत्तमकुल जिनधर्मका शरण, निर्ग्रंथगुरुका उपदेश, आदि मिले या नहीं मिले ।

भावार्थः—जिसप्रकार चौराहेपर चिन्तामणिरत्नकी प्राप्ति दुर्लभ है उसहीप्रकार मनुष्यजन्म तथा जिनधर्मका शरण आदि मिलना दुर्लभ है इसलिये ऐसीअवस्थाको पाकर ऐसा काम करना चाहिये जिससे तुमको इसपंच परावर्तनरूप संसारमें परिभ्रमण न करना पड़े नहीं तो हाथ मलने रहजाओगे कुछ भी नहींमिलेगा ॥१२३॥

स्रग्धरा ।

वाचस्तस्यप्रमाणा यइह जिनपतिः सर्वविद्वीतरागो रागद्वेषादिदोषैरुपहतमनसो नेतरस्यानृतत्वात् ।
एतन्निश्चित्य चित्ते श्रयत वत वुधा विश्वतत्वोपलब्ध्यै मुक्तेर्मूलं तमेकं भ्रमात किमु वहुष्वंधवद्दुष्पथेषु॥

अर्थः—और भी आचार्य कहते हैं कि जो समस्त पदार्थोंको अच्छी तरह जाननेवाला है तथा वीतराग है और ज्ञानावरणादि चार घातिया कर्मोंसे रहित है उसहीका वाक्य प्रमाण है किन्तु उससे विपरीत जो अल्प-ज्ञानी रागी आदि हैं उनका वचन असत्यहोनेसे प्रमाण नहीं है ऐसा मनमें ठानकर हे पंडितो केवल ज्ञानकी प्राप्तिकेलिये मुक्तिके देनेवाले उसअर्हन्तका ही आश्रयणकरो क्यों व्यर्थ अंधेके समान जहांतहां खोटेमार्गमें गिरते फिरते हो ॥ १२४ ॥

वसन्ततिलका ।

यः कल्पयेत् किमपि सर्वविदोऽपि वाचि सान्दिह्य तत्वमसमञ्जसमात्मबुध्या ।
खे पत्रिणां विचरतां सुदृशोक्षितानां संख्यां प्रति प्रविदधाति सवादमंधः ॥ १२५ ॥

अर्थः—जो मूढ़, सर्वज्ञके वचनमें भी सन्देह कर अपनी वुद्धिकी गढ़ंतसे अपरमार्थभूततत्वोंकी कल्पना करता है वह वैसाही काम करता है कि जिसप्रकार अंधा मनुष्य आकाशमें जाते हुवे पक्षियोंकी गिनतीमें अच्छे नेत्रवाले पुरुषके साथ विवाद करता है ॥

भावार्थः—जिसको यहभी पता नहीं है कि पक्षी कहां उड़रहे हैं कहां नहीं, वह कैसे सूझतेपुरुषके साथ पक्षियोंकी गिनतीमें विवाद करसक्ता है उसहीप्रकार जिसको अंशमात्रभी विशेषज्ञान नहीं वह सिवाय सर्वज्ञकी कृपासे कैसे वस्तुके यथार्थस्वरूपको जानसक्ता है इसालिये भव्यजीवोंको सर्वज्ञके वचनपर ही विश्वास करना चाहिये अल्पज्ञानियोंके वचनपर कदापि नहीं ॥ १२५ ॥

इन्द्रवज्रा ।

उक्तं जिनैर्द्वादशभेदमङ्गं श्रुतं ततो बाह्यमनन्तभेदम् ।
तस्मिन्नुपादेयतया चिदात्मा ततः परं हेयतयाऽभ्यधायि ॥१२६॥

अर्थः—श्रुतके दो भेद हैं एक अंगश्रुत दूसरा बाह्यश्रुत उनमें अंगश्रुत बारहप्रकारका जिनेंद्रभगवानने कहा है तथा बाह्यश्रुतके अनन्तभेद कहे हैं परन्तु उनदोनोंश्रुतोंमें ज्ञानदर्शनशालीआत्मा ही ग्राह्य (ग्रहण करने योग्य) कहा है किन्तु उससे जुदे समस्त पदार्थ हेय (त्यागने योग्य) कहे हैं ॥१२६॥

अल्पायुषामल्पधियामिदानीं कुतः समस्तश्रुतपाठशक्तिः ।
तदत्रमुक्तिप्रतिबीजमात्रमभ्यस्यतामात्महितं प्रयत्नात् ॥१२७॥

अर्थः—इसपंचमकालमें ज्ञान आयु आदिके निरंतर क्षीण होनेसे मनुष्य अल्पायु तथा अल्पज्ञानके धारी रहगये हैं इसलिये वे समस्त श्रुतका अभ्यास नहीं करसक्ते अतः जो पुरुष मोक्षके अभिलाषी हैं उनको मुक्तिके देनेवाले तथा आत्माके हितकारी श्रुतका तो अवश्य ही बड़े प्रयत्नके साथ अभ्यास करना चाहिये ॥१२७॥

स्रग्धरा

निश्चेतव्योजिनेन्द्रस्तदतुलवचसां गोचरेर्थे परोक्षे कार्यःसोऽपि प्रमाणं वदत किमपरेणात्र कोलाहलेन ।
सत्यां छद्मस्थतायामिह समयपथस्वानुभूतिप्रबुद्धा भो भो भव्या यतध्वं दृगवगमनिधावात्मनि प्रीतिभाजः

अर्थ—वर्तमानकालमें जिनेंद्र है ऐसा विश्वास अवश्य करना चाहिये तथा जो पदार्थ सूक्ष्म तथा दूर होनेकेकारण दृष्टिगोचर नहीं है किंतु जिनेंद्रने उनका वर्णन अपनी दिव्यध्वनिसे किया है तो वे भी अवश्य हैं ऐसा मानना चाहिये परंतु जिनेंद्र अथवा जिनेंद्रकेवचनमें व्यर्थ संशय करना ठीक नहीं क्योंकि इसकालमें समस्तजीव थोड़ेज्ञानके धारी हैं इसलिये आचार्य कहते हैं कि "जिनभगवानसे कहेहुवेसिद्धांतमार्गसे स्वानुभव को प्राप्त कर सदा प्रबुद्ध, और अपनी आत्मामें प्रीतिको भजनेवाले, हे भव्यजीवो तुम सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्ररूपी निधिमें अवश्य यत्न करो।

भावार्थः——संसारमें ये तीनोंरत्न ही सारभूत पदार्थ हैं और इनहीमें प्रयत्न करनेसे उत्तमसुखकी प्राप्ति हो सक्ती है इसलिये भव्यजीवोंको रत्नत्रयका आराधन अवश्य करना चाहिये ॥१२८॥

आर्या ।

तद्ध्यायत तात्पर्याज्ज्योतिः सच्चिन्मयं विना यस्मात् ।
सदपि न सत्सति यस्मिन्निश्चितमाभासते विश्वम् ॥१२९॥

अर्थः—जिस श्रेष्ठ तथा ज्ञानस्वरूपचैतन्यके विना समस्तपदार्थ मौजूद भी नहीं मौजूद के समान हैं और जिसचैतन्यके होतेसन्ते समस्तपदार्थोंका प्रकटरीतिसे प्रतिभास होता है ऐसे ज्ञानस्वरूप आत्मारूपी ज्योतिकी भव्यजीवोंको अवश्य आराधना तथा उपासना करनी चाहिये ।

भावार्थः——यद्यपि संसारमें अनेकपदार्थ हैं परंतु उनसबमें ज्ञानगुणका धारी आत्माही है तथा उस आत्माके विना समस्त जगत शून्य है और उसआत्माके होतेसंते समस्त पदार्थोंका भलेप्रकारसे ज्ञान होता है इसलिये भव्यजीवोंको ऐसेसारभूतआत्माका अवश्यही ध्यान करना चाहिये ॥१२९॥

शार्दूल विक्रीड़ित ।

अज्ञो यद्भवकोटिभिः क्षपयति स्वं कर्म तस्माद्बहु स्वीकुर्वन् कृतसंवरः स्थिरमना ज्ञानी तु तत्तत्क्षणात् ।
तीक्ष्णक्लेशहयाश्रितोऽपि हि पदं नेष्टं तपःस्यन्दनो नेयं तन्नयति प्रभुं स्फुटतरज्ञानैकसूतोज्झितः ॥१३०॥

अर्थः——आचार्य कहते हैं कि अज्ञानीजीव कठोर तप आदिके द्वारा जितनेकर्मोंको करोड़ वर्षमें क्षयकरता है उससे अधिक भी कर्मोंको, स्थिरमन होकर संवरका धारी ज्ञानीजीव क्षणमात्रमें क्षय करदेता है सो ठीक ही है क्योंकि जिसतपरूपीरथमें तीक्ष्णक्लेशरूपी घोड़ा लगेहुवे हैं किंतु ज्ञानरूपीसारथी नहीं हैं तो वह तपरूपीरथ

कदापि आत्मारूपीप्रभूको मोक्षस्थानमें नहीं लेजासक्ता ।

भावार्थः—जिसप्रकार किसी रथमें यद्यपि अच्छे २ घोड़े मौजूद हैं, किन्तु उन घोड़ोंका चलानेवाला सारथी नहीं है तो कदापि वहरथ अपनेमें वैठनेवालेपुरुषको यथेष्ट स्थानपर नहीं पहुंचासक्ता उसहीप्रकार नानाप्रकारके दुखोंको सहनकर पंचाग्नि आदि तप भी किये परतु वस्तुके यथार्थस्वरूपको न जाना तो कदापि उत्तमसुखकी प्राप्ति नहीं होसक्ती इसलिये भव्योंको चाहिये कि वे सम्यग्ज्ञान पूर्वक तपको करें तभी उनको उत्तम सुखकी प्राप्ति होसक्ती है ॥ १३० ॥

स्रग्धरा।

कर्माब्धौ तद्विचित्रोदयलहरिभरव्याकुले व्यापदुग्रभ्राम्यन्नक्रादिकीर्णे मृतिजननलसद्वाड़वावर्तगर्ते ।
मुक्तःशक्त्या हतांगःप्रतिगति स पुमान् मज्जनोन्मज्जनाभ्यामप्राप्यज्ञानपोतं तदनुगतिजड़ःपारगामी कथं स्यात्

अर्थः—ग्रन्थकार कहते हैं कि यहकर्म एकप्रकारका बड़ाभारी समुद्र है क्योंकि जिसप्रकार समुद्र अनेक लहरियोंकर व्याप्त है उसही प्रकार यहकर्मरूपीसमुद्र भी अनेक उदयरूप लहरियोंकर व्याप्त है तथा जिसप्रकार समुद्रमें नानाप्रकारके भयंकर मगर मच्छादि हुवा करते हैं उसही प्रकार इसकर्मरूपी समुद्रमेंभी इष्ट वियोग अनिष्ट संयोग आदि नानाप्रकारकी आपत्तिरूप मगर मच्छादि विद्यमान हैं तथा जिसप्रकार समुद्रमें वड़वानल भमर गढ्ढे हुवा करते हैं उसही प्रकार इसकर्मरूपीसमुद्रमेंभी नानाप्रकारके जन्म मरण आदि वड़वानल भमर हैं इसलिये ऐसेभयंकर समुद्रमें शक्तिहीन तथा अनादिकालसे सर्वत्र गोता खाता हुवा मनुष्य जबतक ज्ञानरूपी अनुकूल जहाजको न प्राप्तकरैगा तबतक कदापि पार नहीं होसक्ता ।

भावार्थः—जिसप्रकार कोई शक्तिहीनमनुष्य मगर मच्छआदिसे भयंकरसमुद्रमें पड़जावे तो वह नाना प्रकारके

गोते खाता है किंतु यदि उसको जहाज मिलजावे तो वह शीघ्रही पार होजाता है उसही प्रकार कर्म (जिसका दूसरा नाम संसार है) एक प्रकारका भयंकर समुद्र है इसमें भी जबतक जीव ज्ञानरूपी जहाजको प्राप्त नहीं करते तबतक नानाप्रकारकी गतियोंमें भ्रमण करते हैं किंतु जिससमय वे उस अनुकूल ज्ञानरूपी जहाजको पालते हैं तो वे बातकीबातमें संसाररूपीसमुद्रसे पार होजाते हैं तथा फिर उनको संसाररूपी समुद्रमें आना भी नहीं पड़ता इसलिये जिनजीवोंको इस संसाररूपीसमुद्रके पारकरनेकी अभिलाषा है उनको अवश्य ही ज्ञानरूपी अखंड जहाज का आश्रय लेना चाहिये ॥ १३१ ॥

शार्दूलविक्रीडित ।

शश्वन्मोहमहान्धकारकलिते त्रैलोक्यसद्मन्यसौ जैनीवागमलप्रदीपकलिका न स्याद्यदि द्योतिका ।
भावनामुपलब्धिरेव न भवेत् सम्यक्तदिष्टेतरप्राप्तित्यागकृते पुनस्तनुभृतां दूरे मतिस्तादृशी ॥१३२॥

अर्थः—मोहरूपी गाढ़अंधकारसे व्याप्त इसतीनलोकरूपीमकानको प्रकाशकरनेवाला यदि यह भगवान्‌की वाणीरूप दीपक न होता तो इष्ट की प्राप्ति तथा अनिष्टका त्यागतो दूरहो मनुष्योंको पदार्थोंकाभी ज्ञान न होता ।

भावार्थः—जिसप्रकार किसी अंधेरेमकानमें बहुतसी वस्तुरक्खी हुई हैं यदि उनवस्तुओंका प्रकाश करनेवाला उसमकानमें दीपक न होगा तो उनमेंसे नतो लेनेयोग्य इष्टवस्तुओंको लेही सक्ते हैं और न छोड़ने योग्य चीजों को छोड़ही सक्ते हैं उसहीप्रकार जबतक पदार्थोंके स्वरूप भलीभांति न जानेंगे तबतक नतो ग्रहणकरनेयोग्य वस्तुओंका ग्रहणही करसक्ते हैं और न त्यागनेयोग्य वस्तुओंका त्यागही करसक्ते हैं इसलिये सबसे पहले पदार्थ का स्वरूप जानना चाहिये उनपदार्थोंका जानना (वर्तमानमे केवली आदिके न होनेके कारण) विना जिन-वाणीके हो नही सक्ता इसलिये भव्यजीवोंको जिनवणीमाताका प्रीतिपूर्वक आश्रय करना चाहिये ॥१३२॥

अत्माही धर्महै इसवातको ग्रंथकार वर्णन करते हैं।

मन्दाक्रान्ता।

शान्ते कर्मण्युचितसकलक्षेत्रकालादिहेतौ लब्धे स्वास्थ्यं कथमपि लसद्योगमुद्राविशेषम्।
आत्माधर्मो यदयमसुखस्फीतसंसारगर्ता दुद्धृत्य स्वं सुखमयपदे धारयत्यात्मनैव ॥१३३॥

अर्थः—समस्तकर्मोंके उपशम होनेपर तथा द्रव्य क्षेत्र काल भावरूप योग्य सामिग्रीके मिलने पर जब यह आत्मा ध्याममें लीनहोकर अपने स्वरूपका चितवन करता है उससमय नानादुःखोंके देनेवाले संसाररूपी गढ्ढेसे छूटकर अपनेसेही अपनेको उत्तमसुखमें पहुंचाता है इसलिये आत्मासे अतिरिक्त कोई धर्म नहीं है॥

भावार्थः—संसारके दुःखोंसे छुटाकर जो उत्तम सुखमें लेजाता है उसहीका नाम धर्म है आत्माभी अपनेसे अपनेको उत्तम सुखमें लेजाता है इसलिये आत्माही परमधर्म है अतः भव्योंको चाहिये कि वे अपनी आत्माकाही चितवन करैं॥ १३३॥

आत्माके वास्तविकस्वरूपका वर्णन।

शार्दूल विक्रीडित।

नो शून्यो न जड़ो न भूतजनितो नो कर्तृभावं गतो नैको न क्षणिको न विश्ववितती नित्यो नचैकान्ततः।
आत्माकायमितिश्चिदेकनिलयः कर्ता च भोक्ता स्वयं संयुक्तः स्थिरताविनाशजननैः प्रत्येकमेकक्षणे१३४॥

अर्थः—एकांतसे न आत्मा शून्य है न जड़ है न पंचभूतसे उत्पन्न हुआ है न कर्ता है न एक है न क्षणिक है न लोकव्यपी है न नित्य है किन्तु अपने शरीरके परिमाण है तथा सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान आदि गुणोंका आधार है और अपने कर्मोंका कर्ता है और अपनेही कर्मोंका भोक्ता है तथा एकहीक्षणमें सदाकाल उत्पाद

॥६९॥

व्यय और ध्रौव्य इनतीनों धर्मोंकर सहित है ।

भावार्थः—इस श्लोकमें ग्रंथकारने नास्तिक आदिके सिद्धांतमें एकांतसे मानाहुवा आत्माका स्वरूप स्वरूप नहीं होसक्ता यह बतलाकर जैन सिद्धांतके अनुसार असली आत्मस्वरूपका निरूपण किया है क्योंकि शून्यवादीका सिद्धांत है कि संसारमें कोई वस्तु विद्यमान नहीं ये जितनेभर स्त्री घर कपड़ा घडा आदि पदार्थ हैं समस्त भ्रमस्वरूप है इसलिये आत्माभी कोई पदार्थ नहीं यहभी एक भ्रमस्वरूपही है इसका आचार्य समाधान देते हैं कि (नो शून्यः) अर्थात् तुमने जो एकांतसे आत्माको शून्य मानरक्खा है यहबात सर्वथा मिथ्या है क्योंकि मैं सुखी हूं तथा मैं दुखी हूं इत्यादि स्वसंवेदनप्रत्यक्षसे आत्मा प्रत्यक्षसिद्ध है इसलिये सर्वथा शून्य न कहकर किसी रीतिसे आत्मा शून्य है किसी रीतिसे नहीं है ऐसा आत्माका स्वरूप तुमको मानना चाहिये जब ऐसा मानोगे तो किसीप्रकारका दोष नहीं आसक्ता क्योंकि पररूपकी अपेक्षासे आत्माकी नास्ति अर्थात् शून्य है किंतु स्वरूपादिकी अपेक्षासे आत्मा विद्यमान ही है जिसप्रकार घट पट इन दोनोंमें घटत्वेन रूपेण तो घट है परंतु पटत्वेन रूपेण नहीं है क्योंकि घटका घटत्वही स्वरूप है पटत्व स्वरूपनहीं किंतु पररूप है उसहीप्रकार आत्माभी अपने आत्मस्वरूप तथा ज्ञानादिगुणोंकी अपेक्षासे मौजूद है परंतु पुद्गलत्व तथा स्पर्शादि की अपेक्षासे नहीं है क्योंकि आत्माके पुद्गलत्व तथा स्पर्शादिक स्वरूप नहीं पररूप हैं इसलिये इसरीतिसे कथंचित् आत्मा शून्य भी होसक्ता है किन्तु सर्वथा नहीं ।

तथा नैयायिक यह मानते हैं कि जबतक आत्मा संसारमें रहता है तबतकतो ज्ञानसुखआदिके संबंधसे यह ज्ञानीतथा चेतन कहा जासक्ता है किन्तु जिससमय इसकी मोक्ष होजाती है उससमय इसआत्माके साथ किसी प्रकारके ज्ञान सुख आदिका संबंध नहीं रहता। उनका सिद्धान्तभी है कि (नवानामात्मविशेषगुणानामुच्छेदः

पुरुषस्य मोक्षइति) अर्थात् बुद्धि, सुख, दुःख इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, संस्कार, ये आत्माके नौ विशेषगुण हैं जिससमय ये नौ गुण आत्मासे जुदे होजाते हैं उसीसमय उसआत्माकी मोक्ष होजाती है इसलिये मोक्षावस्थामें आत्मा सर्वथा जड़ है उसका आचार्य. समाधान देतेहैं (नजड़ः) अर्थात् तुमने जो एकान्तसे आत्माको जड़ मानरक्खा है वह सर्वथा असत्य है क्योंकि ज्ञान आदि गुण आत्मासे सर्वथा भिन्न स्वरूप नहीं हैं जिससे वे मोक्षअवस्थामें छूटजावे तथा ज्ञानगुणके छूटनेसे सर्वथा आत्मा जड़ रहजावे किन्तु कथंचित आत्मा जड़ है तथा कथंचित आत्मा चेतनभी है अर्थात् जबतक इसआत्माके साथ कर्मोंका संबंध रहता है उससमय तो इसको जड़भी कहसक्ते हैं किन्तु जिससमय मोक्षावस्थामें कर्मोंका संबंध छूट जाता है उससमय यह चेतन है जड़नहीं क्योंकि ज्ञानादिगुणोंसे आत्मा कोई जुदी वस्तु नहीं तथा ज्ञानादिगुण चेतन हैं और ज्ञानादिगुणोंका जिस अवस्थामें प्रकटीकरण होजाता है वही वास्तविक मोक्ष कही गई है इसलिये सर्वथा जड़ कदापि आत्मा नहीं होसक्ता ।

तथा चार्वक जिसको नास्तिक कहते हैं उसका सिद्धांत है कि आत्मा कोई भिन्न पदार्थ नहीं तथा आदि अन्तसे रहितभी नहीं किन्तु जिससमय पृथ्वी जल तेज वायु इनचारभूतोंका परस्परमें मेल होता है उससमय एक दिव्यशक्ति उत्पन्न होजाती है वहीं आत्मा तथा चेतन नामसे पुकारी जाती है इसलिये जब आत्मा कोई वस्तु हीं न ठहरा तो उसके आधीन जो स्वर्ग तथा मोक्ष आदि अवस्था मानीं हैं वे सर्वथा झूठ है क्योंकि यदि वे होतीं तो प्रत्यक्षदेखनेमें आती तथा आत्माभी आदि अंतकर रहित सिद्ध होता इसलिये यह देहही आत्मा है तथा संसारमें अच्छा २ खानेको न मिलना यही नरक है तथा अच्छा २ खानेको मिलना यही स्वर्ग है तथा मोक्ष है इसलिये जिसको स्वर्ग तथा मोक्षके स्वरूपका अनुभव करना हो तो संसारमें खूब कर्ज लेकर मिष्टान्न

उड़ाना चाहिये क्योंकि जब यह देह (आत्मा) नष्ट होजावेगा तो फिर लौटकर नहीं आवेगा जिससे वह लिया हुवा ऋण देना पड़े इससिद्धन्तका आचार्य खंडन करते हैं कि (नभूतजनितः) अर्थात् जो तुम सर्वथा आत्माको पृथ्वी आदिसे पैदा हुवा मानते हो यहवात सर्वथा झूंठ है क्योंकि अचेतनसे चेतनकी उत्पत्ति कदापि नहीं होसक्ती आत्माचेतन है पृथ्वी आदि अचेतन हैं वे किसी प्रकार आत्माको उत्पन्न नहीं करसक्ते— यदि ऐसाही होवे तो रोटी आदि पदार्थोंमें पृथ्वी आदिका संवंध होते भी क्यों नहीं चेतनकी उत्पत्ति होती दूसरे जिससमय बालक उत्पन्न होता है उससमय जब उसके मुखमें स्तन दिया जाता है उससमय विनाही सिखायें वह जन्मांतरके संस्कारसे दूध पीलेता है सो कैसे ? क्योंकि तुमतो जन्मांतर मानते ही नहीं तथा अनेक मनुष्य पूर्वभवकी वस्तुओंको स्मरण करतेहुवे देखनेमें आते हैं अतःसिद्ध होता है कि आत्मा अवश्य अनादि अनन्त है इसलिये आत्मा कथंचित भूतजनितही तुमको मानना चाहिये जब ऐसा मानोगे तो कोईदोष नहीं आसक्ता क्योंकि संसारीआत्माका संवंध देहसे अनादिकालसे चलाआता है अर्थात् कोई अवस्था संसारीजीवकी ऐसी नहीं जिसअवस्थामें देहके साथ संवंध न होवे इसलिये देह आत्माका कथंचित् अभेद होनेसे आत्मा भूतजनितभी है परन्तु देहरहित अवस्थामें वह भूतजनित न होनेसे सर्वथा भूतजनित नहीं होसक्ती ।

और वहुतसे मनुष्य इसआत्माको कर्ता मानते हैं अर्थात् उनका सिद्धान्त है कि विना ईश्वरके यह विचित्रजगत कदापि नहीं वनसक्ता इसलिये कोई न कोई इसजगतका कर्ता अवश्य होना चाहिये उनको आचार्य समझाते हैं कि (नोकर्तृभावंगतः) अर्थात यहकर्ताभी नहीं होसक्ता क्योंकि यदि ईश्वर जगतका कर्ता मानाजावेगा तो उसके ईश्वरत्वमे हानि आवेगी क्योंकि यदि वह समस्तप्राणियोंका पिता है तो उसको सर्वोपर समानदृष्टि रखनी चाहिये किन्तु देखनेमें आता है किसीके साथ उसका प्रेमपूर्वक वर्ताव होनेसे कोई राजा

है तथा किसीकेसाथ उसका द्वेषपूर्वक बर्ताव होनेसे कोई अत्यंतदरिद्री है यदि कहोगे कि राजा तथा रंक होना यह अपने कर्मोंके आधीन है तो कर्मको ही कारण मानना चाहिये ऐसे ईश्वरकी माननेकी क्या आवश्यकता है इत्यादि अनेकयुक्तियोंसे ईश्वररूपआत्मा कदापि कर्ता नहीं वनसक्ता यदि किसीरीतिसे कर्ता मानो तो ठीक भी होसक्ता है क्योंकि सर्वही जीव अपने २ कर्म तथा स्वरूप आदिके कर्ता हैं किंतु सर्वथा नहीं ।

तथा अनेकवादियोंका यह कथन है कि आत्मा एकरूपही है अनेकरूप नहीं उनको आचार्य श्रेष्ट मार्ग पर लाकर कहतेहैं कि (नैकः) अर्थात् आत्मा सर्वथा एकरूप नहीं किन्तु किसीरीतिसे एकरूप है तथा किसी रीतिसे अनेकरूप है अर्थात् अपने स्वरूपसे तो एकरूप है किंतु अनेक धर्मोंको धारण करता है इसलिये वह अनेकरूप भी है तथा बौद्ध आत्माको क्षणिकही मानते हैं अर्थात् उनका सिद्धांत है कि जितने भर संसारमें पदार्थ हैं वे सव क्षणिक हैं इसलिये आत्माभी क्षणिकही है उनको आचार्य समझाते हैं कि (न क्षणिकः) अर्थात् तुमने जो आत्माको सर्वथा क्षणिक मानरक्खा है वैसा सर्वथा आत्मा क्षणिक नहीं है किन्तु प्रत्येक द्रव्यकी क्षण २ में पर्याय पलटती रहती हैं इसलिये तो आत्मा पर्यायार्थिकनयकी अपेक्षासे क्षणिक भी है किंतु द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षासे वह नित्य भी है इसलिये आत्माको सर्वथा वैसा न मानकर किसीरीतिसे शून्य है किसीरीतिसे नहीं है ऐसा मानना चाहिये तथा शरीराकार प्रदेशी मानना चाहिये तथा ज्ञानकाधारी मानना चाहिये और स्वयं करनेवाला तथा भोगनेवाला मानना चाहिये और उत्पादआदि धर्मोंका धारी मानना चाहिये इसहीप्रकारसे आत्माके वास्तविक स्वरूपका ज्ञान होसक्ता है ॥ १३४ ॥

शार्दूलविक्रीडित ।

क्वात्मा तिष्ठति कीदृशः स कलितो केनात्र यस्येदृशी भ्रान्तिस्तत्र विकल्पसंभृतमना यःकोऽपि स ज्ञायताम्

किंचान्यस्य कुतोमतिः परमियं भ्रान्ताऽशुभात्कर्मणो नीत्वानाशमुपायतस्तदखिलं जानाति ज्ञाता प्रभुः १३५

अर्थः—आत्माका नहींजाननेवाला यदि कोईमनुष्य किसीको पूछै कि आत्मा कहां रहता है ? कैसा है ? कौन आत्माको भलीभांति जानता है तो उसको यही कहना चाहिये कि जिसके मनमें कैसा है कहां है इत्यादि विकल्प उठ रहे हैं वही आत्मा है उससे अतिरिक्त कोई आत्मा नहीं है, क्योंकि जड़में कैसा है कहा है इत्यादि कदापि बुद्धि नहीं होसक्ती परन्तु अशुभकर्मसे जीवोंकी बुद्धि भ्रांत होरही है इसलिये जब यह आत्मा उनकर्मोंको मूलसे नाशकर देता है उससमय आपसे आपही यह अपने स्वरूपको तथा दूसरे पदार्थोंको जानने लगजाता है इसलिये आत्माके वास्तविकस्वरूपको पहिचाननेके अभिलापियोंको तप आदिके द्वारा कर्मोंके नाश करनेका अवश्य प्रयत्न करना चाहिये ॥ १३५ ॥

आत्मा मूर्तिविवर्जितोऽपि वपुषि स्थित्वापि दुर्लक्ष्यतां प्राप्तोपि स्फुरति स्फुटं यदहमित्युल्लेखतः संततम् ।
तत्किं मुह्यत शासनादपि गुरोर्भ्रान्तिः समुत्सृज्यतामन्तः पश्यत निश्चलेन मनसा तं तन्मुखाक्षव्रजाः

अर्थः—यद्यपि इसआत्माकी कोई मूर्ति नहीं है और यह शरीरके भीतरही रहता है इसलिये इसको प्रत्यक्ष देखना अत्यंत कठिन है तो भी (अहंजानामि अहंकरोमि) मैं जानता हूं तथा मैं करता हूं इत्यादि प्रतीतियोंसे यह स्पष्ट रीति से जाना जाता है तथा गुरु आदिके उपदेश से भी भलीभांति इसका ज्ञान होता है अतः ग्रन्थकार कहते हैं हे भव्यजीवो मनको तथा इंद्रियोंको निश्चलकर अपने अभ्यंतर में इस आत्मा का अनुभव करो क्यों व्यर्थ बाह्यपदार्थों में मोह करते हो ।

भावार्थ—अनेकमतवाले इसबातको स्वीकार करते हैं कि आत्मा कोई पदार्थ नहीं क्योंकि यदि होता तो उसका प्रत्यक्ष भी होता उनको आचार्य समझाते हैं कि यद्यपि आत्मामें कोईप्रकारका स्पर्श रस

आदिक नहीं है तथा वह देहके भीतर है इसलिये स्पष्टरीतिसे यह देखने में नहीं आता तौ भी मैं करता हूं तथा मैं जानता हूं इन विकल्पोंसे आत्माको हरएक जान सक्ता है इसलिये इसका अभाव नहीं। अतः भव्य-जीवों को चाहिये कि इसका भलीभांति अनुभव करै तथा वाह्यपदार्थोंसे मोहको हटावे ॥ १३६ ॥

व्यापी नैव शरीर एव यदसावात्मा स्फुरत्यन्वहं भूतो नान्वयतो न भूतजनितो ज्ञानी प्रकृत्यायतः ।
नित्ये वा क्षणिकेऽथवा न कथमप्यर्थक्रिया युज्यते तत्रैकत्वमपि प्रमाणदृढया भेदप्रतीत्याहतम् ॥

अर्थः—यहआत्मा निरंतर शरीरमेंही रहाहुवा मालूम पड़ता है इसलिये तो व्यापक नहीं और स्वभावसे ही यह ज्ञानी है इसलिये यह पृथ्वी अप् तेज आदि पांचपदार्थोंसे भी पैदा हुवा नहीं मालूम होता तथा यह सर्वथा नित्यभी नहीं क्योंकि नित्यमें किसीप्रकारका परिणाम नहीं होसक्ता और आत्माके तो क्रोधादि परिणाम भलीभांति अनुभवमें आते हैं तथा यह आत्मा सर्वथा क्षणिक भी नहीं होसक्ता क्योंकि प्रथमक्षणमें उत्पन्न होकर यदि यह द्वितीय क्षणमें नष्ट होजावेगा तो किसी प्रकारकी क्रिया इसमें नहीं होसक्ती तथा आत्मा एक स्वरूप है यह भी नहीं कहा जासक्ता क्योंकि कभी क्रोधी कभी लोभी इत्यादि नानापर्याय आत्माकी मालूम होतीं हैं ॥

भावार्थः—नैयायिकादिका सिद्धांत है कि आत्मा व्यापक है अर्थात ऐसा कोईभी आकाशका प्रदेश नहीं है जहां पर यह आत्मा न हो—किंतु आचार्य कहते हैं कि सिवाय शरीरके यह आत्मा और कहीं पर व्यापक नहीं यदि शरीरसे जुदे स्थानमें होता तो मालूम पड़ता इसलिये यह शरीरके समान परिणाम वालाही है तथा नास्तिक इसको पृथ्वी आदिसेही उत्पन्न हुवा मानते हैं वह भी ठीक नहीं क्योंकि यह ज्ञानी है और पृथ्वी आदि जड़ है इसलिये जड़से कदापि चेतनकी उत्पत्ति नहीं होसक्ती और सांख्य आदिक आत्माको सर्वथा कूटस्थही मानते हैं सो भी ठीक नहीं क्योंकि सर्वथा नित्यमें किसी प्रकारका परिणाम नहीं हो सक्ता

किन्तु आत्माका परिणामीपना तो भलीभांति अनुभवमें आता है तथा वौद्ध सर्वथा आत्माको क्षणिकही मानता है यहभी ठीक नहीं क्योंकि सर्वथा क्षणिकपक्षमें भी किसीप्रकारका परिणाम नहीं वनसक्ता और भी अनेक दोष आते हैं। तथा अनेक सिद्धांतकार आत्माको एकस्वरूपही मानते हैं सो भी ठीक नहीं क्योंकि क्रोधी लोभी आदि अनेक भेदस्वरूप आत्मा अनुभव में आता है इसलिये आत्माको किसीप्रकारसे शरीरके परिमाणवाला तथा भूतोंसे नहीं उत्पन्नहुवा और किसीप्रकारसे नित्य और क्षणिक तथा अनेक ही मानना चाहिये ॥ १३७ ॥

शार्दूलविक्रीडित ।

कुर्यात्कर्म शुभाशुभं स्वयमसौ भुंक्ते स्वयं तत्फलं सातासातगतानुभूतिकलनादात्मा नचान्यादृशः ।
चिद्रूपः स्थितिजन्मभंगकलितः कर्मावृतः संसृतौ मुक्तौ ज्ञानदृगेकमूर्तिरमलस्त्रैलोक्यचूडामणिः ॥१३८॥

अर्थः—ग्रन्थकार कहते हैं कि यह आत्मा शुभ तथा अशुभकर्मोंको निरन्तर करता रहता है तथा सातवेदनी और असातवेदनीकर्मके उदयसे स्वयं उसका फल भोगता है किंतु अन्य कोई कर्ता तथा भोक्ता नहीं और यह आत्मा सदा चैतन्य स्वरूप है तथा उत्पाद व्यय ध्रौव्य तीनों धर्मोंसे सहित है और संसरावस्थामें यह कर्मोंकर सहित है परंतु मोक्ष अवस्थामें इसके साथ किसी कर्मका संबंध नहीं तथा यह आत्मा सम्यक् दर्शन तथा सम्यग्ज्ञानका धारक है और तीनोंलोकके शिखरपर विराजता है ॥ १३८ ॥

वसन्ततिलका ।

आत्मानमेवमधिगम्य नयप्रमाणनिक्षेपकादिभिरभिश्रयतैकचित्ताः
भव्या यदीच्छत भवार्णवमुत्तरीतुमुत्तुङ्गमोहमकरोग्रतरंगभीमम् ॥१३९॥

अर्थः—फिर भी आचार्य उपदेश देते हैं भव्यजीवों यदि तुम मोहरूपी मगर कर सहित तथा गंभीर

संसारूपी समुद्रको तरने की इच्छा करते हो तो एकचित्त होकर नय प्रमाण तथा नाम स्थापना आदिके द्वारा आत्माको भलीभांति जानो और उसहीको आश्रय करो ॥

भावार्थः—सिवाय आत्मा के संसारमें कोई भी वस्तु ग्राह्य नहीं इसलिये इसहीकी तरफ भव्योंको अवश्य ऋजु होना चाहिये ॥ १३९ ॥

मालिनी

भवरिपुरिह तावद्दुःखदो यावदात्मंस्तवविनिहतधामा कर्मसंश्लेषदोषः ।
स भवति किल रागद्वेषहेतोस्तदादौ झटिति शिवसुखार्थी यत्नतस्तौ जहीहि ॥१४०॥

अर्थः—फिर भी आचार्य कहते हैं कि अरे आत्मा जब तक तेरे साथ समस्त तेज को मूलसे उडाने वाला कर्मोंका बंध लगा हुवा है तबतक तुझको यह संसार रूपी वैरी नानाप्रकारके दुःखोंका देने वाला है तथा वह संसाररूपीवैरी राग द्वेष से उत्पन्न होता है इसलिये यदि तू मोक्षसुखका अभिलाषी है तो शीघ्रही राग द्वेष को त्याग कर जिससे तेरी आत्माके साथ कर्मका बंध नहीं रहे तथा तुझे संसारका दुःख न भोगना पडे ॥१४०॥

स्रग्धरा ।

लोकस्य त्वं न कश्चिन्न स तव यदिह स्वार्जितं भुज्यते कः संबन्धस्तेन सार्धं तदसतिसतिवा तत्र कौ रोपतोषौ
कायेप्येवं जड़त्वात्तदनुगतसुखादावपि ध्वंसभावादेवं निश्चित्य हंस स्वबलमनुसर स्थायि मापश्य पार्श्वम् ॥

अर्थः—भो आत्मन् न तो तू लोकका है न तेरा ही लोक है तथा तू ही शुभ अशुभको उत्पन्न करता है तथा तू ही उसको भोगता है फिर इसलोकके साथ संवंध करना वृथा है तथा लोकके होते सन्ते दुःख तथा लोकके होते सते संतोष करना भी व्यर्थ है और शरीर तो जड़ है इसलिये इसके नहीं होते संते क्रोध

(जीव और मनका परस्पर में संवाद)

शार्दूल विक्रीड़ित ।

भोचेतःकिमु जीव तिष्ठसि कथं चिंतास्थितं सा कुतो रागद्वेषवशात्तयोःपरिचयःकस्माच्च जातस्तव ।
इष्टानिष्टसमागमादिति यदि स्वभ्रं तदावां गतौ नो चेन्मुञ्च समस्तमेतदचिरादिष्टादिसंकल्पनम् १४५॥

अर्थः—जीव मनसे पूछता है कि रे मन तू कैसे रहता है, मन उत्तर देता है कि मैं सदा चिंता में व्यग्र रहता हूं फिर जीव पूछता है कि तुझै चिंता क्यों है फिर मन उत्तर देता है कि मुझे राग द्वेष के सबब से चिंता है फिर जीव पूछता है कि तेरा इनके साथ परिचय कहां से हुवा फिर मन उत्तर देता है कि भली बुरी वस्तुओंके संबंधसे राग द्वेषका परिचय हुवा है तब फिर जीव कहता है कि हेमन यदि ऐसीबात है तो शीघ्र ही भली बुरी वस्तुओंके संबंध को छोड़ो नहीं तो हम दोनोंको नरक में जाना पड़ेगा ।

भावार्थः—स्वभावसे न कोई वस्तु इष्ट है न अनिष्ट है इसलिये इष्ट तथा अनिष्टमें संकल्पकर रागद्वेष करना निष्प्रयोजन है क्योंकि रागद्वेषसे केवल दुःखही भोगने पड़ते हैं इसलिये समस्तपरवस्तुओंको छोड़कर समताही धारण करनी चाहिये ऐसी अपने २ मनको निरन्तर भव्य जीवोंको शिक्षा देनी योग्य है ॥ १४५ ॥

ज्ञानज्योतिरुदेति मोहतमसो भेदः समुत्पद्यते सानन्दा कृतकृत्यता च सहसा स्वान्ते समुन्मीलति ।
यस्यैकस्मृतिमात्रतोऽपि भगवानत्रैव देहान्तरे देवस्तिष्ठति मृग्यतां स रभसादन्यत्र किं धावत ॥१४६॥

अर्थः—आचार्य उपदेश देते हैं कि जिस एक आत्माके स्मरणमात्रसे सम्यग्ज्ञान रूपी तेजका उदय होता है तथा मोहरूपी अंधकार दूर होजाता है और चित्तमें नानाप्रकारका आनन्द होता है तथा कृतकृत्यताभी चित्तमें उदित होजाती है वही अनन्त शक्तिका धारक भगवान् आत्मा इसही शरीरमें निवास करता है उसको ढूढ़ो व्यर्थ क्या दूसरीजगह अज्ञानी होकर फिरते हो ! ॥ १४६ ॥

शार्दूलविक्रीडित ।

जीवाजीवविचित्रवस्तुविविधाकारार्द्धिरूपादयो रागद्वेषकृतोऽत्र मोहवशतो दृष्टाः श्रुताः सेविताः ।
जातास्ते दृढ़बंधनं चिरमतो दुःखं तवात्मन्निदं जानात्येव तथापि किं वहिरसावद्यापि धीर्धावति१४७॥

अर्थः—फिरभी आचार्य महाराज उपदेश देते हैं कि अरे जीव इससंसारमें चेतन अचेतन स्वरूप नाना प्रकारके पदार्थ तथा नानाप्रकारके आकार और भांति २ की संपदा तथा रूप रस आदि सर्व मोहके वशसे रागद्वेषको करनेवाले हैं और मोहके वशसेही देखेगये हैं तथा सुने गये हैं और सेवन कियेगये हैं और इसही-कारण मोहसे चिरकाल पर्यंत वे सर्वपदार्थ तेरे दृढ़बंधन हुवे हैं तथा दृढबंधनसे ही तुझै नानाप्रकारके दुःख भोगने पड़े हैं ऐसा भलीभांति जानतेहुवे भी तेरी बुद्धि वाह्यपदार्थोंमें दौड़ती है यह बड़े आश्चर्यकी बात है।

भावार्थः—चेतन अचेतन स्त्री पुत्र कलत्र गृह धन धान्यादि वाह्य पदार्थोंमें मोहकर चिरकालसे तुझे नानाप्रकारके बंधनोंमें फसना पड़ा है तथा नानाप्रकारके दुःख भी भोगने पड़े हैं ऐसा भलीभांति तुझे ज्ञान है तौ भी नहीं मालूम क्यों अब भी तेरी चित्तवृत्ति वाह्यपदार्थोंमें लगी हुई है इसलिये अब वाह्यपदार्थोंसे मोह छोड़कर तुझे अपने वास्तविक अनन्तविज्ञानादिस्वरूपका चिंतवन करना चाहिये ॥१४७॥

अब आचार्य इसबातको दिखलाते हैं कि निम्नलिखितप्रकारसे विचार करनेपर
किसीप्रकार संसारसे भय नहीं हो सक्ता ।

भिन्नोऽहं वपुषो वहिर्मलकृतान्नानाविकल्पौघतः शब्दादेश्च चिदेकमूर्तिरमलः शान्तः सदानन्दभाक् ।
इत्यास्था स्थिरचेतसो दृढ़तरं साम्यादनारम्भिणः संसाराद्भयमस्ति किं यदि तदप्यन्यत्र कः प्रत्ययः॥

अर्थः—नानाप्रकारके विष्टा मूत्रआदि मलके घर स्वरूप इस शरीरसे मै भिन्नहूं तथा मनमें उठै हुवे नाना

प्रकारके विकल्पोंसे भी मैं भिन्नहूं और शब्द रस आदिसेभी मैं जुदाहूं तथा मेरी एक चैतन्यमयी मूर्ति है और मैं समस्तप्रकारके मलकर रहितहूं तथा क्रोधादिके अभावसे मैं सदा शांतहूं और सदाकाल आनन्दका भजनेवालाहूं इसप्रकारका जिसके मनमें मजबूत श्रद्धान है तथा समताका धारी होनेसे जिसका समस्तप्रकारका आरम्भ छूटगया है ऐसे मनुष्यको किसीप्रकार संसारसे भयनहीं होसक्ता और जब उसको संसारही भयका करनेवाला नहीं तब उसको कोई वस्तु भयकी करनेवाली नहीं होसक्ती ।

भावार्थः—जिस मनुष्यके इसप्रकारके विचार करनेसे समस्तप्रकारसे संसारका भय जाता रहा है उस-पुरुषको और किसीवस्तुसे भय नहीं होसक्ता इसलिये भव्यजीवोंको इसप्रकार विचारकर संसारसे कदापि भय-भीत नहीं होना चाहिये ॥ १४८ ॥

किंलोकेन किमाश्रयेण किमथद्रव्येण कायेन किं किं वाग्भिः किमुतेन्द्रियैः किमसुभिः किंते विकल्पैःपरैः। सर्वे पुद्गलपर्यया वत परे त्वत्तः प्रमत्तो भवन्नात्मन्नेभिरभिश्रयिष्यतितरामालेन किं वंधनम् ॥ १४९ ॥

अर्थः—आचार्य फिरभी उपदेश देतेहै कि न तो तुझै लोकसे प्रयोजन है न लोकके आश्रय से प्रयोजन है और न तुझै द्रव्यसे प्रयोजन है न वाणीसे प्रयोजन है तथा न तुझै स्पर्शनादि इन्द्रियोंसे प्रयोजन है न तुझै खोटे विकल्पोंमे प्रयोजन है क्योंकि ये समस्त पुद्गल द्रव्यकी पर्याय है और तू चैतन्य स्वरूप है इसलिये ये तेरे स्वरूपसे सर्वथा जुदे ही हैं अतः इनवस्तुओंमें प्रमाद करता हुवा क्यों वृथा तू दृढबंधनको बांधता है अर्थात् लोक आदिसे ममता करनेसे तू वंधेगाही छूटेगा नहीं ।

भावार्थः—जिसप्रकार कोई चोर यदि परके द्रव्यको चुराकर अपना कहने लगे तो वह कैदमे जाकर नानाप्रकारके वंधनको प्राप्त होता है उसही प्रकार हेजीव यदि तूभी परकी चीजको अपनावेगा तो दृढ़वंधन

को प्राप्तहोगा इसलिये तुझै परवस्तुको अपनी कदापि नहीं कहनी चाहिये किंतु अपनी ज्ञान दर्शनादि वस्तु-ओंकोही अपनाना चाहिये ॥ १४९ ॥

अनुष्टुप् ।

सतताभ्यस्तभोगानामप्यसत्सुखमात्मजम् ।
अप्यपूर्वं सदित्यास्था चित्ते यस्य स तत्ववित् ॥१५०॥

अर्थः—जिस मनुष्यके चित्तमें ऐसा विचार उत्पन्न होगयाहै कि निरंतर भोगे हुवे भी भोगोंसे पैदाहुवा सुख अशुभ है तथा केवल आत्मासे उत्पन्न हुवासुख अपूर्व तथा शुभ है वही पुरुष भलेप्रकार तत्वका ज्ञाता है ऐसा समझना चाहिये किंतु उससे भिन्न विपरीत श्रद्धानी कदापि तत्व ज्ञाता नहीं होसक्ता ॥ १५० ॥

पृथ्वी ।

प्रतिक्षणमयं जनो नियतमुग्रदुःखातुरः क्षुदादिभिरभिश्रयंस्तदुपशान्तयेऽन्नादिकम् ।
तदेव मनुते सुखं भ्रमवशाद्यदेवासुखं समुल्लसति कच्छाकारुजि यथा शिखिस्वेदनम् ॥१५१॥

अर्थः—ग्रन्थकार कहते हैं–जिस प्रकार खाज का रोगी मनुष्य अग्नि से खाज के सेकने में सुख मानता है परन्तु अग्नि से सेकना केवल दुःख का ही देने वाला है उस ही प्रकार यह संसारी जीव जब क्षुधा तृषा आदि व्याधियोंसे पैदा हुवे दुःखों से अत्यन्त पीड़ित होता है तथा उसकी शांति के लिये अन्न जल का आश्रयण करता है उस समय यद्यपि वह अन्न जल आदि पदार्थ दुःख स्वरूप है तो भी भ्रम से उनको सुख मानता है ।

भावार्थः—जिस प्रकार अग्निसे सेकते समय खाज में सुख मालूम होता है किन्तु अंत में अत्यंत दुःख ही भोगना पड़ता है उस ही प्रकार इन्द्रियों से उत्पन्न हुवा सुख यद्यपि थोड़े समय तक सुख है परन्तु अंत

में दुःखदायी है इसलिये भव्य जीवोंको इन्द्रियों के सुखकी कदापि अभिलाषा नहीं करनी चहिये किन्तु अविनाशी सुखके लिये ही प्रयत्न करना चाहिये ॥ १५१ ॥

शार्दूलविक्रीडित ।

आत्मा स्वं परमीक्ष्यते यदि समं तेनैव संचेष्टते तस्मा एव हितस्ततोऽपि च सुखी तस्यैव संबधभाक् ।
तस्मिन्नेव गतो भवत्यविरतानन्दामृताम्भोनिधौ किं चान्यत्सकलोपदेशनिवहस्यैतद्रहस्यं परम् ॥

अर्थः—जब यह आत्मा अपने स्वरूपको देखता है तो स्वयं अपने स्वरूपके साथ ही चेष्टा करता है तथा अपने स्वरूपके लियेही हितस्वरूप बनता है तथा अपने से ही सुखी होता है तथा अपना ही संबंधी होता है तथा निरंतर जो आनन्द रूप अमृत उसका समुद्रस्वरूपजो अपना स्वरूप उसमें ही लीन होता है इसप्रकार ममस्त प्रवृत्तियों की आत्मा में जो दृढ़स्थिति यही समस्त उपदेशका असली तात्पर्य है। इससे अतिरिक्त और कुछ नहीं है ॥ १५२ ॥

आर्या ।

परमानन्दाब्जरसं सकलविकल्पान्यसुमनसस्त्यक्त्वा ।
योगी स यस्य भजते स्तिमितान्तःकरणषट्चरणः ॥ १५३ ॥

अर्थः—जिम योगीका निश्चल मनरूपी भ्रमर समस्त विकल्परूपी अन्य फूलोंको छोड़कर उत्कृष्ट आनंदके धागी शुद्धात्मा रूपी कमलके रसका सेवन करता है वही योगीश्वर पूजने योग्य है ।

भावार्थः—जिसप्रकार भ्रमर संपूर्ण पुष्पोंको छोड़कर कमलके रसको अस्वादन करता है उसही प्रकार जो मुनि समस्त विकल्पोंको छोड़कर शुद्धात्माका आस्वादन करते हैं वे ही भव्य जीवोंके पूजने योग्य हैं १५३

शार्दूलविक्रीड़ित ।

जायन्ते विरसा रसा विघटते गोष्ठीकथाकौतुकं शीर्यन्ते विषयास्तथा विरमति प्रीतिः शरीरेऽपि च ।
जोषं वागपि धारयत्यविरतानन्दात्मशुद्धात्मनश्चिंतायामपि यातुमिच्छति समं दोषैर्मनः पञ्चताम् ॥

अर्थः—आचार्य कहते हैं कि परमानंदस्वरूप शुद्धात्माकी प्राप्तितो दूरही रहो किंतु केवल उसकी चिंता करने परही शृंगारादि रस विरस होजाते हैं स्त्री पुत्र आदिकी गोष्टी (सलाह) नष्ट होजाती है और उनकी कथा और कुतर्क दूर भगजाते हैं तथा इंद्रियोंके विषयभी सर्वथा नष्ट होजाते हैं और स्त्री पुत्र आदिकी प्रीति तो दूरही रहो शरीर में भी प्रीति नहीं रहती और वचन भी मौन को धारण करलेता है और समस्त राग द्वेषादि दोषोंके साथ मन भी विनाशको प्राप्त होजाता है इसलिये भव्य जीवोंको चाहिये कि वे शुद्धात्माकी चिंताही में निमग्न बने रहें ॥ १५४ ॥

आचार्य आत्मध्यान का वर्णन करते हैं ।

आत्मैकःसोपयोगोमम किमपिततोनान्यदस्तीतिचिंताभ्यासास्ताशेषवस्तोःस्थितपरममुदायद्गतिर्नोविकल्पे
ग्रामे वा कानने वा जनजनितसुखे निःसुखे वा प्रदेशे साक्षादाराधना सा श्रुतविशदमतेर्बाह्यमन्यत्समस्तम्

अर्थः—दर्शन ज्ञानमयी आत्माही एक मेरा है इससे भिन्न कोई भी वस्तु मेरी नहीं है इस प्रकारकी चिंता से जिसमनुष्यके मनकी परिणति बाह्यपदार्थों से सर्वथा छूटगई है तथा जिसकी शास्त्र के अभ्याससे बुद्धि निर्मल होगई है और जो परमानंदका धारी है उस मनुष्यके मनकी प्रवृत्तिका विकल्पोंसे हटजाना तथा गांवमें अथवा बनमें अथवा मनुष्योंको सुखके उपजानेवाले प्रदेशमें अथवा दुःख उपजावने वाले प्रदेशमें भी मन का न जाना किंतु अपने आत्माके अनुभव में ही लीन होना यही उत्कृष्ट आराधना है परंतु इससे भिन्न सब बाह्य है तथा सर्व त्यागने योग्य है ॥ १५५ ॥

शार्दूल विक्रीडित ।

यद्यन्तर्निहितानि खानि तपसा वाह्येन किं फल्गुना नैवान्तर्निहितानि खानि तपसा वाह्येन किं फल्गुना ।
यद्यंतर्वहिरन्यवस्तुतपसा वाह्येन किं फल्गुना नैवान्तर्वहिरन्यवस्तुविषया वाह्येन किं फल्गुना ॥१५६॥

अर्थः—आचार्य फिर भी उपदेशदेते हैं कि वाह्यवस्तु से जुदेहोकर यदि इंद्रियोंका शुद्धात्माके साथ संवंध रहातो वाह्यमें तप करना व्यर्थ है और यदि इंद्रियोंका शुद्धात्माके साथ संवंध न रहा तोभी तपकरना व्यर्थ है और यदि अंतरग अथवा वाह्यमें अन्यपदार्थोंकी ममता वनीरही तो तपकरना व्यर्थ है तथा यदि अंतरंगमें तथा वाह्यमें किसी पदार्थसे ममता नहीं रही तो भी तपकरना व्यर्थ ही है ।

भावार्थः—तप इंद्रिय तथा पदार्थोंमें ममताके दूरकरनेकेलिये किया जाता है यदि इंद्रियोंका संवंध तथा पदार्थोंमें ममता बनी रही तौभी किया हुवा भी तप व्यर्थही है अर्थात् वह तप निष्प्रयोजन ही है यदि इंद्रियोंका संवंध टूटगया तथा पदार्थोंसे ममताभी दूर होगई तोभी तपकरना व्यर्थही है क्योंकि जिनके नाश केलिये तपकिया जाता है वे तो प्रथमसे ही नष्ट होचुकी इसलिये इंद्रियोंका संवध तथा पदार्थोंमें ममता दूर करनेकेलिये ही तप करना चाहिये ॥१५६॥

शुद्धं वागतिवर्तितत्वमितरद्वाच्यं च तद्वाचकं शुद्धादेशमिति प्रभेदजनकं शुद्धेतरत्कल्पितं ।
तत्राद्यं श्रयणीयमेव विदुषा शेषद्वयोपायतः सापेक्षा नयसंहतिः फलवती संजायते नान्यथा ॥

अर्थः—ग्रंथकार कहते हैं कि शुद्धनय तो वचनके द्वारा कहा नहीं जासक्ता किंतु व्यवहारनय ही वचनके द्वारा कहा जाता है तथा वह व्यवहारनय शुद्धनयको कहनेवाला है इसलिये उसको शुद्धादेश शुद्धनयको कहनेवाला भी कहते हैं और जो भेदको उत्पन्न करानेवाला है उसको अशुद्धनय कहते हैं इसरीतिसे शुद्ध

शुद्धादेश तथा अशुद्धके भेदसे नयके तीन भेद हुवे उनतीनोंमें शुद्धनय जो है सो शुद्धादेश तथा अशुद्धनय के उपायसे होता है इसलिये विद्वानोंको शुद्धनयका ही आश्रय करना चाहिये तथा यह नियम है कि आपसमें एक दूसरेकी अपेक्षा करनेवाला ही नयका समूह कार्यकारी हो सक्ता है परन्तु एकान्तसे भिन्न नहीं ।

भावार्थः—यद्यपि शुद्धनय ही ग्रहण करनेयोग्य है तथापि व्यवहार विना शुद्धनय कदापि नहीं हो सक्ता इसलिये व्यवहारसे ही शुद्धनयका सिद्ध करना योग्य है क्योंकि व्यवहारकी नहीं अपेक्षा करनेवाला शुद्धनय कोई कार्यकारी नहीं तथा निश्चयनयकी नहीं अपेक्षा करनेवाला व्यवहार नय भी कोई प्रयोजनका नहीं है । किंतु एकदूसरेकी अपेक्षा करनेवाला ही तप कार्यकारी है ॥ १५७ ॥

फिर भी ग्रंथकार शुद्धात्माका वर्णन करते हैं ।

ज्ञानं दर्शनमप्यशेषविषयं जीवस्य नार्थान्तरं शुद्धादेशविवक्षया स हि ततश्चिद्रूप इत्युच्यते ।
पर्यायैश्च गुणैश्च साधुविदिते तस्मिन् गिरा सद्गुरोर्ज्ञातं किं न विलोकितं न किमथ प्राप्तं न किं योगिभिः

अर्थः—यद्यपि व्यवहार नयसे ज्ञानदर्शन आत्मासे भिन्न है तथापि शुद्धनयकी विवक्षा करने पर समस्त पदार्थोंको हाथकी रेखाके समान जाननेवाला तथा देखनेवाला ज्ञान तथा दर्शन आत्मासे कोई भिन्न वस्तु नहीं है किंतु दर्शनज्ञान चेतना स्वरूप ही यह आत्मा है इसलिये जिन योगियोंने श्रेष्ठ गुरुओंके उपदेशसे यदि गुण तथा पर्यायों सहित आत्माको जान लिया तो उनने समस्तको जानलिया तथा सबको देख लिया तथा जो कुछ प्राप्त करने योग्य वस्तु थी उस सबको भी पालिया ॥ १५८ ॥

भावार्थः—जिस पुरुषने दर्शन ज्ञानस्वरूप आत्माको गुणपर्यायों सहित जानलिया तो समझना चाहिये उसने सबको जानलिया तथा देखलिया ॥

यन्नान्तर्न वहिःस्थितं न च दिशि स्थूलं न सूक्ष्मं पुमान्नैव स्त्री न नपुंसकं न गुरुतां प्राप्तं न यल्लाघवम् ।
कर्मस्पर्शशरीरगंधगणनाव्याहारवर्णोज्झितं स्वच्छ ज्ञानदृगेकमूर्तितदहं ज्योतिःपरं नापरम् ॥१५९॥

अर्थः—आत्मज्ञानी पुरुष इसप्रकार का विचार करता है कि न मैं भीतर हूं न वाहिर हूं न किसी दिशा में हूं न मोटाहूं न पतला हूं न पुरुष हूं न स्त्री हूं न नपुंसक हूं नभारी हूं न हलका हूं और न मेरा कर्म है न स्पर्श है न शरीर है न गंध है न संख्या है न शब्द है न वर्ण है तथा जो अत्यत स्वच्छ तथा ज्ञानदर्शन मयी मूर्तिकी धारक ज्योति है वही मै हू और उससे भिन्न कोई नहीं हूं ।

भावार्थः—ज्ञानी पुरुष इस वातका विचार करता है कि स्थूल सूक्ष्मादिक तथा स्त्री पुरुष नपुंसकादिक तथा स्पर्श रस गन्धआदिक सब पुद्गलके विकार हैं तथा मैं उनसे सर्वथा भिन्नहूं किन्तु मेरी एक ज्ञान दर्शन मयी ही मूर्ति है ॥ १५९ ॥

और भी आचार्य शुद्धात्माका वर्णन करते हैं ।

जानाति स्वयमेव यद्धि मनसश्चिद्रूपमानंदवत्प्रोच्छिन्ने यदनाद्यमंदमसकृन्मोहान्धकारे हठात् ।
सूर्याचन्द्रमसावतीत्य यदहो विश्वप्रकाशात्मकं तज्जीयात्सहजं सुनिष्कलमहं शब्दाभिधेयं महः ॥१६०॥

अर्थः—आनंद के धारी जिस चैतन्यरूपी तेजको अनादिकालसे विद्यमान तथा गाढ़ मोहरूपी अंधकार को तपके द्वारा सर्वथा नाशकर केवल ज्ञानकेधारी पुरुष अपने आप जानलेते हैं तथा जो चैतन्यरूपी तेज सूर्य चन्द्रमाके तेजको फीका करने वाला है तथा समस्त पदार्थोंका भलीभांति प्रकाश करने वाला है और जिसका मैं (अहम्) इस शब्द से अनुभव होता है तथा जो स्वाभाविक है ऐसा वह चैतन्यरूपी तेज सदा काल जयवन्त रहो ॥ १६० ॥

ज्ञानी पुरुष इसप्रकारका भी विचार करता है ।

वसन्ततिलका ।

यज्जायते किमपि कर्मवशादसातं सातं च यत्तदनुयायि विकल्पजालम् ।
जातं मनागपि न यत्र पदं तदेव देवेन्द्रवन्दितमहं शरणं गतोऽस्मि ॥ १६१ ॥

अर्थः—जिस मोक्ष पदमें न तो कर्मके वशसे साता होती है और न कर्मके वशसे असाता होती है तथा न उन साता तथा असाताके अभाव जहांपर किसी प्रकारके विकल्पही उठते हैं और जिस पदकी बड़े२ इंद्रादिक भी स्तुति करते हैं ऐसे मोक्षपदके शरणको मैं प्राप्त होना चाहता हूं ॥ १६१ ॥

आगे आचार्य और भी ज्ञानी के विचारको दिखाते हैं ।

शार्दूल विक्रीड़ित ।

धिक्कान्तास्तनमण्डलं धिगमलप्रालेयरोचिःकरान् धिक्कर्पूरविमिश्रचंदनरसं धिक् ताञ्जलादीनपि ।
यत्प्राप्तं न कदाचिदत्र तदिदं संसारसंतापहृत् लग्नं चेदिति शीतलं गुरुवचो दिव्यामृतं मे हृदि ॥१६२॥

अर्थः—संसारमें यह बात भलीभाति प्रचलित है तथा अज्ञानी मनुष्य इसबातको मानते भी हैं कि यदि किसी प्रकार का संताप होजावे तो उस संतप्त प्राणीको स्त्रीके स्तनों के स्पर्शसे तथा चन्द्रमाकी किरण आदि के सेवनेसे संतापको दूर करदेना चाहिये परंतु ज्ञानी मनुष्य इस बातको सर्वथा नहीं मानता तथा इससे विपरीत ही विचार करता है अर्थात् वह कहता है कि जिसकी कभी भी प्राप्ति नहीं हुई है तथा जो सब संसार के दुःखोंको दूरकरने वाला है और जो अत्यंत शीतल है एसा यदि गुरुओंका बचन मेरे मन में मोजूद है तो जिनको मनुष्य शीतल करनेवाले कहते हैं एसे स्त्रीके कुचोंको धिक्कारहो तथा चंद्रमाकी शीतल किरणोंको धिक्कार हो तथा कर्पूर मिले हुवे चंदनके रसको धिक्कारहो तथा जल आदिको भी धिक्कार हो ॥

भावार्थः—सिवाय गुरुके उपदेशके ये समत चीजें संतापही की करनेवाली हैं अंश मात्र भी शांतिकी करनेवाली नहीं है इसलिये जो मनुष्य शांतिके अभिलाषी हैं उनको गुरुके वचनका ही आश्रय लेना चाहिये १६२

अब आचार्य शुद्धात्माकी परिणतिस्वरूप धर्ममें मग्नहुवे योगियोंको नमस्कार करते हैं ।

जित्वा मोहमहाभटं भवपथे दत्तोग्रदुःखश्रमे विश्रान्ता विजनेषु योगिपथिका दीर्घे चरन्तः क्रमात् ।
प्राप्ता ज्ञानधनाश्चिरादभिमतं स्वात्मोपलं तिष्ठति नित्यानंदकलत्रसंगसुखिनो ये तत्र तेभ्यो नमः ॥१६३॥

अर्थः—जो योगीश्वर रूप पथिक अत्यंत दुःखको देनेवाले संसाररूपी विशाल मार्गमें विचरते हुवे समस्त ज्ञानादिक धनको चुरानेवाले मोहरूपी योधाको जीतकर निर्जन स्थानमें विश्राम लेते हैं तथा जो ज्ञानरूपी धनके स्वामी हैं और जिसका कभी भी नहीं नाश होनेवाला है ऐसा जो आत्मिक सुखरूपी स्त्री उसके संगसे जो सदा सुखी है तथा अपने आत्माके स्वरूपकी जहांपर प्राप्ति होती है ऐसे स्थानमें विराजमान हैं उन योगियोंको मैं नमस्कार करता हूं ॥

भावार्थः—जिसप्रकार कोई धनयुक्त पथिक किसी बड़े मार्गमें मिलेहुवे चोरोंको जीतकर तथा अपने धनको बचाकर जब वांछित स्थान पर पहुंच जाता है तब वह अपनी स्त्री के साथ नाना प्रकारके भोगविलासोंको करता हुवा सुखसे रहता है उसही प्रकार जिन योगीश्वरोंने संसार रूपी गहन मार्गमें रहनेवाले तथा ज्ञानरूपी धनको चुरानेवाले मोहरूपी ठगको जीतकर अपने ज्ञान धनकी रक्षा की है तथा जो मोक्षरूपी स्त्री के साथ नाना प्रकारके सुखोंका भोगकरते हैं और अपने आत्मस्वरूपमें लीन हैं एसे उन योगीश्वरोंको मैं मस्तक नवाकर नमस्कार करता हूं ॥ १६३ ॥

आगे आचार्य वीस श्लोकोंमें धर्मकी महिमाका तथा धर्मके उपदेशका वर्णन करते हैं ।

स्रग्धरा

इत्यादिर्धर्म एष क्षितिपसुरसुखानर्घ्यमाणिक्यकोषः पायो दुःखानलानां परमपदलसत्सौधसोपो नराजिः।
एतन्माहात्म्यमीशःकथयतिजगतांकेवलीसाध्वधीति सर्वस्मिन्वाङ्मयेऽथस्मरति परमहोमादृशस्तस्यनाम

अर्थः—ग्रन्थकार कहते हैं कि पूर्वमें जो दया आदिक पांच प्रकार का धर्म कहा है वह धर्म बड़े २ चक्रवर्ती आदिक राजाओंके तथा इंद्र अहमिन्द्र आदिके सुखका देनेवाला है तथा समस्त दुःखोंको मूलसे नाश करने वाला है और वह धर्म निर्वाण रूपी महलके चढ़नेके लिये पैड़ीके समान है अर्थात् जो मनुष्य धर्म को धारण करता है उनको मोक्षकी प्राप्ति होती है। ऐसे उस धर्मके माहात्म्यको साक्षात्केवली अथवा समस्त द्वादशांगके पाठी गणधर ही वर्णन करसक्ते हैं परन्तु मेरे समान मनुष्य तो केवल उसके नामको ही स्मरण करसक्ते हैं ॥

भावार्थः—धर्मकी महिमाका वर्णन सिवाय केवली अथवा गणधर देवके दूसरा कोई नहीं करसक्ता ॥१६४॥

धर्मही धारण करने योग्य है ऐसा उपदेश कहते हैं ।

शार्दूलविक्रीड़ित ।

शश्वज्जन्मजरान्तकालविलसद्दुःखौघसारीभवत् संसारोग्रमहारुजोऽपहृतयेऽनन्तप्रमोदाय वै ।
एतद्धर्मरसायनं ननु बुधाः कर्तुं मतिश्चेत्तदा मिथ्यात्वाविरतिप्रमादनिकरःक्रोधादि संत्यज्यताम्॥१६५॥

अर्थः—भो भव्यजीवो यदि तुम निरन्तर जन्म जरा मरण आदिक समस्त दुःखोंको देनेवाले संसार रूपी भयंकर रोगके दूरकरने के लिये धर्मरूपी रसायनका आश्रय लेना चाहते हो तथा अनन्त सुखकी

प्राप्ति के लिये भी धर्मरूपी रसायनका आश्रय करना चाहते हो तो मिथ्यात्व अविरति प्रमाद तथा क्रोधादि कषायों का सर्वथा त्याग करो ॥

भावार्थः—जबतक क्रोधादि कषायोंका आत्माके साथ संबंध रहेगा तबतक न तुम नाना दुःखों के देनेवाले संसाररूपी महारोगका शमन करसक्ते हो और न तुम अविनाशी सुखकी ही तरफ झांक सक्ते हो इसलिये यदि तुम संसार रूपी महारोगके दूर करने की अभिलाषा करतेहो तथा यदि तुम अविनाशी सुखको चाहते हो तो मिथ्यात्व आदिकी तरफ झांक झांक करके भी न देखो ॥ १६५ ॥

अब आचार्य धर्मका दुर्लभपना दिखाते हैं ।

नष्टं रत्नमिवाम्बुधौ निधिरिव प्रभ्रष्टदृष्टेर्यथा योगो यूपशलाकयोश्च गतयोः पूर्वापरौ तोयधी ।
संसारेऽत्र तथा नरत्वमसकृद्दुखप्रदे दुर्लभं लब्धे तत्र च जन्म निर्मलकुले तत्रापि धर्मे मतिः ॥ १६६ ॥

अर्थः—जिसप्रकार अथाह समुद्रमें यदि रत्न गिरपड़े फिर उसका मिलना बहुत कठिन है तथा जैसे अंधेको निधि मिलना अत्यंत दुर्लभ है और जिसप्रकार समुद्रमें किसी स्थानपर दो काष्ट खण्डोंको छोड़देना उनमें एकको पूर्व दिशाकी ओर वहादेना तथा दूसरेको पश्चिम दिशाकी ओरको वहादेना फिर उनका उसही स्थान पर मिलना दुःसाध्य है उसही प्रकार निरंतर नाना प्रकारके दुःखोंके देनेवाले इस संसारमें मनुष्य जन्मका पाना बहुत कठिन है यदि दैवयोगसे मनुष्य जन्मभी मिलजावे तो फिर उत्तम कुल मिलना अत्यन्त दुर्लभ है यदि किसी समयमें उत्तम कुलकी भी प्राप्ति होजावे तो फिर धर्ममें श्रद्धा होना अत्यंत दुःसाध्य है इसलिये भव्यजीवोंको एसे अत्यन्त दुर्लभ धर्मकी अवश्य उपसना करनी चाहिये ॥ १६६ ॥

अबआचार्य इसवातको दिखाते हैं कि अत्यंत दुर्लभ धर्म आदिक वस्तु खोटे उपदेशासे प्राणियोंके व्यर्थ चलीजातीहै ।

न्यायादंधकवर्तकीयकजनाख्यानस्य संसारिणां प्राप्तं वा वहुकल्पकोटिभिरिदं कृच्छ्रान्नरत्वं यदि ।
मिथ्यादेवगुरूपदेशविषयव्यामोहनीचान्वयप्रायैः प्राणभृतां तदेव सहसा वैफल्यमागच्छति ॥१६७॥

अर्थः—प्रथमतो मनुष्य जन्म पाना संसारमें अत्यंत कठिन काम है दैव योगसे अंधेके हाथमें बटेरके समान करोड़ों कल्पों के वाद यदि इस अत्यंत दुःसाध्य मनुष्य जन्मकी प्राप्ति भी होजावे तो वह मनुष्य जन्म खोटे देव तथा खोटे गुरुओंके उपदेशसे निष्फल चलाजाता है तथा विषयोंमें आशक्ततासे तथा व्यसनादिक नीचकार्य करनेसेभी वह बातकी बातमें व्यर्थ चलाजाता है ॥

भावार्थः—बटेर एक जातिका अत्यंत चंचल पक्षी होता है वह चतुरसे चतुर भी नेत्रधारियों के हाथमें बड़ी कठिनतासे आता है फिर अंधेके हाथमें आना तो उसका अत्यन्त ही कठिन है यदि दैवयोगसे वह अंधे के हाथमें आजावे तो जिसप्रकार उसका आना बहुत कठिन समझा जाता है उसही प्रकार यह मनुष्य जन्म है क्योंकि सबसे निकृष्ट निगोद राशि है उसमेंसे निकलकर बड़े पुण्यके उदयमे यह जीव एकेंद्री होता है फिर दोइंद्री तेइंद्री चौइंद्री पञ्चेंद्री होता है फिर बड़े पुण्यके उदयसे इस मनुष्य जन्मको धारण करता है किन्तु ऐसा भी कठिन वह मनुष्य जन्म खोटे देव तथा गुरुआदिके उपदेश आदिमे व्यर्थही चलाजाता है इसलिये भव्य जीवोंको चाहिये कि ऐसे दुर्लभ मनुष्य जन्मको पाकर वे खोटे देवकी सेवा तथा खोटे गुरुओंके उपदेश का श्रवण न करै तथा विषयोंमें भी मग्न न रहै ॥ १६७ ॥

कुगुरु कुदेवादिकी सेवा आदिके त्यागसे ही मनुष्य जन्म सफल होता है ऐसा आचार्य वर्णन करते हैं ।

वसंततिलका ।

लब्धे कथं कथमपीह मनुष्यजन्मन्यङ्गप्रसंगवशतो हि कुरु स्वकार्यम् ।

प्राप्तं तु कामपि गतिं कुमते तिरश्चां कस्त्वां भविष्यति विवोधयितुं समर्थः ॥१६८॥

अर्थः—हे भव्यजीव बड़े पुण्य कर्मके उदयसे तुझे इस मनुष्य जन्मकी प्राप्ति हुई है इसलिये शीघ्रही कोई अपने हितका करनेवाला कामकर नहीं तो रे मूर्ख जिस समय तिर्यंच आदि खोटी गतिको प्राप्त होजावेगा तो वहांपर तुझे कोई समझा भी नहीं सकेगा ।

भावार्थः—समझाने पर मनुष्यही शीघ्र समझ सक्ता है पशुमें यह शक्ति नहीं है जो समझाने पर समझजावे इसलिये भव्यजीवोंको मनुष्य जन्ममें ही ऐसाकाम करना चाहिये जिससे वे तिर्यंच आदि खोटी गति को न प्राप्त होवे तथा वहां पर वे नाना प्रकारके दुःख न भोगें ॥ १६८ ॥

और भी आचार्य उपदेश देते हैं ।

शार्दूल विक्रीडित ।

जन्म प्राप्य नरेषु निर्मलकुले क्लेशान्मतेः पाटवं भक्तिं जैनमते कथं कथमपि प्रागर्जिताच्छ्रेयसः ।
संसारार्णवतारकं सुखकरं धर्मं न ये कुर्वते हस्तप्राप्यमनर्घ्यरत्नमपि ते मुञ्चन्ति दुर्बुद्धयः ॥ १६९ ॥

अर्थः—जो मनुष्य अत्यंत कठिन मनुष्य जन्मको पाकर तथा उत्तम कुलको पाकर तथा किसी प्रकार पूर्वकालमें उपार्जन किये हुवे पुण्यके उदयसे जैनधर्मके भक्तभी होकर संसार समुद्रसे पारकरने वाले तथा नाना प्रकारके सुखके देनेवाले धर्मकी सेवा नहीं करते हैं वे मूर्ख हाथमें आयेहुवे अमूल्य रत्नको छोड़ देते हैं।

भावार्थः—प्रथमतो रत्नकी प्राप्ति ही अत्यन्त कठिन है यदि प्राप्तभी होजावे तो उसको व्यर्थ फैक देना सर्वथा मूर्खता है उसही प्रकार उत्तम कुलादिको प्राप्त कर धर्मका न करनाभी मूर्खता है इसलिये भव्यजीवों को धर्मकी अवश्य उपासना करनी चाहिये ॥ १६९ ॥

॥९४॥

जो मनुष्य अवसर पाकर भी धर्म नहीं करते हैं उनकी ग्रन्थकार निंदा करते हैं ।

तिष्ठत्यायुरतीव दीर्घमखिलान्यङ्गानि दूरं दृढान्येषा श्रीरपि मे वशं गतवती किं व्याकुलत्वं मुधा ।
आयत्यां निरवग्रहो गतवया धर्मं करिष्ये भरादित्येवं वत चिंतयन्नपि जड़ो यात्यंतकग्रासताम् ॥१७०॥

अर्थः—अभी मेरी आयु वहुत है हाथ पैर नाक कान आदिकभी मजबूत हैं तथा लक्ष्मी मेरे विद्यमान हैं इसलिये व्यर्थ धर्मादि के लिये क्यों व्याकुल होना चाहिये किंतु इस समयतो आनंद से भोगोंको भोगना चाहिये भविष्यत्कालमें जिस समय वृद्ध होजाऊंगा उस समय निश्चय कर अच्छी तरह धर्मका आराधन करूंगा इसप्रकार विचार करताही करता मूर्ख मरजाता है इसलिये विद्वानोंको चाहिये कि वे मृत्यु सदा शिर पर छाई हुई है इस भयसे निरंतर धर्मकी आराधना करै ॥१७०॥

आर्या ।

पलितैकदर्शनादपि सरति सताश्चित्तमाशु वैराग्यम् ।
प्रतिदिनमितरस्य पुनः सह जरया वर्द्धते तृष्णा ॥१७०॥

अर्थः—जो पुरुष ज्ञानी हैं वे तो सफेद केशको देखते ही वैराग्यको प्राप्त होते हैं किंतु जो मनुष्य ज्ञान रहित हैं उनको तो जैसा २ सफेद केशोंका दर्शन होताजाता है वैसी वैसीही उनकी तृष्णा और भी चढ़ती चलीजाती है और उनको वैराग्य की वात भी वुरी लगती है ॥ १७१ ॥

तथा वे अज्ञानी पुरुष तृष्णाको इसप्रकार कहते हैं ।

मन्दाक्रान्ता ।

आजातेर्नस्त्वमसि दयिता नित्यमासन्नगासि प्रौढास्याशे किमथ वहुना स्त्रीत्वमालम्बितासि ।

अस्मत्केशग्रहणमकरोदग्रतस्ते जरेयं मर्षस्येतन्मम च हतके स्नेहलाद्यापि चित्रम् ॥ १७२ ॥

अर्थः—हे तृष्णे ! आजन्मसे तू हमारी प्रिया है और तू सदा हमारे पास रहनेवाली है तथा तू प्रौढ़ा है और अधिक कहांतक कहाजाय तू साक्षात् हमारी स्त्रीही है परंतु अरे दुष्टे तेरे समाने भी इसजराने हमारे केश पकड़ लिये हैं तो भी तू सहन करती है फिरभी तो हमारी प्यारी है यह बड़े आश्चर्य की बात है ।

भावार्थः—स्त्रीका यह स्वभाव होता है कि यदि वह अपने पतिके साथ किसी दूसरी स्त्रीको क्रीड़ा करती तथा रमणकरती देखलेवे तो उससे बड़ीभारी ईर्षा करती है तथा तत्काल ही उसका पातिके साथ संवंध छुड़ाने की चेष्टा करती है यदि संवध न छूटसकै तो प्रीति तो अवश्य ही छुड़ादेती है अतएव अज्ञानी पुरुष इसप्रकार तृष्णाको संवोधते हैं कि अयिप्रिये तृष्णे ! इस जराने हमारे केश पकड़ लिये है तौ भी तू कुछ नहीं कहती है अर्थात तुझै इसका हमारे साथ संवंध छुटा देना चाहिये ॥ १७२ ॥

और भी आचार्य उपदेश देते हैं ।

वसंततिलका ।

रङ्कायते परिवृढोऽपि दृढोऽपि मृत्युमभ्येति दैववशतः क्षणतोऽत्र लोके ।
तत्कः करोति मदमम्बुजपत्रवारिविन्दूपमैर्धनकलेवरजीविताद्यैः ॥ १७३ ॥

अर्थः—जो मनुष्य इस संसारमें धनी हैं वह क्षणभरमें रंक होजाता है और जो रंक हैं वह पलभरमें धनी होजाता है तथा जो वलवान् दीखता है वह दैवयोगसे मृत्युको प्राप्त होजाता है इसलिये ऐसा कौन बुद्धिमान है जो "धन शरीर जीवन आदिको" कमलके पत्तेपर जलकी बूंदके समान विनाशीक जानकर भी मदकरै अर्थात कोई भी मद नहीं करसक्ता ॥ १७३ ॥

आगे आचार्य इसवातको दिखाते हैं कि स्त्रीपुत्र आदिक यद्यपि विनाशीक है तोभी मोहसे मालूमहोते विपरीतही है ।

शार्दूल विक्रीड़ित ।

प्रातर्दर्भदलाग्रकोटिघटितावश्यायविन्दूत्करप्रायाः प्राणधनांगजप्रणयिनीमित्रादयो देहिनाम् ।
अक्षाणां सुखमेतदुग्रविषवद्धर्मं विहाय स्फुटं सर्वं भङ्गुरमत्रदुःखदमहो मोहः करोत्यन्यथा॥ १७४॥

अर्थः—ससारमें प्राणियोंके प्राण हाथी स्त्री मित्र पुत्र आदिक प्रातःकालमें दर्भके पत्तेके अग्रभाग पर लगे हुवे ओसके बूंदके समान चंचल हैं और इंद्रियोंसे उत्पन्न हुवे सुख भयंकर जहर के समान हैं तथा एक धर्म तो अविनाशीक तथा सुखका देने वाला है किन्तु धर्मसे भिन्न समस्त वस्तु क्षणभरमें विनाशिक हैं तथा दुःख देनेवाली हैं परतु यह मोह अन्यथाही करता है अर्थात जो वस्तु नित्य तथा सुखकी देनीवाली हैं वे मोहके उदयसे अनित्य तथा दुःखके देनेवाली मालूम पड़ती हैं और जो वस्तु अनित्य तथा दुःखके देनेवाली है वे मोहके सवव नित्य तथा सुखकी देनेवाली जान पड़ती है ॥ १७४ ॥

अब आचार्य इसबातको दिखाते हैं कि जवतक काल सम्मुख नहीं आता तवतक समस्त पुरुषार्थ चलता है इसलिये काल रोकनेका उपाय करना चाहिये ।

तावद्वल्गति वैरिणां प्रति चमूस्तावत्परं पौरुषं तीक्ष्णस्तावदसिर्भुजौ दृढतरौ तावच्च कोपोद्गमः ।
भूपस्यापि यमो न यावददयः क्षुत्पीड़ितः सम्मुखं धावत्यन्तरिदं विचिन्त्य विदुषा तद्रोधको मृग्यते ॥१७५॥

अर्थः—जवतक क्षुधाकर पीड़ित यह निर्दयीकाल राजाकेभी सामने नहीं पड़ता तवतक उस राजाकी सेना भी जहांतहां उछलती फिरती है तथा उत्कृष्ट पौरुष भी मालूम पड़ता है तथा तवतक तलवार खूब शत्रुओंके नाश करनेकेलिये पैनी बनी रहती है तथा भुजा भी वलवान रहती हैं और कोपका भी उदय रहता

है परन्तु जिस समय वह कालवली सामने पड़जाता है तब ऊपर लिखी हुई बातोंमेंसे एकभी बात नहीं होती ऐसा भलींभांति विचार कर विद्वान् पुरुष उसकालके रोकनेवाले को ढूंढ़ते हैं ।

भावार्थः—इस कालवलीको रोकनेवाला मात्र एक जिनेन्द्रका धर्महीं है क्योंकि धर्मात्माओंका काल कुछ नहीं करसक्ता इसलिये भव्य जीवोंको चाहिये कि वे धर्मकी आराधना करैं ॥१७५॥

औरभी आचार्य उपदेश देते हैं ।

मालिनी ।

रतिजलरममाणो मृत्युकैवर्तहस्तप्रसृतघनजरोरुप्रोल्लसज्जालमध्ये ।
विकटमपि न पश्यत्यापदां चक्रमुग्रं भवसरसि वराको लोकमीनौघ एषः ॥ १७६ ॥

अर्थः–जिसप्रकार मल्लाकर विछाये हुवे जालमें रहकर भी मछलियोंका समूह जलमें क्रीड़ा रहता है किंतु मारे जायगे इस प्रकार आई हुई आपत्तिपर कुछ भी ध्यान नहीं देता उसही प्रकार यह लोकरूपी मीनोंका समूह मृत्युरूपी मल्लाकर विछाये हुवे प्रबल जरारूपी जालमें रहकर इंद्रियोंके विषयमें प्रीति रूपी जो जल उसमें निरन्तर क्रीड़ाही करता रहता है किन्तु आनेवाली नरकादि आपत्तियों पर कुछ भी विचार नहीं करता ॥१७६॥

धर्मसे ही मृत्यु जीती जाती है इस वातको दिखाते हैं ।

शार्दूल विक्रीड़ित ।

क्षुत्तृक्तेस्तृडपीह शीतलजलाद् भूतादिका मन्त्रतः सामादेरहितो गदाद्गदगणः शांतिं नृभिर्नीयते ।
नो मृत्युस्तु सुरैरपीति हि मृते मित्रेऽपि पुत्रेऽपि वा शोको न क्रियते वुधैः परमहो धर्मस्ततस्तज्जयः॥१७७॥

अर्थः—मनुष्य क्षुधाको भोजनसे प्यासको शीतल जलके पीनेसे तथा भूतादिकोंको मंत्रसे तथा वैरीको

साम दाम दण्डादिकसे और रोगको औषधि आदिसे शान्त करलेते हैं परन्तु मृत्युको देवादिक भी शान्त नहीं करसक्ते इसलिये विद्वान् पुरुष मित्र तथा पुत्रके मरजाने पर भी शोक नहीं करते किन्तु वे उत्तम धर्म का ही आराधन करते हैं क्योंकि वे समझते हैं कि उत्तम धर्मसे ही मृत्युका जय होता है ।

भावार्थः—इस संसारमें समस्त रोगादिकी शान्तिके उपाय मौजूद है परन्तु मृत्युकी शान्तिका सिवाय धर्मके दूसरा कोई उपाय नहीं इसलिये विद्वानोंको यदि मृत्यु से वचना है तो उनको अवश्य ही धर्मकी आराधना करनी चाहिये ॥ १७७ ॥

आचार्य धर्मकी ही महिमाका वर्णन करते हैं ।

मंदाक्रांता ।

त्यक्त्वा दूरं विधुरपयसो दुर्गतिक्लिष्टकुछ्रात् लब्धानंदं सुचिरममरश्रीसरस्यां रमन्ते ।
इत्येतस्या नृपपदसरस्यक्षयं धर्मपक्षा यान्त्येतस्मादपि शिवपदं मानसं भव्यहसाः ॥ १७८ ॥

अर्थः—जिसप्रकार हंस नामकपक्षी खराब जलके भरे हुवे तालावको छोड़ कर निर्मल जलके भरेहुवे सरोवरमें अपने पखोंके वलसे चलाजाता है तथा वहांपर चिरकाल तक आनंदसे क्रीड़ा करता है तथा अपने पंखोंके ही वलसे उस सरोवरको छोड़कर दूसरे सरोवर को चालाजाता है इसही प्रकार क्रमशः नाना उत्तम सरोवरोंके आनंद को भोगता २ वही हंस मानस सरोवर को प्राप्त होजाता है तथा वह वहां पर चिरकाल तक नाना प्रकारके आनन्दों का भोग करता है उसही प्रकार ये भव्य रूपी हंस भी धर्मरूपी पंखके वलसे दुःख रूपी जलसे भरेहुवे दुर्गति रूप तालावको छोड़कर देवलोक संबंधी जो लक्ष्मी रूपी सरोवरी उसमें आनंद के साथ चिरकालतक क्रीड़ा करते हैं तथा उसको भी छोड़कर धर्मके ही वलसे वे नाना प्रकारके

चक्रवर्ती आदि राजाओंके पद रूपी सरोवर में क्रीड़ा करते हैं " अर्थात् चक्रवर्ती आदि पदका भोग करते हैं " पीछे उससे विमुख होकर धर्मके वलसे ही वे भव्य रूपी हंस मोक्ष पदरूपी मानस सरोवरको प्राप्त हो जाते हैं इसलिये भव्योंको चाहिये कि वे ऐसे माहात्म्य सहित धर्मका सदा आराधन करै ॥ १७८ ॥

और भी धर्मके माहात्म्यको दिखाते हैं।

शार्दूलविक्रीड़ित।

जायन्ते जिनचक्रवर्तिवलभृद्भोगीन्द्रकृष्णादयो धर्मादेव दिगङ्गनाङ्गविलसच्छश्वद्यशश्चन्दनाः।
तद्धीना नरकादियोनिषु नरा दुःखं सहन्ते ध्रुवं पापेनेति विजानता किमिति नो धर्मः सता सेव्यते॥१७९॥

अर्थः——जो मनुष्य धर्मात्मा हैं वे मनुष्य धर्मके वलसे ही तीर्थंकर चक्रवर्ती वलभद्र धरणेन्द्र नारायण प्रति नारायण आदि पदके धारी होजाते हैं तथा उनकी कीर्ति समस्त दिशाओंमें एक कोनेसे लेकर दूसरे कोने तक फैल जाती हैं और जो धर्मसे रहित हैं वे तो निश्चय कर नरकादि योनियोंमें नाना प्रकारके दुःखों को ही सहते हैं एसा जानते हुवे भी आचार्य कहते हैं कि विद्वान् मनुष्य धर्मकी क्यों नहीं आराधना करते अर्थात् उनको अवश्य धर्मकी आराधना करनी चाहिये ॥ १७९ ॥

धर्मकी ही महिमा और दिखाते हैं।

स स्वर्गः सुखरामणीयकपदं ते ते प्रदेशाः पराः सारा सा च विमानराजिरतुलप्रेंखत्पताकापटाः।
ते देवाश्च पदातयः परिलसत्तन्नंदनं तास्त्रियः शक्रत्वं तदनिंद्यमेतदखिलं धर्मस्य विस्फूर्जितम् ॥१८०॥

अर्थः—सुख तथा सुंदरताका अद्वितीय स्थान तो वह स्वर्ग तथा वे वे महामनोहर स्वर्गोंके प्रदेश तथा जिनके ऊपर अनुपम पताका उड़ रही है ऐसे वे विमानोंकी पंक्ति और प्यादे स्वरूप वे देवता तथा वह मनो-

हर नन्दनवन और वे मनोहर देवांगना तथा वह अत्यन्त निर्मल इंद्रपना इत्यादि समस्त विभूति धर्मके ही महात्म्यसे मिलती है इसलिये ऐसे पवित्र धर्मका आराधन भव्यजीवोंको अवश्य करना चाहिये १८०॥

और भी धर्मकी महिमाहीका वर्णन करते हैं।

यत् षट्खण्डमही नवोरुनिधयो द्विःसप्त रत्नानि यत्तुङ्गा यद्द्विरदा रथाश्च चतुराशीतिश्च लक्षाणि यत्। यच्चाष्टादश कोटयश्च तुरगा योषित्सहस्राणि यत् षड्युक्ता नवतिर्यदेकविभुता तद्धाम धर्मप्रभोः॥१८१॥

अर्थः—वह तो छै खंडकी पृथ्वी और वे बडी २ नौनिधि तथा वे समस्तसिद्धिके करनेवाले चौदहरत्न और वे चौरासीलाख बड़े २ हाथी तथा विमानके समान चौरासीलाख बड़े २ रथ और वे अठारह करोड़ पवनके समान चंचल घोड़े तथा वे देवांगनाके समान छानबे हजार स्त्रिया तथा वह इन समस्तविभूतियोंका चक्रवर्तिपना इत्यादि समस्तविभूति धर्मके प्रतापसे ही मिलती है। इसलिये भव्यजीवोंको ऐसे धर्मकी आराधना अवश्य करनी चाहिये ॥१८१

धर्मकी महिमाहीको और कहते हैं।

धर्मो रक्षति रक्षतो ननु हतो हन्ति ध्रुवं देहिनां हन्तव्यो न ततः स एव शरणं संसारिणां सर्वथा। धर्मः प्रापयतीह तत्पदमपि ध्यायन्ति यद्योगिनो धर्मात्सत्सुहृदस्ति नैव च सुखी नो पण्डितो धार्मिकात्१८२

अर्थः—धर्मकी रक्षा होनेपर तो धर्म प्राणियोंकी रक्षा करता है परन्तु नाश होनेपर वह प्राणियोंका भी नाश कर देता है इसलिये भव्यजीवोंको कदापि धर्मका नाश नहीं करना चाहिये क्योंकि समस्त प्राणियोंका सहायक धर्म ही है तथा जिस (मोक्ष) पदको योगीश्वर सदा ध्यान करते रहते हैं उस पदको भी देनेवाला है इसलिये धर्मसे वढकर कोई भी सच्चा मित्र नहीं है और धर्मात्मा पुरुषसे अधिक कोई भी सुखी नहीं है।

भावार्थः—समस्तसुख तथा समस्तगुणोंका कारण एक रक्षा कियाहुवा धर्म ही है इसलिये जो पुरुष सुखके अभिलाषी हैं तथा गुणी बनना चाहते हैं, उनको सबसे पहले धर्मकी रक्षा करनी चाहिये ॥१८२॥

और भी आचार्य उपदेश देते हैं ।

नानायोनिजलौघलङ्घितदिशि क्लेशोर्मिजालाकुले प्रोद्भूताद्भुतभूरिकर्ममकरग्रासीकृतप्राणिनि ।
दुष्पर्यन्तगभीरभीषणतरे जन्माम्बुधौ मज्जतां नो धर्मादपरोऽस्ति तारक इहाश्रान्तं यतध्वं बुधाः॥१८३॥

अर्थः—अनेकप्रकारकी जो नरकादि योनि वे ही हुवाजल उससे जिसने समस्तदिशाओंको व्याप्त कर लिया है तथा ननाप्रकारके दुःखरूपी तरंगें जिसमें मौजूद हैं और उत्पन्नहुवे जो नानाप्रकारके शुभाशुभकर्म वे ही हुवे मगर उनके द्वारा जिसमें जीव खाये जारहे हैं और न जिसका अंत है तथा जो गंभीर तथा भयंकर है ऐसे संसाररूपीसमुद्रमें डूबतेहुवे जीवोंको पारकरनेवाला एक धर्म ही है इसलिये विद्वानोंको चाहिये कि वे सदा धर्मके करनेमें ही प्रयत्न करै ॥१८३॥

भावार्थः—जिसप्रकार जिससमुद्रका जल चारो दिशामें फैलाहुवा है और जिससें बड़ी २ लहरैं उठ रही है तथा भयंकर नाके जिसमें दीन प्राणियोंको खारहे है और जिसका अंत नहीं है तथा गंभीर और भयंकर है ऐसे समुद्रके बीचमें पड़ाहुवा मनुष्य बिना किसी जहाज आदिके नहीं तर सक्ता । उस ही प्रकार इस संसाररूपी समुद्रमें डूबेहुवे प्राणी भी बिना धर्मके सहारे किसीप्रकार नहा तर सक्ते क्योंकि यह संसाररूपीसमुद्र भी नानाप्रकारकी योनि रूपीजलसे समस्त दिशाओं को व्याप्त करनेवाला है तथा इसमें भी नानाप्रकारके दुःख रूपी तरंगें मौजूद हैं और कर्मरूपी मगरोंसे सदा इसमें भी जीव खाये जाते हैं तथा इस संसाररूपी समुद्र का अंत भी नहीं है तथा गंभीर और भयंकर भी है इसलिये विद्वानोंको सदा धर्ममें ही यत्न करना चाहिये ॥

और भी आचार्य धर्मकीमहिमाका वर्णन करते हैं ।

जन्मोच्चैः कुल एव सम्पदधिके लावण्यवारां निधिर्नीरोगं वपुरायुरादि सकलं धर्माद्ध्रुवं जायते ।
सा न श्रीरथवा जगत्सु न सुखं तत्तेन शुभ्रा गुणा यैरुत्कण्ठितमानसैरिव नरो नाश्रीयते धार्मिकः॥१८४॥

अर्थः—संपदाकर अधिक उत्तमकुलमें जन्म तथा लावण्य और निरोग शरीर तथा आयु आदि समस्त बात निश्चयसे धर्मके प्रतापसे ही मिलती हैं । और संसारमें वह कोई लक्ष्मी नहीं है जो एकदम आकर धर्मात्मा पुरुषका आश्रय न ले तथा वह उत्तमसुख तथा वे निर्मल गुण भी संसारके भीतर कोई नहीं है जो धर्मात्मापुरुषको स्वयमेव आकर आश्रय न करै ॥१८४॥

भावार्थः—धर्मात्मा पुरुषको उत्तमसे उत्तम लक्ष्मी तथा श्रेष्ठसे श्रेष्ठ सुख और समस्त निर्मल गुणोंकी प्राप्ति होती है इसलिये जो पुरुष इनबातोंको चाहते हैं उनको भलीभांति धर्मका आराधन करना चाहिये १८४

और भी धर्मकी महिमा ही का वर्णन किया जाता है ।

भृङ्गा पुष्पितकेतकीमिव मृगा वन्यामिव स्वस्थलीं नद्यः सिन्धुमिवाम्बुजाकरमिव श्वेतच्छदाः पक्षिणः ।
शौर्यत्यागविवेकविक्रमयशः सम्पत्सहायादयः सर्वे धार्मिकमाश्रयन्ति न हितं धर्मं विना किञ्चन॥१८५॥

अर्थः—जिसप्रकार भौंरा स्वयमेव आकर फूलीहुई केतकीका आश्रय करलेता है तथा जिसप्रकार मृग वनमें अपने रहनेके स्थानको स्वयमेव जाकर आश्रय करलेते हैं तथा जिसप्रकार नदी स्वयमेव समुद्रको प्राप्त हो जाती है और जिसप्रकार हंसनामक पक्षी मानससरोवरको स्वयमेव प्राप्त करलेते हैं उसहीप्रकार वीरत्व दान विवेक विक्रम कीर्ति सम्पत्ति सहाय आदिक वस्तु स्वयमेव धर्मात्माको आकर आश्रय करलेते हैं, किन्तु धर्मके विना कोई भी वस्तु नहीं मिलती इसलिये जो मनुष्य वीरत्वादि वस्तुओंको चाहते हैं उनको चाहिये कि वे

निरंतर धर्मकरै जिससें उनको बिना परिश्रमसे वे वस्तु मिलजावें ॥ १८५॥

और भी आचार्य उपदेश देते हैं ।

सौभागीयसि कामिनीयसि सुतश्रेणीयसि श्रीयसि प्रासादीयसि चेत्सुखीयसि सदा रूपीयसि प्रीयसि ।
यद्यानन्तसुखामृताम्बुधिपरस्थानीयसीह ध्रुवं निर्धूताखिलदुःखदापदि सुहृद्धर्मे मतिर्धार्यताम् ॥१८६॥

अर्थः—जो तुम सौभाग्यकी इच्छा करते हो और कामिनीकी अभिलाषा करते हो तथा बहुतसे पुत्रोंके प्राप्तकरनेकी इच्छाकरते हो और जो यदि तुम्हारे उत्तम लक्ष्मीके प्राप्तकरनेकी इच्छा है वा उत्तम मकान पानेकी इच्छा है अथवा यदि तुम सुखचाहते हो तथा उत्तमरूपके मिलनेकी इच्छाकरते हो और समस्तजगतके प्रिय बनना चाहते हो अथवा जहांपर सदा अविनाशीसुखकीराशि मौजूद है ऐसे उत्तम मोक्षरूपी स्थानको चाहते हो तो तुम नानाप्रकारके दुःखोंकोदेनेवाले आपत्तियोंके दूरकरनेवाले जिनभगवानकर बतायेहुवे धर्ममें ही अपनी बुद्धिको स्थिर करो (धर्मका ही आराधन करो)

भावार्थः—सर्व संपदा तथा सुखकादेनेवाला तथा समस्त आपदा तथा दुःखोंको दूरकरनेवाला एक सच्चा धर्म ही है इसलिये भव्यजीवोंको दृढ़तासे इसीको धारण करना चाहिये ॥१८६॥

और भी आचार्य धर्महीकी माहिमा दिखाते हैं।

संछन्नं कमलैर्मरावपि सरः सौधं वनेष्वुन्नतं कामिन्यो गिरिमस्तकेऽपि सरसाः साराणि रत्नानि च ।
जायन्तेऽपिचलेपकाष्टघटिताः सिद्धिप्रदा देवताः धर्मश्चेदिह वाञ्छितं तनुभृतां किंकिं न सम्पद्यते ॥१८७॥

अर्थः—यद्यपि मरुदेश निर्जल कहाजाता है परन्तु धर्मकेप्रभावसे मारवाड़में भी मनोहर कमलोंकरसहित तालाब हो जाते हैं और बनमें मकानआदि कुछ भी नहीं होते परन्तु धर्मकेप्रतापसे वहांपर भी विशाल घर

बन जाते हैं उसहीप्रकार यद्यपि निर्जन पहाड़में किसी भी मनोज्ञवस्तुकी प्राप्ति नहीं होती तो भी धर्मात्मा पुरुषोंको धर्मकीकृपासे वहांपर भी मनको हरणकरनेवाली स्त्रियोंकी तथा उत्तम २ रत्नोंकी प्राप्ति हो जाती है और यद्यपि चित्रामके तथा काठके बनायेहुवे देवता कुछ भी नहीं दे सक्ते तो भी धर्मके महात्मासे वे भी वांछित पदार्थोंको देनेवाले हो जाते हैं विशेष कहांतक जहाजाय यदि संसारमें धर्म है तो जीवोंको कठिनसे कठिन बस्तुकी प्राप्ति भी बातकीबातमें हो जाती है इसलिये भव्यजीवोंको सदा धर्मका ही आराधन करना चाहिये ।

और भी आचार्य पुण्यकी महिमाको दिखाते हैं ।

वसंततिलका ।

दूरादभीष्टमभिगच्छति पुण्ययोगात्पुण्याद्विना करतलस्थमपि प्रयाति ।
अन्यत् परं प्रभवतीह निमित्तमात्रं पात्रं बुधा भवत निर्मलपुण्यराशेः ॥१८८॥

अर्थः—पुण्यके उदयसे दूर रहीहुई भी वस्तु अपने आप आकर प्राप्त हो जाती है किंतु जब पुण्यका उदय नहीं रहता तब हाथमें रक्खी हुई भी वस्तु नष्ट हो जाती है यदि पुण्यपापसे भिन्न कोई दूसरा पदार्थ सुख दुःख का देनेवाला है तो एक निमित्तमात्र है अर्थात् पुण्यपाप ही सुखःदुखका देनेवाला है इसलिये ग्रंथकार कहते हैं कि भव्यजीवोंको चाहिये कि वे निर्मल पुण्यके पात्र बनें ।

भावार्थः—संसारमें यहबात बहुधा सुननेमें आती है कि वह मनुष्य तथा वह देव मुझै सुखका देनेवाला है तथा मेरा भला करनेवाला है और वह मनुष्य मुझै दुःखका देनेवाला है तथा मेरा बुरा करनेवाला है आचार्य कहते हैं कि यह सब कहना व्यर्थ ही है क्योंकि सुख तथा दुःखका देनेवाला अथवा भलाबुरा करनेवाला एक पुण्य तथा पाप ही है इसलिये यदि तुम सुखकी इच्छा करते हो अथवा अपना भला चाहते हो

तो तुमको विशेष रीतिसे पुण्यका आराधन करना चाहिये ॥१८८॥

और भी पुण्यकी महिमाका वर्णन करते हैं ।

शार्दूल विक्रीडित ।

कोप्यंधोऽपि सुलोचनोऽपि जरसा ग्रस्तोऽपि लावण्यवान् निष्प्राणोऽपि हरिर्विरूपतनुरप्यापुष्यते मन्मथः ।
उद्योगोज्झितचेष्टितोऽपि नितरामालिङ्गयते च श्रिया पुण्यादन्यदपि प्रशस्तमखिलं जायेत यद्दुर्घटम्१८९

अर्थः—पुण्यके उदयसे अंधा भी सुलोचन कहलाता है तथा पुण्यके ही उदयसे रोगी भी रूपवान कहलाता है और निर्बल भी पुण्यके उदयसे सिंहकेसमान पराक्रमी कहाजाता है तथा पुण्यके ही उदयसे बदसूरत भी कामदेवके समान सुन्दर कहाजाता है तथा पुण्यके ही उदयसे आलसीको भी लक्ष्मी अपनेआप आकर वर लेती हैं विशेष कहांतक कहाजाय जो उत्तमसेउत्तम वस्तु संसारमें दुर्लभ कही जाती हैं वे भी पुण्यके ही उदयसे सब सुलभ हो जाती है अर्थात् वे बिना परिश्रमके ही प्राप्त हो जाती हैं इसलिये भव्यजीवोंको सदा पुण्यका ही आराधन करना चाहिये ॥१८९॥

अब आचार्य इसबातको दिखाते हैं कि जो मनुष्य पुण्यरहित हैं उनको पापके उदयसे क्या क्या दुःख भोगने पड़ते हैं ।

वंधस्कन्धसमाश्रितं सृणिभिदामारोहकाणामरपृष्टे भारसमर्प्पणं कृतवतां संचालनं ताड़नम् ।
दुर्वाचं वदतामपि प्रतिदिनं सर्व सहन्ते गजा निर्धाम्नां वलिनोऽपि यत्तदखिलं दुष्टो विधिश्चेष्टते ॥ १९०॥

अर्थः—यद्यपि महावतकी अपेक्षा हाथी वलवान होते हैं तोभी महावत उनको वांधते हैं तथा उनके ऊपर चढ़ते हैं और उनमें अंकुश भी मारते हैं तथा उनकी पीठपर वोझा भी लादते हैं और उनको अपनी

इच्छानुसार चलाते हैं तथा और भी ताड़ना करते हैं और प्रतिदिन उनको गाली भी देते हैं और उन हाथियों को ये सववातें सहनभी करनी पड़ती हैं इसही प्रकार उत्तम पुरुषों पर नीच पुरुष भी अपना प्रभाव डालते हैं इसलिये आचार्य कहते हैं ये समस्त चेष्टायें दुष्ट कर्मकी हैं अर्थात् पापके द्वारा ही ये सब वातें होती हैं इसलिये भव्योंको चाहिये कि वे सदा पुण्यका ही उपार्जन करै तथा पापका नाश करै ॥ १९० ॥

आचार्य और भी धर्मकी महिमाका वर्णन करते हैं ।

सर्पो हारलता भवत्यसिलता सत्पुष्पदामायते सम्पद्येत रसायनं विषमपि प्रीतिं विधत्ते रिपुः ।
देवा यान्ति वशं प्रसन्नमनसः किं वा वहु ब्रूमहे धर्मो यस्य नभोऽपि तस्य सततं रत्नैः परैर्वर्षति ॥ १९१ ॥

अर्थः—जो मनुष्य धर्मात्मा हैं उनके धर्मके प्रभावसे भयंकर सर्प भी मनोहर हार वनजाते हैं तथा पैनी तलवार भी उत्तम फूलोंकी माला वनजाती है और धर्मके प्रभावसे ही प्राण घातक विषभी उत्तम रसायन वनजाता है तथा धर्मके ही माहात्म्यसे वैरी भी प्रीति करने लगजाता है और प्रसन्न चित्तहोकर देव धर्मात्मा पुरुषके आधीन होजाते हैं ग्रन्थकार कहते हैं कि विशेष कहांतक कहाजाय जिस मनुष्यके हृदयमें धर्म है अर्थात् जो मनुष्य धर्मात्मा है उनके धर्मके प्रभावसे आकाशसे भी उत्तम रत्नोंकी वर्षा होती है इसलिये भव्य जीवोंको धर्मसे कदापि विमुख नहीं होना चाहिये ॥ १९१ ॥

धर्मकी महिमा का और भी वर्णन किया जाता है ।

उग्रग्रीष्मरविप्रतापदहनज्वालाभितप्तश्चलन् यःपित्तप्रकृतिर्मरौ मृदुतरः पान्थो यथा पीड़ितः ।
तद्वाग्लब्धहिमाद्रिकुञ्जरचितप्रोद्दामयन्त्रोल्लसद्धारावेश्मसमो हि संसृतिपथे धर्म्मो भवेद्देहिनाम् ॥१९२॥

अर्थः—जो वटोही ग्रीष्मकालमें भयंकर सूर्यकी संतापरूपी अग्निकी ज्वालाओंसे अत्यंत तप्तायमान है

और पित्त प्रकृतिवाला है तथा कोमल शरीरका धारी है और मारवाड़की भूमिमें गमन करनेवाला है अतएव जो अत्यन्त दुःखित है यदि वह दैवयोगसे हिमालय पर्वतकी गुफामें वनेहुवे फुव्वारों सहित मनोहर धारागृह (फव्वारों सहित घर) को पालेवे तो वह परमसुखी होता है उसही प्रकार जो जीव अनादि कालसे इस संसारमें जन्ममरण आदि दुःखोंको सहता है तथा निरंतर नरकादि योनियों में भ्रमता है यदि वह भी धारागृह के समान इस धर्मको संसारमें पा लेवे तो सुखी होजाता है अर्थात् शान्तिका अनुभव करने लगजाता है इस लिये जो मनुष्य शान्तिको चाहनेवाले हैं उनको अवश्य धर्मका ही आराधन करना चाहिये ॥ १९२ ॥

आचार्य और भी धर्मकी महिमाका वर्णन करते हैं ।

संहारोग्रसमीरसंहतिहतप्रोद्भूतनीरोल्लसत्तुङ्गोर्मिभ्रमितोरुनक्रमकरग्राहादिभिर्भीषणे ।
अम्भोधौ विबुधोग्रवाड़वशिखिज्वालाकराले पतज्जन्तोःखेऽपिविमानमाशु कुरुते धर्मः समालम्बनम् ॥

अर्थः—जो समुद्र प्रलयकालमें उठाहुवा जो भयंकर पवनकासमूह उससे उछलताहुवा जो जल उसकी जो ऊंची २ तरङ्गे उनमें भ्रमणकरतेहुवे जो नाके मगर मच्छ आदि जलजीव उनसे भयंकर हो रहा है तथा जो तीक्ष्ण बड़वानलकी ज्वालासे भी भयंकर है ऐसे समुद्रमें गिरतेहुवे प्राणीको धर्म नहीं गिरनेदेता है तथा आकाशमें भी विमान रचकर शीघ्र ही अवलंबन देता है ।

भावार्थः—मनुष्यपर कैसी भी विपत्ति क्यों न आई होवे यदि वह धर्मात्मा है तो उसको धर्मके प्रभावसे सब विपत्ति पल भरमें दूर हो जाती है इसलिये जो मनुष्य दुःखोंसे छूटना चाहते हैं उनको सदा धर्मका आराधन करना चाहिये ॥१९३॥

और भी धर्मकी महिमा को कहते हैं ।

स्रग्धरा

उह्यन्ते तैं शिरोभिः सुरपतिभिरपि स्तूयमानाः सुरौघैर्गीयन्ते किन्नरीभिर्ललितपदलसद्गीतिभिर्भक्तिरागात् ।
वंभ्रम्यन्ते च तेषां दिशिदिशिविशदाः कीर्तयःकानवास्यात्लक्ष्मीस्तेषु प्रशस्ता विदधति मनुजा ये सदा धर्मकेमम्

अर्थः—जो मनुष्य सदा एक धर्मको ही धारण करते हैं अर्थात् जो धर्मात्मा हैं उनको इन्द्र भी मस्तकपर धारण करते हैं तथा बड़े २ देव उनकी स्तुति करते हैं और उनधर्मात्मा पुरुषोंकेगुण बड़ी शातिसे किन्नरीजातिकीदेवी गाती है तथा उनधर्मात्मापुरुषोंकी कीर्ति समस्तदिशाओंमें फैलजाती है और उनधर्मात्मापुरुषोंको उत्तमसेउत्तम लक्ष्मीकी भी प्राप्ति होती है इसलिये भव्यजीवोंको ऐसा महिमायुक्तधर्म अवश्य धारण करने योग्य है ॥

आचार्य और भी धर्मकीमहिमा दिखाते हैं ।

शार्दूल विक्रीड़ित ।

धर्मः श्रीवशमन्त्र एष परमो धर्मश्चकल्पद्रुमो धर्मः कामगवीप्सितप्रदमणिर्धर्मः परं दैवतम् ।
धर्मः सौख्यपरं परामृतनदीसम्भूतिसत्पर्वतो धर्मो भ्रातरुपास्यतां किमपरैः क्षुद्रैरसत्कल्पनैः ॥१९५॥

अर्थः—समस्त प्रकारकी लक्ष्मी को देनेवाला होनेके कारण यह धर्म लक्ष्मीके वशकरने को मंत्रके समान है तथा यह धर्म वांछित चीजोंका देनेवाला कल्पवृक्ष है और धर्मही कामधेनु है तथा धर्मही समस्त चिन्ताओं को पूर्ण करनेवाला चिंतामणि रत्न है और धर्मही उत्कृष्ट देवता है और धर्मही उत्कृष्ट सुखोंकी राशिरूपी जो अमृत नदी उसके उत्पन्न कराने में पर्वतके समान है अर्थात् जिसप्रकार हिमालय आदि पहाड़ोंसे नदियां उत्पन्न होती हैं उसही प्रकार धर्मसे भी सुखों की परंपरा रूप नदी की उत्पति होती है (सुख मिलता है)

इस लिये आचार्य उपदेश देते हैं कि अरे भाइयों व्यर्थ नीच कल्पनाओं करके क्या ? केवल धर्महीका सेवन करो जिससे तुम्हारे सर्वकार्य सिद्ध हो जावें ॥ १९५ ॥

और भी आचार्य धर्मकी महिमाका वर्णन करते हैं ।

आस्तामस्यविधानतः पथि गतिर्धर्मस्य वार्तापि यैः श्रुत्वा चेतसि धार्यते त्रिभुवने तेषां न काः सम्पदः ।
दूरे सज्जलपानमज्जनसुखं शीतैः सेरामारुतैः प्राप्तं पद्मरजः सुगन्धिभिरपि श्रान्तं जनं मोदयेत्॥१९६॥

अर्थः—धर्मके मार्गमें विधि पूर्वक गमन करना तो दूररहो किंतु जो धर्मकी वातों के प्रेमी मनुष्य केवल उसको सुनकर धारण करलेते हैं उनके भी तीनलोकमें समस्त संपदाओंकी प्राप्ति होती है जिसप्रकार शीतल जलके पीनेका सुख तथा स्नान करनेका सुखतो दूरही रहो अर्थात् उससे तो शांति होती ही है, किंतु जो तालावकी वायु कमलोंकी रजकर सुगन्धित हो रही है तथा शीतल है उससे उत्पन्न हुवा जो सुख वह भी थके हुवे मनुष्य को शान्त करदेता है इसलिये भव्य जीवों को सदा धर्मका ही आश्रय लेना चाहिये १९६

अब आचार्य अंत मंगलमें अपने गुरूका स्मरण करते हैं ।

वसंततिलका ।

यत्पादपङ्कजरजोभिरपि प्रणामालग्नैः शिरस्यमलवोधकलावतारः ।
भव्यात्मनां भवति तत्क्षणमेव मोक्षं स श्रीगुरुर्दिशतु मे मुनि "वीरनन्दी" ॥ १९७ ॥

अर्थः—जिन वीरनंदी गुरुके प्रणाम पूर्वक मस्तकमें लगाये हुवे चरणकमलों के रजोसे ही भव्य जीवों को वातकी वातमें निर्मल ज्ञानकी प्राप्ति होती है वे श्री वीरनन्दी मुनि मेरे गुरु मुझे मोक्ष देवो ॥

भावार्थः—उत्तम गुरुही मोक्ष देसक्ते हैं इसीलिये ग्रन्थकारने वीरनन्दी मुनिसे ही मोक्षकी याचनाकी है

अधिकारको समाप्त करते हुवे आचार्य और भी उपदेश देते हैं ।

दत्तानन्दमपारसंसृतिपथश्रान्तश्रमच्छेदकृत् प्रायो दुर्लभमत्रकर्णपुटकैर्भव्यात्मभिः पीयताम् ।
निर्यातं मुनिपद्मनन्दिवदनप्रालेयरश्मेः परं स्तोकं यद्यपि सारताधिकमिदं धर्मोपदेशामृतम् ॥१९८॥

अर्थः—जो धर्मोपदेश रूपी अमृत पीनेपर उत्तम आनंदका देनेवाला है और जो संसार रूपी जो अपार मार्ग उसमें थके हुवे जो प्राणी उनकी थकावट का दूर करनेवाला है तथा जो पुण्यहीन पुरुषोंको अत्यन्त दुर्लभ है और जो पद्मनन्दि मुनिके मुखचन्द्रमा से निकला हुवा है " अर्थात् जिस प्रकार चन्द्रमासे अमृत निकलता है उसही प्रकार पद्मनन्दि मुनिके मुख चन्द्रसे भी धर्मोपदेश रूपी अमृत निकला है " यद्यपि वह धर्मोपदेशामृत शब्दोंसे थोड़ा वर्णन कियागया है तो भी सारसे अधिक है ऐसा वह धर्मोपदेशामृत भव्यों को अवश्य पीना चाहिये ॥ १९८ ॥

इसप्रकार पद्मनन्दि आचार्यकृत पद्मनन्दि नामकग्रन्थमें धर्मोपदेशामृत नामा प्रथम अधिकार समाप्त हुवा



अब आचार्य दानके अधिकारको प्रारंभ करते हुवे मंगलाचरण करते हैं।

वसततिलका ।

जीयाज्जिनो जगति नाभिनरेन्द्रसूनुः श्रेयो नृपश्च कुरुगोत्रगृहप्रदीपः ।
याभ्यां वभूवतुरिह व्रतदानतीर्थे सारक्रमे परमधर्मरथस्य चक्रे ॥ १ ॥

अर्थः—श्रीनाभि राजाके पुत्र श्री वृषभ भगवान् सदा इसलोकमें जयवंत रहो तथा कुरुगोत्र रूपी घरके प्रकाश करनेवाले श्री श्रेयान् राजा भी इसलोकमें सदा जयवंत रहो जिन दोनों महात्माओं की कृपासे उत्कृष्ट

धर्मरूपी रथके चक्रस्वरूप " अर्थात् परम धर्मरूपी रथके चलाने वाले " तथा सार क्रमकर सहित व्रततीर्थ तथा दान तीर्थकी उत्पत्ति हुई है ॥

भावार्थः—चतुर्थ कालकी आदिमें सबसे पहिले व्रततीर्थकी प्रवृत्ति श्रीऋषभ देवने की थी इसलिये व्रततीर्थ के प्रकट करनेमें सबसे मुख्य श्री ऋषभ भगवान हैं तथा सबसे पहिले चतुर्थकालमें दानकी प्रवृत्ति करने वाले श्री श्रेयान् नामक राजा है क्योंकि सबसे पहिले उन्होंने ही श्री ऋषभ देव भगवान को इक्षु आहार (दान) दिया था इसलिये दानके अधिकार में इनदोनों महात्माओंके नामका स्मरण कियागया है ॥

श्रेयोऽभिधस्य नृपतेः शरदभ्रशुभ्रभ्राम्यद्यशोभृतजगत्त्रितयस्य तस्य ॥
किंवर्णयामि ननु सद्मनि यस्य भुक्तं त्रैलोक्यवंदितपदेन जिनेश्वरेण ॥ २ ॥

अर्थः—शरदकालके मेघके समान जो उज्वल भ्रमण करताहुआ यश उससे जिसने तीनों जगतको पूर्ण करदिया है अर्थात् जिसका उज्वलयश तीनोंलोकमें फैलाहुआ है ऐसे श्रीश्रेयांस नामक राजाकी (ग्रन्थकार कहते हैं कि) हम क्या प्रशंसा करैं जिस श्रेयान् राजाके घरमें तीनलोकके पूजनीक श्रीऋषभदेव भगवानने आहार लिया था ॥ २ ॥

आचार्य और भी श्रेयांस राजाकी प्रशंसा करते हैं।

श्रेयान् नृपो जयति यस्य गृहे तदा स्वादेकाद्यवन्द्यमुनिपुंगवपारणायाम् ॥
सा रत्नवृष्टिरभवज्जगदेकचित्रहेतुर्यया वसुमतित्वमिता धरित्री ॥ ३ ॥

अर्थः—वह श्रेयांस नामक राजा सदा जयवंत रहो जिस श्रेयांस राजाके घरमें तीनलोकके बंदनीक श्री

ऋषभदेवकी पारणाके समय वह तीनलोकके आश्चर्यकरनेवाली रत्नोंकी वर्षा होती हुई कि जिस वर्षासे यह पृथ्वी साक्षात् वसुमती नामको धारण करती हुई ।

भावार्थः—वसुका अर्थ द्रव्य होता है तथा जो वसुको धारण करनेवाली होवे उसको वसुमती कहते हैं सो पहिले तो इस पृथ्वीका नाम नाममात्र वसुमती था परन्तु श्रेयास राजाके घरमें श्री-ऋषभदेवकी पारणाके समयसे साक्षात् इसका नाम वसुमती हुआ है ऐसे अनुपम पुण्यसहित श्रीश्रेयांस राजा सदा जयवंत रहो ॥३॥

॥ अब आचार्य दानके उपदेशकी इच्छा करते हुए कहते हैं ॥ ३ ॥

प्राप्तेऽपि दुर्लभतरेऽपि मनुष्यभावे स्वप्नेन्द्रजालसदृशेऽपि हि जीवितादौ ॥
ये लोभकूपकुहरे पतिताः प्रवक्ष्ये कारुण्यतः खलु तदुद्धरणाय किञ्चित् ॥ ४ ॥

अर्थः—अत्यत दुर्लभ मनुष्यजन्मको पाकर तथा स्वप्नके समान और इन्द्रजालके समान जीवन यौवन आदि के होने पर भी जो मनुष्य लोभरूपी कूवेमें गिरे हुवे हैं उनके उद्धार के लिये आचार्य कहते हैं कि मैं दयाभावसे कुछ कहूंगा ॥ ४ ॥

अब आचार्य दानका उपदेश देते हैं ।

वसंततिलका ।

कान्तात्मजद्रविणमुख्यपदार्थसार्थप्रोत्थातिघोरघनमोहमहासमुद्रे ।
पोतायते गृहिणि सर्वगुणाधिकत्वाद्दानं परं परमसात्विकभावयुक्तम् ॥ ५ ॥

अर्थः—स्त्री पुत्र धन आदिक जो मुख्य पदार्थोंका समूह उससे उठाहुवा जो अत्यंत घोर तथा प्रचुर मोह उसके विशालसमुद्रस्वरूप इसगृहस्थाश्रमसे पार होनेके लिये परम सात्विकभावसे दिया हुवा तथा सर्वगुणोंमें अधिक ऐसा उत्कृष्ट दानही जहाज स्वरूप है ॥

भावार्थः—गृहस्थावस्थामें धन कुटम्बादिकसे अधिक मोह रहता है इसलिये गृहस्थपना केवल संसारमें डुबाने वाला है परन्तु उसगृहस्थपनेमें दान दियाजावे तो वह दियाहुवा दान मनुष्योंको संसाररूपी समुद्रमें नहीं डूबने देता है इसलिये भव्यजीवोंको सर्वगुणोंमें उत्कृष्ट दान देकर गृहस्थाश्रमको अवश्य सफल करना चाहिये ॥ ५ ॥

और भी आचार्य दानकी महिमाको दिखाते हैं ।

नानाजनाश्रितपरिग्रहसम्भृतायाः सत्पात्रदानविधिरेव गृहस्थतायाः ।
हेतुः परः शुभगतेर्विषमे भवेऽस्मिन्नावः समुद्र इव कर्मठकर्णधारः ॥ ६ ॥

अर्थः—जिसका खेवटिया चतुर है ऐसी अथाह समुद्रमें पड़ी हुई भी नाव जिसप्रकार मनुष्यको तत्कालमें पार कर देती है उसही प्रकार इसभयंकरसंसारमें स्त्री, पुत्र आदि नानाजनोंके आधीन, जो परिग्रह उसकरके सहित इसगृहस्थपनेमें रहेहुवे मनुष्यके लिये श्रेष्ठपात्रमें दीहुई दानविधि ही शुभगतिको देनेवाली होती है इसलिये भव्यजीवों को गृहस्थाश्रममें रहकर अवश्य दान देना चाहिये ॥ ६ ॥

पायाहुवा धन दान करनेसेही सफल होता है ऐसा आचार्य उपदेश देते हैं ।

आयासकोटिभिरुपार्जितमङ्गजेभ्यो यज्जीवितादपि निजाद्दयितं जनानाम् ।
वित्तस्य तस्य सुगतिः खलु दानमेकमन्या विपत्तय इति प्रवदन्ति सन्तः ॥ ७ ॥

अर्थः—नाना प्रकारके दुःखोंसे जो धन पैदा कियागया है तथा जो पुत्रोंसे तथा अपने जीवनसे भी मनुष्यों को प्यारा है उस धनकी यदि अच्छी गति है तो केवल दानही है अर्थात् वह धन दानसे ही सफल होता है किन्तु दानके अतिरिक्त दिया हुवा वह धन विपत्तिकाही कारण है ऐसा सज्जन पुरुष कहते हैं इस

लिये भव्यजीवोंको अपना कमाया हुवा धन दानमें ही खर्च करना चाहिये ॥ ७ ॥

वसंततिलका ।

भुक्त्यादिभिः प्रतिदिनं गृहिणो न सम्यङ्नष्टा रमापि पुनरेति कदाचिदत्र ।
सत्पात्रदानविधिना तु गताप्युदेति क्षेत्रस्य वीजमिव कोटिगुणं वटस्य ॥ ८ ॥

अर्थः—गृहस्थके जिसलक्ष्मीका भोगादिसे नाश होता है वह लक्ष्मी कदापि लौटकर नहीं आती परंतु जो लक्ष्मी मुनि आदिक उत्तमपात्रोंके दानदेनेमें खर्च होती है वह लक्ष्मी भूमि में स्थित वट वृक्षके बीजके समान कोटि गुणी होती हैं अर्थात् जो मनुष्य लक्ष्मी पाकर निरभिमान होकर दान देते हैं वे इन्द्रादि संपदाओंका भोग करते हैं इसलिये यदि मनुष्यको लक्ष्मीकी वृद्धिकी आकांक्षा है तो उसको अवश्य मुनि आदि पात्रोंको दान देना चाहिये ॥ ८ ॥

अब आचार्य गृहस्थकी महिमा का वर्णन करते हैं ।

यो दत्तवानिह मुमुक्षुजनाय भुक्तिं भक्त्याश्रितः शिवपथेन धृतः स एव ।
आत्मापि तेन विदधत्सुरसद्म नूनमुच्चैः पदं व्रजति तत्सहितोऽपि शिल्पी ॥ ९ ॥

अर्थः—जिस प्रकार कारीगर जैसा २ ऊंचा मकान बनाता जाता है उतना २ आप भी ऊंचा होता चलाजाता है उसीप्रकार जो मनुष्य मोक्षकी इच्छाकरनेवाले मनुष्यको भक्तिपूर्वक आहार दान देता है वह उस मुनिको ही मुक्तिको नहीं पहुंचाता किंतु स्वयं भी जाता है इसलिये ऐसा स्वपरहितकारी दान मनुष्यों को अवश्य देना चाहिये ॥ ९ ॥

और भी आचार्य दानकी महिमाका वर्णन करते हैं ।

य: शाकपिण्डमपि भक्तिरसानुविद्धबुद्धिः प्रयच्छति जनो मुनिपुंगवाय ।
स: स्यादनन्तफलभागथ वीजमुप्तं क्षेत्रे न किं भवति भूरिकृषीवलस्य ॥ १० ॥

अर्थः—उसहीप्रकार जो श्रावक भक्तिपूर्वक मुनिको शाकपिण्डका भी आहार देता है वह अनन्त सुखों का भोक्ता होता है जिस प्रकार किसान थोड़ा वीज वोता है उसके वीजकी अपेक्षा धान्य अधिक पैदा होता है इसलिये थोड़ेसे वहुत की इच्छा करनेवाले श्रावकोंको खूब दानदेना चाहिये ॥ १० ॥

और भी आचार्य दानकी महिमाका वर्णन करते हैं ।

साक्षान्मनोवचनकायविशुद्धिशुद्धः पात्राय यच्छति जनो ननु भुक्तिमात्रम् ।
यस्तस्य संसृतिसमुत्तरणैकवीजे पुण्ये हरिर्भवति सोऽपि कृताभिलाषः ॥ ११ ॥

अर्थः—जो मनुष्य भलीभांति मनवचनकायको शुद्धकर उत्तमपात्रके लिये आहार दानदेता है उस-मनुष्यके संसारसे पार करनेमें कारणभूत पुण्यकी नानाप्रकारकी संपत्तिका भोग करनेवाला इन्द्र भी अभिलाषा करता है इसलिये गृहस्थाश्रममें सिवाय दानके दूसरा कोई कल्याण करनेवाला नहीं अतः श्रावकोंको दानकी ओर अवश्य लक्ष्य देना चाहिये ॥ ११ ॥

आचार्य दाताकी महिमाका वर्णन करते हैं ॥

मोक्षस्य कारणमभीष्टुतमत्र लोके तद्धार्यते मुनिभिरङ्गबलात्तदन्नात् ।
तद्दीयते च गृहिणा गुरुभक्तिभाजा तस्माद्धृतो गृहिजनेन विमुक्तिमार्गः ॥ १२ ॥

अर्थः—इस संसारमें मोक्षका कारण रत्नत्रय है तथा उस रत्नत्रयको शरीरमें शक्ति होनेपर मुनिगण पालते हैं और मुनियोंके शरीरमें शक्ति अन्नसे होती है तथा मुनियों के लिये उस अन्नको श्रावक भक्ति पूर्वक

देते हैं इसलिये वास्तविक रीतिसे गृहस्थने ही मोक्षमार्गको धारण किया है ऐसा समझना चाहिये ॥ १२ ॥

गृहस्थाश्रममें व्रतकी अपेक्षा दानही अधिक फलका देने वाला है इस वातको आचार्य दिखाते हैं ।

नानागृहव्यतिकरार्जितपापपुञ्जैः खञ्जीकृतानि गृहिणो न तथा व्रतानि ।
उच्चैः फलं विदधतीह यथैकदापि प्रीत्यातिशुद्धमनसाकृतपात्रदानम् ॥ १३ ॥

अर्थः—गृहसंवंधी नानाप्रकारके आरभोंसे उपार्जन किये हुवे जो पाप उनसे असमर्थ कियहुवे ऐसेव्रत गृहस्थों को कुछभी ऊंचे फलको नहीं देसक्ते जैसा कि प्रीतिपूर्वक तथा शुद्धमनसे उत्तमादि पात्रोंके लिये एक समय भी दिया हुवा दान उत्तम फलको देता है इसलिये ऊंचे फलके अभिलाषियोंको सदा उत्तमादि पात्रों को दान देना चाहिये ॥ १३ ॥

आचार्य और भी दानकी महिमाका वर्णन करते हैं ।

मूले तनुस्तदनु धावति वर्धमाना यावच्छिवं सरिदिवानिशमासमुद्रम् ॥
लक्ष्मीः सद्दृष्टिपुरुषस्य यतीन्द्रदानपुण्यात्पुरःसह यशोभिरतीद्धफेनैः ॥१४॥

अर्थः—जिस पहाड़से नदी निकलती है वहांपर यद्यपि नदीका फांट थोड़ा होता है परन्तु समुद्र पर्यंत जिसप्रकार फेनसहित वह उत्तरोत्तर बढ़ती ही चलीजाती है उसही प्रकार यद्यपि सम्यग्दृष्टिके पाहिले लक्ष्मी थोडी होती है परतु मुनीश्वरोंके लिये दियेहुवे दानके प्रभावसे कीर्तिकेसाथ मोक्षपर्यन्त वह इन्द्र अहमिन्द्र चक्रवर्त्ती तीर्थंकरादिरूपकर दिन २ बढ़तीही चली जाती है इसलिये सम्यग्दृष्टिको अवश्य दान देना चाहिये ॥ १४ ॥

और भी आचार्य दानकी महिमाका वर्णन करते हैं ।

प्रायः कुतो गृहगते परमात्मवोधः शुद्धात्मनो भुवि यतः पुरुषार्थसिद्धिः ।

दानात्पुनर्ननु चतुर्विधतः करस्था सा लीलयैव कृतपात्रजनानुषङ्गात् ॥ १५ ॥

अर्थः—जिस परमात्माके ज्ञानसे धर्म अर्थ काम मोक्ष रूप चार पुरुषार्थोंकी सिद्धि होती है "उस परमात्माका ज्ञान सम्यग्दृष्टिको घरमें रहकर कदापि नहीं होसक्ता" परन्तु उनपुरुषार्थोंकी सिद्धि उत्तम आदि पात्रोंको अहार, औषध, अभय, शास्त्र रूप चारप्रकारके दानके देनेसे पलभरमें हो जाती है इसलिये धर्म अर्थ आदि पुरुषार्थोंके अभिलाषी सम्यग्दृष्टियोंको उत्तम आदि पात्रोंमें अवश्य दान देना चाहिये ।

नामापि यः स्मरति मोक्षपथस्थसाधोराशु क्षयं व्रजति तद्दुरितं समस्तम् ॥
यो भुक्तभेषजमठादिकृतोपकारः संसारमुत्तरति सोऽत्र नरो न चित्रम् ॥ १६ ॥

अर्थः—जो मनुष्य मोक्षार्थीसाधुका नाममात्र भी स्मरण करता है उसके समस्तपाप क्षणभरमें नष्ट हो जाते हैं किन्तु जो भोजन, औषधि मठ आदि बनवाकर मुनियोंका उपकार करता है वह संसारसे पार हो जाता है इसमें आश्चर्य ही क्या है अर्थात् ऐसे उपकारीकी तो मोक्ष होनी ही चाहिये ॥ १६ ॥

जिनघरोंमें तथा जिनगृहस्थोंके दान नहीं वे दोनों ही असार हैं
इस बातको आचार्य दिखाते हैं ॥

किं ते गृहाः किमिह ते गृहिणो नु येषामन्तर्मनस्सु मुनयो न हि संचरन्ति ॥
साक्षादथ स्मृतिवशाच्चरणोदकेन नित्यं पवित्रितधराग्रशिरःप्रदेशाः ॥ १७ ॥

अर्थः—जिन मुनियोंके चरणकमलके जलके स्पर्शसे जिन घरोंकी भूमि पवित्र हो जाती है तथा जिन गृहस्थोंके मस्तक भी पवित्र हो जाते हैं उन उत्तम मुनियोंका जिन घरोंमें संचार नहीं है तथा जिन गृहस्थोंके मनके भीतर भी जिन मुनियोंका प्रवेश नहीं है वे घर तथा गृहस्थ दोनों ही बिना प्रयोजनके हैं इसलिये

गृहस्थोंको उत्तमआदि पात्रोंको अवश्य दान देना चाहिये जिससे मुनियोंके आगमनसे उनके घर पवित्र बने रहैं तथा उनका गृहस्थपना भी कार्यकारी गिना जावे ॥ १७ ॥

॥ अब आचार्य इसबातको दिखाते हैं कि दानके बिना संपदा किसी कामकी नहीं ॥

देवः स किं भवति यत्र विकारभावो धर्मः स किं न करुणाङ्गिषु यत्र मुख्याः ।
तत्किं तपो गुरुरथास्ति न यस्य बोधः सा किं विभूतिरिह यत्र न पात्रदानम् ॥ १८ ॥

अर्थः—वह देव कैसा ? जिसके स्त्री आदिको देखकर विकार है तथा वह धर्म किसकामका ? जिसमें दया मुख्य नहीं गिनी गई है । जिससे आत्मा आदिका ज्ञान नहीं होता वह तप तथा वह गुरु किसकामका ? तथा वह संपदा भी किसकामकी ? जिसके होते सन्ते उत्तम आदि पात्रोंको दान न दिया जावे ॥ १८ ॥

॥ आचार्य दानव्रतादिसे पैदाहुए धर्मकी महिमाको दिखाते हैं ॥

किं ते गुणाः किमिह तत्सुखमस्तिलोके सा किं विभूतिरथ या न वशं प्रयाति ॥
दानव्रतादिजनितो यदि मानवस्य धर्मो जगत्त्रयवशीकरणैकमन्त्रः ॥ १९ ॥

अर्थः—जिस मनुष्यके पास तीनोंजगतको वशकरनेमें मन्त्रस्वरूप तथा दानव्रत आदिसे उत्पन्न हुआ धर्म मौजूद है उस मनुष्यके उत्तमोत्तमगुण तथा उत्तमोत्तम सुख और उत्तमोत्तम ऐश्वर्य सब अपने आप आकर वश हो जाते हैं इसलिये उत्तमोत्तमगुणके अभिलाषियोंको दानव्रत आदिको अवश्य करना चाहिये ॥ १९ ॥

सत्पात्रदानजनितोन्नतपुण्यराशिरेकत्र वा परजने नरनाथलक्ष्मीः ॥
आद्यात्परस्तदपि दुर्गत एव यस्मादागामिकालफलदायि न तस्य किञ्चित् ॥ २० ॥

अर्थः—एक मनुष्य तो उत्तमपात्र दानसे पैदाहुए श्रेष्ठ पुण्यका संचय करता है और दूसरा राज्यलक्ष्मी

का अच्छी तरह भोग करता है परन्तु उनदोनोंमें दूसरा राज्यलक्ष्मीका भोगकरनेवाला ही पुरुष दरिद्री है क्योंकि आगामिकालमें उसको किसीप्रकारकी संपत्ति आदिका फल नहीं मिल सक्ता किन्तु पात्रदान करनेवालेको तो आगामिकालमें उत्तम संपदारूपी फलोंकी प्राप्ति होती है इसलिये भव्यजीवोंको खूब दान देकर खूब ही पुण्यका संचय करना चाहिये ॥ २० ॥

दानाय यस्य न धनं न वपुर्व्रताय नैवं श्रुतं च परमोपशमाय नित्यम् ।
तज्जन्म केवलमलं मरणाय भूरि संसारदुःखमृतिजातिनिबन्धनाय ॥ २१ ॥

अर्थः—जिस मनुष्यका धन तो दानके लिये नहीं है तथा शरीर व्रतके लिये नहीं है और उत्तम शांति के पैदा करने के लिये शास्त्र नहीं है उस मनुष्यका जन्म संसारके जन्म मरण आदि अनेक दुःखोंके भोगने का कारण जो मरण उसके लिये है ।

भावार्थः—धन पाकर उत्तमपात्र आदिके लिये दान देना चाहिये तथा उत्तम शरीर पाकर अच्छी तरह व्रत उपवास आदि करना चाहिये तथा शास्त्रका अभ्यासकर क्रोधादि कषायोंका उपशम करना चाहिये किंतु जो मनुष्य ऐसा नहीं करता है उसको केवल नानाप्रकार की खोटी गतियोंमें भ्रमण करना पड़ता है तथा जन्म मरण आदि नानाप्रकारके दुःखोंका भोग करना पड़ता है इसलिये भव्यजीवोंको धन आदिका कही हुई रीतिके अनुसारही उपयोग करना चाहिये ॥ २१ ॥

धर्मात्मा पुरुष इस वातका विचार करता है ।

प्राप्ते नृजन्मनि तपः परमस्तु जन्तोः संसार सागरसमुत्तरणैकसेतुः ।
माभूद्विभूतिरिह बंधनहेतुरेव देवे गुरौ शमिनि पूजनदानहीनः ॥ २२ ॥

अर्थः—अत्यंत दुर्लभ इसमनुष्यभवके प्राप्त होने पर मनुष्यको संसार समुद्रसे पार करनेके लिये पुलके समान श्रेष्ठ तपका मिलना उत्तम है परन्तु इसलोकमें अर्हन्त तथा गुरुके पूजन तथा दानके उपयोगमें न आने वाली तथा केवल कर्मबन्धकी ही कारण ऐसी विभूतिकी कोई आवश्यकता नहीं ।

भावार्थः—मिली हुई विभूतिका उपयोग यदि अर्हन्तदेवके पूजनमें तथा गुरुओंके दानमें होवे तो वह विभूति बंधकी कारण नहीं कही जाती परन्तु देव तथा गुरुओंके पूजनमें यदि उसविभूतिका उपयोग न होवे तो वह केवल बंधकी कारण होती है इसलिये विभूति को पाकर भव्यजीवोंको उसका उपयोग देव तथा गुरुओंकी पूजा और दानमें ही करना चाहिये अन्यथा उसकी अपेक्षा उत्तम तपही मिलना श्रेष्ठ है ॥ २२ ॥

वसंततिलका ।

भिक्षावरा परिहृताखिलपापकारिकार्यानुबंधविधुराश्रितचित्तवृत्तिः ।
सत्पात्रदानरहिता विततोग्रदुःखदुर्लंघ्यदुर्गतिकरीनपुनर्विभूतिः ॥ २३ ॥

अर्थः—जिस भिक्षाके होते संते चित्तकी वृत्ति समस्तप्रकारके पापके पैदा करने वाले कार्योंके संबंधसे दुःखित नहीं होती (अर्थात् पापके करने वाले कार्योंकी ओर झांकती भी नहीं) ऐसी भिक्षा तो उत्तम है किन्तु विस्तीर्ण नानाप्रकारके दुःखोंसे नहीं पार करने योग्य ऐसी दुर्गति की देनेवाली तथा उत्तम आदि पात्रोंके दानके उपयोगकर रहित विभूतिकी कोई आवश्यकता नहीं ।

भावार्थः—यदि मिली हुई विभूतिका उपयोग उत्तमादिपात्रोंके दानके लिये होवे तो वह विभूति दुर्गतिकी देनेवाली नहीं कही जाती किन्तु यदि विपरीतमें उसका उपयोग खोटे कामोंमें किया जावे तो वह अवश्य दुर्गतिकी ही देनेवाली होती है तथा सत्पात्र दान रहित तथा दुर्गतिकी देनेवाली उस विभूतिकी

अपेक्षा भिक्षाही उत्तम है क्योंकि भिक्षामें मनुष्यको किसीप्रकारका आरंभ आदि नहीं करना पड़ता इसलिये चित्तको किसीप्रकारका संक्लेश भी नहीं होता ॥ २३ ॥

पूजा न चेज्जिनपतेः पदपङ्कजेषु दानं न संयतजनाय च भक्तिपूर्वम् ।
नो दीयते किमु ततः सदवस्थतायाः शीघ्रं जलाञ्जलिरगाधजले प्रविश्य ॥ २४ ॥

अर्थः—जिस गृहस्थाश्रममें जिनेन्द्रभगवानके चरणकमलोंकी पूजा नहीं है तथा भक्तिभावसे संयमी जनोंके लिये दान भी नहीं दिया जाता आचार्य कहते हैं कि अत्यंत गहरेजलमें प्रवेशकरके उस गृहस्थाश्रमके लिये जलकी अंजलि देदेनी चाहिये ।

भावार्थः—बिना दानपूजनके गृहस्थाश्रम किसी कामका नहीं इसलिये गृहस्थाश्रममें रहकर भव्यजीवों को अवश्य दान देना चाहिये ॥ २४ ॥

और भी आचार्य उपदेश देते हैं ।

कार्यं तपः परमिह भ्रमता भवाब्धौ मानुष्यजन्मनि चिरादतिदुःखलब्धे ।
सम्पद्यते न तदणुव्रतिनापि भाव्यं जायेत चेदहरहः किल पात्रदानम् ॥ २५ ॥

अर्थः—चिरकालसे इससंसाररूपीसमुद्रमें भ्रमण करते हुवे प्राणियोंको कष्टसे इसमनुष्यभवकी प्राप्ति हुई है इसलिये इसमनुष्यजन्ममें अवश्य तप करना चाहिये यदि तप न होसके तो अणुव्रत अवश्य ही धारण करना चाहिये जिससे प्रतिदिन निश्चयसे उत्तम आदि पात्रोंको दान हुवा करै ॥ २५ ॥

जिसप्रकार बटोही को टोसा सुखदेता है उसहीप्रकार परलोकको जानेवाले मनुष्यको दान सुखदेता है ।

ग्रामान्तरं व्रजति यः स्वगृहाद् गृहीत्वा पाथेयमुन्नततरं स सुखी मनुष्यः ।

॥१२२॥

जन्मान्तरं प्रविशतोऽस्य तथा व्रतेन दानेन चार्जितशुभं सुखहेतुरेकम् ॥ २६ ॥

अर्थः—जो मनुष्य अपने घरसे अच्छी तरह पाथेय (टोसा) लेकर दूसरे गांवको जाता है वह मनुष्य जिसप्रकार सुखी रहता है उसही प्रकार जो मनुष्य परलोकको गमन करता है उसमनुष्यके व्रत तथा दानसे पैदा किया हुवा एक पुण्यही सुखका कारण है इसलिये जो मनुष्य परलोकमें सुखके अभिलाषी हैं उन को व्रतोंको धारण कर तथा दान देकर खूब पुण्यका संचय करना चाहिये ॥ २६ ॥

और भी आचार्य दानकी महिमाका वर्णन करते हैं ।

यत्नः कृतोऽपि मदनार्थयशोनिमित्तं दैवादिह व्रजति निष्फलतां कदाचित् ।
संकल्पमात्रमपि दानविधौ तु पुण्यं कुर्यादसत्यपि हि पात्रजने प्रमोदात् ॥ २७ ॥

अर्थः—ससारमें कामभोगकेलिये तथा धनकेलिये अथवा यशकेलिये कियाहुवा प्रयत्न यद्यपि दैवयोगसे किसी समय निष्फल होजाता है परन्तु उत्तम आदि पात्रोंके नहीं होते भी हर्ष पूर्वक दानदेवेंगे ऐसा दानका संकल्प ही पुण्यका करने वाला होता है इसलिये ऐसे उत्तमदानका मनुष्योंको अवश्य ध्यान रखना चाहिये ॥ २७ ॥

सद्मागते किल विपक्षजनेऽपि सन्तः कुर्वन्ति मानमतुलं वचनाशनाद्यैः ।
यत्तत्र चारुगुणरत्ननिधानभूते पात्रे मुदा महति किं क्रियते न शिष्टैः ॥ २८ ॥

अर्थः—वैरी भी यदि अपने घर आवे तो सज्जन मनुष्य मधुर २ वचनोंसे तथा भोजन आदिसे उसका वड़ाभारी सन्मान करते हैं तो जो उत्तम सम्यग्दर्शनादिरत्नत्रयके धारी हैं तथा पूज्य हैं ऐसे पात्रमें सज्जन हर्ष पूर्वक क्या नहीं करैंगे अर्थात् उसको अवश्यही नवधा भक्तिसे आहार देवेंगे ॥ २८ ॥

सूनोर्मृतेरपि दिनं न सतस्तथा स्याद्बाधाकरं बत यथा मुनिदानशून्यम् ।
दुर्वारदुष्टविधिना न कृते ह्यकार्ये पुंसां कृते तु मनुते मतिमाननिष्टम् ॥ २९ ॥

अर्थः—आचार्य कहते हैं कि सज्जनपुरुषको पुत्रके मरनेका दिन भी उतना दुःखका देनेवाला नहीं होता जितना कि मुनिके दानरहित दिन दुःखका देनेवाला होता है क्योंकि विद्वान्पुरुष दुर्दैवसे कियेहुवे कार्यको उतना अनिष्ट नहीं मानता जितना अपने द्वारा किये हुवे कार्यको अनिष्ट मानता है इसलिये विद्वानोंको अपने करनेयोग्य दानरूपी कार्य अवश्य करना चाहिये ॥ २९ ॥

और भी दानकी दृढ़ता के लिये आचार्य कहते हैं ।

ये धर्मकारणसमुल्लसिता विकल्पास्त्यागेन ते धनयुतस्य भवन्ति सत्याः ।
स्पष्टाः शशाङ्ककिरणैरमृतं क्षरन्तश्चन्द्रोपलाः किल लभन्त इह प्रतिष्ठाम् ॥ ३० ॥

अर्थः—जिसप्रकार किसीमकानमें चन्द्रकान्तमणि लगीं हुई है जबतक उनके साथ चन्द्रमाकी किरणोंका स्पर्श नहीं होता तबतक उनसे पानी नहीं झरसक्ता इसलिये उनकी कोई प्रतिष्ठा नहीं करता किंतु जिससमय चन्द्रमाके स्पर्श होनेसे उनसे पानी निकलता है उससमय उनकी बड़ीभारी प्रतिष्ठा होती है उसीप्रकार धनी पुरुषके चित्तमें जो जिन मंदिर बनवाना तीर्थयात्रा करना आदि धर्मके कारण उत्पन्न होते हैं वे बिना पात्रदानके सत्यभूत नहीं समझे जाते किन्तु पात्रदानसे ही वे सच समझे जाते हैं इसलिये गृहस्थियोंको पात्रदान अवश्य देना चाहिये क्योंकि यह सबोंमें मुख्य हैं ॥ ३० ॥

मन्दायते य इह दानविधौ धनेऽपि सत्यात्मनो वदति धार्मिकताञ्च यत्तत् ।
माया हृदि स्फुरति सा मनुजस्य तस्य या जायते तडिदसुत्र सुखाचलेषु ॥ ३१ ॥

अर्थः—जो मनुष्य धनके होते भी दान देनेमें आलस करता है तथा अपने को धर्मात्मा कहता है वह मनुष्य मायाचारी है अर्थात् उस मनुष्यके हृदयमें कपट भराहुवा है तथा उसका वह कपट दूसरेभवमें उसके समस्त सुखों का नाश करने वाला है॥

भावार्थः—जो मनुष्य धर्मात्मापनेके कारण दान आदि नहीं देते हैं तथा अपनेको मायासे धर्मात्मा कहते है उन मनुष्योंको तिर्यञ्च गतिमें जाना पड़ता है तथा वहापर उनको नाना प्रकारके भूंख प्यास संवधी दुःख भोगने पड़ते हैं इसलिये मनुष्यको कदापि मायाचारी नहीं करनी चाहिये॥ ३१॥

ग्रासस्तदर्धमपि देयमथार्धमेव तस्यापि सन्ततमणुव्रतिना यथर्द्धिः।
इच्छानुरूपमिह कस्य कदात्र लोके द्रव्यं भविष्यति सदुत्तमदानहेतुः॥ ३२॥

अर्थः—गृहस्थियोंको अपने धनके अनुसार एकग्रास अथवा आधाग्रास वा चौथाई ग्रास अवश्यही दान देना चाहिये क्योंकि इस संसारमें उत्तमपात्रदानका कारण इच्छानुसार द्रव्य कब किसके होगा।

भावार्थः—इच्छानुसार द्रव्य संसारमें किसीको नहीं मिलसक्ता क्योंकि शताधिपति हजारपति होना चाहता है तथा हजारपति लक्षाधिपति लक्षाधिपति करोड़पति इत्यादि रीतिसे इच्छाकी कहीं भी समाप्ति नहीं होती इसलिये ऐसा नहीं समझना चाहिये कि मैं हजारपति हूंगा तभी दान दूंगा अथवा मैं लखपति हूंगा तभी दान दूंगा किन्तु जितना धन पासमें होवे उसीके अनुसार ग्रास दोग्रास अवश्य दान देना चाहिये

आचार्य दानका फल दिखाते हैं।

मिथ्यादृशोऽपि रुचिरेव मुनीन्द्रदाने दद्यात्पशोरपि हि जन्म सुभोगभूमौ।
कल्पाङ्घ्रिपा ददति यत्र सदेप्सितानि सर्वाणि तत्र विदधाति न किं सुदृष्टेः॥ ३३॥

अर्थः—मुनि आदि उत्तमपात्रदानमें मिथ्यादृष्टिपशुकी केवल की हुई रुचि (अनुमोदना) ही जब उसको उत्तमभोगभूमि आदिके सुखोंको देनेवाली होती है तव साक्षात् दानको देनेवाले सम्यग्दृष्टिके तो वह दान क्या २ इष्ट तथा उत्तम चीजों को न देगा। अर्थात् अवश्य स्वर्ग मोक्ष आदिके सुखको देगा।

भावार्थः—दानके प्रभावसे ऐसी कोई वस्तु नहीं जो न मिल सके क्योंकि सबसे दुर्लभ मोक्ष की भी प्राप्ति जब दान से होजाती है तब इससे भी दुःसाध्य क्या वस्तु रही इसलिये ऐसे इष्टपदार्थोंका देने वाला दान भव्य जीवोंको शक्त्यनुसार अवश्य करना चाहिये ॥ ३३ ॥

दानाय यस्य न समुत्सहते मनीषा तद्योग्यसम्पदि गृहाभिमुखे च पात्रे ।
प्राप्तं खनावपि महार्घ्यतरं विहाय रत्नं करोति विमतिस्तलभूमिभेदम् ॥ ३४ ॥

अर्थः—योग्य संपदाके होनेपर भी तथा मुनिके घर आनेपर भी जिस मनुष्यकी बुद्धि दानदेनेमें उत्साह नहीं करती अर्थात् जो दान देना नहीं चाहता वह मूर्ख पुरुष खानिमें मिलेहुवे अमूल्यरत्नको छोड़ कर व्यर्थ पातालकी भूमिको खोदता है।

भावार्थः—कोई मनुष्य रत्नकेलिये जमीन खोदे तथा उस मिलेहुवे रत्नको छोड़कर और भी गहरी यदि जमीन खोदता जावे तो जिसप्रकार उसका नीचे जमीन खोदना व्यर्थ जाता है उसीप्रकार जो मनुष्य योग्य संपदाको पाकर दान नहीं देता उसमनुष्यकी भी मिली हुई संपदा किसी कामकी नहीं इसलिये भव्य जीवोंको द्रव्यानुसार दानदेनेमें कदापि प्रमाद नहीं करना चाहिये ॥ ३४ ॥

नष्टा मणीरिव चिराज्जलधौ भवेस्मिन्नासाद्य चारुनरतार्थजिनेश्वराज्ञाः ।
दानं न यस्य स जडः प्रविशेत्ससमुद्रं सच्छिद्रनावमधिरुह्य गृहीतरत्नः ॥ ३५ ॥

अर्थः—चिरकालसे समुद्रमें पड़ी हुई मणिके समान इससंसारमें उत्तम मनुष्यत्व तथा धन और जिनेन्द्र भगवानकी आज्ञाको प्राप्तकर जो मनुष्य उत्तम आदि पात्रोंमें दान नहीं देता वह मूर्ख मनुष्य टूटी फूटी नावपर चढ़कर तथा बहुतसे रत्नोंको साथमें लेकर दूसरे द्वीपमें जानेके लिये समुद्रमें प्रवेश करता है ऐसा समझना चाहिये ।

भावार्थः—जो मनुष्य टूटी फूटी नावपर चढ़कर तथा रत्नोंको साथ लेकर समुद्रकी यात्रा करेगा वह अवश्यही रत्नोंके साथ समुद्रमें डूबेगा उसीप्रकार जो मनुष्य उत्तममनुष्यत्व तथा धन और जिनेन्द्रकी आज्ञाको पायकर दान नहीं करेगा वह अवश्यही संसारमें चक्र खावेगा तथा उसका वह मनुष्यत्व तथा धन और जिनेन्द्रकी आज्ञा आदिक समस्त बातें व्यर्थ चलीजावेगी इसलिये जिसप्रकार समुद्रमें गिरी हुई मणि की प्राप्तिहोना दुर्लभ है उसीप्रकार यह मनुष्यत्व आदिक भी दुर्लभ है ऐसा जानकर खूब अच्छीतरह दान देना चाहिये जिससे मनुष्यत्व आदिक व्यर्थ न जावे तथा संसारमें अधिक न घूसना पड़े ॥ ३५ ॥

यस्यास्ति नो धनवतः किल पात्रदानमस्मिन्परत्र च भवे यशसे सुखाय ।
अन्येन केनचिदनूनसुपुण्यभाजा क्षिप्तः स सेवकनरो धनरक्षणाय ॥ ३६ ॥

अर्थः—जो धनी मनुष्य इसभवमें कीर्तिकेलिये तथा परभवमें सुखके लिये उत्तम आदि पात्रोंमें दान नहीं देता है तो समझना चाहिये वह उसधनका मालिक नहीं है किन्तु किसी अत्यन्त पुण्यवान् पुरुष ने उसमनुष्यको उस धनकी रक्षाके लिये नियुक्त किया है ।

भावार्थः—जो धनका अधिकारी होता है वह निर्भयरीतिसे उत्तम आदि पात्रोंमें धनका व्यय करसक्ता है किन्तु जो मालिक न होकर रक्षक होता है वह किसीरीतिसे धनका व्यय नहीं करता इसलिये आचार्य

कहते हैं कि जो धनी होकर दान न देवे तो उसे मालिक नहीं समझना चाहिये किन्तु जो उसकी मृत्युके पीछे उस धनका मालिक होगा उसपुण्यवानका उसको धनकी रक्षा करने वाला दास समझना चाहिये इसलिये विद्वानोंको धनके मिलने पर उस धनके अनुसार अवश्य ही दान देना चाहिये ॥ ३६ ॥

चैत्यालये च जिनसूरिबुधार्चने च दाने च संयतजनस्य सुदुःखिते च ।
यच्चात्मनि स्वमुपयोगि तदेव नूनमात्मीयमन्यदिह कस्यचिदन्यपुंसः ॥ ३७ ॥

अर्थः—जो धन जिनमन्दिरके काममें लगाया जाता है तथा जिसका उपयोग जिनेन्द्र भगवानकी पूजामें तथा आचार्योंकी पूजामें वा अन्य विद्वानोंकी पूजामें होता है तथा जो संयमी जनोंके दानमें खर्च किया जाता है तथा जो धन दुःखितोंको दिया जाता है और जो धन अपने उपयोग में आता है वह धन तो अपना समझना चाहिये किन्तु जिस धनका ऊपर कहेहुवे कामोंमें उपयोग न होवे उस धनको किसी और मनुष्यका धन समझना चाहिये ।

भावार्थः—जो धन दान आदि कार्योंमें व्यय होनेके कारण तथा अपने काममें व्यय होनेके कारण इस भवमें तथा परभवमें कीर्ति तथा सुखका देनेवाला हो वह धन तो अपना समझना चाहिये किन्तु जो इससे भिन्न होवे उसको दूसरेकाही समझना चाहिये ॥ ३७ ॥

आचार्य और भी उपदेश देते हैं ।

पुण्यक्षयात्क्षयमुपैति न दीयमाना लक्ष्मीरतः कुरुत संततपात्रदानम् ।
कूपेन पश्यत जलं गृहिणः समन्तादाकृष्यमाणमपि वर्धत एव नित्यम् ॥ ३८ ॥

अर्थः—हे गृहस्थो कूवासे सदा चारोतरफसे निकला हुवा भी जल जिसप्रकार निरन्तर बढ़ताही

रहता है घटता नहीं है उसीप्रकार संयमीपात्रोंके दानमें व्ययकीहुई लक्ष्मी सदा बढ़तीही जाती है घटती नहीं किन्तु पुण्यके क्षय होनेपर ही वह घटती है इसलिये मनुष्यको सदा संयमी पात्रोंमें दानदेना चाहिये ॥३८॥

जो मनुष्य लोभसे दान नहीं देते उनके दोष आचार्य दिखाते हैं ।

सर्वान्गुणानिह परत्र च हन्ति लोभः सर्वस्य पूज्यजनपूजनहानिहेतुः ।
अन्यत्र तत्र विहितोऽपि हि दोषमात्रमेकत्र जन्मनि परं प्रथयन्ति लोकाः ॥ ३९ ॥

अर्थः—जो लोभ पूज्यजन जो अर्हन्त आदिक उनकी पूजा आदिमें हानिका पहुंचाने वाला है वह लोभ इसभवमें तथा परभवमें समस्तमनुष्योंके सम्यग्दर्शन आदि गुणोंको घातता है किन्तु जो लोभ लौकिक विवाह आदि कार्योंमें किया जाता है उसलोभको तो इसजन्ममें मनुष्य केवल दोषही कहते हैं इसलिये मनुष्यको दान पूजन आदिमें कदापि लोभ नहीं करना चाहिये ॥ ३९ ॥

जातोऽप्यजात इव स श्रियमाश्रितोऽपि रङ्कः कलंकरहितोऽप्यगृहीतनामा ।
कम्बोरिवाश्रितमतेरपि यस्य पुंसः शब्दः समुच्चलति नो जगति प्रकामम् ॥ ४० ॥

अर्थः—शंखकी तरह जिसमनुष्यका मृत्युके पीछे दानसे उत्पन्न हुवे यशका शब्द भली भांति संसारमें नहीं फैलता वह मनुष्य पैदाहुवा भी नहींपैदाहुवासा है तथा लक्ष्मीवान भी दरिद्री ही है तथा कलंक रहित है तो भी उसका कोई भी नाम नहीं लेता इसलिये मनुष्यको अवश्य दान देना चाहिये ॥ ४० ॥

और भी आचार्य दानकाही उपदेश देते हैं ।

श्वापि क्षितेरपि विभुर्जठरं स्वकीयं कर्मोपनीतविधिना विदधाति पूर्णम् ।
किंतु प्रशस्यनृभवार्थविवेकितानामेतत्फलं यदिह सन्ततपात्रदानम् ॥ ४१ ॥

अर्थः—संसारमें कर्मानुसार कुत्ता भी अपने पेटको भरता है तथा अपने कर्मानुकूल राजा भी अपने पेटको भरता है इसलिये पेट भरनेमें तो कुत्ता तथा राजा समानही है परन्तु उत्तम नरभव पानेका तथा श्रीमान् होनेका तथा उत्तम विवेकी होनेका केवल एक यही फल है कि निरन्तर उत्तम आदि पात्रोंमें दान देना इसलिये जो मनुष्य उत्तम मनुष्यपनेका तथा श्रीमान होनेका और विवेकी होनेका अभिमान रखता है उसको अवश्य पात्रदान देना चाहिये ॥ ४१ ॥

आयासकोटिभिरुपार्जितमङ्गजेभ्यो यज्जीवितादपि निजाद्दयितं जनानाम् ।
वित्तस्य तस्य नियतं प्रविहाय दानमन्या विपत्तय इति प्रवदन्ति सन्तः ॥ ४२ ॥

अर्थः—परदेश जाना सेवा करना इत्यादि नाना प्रकारसे जो धन पैदा किया गया है तथा जो मनुष्योंको अपने पुत्रोंसे तथा जीवनसे भी प्यारा है उसधनकी सफलताकी एकगति दानही है किन्तु दानको छोड़कर और कोई दूसरी गति नहीं है और सब विपत्तिही विपत्ति है एसा सज्जनपुरुष कहते हैं इसलिये समस्तप्रकारके सुखका देनेवाला मनुष्यको दान अवश्य करना चाहिये ॥ ४२ ॥

नार्थः पदात्पदमपि व्रजति त्वदीयो व्यावर्तते पितृवनान्ननु वन्धुवर्गः ।
दीर्घे पथः प्रवसतो भवतः सखैकं पुण्यं भविष्यति ततः क्रियतां तदेव ॥ ४३ ॥

अर्थः—मरते समय यह तेरा धन एक पैडसे दूसरे पैडतक भी नहीं जाता तथा वन्धुओंका समूह श्मसानभूमिसे ही लोट आता है परन्तु इसदीर्घसंसारमें भ्रमणकरतेहुवे तुझको तेरा पुण्य ही एक मित्र होगा अर्थात् वही तेरे साथ जायगा इसलिये तुझै पुण्यकाही उपार्जन करना चाहिये ॥ ४३ ॥

और भी आचार्य उपदेश देते हैं ।

सौभाग्यशौर्यसुखरूपविवेकिताद्या विद्यावपुर्धनगृहाणि कुले च जन्म ।
सम्पद्यतेऽखिलमिदं किल पात्रदानात्तस्मात्किमत्र सततं क्रियते न यत्नः ॥ ४४ ॥

अर्थः—सौभाग्य शूरता सुख विवेक आदिक तथा विद्या शरीर धन घर और उत्तमकुलमें जन्म ये सब बातें उत्तमादिपात्रदानसे ही होती है इसलिये भव्यजीवोंको सदा पात्रदानमें ही प्रयत्न करना चाहिये ॥ ४४॥

न्यासश्च सद्म च करग्रहणश्च सूनोरर्थेन तावदिह कारयितव्यमास्ते ।
धर्माय दानमाधिकाग्रतया करिष्ये सश्चिंतयन्नपि गृही मृतिमेति मूढः ॥ ४५ ॥

अर्थः—मुझै धन जमीनमें गाड़ना है तथा धनसे मुझै मकान बनवाना है और पुत्रका विवाह करना है इतने काम करने पर यदि अधिकधन होगा तो धर्मकेलिये दान करूंगा ऐसा विचार करताही करता मूर्ख प्राणी अचानकही मरजाता है तथा कुछभी नहीं करने पाता इसलिये मनुष्यको धनमिलनेपर सबसे पहिले दान करना चाहिये तथा दानसे अतिरिक्त विचार कदापि नहीं करना चाहिये ॥ ४५ ॥

अब आचार्य कृपणकी निन्दा करते हैं ।

किं जीवितेन कृपणस्य नरस्य लोके निर्भोगदानधनबंधनबद्धमूर्तेः ।
तस्माद्वरं वलिभुगुन्नतभूरिवाग्भिर्व्याहूत काककुल एव वलिं स भुङ्क्ते ॥ ४६ ॥

अर्थः—जिसलोभीपुरुषकी मूर्ति भोग तथा दानरहित धनरूपी बंधनसे बंधी हुई है उसकृपण पुरुषका इसलोकमें जीना सर्वथा व्यर्थ है क्योंकि उसपुरुषकी अपेक्षा वह काकही अच्छा है जो कि ऊंचे शब्दसे और दूसरे बहुतसे काकों को बुलाकर मिलकर भोजन करता है ।

भावार्थः—कहींपर यदि थोड़ासाभी भोजन किसी पुरुषद्वारा डाला हुवा देखलेवे तो कौवा ऊंचेशब्द से और दूसरे बहुतसे कौवोंको बुलाकर भोजन करता है किन्तु लोभी योग्यधन पाकर भी नतो स्वयं खाता है न दूसरे को खवाता है और न उस धनको दानमेंही व्यय करता है इसलिये लोभी मनुष्यकी अपेक्षा कौवाही उत्तम है तथा उसलोभीपुरुषका होना न होना संसारमें समान है इसलिये जो मनुष्य अपने जीवनको सार्थक बनाना चाहता है उसको अवश्य उत्तम आदि पात्रोंमें दान देना चाहिये ॥ ४६ ॥

औदार्ययुक्तजनहस्तपरम्परासव्यावर्तनप्रसृतखेदभरातिखिन्नाः ।
अर्था गताः कृपणगेहमनन्तसौख्यपूर्णा इवानिशमवाधमति स्वपन्ति ॥ ४७ ॥

अर्थः—आचार्य कहते हैं कि उदारतासहित जो मनुष्य उनके हाथोंसे पैदाहुवा जो भ्रमण उससे उत्पन्न हुवा जो अत्यंतखेद उससे खिन्न होकर समस्तधन, कृपणके घर चले गये हैं तथा वहींपर वे बाधारहित आनन्द-केसाथ सोते हैं ऐसा माळूम होता है ।

भावार्थः—यहांपर उत्प्रेक्षालंकार है इसलिये ग्रन्थकार उत्प्रेक्षा करते हैं कि यह स्वाभाविक बात है कि जिसको जहांपर दुःख होता है वह उसस्थानको छोड़कर दूसरे स्थानमें चलाजाता है उसीप्रकार धनने भी यह सोचा कि उदारमनुष्यके घरमें रहनेसे हमको दान आदिकार्योंमें जहांतहां घूमना पड़ता है तथा व्यर्थके घूमनेमें पीड़ा भोगनी पड़ती है इसलिये वह कृपणके घरमें चला गया तथा वहांपर न घूमनेके कारण वह आनन्दसे एक जगहपर ही रहनेलगा सारार्थ उदारका धन तो दानआदिकार्योंमें खर्च होता है और कृपणका एक जगहपर रक्खा ही रहता है ॥४७॥

॥ अब आचार्य पात्रोंके भेदोंका वर्णन करते हैं ॥

उत्कृष्टपात्रमनगारमणुव्रताढ्यं मध्यं व्रतेनरहितं सुदृशं जघन्यम् ।
निर्दर्शनं व्रतनिकाययुतं कुपात्रं युग्मोज्झितं नरमपात्रमिदञ्च विद्धि ॥४८॥

अर्थः—उत्तमपात्र तो महाव्रती (मुनि) हैं तथा अणुव्रती (श्रावक) मध्यमपात्र हैं और व्रतरहित सम्यग्दृष्टि जघन्यपात्र है तथा व्रतसहित मिथ्यादृष्टि कुपात्र है तथा अव्रती मिथ्यादृष्टि अपात्र है ऐसा जानना चाहिये ।

तेभ्यः प्रदत्तमिह दानफलं जनानामेतद्विशेषणविशिष्टमदुष्टभावात् ।
अन्यादृशेऽथ हृदये तदपि स्वभावादुच्चावचं भवति किं बहुभिर्वचोभिः ॥४९॥

अर्थः—निर्मलभावसे उत्तम आदि पात्रोंकेलिये दियाहुवा दान मनुष्योंको उत्तम आदि फलका देनेवाला होता है तथा जो दान मायाचार अथवा दुष्टपरिणामोंसे दियाजाता है वह भी नीचेऊंचे फलका स्वभावसे देनेवाला होता है इसलिये आचार्य कहते हैं इसविषयमें हम विशेष क्या कहैं दान अवश्य फलका देनेवाला होता है।

भावार्थः—उत्तमपात्रको निर्मलभावसे दियाहुवा दान सम्यग्दृष्टिको तो स्वर्गमोक्ष आदि उत्तम फलका देनेवाला है तथा वही दान मिथ्यादृष्टिको भोगभूमिके सुखको देनेवाला है तथा मध्यमपात्रमें दियाहुवा दान सम्यग्दृष्टिको तो स्वर्गफलका देनेवाला है और मिथ्यादृष्टिको मध्यमभोगभूमिके सुखका देनेवाला है तथा जघन्यपात्रमें दिया हुवा दान सम्यग्दृष्टिको तो स्वर्गफलका देनेवाला है और मिथ्यादृष्टिको जघन्यभोगभूमियोंके सुखका देनेवाला है इसप्रकार तो पात्रदानका फल है तथा कुपात्रमें दियाहुवा दान कुभोगभूमिके फलका देने- वाला है और अपात्रमें दियाहुआ दान व्यर्थ जाता है अथवा दुर्गतिके फलका देनेवाला है तथा दुष्ट परिणामों

से दियाहुआ दान ऊंचे नीचे फलका देनेवाला है इसप्रकार दान कुछ न कुछ फल अवश्य देता है इसलिये भव्यजीवोंको तो अपने आत्महितकेलिये उत्तम आदि पात्रोंमें निर्मल भावसे दान देना ही चाहिये ॥ ४९ ॥

॥ अब आचार्य दानके भेदोंको बतलाते हैं ॥

वसंततिलका ।

चत्वारि यान्यभयभेषजभुक्तिशास्त्रदानानि तानि कथितानि महाफलानि ॥
नान्यानि गोकनकभूमिरथाङ्गनादिदानानि निश्चितमवद्यकराणि यस्मात् ॥५०॥

अर्थः—अभय औषध आहार शास्त्र इसप्रकारसे दान चार प्रकारका है तथा वह चारप्रकारका दानतो महाफलका देनेवाला कहा है परंतु इससे भिन्न गौ सुवर्ण जमीन रथ स्त्री आदि दान महाफलका देनेवाला नहीं कहा है वह निन्दाका करानेवाला ही कहा है इसलिये महाफलके अभिलाषियोंको ऊपरकहाहुआ चारप्रकाका ही दान देना चाहिये ॥ ५० ॥

॥ आचार्य और भी दानका उपदेश देते हैं ॥

यद्दीयते जिनग्रहाय धरादि किञ्चित्तत्र संस्कृतनिमित्तमिह प्ररूढम् ॥
आस्ते ततस्तदधिदीर्घतरं हि कालं जैनञ्चशासनमतः कृतमास्ति दातुः ॥५१॥

अर्थः—जो जिन मन्दिरके बनानेकेलिये अथवा सुधारनेकेलिये जमीन धन आदिक दिये जाते हैं उससे जिनमन्दिर अच्छा बनता है तथा उसजिनमन्दिरके प्रभावसे बहुतकालतक जिनेन्द्रका मत इसपृथ्वीमण्डल पर बिराजमान रहता है इसलिये दाताने जिनमन्दिरकेलिये जमीन धन आदि देकर जैनमतका उद्धार किया ऐसा समझना चाहिये ॥ ५१ ॥

पृथ्वीवृत्त

दानप्रकाशनमशोभनकर्मकार्यकार्पण्यपूर्णहृदयाय न रोचतेऽदः ॥
दोषोज्झितं सकललोकसुखप्रदायि तेजोरवेरिव सदा हतकौशिकाय ॥५२॥

अर्थः—आचार्य कहते हैं कि खोटा जो मिथ्यात्वरूपी कर्म उसका कार्य जो कृपणता उससे जिसका हृदय भराहुआ है ऐसे कृपणपुरुषको समस्तदोषकर रहित तथा सर्वलोकको सुखका देनेवाला दानका प्रकाश रूपकार्य अच्छा नहीं लगता जिसप्रकार सूर्यका प्रकाश घूक (उल्लू) को अच्छा नहीं लगता है ॥ ५२ ॥

दानोपदेशनमिदं कुरुते प्रमोदमासन्नभव्यपुरुषस्य न चेतरस्य ॥
जातिः समुल्लसति दारु न भृङ्गसङ्गादिन्दीवरं हसति चन्द्रकरैर्न चाश्म ॥५३॥

अर्थः—और भी आचार्य कहते हैं कि जिसप्रकार भ्रमरोंके संगसे चमेली ही विकसित होती है लकड़ी विकसित नहीं होती तथा चन्द्रमाकी किरणोंसे कमल ही प्रफुल्लित होता है पाषाण प्रफुल्लित नहीं होता उसही प्रकार जिसको थोड़े ही कालमें मोक्ष होनेवाली है ऐसे भव्यमनुष्यको ही यह दानका उपदेश हर्षका करनेवाला होता है अभव्यको यह दानका उपदेश कुछ भी हर्षका करनेवाला नहीं होता ॥ ५३ ॥

रत्नत्रयाभरणवीरमुनीन्द्रपादपद्मद्वयस्मरणसंजनितप्रभावः ॥
श्रीपद्मनन्दिमुनिराश्रितयुग्मदानपञ्चाशतं ललितवर्णचयं चकार ॥५४॥

अर्थः—आचार्यवर दानोपदेशरूपप्रकरणको समासकरतेहुए कहते हैं कि रत्नत्रयरूपीभूषणसे भूषित ऐसे श्रीवीरनन्दीनामकमुनिके दोनों चरणकमलोंके स्मरणसे उत्पन्न हुआ है उत्तमप्रभाव जिसको ऐसा श्री

पद्मनन्दी नामक मुनि उत्तमोत्तमवर्णोंकी रचनासे ५२ श्लोकोंमें दानका प्रकरण समाप्त करता हुआ ॥५४॥

इति श्रीपद्मनन्दिमुनिद्वारा विरचित श्रीपद्मनन्दिपञ्चविंशतिकानामक

ग्रन्थमें दानोपदेशनामक द्वितीय अधिकार समाप्त हुआ ॥

अब आचार्य अनित्य पञ्चाशतनामक अधिकारको वर्णन करतेहुवे प्रथम मंगलाचरण करते हैं।

आर्या।

जयति जिनो धृतिधनुषामिषुमाला भवति योगियोधानाम्।
यद्वाकरुणामय्यपि मोहारिपुप्रहतये तीक्ष्णा ॥ १ ॥

अर्थ—दयामयी भी जिस जिनेन्द्रकी बाणी धैर्यरूपी धनुषको धारण करनेवाले योगीरूपी योधाओंके मोहरूपी बैरीके नाशकरनेकेलिये पैनी बाणोकी पंक्तिकेसमान है वह जिनेन्द्र इससंसारमें सदा जयवन्त है।

भावार्थः—जो दयामय होता है वह किसीका नाश नहीं करसक्ता किन्तु भगवानकी वाणीमें यह विचित्रता है कि दयामयी होने परभी वह योगियोंके मोहको पलभरमें नाश करदेती है इसलिये एसी आश्चर्यकारी वाणीके धारी जिनेन्द्र सदा इससंसारमें जयवन्त हैं ॥ १ ॥

अब आचार्य मनुष्यदेहका अनित्यपना दिखाते हैं।

शार्दूलविक्रीड़ित।

यद्यकत्रे दिने न भुक्तिरथवा निद्रा न रात्रौ भवेत् विद्रात्यम्बुजपत्रवद्दहनतोभ्याशस्थिताद्यद्ध्रुवम्।
अस्त्रव्याधिजलादितोऽपिसहसा यच्च क्षयं गच्छति भ्रातः कात्रशरीरके स्थितिमातिर्नाशेऽस्यकोविस्मयः॥

अर्थः—यदि एकदिन खाया न जाय अथवा रात्रिमे सोया न जाय तो यह शरीर पासमें रही हुई अग्नि

से जिसप्रकार कमलका पत्र मुरझाय जाता है उसहीप्रकार मुरझा जाता है तथा हथियार, रोग, जल, अग्नि, आदिसे भी यह पलभरमें नष्ट होजाता है इसलिये आचार्य कहते हैं कि हे भाई ऐसा शरीर कवतक रहेगा ऐसा कोई निश्चय नहीं है अथवा यह जल्दी नष्ट होगा इसमें भी कोई आश्चर्य नहीं अतः इस शरीरमें किसी प्रकारकी ममता न रखकर अपना आत्मकल्याण करो ॥ २ ॥

शार्दूलविक्रीड़ित ।

दुर्गन्धाशुचिधातुभित्तिकलितं सञ्छादितं चर्मणा विण्मूत्रादिभृतं क्षुधादिविलसद्दुःखाखुभिश्छिद्रितम् ।
क्लिष्टं कायकुटीरकं स्वयमपि प्राप्तं जरावन्हिना चेदेतत्तदपि स्थिरं शुचितरं मूढ़ो जनो मन्यते ॥ ३ ॥

अर्थः—जिसदेहरूपीझोंपड़ेकी भीतें दुर्गन्ध और अपवित्र ऐसी मल, मूत्र, आदि धातुओं की बनी हुई है तथा जो ऊपरसे चामसे ढ़का हुवा है और विष्टा मूत्र आदिसे भरा हुवा है तथा भूंख प्यास आदिक जो दुःख वेही हुवे मूंसे उन्होने जिसमें विले वनारक्खे हैं अर्थात् जो दुःखोंका भण्डार है और वृद्धावस्था रूपीअग्नि जिसके चारों ओर मोजूद है ऐसे शरीररूपीझोपड़ेको भी मूढ़प्राणी अविनाशी तथा पवित्र मानते हैं यह बड़े आश्चर्य की बात है ॥ ३ ॥

अम्भोबुद्बुदसन्निभा तनुरियं श्रीरिन्द्रजालोपमा दुर्वाताहतवारिवाहसदृशाः कान्तार्थपुत्रादयः ।
सौख्यं वैषयिकं सदैव तरलं मत्ताङ्गनापांगवत्तस्मादेतदुपप्लवाप्तिविषये शोकेन किं किं मुदा ॥ ४ ॥

अर्थः—शरीर तो जलके ववूलोंके समान है और लक्ष्मी इन्द्रजालके समान है तथा स्त्री, धन, पुत्र, मित्र, आदिक खोटेपवनसे नष्टहुवे मेघोंके समान पलभरमें विनाशीक है और युवतीस्त्रीके कटाक्षके समान चंचल यह

विषयसंबंधी सुख है इसलिये आचार्य कहते हैं कि इनके नाश होनेपर विद्वानोंको न तो शोक करना चाहिये तथा मिलने पर हर्षभी नहीं मानना चाहिये।

भावार्थः—यह बात आवाल गोपाल प्रसिद्ध है कि जो पैदा हुवा है वह अवश्य ही नष्ट होगा फिर मनुष्य, लक्ष्मी आदिकी उत्पत्तिमें हर्ष मानते हैं तथा उसके नाश होने पर शोक मानते हैं ऐसा उनको नहीं मानना चाहिये तथा जिसप्रकार वने उसप्रकार अपनी आत्माकाही कल्याण करना चाहिये ॥ ४ ॥

दुःखे वा समुपस्थितेऽथ मरणे शोको न कार्यो वुधैः संवंधो यदि विग्रहेण यदयं सम्भूतिधात्र्येतयोः।
तत्तस्मात्परिचिंतनीयमनिशं संसारदुःखप्रदो येनास्य प्रभवः पुरः पुनरपि प्रायो न सम्भाव्यते ॥५॥

अर्थः—देहके संवंधसे यद्यपि संसारमें दुःख तथा शोक आकर उपस्थित होते हैं तो भी विद्वानों को किसी पदार्थके लिये दुःख तथा शोक नहीं करना चाहिये क्योंकि यहदेह दुःख तथा शोककी पैदा करनेवाली भूमि है इसलिये विद्वानोंको निरन्तर उसआत्मस्वरूपका चिंतवन करना चाहिये जिससे भविष्यतमें नानाप्रकारके संसार के दुःखोंको देनेवाली इसशरीरकी उत्पत्ति फिरसे न होवे ॥ ५ ॥

शार्दूलविक्रीडित।

दुर्वारार्जितकर्मकारणवशादिष्टे प्रनष्टे नरे यः शोकं कुरुते यदत्र नितरामुन्मत्तलीलायितम्।
यस्मात्तत्र कृते न सिध्यति किमप्येतत्परं जायते नश्यन्त्येव नरस्य मूढमनसो धर्मार्थकामादयः ॥६॥

अर्थः—जिसका निवारण नहीं होसक्ता, तथा पूर्वभवमें संचित, ऐसे कर्मरूपीकारणके वशसे जो मनुष्य अपने प्रिय स्त्री, पुत्र, मित्र, आदिके नष्ट होनेपर उन्मादीमनुष्यकी लीलाके समान इससंसारमें विना प्रयोजनका अत्यन्त शोक करता है उसमूर्खमनुष्यको उसप्रकारके व्यर्थ शोककरनेसे कुछ भी नहीं मिलता

तथा उसमूढ़मनुष्यके धर्म अर्थ काम आदिका भी नाश होजाता है इसलिये विद्वानोंको इसप्रकारका शोक कदापि नहीं करना चाहिये ॥ ६ ॥

उपेंद्रवज्रा ।

उदेति पाताय रविर्यथा तथा शरीरमेतन्ननु सर्वदेहिनाम् ।
स्वकालमासाद्य निजेऽपि संस्थिते करोति कः शोकमतः प्रबुद्धधीः ॥ ७ ॥

अर्थः—जिसप्रकार सूर्य, अस्तहोनेके लिये उदय होता है उसहीप्रकार यहशरीर, भी, निश्चयसे नाश होनेकेलियेही उत्पन्न होता है इसलिये स्वकालके अनुसार अपने प्रिय स्त्री पुत्र आदिके मरनेपर भी हिताहित के जानने वाले मनुष्य कदापि शोक नहीं करते ॥

भावार्थः—जो पैदा होता है वह नियमसे नष्ट होता है जब स्त्री पुत्र आदिका शरीर पैदा हुवा है तो अवश्य ही नष्ट होगा आत्माका तो नाश हो ही नहीं सक्ता ऐसा जानकर बुद्धिमान पुरुष स्त्री पुत्र आदिके लिये किञ्चित् भी शोक नहीं करते ॥ ७ ॥

और भी आचार्य शोकदूरकरनेका उपाय बताते हैं ।

भवन्ति वृक्षेषु पतन्ति नूनं पत्राणि पुष्पाणि फलानि यद्वत् ।
कुलेषु तद्वत्पुरुषाःकिमत्र हर्षेण शोकेन च सन्मतीनाम् ॥ ८ ॥

अर्थः—जिसप्रकार वृक्षोंपर अपने २ कालके अनुसार नानाजातिके पत्ते फूल फल उत्पन्न होते हैं तथा अपने २ कालके अनुसारही वे नष्ट भी होते हैं उसहीप्रकार अपने २ कर्मोंके अनुसार मनुष्य उच्च नीच आदि कुलोंमें जन्म लेते हैं तथा नष्ट भी होते हैं इसलिये ऐसा भली भांति समझकर बुद्धिमानोंको उनकी उत्पत्तिमें हर्ष, तथा नाशमें शोक, कदापि नहीं करना चाहिये ॥ ८ ॥

शार्दूलविक्रीड़ित ।

दुर्लंघ्याद्भवितव्यताव्यतिकरान्नष्टे प्रिये मानुषे यच्छोकः क्रियते तदत्र तमसि प्रारभ्यते नर्तनम् ।
सर्वं नश्वरमेव वस्तु भुवने मत्त्वा महत्या धिया निर्धूताखिलदुःखसन्ततिरहो धर्मः सदा सेव्यताम् ॥

अर्थः—जिसका दुःखसे भी उल्लंघन नहीं होसक्ता ऐसीजो भवितव्यता (दैव) उसके व्यापारसे अपने प्रिय स्त्री, पुत्र, आदिके नष्ट होनेपर जो मनुष्य शोक करता है वह अंधकारमें नृत्यको आरंभ करता है ऐसा जान पड़ता है (अर्थात् अंधकारमें किये हुवे नृत्यको कोई देख नहीं सक्ता इसलिये जिसप्रकार अंधकारमें नृत्यका आरम्भ व्यर्थ होता है उसहीप्रकार स्त्री पुत्र आदिकेलिये मनुष्यका शोक करना भी व्यर्थ है) अतः आचार्य उपदेश देते हैं कि हे भव्यजीवो अपने ज्ञानसे संसारमें सबचीजोंको विनाशीक समझकर समस्त दुःखोंकी संतानको जड़से उड़ाने वाले धर्म का ही सदा तुम सेवन करो ॥ ९ ॥

और भी आचार्य उपदेश देते हैं ।

पूर्वोपार्जितकर्मणा विलिखितं यस्यावसानं यदा तज्जायेत तदैव तस्य भविनो ज्ञात्वा तदेतद्ध्रुवम् ।
शोकं मुञ्च मृते प्रियेऽपि सुखदं धर्मं कुरुष्वादरात् सर्पे दूरमुपागते किमिति भोस्तद्घृष्टिराहन्यते ॥ १० ॥

अर्थः—पूर्वभवमें संचितकर्मके द्वारा जिसप्राणीका अन्त जिसकालमें लिख दियागया है उसप्राणीका अंत उसीकालमें होता है ऐसा भलीभांति निश्चयकरके हे भव्यजीवो तुम अपने प्रियभी स्त्री पुत्र आदिके मरने पर शोक छोड़दो तथा बड़े आदरसे धर्मका आराधन करो क्योंकि सर्पके दूर चलेजानेपर उसकी रेखाका पीटना व्यर्थ है ।

भावार्थः—जिसप्रकार सर्पके चलेजानेपर उसकी रेखाका पीटना व्यर्थ है उसहीप्रकार स्त्री पुत्र

उनकेलिये शोक करना भी विना प्रयोजनका है इसलिये विद्वानोंको उनकेलिये कदापि शोक नहीं करना चाहिये ॥ १० ॥

ये मूर्खा भुवि तेऽपि दुःखहतये व्यापारमातन्वते सा माभूदथवा स्वकर्मवशतस्तस्मान्न ते तादृशाः ।
मूर्खान्मूर्खशिरोमणीन्ननु वयं तानेव मन्यामहे ये "कुर्वन्ति" शुचं मृते सति निजे पापाय दुःखाय च ॥

अर्थः—आचार्य कहते हैं कि अपने कर्मके वशसे, चाहै दुःखोंकी निवृत्तिहो अथवा न हो तो भी जो दुःखकी निवृत्तिके लिये व्यापार करते हैं यद्यपि वे भी संसारमें मूर्ख हैं तो भी हम उनको अतिमूर्ख नहीं मानते किन्तु जो अपने प्रिय स्त्री पुत्र आदिके मरनेपर पापकेलिये अथवा दुःखोंकी उत्पत्तिके लिये शोक करते हैं उन्हींको निश्चयसे हम मूर्खशिरोमणि अर्थात् वज्रमूर्ख मानते हैं इसलिये विद्वानोंको स्त्री पुत्र आदिके मरने पर कदापि शोक नहीं करना चाहिये ॥ ११ ॥

और भी आचार्य शिक्षा देते हैं ।

शार्दूलविक्रीड़ित ।

किं जानासि न किं शृणोषि न न किं प्रत्यक्षमेवेक्षसे निश्शेषं जगदिन्द्रजालसदृशं रम्भेव सारोज्झितम् ।
किं शोकं कुरुषेऽत्र मानुषपशो लोकान्तरस्थे निजे तत्किञ्चित् कुरु येन नित्यपरमानन्दास्पदं गच्छसि ॥

अर्थः—हे मूढ़मनुष्य यहसमस्तजगत इन्द्रजालके समान अनित्य है तथा केलाके स्तम्भके समान निस्सार है इस वातको क्या तू नहीं जानता है अथवा सुनता नहीं है वा प्रत्यक्ष देखता नहीं है जो कि स्त्री पुत्र आदिके दूसरे लोकमें रहने पर भी तू उनकेलिये इससंसारमें व्यर्थ शोक करता है कोई ऐसा कामकर जिससे तुझै अविनाशी तथा उत्तम सुखके देनेवाले स्थानकी प्राप्ति होवे ॥

भावार्थः—संसारमें यदि एकभी चीज नित्य अथवा सारभूत होती तवतो शोक करना व्यर्थ न होता किन्तु संसारमें तो समस्तवस्तु इन्द्रजाल और केलाके खम्भेके समान विनाशीक तथा निस्सार है फिर शोक करना सर्वथा व्यर्थ है इसलिये हे भव्यो उसप्रसिद्धरत्नत्रयका आराधनकरो जिससे तुमको मोक्ष आदि सुखकी प्राप्ति बिना कष्ट किये हुये ही होवे ॥ १२ ॥

वसन्ततिलका ।

जातो जनो म्रियत एव दिने च मृत्योः प्राप्ते पुनस्त्रिभुवनेऽपि न रक्षकोऽस्ति ।
तद्यो मृते सति निजेऽपि शुचं करोति पूतकृत्य रोदिति वने विजने स मूढः ॥ १३ ॥

अर्थः—जो मनुष्य पैदा हुवा है वह मरणके दिन अवश्यही मरता है तथा मरते समय तीनोंलोकमें उसकी कोई भी रक्षा नहीं करसक्ता है इसलिये आचार्य कहते हैं कि जो मनुष्य अपने प्रिय स्त्री पुत्र आदिके मरने पर शोक करता है वह मनुष्य जहांपर कोई जन नहीं एसे वनमें जाकर फुक्का मार २ कर रोता है एसा जान पड़ता है ।

भावार्थः—जहांपर कोई मनुष्य नहीं एसे स्थानमें रोना जिसप्रकार व्यर्थ होता है उसीप्रकार (मरने पर किसीकी कोई भी रक्षा नहीं करसक्ता इसवातको भलीभांति जानताहुवा भी) स्त्री पुत्र आदिके लिये जो शोक करता है उसका उसप्रकारका शोककरना भी वृथा है इसलिये विद्वानोंको कदापि ऐसा शोक नहीं करना चाहिये १३॥

इष्टक्षयो यदिह ते यदनिष्टयोगः पापेन तद्भवति जीव पुराकृतेन ।
शोकं करोषि किमु तस्य कुरु प्रणाशं पापस्य तौ न भवतः पुरतोऽपि येन ॥ १४ ॥

अर्थः—आचार्य उपदेश देते हैं कि हे जीव यह जो तेरे इष्ट स्त्री पुत्र आदिका नाश तथा अनिष्ट सर्प

आदिका संबंध होता है वह पूर्वकालमें सञ्चय किये हुये तेरे पापके उदयसेही होता है इसलिये तू शोक क्यों करताहै ! उसपापका सर्वथा नाशकर, जिससे फिर तेरे भविष्यतमें इष्टवियोग तथा अनिष्टसंयोगका उदय न होवे ॥

शार्दूलविक्रीडित ।

नष्टे वस्तुनि शोभनेऽपि हितदा शोकःसमारभ्यते तल्लाभोऽथ यशोऽथ सौख्यमथवा धर्मोऽथवा स्याद्यदि ! यद्येकोऽपि न जायते कथमपि स्फारैः प्रयत्नैरपि प्रायस्तत्र सुधीर्मुधा भवति कः शोकोग्ररक्षोवशः१५

अर्थः—प्रियभी वस्तुके नाशहोनेपर शोक तव करना चाहिये जब कि उसकी प्राप्ति हो जावे अथवा शोक करनेसे कीर्ति फैले अथवा सुख वा धर्म हो किन्तु अनेक बड़ेसे बड़े प्रयत्नोंके करनेपर भी उपर्युक्त वस्तुओंमेंसे किसी भी वस्तुकी प्राप्ति नहीं दीखपड़ती इसीलिये विद्वानपुरुष इष्ट वस्तुके नाश होनेपर भी प्रायः कुछ भी व्यर्थ शोक नहीं करते ॥

भावार्थः—शोक करनेपर यदि गई हुई वस्तु फिरसे आजावे अथवा कीर्ति हो अथवा सुख तथा धर्म हो तबतो उसवस्तुकेलिये शोक करना उचित है परन्तु उनमेंसे तो एक भी वात नहीं होती फिर विद्वानोंको क्यों ! शोक करना चाहिये ॥ १५ ॥

वसन्ततिलका ।

एकद्रुमे निशि वसन्ति यथा शकुन्ताः प्रातः प्रयान्ति सहसा सकलासु दिक्षु । स्थित्वा कुले बत तथान्यकुलानि मृत्वा लोकाः श्रयन्ति विदुषा खलु शोच्यते कः ॥ १६ ॥

अर्थः—रात्रिकेसमय जिसप्रकार एकही वृक्षपर नानादेशोंसे आकर पक्षी निवास करते हैं तथा सवेरा होतेही शीघ्र वे जुदी २ दिशाओंमें जुदे २ होकर उड़जाते हैं उसीप्रकार बहुतसे मनुष्य एककुलमें जन्म लेकर

॥१४३॥

पुनः अपने कर्मके अनुसार मरकर नानाकुलोंमें जन्मलेते हैं ऐसी संसारकी स्थितिको जानकर विद्वान लोग कदापि शोक नहीं करते ॥ १६ ॥

शार्दूलविक्रीड़ित ।

दुःखव्यालसमाकुलं भववनं जाड्यान्धकाराश्रितं तस्मिन्दुर्गतिपल्लिपातिकुपथैः भ्राम्यन्ति सर्वाङ्गिनः ।
तन्मध्ये गुरुवाक्यदीपममलज्ञानप्रभाभासुरं प्राप्यालोक्य च सत्पथं सुखपदं याति प्रबुद्धो ध्रुवम् ॥ १७ ॥

अर्थः—नानाप्रकारके दुःखरूपी सर्प और हस्तियोंकर व्याप्त, तथा अज्ञानरूपी अन्धकारसे युक्त, और नरक अदि गतिरूपीभीलोंके भयंकर मार्गोंकर सहित, इससंसाररूपी वनमें समस्तप्राणी भटकते फिरते हैं किंतु उनप्राणियोंमें चतुरमनुष्य निर्मलज्ञानरूपीप्रभासे देदीप्यमान ऐसे गुरुओंके वचनरूपीदीपकको पायकर तथा उसवचनरूपीदीपकके द्वारा उत्तममार्गको देखकर मोक्षपदको प्राप्त करलेता है ॥

भावार्थः—दुःख तथा अज्ञान और खोटी गतियोंकर सहित इससंसारमें भटकतेहुवे प्राणियोंको सन्मार्गके प्रकाशकरनेवाले गुरुओंके वचनही हैं इसलिये जो मनुष्य सच्चेमार्गको जानकर उत्तममोक्षपदको प्राप्त करना चाहते हैं उनको गुरुओंके वचनोंपर अवश्य विश्वास करना चाहिये ॥ १७ ॥

वसन्ततिलका ।

यैव स्वकर्मकृतकालकलात्र जन्तुस्तत्रैव याति मरणं न पुरो न पश्चात् ।
मूढास्तथापि हि मृते स्वजने विधाय शोकं परं प्रचुरदुःखभुजो भवन्ति ॥ १८ ॥

अर्थः—पूर्वोपार्जित अपने कर्मोंकेद्वारा जो मरणका समय निश्चित होगया है उसीके अनुसार प्राणी मरता है आगे पीछे नहीं मरता, ऐसा जानकरभी, आत्मीयमनुष्यके मरनेपर अज्ञानीजन तोभी शोक करते हैं तथा नानाप्रकारके दुःखों को भोगते हैं ॥ १८ ॥

शार्दूलविक्रीड़ित ।

वृक्षाद्वृक्षमिवाण्डजा मधुलिहः पुष्पाच्च पुष्पं यथा जीवा यान्ति भवाद्भवान्तरमिहाश्रान्तं तथा संसृतौ। तज्जातेऽथ मृतेऽथ वा न हि मुदं शोकं न कस्मिन्नपि प्रायः प्रारभतेऽधिगम्य मतिमानस्थैर्यमित्याङ्गिनाम्॥

अर्थः—जिसप्रकार पक्षी एक वृक्षसे दूसरे वृक्षपर चलेजाते हैं तथा जिसप्रकार भौंरा एक फूलसे दूसरे फूलपर उड़कर चलेजाते हैं उसहीप्रकार इससंसारमें अपने २ कर्मके वशसे जीव निरंतर एकगतिसे दूसरीगतिमें जाते हैं इसप्रकार प्राणियोंकी अनित्यताको समझकर विद्वान् न तो प्रायः प्राणियोंकी उत्पत्तिमें हर्षही मानता है और न उनके मरनेपर शोकही करता है ॥ १९ ॥

भ्राम्यत्कालमनन्तमत्रजनने प्राप्नोति जीवो न वा मानुष्यं यदि दुष्कुले तदघतः प्राप्तं पुनर्नश्यति । सज्जातावथ तत्र याति विलयं गर्भेऽपि जन्मन्यपि द्राग्बाल्येऽपि ततोऽपि नो वृष इति प्राप्ते प्रयत्नो वरः॥

अर्थः—अनन्तकालपर्यन्त इससंसारमें भ्रमण करते हुवे इसजीवको मनुष्यपनेकी प्राप्ति होवेही होवे ऐसा कोई निश्चय नहीं (नहीं भी होती है) दैवयोगसे यदि हो भी जावे तो खोटेकुलमें जन्मलेनेपर फिर भी वह पायाहुवा मनुष्यपना, उसखोटेकुलमें कियेहुवे पापोंसे नष्ट होजाता है यदि श्रेष्ठजातिमें भी जन्म होजावे तो प्रथम तो गर्भमेंही मरजाता है यदि गर्भसे वचजावे तो जन्मते ही मरजाता है यदि जन्मतेसमय भी न मरे तो बाल्य अवस्थामें अवश्य ही मरजाता है इसलिये आचार्य उपदेश देते हैं कि धर्मकेलियेही प्रयत्न करना उत्तम है क्योंकि धर्ममें ही यहशक्ति है कि वह प्राणियोंको जन्म जरा आदिसे छुटाता है तथा जहांपर किसी प्रकारका दुःख नहीं ऐसे मोक्षपदमें लेजाकर जीवोंको धरता है ॥ २० ॥

स्थिरं सदपि सर्वदा भृशमुदेत्यवस्थान्तरैः प्रतिक्षणमिदं जगज्जलदकूटवन्नश्यति ।

तदत्र भवमाश्रिते मृतिमुपागते वा जने प्रियेऽपि किमहो मुदा किमु शुचा प्रबुद्धात्मनः॥

अर्थः—यद्यपि द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षा यह लोक सदा विद्यमान है, तो भी पर्यायार्थिकनयकी अपेक्षा मेघोंके समूहके समान यह क्षण २ में विनाशीक है इसलिये आचार्य उपदेश देते हैं कि हे वुद्धिमानपुरुषो इससंसारमें अपने प्रियमनुष्यके उत्पन्न होनेपर क्या तो हर्ष करने में रक्खा है? तथा प्रियमनुष्यके मरजानेपर क्या शोक करने में रक्खा है? अर्थात् तुम्हारा हर्ष तथा शोक करना विना प्रयोजनका है॥ २१॥

लंघ्यन्ते जलराशयःशिखारिणो देशास्तटिन्यो जनैः सा वेला तु मृतेर्न पक्ष्मचलनस्तोकापि देवैरपि।
तत्कस्मिन्नपि संस्थिते सुखकरं श्रेयो विहाय ध्रुवं कः सर्वत्र दुरन्तदुःखजनकं शोकं विदध्यात्सुधीः॥

अर्थः—मनुष्य बड़े २ समुद्रोंको पार करजाते हैं तथा बड़े २ पर्वतोंका तथा देशोंका उल्लंघन करजाते हैं और विस्तृत नादियोंको भी तिरजाते हैं परन्तु मरणके समयको मनुष्योंकी क्या वात देव भी निमेषमात्र केलिये भी नहीं टाल सक्ते है इसलिये आचार्य कहते हैं कि ऐसा कोन वुद्धिमान पुरुष होगा? जो किसी अपने प्रियमनुष्यके मरजानेपर समस्तप्रकारके कल्याणको देनेवाले उत्तमधर्मको न करके नानाप्रकारके नरकादिदुःखोंको देनेवाले शोक को करैगा।

भावार्थः—वुद्धिमानपुरुष अपने प्रिय किसी स्त्री पुत्र आदिके मरने पर धर्मका ही आराधन करते हैं क्योंकि वे समझते हैं कि धर्मही दुःखोंसे छुटाने वाला है किन्तु नानाप्रकारके दुःखोंके देनेवाले शोक की ओर झांक करके भी नहीं देखते २२॥

आक्रन्दं कुरुते यदत्र जनता नष्टे निजे मानुषे जाते यच्च मुदं तदुन्नतधियो जल्पन्ति वातूलताम्।
यज्जाड्यात्कृतदुष्टचेष्टितभवत्कर्मप्रवन्धोदयान्मृत्यूत्पत्तिपरम्परामयमिदं सर्वं जगत्सर्वदा॥ २३॥

॥१४६॥

अर्थः—जो मनुष्य अपने प्रियमनुष्यके मरनेपर तो चींक मार २ कर रोते हैं तथा उत्पन्न होने पर हर्ष मानते हैं उनकी उसप्रकारकी चेष्टाको बुद्धिमानपुरुष बावलापन कहते हैं क्योंकि यहसमस्तजगत तो अज्ञानसे की हुई जो खोटी २ क्रिया उनसे उत्पन्न हुवा जो कर्मोंका बंधन उसके उदयसे सदा मरण तथा जन्मोंकी परंपरा स्वरूप ही है ॥

भावार्थः—खोटी २ चेष्टाओंसे उत्पन्नहुवे कर्मके वशसे निरन्तर बहुतसे प्राणी इससंसारमें मरते हैं तथा जन्मते भी हैं इसलिये यहसंसार तो जन्ममरणस्वरूपही है किन्तु ऐसे संसारके स्वरूपको जानकर भी यदि मनुष्य अपने प्रियके मरने पर शोक तथा उत्पन्न होने पर हर्ष माने तो सर्वथा उनका बावलापन है ऐसा समझना चाहिये ॥ २३ ॥

गुर्वी भ्रान्तिरियं जड़त्वमथवा लोकस्य यस्माद्वसन् संसारे बहुदुःखजालजटिले शोकीभवत्यापदि ।
भूतप्रेतपिशाचफेरवचितापूर्णे श्मशाने गृहं कः कृत्वा भयदादमङ्गलकृताद्भावाद् भवेच्छङ्कितः ॥ २४ ॥

अर्थः—आचार्य कहते हैं कि यह लोकका एक बड़ाभारी भ्रम है अथवा उसकी मूर्खता कहनी चाहिये कि अनेकदुःखोंसे व्याप्त इससंसारमें रहताहुवा भी आपत्तिके आनेपर शोक करता है क्योंकि जो श्मसान, भूत प्रेत पिशाच तथा फेंकार शब्द और चिता आदिसे व्याप्त है ऐसे श्मशानमें घर बनाकर तथा रहकर ऐसा कौंन पुरुष होगा जो अमंगलस्वरूप तथा नानाप्रकारके भयको करनेवाले पदार्थोंसे भय करैगा ॥

भाथार्थः—जिसप्रकार श्मसान आदिक भयके स्थानोंमें रहकर भयकरना मूर्खता है क्योंकि वहांपर नियमसे भय होगाही होगा उसहीप्रकार शोक आदिके स्थानस्वरूप इससंसारमें शोक करना भी व्यर्थ है इस लिये मनुष्योंको शोक आदिके 'स्थानस्वरूप' इससंसारमें कदापि शोक नहीं करना चाहिये ॥ २४ ॥

मालनीवृत ।

भ्रमति नभसि चन्द्रः संसृतौ शश्वदङ्गी लभत उदयमस्तं पूर्णता हीनताश्च ।
कलुषितहृदयः सन् याति राशिं च राशेस्तनुमिह तनुतस्तत्कोत्र मोदश्च शोकः ॥ २५ ॥

अर्थः—जिसप्रकार चन्द्रमा सदा आकाशमें भ्रमण करता रहता है उसहीप्रकार यहप्राणी भी निरंतर संसारमें एकगतिसे दूसरी गतिमें भ्रमण करता रहता है तथा जिसप्रकार चन्द्रमा उदित होता है तथा अस्त होता है उसीप्रकार यहप्राणीभी जन्मता तथा मरता है तथा जिसप्रकार चन्द्रमा बढ़ता और घटता है उसी प्रकार यह प्राणीभी बालपनेको तथा युवापनेको और वृद्धपनेको प्राप्त होता है तथा जिसप्रकार चंद्रमा कलंकित होकर मीन आदि राशिसे कर्क आदि राशिकोप्राप्त होता है उसीप्रकार यहप्राणीभी कलुषित चित्तहोकर एक शरीरसे दूसरे शरीरको धारण करता है इसलिये भव्यजीवोंको संसारकी ऐसी वास्तविक 'स्थितिको' भली भांति जानकर जन्ममरणमें कदापि हर्ष तथा शोक नहीं मानना चाहिये ॥ २५ ॥

तड़िदिव चलमेतत्पुत्रदारादिसर्वं किमिति तदभिघाते खिद्यते बुद्धिमद्भिः ।
स्थितिजननविनाशं नोष्णतेवाऽनलस्य व्यभिचरति कदाचित्सर्वभावेषु नूनम् ॥ २६ ॥

अर्थः—संसारमें पुत्र स्त्री आदिक समस्तपदार्थ विजलीके समान चंचल तथा विनाशीक है इसलिये स्त्री पुत्र आदिके नाश होनेपर वुद्धिमानोंको कदापि शोक नहीं करना चाहिये क्योंकि जिसप्रकार अग्निमें उष्णपना सर्वदा रहता है उसीप्रकार समस्तपदार्थोंमें उत्पाद विनाश तथा ध्रौव्य ये तीनों धर्म सदा रहते हैं ।

भावार्थः—यद्यपि द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षा सर्व वस्तु नित्य है किन्तु पर्यापार्थिकनयकी अपेक्षा तो सब पैदा भी होती है तथा नष्ट भी होती है इसलिये पर्यायार्थिकनयकी अपेक्षा जव सर्वपदार्थोंका उत्पन्न

होना तथा नष्टहोना धर्मही ठहरा तव विद्वानोंको स्त्री पुत्र मित्र आदिके नाश होनेपर जिससे किसी प्रकारके हितकी आशा नहीं ऐसा खेद कदापि नहीं करना चाहिये ॥ २६ ॥

प्रियजनमृतिशोकः सेव्यमानोऽतिमात्रं जनयति तदसातं कर्म यच्चाग्रतोऽपि ।
प्रसरति शतशाखं देहिनि क्षेत्र उप्तं वट इव तनुबीजं त्यज्यतां स प्रयत्नात् ॥ २७ ॥

अर्थः—क्षेत्रमें वोया हुवा छोटाभी वटवृक्षका बीज जिसप्रकार शाखा प्रशाखा स्वरूपमें परिणत होकर फैलजाता है उसीप्रकार अपने प्रिय स्त्री पुत्र आदिके मरने पर जो अत्यन्त शोक किया जाता है वह शोक उस असताकर्मको पैदा करता है कि जो असाता कर्म उत्तरोत्तर शाखा प्रशाखा रूपमें परिणत होकर फैलता चलाजाता है अर्थात् उसअसात कर्मके उदयसे नरक तिर्यञ्च आदि अनेक योनियोंमें भ्रमण करनेसे नानाप्रकार के दुःख सहने पड़ते हैं इसलिये आचार्य कहते हैं कि विद्वानोंको ऐसा शोक जैसे छूटै वैसे छोड़देना चाहिये॥२७॥

आर्या ।

आयुः क्षतिः प्रतिक्षणमेतन्मुखमन्तकस्य तत्र गता ।
सर्वे जनाः किमेकः शोचत्यन्यं मृतं मूढः ॥ २८ ॥

अर्थः—प्रतिसमय आयुका नाश होता है तथा यह आयुका नाशही यमराजका मुख है और उसमें अनेक जीव प्रविष्ट होचुकेहैं फिरभी यह अकेला अज्ञानी जीव अपने प्रियके मरनेपर नहीं मालूम क्योंशोक करताहै?

भावार्थः—यदि आयुः कर्मका अंत न होता अथवा अनेक प्राणी न मरते तवतो इसजीवका शोक करना उचित होता किन्तु समय २ में आयुकर्मका नाश होता चला जारहा है तथा अनेक प्राणी

मरचुके और स्वयं भी मरनेके लिये तयार है इसवातको जानताहुवाभी यह अज्ञानीजीव शोक करता है यह बड़े आश्चर्य की बात है ॥ २८ ॥

अनुष्टुप ।

यो नात्र गोचरं मृत्योर्गतो याति न यास्यति ।
स हि शोकं मृते कुर्वन् शोभते नेतरः पुमान् ॥ २९ ॥

अर्थः—जो प्राणी नतो मरा है तथा न मर रहा है और न मरैगा यदि वह अपने प्रियके मरने पर शोक करै तो उसका शोकतो शोभाको प्राप्त होसक्ता है किन्तु जो अनन्तों समय तो मरचुका तथा मररहा है और अनन्तोंहीं समय मरैगा यदि वह शोक करै तो उसका शोक करना सर्वथा व्यर्थ है इसलिये विद्वानों को अपने प्रिय स्त्री पुत्र आदिके मरनेपर कदापि शोक नहीं करना चाहिये ॥ २९ ॥

मालिनी ।

प्रथमसुदयमुच्चैर्दूरमारोहलक्ष्मीमनुभवति च पातं सोऽपि देवो दिनेशः ।
यदि किल दिनमध्ये तत्र केषां नराणां वसति हृदि विषादः सत्स्ववस्थान्तरेषु ॥ ३० ॥

अर्थः—सूर्यदेव भी एकहीदिनमें प्रथमतो प्रातःकालमें उदित होकर ऊंचा चढ़ता हुवा अत्यंत शोभाको धारण करता है तथा पश्चात् सायंकालमें अस्तहोजाता है इसीप्रकार समस्त पदार्थोंकी एकअवस्थासे दूसरीं अवस्था होती है उन अवस्थाओंको देखकर ऐसे कौंन वुद्धिमानमनुष्य होंगे जो अपने मनमें विषाद करैंगे ? अर्थात् ऐसी स्वाभाविक स्थितिपर वुद्धिमान कदापि खेद नहीं करसक्ते ॥ ३० ॥

वसन्ततिलका ।

आकाश एव शशिसूर्यमरुत्खगाद्याः भूपृष्ट एव शकटप्रमुखाश्चरन्ति ।

मीनादयश्च जल एव यमस्तु याति सर्वत्र कुत्र भविनां भवति प्रयत्नः ॥ ३१ ॥

अर्थः—चन्द्र, सूर्य, पवन, पक्षी, आदिक तो आकाशमें ही चलते हैं तथा गाढ़ी, सिंह, व्याघ्र आदिक जमीन पर ही चलते हैं और मछली मगर आदिक जलमें ही चलते हैं परन्तु यह काल (यम) सव जगह पर चलता है अर्थात् यह काल प्राणियोंको पृथ्वी जल आकाश अग्नि आदि किसी स्थानपर नहीं छोड़ता फिर इससे वचनेका प्रयत्न किया जावे तो कहां किया जावे ? ॥ ३१ ॥

शार्दूलविक्रीड़ित।

किं देवःकिमु देवता किमगदो विद्यास्ति किं किं मणिःकिं मन्त्रःकिमुताश्रयःकिमुसुहृत्किंवा सुगन्धोऽस्ति सः।
अन्ये वा किमु भूपतिप्रभृतयः सन्त्यत्र लोकत्रये यैः सर्वैरपि देहिनः स्वसमये कर्मोदितं वार्यते ॥ ३२ ॥

अर्थः—तीनोंलोकमें भी देव, देवी, वैद्य, विद्या मणि, मन्त्र, भृत्य, मित्र, सुगन्ध, तथा राजा, आदिक एक २ की तो क्यावात सब मिलकरभी अपने समयमें उदय आये हुवे प्राणियोंके कर्मको नहीं रोकसक्ते ॥

भावार्थः—जो कर्म पूर्वकालमें वांधा है वह अपने समय पर नियमसे उदयमें आता है तथा वलवान् से वलवान भी देव आदिक कोई भी उसका निवारण नहीं करसक्ता ऐसा भलीभांति समझकर विद्वान् कदापि शुभअशुभकर्मके उदय होनेपर हर्ष विषाद नहीं करते ॥ ३२ ॥

गीर्वाणा अणिमादिसुस्थमनसः शक्ताःकिमत्रोच्यतेध्वस्तास्तेऽपि परम्परेण स परस्तेभ्यः कियान्राक्षसः।
राक्षाख्येन च मानुषेण निहितः प्रोलंघ्य सोप्यम्बुधिं रामोप्यन्तकगोचरः समभवत्कोऽन्यो वलीयान्विधेः॥

अर्थः—विशेष कहांतक कहाजाय क्योंकि जोदेव अणिमा महिमा आदि ऋद्धिकेधारी थे तथा सबप्रकार से समर्थथे उनको भी उस रावण नामक राक्षसने विध्वंस कर दिये जो कि रावण उनदेवोंके सामने, कुछ भी

चीज न था तथा उसरावणको भी समुद्रको पारकर राम नामक न कुछ मनुष्यने मारदिया तथा वह रामभी कालवलीका ग्रास वनगया इसलिये आचार्य कहते हैं कि समसे वलवान् संसारमें कोई भी नहीं ॥ ३३ ॥

सर्वत्रोद्गतशोकदावदहनव्याप्तं जगत्काननं मुग्धास्तत्र वधूमृगीगतधियस्तिष्ठन्ति लोकैणकाः ।
कालव्याध इमान्निहन्ति पुरतः प्राप्तान्सदा निर्दयस्तस्माज्जीवति नो शिशुर्न च युवा वृद्धोऽपि नो कश्चन॥

अर्थः—आचार्य कहते हैं कि यहसंसाररूपीवनतो सब जगह उठाहुवा जो शोकरूपीदावानल उससे व्याप्त होरहा है तथा इससंसाररूपीवनमें लोकरूपी जो मृग हैं वे स्त्री रूपी मृगीके वश होकर पड़े हुवे हैं और यह कालरूपी व्याध आगे आये हुवे उन लोकरूपीदीनमृगोंको सदाकाल मारता है जिससे नतो इस संसारमें कोई वालक सदा जीता है तथा न कोई युवा सदा जीता है और न कोई वृद्धही सदा जीता है ॥३४॥

संपच्चारुलतः प्रियापरिलसद्वल्लीभिरालिङ्गितः पुत्रादिप्रियपल्लवो रतिसुखप्रायैः फलैराश्रितः ।
जातः संसृतिकानने जनतरुः कालोग्रदावानलव्याप्तश्चेन्न भवेत्तदा बत वुधैरन्यत्किमालोक्यते॥३५॥

अर्थः—संपदारूपी मनोहर लताओंसे युक्त, तथा स्त्रीरूपीजो मनोहर वेल उससे आलिंगन कियाहुवा, और पुत्र आदिक उत्तमपल्लवोंका धारी, तथा रतिसे उत्पन्न हुवे जो सुख वेही हुवे फल उनकर सहित, ऐसायह संसाररूपी वनमें पैदा हुवा मनुष्यरूपी वृक्षहै यह मनुष्यरूपीवृक्ष कालरूपी जो भयंकरदावाग्नि उससे भस्म न होजावे इसकोलिये बुद्धिमानोंको अवश्य उसके सार्थक होनेकेलिये प्रयत्न करना चाहिये ॥

भावार्थः—बड़ी कठिनतासे इसमनुष्यभवकी प्राप्ति हुई है और इसमनुष्यजन्मके सिवाय निर्वाण का कारण और कोई उत्तम पदार्थ भी नहीं है इसलिये जप तप आदिकर इसमनुष्यजन्मको विद्वानोंको सार्थक वनाना चाहिये अन्यथा यह व्यर्थ नष्ट होजावेगा ॥ ३५ ॥

शार्दूलविक्रीडित ।

वाञ्छत्येव सुखं तदत्र विधिना दत्तं परं प्राप्यते नूनं मृत्युमुपाश्रयन्ति मनुजास्तत्राप्यतो बिभ्यति ।
इत्थं कामभयप्रसक्तहृदयाः मोहान्मुधैव ध्रुवं दुःखोर्मिप्रचुरे पतन्ति कुधियः संसारघोरार्णवे ॥ ३६ ॥

अर्थः—आचार्य कहते हैं कि संसारमें समस्तप्राणी इन्द्रियोंसे पैदा हुवे सुखकी अभिलाषा सदा करते रहते हैं किन्तु वह सुख कर्मानुसारही मिलता है इच्छानुसार नहीं मिलता तथा सर्वजीव निश्चयसे मरते हैं तो भी उस मृत्युसे डरते रहते हैं इसप्रकार मोहसे कामातुर तथा भयातुर होकर ये " मूढबुद्धी प्राणी " व्यर्थही नानाप्रकारके दुःखरूपीतरङ्गोंसे व्याप्त इससंसाररूपी समुद्रमें डूबते हैं ॥ ३६ ॥

मालिनी ।

स्वसुखपयसि दीव्यन् मृत्युकैवर्तहस्तप्रसृतघनजरोरुप्रोल्लसज्जालमध्ये ।
निकटमपि न पश्यत्यापदां चक्रमुग्रं भवसरसि वराको लोकमीनौघ एषः ॥ ३७ ॥

अर्थः—औरभी आचार्य उपदेश देते हैं कि जिसप्रकार मल्लाहकरके बिछायेहुवे जालमें मछलियोंका समूह खेलता रहता है किन्तु समीपमें रहीहुई मरणरूपी भयंकर आपत्तिके ऊपर कुछभी ध्यान नहीं देता उसीप्रकार यह दीन लोकरूपीमछलियोंका समूह, अपने सुखरूपी जलमें कालरूपी मल्लाहके हाथसे फैलाये हुवे जरारूपी विस्तीर्णजालमें क्रीड़ा करता रहता है किन्तु (व्यर्थमें हमारा जीवन चला जावेगा) इसप्रकारकी पासमें रहीहुई भी आपत्तिके ऊपर कुछ भी ध्यान नहीं देता ॥ ३७ ॥

शार्दूलविक्रीडित ।

शृण्वन्नन्तकगोचरं गतवतः पश्यन् बहून् गच्छतो मोहादेव जनस्तथापि मनुते स्थैर्यं परं ह्यात्मनः ।

सम्प्राप्तेऽपि च वार्धके स्पृहयति प्रायो न धर्माय यत्तद्बध्नात्यधिकाधिकं स्वमसकृत् पुत्रादिभिर्बन्धनैः ॥

अर्थः—यह लोक, वहुतसे जीव मरगये इसवातको सुनता हुवा भी तथा वहुतोंको मरतेहुवे स्वयं देखता हुवा भी मोहसे आत्माको निश्चलही मानता है तथा वृद्धावस्थाके आनेपर भी धर्मकी ओर कुछ भी लक्ष्य नहीं देता किन्तु उसअवस्थामें भी पुत्र स्त्री आदिके 'वंधनसे' निरन्तर अपनेको और भी जादा वांधता है ॥ ३८ ॥

दुश्चेष्टाकृतकर्मशिल्पिरचितं दुःसन्धि दुर्बन्धनं सापायस्थितिदोषधातुमलवत्सर्वत्र यन्नश्वरम्।
'आधिव्याधिजरामृतिप्रभृतयो' यच्चात्र चित्रं न तत्तच्चित्रं स्थिरता बुधैरपि वपुष्यत्रापि यन्मृग्यते ॥

अर्थः—जो देह, बुरी २ जो क्रियां उनकरके कियागया जो कर्म वही हुवा एकप्रकारका कारीगर उस करके वनाया हुवा है तथा खोटी सन्धि और खोटे वंधन कर सहित है और जिसकी स्थिति नाश कर सहित है तथा जो नानाप्रकारके दोष तथा मलमूत्र वीर्य आदि सात कुधातुओंकर संयुक्त है ऐसे देहमें यदि आधि, व्याधि, जरा, मरण, आदिक होते हैं तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है, किन्तु आश्चर्य इसवातका है कि विद्वान मनुष्यभी ऐसे शरीरको सर्वथा स्थिर मानते हैं ॥ ३९ ॥

लब्धा श्रीरिह वाञ्छिता वसुमती भुक्ता समुद्रावधिः प्राप्तास्ते विषया मनोहरतराः स्वर्गेऽपि ये दुर्लभाः।
पश्चाच्चेन्मृतिरागमिष्यति ततस्तत्सर्वमेतद्विषाऽश्लिष्टं भोज्यमिवातिरम्यमपि धिङ्मुक्तिः परं मृग्यताम् ॥

अर्थः—इस संसारमें वांछितलक्ष्मीभी प्राप्तकरली तथा सागरान्त पृथ्वीका राज्यभी भोगलिया और जो विषय स्वर्गमें भी नहीं प्राप्त होसक्ते ऐसे अत्यन्तमनोहरविषयोंको भी पालिया किन्तु जिससमय मृत्युपासमें आ जावेगी उस समय अत्यन्तमनोहर भी ये सब बातें विषसंयुक्तभोजनके समान दुःखकी देनेवाली होजावेगी इस लिये इनकेलिये धिक्कारहो ऐसा विचारकर हे भव्य जीवो जहांपर किसीप्रकाराक दुःखनहीं ऐसी मुक्तिकाही आश्रयकरो

॥१५४॥

युद्धे तावदलं रथेभतुरगा वीराश्च दृप्ता भृशं मन्त्रःशौर्यमसिश्च तावदतुलः कार्यस्य संसाधकः ।
राज्ञोऽपि क्षुधितोऽपि निर्दयमना यावज्जिघित्सुर्यमः क्रुद्धो धावति नैव सन्मुखमितो यत्नोविधियोबुधैः॥

जबतक भूखा तथा निर्दयी और समस्तजीवोंका विध्वंसकरनेवाला तथा क्रोधी यमराज सामने नहीं आता तभीतक लड़ाईमें राजाके रथ, हस्ती, घोड़ा, तथा अत्यन्त गर्वकरनेवाले सुभट, तथा मन्त्र, वीरता और अनुपमतलवार, आदि काममें आते हैं किन्तु जब यमराज सामने पड़जाता है अर्थात् मरजाते हैं उस समय उपर्युक्त कोई भी चीज काममें नहीं आती इसलिये बुद्धिमानपुरुषोंको जिसप्रकार बने उसप्रकारसे इसकालके सर्वथा नाशकेलियेही यत्न करना चाहिये ॥ ४१ ॥

राजापि क्षणमात्रतो विधिवशाद्रङ्कायते निश्चितं सर्वव्याधिविवर्जितोऽपि तरुणोऽप्याशु क्षयं गच्छति ।
अन्यैः किं किल सारतामुपगते श्रीजीविते द्वे तयोः संसारे स्थितिरीदृशीति विदुषा कान्यत्र कार्यो मदः॥

अर्थः—अपने पूर्वोपार्जितकर्मके वशसे राजाभी क्षणभरमें निश्चयसे निर्धन होजाता है तथा समस्त रोगोंसे रहितभी जवानमनुष्य देखते २ नष्ट होजाता है इसलिये समस्तपदार्थोंमें सारभूत जीवन तथा धन की जब संसारमें ऐसी स्थिति है तब और पदार्थोंकी क्या बात ? अर्थात् वेतो अवश्यही विनाशीक है अतः विद्वानोंको किसीपदार्थमें अहंकार नहीं करना चाहिये ॥ ४२ ॥

हन्ति व्योम स मुष्टिनात्र सरितं शुष्कां तरत्याकुलस्तृष्णातोऽथ मरीचिकाः पिबति च प्रायः प्रमत्तो भवन् ।
प्रोत्तुङ्गाचलचूलिकागतमरुत्प्रेङ्खत्प्रदीपोपमैर्यत्सम्पत्सुतकामिनीप्रभृतिभिः कुर्यान्मदं मानवः ॥ ४३ ॥

अर्थः—जो मनुष्य अत्यंतऊंची जो पहाड़की चोटी उसपर चलतीहुई जो पवन उससे झकोरे खाते हुवे दीपकके समान चचल ऐसी सपदा तथा पुत्र स्त्री आदिकमें अभिमान करता है वह मनुष्य उन्मादी होकर आकाश

को मुट्ठीसे मारता है तथा अत्यंत आकुलहोकर सूखीनदीको तिरता है और प्याससे अत्यंत आकुल होकर मरीचिकाको पीता है ऐसा मालूम होता है ॥

भावार्थः—जिसप्रकार आकाशको मुठीसे मारना सूखीनदीको तिरना और मरीचिकाका पीना विना प्रयोजनका है उसीप्रकार अत्यन्तचंचल तथा विनाशीक संपदा, पुत्र, स्त्री, आदिमें अहंकार करना भी व्यर्थ है इसलिये विद्वानोंको इनमें कदापि अभिमान नहीं करना चाहिये ॥ ४३ ॥

लक्ष्मी व्याधमृगीमतीवचपलामाश्रित्य भूपा मृगाः पुत्रादीनपरान्मृगानतिरुषा निघ्नन्ति सेर्ष्यं किल।
सज्जीभूतघनापदुन्नतधनुः संलग्नसंहृच्छरं नो पश्यन्ति समीपमागतमपि क्रुद्धं यमं लुब्धकम् ॥४४॥

अर्थः—आचार्य उपदेश देतेहैं कि राजारूपी जोमृग है वे अत्यंतचंचल तथा सिकारीकी हिरणीके समान इससंपदाको पाकर पुत्र भाई आदिक जो दूसरे मृग हैं उनको अत्यंत क्रोध तथा ईर्षासे मारते हैं किन्तु बड़ीभारी आपत्तिरूप धनुषका धारी तथा संहाररूपी बाणको हाथमें लियेहुवे और पासमें आयेहुवे क्रोधी यमराजरूपीहिंसककी ओर कुछ भी लक्ष्य नहीं देते यह आश्चर्यकी बात है ॥

भावार्थः—जिससमय कोई शिकारी हिरणोंके मारनेके लोभसे अपनी पालीहुई मृगीको बनमें छोड़ देता है तथा स्वयं हाथसे धनुष लेकर पासमें बैठ जाता है उससमय जिसप्रकार कामीमृग उसमृगीके लिये परस्परमें लड़ते हैं और एक दूसरेको मारते हैं तथा आईहुई आपत्तिपर कुछभी ध्यान न देकर व्यर्थमें मारे जाते हैं उसीप्रकार ये राजा भी शिकारीकी मृगीके समान इसलक्ष्मीको पाकर परस्परमें लड़ते हैं तथा उसलक्ष्मीकेलिये अपने प्रिय पुत्र आदिकोंको भी मारते हैं किन्तु इसबातपर कुछ भी लक्ष्य नहीं देते कि हमको आगे क्या २ आपत्ति भोगनी होंगी तथा हमारा कितने कालतक जीवन रहेगा क्योंकि

काल हमारे शिर पर छारहा है इसलिये विद्वानोंको चाहिये कि इसप्रकार दोनोंलोकके विगड़ने वाली लक्ष्मीके फंदेमें न पड़ें और उसको अपने हितकी करनेवाली भी न समझें ॥ ४४ ॥

मृत्योर्गोचरमागते निजजने मोहेन यः शोककृन्नो गन्धोऽपि गुणस्य तस्य वहवो दोषा पुनर्निश्चितम् ।
दुःखं वर्धत एव नश्यति चतुर्वर्गो मतेर्विभ्रमः पापं रुक्च मृतिश्च दुर्गतिरथस्याद्दीर्घसंसारिता ॥

अर्थः—जो मनुष्य अपने प्रियजनके मरजानेपर मोहके वशहोकर शोक करता है उसको किसीप्रकार गुणकी प्राप्ति तो होती नहीं किन्तु निश्चयसे उल्टे दोषही उत्पन्न होजाते हैं तथा दुःख पड़ता चला जाता है और धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, ये चारो पुरुषार्थ नष्ट होजाते हैं तथा वावला होजाता है और उसके पाप तथा रोगोंकी उत्पत्ति भी होजाती है और अंतमें मरभी जाता है पीछे दुर्गतिरूपीरथमें वैठकर चिरकालतक संसारमें भ्रमण करता रहता है इसलिये विद्वानोंको कदापि शोक नहीं करना चाहिये ॥ ४५ ॥

आर्या ।

आपन्मयसंसारे क्रियते विदुषा किमापदि विषादः ।
कस्त्रस्यति लङ्घनतः प्रविधाय चतुष्पथे सदनम् ॥ ४६ ॥

अर्थः—आचार्य कहते हैं कि यहसंसारतो आपत्तिस्वरूप है फिरभी नहीं मालूम वुद्धिमान पुरुष आपत्तिके आनेपर क्यों खेद करते हैं क्योंकि जो चौरास्तेपर मकान वनाता है वह क्या उसके उल्लंघन होने पर दुःखित होता है? कदापिनहीं ।

भावार्थः—जो मनुष्य चौरास्तेपर मकान वनावेगा उसकोतो दूसरे पथिक लल्लंघन करके अवश्यही जायगे । यदि मकानका मालिक उल्लंघन करनेपर खेदकरै तो उसका खेद करना व्यर्थही है उसीप्रकार जो मनुष्य इस

आपत्तिरूप संसारमें रहेगा तो उसको अवश्यही दुःख भोगने होंगे यदि वह दुःख भोगते समय खेदमाने तो उसका भी खेद मानना सर्वथा व्यर्थ है इसलिये जो मनुष्य खेद करना नहीं चाहता उसको ऐसा काम करना चाहिये कि वह फिर संसारमें न आवे ॥ ४६ ॥

वसन्ततिलका ।

वातूल एष किमु किं ग्रहसंगृहीतो भ्रान्तोऽथवा किमु जनः किमथ प्रमत्तः ।
जानाति पश्यति शृणोति च जीवितादि विद्युच्चलं तदपि नो कुरुते स्वकार्यम् ॥ ४७ ॥

अर्थः——आचार्य कहते हैं कि क्या इसमनुष्यको वाय आयगई है अथवा यह किसी भूत पिशाचने पकड़ लिया है वा वावला होगया है अथवा उन्मादी होगया है जो कि समस्त जीवन, धन, स्त्री, पुत्र, आदिको विजलीके समान चंचल तथा विनाशीक जानता है देखता है सुनता है तो भी अपने हितके करने वाले कार्यको अंशमात्रभी नहीं करता ॥ ४७ ॥

शार्दूलविक्रीडित ।

दत्तं चौषधमस्य नैव कथितः कस्याप्ययं मन्त्रिणो नोकुर्याच्छुचमेवमुन्नतमतिर्लोकान्तरस्थे निजे ।
यत्ना यान्ति यतोऽङ्गिनः शिथिलतां सर्वे मृतेः सन्निधौ बन्धाश्चर्मविनिर्मितापरिलसद्वर्षाम्बुसिक्ता इव ॥

अर्थः——अपने प्रिय मनुष्यके मरजानेपर बुद्धिमानोंको ऐसा शोक कदापि नहीं करना चाहिये कि मैंने इसको दवा नहीं दी अथवा किसी वैद्य अथवा मंत्रवादीको बुलाकर नहीं दिखाया क्योंकि जिसप्रकार चामके बंध वर्षाकालमें पानी पड़नेसे ढीले होजाते हैं उसीप्रकार मनुष्यकी मृत्युके समीपमें रहनेपर कियेहुवे भी प्रयत्न नहींकियेहुवेसे होजाते हैं ॥ ४८ ॥

शिखरिणी ॥

स्वकर्मव्याघ्रेण स्फुरितनिजकालादिमहसा समाघ्रातः साक्षाच्छरणरहिते संसृतिवने ।
प्रिया मे पुत्रा मे द्रविणमपि मे मे गृहमिदं वदन्नेवं मे, मे, पशुरिव जनो याति मरणम् ॥ ४९ ॥

अर्थः—जिसमें कोई शरण नहीं है ऐसे वनमें वलवान व्याघ्रसे पकड़ा हुवा दीन पशु जिसप्रकार मे, मे, करके मरजाता है उसीप्रकार शरणरहित इससंसाररूपीवनमें अपने काल आदि वलसंयुक्त कर्मरूपी व्याघ्रसे पकड़ा हुवा यहजन स्त्री मेरी है पुत्र मेरे हैं धन मेरा है यह घर मेरा है इसप्रकार मे, मे करता २ व्यर्थ मरजाता है इसलिये विद्वानोंको कदापि किसी पदार्थमें ममत्वबुद्धि नहीं रखनी चाहिये ॥ ४९ ॥

वसन्ततिलका ।

दिवानि खण्डानि गुरूणि मृत्युना विहन्यमानस्य निजायुषोभृशम् ।
पतन्ति पश्यन्नपि नित्यमग्रतः स्थिरत्वमात्मन्यभिमन्यते जड़ः ॥ ५० ॥

अर्थः—मृत्युसे नष्ट कियेहुवे अपने आयुके बड़े २ टुकड़े स्वरूप ये दिन सदा आगे आकर पड़ते हैं अर्थात् आयुके दिन प्रतिदिन क्षीण होते चलेजाते हैं इसवातको देखता हुवा भी यह अज्ञानी जीव अपनेको निश्चल अविनाशी मानता है यह बड़ा आश्चर्य है ॥ ५० ॥

शार्दूलविक्रीडित ।

कालेन प्रलयं व्रजन्ति नियतं तेऽपीन्द्रचन्द्रादयः का वार्तान्यजनस्य कीटसदृशोऽशक्तेरदीर्घायुषः ।
तस्मान्मृत्युमुपागते प्रियतमे मोहं मुधा मा कृथाः कालः क्रीड़ति नात्र येन सहसा तत्किञ्चिदन्विष्यताम्

अर्थः—जब बड़ी २ ऋद्धीके धारी इन्द्र चन्द्र सूर्य आदिक भी अपने कालके आने पर मरजाते हैं

॥१५९॥

तब कीटकके समान निर्बल तथा थोड़ी आयुवाले अन्यजनकी क्या बात ? अर्थात् वह तो अवश्यही मरैगा इसलिये आचार्य उपदेश देते हैं कि अपने प्रिय स्त्री, पुत्र, आदिके मरनेपर शोक न करके कोई ऐसा काम करो जिससे तुमको फिर न मरना पड़े ॥ ५१ ॥

संयोगो यदि विप्रयोगविधिना चेज्जन्म तन्मृत्युना सम्पच्चेद्विपदा सुखं यदि तदा दुःखेन भाव्यं ध्रुवम् ।
संसारेऽत्र मुहुर्मुहुर्बहुविधावस्थान्तरप्रोल्लसद्वेषान्यत्वनटीकृताङ्गिनि सतः शोको न हर्षः क्वचित् ॥

अर्थः—जिससंसारमें यह जीववारंवार नानाप्रकारकी जो दूसरी २ अवस्था उनमें नारकी, पशु, देव, आदिक नानावेषोंको धारणकर नटके समान स्थित है उससंसारमें यदि संयोग वियोगके साथ लगाहुवा है तथा जन्म मरणके साथ और संपत्ति विपत्तिके साथ लगी हुई है और सुख दुःखके साथ लगा हुवा है तब विद्वानोंको नतो किसी पदार्थमें शोक करना चाहिये न हर्षही करना चाहिये ॥

भावार्थः—इससंसारमें अपने कर्मके अनुसार जीव एकगतिसे दूसरीगतिमें जाकर नानाप्रकारके देव, मनुष्य, पशु, आदिक वेषोंको भी धारण करते हैं और जिन २ पदार्थोंका संयोग है उनका वियोगभी अवश्य होता है तथा जो उत्पन्न होता है वह अवश्य मरताभी है और जो धनी है वह निर्धन भी अवश्य होता है तथा जो सुखी है वह दुःखी भी अवश्य होता है, इसलिये आचार्य उपदेश देते हैं कि जो मनुष्य इसप्रकारके संसार के चरित्रको जानते हैं उनको संयोग संपति सुख आदिके होनेपर न तो हर्ष मानना चाहिये तथा वियोग विपत्ति दुःख आदिके होने पर शोक भी नहीं करना चाहिये ॥ ५२ ॥

लोकाश्चेतसि चिन्तयन्त्यनुदिनं कल्याणमेवात्मनः कुर्यात्सा भवितव्यता गतवती तत्तत्र यद्रोचते ।
मोहोल्लासवशादतिप्रसरतो हित्वा विकल्पान्बहून्रागद्वेषविषोज्झितैरिति सदा सद्भिः सुखंस्थीयताम् ॥

अर्थः—मनुष्य सदा इसप्रकारका विचार करते रहते हैं कि सदा हमको कल्याणकी प्राप्ति होवे किन्तु दैवयोगसे जैसा होना होता है होता वैसाही है अपना किया हुवा कुछभी नहीं होता इसलिये सज्जनोंको चाहिये कि वे मोहके वशसे फैले हुवे जो "सुख आदिकी वाञ्छारूप" नाना प्रकारके खोटे विकल्प उनको नाशकरके राग, द्वेष, रूपी विषसे रहित होकर अपने साम्यभावरूपीसुखमें स्थित रहै तभी उनको कल्याण की प्राप्ति होसक्ती है दूसरेप्रकारसे उनको कल्याणकी प्राप्ति कदापि नहीं हो सक्ती ॥ ५३ ॥

वसन्ततिलका ।

लोका 'गृहप्रियतमासुखजीवितादि' वाताहतध्वजपटाग्रचलं समस्तम् ।
व्यामोहमत्र परिहृत्य धनादिमित्रे धर्मे मतिं कुरुत किं वहुभिर्वचोभिः ॥ ५४ ॥

अर्थः—और भी आचार्य उपदेश देते हैं कि हेभव्यजीवो ये घर, स्त्री, पुत्र, जीवन, आदिक समस्तपदार्थ पवनसे कपायेहुवे ध्वजाके कपड़ेके अग्रभागके समान चंचल है इसलिये अधिक कहांतक कहाजावे धन, स्त्री, मित्र, आदिकमें फैले हुवे मोहको सर्वथा नाशकर धर्ममेंही अपनी वुद्धिको लगाओ ॥ ५४ ॥

'पुत्रादिशोकशिखिशान्तिकरी' यतीन्दुश्रीपद्मनन्दिवदनाम्बुधरप्रसूतिः ।
'सद्बोधसस्यजननी, जयतादनित्यपञ्चाशदुन्नतधियाममृतैकवृष्टिः ॥ ५५ ॥

अर्थः—पुत्र आदिमें फैलीहुई शोकरूपीअग्निको शान्त करनेवाली, तथा यतिओंमें उत्तम ऐसे जो पद्मनन्दीनामकयति उनका मुखरूपी जो मेघ उससे पैदा हुई, तथा श्रेष्टवोधरूपीधान्यको पैदा करनेवाली ऐसी यह अनित्यपञ्चाशत्‌रूपीजलकी वृष्टि सज्जनोंके हृदयमें सदा जयवन्त रहो ॥

भावार्थः—जिस प्रकार जलवृष्टि जलती हुई अग्निको बुझा देती है तथा मेघसे पैदा होती है और

धान्योंको पैदा करती है उसीप्रकार "अनित्यपञ्चाशत्" भी शोकको नाशकरने वाली है अर्थात् इसके पढ़नेसे उत्तममनुष्यको किसी प्रियसे प्रिय पदार्थके नाशहोनेपर भी शोक नहीं होता तथा मुनीन्द्र श्री पद्मनन्दीने इसका प्रतिपादन किया है और यह श्रेष्ठज्ञानको देनेवाली है इसलिये भव्यजीवों को इसका मनन अवश्य करना चाहिये ॥ ५५ ॥

इसप्रकार श्रीपद्मनन्दीआचार्यद्वारा रचित श्रीपद्मनन्दिपञ्चविंशतिकामें
अनित्यपञ्चाशत् नामक अधिकार समाप्तहुवा ॥



एकत्वसप्ततिः ।

अनुष्टुप ।

चिदानन्दैकसद्भावं परमात्मानमव्ययम् ।
प्रणमामि सदा शान्तं शान्तये सर्वकर्मणाम् ॥ १ ॥

अर्थः—चैतन्यस्वरूप आनन्दस्वरूप अविनाशी और शान्त ऐसेपरमात्माको सर्वकार्मोंकी शान्तिके लिये मैं नमस्कार करता हूं ॥

भावार्थः—जो परमात्मा चैतन्यस्वरूप है तथा आनन्दस्वरूप है और नित्य शश्वत तथा समस्त क्रोधादिकर्मोंसे रहित है ऐसा परमात्मा मुझे इस एकत्वनामकअधिकारके वर्णन करनेमें शांति प्रदानकरै ॥ १ ॥

खादिपञ्चकनिर्मुक्तं कर्माष्टकविवर्जितम् ।
चिदात्मकं परंज्योतिर्वन्दे देवेन्द्रपूजितम् ॥ २ ॥

अर्थः—जो चैतन्यस्वरूपतेज पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश कालसे सर्वथा भिन्न है तथा ज्ञानावरणादि-कर्मोंसे रहित है और जिसकी बड़े २ देव तथा इन्द्र आदिक सदा पूजनकरते हैं ऐसा वह चैतन्यस्वरूप ' उत्कृष्ट तेज ' मेरी रक्षाकरो अर्थात उसचैतन्यस्वरूपतेजको मस्तकनवाकर मैं नमस्कार करता हूं ॥ २॥

यदव्यक्तमबोधानां व्यक्तं सद्बोधचक्षुषाम् ।
सारं यत्सर्ववस्तूनां नमस्तस्मै चिदात्मने ॥ ३ ॥

अर्थः—जिसचैतन्यस्वरूपआत्माको ज्ञानरहित अज्ञानीपुरुष अनुभव नहीं करसक्ते हैं तथा अखंड ज्ञानके धारक ज्ञानी जिसका सदा अनुभव करते हैं और समस्तपदार्थोंमें जो सारभूत है ऐसे उसचैतन्य स्वरूपआत्माकेलिये मैं मस्तक झुकाकर नमस्कार करता हूं ॥ ३ ॥

चित्तत्वं तत्प्रतिप्राणिदेह एव व्यवस्थितम् ।
तमश्छन्ना न जानन्ति भ्रमन्ति च बहिर्बहिः ॥ ४ ॥

अर्थः—यद्यपि प्रत्येकप्राणीकी देहमें यह निर्मलचैतन्यरूपीतत्व विराजमान है तोभी जिनमनुष्यों की आत्मा अज्ञानान्धकारसे ढकीहुई हैं वे इसको कुछभी नहीं जानते हैं तथा चैतन्यसेभिन्न बाह्यपदार्थोंमें ही चैतन्यके भ्रमसे भ्रान्त होते हैं ॥ ४ ॥

भ्रमतोऽपि सदा शास्त्रजाले महति केचन ।
न विदन्ति परं तत्वं दारुणीव हुताशनम् ॥ ५ ॥

अर्थः—कईएक मनुष्य अनेकशास्त्रोंका स्वाध्याय भी करते हैं तो भी तीव्रमोहनीयकर्मके उदयसे भ्रान्तहोकर लकड़ीमें जिसप्रकार अग्नि नहीं मालूम होती उसीप्रकार चैतन्यस्वरूपआत्माको अंशमात्र भी नहीं जानते ॥५॥

केचित् केन्योपि कारुण्यात्कथ्यमानमपि स्फुटम् ।
न मन्यन्ते न शृण्वन्ति महामोहमलीमसाः ॥ ६ ॥

अर्थः—प्रवलमोहनीयकर्मसे अज्ञानीहुवे अनेकमनुष्य उत्तमपुरुषोंकर वताये हुवेभी आत्मतत्वको न तो मानते ही हैं तथा न सुनते ही हैं ॥ ६ ॥

धुरि धर्मात्मकं तत्त्वं दुःश्रुतेर्मन्दबुद्धयः ।
जात्यन्धहस्तिरूपेण ज्ञात्वा नश्यन्ति केचन ॥ ७ ॥

अर्थः—यद्यपि वस्तुका स्वरूप अनेकान्तस्वरूप है तोभी अनेक जड़वुद्धीमनुष्य, जन्मांध जिसप्रकार हाथी के एक २ भागकोही हाथी समझलेते हैं तथा नष्ट होजाते हैं उसीप्रकार एकान्त स्वरूप मानकरही नष्ट होतेहैं ॥

भावार्थः—किसीसमय कई एक अन्धेमनुष्योंको इसवातकी अभिलाषा हुई कि हम हाथी देखें इस लिये उन्होंने एक महावतसे इसवातका निवेदन भी किया कि वह हमको हाथी दिखावे अतएव किसी दिन उस महावतने उनके सामने लाकर हाथी खड़ाकर दिया तथा कहा कि जो तुमने हाथीके देखनेकेलिये निवेदन कियाथा उसीके अनुसार यह हाथी तुम्हारे सामने खड़ा है इसे तुम देखो फिर क्याथा ? अन्धे दोड़े तथा एक २ अंगको टटोलने लगगये जब देखचुके तब उनमेंसे प्रत्येकको पूछा गया कि हाथी कैसा था तो उन मेंसे जिसने हाथीकी पूंछका स्पर्शकियाथा वह झट वोल निकला कि हाथी लंबेवांसके समान होता है जब दूसरे से पूछा गया कि भाई हाथी कैसा होता है तब उसने कहा कि हाथी लंबा २ नहीं है किन्तु चाकीके पाटके समान गोल है क्योंके उसने हाथीके पैरहीका स्पर्श किया था । इसीप्रकार औरोंसे भी पूछागया तो उनमेंसे भी किसीने कैसा भी कहा किसीने किसी अंगको हाथी कहा तथा किसीने किसी अंगको हाथी कहा किन्तु हाथीके

समग्रस्वरूपको कोई भी वर्णन नहीं करसका इसलिये उनकी वे सर्ववातें मिथ्याही समझीगईं हां यदि वे इस प्रकारका एकान्त नहीं पकड़ते कि हाथी लंवाही होता है अथवा गोल ही होता है तो उनकी सबवातें सत्य समझी जातीं क्योंकि हाथी उन पूंछ पैर आदि अंगोंसे भिन्न कोई दूसरा पदार्थ नहीं था सर्व मिलेहुवे अंगोंकाही नाम हाथीथा उसीप्रकार यद्यपि वस्तुका स्वरूप अनेकान्त है तोभी वहुतसे दुर्बुद्धी एकधर्म अथवा दोही धर्मको वस्तु मानकर समग्रवस्तुका स्वरूप समझकर अपनेको सर्वज्ञ वननेका दावा रखते हैं किन्तु उनका उस प्रकारका अभिप्राय खोटाही अभिप्राय समझाजाता है क्योंकि वस्तु अनेकधर्मस्वरूप है हां यदि वे वस्तुमें एकही धर्म हैं अथवा दोही धर्म हैं एमा एकान्त न पकड़ै तो किसी रीतिसे उनका उसप्रकारका कहना निर्वाध समझा जासक्ता है क्योंकि वे धर्म वस्तुसे जुदे नहीं हैं उनधर्मस्वरूपही वस्तु है इसलिये उनधर्मोंके कहने से वस्तुका स्वरूप कथंचित् सचभी माना जासक्ता है इसलिये यह वात भलीभाति सिद्ध होचुकी कि वस्तु एकान्तात्मक नहीं है किन्तु अनेकान्तात्मकही है किन्तु जो एकान्तात्मक मानते हैं वे दुर्बुद्धी हैं ॥ ७ ॥

केचित्किञ्चित्परिज्ञाय कुतश्चिद् गर्विताशयाः।
जगन्मन्दं प्रपश्यन्तो नाश्रयान्ति मनीषिणः ॥ ८ ॥

अर्थः—कई एक मनुष्य कहींसे कुछ थोड़ीसी वात जानकर अपनेको बड़ा विद्वान मानलेते हैं तथा अपने सामने जगतभरके विद्वानोंको मूर्ख समझते हैं अतएव अहंकारसे वे विद्वानोंकी संगति भी नहीं करना चाहते ॥ ८ ॥

धर्मको परिक्षाकरके ग्रहण करना चाहिये इसवातको आचार्य दिखाते हैं।

जन्तुमुद्धरते धर्मः पतन्तं जन्मसङ्कटे।
अन्यथा स कृतो भ्रान्त्या लोकैर्ग्राह्यः परीक्षितः ॥ ९ ॥

संसार संकटमें फसेहुवे प्राणियोंका उद्धारकरनेवाला धर्म है किन्तु स्वार्थीदुष्टोंने उसको विपरीत ही करदिया है अर्थात् उनका मानाहुवा धर्मका स्वरूप संसारमें केवल डुवाने वाला ही है इसलिये भव्यजीवों को चाहिये कि वे भलीभांति परीक्षाकर धर्मको ग्रहण करैं ॥ ९ ॥

कौन धर्म प्रमाणकरनेयोग्य है इसवातको आचार्य दिखाते हैं ।

सर्वविद्वीतरागोक्तो धर्मः सूनृततां व्रजेत् ।
प्रामाण्यतो यतः पुन्सो वाचः प्रामाण्यमिष्यते ॥ १० ॥

समस्त लोकालोकके पदार्थोंके जाननेवाले तथा वीतरागीमनुष्यका कहा हुवा ही धर्म प्रमाणीक होता है क्योंकि मनुष्यके प्रामाण्यसे ही वचनोंमें प्रमाणता समझी जाती है इसलिये जव वीतराग तथा सर्वज्ञ प्रमाणीक पुरुष हैं तव उनका कहाहुवा धर्मभी प्रमाणीक ही है ऐसा समझना चाहिये ॥ १० ॥

बहिर्विषयसबन्धः सर्वः सर्वस्य सर्वदा ।
अतस्तद्भिन्नचैतन्यबोधयोगौ तु दुर्लभौ ॥ ११ ॥

अर्थः—समस्तबाह्यविषयोंका संवंध तो सबजीवोंके सदाकालही रहता है किन्तु वाह्य पदार्थोंके संवंध से जुदा जो ज्ञानानन्द स्वरूप चैतन्यका ज्ञान तथा संवंध है वह अत्यंत दुर्लभ है ॥

भावार्थः—अनादिकालसे बाह्यपदार्थोंका संवंधतो जीवोंके प्रतिक्षण लगा आया है इसलिये उसकातो सर्वजीवोंको अनुभव है परन्तु उसवाह्यसंवंधसे भिन्न अंतरंगमें चैतन्यका ज्ञान तथा उसका संबंध कभी नहीं हुवा है क्योंकि वह अत्यंत दुर्लभ है इसलिये भव्यजीवोंको चैतन्यकाही ज्ञान करना चाहिये तथा उसी-का अनुभव करना चाहिये ॥ ११ ॥

लब्धिपञ्चकसामिग्रीविशेषात्पात्रतां गतः ।
भव्यः सम्यग्दृगादीनां यः सः मुक्तिपथे स्थितः ॥ १२ ॥

अर्थः—जिसको सिद्धी होनेवाली है ऐसा जो भव्य, वह देशना १ प्रयोग्य २ विशुद्धि ३ क्षयोयशम ४ तथा करणलब्धि इसप्रकार इन पांचलब्धिस्वरूप सामिग्रीके विशेषसे सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक् चारित्र रूपी रत्नत्रयका पात्र बनता है अर्थात् रत्नत्रयको धारण करता है वही मोक्ष में स्थित है ऐसा समझना चाहिये।

भावार्थः—सत्यउपदेशका नामतो देशना है तथा पंचेंद्रीपना सैनीपना गर्भजपना मनुष्यपना ऊंचा कुल यह प्रायोग्य नामक लब्धि है तथा सर्वघातीप्रकृतियोंकातो उदयाभावीक्षय तथा देशघाती प्रकृतियों का उपशम यह क्षयोपशमलब्धि है तथा परिणामोंकी विशुद्धताकानाम विशुद्धिलब्धि है और अधःकरण अपूर्वकरण अनिवृत्तिकरण यह करणलब्धि है इन पांचप्रकारकी लब्धियोंके विशेषसे जो रत्नत्रयकाधारी है वही भव्यपुरुष शीघ्र मुक्तिको जाता है ॥ १२ ॥

सम्यग्दृग्बोधचारित्रं त्रितयं मुक्तिकारणम् ।
मुक्तावेव सुखं तेन तत्र यत्नो विधीयताम् ॥ १३ ॥

अर्थः—सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र इन तीनोंका समुदायही मुक्तिका कारण है और वास्तविक सुखकी प्राप्ति मोक्षमें ही है इसलिये भव्यजीवोंको उसीकेलिये प्रयत्न करना चाहिये ॥ १३ ॥

आचार्य सम्यग्दर्शनादिका स्वरूप दिखाते हैं ।

दर्शनं निश्चयः पुंसि बोधस्तद्बोध इष्यते ।
स्थितिरत्रैव चारित्रमितियोगः शिवाश्रयः ॥ १४ ॥

अर्थः—आत्माका निश्चयतो सम्यग्दर्शन है तथा आत्मकाज्ञान सम्यग्ज्ञान है और आत्मामें निश्चिल रीतिसे रहना सम्यक्चारित्र है तथा इनतीनोंकी जो एकता वही मोक्षका कारण है ॥ १४ ॥

एकमेव हि चैतन्यं शुद्धनिश्चयतोऽथवा ।
कोऽवकाशो विकल्पानां तत्राखण्डैकवस्तुनि ॥ १५ ॥

अर्थः—अथवा शुद्धनिश्चयनयसे एक चैतन्यही मोक्षका मार्ग है क्योंकि आत्मा एक अखंड पदार्थ है इसलिये उसमें सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक् चारित्र आदि भेदोंका अवकाश नहीं है अर्थात् अखंड तथा एक आत्माके सम्यग्दर्शन आदि टुकड़े नहीं होसक्ते ॥ १५ ॥

प्रमाणनयनिक्षेपा अर्वाचीने पदे स्थिताः ।
केवले च पुनस्तस्मिंस्तदेकः प्रतिभासते ॥ १६ ॥

अर्थः—जब तक आत्मा शुद्धात्मा नहीं हुवा है तभीतक इसमें प्रमाण तथा नय और निक्षेप भिन्न २ है ऐसे मालूम पड़ते हैं किन्तु जिससमय यह आत्मा शुद्धात्मा होजाता है उससमय इसमें केवल चैतन्य-स्वरूप आत्माही प्रतिभासता है ॥ १६ ॥

निश्चयैकदृशा नित्यं तदेवेकं चिदात्मकम् ।
प्रपश्यामि गतभ्रान्तिर्व्यवहारदृशा परम् ॥ १७ ॥

अर्थः—शुद्धनिश्चयनयसे यह आत्मा एक है नित्य है तथा चैतन्य स्वरूप है ऐसा मैं अनुभवकरनेवाला अनुभव करता हूं किन्तु व्यवहारनयसे प्रमाणस्वरूप तथा नय और निक्षेपस्वरूप भी मैं इसआत्माको भलीभांति देखता हूं ॥ १७ ॥

भावार्थः—शुद्धनिश्चयनयकी दृष्टिमें यह आत्मा एक, नित्य, तथा चैतन्यस्वरूपही है किन्तु व्यवहार नयकी अपेक्षासे इसमें प्रमाण तथा नय और निक्षेप आदि भेद दीखते हैं ॥ १७ ॥

अजमेकं परं शान्तं सर्वोपाधिविवर्जितम्
आत्मानमात्मना ज्ञात्वा तिष्ठेदात्मनि यःस्थिरः ॥१८॥
स एवामृतमार्गस्य सएवामृतमश्नुते
सएवार्हन् जगन्नाथः सएवप्रभुरीश्वरः ॥ १९ ॥

अर्थः—जो पुरुष जन्मरहित और एक तथा शान्तिस्वरूप और समस्तकर्मोंकररहित अपनेको अपनेही से जानकर अपनेमें ही निश्चलरीतिसे ठहरता है वही पुरुष मोक्षको जानेवाला है तथा वहीमनुष्य मोक्षसुखको प्राप्त होता है और वही अर्हन्त तथा जगन्नाथ और प्रभु तथा ईश्वर कहलाता है इसलिये भव्यजीवोंको अपनी आत्मामें अवश्य निश्चलरीतिसे ठहरना चाहिये ॥ १८ ॥ १९ ॥

केवलज्ञानदृक्सौख्यस्वभावं तत्परं महः।
तत्र ज्ञातेन किं ज्ञातं दृष्टे दृष्टं श्रुते श्रुतम् ॥ २० ॥

अर्थः—जो उत्कृष्ट आत्मस्वरूपतेज है वह केवलदर्शन, तथा केवलज्ञान, और अनंतसुखस्वरूपही है इसलिये जिसने इसतेजको जानलिया उसने सबकुछ जानलिया और जिसने इसतेजको देखलिया उसने सबकुछ देखलिया तथा जिसने इसतेजको सुनलिया उसने सबकुछ सुनलिया ऐसा समझना चाहिये ॥ २० ॥

इति ज्ञेयं तदेवैकं श्रवणीयं तदेव हि।
दृष्टव्यश्च तदेवैकं नान्यन्निश्चतो बधैः ॥ २१ ॥

अर्थः—इसलिये भव्यजीवोंको निश्चयसे एक चैतन्यस्वरूपही जाननेयोग्य है तथा वही एक सुनने योग्य है और वही देखने योग्य है किन्तु उससे भिन्न कोई भी वस्तु न तो जानने योग्य है तथा न सुनने योग्य है और न देखनेही योग्य है ऐसा समझना चाहिये ॥ २१ ॥

गुरूपदेशतोऽभ्यासाद्वैराग्यादुपलभ्य यत् ।
कृतकृत्यो भवेद्योगी तदेवैकं नचापरम् ॥ २२ ॥

अर्थः—गुरुके उपदेशसे तथा शास्त्रके अभ्याससे और वैराग्यसे जिसको पाकर योगीश्वर कृतकृत्य हो जाते हैं वह यही चैतन्यस्वरूपतेज है और कोई नहीं है ॥ २२ ॥

तत्प्रति प्रीतिचित्तेन येन वार्तापि हि श्रुता ।
निश्चितं स भवेद्भव्यो भाविनिर्वाणभाजनम् ॥ २३ ॥

अर्थः—जिसमनुष्यने प्रसन्नचित्तसे इसचैतन्यस्वरूपआत्माकी वातभी सुनली है वहभव्यपुरुष होने वाली मुक्तिका निश्चयसे पात्र होता है अर्थात वह नियमसे मोक्षको जाता है इसलिये मोक्षाभिलाषियोंको अवश्य ही इसचैतन्यस्वरूप आत्माका अनुभव करना चाहिये ॥ २३ ॥

जानीते यः परं ब्रह्म कर्मणः पृथगेकताम्ः ।
गतं तद्गतवोधात्मा तत्स्वरूपं स गच्छति ॥ २४ ॥

अर्थः—जो मनुष्य शुद्धात्मामें लीनहोकर कर्मोंसे भिन्न तथा एक ऐसे उसपरमब्रह्मपरमात्माको जानता है वह पुरुष परब्रह्मस्वरूपही होजाता है इसलिये भव्यजीवोंको परमात्माका अवश्य ध्यानकरना चाहिये ॥२४॥

केनापि परेण स्यात्संबन्धो बंधकारणम् ।
परैकत्वपदे शान्ते मुक्तये स्थितिरात्मनः ॥ २५ ॥

अर्थः—अन्यपदार्थोंकेसाथ जो आत्माका संबंधहोना है उससे केवल बंधही होता है तथा उसी आत्माका जो उत्कृष्ट शान्त और एकतारूप स्थानमें ठहरना है उससे मोक्षही होती है इसलिये मोक्षाभिलाषियों को परपदार्थोंसे ममत्वछोड़कर स्वस्वरूपमें ही लीन होनाचाहिये ॥ २५ ॥

विकल्पोर्मिभरत्यक्तः शान्तः कैवल्यमाश्रितः ।
कर्माभावे भवेदात्मा वाताभावे समुद्रवत् ॥ २६ ॥

अर्थः—पवनके थंभजानेपर जिसप्रकार समुद्र लहरियोंसे रहित, तथा क्षोभरहित, शांत, होजाता है उसीप्रकार जब इसआत्मासे सर्वथा कर्मोंका संबंध छूटजाता है उससमय यह आत्मा भी समस्तप्रकारके विकल्पोंकर रहित, तथा केवलज्ञानकरसहित, शान्त, होजाता है ॥

भावार्थः—यदि देखाजावे तो स्वभावसे समुद्र शान्त ही है किन्तु जिससमय पवन चलता है उससमय उसकी लहरी ऊंचेको उठतीं है तथा वह क्षुब्ध होजाता है परन्तु जिससमय पवन रुकजाता है उससमय फिर वहसमुद्र शान्त होजाता है उसीप्रकार निश्चयनयसे यह आत्मा भी शान्त ही है किन्तु कर्मके संबंधसे इसमें नानाप्रकारके विकल्प आकर खड़े होजाते हैं किन्तु जिससमय उनकर्मोंका संबंध छूट जाता है उस समय फिर वैसाका वैसाही आत्मा शान्त होजाता है ॥ २६ ॥

संयोगेन यदा यातं मत्तस्तत्सकलं परम् ।
तत्परित्यागयोगेन मुक्तोऽहमिति मे मतिः ॥ २७ ॥

अर्थः—सम्यग्दृष्टी इसप्रकारका चिंतवन करता रहता है कि जो वस्तु संयोगसे उत्पन्न हुई हैं वे सब मुझसे जुदी है तथा मुझै इसवातका ज्ञान है कि उनसंयोगसे पैदा हुई समस्तवस्तुओंके त्यागसे मैं मुक्त हूं मेरीआत्मामें किसीप्रकारके कर्मका संवंध नहीं है ॥ २७ ॥

किं मे करिष्यतः क्रूरौ शुभाशुभनिशाचरौ ।
रागद्वेषपरित्यागमोहमन्त्रेण कीलितौ ॥ २८ ॥

अर्थः—रागद्वेषरूपीप्रवलमंत्रसे कीलितहुवे तथा क्रूर ऐसे शुभ तथा अशुभ कर्मरूपी राक्षस मेरा क्या करैंगे ? कुछ भी नहीं करसक्ते ॥

भावार्थः—रागद्वेषके होनेसे ही शुभ तथा अशुभकर्मोंका वंध होता है यदि रागद्वेषका ही संवंध मेरी आत्माके साथ न रहैगा तो मेरा शुभ तथा अशुभकर्म कुछ भी नहीं करसक्ते ऐसा सम्यग्दृष्टि विचार करता रहता है

सवन्धेऽपि सति त्याज्यौ रागद्वेषौ महात्मभिः ।
विना तेनापि ये कुर्युस्ते कुर्युः किं न वातुलाः ॥ २९ ॥

अर्थः—सज्जनोंको चाहिये कि रागद्वेषके संवध होनेपर भी वे रागद्वेषका त्यागकरदेवे किन्तु जो लोग संवंधके न होने परभी रागद्वेषको करते हैं वे मनुष्य समस्तअनिष्टोंको पैदा करते हैं ॥

भावार्थः—रागद्वेषके होते संते अनेक प्रकारके अनिष्ट होते हैं इसलिये सज्जनोंको कदापि रागी तथा द्वेषी नहीं वनना चाहिये ॥ २९ ॥

मनोवाकायचेष्टाभिस्तद्विधं कर्म जृम्भते ।
उपास्यते तदेवैकं तेभ्योभिन्नं मुमुक्षुभिः ॥ ३० ॥

अर्थः——मन, वचन, कायकी चेष्टासे चेष्टानुसारकर्म वृद्धिको प्राप्तहोता है इसलिये मोक्षाभिलाषीभव्य पुरुष मन, वचन, कायसे भिन्न एक चैतन्यमात्रआत्माकी ही उपासना करते हैं ॥३०॥

द्वैततोद्वैतमद्वैतादद्वैतं खलु जायते ।
लोहाल्लोहमयं पात्रं हेम्नोहेममयं यथा ॥ ३१ ॥

अर्थः——जिसप्रकार लोहसे लोहमयी ही पात्रकी उत्पत्ति होती है तथा सुवर्णसे सुवर्णमयीही पात्रकी उत्पत्ति होती है उसीप्रकार द्वैतसे निश्चयसे द्वैतही होता है तथा अद्वैतसे अद्वैत ही होता है ॥

भावार्थः——कर्म तथा आत्माके मिलापका नामद्वैत है अतः जवतक कर्म तथा आत्माका मिलाप रहैगा तवतक तो संसारी ही रहैगा किन्तु जिससमय कर्म तथा आत्माका मिलाप छूट जावेगा तव मुक्त होजावेगा ॥

निश्चयेन तदेकत्वमद्वैतममृतं परम् ।
द्वितीयेन कृतं द्वैतं संसृतिर्व्यवहारतः ॥ ३२ ॥

अर्थः——निश्चयनयसे तो एकतारूप जो अद्वैत हैं वही मोक्ष है और व्यवहार नयसे कर्मोंकर किया हुवा जो द्वैत है वह संसार है ॥

भावार्थः——जबतक कर्मोंका संवंध रहता है तवतक तो संसार है किन्तु जिससमय कर्मोंका संवंध छूट जाता है उससमय मोक्ष है ॥ ३२ ॥

वंधमोक्षौ रतिद्वेषौ कर्मात्मनौ शुभाशुभौ ।
इति द्वैताश्रिता वुद्धिरसिद्धिरभिधीयते ॥ ३३ ॥

अर्थः——वंध और मोक्ष राग और द्वेष कर्म और आत्मा शुभ और अशुभ इसप्रकार द्वैतकर सहितजो

बुद्धि है वह असिद्धि है अर्थात् निजानन्द शुद्ध अद्वैतस्वरूपकी रोकनेवाली है ॥ ३३ ॥

उदयोदीरणासत्ता प्रबन्धः खलु कर्मणः ।
बोधात्मधाम सर्वेभ्यस्तदेवैकं परं परम् ॥ ३४ ॥

अर्थः——उदय उदीरणा तथा सत्ता इत्यादि समस्त कर्मोंकी ही रचना है किन्तु आत्मा इससमस्तरचना से भिन्न है उत्कृष्ट है तथा केवलज्ञानका धारी है ॥ ३४ ॥

क्रोधादिकर्मयोगेऽपि निर्विकारं परं महः ।
विकारकारिभिर्मेघैर्न विकारि नभोभवेत् ॥ ३५ ॥

अर्थ——काले पीले नीले घोड़ाके आकार हाथीके आकार इत्यादि अनेकविकारसहित बादलोंसे जिस प्रकार अमूर्तीक आकाश विकृत नहीं होता उसीप्रकार यद्यपि आत्माके साथ क्रोध आदि कर्मोंका संबंध है तो भी आत्मा विकार रहित ही है ॥ ३५ ॥

नामापिहि परं तस्मान्निश्चयात्तदनामकम् ।
जन्ममृत्यादिचाशेषं वपुर्धर्मं विदुर्बुधाः ॥ ३६ ॥

अर्थः——निश्चयनयसे आत्माका कोई नाम नहीं है वह नाम रहितही है और जो ये जन्म मरण आदि धर्म हैं वे शरीरके ही धर्म हैं ऐसा बड़े २ विद्वान् कहते हैं ॥ ३६ ॥

बोधेनापि युतिस्तस्य चैतन्यस्यतु कल्पना ।
सच तच्च तयोरैक्यं निश्चयेन विभाव्यते ॥ ३७ ॥

अर्थः——आत्मा ज्ञानकर सहित है यह तो चैतन्यस्वरूपआत्मामें कल्पनाही है क्योंकि शुद्धनिश्चयनयसे

आत्मा और ज्ञान एकही पदार्थ है ऐसा अनुभव गोचर है ॥ ३७ ॥

क्रियाकारकसंवन्धप्रवन्धोज्झित मूर्त्तियत् ।
एवं ज्योतिस्तदेवैकं शरण्यं मोक्षकांक्षिणाम् ॥ ३८ ॥

अर्थः—जो चैतन्यरूपी तेज क्रिया और कारकके संवंधकी रचनाकर रहित है वही एक मोक्षाभिलाषी भव्यजीवोंका परमशरण है ॥

भावार्थः—क्रिया कारकके संवंधकर रहित, तथा एक ऐसे चैतन्यस्वरूप तेजकी जो भव्यजीव उपासना करते हैं उनको मोक्ष मिलती है इसलिये भव्यजीवोंको ऐसे चैतन्यकी ही सदा उपासना करनी चाहिये ॥ ३८ ॥

तदेकं परमं ज्ञानं तदेकं शुचि दर्शनम् ।
चारित्रं च तदेकं स्यात् तदेकं निर्मलं तपः ॥ ३९ ॥

अर्थः—वह चैतन्यस्वरूप शुद्ध आत्माही तो ज्ञान है तथा वही दर्शन है और वही चारित्र है तथा वही तप है किन्तु उसशुद्धात्मासे भिन्न न कोई ज्ञान है तथा न कोई दर्शन है और न कोई चारित्र है तथा न कोई तपही है इसलिये भव्यजीवोंको आत्माकाही ज्ञान श्रद्धान आचरण आदि करना चाहिये ॥ ३९ ॥

नमस्यञ्च तदेवैकं तदेवैकञ्च मंगलम् ।
उत्तमञ्च तदेवैकं तदेव शरणं सताम् ॥ ४० ॥

अर्थः—वही एक चैतन्यस्वरूप आत्मा नमस्कार करनेयोग्य है तथा वही मंगलस्वरूप है और वही सर्व पदार्थोंमें श्रेष्ठ है तथा वही भव्यजीवोंका शरण है ॥ ४० ॥

आचारश्च तदेवैकं तदेवावश्यकक्रिया ।

स्वाध्यायस्तु तदेवैकमप्रमत्तस्य योगिनः ॥ ४१ ॥

अर्थः—प्रमादरहित योगीश्वरोंका जो चिदानन्दस्वरूप आत्माका ध्यान है वही तो आचार है, तथा वही आवश्यकक्रिया है तथा वही स्वाध्याय है, किन्तु उससे भिन्न आचार आदि कोई वस्तु नहीं हैं ॥ ४१ ॥

गुणशीलानि सर्वाणि धर्मश्चात्यन्तनिर्मलः ।
सम्भाव्यते परं ज्योतिस्तदेकमनुतिष्ठतः ॥ ४२ ॥

अर्थः—जो पुरुष उसचैतन्यस्वरूपआत्माका ध्यान करनेवाला है वही पुरुष चौरासीलाख उत्तरगुणों का धारी है तथा वही अठारहहजार शीलव्रतोंका धारी है और उसीपुरुषके निर्मलधर्म हैं ऐसा निश्चय है ॥४२॥

तदेवैकं परं रत्नं सर्वशास्त्रमहोदधेः ।
रमणीयेषु सर्वेषु तदेकं पुरतः स्थितम् ॥ ४३ ॥

अर्थः—समस्तशास्त्ररूपीविस्तीर्णसमुद्रका उत्कृष्टरत्न यह चैतन्यस्वरूप आत्माही है अर्थात् इसी रत्नकी प्राप्तिकेलिये शास्त्रोंका अध्ययन कियाजाता है तथा संसारमें जितनेभर मनोहरपदार्थ हैं उन सबपदार्थोंमें मनोहर तथा उत्कृष्ट पदार्थ यह चैतन्यस्वरूप आत्माही है इसलिये भव्यजीवोंको इस चैतन्यस्वरूपआत्मा का ही अच्छीतरहसे ध्यान करना चाहिये ॥ ४३ ॥

तदेवैकं परं तत्वं तदेवैकं परं पदम् ।
भव्याराध्यं तदेवैकं तदेवैकं परं महः ॥ ४४ ॥

अर्थः—वह चैतन्यस्वरूप आत्माही एक उत्तमतत्व है तथा वही एक उत्कृष्टस्थान है और वही एक भव्यजीवोंके आराधन करने योग्य है तथा वही एक अद्वितीय उत्तमतेज है ॥ ४४ ॥

शस्त्रं जन्मतरुच्छेदि तदेवैकं सतां मतम् ।
योगिनां योगिनिष्ठानां तदेवैकं प्रयोजनम् ॥ ४५ ॥

अर्थः—और वही चैतन्यस्वरूपीआत्मा जन्मरूपीवृक्षके नाशकरनेकेलिये शस्त्रके समान है अर्थात् चैतन्यस्वरूप आत्माके भलीभांति ध्यानके करनेसे सर्व जन्म मरण आदि नष्ट होजाते हैं तथा वही आत्मारूपी तेज भव्यजीवोंका मान्य है और वही ध्यानयुक्तयोगियोंका प्रयोजन है अर्थात् उसीकी प्राप्तिके लिये योगिगण सदा प्रयत्न करते रहते हैं ॥ ४५ ॥

मुमुक्षूणां तदेवैकं मुक्तेः पन्था न चापरः ।
आनन्दोऽपि न चान्यत्र तद्विहाय विभाव्यते ॥ ४६ ॥

अर्थः—मोक्षाभिलाषियोंकेलिये चैतन्यस्वरूप आत्माही मोक्षका मार्ग है आत्मासे अन्य कोई भी मोक्ष मार्ग नहीं है तथा आनंद भी आत्मामें ही है किन्तु उसके सिवाय और कहींपर भी आनन्द नहीं प्रतीत होता इसलिये भव्यजीवोंको इसीका ध्यान करना चाहिये ॥ ४६ ॥

संसारघोरघर्मेण सदा तप्तस्य देहिनः ।
यन्त्रधारागृहं शान्तं तदेव हिमशीतलम् ॥ ४७ ॥

अर्थः—संसाररूपीप्रबलतापसे निरंतर संतप्तप्राणियोंको वह चैतन्यस्वरूपआत्माही शांत तथा वरफके समान ठंढा, फव्वारासहित मकान है, अर्थात् जिसप्रकार धूपसे संतप्तमनुष्योंको फव्वारासहित शीतल मकानमें आराम मिलता है उसीप्रकार संसारके संतापसे खिन्नजीवोंको इसशांतआत्मामें लीन होनेसेही आराम मिलता है इसलिये भव्यजीवोंको सदा चैतन्यस्वरूपआत्माकाही अनुभव करना चाहिये ॥ ४७ ॥

तदेवैकं परं दुर्गमगम्यं कर्मविद्विषाम् ।
तदेवैतत्तिरस्कारकारि सारं निजं बलम् ॥ ४८ ॥

अर्थः—तथा वहींचैतन्यस्वरूपआत्मा एक ऐसा किला है कि जिसमें कर्मरूप वैरी कदापि प्रवेश नहीं करसक्ते और उनकर्मरूपी शत्रुओंका अपमान करनेवाला वही चैतन्य स्वरूप आत्मा एक उत्कृष्ट बल है ॥

भावार्थः—जो मनुष्य चैतन्यस्वरूप आत्माका ध्यान करते हैं उनका कर्मरूपी वैरी कुछ नहीं करसक्ते इसलिये भव्यजीवोंको शुद्धात्माकाही ध्यान करना चाहिये ॥ ४८ ॥

तदेव महती विद्या स्फुरन्मन्त्रस्तदेव हि ।
औषधं तदपि श्रेष्ठं जन्मव्याधिविनाशनम् ॥ ४९ ॥

अर्थः—और वही चैतन्यस्वरूपीतेज प्रबलविद्या है तथा वही स्फुरायमान मंत्र है और समस्त जन्म जरा आदिको नाश करनेवाली वही एक परमऔषधि है ॥ ४९ ॥

अक्षयस्याक्षयानन्दमहाफलभराश्रियः ।
तदेवैकं परं बीजं निःश्रेयसलसत्तरोः ॥ ५० ॥

अर्थः—और उसी शुद्धात्मारूपीतेजसे अविनाशी तथा अक्षय सुखरूपीउत्तमफलकेदेनेवाले मोक्ष-रूपीमनोहरवृक्षकी उत्पत्ति होती है ॥

भावार्थः—जो पुरुष उस शुद्धात्माका अनुभव मनन ध्यान करते हैं उनको अक्षयसुखकी देनेवाली मोक्ष लक्ष्मीकी प्राप्ति होती है इसलिये भव्यजीवोंका सदा उसआत्माकाही चिंतवन करते रहना चाहिये ॥५०॥

तदेवैकं परं विद्धि त्रैलोक्यगृहनायकम् ।
येनैकेन विना शङ्के वसदप्येतदुद्वसम् ॥ ५१ ॥

अर्थः—आचार्य कहते हैं कि हेभव्यजीवो तीनलोकरूपीघरका स्वामी उसीचैतन्यस्वरूपतेजको तुम समझो क्योंकि मैं ऐसी शंकाकरता हूं कि इसएकचैतन्यस्वरूपतेजके विना यह तीनलोकरूपी घर भी वनके समान है॥

भावार्थः—यद्यपि यहलोक जीवाजीवादि छै द्रव्योंसे भराहुवा है तो भी इसमें जाननेवाला एक आत्माही है और इसके सिवाय समस्तलोक जड़ही हैं इसलिये यह आत्माही तीनलोकोंका राजा है अतः उत्तम फलके चाहनेवाले भव्यजीवोंको इसीमें लीन रहना चाहिये ॥ ५१ ॥

शुद्धं यदेव चैतन्यं तदेवाहं न संशयः ।
कल्पनयानयाप्येतद्धीनमानन्दमन्दिरम् ॥ ५२ ॥

अर्थः—जो निराकार, निरंजन, शुद्ध, चिद्रूप है सो मैंही हूं इसमें किसीप्रकारका संशय नहीं है इस प्रकार की कल्पना से भी वह आनन्दस्वरूप शुद्धात्मा रहित है ॥

भावार्थः—जो शुद्ध चैतन्य स्वरूप है वह मैंही हूं इसमें सिकीप्रकारका संशय नहीं इसप्रकारकी भी कल्पना उस शुद्धात्मामें नहीं है इसलिये शुद्धात्मा समस्तप्रकारकी कल्पनाओंसे रहितही है ॥५२॥

मोक्षकेलिये की हुई इच्छा भी ठीक नहीं ऐसा आचार्य बताते हैं ।

स्पृहा मोक्षेऽपि मोहोत्था तन्निषेधाय जायते ।
अन्यस्मै तत्कथं शान्ता स्पृहयन्ति मुमुक्षवः ॥ ५३ ॥

अर्थः—मोहके हे.तेसन्तहीं इच्छा होती है इसलिये आचार्य उपदेश देते हैं कि यदि मोक्षकेलिये

भी मोहसे पैदाहुई इच्छा होजावे तो वही जब मोक्षके रोकनेवाली हो जाती है तब शान्त तथा मोक्षभिलाषी मनुष्य अन्यपदार्थोंकेलिये कैसे इच्छा करसक्ते हैं ! ॥ ५३ ॥

ज्ञानीमनुष्य इसबातका विचार करते हैं ।

अहं चैतन्यमेवैकं नान्यत्किमपि जातुचित् ।
सबन्धोऽपि न केनापि दृढपक्षो ममेदृशः ॥ ५४ ॥

अर्थः—मैं एक चैतन्यस्वरूपही हूं चैतन्यसे भिन्न नहीं हूं और मेरा निश्चयनयसे किसी दूसरे पदार्थ केसाथ संबन्ध भी नहीं है यह मेरा प्रवल सिद्धान्त है ॥ ५४ ॥

शरीरादिवहिश्चिन्ताचक्रसम्पर्कवर्जितम् ।
विशुद्धात्मस्थितं चित्तं कुर्वन्नास्तेनिरन्तम् ॥ ५५ ॥

अर्थः—वाह्यशरीर आदि पदार्थों की चिन्ता छोड़कर रागद्वेष आदिमलोंसे रहित तथा निर्मल अपनी आत्मामें ही चित्त को लगाते हैं ॥ ५५ ॥

एवं सति यदेवास्ति तदस्तु किमिहापरैः ।
आसाद्यात्मन्निदं तत्वं शान्तो भव सुखी भव ॥ ५६ ॥

अर्थः—इसप्रकार पूर्वोक्तरीतिसे आत्माके चिंतवनसे जो होता है सो हो दूसरे २ विचारों से क्या प्रयोजन है इसप्रकारके वास्तविकस्वरूपको प्राप्त होकर अरे आत्मा तू शान्त हो तथा सुखी हो इसप्रकार ज्ञान अपनी आत्माको शिक्षा देता रहता है ॥ ५६ ॥

आपारंजन्मसन्तानपथभ्रान्तिकृतश्रमम् ।
तत्वामृतमिदं पीत्वा नाशयन्तु मनीषिणः ॥ ५७ ॥

अर्थः—आचार्य उपदेश देते हैं कि हेभव्यपुरुषो इस कहेहुवे चैतन्यामृतका पानकरो तथा इसअपार संमारमें अनन्त तिर्यंच नरक आदि पर्यायोंमें भ्रमरणकरनेसे जो खेद हुवा है उसको शान्त करो ॥ ५७ ॥

अतिसूक्ष्ममतिस्थूलमेकं चानेकमेव तत् ।
स्वसंवेद्यमेवद्यञ्च यदक्षरमनक्षरम् ॥ ५८ ॥

अनौपम्यमनिर्देश्यमप्रमेयमनाकुलम् ।
शून्यं पूर्णं च यन्नित्यमनित्यं च प्रचक्ष्यते ॥ ५९ ॥

निश्शरीरं निरालम्बं निश्शब्दं निरुपाधि यत् ।
चिदात्मकं परंज्योतिरवाङ्मानसगोचरम् ॥ ६० ॥

इत्यत्र गहनेऽत्यन्तदुर्लक्ष्ये परमात्मनि ।
उच्यते यत्तदाकाशं प्रत्यालेख्यं विलिख्यते ॥ ६१ ॥

अर्थः—आचार्य कहते हैं वह चैतन्यरूपीतेज अत्यन्त सूक्ष्म भी है और अत्यन्त स्थूल भी है, और एक भी है अनेक भी है, स्वतंवेद्य भी है अवेद्य भी है, अक्षर भी है, अनक्षरमी है, तथा उपमारहित है, अवक्तव्य है, अप्रमेय है, आकुलता रहित है, और शून्य भी है, पूर्ण भी है, नित्य भी है, अनित्य भी है, और शरीर रहित है, आश्रय रहित है शब्दरहित है, उपाधिरहित है, तथा चैतन्यस्वरूपपरमतेजका धारी है, और न उसको बचनसेही कहसक्ते हैं तथा न उसका मनसे चिंतवन करसक्ते हैं, इसप्रकार यह परमात्मा अगम्य तथा दृष्टि के अगोचर है इसलिये

जिसप्रकार अमूर्तीकआकाश पर चित्र लिखना कठिन है उसीप्रकार परमात्माका वर्णन करना भी अत्यंत कठिन है ॥

भावार्थः—इसअमूर्तीक परमात्माको इन्द्रियोंसे नहीं देखसक्ते इसलिये तो वह सूक्ष्म है और केवल दर्शन तथा केवलज्ञानसे देखा और जाना जासक्ता है इसलिये वह स्थूल भी है तथा सदा अपने स्वरूपमें विद्यमान रहता है और परपदार्थोंसे भिन्न है इसलिये शुद्धनिश्चयनयसे यह एक भी है और पर्यायार्थिकनयकी अपेक्षा से इसकी अनेक ज्ञान दर्शन आदि पर्याय मोजूद हैं इसलिये यह अनेक भी है, तथा अहम् २ इत्याकारक स्वसंवेदनप्रत्यक्षके गोचर है अर्थात अपनेसे जाना जाता है इसलिये तो स्वसंवेद्य है और इन्द्रियोंसे यह नहीं जाना जासक्ता इसलिये यह अवेद्य भी है तथा व्यवहारनयसे बचनसे कुछ कहा जाता है इसलिये तो यह अक्षर है किन्तु शुद्धनिश्चयनयसे इसको कुछ भी नहीं कहसक्ते इसलिये यह अनक्षर भी है अथवा "जिसका नाश न होवे वह अक्षर है" यदि ऐसा अक्षर शब्दका कर्थ करेंगे तोभी शुद्धनिश्चयनयसे तो यह अक्षर ही है क्योंकि शुद्धनिश्चयनयसे इसका कुछभी नाश नहीं होता तथा व्यहारनयसे यह अनक्षर (विनाशीक) भी है क्योंकि प्रतिसमय इसकी पर्याय पलटतीं रहतीं है और इसकी समानताको धारण करनेवाला कोई पदार्थ नहीं है इसलिये यह उपमा रहित भी है तथा इसके वास्तविक स्वरूपको कुछभी कह नहीं सक्ते इसलिये यह अवक्तव्य भी है और इसके 'केवलज्ञानरूपी, गुणोंका किसी क्षेत्र आदिके द्वारा परिमाण नहीं किया जासक्ता अर्थात् वह समस्त लोक तथा अलोकका प्रकाश करनेवाला है इसलिये यह अप्रमेय भी है और यह अचिंत्य सुखका भण्डार है इसलिये आकुलता रहित भी है तथा यह परद्रव्य क्षेत्र काल भावकी अपेक्षासे रहित है इसलिये शून्यभी है और समस्त ज्ञान, दर्शन, सुख, आदि गुणोंसे भराहुवा है इसलिये यह पूर्ण भी है और द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षा इसका विनाश नहीं होता इसलिये यह नित्य भी है तथा पर्यायार्थिक नयकी

अपेक्षा इसका प्रतिसमय विनाश होता रहता है इसलिये वह अनित्य भी है और इसका कोई शरीर नहीं इसलिये यह शरीररहित है और इसका कोई आश्रय (आधार) नहीं इसलिये यह आश्रय रहित भी है और यह तो चेतन है तथा शब्द पुद्गल है इसलिये यह शब्दरहित भी है तथा इसके साथ निश्चयनयसे किसी प्रकारकी कर्मोंकी उपाधि नहीं लगी हुई है इसलिये यह उपाधि रहित है और यह चैतन्यस्वरूप ज्योति है और इसको वचनसे कह नहीं सक्ते तथा मनसे विचार नहीं सक्ते इसलिये यह वाणी तथा मनका अगोचर भी है इसलिये इसप्रकारके शुद्धात्माका वर्णन करना अल्पज्ञानियोंकेलिये कठिनहै॥ ५८ । ५९ । ६० । ६१ ॥

अस्तां तत्र स्थितो यस्तु चिंतामात्रपरिग्रहः ।
तस्यात्र जीवितं श्लाघ्यं देवैरपि स पूज्यते ॥ ६२ ॥

अर्थः—जो पुरुष उसशुद्धात्मामें तिष्ठने वाला है वहतो दूररहो किंतु जो पुरुष इसशुद्धात्माका चिंतवन करनेवाला है उसकाभी जीवन इससंसारमें अत्यंतप्रशंसनीय है तथा उसकी बड़े २ देव आकर पूजा सेवा आदि करते हैं इसलिये भव्यजीवोंको सदा शुद्धात्माका ही ध्यान करना चाहिये ॥ ६२ ॥

सर्वविद्भिरसंसारैः सम्यग्ज्ञानविलोचनैः ।
एतस्योपासनोपायः साम्यमेकमुदाहृतम् ॥ ६३ ॥

अर्थः—समस्तपदार्थोंके जाननेवाले तथा कर्मोंकररहित तथा केवलज्ञानरूपी नेत्रके धारी केवली भगवान इस शुद्धात्माकी उपासना करनेका उपाय समता ही है ऐसा कहते हैं ॥

भावार्थः—समस्त पदार्थोंमें समता रखनेसेही इस आत्माकी भलीभांति आराधना होसक्ती है इसलिये आत्माकी उपासना करनेवाले भव्यजीवोंको समस्तपदार्थों में अवश्य समता रखनी चाहिये ॥ ६३ ॥

साम्यं स्वास्थ्यं समाधिश्च योगश्चेतोनिरोधनम्।
शुद्धोपयोग इत्येते भवन्त्येकार्थवाचकाः ॥ ६४ ॥

अर्थः—साम्य, स्वास्थ्य, समाधि, योग, चित्त, निरोध, शुद्धोपयोग, ये सर्वशब्द एकही अर्थके कहनेवाले हैं अर्थात् इन शब्दोंके नाम जुदे २ हैं किन्तु अर्थ एकही है ॥ ६४ ॥

और भी आचार्यवर साम्यहीके स्वरूपका वर्णन करते हैं।

नाकृतिर्नाक्षरं वर्णो नो विकल्पश्च कश्चन।
शुद्धचैतन्यमेवैकं यत्र तत्साम्यमुच्यते ॥ ६५ ॥

अर्थः—जिसमें न कोई आकार है और न कोई अक्षर है और न कोई नीलाआदि वर्ण है और न जिसमें कोई विकल्प है किन्तु जिसमें केवल एक चैतन्यही है वही साम्य है ॥ ६५ ॥

साम्यमेकं परं कार्यं साम्यं तत्वं परं स्मृतम्।
साम्यं सर्वोपदेशानामुपदेशो विमुक्तये ॥ ६६ ॥

अर्थः—साम्यही एक उत्कृष्ट कार्य है और साम्यही एक उत्तम तत्व है तथा साम्यही मुक्तिकेलिये समस्तउत्तमउपदेशोंमेंसे उपदेश है ॥ ६६ ॥

साम्यं सद्बोधनिर्माणं शश्वदानन्दमन्दिरम्।
साम्यं शुद्धात्मनोरूपं द्वारं मोक्षैकसद्मनः ॥ ६७ ॥

अर्थः—इस साम्यसेही भव्यजीवोंको सम्यग्ज्ञानकी प्राप्ति होती है तथा इससाम्यसेही अविनाशी सुख मिलता है और यह साम्यही शुद्धात्माका स्वरूप है तथा यह साम्यही मोक्षरूपी मकानका द्वार है ॥ ६७ ॥

॥१८४॥

साम्यं निश्शेषशास्त्राणां सारमाहुर्विपश्चितः ।
साम्यं कर्ममहादावदाहे दावानलायते ॥ ६८ ॥

अर्थः—समस्तशास्त्रोंका सारभूत यह साम्यही है और यही साम्य समस्तकर्मरूपीवनके जलानेमें दावानलके समान है ऐसा गणधर आदि देव कहते हैं ॥

भावार्थः—शास्त्रके अध्ययनकरनेसे समताकी प्राप्ति होती है तथा समताके होने पर समस्तकर्मोंका नाश होजाताही इसलिये भव्यजीवोंको साम्यकी और अवश्य ऋजु होना चाहिये ॥ ६८ ॥

साम्यं शरण्यमित्याहुर्योगिनां योगगोचरम् ।
उपाधिरचिताशेषं दोषक्षपणकारणम् ॥ ६९ ॥

अर्थः—और यह साम्यही समस्तदुःखोंके दूरकरनेमें समर्थ है तथा ध्यानीपुरुषही इसका ध्यान करते हैं और यह साम्यही आत्मा और कर्मोंके संबंधसे उत्पन्नहुवे जो रागादिदोष उनको सर्वथा नष्टकरने वाला है इसलिये भव्यजीवोंको सदा साम्यकाही मनन करना चाहिये ॥ ६९ ॥

निस्पृहायाणिमाद्यब्जखण्डे साम्यसरोजुषे ।
हंसाय शुचये मुक्तिहंसीदत्तदृशे नमः ॥ ७० ॥

अर्थः—अणिमा महिमा आदि रूपजो कमलखण्ड उसकी जिसके अंशमात्रभी इच्छा नहीं है तथा जो समतारूपीसरोवरमें सदा प्रीतिपूर्वक रमण करनेवाला है और जिसकी दृष्टि मोक्षरूपी हंसीमें लगी हुई है और जो अत्यंतपवित्र है ऐसे परमहंस उसशुद्धात्माकेलिये मेरा नमस्कार है ॥ ७० ॥

ज्ञानिनोमृतसंगाय मृत्युस्तापकरोऽपि सन् ।

आमकुम्भस्य लोकेस्मिन् भवेत् पाकविधिर्यथा ॥ ७१ ॥

अर्थः—जिसप्रकार मिट्टीके कच्चेघड़ेकेलिये पकानेकी विधि एकप्रकारसे तापकीही उपजानेवाली है तो भी वहपाकविधि घड़ेको अमृत (जल) के संगमकरानेवाली होती है अर्थात पकजानेपरही घड़ा पानी के भरनेके योग्य होता है उसीप्रकार यद्यपि वहिरात्माओंको मृत्यु, दुःखके देनेवाली है तोभी ज्ञानियोंकेलिये वह अमृत (मोक्ष) के समागमकेही लिये होती हैं अर्थात् ज्ञानीपुरुष सदा मृत्युके नाशके लियेही प्रयत्न करते रहते हैं तथा चेतन्य स्वरूपसे भिन्नही मृत्युको मानते हैं इसलिये मृत्युके होनेपरभी उनको दुःख नहीं होता॥७१॥

मानुष्यं सत्कुले जन्म लक्ष्मीर्बुद्धिः कृतज्ञता ।
विवेकेन विना सर्वं सदप्येतन्न किञ्चन ॥ ७२ ॥

अर्थः—जो मनुष्य विवेकी नहीं हैं उसका मनुष्यपना, उच्चमकुलमें जन्म, धन, ज्ञान, और कृतज्ञपना, होकर भी, निष्फलही हैं इसलिये मनुष्योंको विवेकी अवश्य होना चाहिये ॥ ७२ ॥

विवेक किसको कहते हैं इसबातको आचार्यवर वतलाते हैं

चिदचिद्द्वे परे तत्वे विवेकस्तद्विवेचनम् ।
उपादेयमुपादेयं हेयं हेयञ्च कुर्वतः ॥ ७३ ॥

अर्थः—संसारमें चेतन तथा अचेतन दोप्रकारके तत्व हैं उनमें ग्रहणकरने योग्यको ग्रहणकरनेवाले तथा त्यागकरनेयोग्यको त्यागकरनेवालेपुरुषका जो विचार है उसीको विवेक कहते हैं ॥

भावार्थः—चैतन्यस्वरूप आत्मातो ग्रहण करने योग्य है तथा जड़ शरीर आदि त्यागने योग्य है ऐसा जो विचार है उसीका नाम विवेक है ॥ ७३ ॥

दुःखं किञ्चित्सुखं किञ्चिच्चित्ते भाति जड़ात्मनः ।
संसारेऽत्र पुनर्नित्यं सर्वं दुःखं विवेकिनः ॥ ७४ ॥

अर्थः—मूर्खपुरुषोंको तो इससंसारमें कुछ सुख तथा कुछ दुःख मालूम पड़ता है किन्तु जो हिताहित-के जाननेवाले विवेकी हैं उनकोतो इससंसारमें सब दुःखही दुःख निरन्तर मालूम पड़ता है ॥ ७४ ॥

हेयञ्च कर्मरागादि तत्कार्यञ्च विवेकिनः ।
उपादेयं परंज्योतिरुपयोगैकलक्षणम् ॥ ७५ ॥

अर्थः—विवेकीपुरुषको ज्ञानावरणादिकर्मोंका तथा उनके कार्यभूत रागादिकोंका अवश्यही त्याग कर-देना चाहिये और ज्ञान दर्शन स्वरूप इसउत्कृष्टआत्मतेजको ही ग्रहणकरना चाहिये ॥ ७५ ॥

ज्ञानीमनुष्य इसबातका विचार करतेरहते हैं ।

इन्द्रवज्रा ।

यदेव चैतन्यमहं तदेव तदेव जानाति तदेव पश्यति ।
तदेव चैकं परमस्ति निश्चयाद्गतोऽस्मि भावेन तदेकतां परम् ॥ ७६ ॥

अर्थः—जो चैतन्य है सो मैंही हूं और वही चैतन्य पदार्थोंको जानता है तथा देखता है और वही एक उत्कृष्ट है और निश्चयनयसे स्वभावसे मैं तथा चैतन्य अत्यंत अभिन्न हूं ॥ ७६ ॥

वसन्ततिलका ।

एकत्वसप्ततिरियं सुरसिन्धुरुच्चैः श्रीपद्मनन्दिहिमभूधरतः प्रसूता ।
यो गाहते शिवपदाम्बुनिधिं प्रविष्टामेतां लभेत स नरः परमां विशुद्धिम् ॥ ७७ ॥

अर्थः—यह एकत्वसप्ततिरूपीगंगानदी अत्यंतउन्नत ऐसे श्रीपद्मनन्दीनामकहिमालयपर्वतसे पैदा हुई है तथा मोक्षपदरूपीसमुद्रमें जाकर मिली है इसलिये जोभव्यजीव उसनदीमें स्नान करते हैं इनके समस्तमलों नाशहोजाते हैं और वे अत्यन्त विशुद्ध होजाते हैं ।

भावार्थः—जो भव्यजीव इस एकत्वसप्ततिनामकअधिकारका चिंतवन मनन करते हैं उनके समस्त रागादि दोष दूर होजाते हैं अतः वे अत्यंत शुद्ध होजाते हैं और मोक्षके प्राप्तहोते हैं इसलिये उत्तमपुरुषोंको सदा इसका ध्यान चिंतवन करना चाहिये ॥ ७७ ॥

संसारसागरसमुत्तरणैकसेतुमवं सतां सदुपदेशमुपाश्रितानाम् ।
कुर्यात्पदं मललवोऽपि किमन्तरङ्गे सम्यक् समाधिविधिसान्निधिनिस्तरङ्गे ॥ ७८ ॥

अर्थः—जिन सज्जनपुरुषोंने संसारसमुद्रसे पारकरनेमें पुलके समान इसउत्तम उपदेशका आश्रय कियाहै उनसज्जनपुरुषोंके उत्तमआत्मध्यानके करनेसे क्षोभरहितअतरगमें किसीप्रकारका रागादिमल नहीं रहसक्ता

भावार्थः—इस एकत्वअधिकारके उपदेशसे जिन भव्यजीवोंका मन अत्यन्तनिर्मल होगया है उन भव्यजीवोंके मनमें किसीप्रकारका मल-प्रवेश नहीं करसक्ता ॥ ७८ ॥

निर्मलचित्तहोकर ज्ञानी ऐसा बिचार करता है ।

शार्दूलविक्रीडित ।

आत्मा भिन्नस्तदनुगतिमत्कर्म भिन्नं तयोर्या प्रत्यासत्तेर्भवति विकृतिः सापि भिन्ना तथैव ।
कालक्षेत्रप्रमुखमपि यत्तच्च भिन्नं मतं मे भिन्नं भिन्नं निजगुणकलालङ्कृतं सर्वमेतत् ॥ ७९ ॥

अर्थः—यह ज्ञानस्वरूप मेरा आतमा भिन्न है और उसके पीछे चलनेवाला कर्म भी भिन्न है तथा कर्म

और आत्माके संबन्धसे जो कुछ विकार हुवा है वह भी मुझसे भिन्न है और काल क्षेत्र आदिक जो पदार्थ है वे भी मुझसे भिन्न है इसप्रकार अपने २ गुण तथा अपनी २ पर्यायोंसे सहित जितने भर पदार्थ है सर्व मुझ से भिन्नही भिन्न है इसप्रकार ज्ञानीसदा विचार करता रहता है ॥ ७९ ॥

वसन्ततिलका ।

येऽभ्यासयन्ति कथयन्ति विचारयन्ति सम्भावयन्ति च मुहुर्मुहुरात्मतत्वम् ।
ते मोक्षमक्षयमनूनमनन्तसौख्यं क्षिप्रं प्रयान्ति नवकेवललब्धिरूपम् ॥ ८० ॥

अर्थः—आचार्य उपदेश देते हैं कि जो भव्यजीव उसआत्मतत्वका बारंबार अभ्यास करते हैं और कथन करते हैं तथा विचार और अनुभव करते हैं वे भव्यजीव अविनाशी, और महान् तथा अनन्त दर्शन, क्षायक ज्ञान, और क्षायकचारित्र, आदि नौ केवललब्धिस्वरूपसुखके भण्डार ऐसे मोक्षपदको बात की वातमें पालेते है इसलिये भव्यजीवोंके सदा इसआत्मतत्वका चिंतवन करना चाहिये ॥ ८० ॥

इसप्रकार श्रीपद्मनन्दिआचार्य विरचित पद्मनन्दिपञ्चविंशतिकामें
एकत्व सप्तति नामक अधिकार समाप्त हुवा ॥

यतिभावनाष्टक ।

आदाय व्रतमात्मतत्वममलं ज्ञात्वाथ गत्वा वनं निश्शेषामपि मोहकर्मजनितां हित्वा विकल्पावलिम् ।
ये तिष्ठन्ति मनोमरुच्चिदचलैकत्वप्रमोदं गताः निष्कम्पा गिरिवज्जयन्ति मुनयस्तेसर्वसङ्गोज्झिताः ॥१॥

अर्थः—व्रतको ग्रहणकर, तथा निर्मलआत्माके स्वरूपको जानकर, और वनमें जाकर, तथा मोहकर्म

से पैदाहुवे समस्तविकल्पोंको नष्टकर, समस्तप्रकारके परिग्रहोंसे रहित जो मुनिगण मनरूपीपवनसे नहीं चलायमान ऐसे चैतन्यकी एकतामें हर्ष सहित है अर्थात् अपने आत्मध्यानमें लीन हैं और पर्वतके समान निश्चल स्थित है वे मुनिगण सदा इसलोकमें जयवन्त हैं ॥ १ ॥

मुनिगण इसप्रकारकी भावनाओं का चिंतवन करते हैं।

शार्दूलविक्रीड़ित।

चेतोवृत्तिनिरोधनेन करणग्रामं विधायोद्वसं तत्संहृत्य गतागतौ च मरुतो धैर्यं समाश्रित्य च।
पर्यङ्केन मया शिवाय विधिवच्छून्यैकभूभृद्दरीमध्यस्थेन कदाचिदर्पितदृशा स्थातव्यमन्तर्मुखम् ॥२॥

अर्थः—चित्तकी वृत्तिको रोककर तथा इन्द्रियोंको उजाड़कर (वशकर) और श्वासोच्छ्वासको रोककर तथा धीरताको धारणकर और पर्यंक आसनमाड़कर (पालती मारकर) और आनन्दस्वरूपचैतन्यकी तरफ दृष्टि लगाकर निर्जनपर्वतकी गुफामें बैठकर मैं कब आत्मध्यान करूंगा ? ॥ २ ॥

धूलीधूसरितं विमुक्तवसनं पर्यङ्कमुद्रागतं शान्तं निर्वचनं निमीलितदृशं तत्वोपलम्भे सति।
उत्कीर्णं दृषदीव मां वनभुवि भ्रान्तो मृगाणां गणः पश्यत्युद्गतविस्मयो यदि तदा मादृग्जनः पुण्यवान्॥३॥

अर्थः—निजस्वरूपकी प्राप्तिहोनेपर धूलिसे मलिन तथा वस्त्ररहित और पर्यंकमुद्रासहित तथा शांत और बचनरहित तथा आखोंको बन्दाकिये हुवे मुझे जिससमय बनमें भ्रमसहितमृग आश्चर्यसे देखेंगे उसीसमय मेरे समान मनुष्य पुण्यवान समझा जायगा।

भावार्थः—जिससमय मैं निर्जनवनमें निजस्वरूपमें लीनहोकर मौनसहित दिगम्बरमुद्राको धारण कर तथा पालती मारकर और आखोंको बन्दकर धूलिसे मलिन होकर तथा क्रोध आदि कषायोंसे रहित

शान्तहोकर रहूंगा तथा मृगोंका समूह मुझै काष्टपाषाणकी मूर्तिजानकर आश्चर्यसे देखेगा उसीसमय मैं पुण्यवान हूं ऐसी ज्ञानी सदा भावना करता रहता है ॥ ३ ॥

वासः शून्यठे क्वचिन्निवसनं नित्यं ककुम्मण्डलं सन्तोषो धनमुन्नतं प्रियतमा क्षान्तिस्तपोभोजनम् ।
मैत्री सर्वशरीरिभिः सह सदा तत्वैकचिन्तासुखं चेदास्ते न किमास्ति मे शमवतः कार्यं न किञ्चित्परः॥४॥

अर्थः—यदि किसी शून्यमठ में मेरा निवासस्थान है तथा अविनाशीदिशाओंका समूह वस्त्र है और सन्तोष धन है तथा क्षमारूपी स्त्री है और तपरूपी भोजन है तथा समस्तप्राणियोंके साथ मित्रता है और आत्मस्वरूपका चिंतवन है तो मेरे सर्वही वस्तु मोजूद है फिर मुझे दूसरीवस्तुओंसे क्या प्रयोजन है ऐसा योगीश्वर सदा बिचार करते रहते हैं ॥ ४ ॥

लब्ध्वा जन्म कुले शुचौ वरवपुर्बुद्ध्वा श्रुतं पुण्यतो वैराग्यञ्च करोति यः शुचितया लोके स एकः कृती।
तेनैवोज्झितगौरवेण यदि वा ध्यानामृतं पीयते प्रासादे कलशस्तदा मणिमयो हैमे समारोपितः ॥५॥

अर्थः—जो मनुष्य इससंसारमें उत्तमकुलमें जन्म पाकर तथा नीरोग और सुन्दर शरीर को प्राप्तकर और शास्त्र को जानकर वैराग्यको प्राप्त होकर पवित्र तपको करता है वह मनुष्य संसारभरमें एकही पुण्यवान समझा जाता है । और वहीतपकरनेवालापुरुष यदि मदरहित होकर ध्यानामृत का आस्वादन करै तो समझना चाहिये कि उस मनुष्य ने सुवर्णमयघरके ऊपर मणिमय कलशकी स्थापना की ।

भावार्थः—जिसप्रकार संसारमें कोई मनुष्य सुवर्णमईमकान बनवावे तो वह अधिक प्रतिष्ठित समझा जाता है और यदि वही पुरुष उसके ऊपर मणिमईकलश चढ़ावे तो वह और भी अत्यंत प्रतिष्ठित समझाजाता है उसीप्रकार उत्तमकुलमें जन्मपाकर, तथा नीरोग, और सुन्दर शरीरको प्राप्तहोकर और शास्त्रको जानकर तथा

वैराग्यको पाकर, जोपुरुष तपकरता है वह अधिकप्रतिष्ठित समझाजाता है । किन्तु जो ऐसा होकर ध्यान भी करता है वह और भी अत्यंत प्रतिष्ठित समझाजाता है इसलिये भव्यजीवोंको उपर्युक्त सामिग्रीके मिलनेपर ध्यान अवश्य करना चाहिये ॥ ५ ॥

शार्दूल विक्रीडित ।

ग्रीष्मे भूधरमस्तकाश्रितशिलां मूलं तरोः प्रावृषि प्रोद्भूते शिशिरे चतुष्पथपदं प्राप्ताः स्थितिं कुर्वते ॥
ये तेषां यमिनां यथोक्ततपसां ध्यानप्रशान्तात्मनां मार्गे सञ्चरतो मम प्रशमिनः कालः कदा यास्यति ॥

अर्थः—जो योगीश्वर ग्रीष्मऋतुमें पहाड़ोंके अग्रभागमें स्थितशिलाके ऊपर ध्यानरसमें लीनहोकर रहते हैं तथा वर्षाकालमें वृक्षोंके मूलमें बैठकर ध्यानकरते हैं और शरदऋतुमें चौड़े मैदानमें बैठकर ध्यानलगाते हैं उन शास्त्र के अनुसारतपकेधारी तथा ध्यानसे जिनकी आत्मा शांत होगई हैं ऐसे योगीश्वरोंके मार्गमें गमन करनेकेलिये मुझे भी कब वह समय मिलैगा ॥ ६ ॥

भेदज्ञानविशेषसंहृतमनोवृत्तिः समाधिः परो जायेताद्भुतधाम धन्यशमिनां केषांचिदत्राचलः ॥
वज्रे मूर्ध्नि पतत्यपि त्रिभुवने वह्निप्रदीप्तेऽपि वा येषां नो विकृतिर्मनागपि भवेत्प्राणेषु नश्यत्स्वपि ॥

अर्थः—और स्वपरके भेदज्ञानसे जिस समाधिमें मनकी वृत्ति संकुचित है और जो आश्चर्यकारी हैं तथा उत्कृष्ट और अचल है ऐसी वह समाधि उन धन्य तथा शाम्यभावके धारक मुनियोंके होती है जिस समाधिके होनेपर मस्तक पर वज्रगिरनेपर भी तथा तीनोंलोकके जलनेपर भी और निजप्राणोंके नष्ट होनेपर भी जिन मुनियोंके मनको किसी प्रकारका विकार नहीं होता ॥ ७ ॥

अन्तस्तत्वमुपाधिवर्जितमहं व्यापारवाच्यं परं ज्योतिर्यैः कलितं श्रुतं च यतिभिस्ते सन्तु नः शान्तये ॥

येषां तत्सदनं तदेव शयनं तत्सम्पदस्तत्सुखं तद्वृत्तिस्तदपि प्रियं तदखिलश्रेष्ठार्थसंसाधकम् ॥८॥

अर्थः—जिसके साथ किसीप्रकारके कर्मकासंबंध नहीं है तथा जो "अहम्" इसशब्दसे कहाजाता है ऐसे उत्कृष्ट ज्योतिःस्वरूपआत्मतत्वको जिनमुनीश्वरोंने जानलिया है तथा सुनलिया है और जिन योगीश्वरोंके वह निज तत्वही एक रहनेका स्थान है और वही सोनेका स्थान है तथा वही श्रेष्ठ संपदा है और वही सुख है तथा वही वृत्ति है और वही प्रिय है तथा वही निजतत्व जिनमुनियोंको मनोवांछितपदार्थोंका सिद्धकरनेवाला है वे यतीश्वर मुझे शान्ति प्रदान करें ॥ ८ ॥

पापारिक्षयकारि दातृ नृपतिस्वर्गापवर्गश्रियां श्रीमत्पङ्कजनन्दिभिर्विरचितं चिच्चेतनानन्दिभिः ॥
भक्त्या यो यतिभावनाष्टकमिदं भव्यस्त्रिसन्ध्यं पठेत् किं किं सिध्यति वाञ्छितं न भुवने तस्यात्र पुण्यात्मनः ॥

अर्थः—जो यतिभावनाष्टक समस्तपापरूपीवैरियोंकानाशकरनेवाला है और राजलक्ष्मी तथा स्वर्गमोक्ष की लक्ष्मीका देनेवाला है तथा जिसकी रचना चैतन्यस्वरूपतत्वमें आनंदमाननेवाले श्रीपद्मनन्दिमुनीने की है ऐसे यतिभावनाष्टकको जोभव्यजीव भक्तिपूर्वक तीनोंकाल पढ़ते हैं उनभाग्यशाली भव्यजीवोंको संसारमें किस २ इष्टपदार्थकी प्राप्ति नहीं होती ? अर्थात सर्वइष्टपदार्थ उनको सुलभ रीतिसे मिलजाते है ॥ ९ ॥

इसप्रकार इसपद्मनन्दिपञ्चविंशतिकामें यतिभावनाष्टक

नामक पञ्चम अधिकार समाप्तहुआ ॥

श्रावकाचारः ।

अनुष्टुप् ।

आद्यो जिनो नृपःश्रेयान् व्रतदानादिपूरुषौ ।
एतदन्योऽन्यसंवन्धे धर्मस्थितिरभूदिह ॥ १ ॥

अर्थः—आदि जिनेन्द्र श्रीऋषभनाथ और श्रेयांस नामकराजा ये दोनों महात्मा व्रततीर्थ तथा धर्म तीर्थके प्रवर्तानेमें आदि पुरुष है और इसभरतक्षेत्रमें इनदोनोंके संवंधसे ही धर्मकी स्थिति हुई है ॥

भावार्थः—चतुर्थकालकी आदिमें जिससमय कर्मभूमिकी प्रवृत्ति थी उससमय सवसे पहिले व्रत-तीर्थकी प्रवृत्ति श्री आदीश्वर भगवानने की है अर्थात् प्रथमही प्रथम इन्होंने ही तप आदिको धारण किया है तथा उसीकालमें दानतीर्थकी प्रवृत्ति श्री श्रेयांस राजाने की है अर्थात् सवसे पहिले श्रीआदीश्वरभगवानको श्रेयांस राजानेही दान दिया है इसलिये ये दोनों महात्मा व्रततीर्थ तथा दानतीर्थके प्रवर्तानेमें आदि पुरुष है और इनदोनोंके संवंधसेही इसभरतक्षेत्रमें धर्मकी स्थिति हुई है ॥ १ ॥

अब आचार्य धर्मके स्वरूपका वर्णन करते हैं ।

सम्यग्दृग्वोधचारित्रत्रितयं धर्म उच्यते ।
मुक्तेः पन्था स एव स्यात्प्रमाणपरिनिष्ठितः ॥ २ ॥

अर्थः—सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र इनतीनोंके समुदायको धर्म कहते हैं तथा प्रमाणसे निश्चित यहधर्मही मोक्षका मार्ग है ॥ २ ॥

रत्नत्रयात्मके मार्गे संचरन्ति न ये जनाः ।

॥१९४॥

तेषां मोक्षपदं दूरं भवेद्दीर्घतरोभवः ॥ ३ ॥

अर्थः—जो मनुष्य इस सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र स्वरूपमोक्षमार्गमें गमन नहीं करते हैं उनको कदापि मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती और उनकेलिये संसार दीर्घतर होजाता है अर्थात् उनका संसार कभी भी नहीं छूटता ॥ ३ ॥

सम्पूर्णदेशभेदाभ्यां सच धर्मोद्विधा भवेत् ।
आद्ये भेदे च निर्ग्रन्था द्वितीये गृहिणः स्थिताः ॥ ४ ॥

अर्थः—और वह रत्नत्रयात्मकधर्म सर्वदेश तथा एकदेशके भेदसे दो प्रकारका है उसमें सर्वदेश धर्मका तो निर्ग्रन्थ मुनि पालन करते हैं और एकदेशधर्मका गृहस्थ (श्रावक) पालन करते हैं ॥ ४ ॥

सम्प्रत्यपि प्रवर्तेत धर्मस्तेनैव वर्त्मना ।
तेनैतेऽपि च गण्यन्ते गृहस्था धर्महेतवः ॥ ५ ॥

अर्थः—इसकलिकालमें भी उसधर्मकी उसीमार्गसे अर्थात् सर्वदेश तथा एकदेशमार्गसे ही प्रवृत्ति है इस लिये उसधर्मके कारण, गृहस्थभी गिनेजाते हैं ॥ ५ ॥

सम्प्रत्यत्र कलौ काले जिनगेहे मुनिस्थितिः ।
धर्मश्च दानमित्येषां श्रावका मूलकारणम् ॥ ६ ॥

अर्थः—और इसकालमें श्रावकगण बड़े २ जिनमन्दिर वनवाते हैं तथा आहार देकर मुनियोंके शरीर की स्थिति करते हैं तथा सर्वदेश और एकदेशरूप धर्मकी प्रवृत्ति करते हैं और दान देते हैं इसलिये इनसवोंके मूल कारण श्रावक ही है अतः श्रावकधर्मभी अत्यन्त उत्कृष्ट है ॥ ६ ॥

षट् आवश्यकर्म ।

देवपूजा गुरूपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः ।
दानश्चेति गृहस्थानां षट् कर्माणि दिने दिने ॥ ७ ॥

अर्थः—जिनेन्द्रदेवकी पूजा और निर्ग्रन्थगुरुओंकीसेवा तथा स्वाध्याय और संयम तथा योग्यतानुसार तप और दान ये छै कर्म श्रावकोंको प्रतिदिन करने योग्य है ॥ ७ ॥

सामायिकका लक्षण ।

समता सर्वभूतेषु संयमे शुभभावना ।
आर्तरौद्रपरित्यागस्तद्धि सामायकंव्रतम् ॥ ८ ॥

अर्थः—समस्तप्राणियोंमें साम्यभावरखना तथा संयमधारणकरनेमें अच्छीभावना रखना और आर्तध्यान तथा रौद्रध्यानका त्याग करना इसीका नाम सामायिकव्रतहै ॥ ८ ॥

सामायिकं न जायेत व्यसनम्लानचेतसः ।
श्रावकेन ततः साक्षात्त्याज्यं व्यसनसप्तकम् ॥ ९ ॥

अर्थः—जिनमनुष्योंका चित्त व्यसनोंसे मलिन होरहा है उनके कदापि यह सामायिक व्रत नहीं होसक्ता इसलिये सामायिकके आकांक्षी श्रावकोंको सातो व्यसनोंका सर्वथा त्यागकरदेना चाहिये ॥ ९ ॥

सातव्यसनोंके नाम ।

द्यूतमांससुरावेश्याखेटचौर्यपराङ्गनाः ।
महापापानि सप्तैव व्यसनानि त्यजेद्बुधः ॥ १० ॥

अर्थः—जूवा मांस मद्य वेश्या शिकार चोरी परस्त्री ये सात व्यसन संसारमें प्रबल पाप है इसलिये विद्वानोंको चाहिये कि वे इनका सर्वथा त्याग करदेवें ॥ १० ॥

अनुष्टुप् ।

धर्मार्थिनोऽपि लोकस्य चेदस्ति व्यसनाश्रयः ।
जायते न ततः सापि धर्मान्वेषणयोग्यता ॥ ११ ॥

अर्थः—जो पुरुष धर्मकी अभिलाषा करनेवाला है यदि उसकें भी ये व्यसन होवे तो उसपुरुषमें धर्म धारणकरनेकी योग्यता कदापि नहीं होसक्ती अर्थात् वह धर्मकी परीक्षाकरनेका पात्रही नहीं होसक्ता इसलिये धर्मार्थीपुरुषोंको अवश्यही व्यसनोंका त्याग करदेना चाहिये ॥ ११ ॥

सप्तैव नरकाणि स्युस्तैरेकैकं निरूपितम् ।
आकर्षयन्नृणामेतद् व्यसनं स्वसमृद्धये ॥ १२ ॥

अर्थः—आचार्य कहते हैं कि जिसप्रकार व्यसन सात है उसीप्रकार नरकभी सातही है इसलिये ऐसा मालूम होता है कि उन नरकोंने अपनी २ वृद्धिकेलिये मनुष्योंको खींचकर नरकमें लेजानेकेलिये एक २ व्यसनको नियत किया है ॥ १२ ॥

धर्मशत्रुविनाशार्थं पापायकुपतेरिह ।
सप्ताङ्गबलवद्राज्यं सप्तभिर्व्यसनैः कृतम् ॥ १३ ॥

अर्थः—और भी आचार्य कहते हैं कि धर्मरूपीवैरीके नाशकेलिये पापनामक दुष्टराजाका सातव्यसनोंसे रचाहुवा यह सात हैं अंगजिसके ऐसा बलवान् राज्य है ।

भावार्थः—जिसप्रकार राजा सप्तांगसेनासे शत्रुका विजयकरता है उसीप्रकार यह पापरूप राजा भी सप्तव्यसनरूपी सप्तांगसेनासे धर्मरूपी शत्रुको जीतता है इसलिये जो पुरुष धर्मकी रक्षा करना चाहते हैं उन को इन सप्तव्यसनोंका सर्वथा त्याग करदेना चाहिये ॥ १३ ॥

आचार्य छै अवश्यकोंकी महिमाका वर्णन करते हैं ।

प्रपश्यन्ति जिनं भक्त्या पूजयन्ति स्तुवन्ति ये
ते च दृश्याश्च पूज्याश्च स्तुत्याश्च भुवनत्रये ॥१४॥

अर्थः—जो भव्यजीव जिनेंद्रभगवानको भक्तिपूर्वक देखते हैं तथा उनकी पूजा स्तुति करते हैं वे भव्यजीव तीनोंलोकमें दर्शनीय तथा पूजाके योग्य तथा स्तुतिके योग्य होते हैं अर्थात् सर्वलोक उनको भक्तिसे देखता है तथा उनकी पूजा स्तुति करता है ॥ १४ ॥

ये जिनेन्द्रं न पश्यन्ति पूजयन्ति स्तुवन्ति न
निष्फलं जीवितं तेषां तेषां धिक् च गृहाश्रमम् ॥१५॥

अर्थः—किन्तु जो मनुष्य जिनेन्द्रभगवानको भक्तिसे नहीं देखते हैं और न उनकी भक्तिपूर्वक पूजा स्तुतिही करते हैं उनमनुष्योंका जीवन संसार में निष्फल है तथा उनके गृहस्थाश्रमकेलिये भी धिक्कार है ॥१५॥

प्रातरुत्थाय कर्तव्यं देवतागुरुदर्शनम्
भक्त्या तद्वन्दना कार्या धर्मश्रुतिरुपासकैः ॥१६॥
पश्चादन्यानि कार्याणि कर्तव्यानि यतो बुधैः
धर्मार्थकाममोक्षाणामादौ धर्मः प्रकीर्तितः ॥ १७ ॥

अर्थः—भव्यजीवोंको प्रातःकाल उठकर जिनेंद्रदेव तथा गुरुका दर्शन करना चाहिये और भक्तिपूर्वक उनकी वदना स्तुति भी करनी चाहिये और धर्मका श्रवण भी करना चाहिये इनके पीछे अन्य गृह आदि संबंधी कार्य करने योग्य है क्योंकि गणधर आदि महापुरुषोंने धर्म अर्थ काम मोक्ष इनचार पुरुषार्थोंमें धर्मका ही सबसे प्रथम निरूपण किया है तथा उसीको मुख्यमाना है ॥ १६ ॥ १७ ॥

गुरोरेव प्रसादेन लभ्यते ज्ञानलोचनम्
समस्तं दृश्यते येन हस्तरेखेव निस्तुषम् ॥१८॥

अर्थः—जिस केवलज्ञानरूपीलोचनसे समस्तपदार्थ हाथकी रेखाकेसमान प्रकटरीतिसे देखनेमें आते है ऐसा ज्ञानरूपीनेत्र निर्ग्रंथगुरुओंकी कृपासेही प्राप्त होता है इसलिये - ज्ञानके आकाक्षी मनुष्योंको भक्तिपूर्वक गुरुओंकी सेवा वंदना आदि करनी चाहिये ॥ १८ ॥

ये गुरुं नैव मन्यन्ते तदुपास्तिं न कुर्वते
अंधकारो भवेत्तेषामुदितेऽपि दिवाकरे ॥१९॥

अर्थः—जो मनुष्य गुरुओंको नहीं मानते हैं और उनकी सेवा वंदना नहीं करते हैं उन मनुष्योंकेलिये सूर्यके उदय होनेपर भी अंधकारही है ॥

भावार्थः—जो मनुष्य परिग्रहरहित तथा ज्ञान ध्यान तपमेंलीन गुरुओंको नहीं मानते हैं तथा उनकी उपासना भक्ति आदि नहीं करते हैं उनपुरुषोंके अंतरंगमें अज्ञानरूपी अंधकार सदा विद्यमान रहता है इस-लिये सूर्यके उदयहोनेपर भी वे अन्धेही बने रहते हैं अतः भव्यजीवोंको चाहिये कि वे अज्ञानरूपअंधकारके-नाशकरनेकेलिये गुरुओंकी सेवा करै ॥ १९ ॥

ये पठन्ति न सच्छास्त्रं सद्गुरुप्रकटीकृतम्
तेऽन्धाः सचक्षुपोपीह सम्भाव्यन्ते मनीपिभिः ॥२०॥

अर्थः—जो मनुष्य उत्तम और निष्कलंक गुरुओंसे प्रकटकियेहुये शास्त्रको नहीं पढ़ते हैं उनमनुष्योंको विद्वानपुरुष नेत्रधारी होनेपर भी अन्धेही मानते हैं ।

भावार्थः—वस्तुका स्वरूप यथार्थरीतिसे शास्त्रसे जानाजाता है किन्तु जो मनुष्य शास्त्रको न तो देखते हैं और न वांचते ही हैं वे मनुष्य वस्तुके यथार्थ स्वरूपको भी नहीं जानते हैं इसलिये नेत्रसहित होनेपर भी वे अंधेही हैं अतः भव्यजीवोंको शास्त्रका स्वाध्याय तथा मनन अवश्य करना चाहिये ॥ २० ॥

मन्ये न प्रायशस्तेषां कर्णाश्च हृदयानि च
यैरभ्याशे गुरोः शास्त्रं नश्रुतं नावधारितम् ॥२१॥

अर्थः—आचार्य कहते हैं जिनमनुष्योंने गुरूके पासमें रहकर न तो शास्त्रको सुना है तथा हृदयमें धारणभी नहीं किया है उनके कान तथा मन नहीं हैं ऐसा प्रायकर हम मानते हैं ॥ २१ ॥

भावार्थः—कान तथा मनकी प्राप्तिका सफलपना शास्त्रके सुननेसे और उसके अभिप्रायको मनमें धारण करनेसे होता है किन्तु जिनमनुष्योंने कानपाकर शास्त्रका श्रवण नहीं किया है तथा मन पाकर उसका अभिप्राय भी नहीं समझा है उन मनुष्योंके कान तथा हृदयका पाना न पानासरीखाही है इसलिये विद्वानोंको शास्त्रका श्रवण तथा उसका मनन अवश्य करना चाहिये जिससे उनके कान तथा हृदय सफल समझे जावें ॥ २१ ॥

॥ अब आचार्य संयमनामकआवश्यकका कथन करते हैं ॥

देशव्रतानुसारेण संयमोऽपि निषेव्यते
गृहस्थैर्येन तेनैव जायते फलवद्व्रतम् ॥२२॥

अर्थः—धर्मात्माश्रावकोंको एकदेशव्रतके अनुसार संयम भी अवश्य पालना चाहिये जिससे उनका कियाहुआ व्रत फलीभूत होवे ।

भावार्थः—जीवोंकी रक्षाकरना और मन तथा इन्द्रियोंको वशमें रखना इसकानाम संयम है जबतक यह संयम न किया जावेगा तबतक व्रत कदापि फलीभूत नहीं होसक्ते इसलिये आचार्य उपदेश देते हैं कि एकदेशव्रतके अनुसार श्रावकोंको संयम अवश्य पालना चाहिये जिससे उनका व्रत फलका देनेवाला होवे ॥२२॥

त्याज्यं मांसंच मद्यंच मधूदुम्बरपञ्चकम्
अष्टौ मूलगुणाःप्रोक्ता गृहिणो दृष्टिपूर्वकाः ॥२३॥

अर्थः—श्रावकोंको मद्य मास मधुका तथा पांच उदुम्बरोंका अवश्य त्याग करदेना चाहिये और सम्यग्दर्शनपूर्वक इन आठोंका त्यागही गृहस्थोंके आठ मूलगुण हैं ॥ २३ ॥

अणुव्रतानि पञ्चैव त्रिःप्रकारं गुणव्रतम्
शिक्षाव्रतानि चत्वारि द्वादशेति गृहिव्रते ॥२४॥

अर्थः—पांच प्रकारके अणुव्रत तथा तीनप्रकारके गुणव्रत और चारप्रकारके शिक्षाव्रत ये बारहव्रत गृहस्थोंके हैं।

भावार्थः—अहिंसाअणुव्रत सत्यअणुव्रत अचौर्यअणुव्रत ब्रह्मचर्यअणुव्रत तथा परिग्रहपरियाणनामक-अणुव्रत ये पांच अणुव्रत, और दिग्व्रत देशव्रत तथा अनर्थदंडव्रत ये तीन गुणव्रत, तथा देशावकाशिक सामायिक प्रोषधोपवास वैयावृत्य ये चार शिक्षाव्रत, इसप्रकार इन बारहव्रतोंको गृहस्थ पालने हैं ॥ २४ ॥

पर्वस्वथ यथाशक्ति भुक्तित्यागादिकं तपः
वस्त्रपूतं पिवेत्तोयं रात्रिभोजनवर्जनम् ॥२५॥

अर्थः—अष्टमी चतुर्दशीको शक्तिके अनुसार उपवास आदितप, तथा छनेहुए जलका पान, और रातको भोजनका त्याग भी गृहस्थोंको अवश्य करना चाहिये ॥ २५ ॥

तं देशं तं नरं तत्स्वं तत्कर्माण्यपि नाश्रयेत्
मलिनं दर्शनं येन येन च व्रतखण्डनम् ॥२६॥

अर्थः—सम्यग्दृष्टिश्रावक ऐसे देशको तथा ऐसे पुरुषको और ऐसे धनको तथा ऐसी क्रियाको कदापि आश्रयण नहीं करते जहांपर उनका सम्यग्दर्शन मलिन होवे तथा व्रतोंका खंडन होवे ॥ २६ ॥

भोगोपभोगसंख्यानं विधेयं विधिवत्सदा
व्रतशून्या न कर्तव्या काचित्कालकला बुधैः ॥२७॥

अर्थः—आचार्य उपदेश देते हैं कि श्रावकोंको भोगोपभोगपरिमाणव्रत सदा करना चाहिये और विद्वानोंको एकक्षण भी बिना व्रतके नहीं रहना चाहिये ॥ २७ ॥

रत्नत्रयाश्रयः कार्यस्तथा भव्यैरतन्द्रितैः
जन्मान्तरेऽपि यच्छ्रद्धा यथा संवर्धतेतरा ॥२८॥

अर्थः—आलस्यरहित होकर भव्यजीवोंको उसीरीतिसे रत्नत्रयका आश्रय करना चाहिये जिससे दूसरे २ जन्मोंमें भी उसकी श्रद्धा बढ़तीही चाली जावे ॥ २८ ॥

विनयश्च यथायोग्यं कर्तव्यः परमेष्ठिषु

दृष्टिबोधचारित्रेषु तद्वत्सु समयाश्रितैः ॥२९॥

अर्थः—जो जिनेन्द्रके सिद्धान्तके अनुयायी हैं उन भव्यजीवोंको योग्यतानुसार, जो उत्कृष्टस्थानमें रहनेवाले हैं ऐसे परमेष्ठियोंमें विनय अवश्य करनी चाहिये तथा सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्रमें और इनके धारणकरनवालेमहात्माओंमें मी अवश्य विनय करना चाहिये ॥

भावार्थः—जो मनुष्य जिनेन्द्रसिद्धान्तके भक्त हैं तथा धर्मात्मा हैं उनको समसरणलक्ष्मीकरयुक्त, और चारघातियाकर्मोंको नाशकर केवलज्ञान आदि अनन्त चतुष्टय के धारी, श्रीअर्हन्त परमेष्ठीमें, तथा समस्त कर्मोंको नाशकर लोकके शिखरपर विराजमान और अनन्तज्ञानादि आठगुणोंकर सहित सिद्धपरमेष्ठीमें, तथा दर्शनाचार ज्ञानाचार आदि पांचआचारोंको स्वयं आचरण करनेवाले और अन्योंको भी आचरण करानेवाले ऐसे आचार्य परमेष्ठीमें, तथा ग्यारहअंग चौदहपूर्वके पढ़ने पढ़ानेके अधिकारी ऐसे उपाध्याय परमेष्ठीमें, और रत्नत्रयको धारणकर मोक्षके अभिलाषी ऐसे साधुपरमेष्ठीमें, अवश्य विनय करनी चाहिये उसीप्रकार सम्यक्-दर्शन सम्यग्ज्ञानादि रत्नत्रयमें तथा उसरत्नत्रयके धारणकरनेवालोंमें भी अवश्य विनय करनी चाहिये ॥ २९ ॥

दर्शनज्ञानचारित्रतपःप्रभृति सिध्यति
विनयेनेति तं तेन मोक्षद्वारं प्रचक्षते ॥३०॥

अर्थः—विनयसे सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र तथा तप आदिकी प्राप्ति होती है इसलिये उस विनयको गणधर आदि महापुरुष मोक्षका द्वार कहते हैं अतः मोक्षके अभिलाषीभव्योंको यह विनय अवश्य करनी चाहिये ॥ ३० ॥

सत्पात्रेषु यथाशक्ति दानं देयं गृहस्थितैः

॥२०३॥

दानहीना भवेत्तेषां निष्फलैव गृहस्थता ॥३१॥

अर्थ—धर्मात्मा गृहस्थोंको मुनिआदिउत्तमपात्रोंमें शक्तिके अनुकूल दान भी अवश्य देना चाहिये क्योंकि विना दानके गृहस्थोंका गृहस्थपना निष्फलही है ॥ ३१ ॥

दानं ये न प्रयच्छन्ति निर्ग्रन्थेषु चतुर्विधम्
पाशा एव गृहास्तेषां बन्धनायैव निर्मिता ॥३२॥

अर्थः—जो पुरुष निर्ग्रन्थयतीश्वरोंको आहार औषधि अभय तथा शास्त्र इसप्रकार चारप्रकारके दानको नहीं देते हैं उनकेलिये घर जालके समान केवल बांधनेकेलियेही बनायेगये हैं ऐसा मालूम होता है ।

भावार्थः—जिसघरमें यतीश्वरोंका आवागमन बना रहता है वे घर तथा उनघरोंमें रहनेवाले श्रावक धन्य गिनेजाते हैं किन्तु जो मनुष्य यतीश्वरोंको दान नहीं देते इसीलिये जिनके घरमें यतीश्वर नहीं आते वे घर नहीं हैं किन्तु मनुष्योंके फासनेकेलिये जाल हैं इसलिये भव्यजीवोंको चाहिये कि वे प्रतिदिन यथायोग्य यतीश्वरोंको दान अवश्य दिया करैं ॥ ३२ ॥

अभयाहारभैषज्यशास्त्रदाने हि यत्कृते
ऋषीणां जायते सौख्यं गृही श्लाघ्यः कथं न सः ॥३३॥

अर्थः—जिस गृहस्थके अभयदान अहारनान औषधिदान तथा शास्त्रदानके करनेपर यतीश्वरोंको सुख होता है वह गृहस्थ क्यों नहीं प्रशंसाके योग्य है ? अर्थात् उसगृहस्थकी सर्वलोक प्रशंसा करता है इसलिये ऐसा उत्तमदान गृहस्थोंको अवश्य देना चाहिये ॥ ३३ ॥

समर्थोऽपि न यो दद्याद्यतीनां दानमादरात्

छिनत्ति स स्वयं मूढः परत्र सुखमात्मनः ॥३४॥

अर्थः—समर्थहोकर भी जो पुरुष आदरपूर्वक यतीश्वरोंको दान नहीं देता वहमूपुरुष आगामी जन्ममें होनेवाले अपने सुखको स्वयंनाशकरता है।

भावार्थः—जो मनुष्य एकसमय भी यतीश्वरोंको नवधाभक्तिसे दानदेता है उसको परभवमें नानाप्रकारके स्वर्गआदि सुखोंकी प्राप्ति होती है किन्तु जो पुरुष समर्थहोकर भी आदरपूर्वक यतीश्वरोंको दान नहीं देता वह स्वर्गआदि सुखके बदले नानाप्रकारके नरकोंके दुःखोंको भोगता है इसलिये समर्थगृहस्थोंको तो अवश्यही दानदेना चाहिये ॥ ३४ ॥

दृषन्नावा समो ज्ञेयो दानहीनो गृहाश्रमः
तदारूढो भवाम्भोधौ मज्जत्येव न संशयः ॥३५॥

अर्थः—जो गृहस्थाश्रम दानकर रहित है वह पत्थरकी नावके समान है तथा उस गृहस्थाश्रमरूपी पत्थरकी नावमें बैठनेवाला मनुष्य नियमसे संसाररूपी समुद्रमें डूबता है।

भावार्थः—जो मनुष्य पाषाणसे बनीहुई नावपर चढ़कर समुद्रको तरना चाहता है वह जिसप्रकार नियमसे समुद्रमें डूबता है उसीप्रकार जिस गृहस्थाश्रममें यतीश्वरोंकेलिये दान नहीं दियाजाता उस गृहस्थाश्रममें रहनेवाले गृहस्थ कदापि संसारको नाशकर मोक्ष नहीं पासक्ते इसलिये संसारसे तरनेकी अभिलाषा करनेवाले भव्यजीवोंको अवश्यही यतीश्वरोंको दानदेना चाहिये ॥ ३५ ॥

स्वमतस्थेषु वात्सल्यं स्वशक्त्या ये न कुर्वते
वहुपापावृतात्मानस्ते धर्मस्य पराङ्मुखाः ॥३६॥

अर्थः—जो मनुष्य साधर्मीसज्जनोंमें शक्तिके अनुसार प्रीति नहीं करते उन मनुष्योंकी आत्मा प्रबल पापसे ढकीहुई है और वे धर्मसे पराङ्मुख हैं अर्थात् धर्मके अभिलाषी नहीं हैं इसलिये भव्यजीवोंको साधर्मी मनुष्योंके साथ अवश्य प्रीति करनी चाहिये ॥ ३६ ॥

येषां जिनोपदेशेन कारुण्यामृतपूरिते
चित्ते जीवदया नास्ति तेषां धर्मः कुतोभवेत् ॥३७॥

अर्थः—जिनेन्द्रभगवानके उपदेशसे करुणासे पूरित भी जिन मनुष्योंके चित्तोंमें दया नहीं है उन मनुष्योंके धर्म कदापि नहीं होसक्ता।

भावार्थः—समस्तजीवोंपर दयाभावरखना इसीकानामधर्म है किन्तु जिनेन्द्रभगानके उपदेशसे जिन मनुष्योंके चित्त करुणारससे भरेहुए हैं ऐसे मनुष्योंके भी अंतरंगमें यदि दया नहीं है तो वे मनुष्य, धर्मके पात्र कदापि नहीं होसक्ते इसलिये उत्तमपुरुषोंको जीवोंपर अवश्य दयाकरनी चाहिये ॥ ३७ ॥

मूलं धर्मतरोराद्या व्रतानां धाम सम्पदाम्
गुणानां निधिरित्यङ्गिदया कार्या विवेकिभिः ॥३८॥

अर्थः—धर्मरूपी वृक्षकीजड़ तथा समस्तव्रतोंमें मुख्य और सर्वसंपदाओंका स्थान तथा गुणोंका खजाना यह दया है इसलिये विवेकी मनुष्योंको यहदया अवश्य करनी चाहिये।

भावार्थः—जिसप्रकार बिनाजड़के वृक्ष नहीं ठहरसक्ता उसीप्रकार बिना दयाके धर्म नहीं होसक्ता इस लिये यहदया धर्मरूपी वृक्षकीजड़ है तथा समस्तअणुव्रत तथा महाव्रतोंमें यह मुख्य है क्योंकि बिनादयाके पालनकियेहुए अणुव्रत तथा महाव्रत सर्वनिष्फल हैं और इसीदयासे बड़ीं २ इन्द्र चक्रवर्ती आदिकी संपदाओंकी

प्राप्ति होती है इसलिये यहदया संपदाओंका स्थान है और इसीदयासे समस्तगुणोंकी प्राप्ति होती है इसलिये यहदया गुणोंका खजाना है अतः जो मनुष्य हित तथा अहितके जाननेवालें हैं उनको ऐसी उत्तमदया प्राणियों में अवश्य करनी चाहिये किंतु दयासे पराङ्मुखकदापि नहीं रहना चाहिये ॥ ३८ ॥

सर्वे जीवदयाधारा गुणास्तिष्ठन्ति मानुषे
सूत्राधाराः प्रसूनानां हाराणां च सराइव ॥३९॥

अर्थः—जिसप्रकार फूलोंके हारोंकीलड़ीं सूत्रके आश्रयसे रहतीं हैं उसीप्रकार मनुष्यमें समस्तगुण जीव दयाके आधारसे रहते हैं इसलिये समस्तगुणोंकी स्थितिके अभिलाषी भव्यजीवोंको यहदया अवश्य करनी चाहिये ॥३९॥

यतीनां श्रावकाणां च व्रतानि सकलान्यपि
एकाऽहिंसाप्रसिद्ध्यर्थं कथितानि जिनेश्वरैः ॥४०॥

अर्थः—जितनेभर मुनियोंके व्रत तथा श्रावकोंके व्रत सर्वज्ञदेवने कहे हैं वे सर्व अहिंसाकी प्रसिद्धिके लियेही कहे हैं किन्तु हिंसाका पोषण करनेवाला उनमें कोई भी व्रत नहीं कहागया है इसलिये व्रतीमनुष्योंको समस्तप्राणियोंपर दयाहीरखनी चाहिये ॥ ४० ॥

जीवहिंसादिसंकल्पैरात्मन्यपि हि दूषिते
पापं भवति जीवस्य न परं परपीडनात् ॥४१॥

अर्थः—केवल अन्य प्राणियोंको पीड़ा देनेसेही पापकी उत्पत्ति नहीं होती कि "उसजीवको मारूंगा अथवा वह जीव मरजावे तो अच्छा हो" इत्यादि जीवहिंसाके संकल्पोंसे जिससमय आत्मा मलिन होता है उससमयभी पापकी उत्पत्ति होती है इसलिये उत्तममनुष्योंको जीवहिंसाका संकल्पभी नहीं करना चाहिये ॥४१॥

द्वादशापि सदा चिन्त्या अनुप्रेक्षा महात्मभिः
तद्भावना भवत्येव कर्मणःक्षयकारणम् ॥४२॥

अर्थः—उत्तमपुरुषोंको बारह भावनाओंका सदा चिंतवन करना चाहिये क्योंकि उन भावनाओंका चिंतवन, समस्तकर्मोंका नाशकरनेवाला होता है ॥ ४२ ॥

॥ आचार्यवर बारहभावनाओंके नाम बताते हैं ॥

अध्रुवाशरणेचैव भव एकत्वमेव च
अन्यत्वमशुचित्वं च तथैवाश्रवसंवरौ ॥४३॥
निर्जरा च तथा लोको बोधिदुर्लभधर्मता
द्वादशैता अनुप्रेक्षा भाषिता जिनपुङ्गवैः ॥४४॥

अर्थः—अध्रुव १ अशरण २ संसार ३ एकत्व ४ अन्यत्व ५ अशुचित्व ६ आश्रव ७ संवर ८ निर्जरा ९ लोक १० बोधिदुर्लभ ११ धर्म १२ ये बारह अनुप्रेक्षा जिनेन्द्रदेवने कही हैं ॥ ४३ ॥ ४४ ॥

अनित्यभावनाके स्वरूपका वर्णन ॥

अध्रुवाणि समस्तानि शरीरादीनि देहिनाम्
तन्नाशेऽपि न कर्तव्यः शोकोदुष्कर्मकारणम् ॥४५॥

अर्थः—प्राणियोंके समस्त शरीर धन धान्य आदिपदार्थ विनाशीक हैं इसलिये उनके नष्ट होनेपर जीवोंको कुछभी शोक नहीं करना चाहिये क्योंकि उस शोकसे केवल खोटे कर्मोंका बंधही होता है ॥ ४५ ॥

आस्रवभावनाका स्वरूप ।

जीवपोतो भवाम्भोधौ मिथ्यात्वादिकरन्ध्रवान् ।
आस्रवति विनाशार्थं कर्माम्भः प्रचुरं भ्रमात् ॥ ५१ ॥

अर्थः—इस संसाररूपीसमुद्रमें जिससमय यह जीवरूपीजहाज मिथ्यात्व अविरति प्रमाद कषाय योगरूप छिद्रोंसे सहित होता है उससमय यह अपने विनाशकेलिये अज्ञानतासे प्रचुर कर्मरूपी जलको आस्रवरूप करताहै ।

भावार्थः—जिसप्रकार समुद्रमें जिससमय जहाजमें छिद्र हो जाते हैं उससमय वह उनछिद्रोंसे अपने डुबानेकेलिये स्वयं जलको ग्रहण करता है उसीप्रकार यह जीव जिससमय मिथ्यात्वादि कर्मबन्धके कारणोंकर संयुक्त होता है उससमय यह अपने विनाशकेलिये स्वयं कर्मको ग्रहण करता है इसलिये भव्यजीवोंको इसप्रकार आस्रवके स्वरूपको जानकर कर्मोंके रोकनेकेलिये ही प्रयत्न करना चाहिये ॥ ५१ ॥

संवरका स्वरूप ।

कर्मास्रवनिरोधोऽत्र संवरो भवति ध्रुवम् ।
साक्षादेतदनुष्ठानं मनोवाक्कायसंवृतिः ॥ ५२ ॥

अर्थः—आयेहुए कर्मोंका जो रुकजाना है वही निश्चयसे संवर है तथा मन बचन कायका जो संवरण (स्वाधीन) करना है यही संवरका आचरण है ।

भावार्थः—जिससमय मन बचन कायस्वरूपयोग, मिथ्यात्व कषाय आदिसे रहित होकर गुप्ति समिति धर्म अनुप्रेक्षाके चिंतवनमें तथा परीषहोंके जीतनेमें लीन होता है उसीसमय संवर होता है इसलिये संवरकी प्राप्तिके अभिलाषियोंको मन वचन कायको अशुभप्रवृत्तिसे अवश्य रोकना चाहिये ॥ ५२ ॥

निर्जराके स्वरूपका वर्णन ।

निर्जरा शातनं प्रोक्ता पूर्वोपार्जितकर्मणाम् ।
तपोभिर्बहुभि सा स्याद्वैराग्याश्रितचेष्टितैः ॥ ५३ ॥

अर्थः—पहिले संचितहुए कर्मोंका जो एकदेशरूपसे नाशहोना है वही निर्जरा है तथा वह निर्जरा संसार देह आदिसे वैराग्यकरानेवाले अनशन अवमोदर्यादि तपसे होती है ।

भावार्थः—संसार शरीर आदिसे विरक्त होकर अनशनादि तपसे जो पूर्वसंचितकर्मोंका क्षयकरना है उसी का नाम निर्जरा है और उसनिर्जराके उपायका चिंतवन करना निर्जराभावना है ॥ ५३ ॥

लोकानुप्रेक्षाका स्वरूप ।

लोकः सर्वोऽपि सर्वत्र सापायस्थितिरध्रुवः ।
दुःखकारीति कर्तव्या मोक्षएव मतिः सताम् ॥ ५४ ॥

अर्थः—यह समस्तलोक विनाशीक और अनित्य है तथा नानाप्रकारके दुःखोंका करनेवाला है ऐसा विचार कर उत्तमपुरुषोंको सदा मोक्षकी ओर ही बुद्धि लगानी चाहिये ॥ ५४ ॥

बोधिदुर्लभभावनाका स्वरूप ।

रत्नत्रयपरिप्राप्तिर्बोधिः सातीवदुर्लभा ।
लब्धा कथं कथञ्चिच्चेत्कार्यो यत्नो महानिह ॥ ५५ ॥

अर्थः—सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्रस्वरूपरत्नत्रयकी जो प्राप्ति है उसीका नाम बोधि है

१ पवित्राप्तिरित्यपि पाठान्तरम् ।

अशरणभावनाके स्वरूपका वर्णन ।

व्याघ्रेणाघ्रातकायस्य मृगशावस्य निर्जने ।
यथा न शरणं जन्तोः संसारे न तथापदि ॥ ४६ ॥

अर्थः—जिस मृगके बच्चेका शरीर व्याघ्रने प्रबलरीतिसे पकड़ लिया है ऐसे मृगके बच्चेको जिसप्रकार निर्जनबनमें कोई बचानेकेलिये समर्थ नहीं है उसीप्रकार इससंसारमें आपत्तिके आनेपर जीवको भी कोई इन्द्र अहमिन्द्र आदि नहीं बचा सक्ते इसलिये भव्यजीवोंको सिवाय धर्मके किसीको भी रक्षक नहीं समझना चाहिये॥४६॥

संसारभावनाका स्वरूप ।

यत्सुखं तत्सुखाभासो यद्दुःखं तत्सदञ्जसा ।
भवे लोक सुखं सत्यं मोक्षएव स साध्यताम् ॥ ४७ ॥

अर्थः—हे जीव संसारमें जो सुख मालूम होता है वह सुख नहीं है सुखाभास है अर्थात् सुखके समान मालूम पड़ता है और जो दुःख है सो सत्य है किन्तु वास्तविकसुख मोक्षमें ही है इसलिये तुझे मोक्षकी प्राप्तिकेलियेही प्रयत्न करना चाहिये ॥ ४७ ॥

एकत्वभावनाका स्वरूप ।

स्वजनोत्रा परोवापि नो कश्चित्परमार्थतः ।
केवलं स्वार्जितं कर्म जीवेनैकेन भुज्यते ॥ ४८ ॥

अर्थः—यदि निश्चयरीतिसे देखा जावे तो संसारमें जीवका न तो कोई स्वजन है और न कोई परजनही है तथा यह जीव अपने कियेहुवे कर्मके फलको अकेलाही भोगता है॥ ४८ ॥

अन्यत्वभावनाका स्वरूप ।

क्षीरनीरवदेकत्र स्थितयोर्देहदेहिनोः ।
भेदोयदि ततोन्येषु कलत्रादिषु का कथा ॥ ४९ ॥

अर्थः—शरीर और आत्माकी स्थिति दूध तथा जलके समान मिली हुई है यदि ये दोनों भी परस्परमें भिन्न हैं तो सर्वथा भिन्न स्त्री पुत्र आदि तो अवश्यही भिन्न हैं इसलिये विद्वानोंको शरीर स्त्री पुत्र आदिको अपना कदापि नहीं मानना चाहिये ॥ ४९ ॥

अशुचित्वभावनाका वर्णन ।

तथाऽशुचिरयं कायः कृमिधातुमलान्वितः ।
यथा तस्यैव सम्पर्कादन्यत्राप्यपवित्रता ॥ ५० ॥

अर्थः—कीड़ा धातु मल मूत्र आदि अपवित्रपदार्थोंसे भरा हुवा यह शरीर इतना अपवित्र है कि उसके संबन्धसे दूसरीवस्तु भी अपवित्र हो जाती है ।

भावार्थः—अतर चन्दन वस्त्र आभूषण आदि यद्यपि अत्यन्तसुगंधित तथा पवित्रपदार्थ हैं तो भी यदि उनका संबन्ध एकसमय भी इसशरीरसे हो जावे तो वे सर्व अपवित्र हो जाते हैं तथा ऐसे अपवित्र हो जाते हैं कि फिरसे सज्जनपुरुष उनके स्पर्शकरनेमें भी घृणा करते हैं और विष्टा मूत्र कफ आदि अपवित्र वस्तुओंकी भी उत्पत्ति इसीशरीरसे होती है इसलिये इसशरीरके समान संसारमें कोई भी अपवित्र पदार्थ नहीं है अतः सज्जनों को कदापि इसमें ममत्व नहीं रखना चाहिये किन्तु इससे होनेवाले जो तप आदि उत्तम कार्य है उनसे इसको सफल ही करना चाहिये ॥ ५० ॥

और इसबोधिकी प्राप्ति संसारमें अत्यंतकठिन है यदि किसीरीतिसे उसकी प्राप्तिभी हो जावे तो उसकी रक्षाकेलिये विद्वानोंको प्रवलयत्न करना चाहिये ।

भावार्थः—अनन्तजीव ऐसे हैं जोकि अभी निगोदमें ही पड़ेहुए हैं उन्होंने सिवाय निगोदके दूसरी पर्यायही नहीं धारणकी है इसलिये प्रथम तो निगोदसे निकलनाही अत्यंत दुःसाध्य है दैवयोगसे यदि निगोदसे निकल भी आवे तो आकर पृथ्वीकायिक आदि स्थावरजीव होते हैं इसलिये त्रस पर्याय पाना अत्यंत दुर्लभ है यदि त्रस पर्याय भी मिलजावे तो पञ्चेन्द्री होना अत्यंत कठिन है यदि पंचेन्द्री भी होगये तो सैनी (समनस्क) होना दुःसाध्य है सैनीभी हुए तो मनुष्यभव तथा उच्चकुलपाना कठिन है यदि वेभी मिलगये तो चिरायु होना तथा धनवान होकर सुखी होना दुःसाध्य है यदि यह सब सामिग्री भी मिलगई तो रत्नत्रयकी प्राप्ति अत्यत दुर्लभ है तथा भाग्यसे कईएक पुरुषोंको इसकी प्राप्तिभी होजावे तो वे प्रमादके वशीभूतहोकर इसकी रक्षा नहीं करसक्ते इसलिये इसप्रकार अत्यंतकठिन इसरत्नत्रयको पाकर भव्यजीवोंको कदापि प्रमाद नहीं करना चाहिये तथा भलीभांति इसरत्नत्रयकी रक्षा ही करनी चाहिये इसप्रकारका चिंतवन करना दुर्लभानुप्रेक्षा है ॥ ५५ ॥

धर्मानुप्रेक्षाका वर्णन ।

निजधर्मोयमत्यन्तं दुर्लभो भविनां मतः ।
तथा ग्राह्यो यथा साक्षादामोक्षं सह गच्छति ॥ ५६ ॥

अर्थः—संसारमें प्राणियोंको ज्ञानानंदस्वरूप निजधर्मका पाना अत्यंत कठिन है इसलिये यह धर्म ऐसी रीतिसे ग्रहण करनाचाहिये कि मोक्षपर्यंत यह साथही बना रहे ।

भावार्थः—जिनेन्द्रसे कहाहुआ यह आत्मस्वभावरत्नत्रयस्वरूप तथा उत्तमक्षमादिस्वरूपधर्म ऐसी दृढ़तासे धारणकरना चाहिये कि मोक्षपर्यंत यह साथ बना रहै ॥ ५६ ॥

दुःखग्राहगणाकीर्णे संसारक्षारसागरे ।
धर्मपोतं परं प्राहुस्तारणार्थं मनीषिणः ॥ ५७ ॥

अर्थः—नानाप्रकारके दुःखरूपी नक्र मकरसे व्याप्त इससंसाररूपीखारीसमुद्रसे पारकरनेवाला धर्मरूपी जहाज है ऐसा गणधर आदि महापुरुष कहते हैं इसलिये संसारसे तरनेकी इच्छाकरनेवाले भव्यजीवोंको इसधर्मरूपीजहाजका आश्रय अवश्य लेना चाहिये ॥ ५७ ॥

अनुप्रेक्षा इमाःसद्भिः सर्वदा हृदये धृताः ।
कुर्वते तत्परं पुण्यं हेतुर्यत्स्वर्गमोक्षयोः ॥ ५८ ॥

अर्थः—जो सज्जनपुरुष वारंवार इन बारहभावनाओंका चिंतवन करते हैं वे उस पुण्यका उपार्जन करते हैं जो पुण्य स्वर्ग तथा मोक्षका कारण है इसलिये स्वर्गमोक्षके कारणस्वरूपपुण्यको चाहनेवाले भव्यजीवोंको सदा इन बारहभावनाओंका चिंतवन करना चाहिये ॥ ५८ ॥

आद्योत्तमक्षमा यत्र योधर्मो दशभेदभाक् ।
श्रावकैरपि सेव्योऽसौ यथाशक्ति यथागमम् ॥ ५९ ॥

अर्थः—उत्तमक्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य, तथा ब्रह्मचर्य, इसप्रकार इन दश धर्मोंका भी श्रावकोंको शक्तिके अनुसार तथा शास्त्रके अनुसार पालन अवश्य करना चाहिये ॥५९॥

अन्तस्तत्वं विशुद्धात्मा वहिस्तत्वं दयाङ्गिषु ।

द्वयोः सन्मीलने मोक्षस्तस्माद्द्वितयमाश्रयेत् ॥६०॥

अर्थ—चिदानन्दचैतन्यस्वरूपआत्मातो अंतस्तत्व (भीतरीतत्व) है तथा समस्तप्राणियोंमें जो दया है वह वाह्यतत्व है और इन दोनोंतत्वोंके मिलनेपर मोक्षकी प्राप्ति होती है इसलिये मोक्षाभिलाषी भव्यजीवोंको इन दोनोंतत्वोंका भली भांति आश्रय करना चाहिये ॥ ६० ॥

ज्ञानी अपनीआत्माकी इसप्रकार भावना करता है ।

कर्मभ्यः कर्मकार्येभ्यः प्रथग्भूतं चिदात्मकम् ।
आत्मानं भावयेन्नित्यं नित्यानन्दपदप्रदम् ॥ ६१ ॥

अर्थः—कर्मोंसे तथा कर्मोंके कार्योंसे सर्वथा भिन्न, और किदानन्दचैतन्यस्वरूप, तथा अविनाशी, और आनन्द स्वरूपस्थानको देनेवाले आत्माका ज्ञानीको सदा चिंतवन करना चाहिये ।

भावार्थः—यह आत्मा ज्ञानावरण आदि कर्मोंसे जुदा है तथा कर्मोंके कार्यभूत रागद्वेष आदिसे भी जुदा है और चैतन्य स्वरूप है तथा अविनाशी और आनन्दस्वरूपमोक्षस्थानका देनेवाला है ऐसा ज्ञानी पुरुषोंको अपनी आत्माका चिंतवन निरंतर करना चाहिये ॥ ६१ ॥

इत्युपासकसंस्कारः कृतः श्रीपद्मनन्दिना ।
येषामेतदनुष्ठानं तेषां धर्मोऽतिनिर्मलः ॥ ६२ ॥

अर्थः—इसप्रकार श्रीपद्मनन्दिआचार्यने इसउपासकसंस्कारकी (श्रावकाचारकी) रचना की है जिन पुरुषोंकी प्रवृत्ति इस श्रावकाचारके अनुसार है उन्हीको निर्मल धर्मकी प्राप्ति होती है ।

भावार्थः—इसउपासकाचारमें जिस आचरणका वर्णन कियागया है उस आचरणके अनुकूल जिन

मनुष्योंकी प्रवृत्ति है उन्ही मनुष्योंको निर्मलधर्मकी प्राप्ति होती है इसलिये इसनिर्मलधर्मकी प्राप्तिके अभिलाषी भव्यजीवोंको इसके अनुकूल ही प्रवृत्ति करनी चाहिये ॥ ६२ ॥

इसप्रकार श्रीपद्मनन्दिपञ्चविंशतिकामें उपासकसंस्कार (श्रावकाचार)

नामक अधिकार समाप्तहुवा ।



देशव्रतोद्योतनम् ।

शार्दूलविक्रीड़ित ।

वाह्याभ्यन्तरसङ्गवर्जनतया ध्यानेन शुक्लेन यः कृत्वा कर्मचतुष्टयक्षयमगात्सर्वज्ञतां निश्चिताम् ।
तेनोक्तानि वचांसि धर्मकथने सत्यानि नान्यानि तद्भ्राम्यत्यत्र मतिस्तु यस्य स महापापी न भव्योऽथवा

अर्थः—समस्त वाह्य तथा अभ्यंतर परिग्रहको छोड़कर और शुक्लध्यानसे चारघातियाकर्मोंको नाशकर जिसने सर्वज्ञपना प्राप्त करलिया है उसी सर्वज्ञदेवके वचन, धर्मके निरूपण करनेमें सत्य हैं, किंतु सर्वज्ञसे अन्यके वचन सत्यनहीं है ऐसा भलीभांति जानकर भी जिसमनुष्यको सर्वज्ञदेवके वचनोंमें सन्देह है तो समझना चाहिये वह मनुष्य महापापी तथा अभव्य है ॥ १ ॥

एकोप्यत्र करोति यः स्थितिमतिं प्रीतः शुचौ दर्शने स श्लाघ्यः खलु दुःखितोप्युदयतो दुष्कर्मणः प्राणिभृत
अन्यैः किं प्रचुरैरपि प्रमुदितैरत्यन्तदूरीकृतस्फीतानन्दभरप्रदामृतपथैर्मिथ्यापथप्रस्थितैः ॥ २ ॥

अर्थः—खोटेकर्मके उदयसे दुःखितभी जो मनुष्य संतुष्टहोकर इसअत्यन्तपवित्र सम्यग्दर्शनमें निश्चल स्थितिको करता है अर्थात् सम्यग्दर्शनको धारण करता है वह अकेलाही अत्यंत प्रशंसाके योग्य समझा

जाता है किन्तु जो अत्यंतआनन्दके देनेवाले सम्यग्दर्शन आदि रत्नत्रयरूपीमोक्षमार्गसे वाह्यहैं तथा वर्तमान कालमें शुभकर्मके उदयसे प्रसन्न हैं ऐसे मिथ्यामार्गमें गमनकरनेवाले मिथ्यादृष्टिमनुष्य यदि वहुतसेभी होवे तोभी वे प्रशंसाके योग्य नहीं है ।

भावार्थः—पापके उदयसे दुःखितभी मनुष्य यदि वह सम्यग्दर्शनका धारक है तो वह अकेला ही प्रशंसाके योग्यहै किन्तु जो सम्यग्दर्शनसे पराङ्मुख हैं तथा मिथ्यामार्गमें स्थित हैं और सुखी हैं ऐसे मिथ्यादृष्टि चाहैं अनेक भी होवे तोभी प्रशसाके योग्य नहीं है इसलिये भव्यजीवोंको सम्यक्दर्शनके धारण करनेमें निरन्तर प्रयत्न करना चाहिये ॥ २ ॥

बीजं मोक्षतरोर्दृशं भवतरोर्मिथ्यात्वमाहुर्जिनाः प्राप्तायां दृशि तन्मुमुक्षुभिरलं यत्नो विधेयो बुधैः ।
संसारे वहुयोनिजालजटिले भ्राम्यन् कुकर्मावृतः क प्राणी लभते महत्यपि गते काले हि तां तामिह॥

अर्थः—मोक्षरूपी वृक्षका वीजतो सम्यग्दर्शन है तथा संसाररूपीवृक्षका वीज मिथ्यात्वहै ऐसा सर्वज्ञदेवने कहाहै इसलिये मोक्षाभिलाषीउत्तमपुरुषोंको सम्यग्दर्शनके पानेपर उसकी रक्षाकरनेमें अत्यंत प्रयत्न करना चाहिये क्योंकि नरक तिर्यंच आदि नानाप्रकारकी योनियोंसे व्याप्त इससंसारमें अनादिकालसे भ्रमण करताहुवा और खोटेकर्मोंसे युक्त, यहप्राणी वहुतकालके व्यतीत होनेपरभी इस सम्यग्दर्शनको कहां पासक्ताहै ? अर्थात् सम्यग्दर्शनका पाना अत्यंतदुर्लभ है ॥ ३ ॥

औरभी आचार्य उपदेशदेते हैं ।

सम्प्राप्तेऽत्र भवे कथं कथमपि द्राघीयसाऽनेहसा मानुष्ये शुचिदर्शने च महता कार्यं तपो मोक्षदम् ।
नो चेल्लोकनिषेधतोऽथ महतो मोहादशक्तेरथ सम्पद्येत न तत्तदा गृहवतां षट्कर्मयोग्यं व्रतम् ॥ ४ ॥

अर्थः—अनंतकालके वीतजानेपर इससंसारमें वड़ी कठिनतासे मनुष्यजन्मके मिलनेपर तथा सम्यग्दर्शनके प्राप्तहोनेपर उत्तमपुरुषोंको मोक्षको देनेवाला तप अवश्य करना चाहिये यदि लोकनिन्दासे अथवा प्रवलचारित्रमोहनीयकर्मके उदयसे वा असमर्थपनेसे तप न होसके तो गृहस्थोंके देवपूजा गुरुसेवा स्वाध्याय आदि षट्कर्मोंके योग्य व्रततो अवश्यही करना चाहिये।

भावार्थः—इससंसारमें प्रथमतो निगोदादिसे निकलनाही अत्यंतकठिन है दैवयोगसे यदि वहांसे निकलभी आवे तो यहां आकार पृथ्वीकायिक तथा जलकायिक आदि एकेन्द्रीस्थावरजीव होते हैं त्रसपर्याय नहीं मिलती यदि वहभी मिलजावे तो उसत्रसपर्यायमें मनुष्यपर्यायकी प्राप्ति बड़ी कठिनतासे होती है यदि वहभी मिलजावे तो जीवादिपदार्थोंका श्रद्धानरूपसम्यग्दर्शन नहीं मिलता यदि वहभी मिलजावे तो मनुष्य उसकी रक्षाकरनेमें बड़ाभारी प्रमाद करता है इसलिये वह पाया हुवाभी न पाये हुवेके समान हो जाता है अतःआचार्य उपदेश देते हैं कि वड़े भाग्यसे यदि मनुष्यजन्म तथा सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होजावे तो उत्तम पुरुषोंको प्रमाद छोड़कर तपकरना चाहिये यदि लोकनिन्दा, अथवा प्रवलचारित्रमोहनीयकर्मके उदयसे वा असमर्थपनेसे तप न होसके तो षट्कर्मके योग्य श्रावकोंके व्रततो अवश्यही धारण करना चाहिये किन्तु पाये हुवे मनुष्यजन्मको तथा सम्यग्दर्शनको व्यर्थ नहीं खोना चाहिये ॥ ४ ॥

अब आचार्य श्रावकके व्रतोंको वतलाते हैं तथा वे व्रत गृहस्थोंको पुण्यके करनेवाले होते हैं इसबातकोभी आचार्य बतलाते हैं।

दृङ्मूलव्रतमष्टधा तदनु च स्यात्पञ्चधाणुव्रतं शीलाख्यं च गुणव्रतं त्रयमतः शिक्षाश्चतस्रः पराः।
रात्रौ भोजनवर्जनं शुचिपटात्पेयं पयः शक्तितः मौनादिव्रतमप्यनुष्ठितमिदं पुण्याय भव्यात्मनाम् ॥

अर्थः—सम्यग्दर्शनपूर्वक आठमूलगुणोंकापालना, तथा अहिंसादि पांच अणुव्रतोंका धारणकरना और दिग्व्रतआदि तीनगुणव्रत तथा देशावकाशिक आदि चारप्रकारके शिक्षाव्रत इसप्रकार इन सात शीलव्रतोंको पालना, और रातमें खाद्य स्वाद्य आदि अहारोंका त्यागकरना और स्वच्छकपड़ेसे छानेहुवे जलका पीना तथा शक्तिके अनुकूल मौन आदि व्रतोंकाधारण, इसप्रकार ये श्रावकोंके व्रत हैं तथा भलीभांति आचारण कियेहुवे ये श्रावकोंके व्रत भव्यजीवोंको पुण्यके करनेवाले होतेहैं इसलिये धर्मात्माश्रावकोंको इनश्रावकोंके व्रतोंका अवश्य ही ध्यानपूर्वक पालन करना चाहिये ॥ ५ ॥

देशव्रतकाधारी श्रावक इसरीतिसे व्रतोंको धारण करता है ।

हन्ति स्थावरदेहिनः स्वविषये सर्वांस्त्रसान् रक्षति ब्रूते सत्यमचौर्यवृत्तिमवलां शुद्धां निजां सेवते ।
दिग्देशव्रतदण्डवर्जनमतः सामायिकं प्रोषधं दानं भोगयुगं प्रमाणमुररीकुर्याद् गृहीति व्रती ॥ ६॥

अर्थः—व्रतीश्रावक अपने प्रयोजनके लिये स्थावरकायके जीवोंको मारता है तथा दो इन्द्रियको आदि-लेकर सैनीपचेंद्री पर्यंत समस्तत्रसजीवोंकी रक्षाकरता है और सत्यवोलता है तथा आचौर्यव्रतका पालन करता है और स्वस्त्रीका सेवन करता है तथा दिग्व्रत देशव्रत अनर्थदण्डव्रतका पालन करता है और सामायिक प्रोषधोपवास तथा दानको करता है और भोगोपभोगपरिमाण नामक व्रतको स्वीकार करता है ॥ ६ ॥

यद्यपि गृहस्थके देवपूजा आदिगुण हैं तोभी उनमें दान सबमें उत्तमगुण हैं इसवातको आचार्य बताते हैं ।

देवाराधनपूजनादिवहुषु व्यापारकार्येषु स पुण्योपार्जनहेतुषु प्रतिदिनं संजायमानेष्वपि ।
संसारार्णवतारणे प्रवहणं सत्पात्रमुद्दिश्य यत्तद्देशव्रतधारिणो धनवतो दानं प्रकृष्टो गुणः ॥ ७ ॥

अर्थः—यद्यपि धनवान और धर्मात्मा श्रावकोंके श्रेष्ठपुण्यके संचय करनेवाले जिनेन्द्रदेवकी सेवा तथा पूजन

प्रतिष्ठा आदि प्रतिदिन अनेक उत्तमकार्य होतेरहते हैं तथापि उनसब उत्तमकार्योंमें संसारसमुद्रसे पारकरनेमें जहाजके समान श्रेष्ठमुनि आदि पात्रोंको जो दानदेना है वह उन धर्मात्माश्रावकोंका सबसे प्रधान गुण (कर्तव्य) है इसलिये भव्यश्रावकोंको सदा उत्तम आदि पात्रोंमें दान देना चाहिये ॥ ७ ॥

सर्वो वाञ्छति सौख्यमेव तनुभृत्तन्मोक्षएव स्फुटं दृष्ट्यादित्रय एव सिध्यति स तन्निर्ग्रन्थ एव स्थितम्।
तद्वृत्तिर्वपुषोऽस्य वृत्तिरशनात्तद्दीयते श्रावकैः काले क्लिष्टतरेऽपि मोक्षपदवी प्रायस्ततोवर्तते ॥ ८॥

अर्थः—समस्तजीवोंकी अभिलाषा सदा यही रहा करती है कि हमको सुखमिले परन्तु यदि अनुभव किया जावेतो वास्तविक सुख मोक्षमें ही है और उसमोक्षकी प्राप्ति सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र स्वरूप रत्नत्रयकेधारणकरनेसे ही होती है और उसरत्नत्रयकी प्राप्ति निर्ग्रन्थ अवस्थामेंही होतीहै और निर्ग्रन्थ अवस्था शरीरके होते संतेही होतीहै तथा शरीरकी स्थिति अन्नसे रहतीहै और वह अन्न धर्मात्माश्रावकोंके द्वारा दियाजाता है इसलिये इस दुःखमकालमें मोक्षपदवीकी प्रवृत्ति गृहस्थोंकेदियेहुवेदानसे ही होती है ऐसाजान-कर धर्मात्मा श्रावकोंको सदा सत्पात्रोंकेलिये दान देना चाहिये ॥ ८ ॥

अब आचार्य औषधिदानकी महिमाका वर्णन करते हैं ।

स्वेच्छाहारविहारजल्पनतया नीरुग्वपुर्जायते साधूनां तु न सा ततस्तदपटु प्रायेण सम्भाव्यते ।
कुर्यादौषधपथ्यवारिभिरिदं चारित्रभारक्षमं यत्तस्मादिह वर्तते प्रशमिनां धर्मोगृहस्थोत्तमात् ॥ ९ ॥

अर्थः—इच्छानुसार भोजन भ्रमण तथा भाषाणसे शरीर रोग रहित रहता है परन्तु मुनियोंकेलिये न तो इच्छानुसार भोजन करनेकी ही आज्ञा है और न इच्छानुसार भ्रमण तथा भाषाणकी ही आज्ञा है इसलिये उनका शरीर सदा अशक्तही बना रहता है किन्तु धर्मात्मा श्रावकगण उत्तम दवा तथा पथ्य और निर्मल जल

देकर मुनियोंके शरीरको चारित्रके पालन करनेके लिये समर्थ बनाते हैं इसलिये मुनिधर्मकी प्रवृत्ति भी उत्तमश्रावकोंसे ही होती है अतः आत्माके हितकी अभिलाषा करनेवाले भव्यजीवोंको अवश्यही मुनिधर्मकी प्रवृत्तिके प्रधानकारण इस गृहस्थ धर्मको धारण करना चाहिये ॥ ९ ॥

ज्ञानदानकी महिमाका वर्णन ।

व्याख्या पुस्तकदानमुन्नतधियां पाठाय भव्यात्मनां भक्त्या यत्क्रियते श्रुताश्रयमिदं दानं तदाहुर्बुधाः ।
सिद्धेऽस्मिञ्जननान्तरेषु कतिषु त्रैलोक्यलोकोत्सवश्रीकारिप्रकटीकृताखिलजगत्कैवल्यभाजोजनाः॥१०॥

अर्थः—सर्वज्ञदेवसे कहे हुवे शास्त्रका भक्तिपूर्वक जो व्याख्यान किया जाता है तथा विशालबुद्धिवाले भव्यजीवोंको पढ़नेकेलिये जो पुस्तक दी जातीं हैं उसको ज्ञानीपुरुष शास्त्र (ज्ञान) दान कहते हैं तथा भव्यों को इस ज्ञानदानकी प्राप्तिके होने पर थोड़ेही भवोंमें, तीनोंलोकके जीवोंको उत्सव तथा लक्ष्मीके करनेवाले और समस्तलोकके पदार्थोंको हाथकी रेखाके समान देखनेवाले, केवलज्ञानकी उत्पत्ति होती है ।

भावार्थः—जो धर्मात्माश्रावक शास्त्रका व्याख्यान करते हैं तथा पुस्तक लिखकर तथा लिखवाकर देतेहैं और पढ़ना पढ़ाना इत्यादि ज्ञानदान में प्रवृत्त होते हैं उन श्रावकोंको थोड़ेही कालमें समस्तलोकालोकको प्रकाशकरनेवाले केवलज्ञानीकी प्राप्ति होती है इसलिये अपने हितके चाहनेवाले भव्यजीवोंको यह उत्तम ज्ञान दान अवश्यही करना चाहिये ॥ १० ॥

सर्वेषामभयं प्रवृद्धकरुणैर्यद्दीयते प्राणिनां दानं स्यादभयादि तेन रहितं दानत्रयं निष्फलम् ।
आहारौषधशास्त्रदानविधिभिः क्षुद्रोगजाड्याद्भयं यत्तत्पात्रजने विनश्यति ततोदानं तदेकं परम् ॥११॥

अर्थः—विस्तीर्णकरुणाके धारी भव्यजीवोंद्वारा जो समस्तप्राणियोंके भयको छुटाकर उनकी रक्षाकी

जाती है उसको ज्ञानीजन अभयदान कहते हैं तथा उस अभयदानके विना बाकीके तीनों दान सर्वथा निष्फल है अथवा आहार औषध और शास्त्र इनतीनों दानोंके देनेसे क्षुधाके भयका तथा रोगके भयका और मूर्खताके भयकाही नाश होता है इसलिये एक अभयदानही समस्तदानोंमें उत्कृष्टदान है।

भावार्थः—अभय का अर्थ भयका न होना होता है यदि आहार औषध तथा शास्त्र दानके देनेपर भी क्षुधा, रोग, तथा मूर्खतासे उत्पन्न होनेवाले भयोंका नाश होता है तो वे तीनोंही अभय दानके ही आधीन हैं इसलिये अभयदान ही समस्त दानोंमें उत्कृष्ट दान है ॥ ११ ॥

आहारात्सुखितौषधादतितरां नीरोगताजायते शास्त्रात्पात्रनिवेदितात्परभवे पण्डित्यमत्यद्भुतम्।
एतत्सर्वगुणप्रभापरिकरः पुन्सोऽभयाद्दानतः पर्यन्ते पुनरुन्नतोन्नतपदप्राप्तिर्विमुक्तिस्ततः ॥ १२ ॥

अर्थः—उत्तमआदिपात्रोंमें आहारदानके देनेसे तो इन्द्र धरणेन्द्र चक्रवर्ती आदिके सुखोंकी प्राप्ति होती है तथा औषधादानके देनेसे परभवमें अत्यन्त रूपवान तथा नीरोग शरीर मिलता है और शास्त्रदानके देने से अत्यन्तआश्चर्यकी करनेवाली विद्वत्ताकी प्राप्ति होती है और अभयदानके देनेसे सुख तथा नीरोगपना आदि समस्तगुणोंकी प्राप्ति होती है अन्तमें उत्तमोत्तम चक्रवर्ती आदि पदोंकी प्राप्ति होकर मोक्षकी प्राप्ति होती है इसलिये उत्तमोत्तमसुख नीरोगता आदि गुणोंके अभिलाषीमनुष्यों अवश्यही चारोंप्रकारका दान देना चाहिये॥१२॥

कृत्वा कार्यशतानि पापबहुलान्याश्रित्य खेदं परं भ्रान्त्वा वारिधिमेखलां वसुमतीं दुःखेन यच्चार्जितम्।
तत्पुत्रादपि जीवितादपि धनं प्रेयोऽस्य पन्था शुभो दानं तेन च दीयतामिदमहो नान्येन तत्सद्गतिः॥१३॥

अर्थ—सैकड़ों पापसहित कार्योंको करके तथा नानाप्रकारके दुःखोंको उठाकरके और समुद्रपर्यंत पृथ्वी पर भ्रमणकरके बड़े कष्टसे धनका संचय किया जाता है तथा वह धन पुत्र और अपने जीवनसे भी प्यारा

होता है उसधनके खर्चकरनेका यदि मार्ग है तो यही है कि वह दानके काममें लाया जावे किन्तु इससे भिन्न उसधनके खर्चकरनेका कोई भी उत्तम मार्ग नहीं इसलिये सज्जनपुरुषोंको चाहिये कि वे दानमार्गसेही धनका व्यय करै किंतु दानसे अतिरिक्त मार्गमें उसधनका उपयोग न करै ॥ १३ ॥

दानेनैव गृहस्थता गुणवती लोकद्वयोद्योतिका नैव स्यान्ननु तद्विना धनवतो लोकद्वयध्वन्सकृत् ।
दुर्व्यापारशतेषु सत्सु गृहिणः पापं यदुत्पद्यते तन्नाशाय शशाङ्कशुभ्रयशसे दानं नचान्यत्परम् ॥१४॥

अर्थः—धनी मनुष्योंका गृहस्थपना दानसे ही गुणोंका करनेवाला होता है और दानसे ही दोनों लोकोंका प्रकाशकरनेवाला होता है किन्तु बिना दानके वह गृहस्थपना दोनों लोकोंका नाश करनेवालाही है क्योंकि गृहस्थोंके सैकड़ों खोटे २ व्यापारोंके करनेसे सदा पापकी उत्पत्ति होती रहती है उसपापके नाशकेलिये तथा चन्द्रमाके समान यशकी प्राप्तिकेलिये यह एक पात्रदानही है दूसरी कोई वस्तु नहीं है इसलिये अपनी आत्माके हितको चाहनेवाले भव्योंको चाहिये कि वे पात्रदानसे ही गृहस्थपनेको तथा धनको सफल करै ॥ १४ ॥

पात्राणामुपयोगि यत्किल धनं तद्धीमतां मन्यते येनानन्तगुणं परत्र सुखदं व्यावर्तते तत्पुनः ।
यद्भोगाय गतं पुनर्धनवतस्तन्नष्टमेव ध्रुवं सर्वासामिति सम्पदां गृहवतां दानं प्रधानं फलम् ॥ १५ ॥

अर्थः—जो धन उत्तमादिपात्रोंके उपयोगमें आता है विद्वान लोग उसीधनको अच्छा धन समझते हैं तथा वह पात्रमें दियाहुवा धन परलोकमें सुखका देनेवाला होता है और अनन्तगुणा फलता है किन्तु जो धन नानाप्रकारके भोग विलासोंमें खर्च होता है वह धनवानोंका धन सर्वथा नष्टही हो गया ऐसा समझना चाहिये क्योंकि गृहस्थोंके सर्वसम्पदाओंका प्रधान फल एक दानही है ।

भावार्थः—यों तो धनी गृहस्थोंके प्रतिदिन नानाकार्योंमें धनका खर्च होता रहता है परन्तु जो धन

उत्तमादिपात्रोंके दानोंमें खर्च होता है वास्तवमें वही धन उत्तमधन है और उत्तमआदिपात्रोंके दानमें खर्च कियाहुवा वह धन परलोकमें नानाप्रकारके सुखोंका करनेवाला होता है तथा अनन्तगुणा होकर फलता है किन्तु जो धन भोग विलास आदि निकृष्टकार्योंमें खर्च किया जाता है वह धन सर्वथा नष्टही हो जाता है तथा परलोकमें उससे किसीप्रकारका सुख नहीं मिलता और न वह अनन्तगुणा होकर फलताही है क्योंकि समस्त सम्पदाओंके होनेका प्रधान फल दानही है इसलिये धर्मात्माश्रावकोंको निरन्तर उत्तम आदि पात्रोंमें दान करना चाहिये तथा पाये हुवे धनको सफल करना चाहिये ॥ १५ ॥

औरभी आचार्य दानकी महिमाका वर्णन करते हैं ।

पुत्रो राज्यमशेषमर्थिषु धनं दत्वाभयं प्राणिषु प्राप्ता नित्यसुखास्पदं सुतपसा मोक्षं पुरा पार्थिवाः ।
मोक्षस्यापि भवेत्ततः प्रथमतोदानं निदानं बुधैः शक्त्या देयमिदं सदातिचपले द्रव्ये तथा जीविते॥१६॥

अर्थः—भूतकालमेंभी बड़े २ राजा पुत्रोंको राज्यदेकर तथा याचकजनोंको धनदेकर और समस्त प्राणियोंको अभयदान देकर अनशन आदि उत्तम तपोंको आचरणकर अविनाशी सुखके स्थान मोक्षको प्राप्त हुवे हैं इसलिये मोक्षका सबसे प्रथम कारण यह एक दानही है अर्थात् दानसे ही मोक्ष की प्राप्ति होती है अतः विद्वानों को चाहिये कि धन तथा जीवन को जलके ववूले के समान अत्यन्त विनाशीक समझकर सर्वदाशक्ति के अनुसार उत्तम आदि पात्रोंमें दान दिया करैं ॥ १६ ॥

ये मोक्षं प्रति नोद्यताः सुनृभवे लब्धेऽपि दुर्बुद्धयस्ते तिष्ठन्ति गृहे न दानमिह चेत्तन्मोहपाशो दृढः ।
मत्वेदं गृहिणा यथर्द्धि विविधं दानं सदा दीयतां तत्संसारसरित्पतिप्रतरणे पोतायते निश्चितम्॥१७॥

अर्थः—अत्यन्तदुर्लभ इस मनुष्यभवको पाकर भी जो मनुष्य मोक्षकेलिये उद्यम नहीं करते हैं तथा घर

में ही पड़े रहते हैं वे मनुष्य मूढ़बुद्धि हैं और जिसघरमें दान नहीं दिया जाता वह घर अत्यन्तकठिन मोह का जाल है ऐसा भलीभांति समझकर अपने धनके अनुसार भव्यजीवोंको नानाप्रकारका दान अवश्य करना चाहिये क्योंकि यह उत्तमआदिपात्रोंमें दियाहुवा दानही संसाररूपीसमुद्रसे पारकरनेमें जहाजके समान है ।

भावार्थः—अत्यंतदुर्लभ इसमनुष्यभवको पाकर तथा ऊंचा कुल आदि पाकर भव्यजीवोंको मोक्षकेलिये प्रयत्न अवश्य करना चाहिये यदि मोक्षके लिये प्रयत्न न होसके तो शक्ति तथा धनके अनुसार दानतो अवश्य ही करना चाहिये क्योंकि यहदानही संसारसमुद्रसे पार करनेवाला है किन्तु दानके विना जीवनको तथा धन को कदापि व्यर्थ नहीं खोना चाहिये ॥ १७ ॥

यैर्नित्यं न विलोक्यते जिनपतिर्न स्मर्यते नार्च्यते न स्तूयेत न दीयते मुनिजने दानं च भक्त्या परम् ।
सामर्थ्ये सति तद्गृहाश्रमपदं पाषाणनावा समं तत्रस्था भवसागरेऽतिविषमे मज्जन्ति नश्यन्ति च ॥

अर्थः—जो मनुष्य समर्थहोनेपरभी निरन्तर न तो भगवानका दर्शनही करते हैं तथा न उनका स्मरण ही करते हैं और उनकी पूजा भी नहीं करते हैं तथा न उनका स्तवन करते हैं और न निर्ग्रन्थ मुनियोंको भक्तिपूर्वक दानही देतेहैं उन मनुष्योंका वह गृहस्थाश्रमरूपस्थान पत्थरकी नावके समान है तथा उस गृहस्थाश्रममें रहनेवाले गृहस्थ इसभयंकर संसाररूपी समुद्रमें नियमसे डूवते हैं और डूवकर नष्ट होजाते हैं इसलिये आचार्य उपदेश देतेहैं कि जो भव्यजीव गृहस्थाश्रमको तथा अपने जीवन और धनको पवित्र करना चाहते हैं उनको जिनेन्द्रदेवकी पूजा स्तुति आदिकार्य तथा उत्तमादि पात्रोंकेलिये दान अवश्यही देना चाहिये ॥ १८ ॥

आचार्य दाताकी महिमाका वर्णन करते हैं ।

चिन्तारत्नसुरद्रुकामसुरभिस्पर्शोपलाद्या भुवि ख्याता एव परोपकारकरणे दृष्टा न ते केनचित् ।

तैरत्रोपकृतं न केषुचिदपि प्रायो न सम्भाव्यते तत्कार्याणि पुनः सदैव विदधद्दाता परं दृश्यते ॥१९॥

अर्थः—चिन्तामणिरत्न कल्पवृक्ष कामधेनु पारसपत्थर आदिक पदार्थ संसारमें परोपकारी है यह बात आजतक सुनीही है किन्तु किसीने अभीतक ये साक्षात उपकार करते हुवे देखे नहीं हैं तथा उन्होंने किसीमें उपकार किया है इसबातकीभी संभावना नहीं कीजाती परन्तु चिन्तामणिरत्न आदिके कार्यको करनेवाला दाता (मनोवांछित दानदेनेवाला) अवश्य देखनेमें आता है इसलिये चिंतामणिरत्न कल्पवृक्ष आदि उत्कृष्ट पदार्थ दाताही हैं किन्तु इनसे भिन्न चिंतामणि आदिक कोई पदार्थ नहीं हैं ॥१९ ॥

यत्र श्रावकलोक एव वसति स्यात्तत्र चैत्यालयो यस्मिन्सोऽस्ति च तत्र सन्ति यतयो धर्मश्च तैर्वर्तते ।
धर्मे सत्यघसंचयो विघटते स्वर्गापवर्गाश्रयं सौख्यं भावि नृणां ततो गुणवतां स्युः श्रावकाः सम्मताः॥२०॥

अर्थः—जिस नगर तथा देशमें श्रावकलोग रहते हैं वहांपर जिनमदिर होता है और जहांपर जिनमंदिर होता है वहांपर यतीश्वर निवास करते हैं और जहांपर यतीश्वरोंका निवास होता है वहांपर धर्मकी प्रवृत्ति रहती है तथा जहांपर धर्मकी प्रवृत्ति रहती है वहांपर अनादिकालसे संचयकिये हुए प्राणियोंके पापोंका नाश होता है तथा भाविकालमें स्वर्ग तथा मोक्षके सुखोंकी प्राप्ति होती है इसलिये गुणवान मनुष्योंको धर्मात्मा श्रावकोंका अवश्य आदर करना चाहिये ॥

भावार्थः—धर्मात्मा श्रावकही अपने धनसे जिनमन्दिरको बनवाते हैं तथा जिनमन्दिरोंमें यतीश्वर निवास करते हैं और यतीश्वरोंसे धर्मकी प्रवृत्ति होती है तथा धर्मसे पापोंका नाश तथा उत्तम स्वर्ग मोक्ष आदिके सुखोंकी प्राप्ति होती है इत्यादि ये समस्त बातें श्रावकोंके द्वाराही होती हैं यदि श्रावक न होवे तो ये बातें कदापि नहीं हो सकीं इसलिये ऐसे उत्तमश्रावकोंका भव्यजीवोंको अवश्य आदर सत्कार करना चाहिये ॥ २० ॥

काले दुःखमसंज्ञके जिनपतेर्धर्मे गते क्षीणतां तुच्छे सामयिके जने बहुतरे मिथ्यान्धकारे सति ॥
चैत्ये चैत्यगृहे च भक्तिसहितो यः सोऽपि नो दृश्यते यस्तत्कारयते यथाविधि पुनर्भव्यः स वन्द्यः सताम्॥

अर्थः—इस दुःखमनामकालमें जिनेन्द्रभगवानके धर्मके क्षीण होनेसे तथा आत्माके ध्यानकरनेवाले मुनिजनोंकी विरलायतसे और गाढ़ मिथ्यात्वरूपी अंधकारके फैलजानेसे जो जिनेन्द्रभगवानकी प्रतिमामें तथा जिनमन्दिरोंमें भक्तिसहितथे तथा उनको भक्तिपूर्वक बनवातेथे वे मनुष्य इससमय देखनेमें नहीं आते हैं किन्तु जो भव्यजीव इससमय भी विधिके अनुसार उन जिनमन्दिर आदिकार्योंको करता है वह सज्जनोंका वंद्यही है अर्थात् समस्तउत्तमपुरुष उसकी निर्मलहृदयसे स्तुति करते हैं ॥ २१ ॥

बिम्बादलोन्नतियवोन्नतिमेव भक्त्या ये कारयन्ति जिनसद्म जिनाकृतिं वा ॥
पुण्यं तदीयमिह वागपि नैव शक्ता स्तोतुं परस्य किमु कारयितुर्द्वयस्य ॥२२॥

अर्थः—आचार्य कहते हैं जो भव्यजीव इससंसारमें भक्तिपूर्वक यदि छोटेसे छोटे बिम्बा (कुन्दुक) पत्तेके समान जिनमन्दिर तथा यव (जौ) के समान जिनप्रतिमाको भी बनावे तो उसमनुष्यको भी इतने पुण्यकी प्राप्ति होती है कि जिसको औरकी तो क्या बात? साक्षात् सरस्वती भी वर्णन नहीं करसक्ती किन्तु जो मनुष्य ऊंचे २ जिनमन्दिर तथा जिनप्रतिमाओंका बनानेवाला है उसको तो फिर अगम्यपुण्यकी ही प्राप्ति होती है ॥

भावार्थः—बिम्बाके पत्रकी उचाई बहुत थोड़ी होती है और यवकी भी उचाई बहुत थोड़ी होती है किन्तु आचार्य इसबातका उपदेशदेते हैं कि इस कलिकाल पंचमकालमें यदि कोई मनुष्य बिम्बाके पत्तेकी उचाईके समान जिनमन्दिरको तथा यवकी उचाईके समान ऊंची जिनप्रतिमाको भी बनावे तो उसके पुण्यकी स्तुतिकरनेकेलिये साक्षात् सरस्वती भी हार मानती है किन्तु जो मनुष्य ऊंचे २ जिनमन्दिरोंका बनानेवाला

है तथा ऊंची २ जिनप्रतिमाओंका निर्माण करनेवाला है उसका तो पुण्य फिर अगम्यही समझना चाहिये इसलिये भव्यजीवोंको चाहिये कि वे ऊंची २ जिनप्रतिमाओंका तथा जिनमन्दिरोंका उत्साहपूर्वक इसपंचम कालमें अवश्य निर्माण करावें ॥ २२ ॥

शार्दूलविक्रीड़ित।

यात्राभिःस्नपनैर्महोत्सवशतैः पूजाभिरुल्लोचकै नैवेद्यैर्वलिभिर्ध्वजैश्च कलशैस्तौर्यत्रिकैर्जागरैः ॥
घण्टाचामरदर्पणादिभिरपि प्रस्तार्य शोभां परां भव्याः पुण्यमुपार्जयन्ति सततं सत्यत्र चैत्यालये॥२३॥

अर्थ—इससंसारमें चैत्यालयके होनेपर भव्यजीव यात्रासे कलशाभिषेकोंसे तथा और सैकड़े बड़े उत्सवोंसे और पूजा तथा चांदनियोंसे और नैवेद्यसे वलिसे तथा ध्वजाओंकेआरोपणसे कलशारोपणसे और अत्यत शब्दोंके करनेवाले बाजोंसे तथा घंटा चमर दर्पण आदिकसे उनचैत्यालयोंकी उत्कृष्टशोभाको बढ़ाकर पुण्यका संचय करलेते हैं इसलिये भव्यजीवोंको चैत्यालयका निर्माण अवश्यही कराना चाहिये ॥ २३ ॥

ते चाणुव्रतधारिणोऽपि नियतं यान्त्येव देवालयं तिष्ठन्त्येव महर्द्धिकामरपदं तत्रैव लब्ध्वा चिरम्।
अत्रागत्य पुनः कुलेऽति महति प्राप्य प्रकृष्टं शुभान्मानुष्यं च विरागतां च सकलत्यागं च मुक्तास्ततः॥

अर्थः—जो षटआवश्यक पूर्वक अणुव्रतके धारणकरनेवाले श्रावकहैं वे नियमसे स्वर्गको जाते हैं तथा वहां पर महानऋद्धिके धारी देवहोकर चिरकालतक निवास करते हैं और पीछे वे इसमर्त्यलोकमें आकर शुभकर्मके योगसे अत्यंत उत्तमकुलमें मनुष्यजन्मको पाकर तथा वैराग्यको धारणकर और समस्त वाह्य तथा अभ्यंतर परिग्रहका नाशकर सीधे सिद्धालयको पधारते हैं तथा वहांपर अनन्तसुखके भोगनेवाले होते हैं इसप्रकार जब अणुव्रत आदिभी मुक्तिके कारण हैं तो भव्योंको चाहिये कि वे षट आवश्यक पूर्वक अणुव्रतोंको प्रयत्नसे धारण करै ॥ २४ ॥

पुन्सोऽर्थेषु चतुर्षु निश्चलतरो मोक्षः परं सत्सुखः शेषास्तद्विपरीतधर्मकलिता हेया मुमुक्षोरतः ।
तस्मात्तत्पदसाधनत्वधरणो धर्मोऽपि नो सम्मतो यो भोगादिनिमित्तमेव स पुनः पापं बुधैर्मन्यते २५

अर्थ—चारो पुरुषार्थोंमें मनुष्यकेलिये अविनाशी तथा उत्तमसुखका भंडार केवल मोक्षही पुरुषार्थ है किन्तु मोक्षसे आतिरिक्त अर्थ काम आदि पुरुषार्थ विपरीतधर्मके भजनेवाले है इसलिये वे मोक्षाभिलाषी को सर्वथा त्यागने योग्य है तथा धर्मनामकपुरुषार्थ यदि मोक्षका कारण होवे तो वह अवश्य ग्रहण करने योग्य हैं किन्तु यदि वही पुरुषार्थ नानाप्रकारके भोगविलासोंका कारण होवे तो वह भी सर्वथा नहीं मानने योग्य हैं तथा ऐसे भोगविलासके कारण धर्मपुरुषार्थको ज्ञानीजन पापही कहते है ।

भावार्थः—धर्म अर्थ काम तथा मोक्ष इसप्रकार चारप्रकारके पुरुषार्थ हैं उनसवमें अविनाशी तथा अनंतसुखकाभंडार मोक्षही उत्तमपुरुषार्थ है इसलिये विद्वानोंको वही ग्रहणकरने योग्य है परन्तु इससें विपरीत अर्थ आदि पुरुषार्थ हैं वे विनाशीक तथा दुःखकेकारण हैं इसलिये सर्वथा त्यागने योग्य हैं और यदि धर्मनामक पुरुषार्थ मोक्षका कारण होवे वह तो विद्वानोंको सदा ग्रहणकरने योग्य है किन्तु यदि वही पुरुषार्थ नानाप्रकारके भोगोंका कारण होवे तो वह पापही है इसलिये सर्वथा वह त्याग करने योग्यही है इसलिये भव्यजीवोंको चाहिये कि वे मोक्षपुरुषार्थकेलिये तो सर्वथाही प्रयत्नकरैं तथा यदि धर्मनामक पुरुषार्थ मोक्षका साधन होवे तो उसकेलियेभी भलीभांति प्रयत्न करैं किन्तु इनसे अतिरिक्त पुरुषार्थोंको पापके कारण समझकर उनकेलिये कदापि प्रयत्न न करैं ॥ २५ ॥

भव्यानामणुभिर्व्रतैरनणुभिः साध्योऽत्र मोक्षः परं नान्यत्किञ्चिदिहैव निश्चयनयाज्जीवः सुखी जायते ।
सर्वंतु व्रतजातमीदृशधिया साफल्यमेत्यन्यथा संसाराश्रयकारणं भवति यत्तदुःखमेव स्फुटम् ॥ २६ ॥

अर्थः—भव्यजीव अणुव्रत तथा महाव्रतको मोक्षकी प्राप्तिकेलिये ही धारणकरते हैं किन्तु उनकेधारण करनेसे उनको अन्य कोई भी वस्तु साध्य नहीं है क्योंकि निश्चयनयसे जीवको सुखकी प्राप्ति मोक्षमेंही होती है तथा मोक्षकी प्राप्तिकेलिये जो अणुव्रत महाव्रत आदि व्रत आचरण कियेजाते हैं वे सफल समझे जाते हैं किन्तु जो व्रत मोक्षकी प्राप्तिकेलिये नहीं है संसारके ही कारण हैं वे दुःखस्वरूपही हैं यह भलिभांति स्पष्ट है इसलिये भव्यजीवोंको मोक्षकेलिये ही व्रतोंको धारण करना चाहिये ॥ २६ ॥

देशव्रतोद्योतननामकअधिकारको समाप्त करते हुवे आचार्य इसव्रतोद्योतननामक अधिकारका फल दिखाते हैं—

यत्कल्याणपरम्परार्पणपरं भव्यात्मनां संसृतौ पर्यन्ते यदनन्तसौख्यसदनं मोक्षं ददाति ध्रुवम्।
तज्जीयादतिदुर्लभं सुनरतामुख्यैर्गुणैः प्रापितं श्रीमत्पङ्कजनन्दिभिर्विरचितं देशव्रतोद्योतनम् ॥२७॥

अर्थः-जो देशव्रतोद्योतन संसारमें भव्यजीवोंको इन्द्र चक्रवर्ती आदि समस्तकल्याणोंका देनेवाला है और सबसे अंतमें अनन्त सुखोंका भंडार जो मोक्ष उसका देनेवाला है तथा जिसकी प्राप्ति अत्यंन्त दुर्लभ जो मनुष्यपना आदि अनेकगुण उनसे होती है और जिसकी रचना श्रीपद्मनन्दिनामक आचार्यने की है ऐसा वह व्रतोद्योतन चिरकाल तक इससंसार में जयवंत रहो।

भावार्थः—यह देशदेशव्रतोद्योतन क्रमसे इन्द्र अहमिन्द्र चक्रवर्ती आदि बड़े २ कल्याणोंको प्राप्तिकरा कर अंतमें मोक्षको देता है तथा मनुष्यपना उत्तम कुल आदि अनेकगुणोंसे ही उसकी प्राप्ति होती है और जिसकी रचना आचार्य श्रीपद्मनन्दिनेकी है ऐसा यह व्रतोद्योतन चिरकालतक इससंसार में जयवंत रहो ॥२७॥

इसप्रकार इसपद्मनन्दिपंचविंशतिकामें देशव्रतोद्योतननामक अधिकार समाप्त हुवा।

सिद्धस्तुतिः ।

शार्दूलविक्रीडित ।

सूक्ष्मत्वादणुदर्शिनोऽवधिदृशः पश्यन्ति नो यान्परे यत्संविन्महिमस्थितं त्रिभुवनं स्वच्छं भमेकं यथा।[1]
सिद्धांनामहमप्रमेयमहसां तेषां लघुर्मानघो मूढात्मा किमु वच्मि तत्र यदि वा भक्त्या महत्या वशः ॥

अर्थः—परमाणुपर्यन्त सूक्ष्मपदार्थोंको देखनेवालेभी अवधिज्ञानीपुरुष अत्यंतसूक्ष्म जिनसिद्धोंको नहीं देखसक्ते हैं तथा जिनकी ज्ञानकी महिमामें ये तीनोंलोक निर्मल नक्षत्रके समान स्थित मालूम पड़ते है और जो अपरिमित तेजके धारी हैं उन सिद्धोंकी स्तुतिको मैं अत्यन्त छोटा मनुष्य तथा अज्ञानी किसप्रकार करसक्ता हूं ? अर्थात् मैं उनकी स्तुतिकरनेमें समर्थ नहींहूं । तोभी प्रवल भक्तिसे प्रेरित हुवा मैं उनकी स्तुतिकरताहूं ॥

भावार्थः—जोपदार्थ स्थूल तथा छोटा और परिमित होवे तथा उसका वर्णन करनेवाला योग्य होवे तो उसका वर्णन कियाजासक्ता है किन्तु सिद्धतो अत्यंत सूक्ष्महै जिनको परमाणुपर्यंत पदार्थोंको प्रत्यक्षकरनेवाला अवधिज्ञानीभी नहीं देखसक्ताहै तथा अत्यंत महान है क्योंकि यह असंख्यात प्रदेशीभी लोक उनके ज्ञानमें एक नक्षत्रके समान झलकता है अर्थात् उनके ज्ञानके कोनेमें यह तीनलोक समारहा है और वे अपरिमित तेजके धारी हैं इसलिये अपरिमितभी है और मैं अत्यंत छोटा तथा अज्ञानी मनुष्य हूं फिरमें किसप्रकार उनकी स्तुति करनेकेलिये समर्थ होसक्ताहूं ? तोभी मुझे उनकी भक्ति प्रेरणा करती है इसलिये कुछ उनकी स्तुतिको करताहूं॥१॥

निश्शेषामरशेखराश्रितमणिश्रेण्यर्चिताङ्घ्रिद्वया देवास्तेऽपि जिना यदुन्नतपदप्राप्त्यै यतन्ते तराम ।

---

१ क. पुस्तकमें स्वस्तम्भमेकम्" यह भी पाठ है तथा उसका आशय यह है कि भगवानके ज्ञानमें यह तीनोंलोक आकाशमें खड़े हुवे स्तम्भके समान मालूम पड़ता है ।

सर्वेषामुपरि प्रवृद्धपरमज्ञानादिभिः क्षायिकैर्युक्ता न व्यभिचारिभिः प्रतिदिनं सिद्धान्नमामो वयम् ॥

अर्थः—समस्तप्रकारके देवोंके मुकटोंमें लगीहुई जो मणि उनसे जिनके चरणोंके युग्म पूजित हैं ऐसे उत्कृष्टदेव तीर्थंकरभी जिसउच्चपद सिद्धपदकी प्राप्तिकेलिये प्रयत्नकरते हैं ऐसे समस्तलोककी शिखरपर विराजमान तथा कलंकरहित अत्यंत विस्तीर्णज्ञान आदि क्षायिकगुणोंके धारी सिद्धोंको प्रतिदिन हम नमस्कार करते हैं ॥

भावार्थः—समस्तदेव आकार तीर्थंकरभगवानकी सेवा पूजा आदि करते हैं इसलिये यद्यपि संसारमें तीर्थंकरभी एक प्रधानपद है तोभी वे तीर्थंकर सदा उस सिद्धपदकी प्राप्तिकेलिये सदा प्रयत्न करते रहते हैं तथा जो सिद्ध तीनलोकके शिखरपर विराजमान हैं निर्दोष विस्तीर्ण क्षायिकज्ञान आदि गुणोंके धारी हैं हैं ऐसे सिद्धोंको सदा हम नमस्कार करते हैं ॥ २ ॥

ये लोकाग्रविलम्बिनस्तदधिकं धर्मास्तिकायं विना नो याताः सहजास्थिरामललसद्दृग्बोधसन्मूर्तयः।
संप्राप्ताः कृतकृत्यतामसदृशाः सिद्धा जगन्मङ्गलं नित्यानन्दसुधारसस्य च सदा पात्राणि ते पान्तु वः ॥

अर्थः—जो सिद्धभगवान लोकके अग्रभागमें गये हैं और जिनका स्वरूप स्वाभाविक तथा निश्चल जो निर्मलज्ञान और दर्शन उससे शोभायमान है और जो कृतकृत्य है और जिनकी उपमाको कोईभी धारण नहीं करसक्ता और जो समस्तजगतको मंगलके करनेवाले हैं तथा जो अविनाशी आनन्दरूपी अमृतके पात्र हैं ऐसे सिद्धभगवान आपकी रक्षाकरो अर्थात् ऐसे सिद्धभगवानकेलिये मैं सदा नमस्कार है ॥ ३ ॥

ये जित्वा निजकर्मकर्कशरिपून् प्राप्ताः पदं शाश्वतं येषां जन्मजरामृतिप्रभृतिभिः सीमापि नोल्लंघ्यते।
येष्वैश्वर्यमचिन्त्यमेकमसमज्ञानादिसंयोजितं ते सन्तु त्रिजगाच्छिखाग्रमणयः सिद्धा मम श्रेयसे ॥ ४ ॥

अर्थः—जो सिद्ध महाराज अपने समस्त कठोरकर्मरूपीवैरियोंको जीतकर अविनाशी सिद्धपदको प्राप्तहुवे हैं और जन्म जरा मरण आदिक अठारह दोष जिनके पासभी नहीं फटकने पाते तथा जो अनन्त-ज्ञानादिकरकिये हुवे अचिंत्य ऐश्वर्यके धारी हैं वे तीन जगतके शिखामणि सिद्धभगवान मेरे कल्याणके लिये हो अर्थात् ऐसे सिद्धोंको मैं नमस्कार करता हूं ॥ ४ ॥

सिद्धो बोधमिति स बोध उदितो ज्ञेयप्रमाणो भवेद् ज्ञेयं लोकमलोकमेव च वदत्यात्मेति सर्वस्थितः ।
मूषायां मदनोज्भिते हि जठरे यादृङ्नभस्तादृशः प्राक्कायात्किमपि प्रहीण इति वा सिद्धः सदानन्दति॥

अर्थः—निष्कलंक वह शुद्धात्मा तो ज्ञान प्रमाण कहागया है और वह ज्ञान ज्ञेय (पदार्थ) प्रमाण है तथा वे ज्ञेय लोकालोक प्रमाण हैं इसलिये इसयुक्तिसे तो आत्मा समस्त जगहपर मौजूद है अर्थात् व्यापक है किन्तु मनुष्याकार एक मोमकी पुतली बनाकर तथा उसके ऊपर मिट्टीका लेप चढ़ाकर, और उसपुतली को तपाकर मोम निकलजानेके पीछे जो उस मूषामें पुरुषाकार आकाश रहजाता है उसीप्रकार सिद्धावस्थाके प्रथमशरीरसे कुछ कमती आत्मप्रदेशोंके आकारस्वरूप भी वह शुद्धात्मा है अर्थात् अव्यापक भी है इसलिये व्यापकत्व अव्यापकत्व ऐसे दोनों धर्मोंकरसंयुक्त सिद्धपरमेष्टी सदा जयवंत है ।

भावार्थः—सिद्धोंका ज्ञान लोकालोक के पदार्थोंका प्रकाश करनेवाला है तथा वह ज्ञान आत्मास्वरूप ही है इयलिये इस ज्ञानगुणकी अपेक्षासे तो सिद्धोंकी आत्मा व्यापक है किन्तु सिद्धोंकी आत्माके प्रदेश चरम-शरीरसे कुछ कमती रहते हैं इसलिये प्रदेशोंकी अपेक्षासे वह आत्मा चरमशरीरसे कुछ कमती भी है अतः व्यापक नहीं भी है ॥ ५ ॥

दृग्बोधौपरमौ तदावृतिहतेः सौख्यं च मोहक्षयात् वीर्यं विघ्नविघाततो प्रतिहतं मूर्तिर्न नामक्षतेः ॥

आयुर्नाशवशान्न जन्ममरणे गोत्रे न गोत्रं विना सिद्धानां न च वेदनीयविरहाद्दुःखं सुखं चाक्षजम् ॥

अर्थः—ज्ञानावरणीय तथा दर्शनावरणीयके नाश हो जानेसे तो सिद्धोंके अनन्त ज्ञान तथा अनन्त दर्शन हैं और मोहनीयकर्मके सर्वथा क्षय होजानेके कारण उनको अनन्तसुखकी प्राप्ति हुई है और वीर्यान्तरायकर्मके नाश हो जानेके कारण उनको अनन्त वीर्यको प्राप्ति हुई है तथा नाम कर्मके अभावसे उनकी कोई मूर्ति नहीं है और आयुकर्मके नाश हो जानेके कारण न उनके जन्म है न मरण है तथा गोत्रकर्मका नाश हो गया है इसलिये उनका कोई गोत्र भी नहीं है और वेदनीयकर्मके नाश होजानेके कारण सिद्धोंके इन्द्रियजन्य सुखदुःख भी नहीं है।

भावार्थः—जबतक आत्माके साथ ज्ञानावरण तथा दर्शनावरणका संबंध रहता है तबतक अनन्तज्ञान तथा अनन्तदर्शनकी प्राप्ति नहीं होती किन्तु सिद्धोंके सम्यग्ज्ञान तथा सम्यग्दर्शनके स्वरूपको सर्वथा ढकनेवाले ज्ञानावरण तथा दर्शनावरण दोनों नष्ट होगये हैं इसलिये वे अनन्तज्ञान तथा अनन्तदर्शनके धारी हैं उसीप्रकार जबतक मोहनीय तथा अंतरायकर्मका संबंध आत्माके साथ रहता है तबतक तो अनन्त सुख तथा अनन्त वीर्यकी उत्पत्ति नहीं होती किन्तु सिद्धोंके इनदोनों मोहनीय तथा अंतरायकर्मका भी अभाव है इसलिये वे अनन्त सुख तथा अनन्त वीर्यकर सहित हैं तथा नामकर्मके उदयसे आकार बनता है किन्तु सिद्धोंके नामकर्मका अभाव है इसलिये उनकी कोई मूर्ति आकार भी नहीं है तथा आयुकर्मके नाशसे जन्म तथा मरण होता है किन्तु सिद्धोंके आयुकर्मका अभाव है इसलिये वे जन्म मरणकर रहित हैं और गोत्रकर्मकी कृपासे उच्चगोत्री तथा नीचगोत्री समझे जाते हैं उनके गोत्रकर्मका सर्वथा नाश होगया है इसलिये उनका कोई गोत्र भी नहीं है और साता तथा असाता वेदनीयकर्मके उदयसे इन्द्रियजन्य सुख तथा दुःख होता है किन्तु सिद्धोंके

॥२३४॥

समस्तप्रकारके वेदनीयकर्मका नाश होगया है इसलिये वे इन्द्रियजन्य सुख और दुःखसे रहित हैं ॥ ६ ॥

यैर्दुःखानि समाप्नुवन्ति विधिवज्जानान्ति पश्यन्ति नो वीर्यं नैव निजं भजन्त्यसुभृतो नित्यं स्थिताः संसृतौ।
कर्माणि प्रहतानि तानि महता योगेन यैस्ते सदा सिद्धा नित्यचतुष्टयामृतसरिन्नाथा भवेयुर्न किम् ॥७॥

अर्थः—संसारमें जिन कर्मोंकी कृपासे संसारीजीव नानाप्रकारके दुःखोंको सहन करते हैं तथा वास्तविक रीतिसे पदार्थोंके स्वरूपको न तो जानते हैं और न देखतेही है तथा जिनकर्मोंकी कृपासे जीव सामर्थ्यको भी नहीं प्राप्त करते हैं उन कर्मोंको जिन्होंने दुर्धर्षध्यानसे जड़से नष्ट करदिया है वे सिद्धभगवान क्या अनन्त विज्ञान आदि अनन्तचतुष्टयरूपी अमृत नदीके स्वामी (समुद्र) अर्थात् अनन्तचतुष्टयके धारी नहीं है? अवश्यही है।

भावार्थः—जिन सिद्धभगवानने अनन्तज्ञान अनन्तदर्शन आदि समस्तगुणोंके रोकनेवाले कर्मोंका नाशकिया है वे सिद्ध अनन्तचतुष्टयके धारी हैं ॥ ७ ॥

एकाक्षाद्बहुकर्मसंवृतमतेर्द्व्यक्षादिजीवाः सुखज्ञानाधिक्ययुता भवन्ति किमपि क्लेशोपशान्तेरिह।
यैः सिद्धास्तु समस्तकर्मविषमध्वान्तप्रबन्धच्युताःसद्बोधाः सुखिनश्च ते कथमहो न स्युस्त्रिलोकाधिपाः॥८॥

अर्थः—बहुत कर्मोंसे छिपा हुवा है ज्ञान जिनका ऐसे एकेन्द्रीजीवोंकी अपेक्षा जब कुछएकदुःखोंकी शान्तिसे दो इन्द्री आदिक जीव अधिक सुखी तथा अधिक ज्ञानवान है तो जो समस्त कर्मरूपी भयंकरअंधकारके संबन्धसे रहित है और जो तीनोलोकोंके स्वामी है ऐसे सिद्धभगवान क्यों नहीं सबकी अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ-ज्ञानके धारी तथा अधिक सुखी होंगे।

भावार्थः—जैसा २ ज्ञान अधिक २ बढ़ता जाता है वैसा २ सुख भी अधिक बढ़ता चला जाता है एकन्द्रीसे दो इन्द्री का ज्ञान कुछ अधिक है इसलिये वह एकेन्द्रीकी अपेक्षा अधिक सुखी है इसीरीतिसे दो इन्द्री

से ते इन्द्री तथा ते इन्द्रीसे चौ इन्द्री चौ इन्द्रीसे पंचेन्द्री अधिक ज्ञानी तथा सुखी हैं तो सिद्धोंके समस्त ज्ञानावरणादि कर्मोंका नाश होगया है इसलिये वे तो सर्वजीवोंसे अधिक ज्ञानी तथा सुखी हैंही ॥ ८ ॥

यः केनाप्यतिगाढगाढमभितो दुःखप्रदैः प्रग्रहैः बद्धोऽन्यश्च नरो रुषा घनतरैरापादमामस्तकम् ।
एकस्मिन् शिथिलेऽपि तत्र मनुते सौख्यं स सिद्धाः पुनः किं न स्युः सुखिनः सदा विरहिता बाह्यान्तरैर्बन्धनैः९

अर्थः—कोई मनुष्य किसीमनुष्यको, क्रोधसे अत्यन्त दुःखके देनेवाले, तथा कठिन, बन्धनोंसे पैरसे लगाकर मस्तक पर्य्यन्त चारो ओरसे बांधै उसबन्धनकी यदि एकभी रस्सी ढीली हो जावे तो वह बधा हुवा भी जीव सुख मानता है फिर जो समस्त बाह्य तथा अभ्यन्तर परिग्रहके बन्धनसे रहित है ऐसे सिद्धभगवान क्यों नहीं सुखी होंगे ? अर्थात अवश्यही होंगे ।

भावार्थः—आचार्यवर, सिद्धोंमें सुखकी अधिकता का वर्णन करते हैं कि जो पुरुष पैरसे लेकर शिरपर्यन्त कठिन बन्धनोंसे बंधा हुवा है यदि उस बन्धनकी एक भी लड़ी ढीली हो जावे तो पैरसै शिरतक बंधा हुवा भी वह जीव अपने को सुखी मानता है तब जो सिद्धभगवान् समस्तप्रकारके बाह्य तथा अभ्यन्तर कर्मोंके बन्धनोंसे रहित है वे क्यों नहीं सुखी होंगे ? अर्थात् समस्तबन्धनोंसे रहित होनेके कारण वे अनन्त सुखके भण्डार अवश्यही हैं इसमें किसीप्रकारका संशय नहीं ॥ ९ ॥

सर्वज्ञः कुरुते परं तनुभृतः प्राचुर्यतः कर्मणां रेणूनां गणनं किलाधिवसतामेकं प्रदेशं घनम् ।
इत्याशास्वखिलासु वद्धमहसो दुःखं न कस्माद्भवेन्मुक्त्या यस्य तु सर्वतः किमिति नो जायेत सौख्यं परम्१०

अर्थः—आत्माके एकभी प्रदेशमें सघनरीतिसे व्याप्त इतने अधिक परमाणू हैं कि उनकी गिनती सर्वज्ञको छोड़कर दूसरा कोई नहीं करसक्ता इसरीतिसे प्रत्येक आत्माके प्रदेशपर अनन्ते २ परमाणुके चिपटने के कारण

जिस आत्माका तेज चारों ओरसे रुकगया है अर्थात् न जो आत्मा भलीभांति पदार्थोंको जानही सक्ता है और न देखही सक्ता है ऐसे उस आत्माको क्यों नहीं दुःख होगा ? अवश्यही होगा किन्तु जिसने समस्त कर्मोंको जड़से उड़ादिया है अर्थात् जिसकी आत्माके प्रदेशोंकेसाथ किसीभी कर्मका बन्ध नहीं है, ऐसे सिद्धभगवानको तो अनन्तसुख क्यों नहीं होगा अवश्यही होगा ? ॥ १० ॥

सिद्धही अत्यन्ततृप्त है इसबातको आचार्य बतलाते हैं ।

येषां कर्मनिदानजन्यविविधक्षुतृण्मुखा व्याधयस्तेषामन्नजलादिकौषधगणस्तच्छान्तये युज्यते ।
सिद्धानान्तु न कर्म तत्कृतरुजो नातः किमन्नादिभिर्नित्यात्मोत्थसुखामृताम्बुधिगतास्तृप्तास्त एवध्रुवम् ११

अर्थः—जिन जीवोंके कर्मके उदयसे उपन्न हुवे क्षुधा तृषा आदिक रोग हैं उनजीवोंको उनरोगोंकी शान्तिकेलिये अन्न जल आदिका आश्रय करना पड़ता है किन्तु सिद्धभगवानके तो कर्मही नहीं हैं तथा कर्मों के अभावसे उनको अन्न जल आदिका आश्रय भी नहीं करना पड़ता इसलिये निश्चयसे अविनाशी और आत्मा सेही उत्पन्न हुवे ऐसे सुखरूपीअमृतसमुद्रमें मग्न सिद्धही अत्यन्त तृप्त है ऐसा समझना चाहिये ।

भावार्थः—संसारीजीवोंको कर्मके उदयसे नानाप्रकारके क्षुधा तृषा आदि रोगोंका सामना करना पड़ता है तथा क्षुधा तृषा आदिके होनेसे उनको उनकी शान्तिकेलिये अन्न जल आदिका आश्रय करना पड़ता है तथा उस अन्नजलसें ही वे अपनेको तृप्त मानते हैं किन्तु वास्तवमें उससे तृप्ति नहीं होसक्ती क्योंकि फिरवेदनाके होनेपर फिर उनको पीड़ा होगी तथा फिर भी उनको जलआदिका आश्रय करनापड़ेगा। किन्तु जिन्होंने समस्त कर्मोंका नाशकरदिया है इसीलिये जिनको अन्नआदिकी भी अवश्यकता नहीं है वेही तृप्त हैं और वे सिद्धही हैं इसलिये समस्तजीवोंकी अपेक्षा सिद्धही अत्यंत तृप्त हैं ॥ ११ ॥

सिद्धज्योतिरतीवनिर्मलतरं ज्ञानैकमूर्तिस्फुरद्वर्तिर्दीपमिवोपसेव्य लभते योगी स्थिरं तत्पदम्।
सद्बुद्ध्याथ विकल्पजालरहितस्तद्रूपतामाप तं स्ताद्दग्जायत एव देवविनुतस्त्रैलोक्यचूडामणिः ॥

अर्थः—जिसप्रकार बत्ती स्फुरायमानदीपकके संगसे दीपपनेको प्राप्त होजाती है उसीप्रकार अत्यंतनिर्मल जोज्ञान उस ज्ञानस्वरूप स्फुरायमान है मूर्ति जिसकी ऐसी सिद्धज्योतिकी आराधना करनेसे मुनिगण भी उस स्थिर सिद्धपदको प्राप्त होजाते हैं अथवा समस्तप्रकारके विकल्पोंसे रहितहोकर जो योगीश्वर श्रेष्ठबुद्धिसे उन सिद्धोंके स्वरूपको प्राप्तहोकर उनके स्वरूपका ध्यान करता है वह भी समस्तदेवोंमें वंदनीक तथा तीनलोकका चूडामणि उन सिद्धोंके समानही होजाता है ॥ १२ ॥

सार्दूलविक्रीड़ित।

यत्सूक्ष्मंच महच्च शून्यमपि यन्नो शून्यमुत्पद्यते नश्यत्येवच नित्यमेव च तथा नास्त्येव चास्त्येव यत्।
एकं यद्यदनेकमेव तदपि प्राप्तं प्रतीतिं दृढां सिद्धज्योतिरमूर्ति चित्सुखमयं केनापि तल्लभ्यते ॥

अर्थः—जो सिद्धज्योति सूक्ष्म भी है और महान भी है शून्य भी है तथा शून्यनहीं भी है विनाशीक भी है और नित्य भी है और है, भी है, नहीं भी है, तथा एक भी है अनेक भी है इसप्रकार अनेकधर्मको लिये हुए है तोभी स्याद्वादसे जिसकी प्रतीति दृढ़ है ऐसी अमूर्तीक तथा ज्ञानसुखस्वरूप सिद्धोंकी ज्योति (तेज) को संसारमें कोई एक मनुष्यही प्राप्तकरसक्ता है सब नहीं।

भावार्थः—सिद्धोंकी ज्योति सूक्ष्म तो इसलिये है कि वह अमूर्त है इसलिये कोई भी इन्द्रिय उसका प्रत्यक्ष नहीं करसक्ती, तथा महान इसलिये है कि समस्तलोकालोकके जाननेवाले केवलीभगवान उसको प्रत्यक्ष देखते हैं तथा पुद्गलादि परद्रव्य और उनके स्पर्श रस आदिगुणोंसे रहितहोनेके कारण तो शून्य है किन्तु सदा

अपने केवलज्ञान केवलदर्शन आदिगुणोंसे विराजमान है इसलिये शून्य भी नहीं है तथा यद्यपि पर्यायार्थिक नयकीअपेक्षासे अगुरुलघु गुणके द्वारा प्रतिक्षण वह विनाशीक भी है तोभी द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षा उसमें नाश तथा उत्पाद धर्म नहीं हैं इसलिये वह नित्य भी है तथा परद्रव्य परक्षेत्र परकाल परभावकी अपेक्षासे उसका अभाव है तोभी स्वद्रव्य स्वक्षेत्र स्वकाल स्वभावकी अपेक्षा वह मोजूद ही है, और अपने स्वरूपको छोड़कर पररूपको प्राप्त नहीं होती इसलिये यद्यपि वह एकरूप है तोभी ज्ञानसे अनेक पदार्थोंको प्रत्यक्ष करती है इसलिये अनेक रूपभी है इसप्रकार वह सिद्धज्योति अनेक धर्मस्वरूप होनेपर भी स्याद्वादसे उसकी प्रतीति दृढ़ है अर्थात् स्याद्वादसिद्धान्तके आश्रयसे उसमें किसीप्रकारका दोष नहीं आता तथा अमूर्तीक है और ज्ञानमय तथा सुखमय है और कोई एकही मनुष्य उसको प्राप्त करसक्ता है हरएक मनुष्य नहीं ॥ १३ ॥

स्याच्छब्दामृतगर्भितागममहारत्नाकरस्नानतो धौता यस्य मतिः सएव मनुते तत्वं विमुक्तात्मनः ।
तत्तस्यैव तदेव याति सुमतेः साक्षादुपादेयतां भेदेन स्वकृतेन तेन च विना स्वं रूपमेकं परम्॥१४॥

अर्थः—जिसपुरुषकी बुद्धि स्याद्वादरूपीजलसे भरेहुवे विस्तीर्ण सागरमें स्नान करनेसे निर्मल होगई (धुलगई) है अर्थात् जो स्याद्वादका जानकार है वही मनुष्य सिद्धोंके स्वरूपको जानता है तथा वही बुद्धिमान उनसिद्धोंके स्वरूपको साक्षातरीतिसे प्राप्त होता है, अथवा अपनेसे कियाहुवा जो भेद उसके दूर होजानेपर अपना जो स्वरूप है वही सिद्धोंका स्वरूप है अर्थात् जबतक आत्मामें मेरा तेरा भेद रहता है तबतक तो आत्मा मलिन ही है किन्तु जिससमय यह भेदबुद्धि नष्ट होजाती हैं उससमय मलिनतारहित होनेकेकारण अपनी आत्माका स्वरूपही सिद्धस्वरूप है इसलिये भव्यजीवोंको चाहिये कि वे स्याद्वादके स्वरूप को भलीभाति पहिचानकर सिद्धोंके स्वरूपको पहिंचाने ॥ १४ ॥

दृष्टिस्तत्त्वविदः करोत्यविरतं शुद्धात्मरूपे स्थिता शुद्धं तत्पदमेकमुल्वणमतेरन्यत्र चान्यादृशम्।
स्वर्णात्तन्मयमेव वस्तु घटितं लोहाच्च मुक्त्यर्थिना मुक्त्वा मोहविजृम्भितं ननु पथा शुद्धेन संचर्यताम्॥

अर्थः—जिसप्रकार सोंनेसे वनाहुवा पात्र सुवर्ण स्वरूपही होता है तथा लोहसे वनाहुवा पात्र लोहस्वरूप ही होता है उसीप्रकार शुद्धआत्मस्वरूपमें, निश्चलरीतिसे ठहरीहुई तत्वज्ञानीपुरुषकी दृष्टि तो निर्मल देदीप्यमान जो एक अविनाशी मोक्षपद उसको प्राप्त कराती है और तत्वज्ञानरहितपुरुषकी दृष्टि शुद्धात्मस्वरूपसे अतिरिक्तस्थानमें ठहरनेकेकारण मोक्षसे भिन्न जो नरक तिर्यंच निगोद आदि स्थान उनस्थानोंको प्राप्त करती है इस लिये आचार्य उपदेशदेते हैं कि मोक्षके अभिलाषी मनुष्योंको मोहके उत्पन्न करनेवाले मार्गको छोड़कर निश्चयसे शुद्धमार्गसे ही गमन करना चाहिये ॥ १५ ॥

निर्दोषश्रुतचक्षुषा षडपि हि द्रव्याणि दृष्ट्वा सुधीरादत्ते विशदं स्वमन्यमिलितं स्वर्णं यथा धावकः।
यः कश्चित्किल निश्चिनोति रहितः शास्त्रेण तत्वं परं सोऽन्धोरूपनिरूपणं हि कुरुते प्राप्तो मनः शून्यताम्॥

अर्थः—जिसप्रकार सुनार अन्यधातुओंसे मिलेहुवे भी सुवर्णको नेत्रोंसे जुदा करलेता है उसीप्रकार विद्वान्पुरुष निष्कलंकशास्त्ररूपीनेत्रसे छहोद्रव्योंको भलीभांति देखकर अन्यद्रव्योंसे मिलेहुवे भी अपने निर्मल आत्मस्वरूपको जुदाकर ग्रहण करते हैं किन्तु जो मनुष्य शास्त्रके विना देखेही उत्कृष्टतत्वका निश्चय करते हैं वे मनरहित तथा अंधेहोकर रूपको देखना चाहते हैं ऐसा मालूम होता है।

भावार्थः—जबतक छद्मस्थ अवस्था रहती है तबतक विनाशास्त्रके सुने तथा देखे कदापि निर्मल स्वरूपको ग्रहण नहीं करसक्ते इसलिये आत्माके निर्मल स्वरूपको देखनेके अभिलाषी मनुष्योंको अवश्य शास्त्रको देखना तथा सुनना चाहिये किन्तु जो अज्ञानीपुरुष विना शास्त्रके सुने देखेही उत्कृष्ट स्वरूपको देखना

घाहता है वह मनुष्य जिसप्रकार मनरहित तथा अंधा मनुष्य रूपको नहीं देखसक्ता उसीप्रकार कदापि उत्कृष्ट स्वरूपको नहीं देख सक्ता है ॥१६॥

यो हेयेतरबोधसंभूतमतिर्मुञ्चन् स हेयं परं तत्वं स्वीकुरुते तदेव कथितं सिद्धत्वबीजं जिनैः ।
नान्यो भ्रान्तिगतः स्वतोऽथ परतो हेये परेर्थेऽस्य तद्दृष्पापं शुचि वर्त्म येन परमं तद्धाम संप्राप्यते ॥ १७ ॥

अर्थः—जिसमनुष्यको यहवस्तु त्यागने योग्य है तथा यह वस्तु ग्रहण करने योग्य है इसप्रकारका ज्ञान है वह मनुष्य त्यागनेयोग्य जो वस्तु है उसको छोड़कर ग्राह्यस्वरूपको ग्रहण करता है और वह ग्राह्यस्वरूप का स्वीकारही सिद्धपनेका कारण है ऐसा श्रीजिनेंन्द्रदेवने कहा है तथा जो मनुष्य त्यागनेयोग्य अपनेसे भिन्नपदार्थोंमें अपनेआप तथा परके उपदेशसे भ्रान्त (भ्रमसहित) है उसअज्ञानीको अत्यंत निर्मल मार्गकी प्राप्तिनहीं होसक्ती और जबनिर्मल मार्गकीही प्राप्ति नहीं हुई तो वह उत्कष्ट मोक्षस्थानभी, उसको प्राप्त नहीं होसक्ता ॥

भावार्थः—जिस मनुष्यको हेयोपादेयका ज्ञान है वही पुरुष अपनेसे भिन्न त्यागनेयोग्य वस्तुओंको त्यागकर तथा निज ज्ञानानन्दस्वरूपको ग्रहणकर क्रमसे मोक्षको प्राप्त होजाता है किन्तु जिसपुरुषको हेयोपादेय का ज्ञान नहीं है इसीलिये जो अपनेसे भिन्न सर्वथा त्यागनेयोग्य वस्तुओंको भी अपनी वस्तु मानता है वह कदापि मुक्तिको प्राप्त नहीं होसक्ता और न उसको मुक्तिका मार्गही सूझसक्ता है इसलिये मोक्षाभिलाषी पुरुषों को चाहिये कि वे सर्वथा छोड़नेयोग्यवस्तुओंको छोड़कर अपने ज्ञानानंदस्वरूपको ही ग्रहण करैं ॥ १७ ॥

साङ्गोपाङ्गमपि श्रुतं बहुतरं सिद्धत्वनिष्पत्तये येऽन्यार्थं परिकल्पयन्ति खलु ते निर्वाणमार्गच्युताः
मार्गं चिन्तयतोऽन्वयेन तमतिक्रम्यापरेण स्फुटं निश्शेषश्रुतमेति तत्र विपुले साक्षाद्विचारे सति १८

अर्थः—अंग तथा उपांग सहित जितना भर शास्त्र है वह समस्त सिद्धपनेकी प्राप्तिकेलियेही है किन्तु

जो अज्ञानीमनुष्य उसको अन्य प्रयोजनकेलिये कल्पना करते हैं वे निश्चयसे मोक्षमार्गसे भ्रष्टहैं हैं अर्थात् सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्ररूपमोक्षमार्गका उनको अंशमात्रभी ज्ञान नहीं है क्योंकि विचारशीलहोनेपर परंपरासे आये हुवे द्रव्यश्रुतको छोड़कर यदि वह भावश्रुतसेभी मार्गका चिंतवन करै तोभी उनके स्फुट-रीति से समस्त शास्त्रकी प्राप्ति होती है।

भावार्थ—चाहै द्रव्यश्रुत हो चाहै भावश्रुतहो समस्तही शास्त्रोंसे सिद्धपनेको प्राप्ति होती है किन्तु जो पुरुष शास्त्रको अन्यप्रयोजनकी सिद्धिकेलिये मानते हैं वे अज्ञानीही हैं ऐसा समझना चाहिये ॥ १८ ॥

निश्शेषश्रुतसम्पदः शमनिधेराराधनायाः फलं प्राप्तानां विषये सदैव सुखिनामल्पैव मुक्तात्मनाम्।
उक्ता भक्तिवशान्मयाप्यविदुषा या सापि गीः साम्प्रतं निःश्रेणीर्भवितादनन्तसुखतद्धामारुरुक्षोर्मम ॥

अर्थः—जिन्होंने आराधनाके फलको प्राप्तकरलिया है तथा जो सदाकाल सुखी है ऐसे सिद्धोंके विषय में जो मुझ अपंडितने भक्तिके वशसे थोड़ीसे वाणी कही है अर्थात् जोकुछ भक्तिपूर्वक उनकी थोड़ीसी स्तुति की है वह थोड़ीसीही वाणी (स्तुति) समस्तशास्त्ररुपी संपदाके धारी तथा शमी मुझ अनन्त सुखमय मोक्ष रुपी महलपर चढनेकी इच्छाकरनेवालेकेलिये निःश्रेणी (सीढी) के समान है ॥ १९ ॥

विश्वं पश्यति वेत्ति शर्म लभते स्वोत्पन्नमात्यन्तिकं नाशोत्पत्तियुतं तथाप्यविचलं मुक्त्यर्थिनां मानसे।
एकीभूतमिदं वसत्यविरतं संसारभारोज्झितं शान्तं जीवघनं द्वितीयरहितं मुक्तात्मरूपं महः ॥ २० ॥

अर्थः—यद्यपि जो सिद्धस्वरूपतेज समस्तलोकको देखता है तथा समस्त लोकको जानता है और सब से अंतमें होने वाले आत्मीक सुखको प्राप्त है और उत्पाद व्यय तथा ध्रौव्यकर सहित है तौभी मोक्षाभिलाषी मनुष्योंके मनमें वह संसारमें भारस्वरुप जो जन्म मरणादि उनकर रहित शान्त, तथा ज्ञानस्वरुप और अपने

से भिन्न वस्तुओंके सबंधसे रहित सदा एकरूपही विराजमान है ॥ २० ॥

त्यक्त्वा न्यासनयप्रमाणविवृतीः सर्वं पुनः कारकं संबन्धं च तथा त्वमित्यहमितिप्रायान् विकल्पानपि।
सर्वोपाधिविवर्जितात्मनि परं शुद्धैकबोधात्मनि स्थित्वा सिद्धिमुपाश्रितो विजयते सिद्धः समृद्धो गुणैः ॥

भावार्थः——नाम स्थापना आदि निक्षेपोंको छोड़कर तथा नैगम आदिनयको त्यागकर और प्रत्यक्ष परोक्ष प्रमाणके व्यापारको छोड़कर और कर्ता कर्म करण आदि कारकोंको छोड़कर तथा समस्तसबंधको, और तू मैं, इत्यादि समस्त विकल्पोंको भी छोड़कर जोसिद्धभगवान समस्तप्रकारकी कर्म आदि उपाधियों से रहित होकर तथा शुद्ध और ज्ञानानन्द स्वरूप आत्मामें लीन होकर मोक्षको प्राप्त हुवे हैं वे समस्त अनन्त विज्ञान आदि गुणोंसे सदा वृद्धिको प्राप्त, सिद्ध भगवान सदा इसलोक में विशेषरीतिसे जयवंत है अर्थात् ऐसे सिद्धभगवान को मैं हाथ जोडकर विशिष्टरीतिसे नमस्कार करता हूं ॥ २१ ॥

तैरेव प्रतिपद्यतेऽत्र रमणीस्वर्णादिवस्तु प्रियं तत्सिद्धैकमहः सदन्तरदृशा मन्दैर्न यैर्दृश्यते ।
ये तत्तत्त्वरसप्रभिन्नहृदया स्तेषामशेषं पुनः साम्राज्यं तृणवद्वपुश्च परवद्भोगाश्च रोगाइव ॥ २२ ॥

अर्थः——जिनमनुष्योंने अंतरंग दृष्टिसे उस अलौकिक सिद्धस्वरूपतेजको नहीं देखा है उन्ही मूर्खमनुष्योंको स्त्री सुवर्ण आदिक पदार्थ प्रिय मालूम पड़ते हैं किन्तु जिन भव्यजीवोंका हृदय उन सिद्धोंके स्वरूप रूपी रससे भिदगया है वे भव्यजीव समस्त साम्राज्यको तृणके समान जानते हैं तथा शरीरको पर (वैरी) समझते हैं और उनको भोग रोगके समान मालूम होते हैं ।

भावार्थः——जबतक मनुष्योंको वास्तविक पदार्थ दृष्टिगोचर नहीं होता तबतक वे अवास्तविक पदार्थोंको भी वास्तविक मानते हैं किन्तु जिससमय उनकी दृष्टि वास्तविक पदार्थोंपर पड़जाती है उससमय वे उसवा-

स्तविक पदार्थके सामने अवास्तविक पदार्थोंको अंशमात्रभी वास्तिक नहीं समझते। मनुष्योंको ग्रहणकरनेयोग्य वास्तविक पदार्थ सिद्धस्वरूप है और उससे भिन्न त्यागकरनेयोग्य सब अवास्तविक है इसलिये जबतक मनुष्योंकी दृष्टि उससिद्धस्वरूप तेजपर नहीं पड़ती है तबतक वे मनुष्य अवास्तविक स्त्री पुत्र सुवर्ण धन धान्य आदिकोही वास्तिवक तथा प्रिय मानते हैं किन्तु जिससमय उनको सिद्धस्वरूपतेजका अनुभव होजाता है उससमय वे सिद्धस्वरूपके सामने किसीभी साम्राज्य शरीर भोग आदिपदार्थोंको उत्तम नहीं मानते और वास्तवमें ये उत्तम पदार्थभीनहीं इसलिये भव्यजीवोंको सिद्धस्वरूप तेजकी और ही अपनी दृष्टि देनी चाहिये तथा उसीका अनुभव करना चाहिये ॥ २२ ॥

वन्द्यास्ते गुणिन स्तएव भुवने धन्यास्तएव ध्रुवं सिद्धानां स्मृतिगोचरं रुचिवशान्नामापि यैर्नीयते ।
ये ध्यायन्ति पुनः प्रशस्तमनसस्तान् दुर्गभूभृद्दरीमध्यस्थाः स्थिरनासिकाग्रिमदृशस्तेषां किमु ब्रूमहे॥२३॥

अर्थः—जो मनुष्य प्रीतिपूर्वक सिद्धोंके नामकाभी स्मरण करते हैं वे मनुष्य भी जब संसारमें वंदने योग्य तथा गुणी और धन्य समझेजाते हैं तब जोमनुष्य पवित्रचित्तसे किले पर्वतोंकी गुफाके मध्यमें वैठिकर तथा नाकके अग्रभागमें दृष्टिलगाकर उनसिद्धोंका ध्यान तथा उनके स्वरूपका मनन चिंतवन करते हैं आचार्य कहते हैं उनकी हम क्या कहैं ? अर्थात् वे उनसेभी अधिक धन्य है इसलिये भव्य जीवोंको चाहिये कि वे उनसिद्धों स्वरूपका भलीभांति ध्यान करै यदि ध्यान न होसके तो उनके नामको अवश्यही स्मरण करै ॥ २३ ॥

यः सिद्धे परमात्मनि, प्रविततज्ञानैकमूर्तौ किल ज्ञानी निश्चयतः सएव सकलप्रज्ञावतामग्रणी ।
तर्कव्याकरणादिशास्त्रसहितैः किं तत्र शून्यैर्यतो यद्योगं विदधाति वेध्यविषये तद्वाणमावर्ण्यते॥२४॥

अर्थः—विस्तीर्ण ज्ञानहीहै एक स्वरूप जिनका ऐसे सिद्धोंमें जो पुरुष ज्ञानी हैं अर्थात् सिद्धोंके स्वरूपका

जो भलीभांति जाननेवालाहै वास्तविकरीतिसे वही समस्त विद्वानोंमें मुख्य है ऐसा समझना चाहिये और यदि न्यायशास्त्र तथा व्याकरण आदिशास्त्रोंके जानकारभी हुवें तथा हृदयसे शून्यही रहे तो उनसे कोई प्रयोजन नहीं क्योंकि जो वेधनेयोग्य पदार्थमें निशानको करता है वही बाण कहलाता।

भावार्थः—जो बाण वेधनेयोग्यपदार्थमें निशान करता है वही जिसप्रकार बाण कहलाता है अन्यनहीं उसीप्रकार न्याय व्याकरण आदिशास्त्रोंको भलीभांति अध्ययनकरके जो मनुष्य सिद्धोंके स्वरूपका जानकार है वही वास्तविक रीतिसे विद्वानोंमें अग्रणी विद्वान है किन्तु न्याय व्याकरण आदि शास्त्रोंको भलीभांति पढ़कर जिसने सिद्धोंके स्वरूपको नहीं पहिचाना वह अंशमात्रभी विद्वान नहीं इसलिये भव्यजीवोंको चाहिये कि वे न्याय व्याकरण आदि शास्त्रोंको भलीभांति जानकर सिद्धोंके स्वरूपके ज्ञाताबने ॥ २४ ॥

सिद्धात्मा परमः परं प्रविलसद्वोधः प्रबुद्धात्मना येनाज्ञायि स किं करोति बहुभिः शास्त्रैर्बहिर्वाचकैः ।
यस्य प्रोद्गतरोचिरुज्वलतनुर्भानुः करस्थो भवेत् ध्वान्तध्वंसविधौ स किं मृगयते रत्नप्रदीपादिकान् ॥

अर्थ—प्रबुद्ध है आत्मा जिसकी ऐसे जिस भव्यजीवने देदीप्यमान ज्ञानका धारी तथा सर्वोत्कृष्ट ऐसे सिद्ध भगवानके स्वरूपको जानलिया है उस भव्यजीवको बाह्यशास्त्रोंसे क्या प्रयोजन है? अर्थात् कुछ भी प्रयोजन नहीं क्योंकि जिस मनुष्यके हाथमें जिसकी किरण उदित होरही है ऐसा प्रकाशयान सूर्य मौजूद है वह मनुष्य अंधकारके नाशकरनेकेलिये क्या रत्न तथा प्रदीपआदि पदार्थोंका अन्वेषण करता है? कदापि नहीं।

भावार्थः—रत्न तथा प्रदीपआदि पदार्थोंकी अपेक्षा अंधकारके नाशकेलिये ही की जाती है यदि हाथमें स्थित प्रकाशमान सूर्यसे ही अंधकारका नाश होगया तो फिर जिप्रसकार प्रदीपआदिकी अपेक्षा नहीं करनी पड़ती उसीप्रकार न्याय व्याकरणआदि शास्त्रोंका अध्ययन सिद्धस्वरूपके जाननेकेलिये किया जाता है यदि

उस सिद्धस्वरूपका ज्ञान पाहिलेसे ही मौजूद है तो पुनः न्याय व्याकरणआदि शास्त्रोंका अध्ययन, विना प्रयोजन का ही है ऐसा समझना चाहिये ॥ २५ ॥

शार्दूलविक्रीड़ित ।

सर्वत्र च्युतकर्मबन्धनतया सर्वत्र सद्दर्शनाः सर्वत्राखिलवस्तुजातविषयव्यासक्तबोधात्विषः
सर्वत्रस्फुरदुन्नतोन्नतसदानंदात्मका निश्चलाः सर्वत्रैव निराकुलाः शिवसुखं सिद्धाः प्रयच्छन्तु नः ॥

अर्थः—जिन सिद्धोंके समस्तआत्मप्रदेशोंसे कर्मबंध छूटगया है, तथा जिनके समस्त आत्मप्रदेशोंमें समीचीन दर्शन मौजूद है अर्थात् जो सम्यग्दर्शनके धारी है और समस्त पदार्थोंके समूहको जाननेवाली सम्यग्ज्ञानरूपीकिरण जिनके समस्त आत्मप्रदेशोंमें व्याप्त हैं तथा जिनके सर्वत्र सर्वोत्कृष्ट चिदानंद स्वरूपतेज फुरायमान है और जो निश्चल तथा निराकुल हैं ऐसे सिद्धभगवान हमारेलिये मोक्षसुखको प्रदानकरो ॥

भावार्थः—जो समस्तकर्मोंकर रहित हैं तथा सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्रके धारी हैं और निश्चल तथा समस्त प्रकारकी आकुलताकर रहित हैं ऐसे सिद्धभगवान हमारेलिये मोक्षरूपीसुखको प्रदान करो अर्थात् ऐसे सिद्धोंके हम सेवक हैं ॥ २६ ॥

आत्मोत्तुङ्गगृहं प्रसिद्धवहिराद्यात्मप्रभेदक्षणं वह्वात्माध्यवसानसंगतलसत्सोपानशोभान्वितम् ॥
तत्रात्माविभुरात्मनात्मसुहृदो हस्तावलम्बी समारुह्यानन्दकलत्रसंगतभुवं सिद्धाःसदा मोदते ॥

अर्थः—जहांपर बहिरात्मा तथा अंतरात्माके भेदको वास्तविकरीतिसे देखसक्ते हैं और जो आत्माका अध्यवसान (चिंतवन) रूप जो मनोहर सीढ़ी उसकर शोभायमान है ऐसा यह आत्मारूपी ऊंचा मकान है उसपर चढ़कर आत्मरूपी मित्रका अवलम्बी अर्थात् अपनेको स्वयं आपही आधार तथा चिदानंदस्वरूप स्त्रीकर

सहित प्रभु आत्मा जो सिद्ध है सदा हर्षसंयुक्त निवास करता है ॥ २७ ॥

सैवैका सुगतिस्तदेव च सुखं ते एव दृग्बोधने सिद्धानामपरं यदस्ति सकलं तन्मे प्रियं नेतरत् ॥
इत्यालोच्य दृढं त एव च मया चित्ते धृताः सर्वदा तद्रूपं परमं प्रयातु मनसा हित्वाभयं भीषणम् ॥

अर्थः—जो सिद्धोंकी गति है वही तो एक सुगति है तथा जो उनका सुख है वही वास्तविक सुख है और वे सिद्धही सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान हैं इसलिये ये तथा इनसे भिन्न और भी जो सिद्धोंका स्वरूप है वह समस्त मुझे प्रिय है किन्तु इनसे अतिरिक्त और मुझे कुछ भी प्रिय नहीं है ऐसा मनमें दृढ़श्रद्धान करके मैंने सर्वकाल उन्हीं सिद्धोंका ध्यान किया हैं इसलिये मनसे समस्तभयंकरसंसारका भय छूटकर मुझे उत्कृष्ट उन्हीं सिद्धोंके स्वरूपकी प्राप्ति हो ऐसी आशा सहित हूं ॥ २८ ॥

ते सिद्धाः परमेष्ठिनो न विषया वाचामतस्तान्प्रति प्रायो वच्मि यदेव तत्खलु नभस्यालेख्यमालिख्यते ॥
तन्नामापि मुदे स्मृतं तत इतो भक्त्याथ वाचालितास्तेषां स्तोत्रमिदं तथापि कृतवानम्भोजनन्दी मुनिः ॥

अर्थः—इस अधिकारको समाप्त करतेहुए आचार्य कहते हैं कि वे अलौकिकगुणके धारी भगवान सिद्ध-परमेष्ठी वचनके तो विषय ही नहीं है इसलिये मैं जो उनके गुणोंका स्तवन अथवा उनके विषयमें कुछ वर्णन करना चाहता हूं वह आकाशमें चित्रकारी करता हूं ऐसा मालूम होता है (अर्थात् जिसप्रकार आकाशमें चित्र-कारी करना कठिन बात हैं उसीप्रकार सिद्धपरमेष्ठीके विषयमें भक्तिपूर्वक वर्णन करना अत्यंत कठिन है) तोभी उनसिद्धोंका स्मरणकियाहुआ नामभी हर्षका करनेवाला होता है इसकारण भक्तिसे वाचालित होकर मुझ पद्मनन्दिनामक मुनिने यह उन सिद्धोंकी स्तुति की है ॥

भावार्थः—सिद्धपरमेष्ठी दृष्टिके अगोचर अमूर्तीक पदार्थ है इसलिये जब वे दृष्टिके अगोचर हैं देखनेमें

ही नहीं आते हैं तो वे वचनके अगोचर भी हैं इसलिये उनकी स्तुति तथा उनके विषयमें वर्णन करना भी अत्यंत कठिन है तोभी मेरी जो उन सिद्धोंमें भक्ति है उसने मुझे वाचालित किया है इसीलिये मैंने यह कुछ उन सिद्धोंकी स्तुति की है ॥ २९ ॥

इसप्रकार पद्मनन्दिआचार्य विरचित इस पद्मनन्दिपञ्चविंशतिकामें सिद्धस्तुतिरूप अधिकार समाप्तहुआ ॥

आलोचनाधिकारः ।

शार्दूलविक्रीडित ।

यद्यानन्दविधिं भवन्तममलं तत्वं मनोगाहते त्वन्नामस्मृतिलक्षणो यदि महामन्त्रोऽस्त्यनन्तप्रभः ॥
यानं च त्रितयात्मके यदि भवेन्मार्गे भवद्दर्शिते को लोकेऽत्र सतामभीष्टविषये विघ्नो जिनेश प्रभो ॥

अर्थः—हे जिनेश हे प्रभो यदि सज्जनोंका मन अंतरंग तथा बहिरंगमलसे रहितहोकर तत्वस्वरूप तथा वास्तविक आनन्दके निधान आपको अवगाहन (आश्रयण) करता है और यदि उनके मनमें आपके नामका स्मरणरूप अनंतप्रभाकाधारी महामंत्र मौजूद है तथा आपसे प्रकट कियेहुए सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र रूपी मोक्षमार्गमें यदि उनका गमन है तो उन सज्जनोंको अभीष्टकी प्राप्तिमें किसीप्रकारका विघ्न नहीं आसक्ता ॥

भावार्थः—यदि सज्जनोंके मनमें आपका ध्यान होवे तथा आपका नाम स्मरणरूप महामंत्र मौजूद होवे और यदि वे मोक्षमार्गमें गमन करनेवाले होवें तो उनके अभिलषितकीप्राप्तिमें किसीप्रकारका विघ्न नहीं आसक्ता ॥ १ ॥

निस्सङ्गत्वमरागिताथ संमता कर्मक्षयो बोधनं विश्वव्यापि समं दृशा तदुतलानन्देन वीर्येण च ॥
ईदृग्देव तवैव संसृतिपरित्यागाय जातःक्रमः शुद्धस्तेन सदा भवच्चरणयोः सेवा सतां सम्मता ॥

अर्थ—और भी आचार्य स्तुति करते हैं कि हे जिनेन्द्रदेव संसारके त्यागकेलिये परिग्रह रहितपना तथा रागरहितपना और समता तथा सर्वथा कर्मोंका नाश और अनंतदर्शन अनंतसुख और अनंतवीर्यके साथ समस्त लोकालोकको प्रकाश करनेवाला केवलज्ञान ऐसा क्रम आपके ही हुआ था किन्तु आपसे भिन्न किसी देवके यह क्रम नहीं था इसलिये आपही शुद्ध है तथा आपके चरणोंकी सेवाही सज्जन पुरुषोंको करने योग्य है ॥

भावार्थः—आपने ही संसारसे मुक्तहोनेके लिये हेभगवन् समस्त परिग्रहका त्यागकिया है तथा राग-भावको छोड़ा है और समताको धारणकिया है तथा अनन्त विज्ञान अनन्तवीर्य अनन्त सुख और अनंतदर्शन आपके ही प्रकट हुवे हैं इसलिये आपही शुद्ध तथा सज्जनोंकी सेवाके पात्र हैं ॥ २ ॥

यद्येतस्य दृढ़ा स्थितिरभूत्त्वत्सेवया निश्चितं त्रैलोक्येश वलीयसोऽपि हि कुतः संसारशत्रोर्जयम् ।
प्राप्तस्यामृतवर्षहर्षजनकं सद्यन्त्रधारागृहं पुन्सः किं कुरुते शुचौ खरतरो मध्यान्हकालातपः ॥ ३ ॥

अर्थः—हे तीनलोकके ईश यदि मेरे निश्चयसे आपकी सेवामें दृढ़पना है तो मुझै अत्यंत वलवानभी संसाररूपी वैरीका जीतना कोई कठिनबातनहीं क्योंकि जिसमनुष्यने जलके वर्षणसे हर्षको करनेवाले उत्तम-फव्वारा सहितघरको प्राप्तकरलिया है उसपुरुषका जेठमासकी अत्यंत तीक्ष्णभी दुपहरकीधूप कुछ भी नहीं करसक्ती।

भावार्थः—जिसप्रकार फव्वारा सहित उत्तमघरमें बैठे हुवे पुरुषका जेठमासकी अत्यंत कठोर भी दुप-हरकी धूप कुछ नहीं करसक्ती उसीप्रकार यदि मैं निश्चयसे आपकी सेवामें दृढ़ रीतिसे स्थितहूं तो मुझै वलवान

[1] शमता यह भी क पुस्तकमें पाठ है।

भी संसाररूपी वैरी कुछ भी त्रास नहीं देसक्ता ॥ ३ ॥

यः कश्चिन्निपुणो जगत्त्रयगतानर्थानशेषांश्चिरं सारासारविवेचनैकमनसा मीमांसते निस्तुषम् ।
तस्य त्वं परमेक एव भगवन् सारो ह्यसारं परं सर्वं मे भवदाश्रितस्य महती तेनाभवन्निर्वृतिः ॥ ४ ॥

अर्थः—यह पदार्थ सारहै और यह असार है इसप्रकार सारासारकी परीक्षामें एकचित्तहोकर जो कोई बुद्धिमान मनुष्य तीनोंलोकके समस्तपदार्थोंका वाधारहित गहरीदृष्टिसे विचार करता है उसपुरुषकी दृष्टिमें हे भगवन् आपही एक सारभूतपदार्थ हैं और आपसे भिन्न समस्तपदार्थ असारभुतही हैं अतः आपके आश्रयसेही मुझे परम संतोषहुआ है ॥ ४ ॥

ज्ञानं दर्शनमप्यशेषविषयं सौख्यं तथात्यन्तिकं वीर्यं च प्रभुता च निर्मलतरा रूपं स्वकीयं तव ।
सम्यग्योगदृशा जिनेश्वर चिरात्तेनोपलब्धे त्वयि ज्ञातं किं न विलोकितं न किमथ प्राप्तं न किं योगिभिः

अर्थः—हे जिनेन्द्र समस्तलोकालोकको एकसाथ जाननेवाला तो आपका ज्ञान है और समस्त लोकालोकको एकसाथ देखनेवाला आपका दर्शन है और आपके अनंतसुख और अनन्त बल है तथा प्रभूपना भी आपका अतिशयकर निर्मल है और शरीरभी आपका देदीप्यमान है इसलिये यदि योगीश्वरोंने समीचीन योगरूपी नेत्रसे आपको प्राप्तकरलिया तो क्या तो उन्होंने जान न लिया? और क्या उन्होंने देख न लिया? तथा क्या उन्होंने पा न लिया?

भावार्थः—यदि योगीश्वरोंने अपनी उत्कृष्ट योगदृष्टिसे अनन्त गुणोंकेधारी आपको देखलिया तो उन्होंने सबकुछ देखलिया और सब कुछ जानलिया तथा प्राप्त करलिया ॥ ५ ॥

त्वामेकं त्रिजगत्पतिं परमहं मन्ये जिनं स्वामिनं त्वामेकं प्रणमामि चेतसि दधे सेवे स्तुवे सर्वदा ।
त्वामेकं शरणं गतोऽस्मि बहुना प्रोक्तेन किञ्चिद्भवे सिद्धं तद्भवतु प्रयोजनमतो नान्येन मे केनचित् ॥

अर्थः—हे जिनेन्द्र आपकोही मैं तीनलोकका स्वामी मानताहूं और आपको ही अष्टकर्मोंका जीतनेवाला तथा अपना स्वामी मानता है और केवल आपकोही भक्तिपूर्वक नमस्कार करताहू और सदा आपकाही ध्यान करताहूं तथा आपकीही सेवा और स्तुति करताहूं और केवल आपकोही मैं अपना शरण मानताहूं अधिक कहनेसे क्या ? यदि कुछ संसारमें प्राप्त होवेतो यही होवे कि आपके सिवाय अन्य किसीसे भी मेरा प्रजोजन न रहै ॥

भावार्थः—हे भगवन् आपसे ही मेरा प्रयोजन रहै आपसेभिन्न अन्यसे मेरा किसीप्रकारका प्रयोजन न रहे यह विनयपूर्वक प्रार्थना है ॥ ६ ॥

पापं कारितवान्यदत्र कृतवानन्यैः कृतं साध्विति भ्रान्त्याहं प्रतिपन्नवांश्च मनसा वाचा च कायेन च ।
काले सम्प्रति यच्च भाविनि नवस्थानोद्गतं यत्पुनस्तन्मिथ्याखिलमस्तु मे जिनपते स्वं निन्दतस्ते पुरः ॥

अर्थः—हे जिनेश्वर भूतकालमें जो पाप मैंने भ्रमसे मनवचकायकेद्वारा दूसरोंसे कराये हैं तथा स्वयं किये हैं और दूसरोंको पाप करतेहुवे अच्छा कहा है तथा उसमें अपनी सम्मति दी है और वर्तमानमें जो पाप मैं मनवचकायकेद्वारा दूसरोंसे कराता हूं तथा स्वयं करता हूं और अन्यको करतेहुवे भला कहता हूं और भविष्यतकालमें जो मैं मनवचकायसे पाप कराऊंगा तथा स्वय करूंगा और दूसरेको करतेहुवे अच्छा मानूंगा वे समस्त पाप आपके सामने अपनी निन्दाकरनेवाले मेरे सर्वथा मिथ्या हो ॥

भावार्थः—भूत भविष्यत् वर्तमान तीनों कालोंमें जिनपापोंका मैंने मनवचनकाय तथा कृतकारितअनुमोदनासे उपार्जन किया है तथा करूगा और करता हूं उन समस्तपापोंका अनुभवकर हे जिनेश्वर मैं आपके सामने अपनी निन्दाकरता हूं इसलिये वे ससस्तपाप मेरे मिथ्या हो ॥ ७ ॥

लोकालोकमनन्तपर्यययुतं कालत्रयीगोचरं त्वं जानासि जिनेन्द्र पश्यसि तरां शश्वत्समं सर्वतः ।

स्वामिन् वेत्सि समैकजन्मजनितं दोषं न किञ्चित्कुतो हेतोस्ते पुरतः सवाच्य इति मे शुद्ध्यर्थमालोचितम् ॥

अर्थः—हे जिनेन्द्र यदि तुम भूत भविष्यत् वर्तमान तीनोंकालोंके गोचर नाना पर्यायोंसहित लोक तथा अलोकको चारोओरसे एक साथ जानते हो तथा देखते हो तो हे स्वामिन् मेरे एकजन्ममें होनेवाले पापोंको क्या तुम नहीं जानते हो ? अर्थात् अवश्य ही जानते हो इसलिये अपनेको स्वय निंदताहुवा जो मैं आपके सामने अपने दोषोंका कथन (आलोचन) करता हूं सो केवल शुद्धिकेलिये ही करता हूं।

भावार्थः—हे भगवन् जब तुम अनंतभेदसहित लोक तथा अलोकको एकसाथ जानते हो तथा देखते हो तो आप मेरे समस्त दोषोंको भी भलीभाति जानते हो फिर भी जो मैं आपके सामने अपने दोषोंका कथन (आलोचन) करता हूं सो केवल आपके सुनानेकेलिये नहीं किन्तु शुद्धिकेलिये ही करता हू ॥ ८ ॥

आश्रित्य व्यवहारमार्गमथवा मूलोत्तराख्यान् गुणान् साधोर्धारयतो मम स्मृतिपथप्रस्थापि यद्दूषणम्।
शुद्ध्यर्थं तदपि प्रभो तव पुरः सज्जोऽहमालोचितुं निःशल्यं हृदयं विधेयमजडैर्भव्यैर्यतः सर्वथा ॥ ९ ॥

अर्थः—व्यवहारनयको आश्रयणकरके और मूलगुण तथा उत्तरगुणोंको धारण करनेवाले मुझ मुनीको जिस दूषणका भलीभांति स्मरण है उस दूषणकी शुद्धिके अर्थ आलोचना करनेकेलिये हे प्रभो जिनेन्द्र मैं आपके सामने सावधानीसे बैठाहुवा हूं क्योंकि ज्ञानवान भव्यजीवोंको सदा अपना मन माया मिथ्या निदान इनतीनों शल्योंकर रहित ही रखना चाहिये ॥ ९ ॥

सर्वोऽप्यत्र मुहुर्मुहुर्जिनपते लोकैरसङ्ख्यैर्मितव्यक्ताव्यक्तविकल्पजालकलितः प्राणी भवेत्संसृतौ।
तत्तावद्भिरयं सदैव निचितो दोषैर्विकल्पानुगैः प्रायश्चितमियत्कुतः श्रुतगतं शुद्धिर्भवत्सन्निधे ॥१०॥

हेभगवन् इससंसारमें समस्तजीव वारंवार असंख्यातलोक प्रमाण प्रकट तथा अप्रकट नाना प्रकारके

विकल्पोंकर सहित हैं और जितने विकल्पोंकर सहित ये जीव हैं उतनेही नाना प्रकारके दुःखोंकर सहित भी हैं किन्तु जितने विकल्प हैं उतने प्रायश्चित्त शास्त्रमें नहीं हैं इसलिये उनसमस्त असंख्यात लोकप्रमाण विकल्पोंकी शुद्धि आपके पासमें ही होती है ।

भावार्थः—यद्यपि दूषणोंकी शुद्धि प्रायश्चित्तके करनेसेभी होती है किन्तु हे भगवन् जितने दूषण हैं उतने प्रायश्चित्त, शास्त्रमें नहीं कहेगये हैं इसलिये समस्त दूषणोंकी शुद्धि आपके समीपमें ही होती हैं ॥१०॥

भावान्तःकरणेन्द्रियाणि विधिवत्संहृत्य बाह्याश्रयादेकीकृत्य पुनस्त्वया सह शुचिज्ञानैकसन्मूर्तिना ।
निःसङ्गः श्रुतसारसंगतमतिः शान्तो रहःप्राप्तवान् यस्त्वां देव समीक्षते स लभते धन्यो भवत्सन्निधिम् ॥

हे भगवन् समस्तप्रकारके परिग्रहोंसे रहित और समस्तशास्त्रोंका जाननेवाला तथा क्रोधादिकषायोंसे रहित और एकान्तवासी जो भव्यजीव समस्त बाह्यपदार्थोंसे मन तथा इन्द्रियोंको हटाकर तथा अखंड और निर्मल सम्यग्ज्ञानरूपी मूर्तिकेधारी आपमें स्थिरकर आपको देखता है वह मनुष्य आपकी समीपता को प्राप्त होता है।

भावार्थः—जबतक मन तथा इन्द्रियका व्यापार बाह्यपदार्थोंमें लगा रहता है तबतक कोईभी मनुष्य आपके स्वरूपको प्राप्त नहीं करसक्ता किन्तु जो मनुष्य मन तथा इन्द्रियोंको बाह्य पदार्थसे हटालेता है वही वास्तविक रीतिसे आपके स्वरूपको देख तथा जानसक्ता है इसलिये जिसमनुष्यने समस्तप्रकारके परिग्रहोंसे रहितहोकर तथा शास्त्रोंका भलीभांति ज्ञानी होकर और शान्त तथा एकान्तवासी होकर मन तथा इन्द्रियोंको बाह्य पदार्थोंसे हटाकर तथा आपके स्वरूपमें लगाकर आपको देखलिया है उसीमनुष्यने आपके समीपपनेको प्राप्त किया है ऐसा भलीभांति निश्चित है ॥ ११ ॥

त्वामासाद्य पुराकृतेन महता पुण्येन पूज्यं प्रभुं ब्रह्माद्यैरपि यत्पदं न सुलभं तल्लभ्यते निश्चितम् ।

अर्हन्नाथ परं करोमि किमहं चेतो भवत्सन्निधावद्यापि भ्रियमाणमप्यतितरामेतद्बहिर्धावति ॥ १२ ॥

अर्थः—पूर्वभवमें कष्टसे संचय कियेहुवे बड़ेभारी पुण्यसे जिस मनुष्यने हेभगवन् तीनलोकके पूजनीक आपको पालिया है उसमनुष्यको उसउत्तमपदकी प्राप्ति होती है जिसको निश्चयसे ब्रह्मा विष्णु आदि भी नहीं पासक्ते परन्तु हे अर्हज्जिनेन्द्र तथा हे नाथ मैं क्या करूं ? आपके समीपमें लगाया हुवा भी मेरा चित्त प्रबल रीतिसे बाह्यपदार्थोंकी ओर ही दौड़ता है ।

भावार्थः—सहसा यदि कोई मनुष्य चाहै कि मैं आपको प्राप्त करलूं वह स्वप्नमें भी नहीं करसक्ता किन्तु पूर्वमें संचय कियेहुवे बड़ेभारी पुण्यसेही आपकी प्राप्ति होती है इसलिये हेभगवन् जिसमनुष्यने आपको प्राप्त करलिया है उसमनुष्यको उस उत्तमपदकी प्राप्तिहोती है जिस पदको ब्रह्मा विष्णु आदिके भक्तोंकी तो क्याबात ? स्वयं ब्रह्मा विष्णुभी प्राप्त नहीं करसक्ते किन्तु हे जिनेन्द्र इनसमस्तबातोंको जानता हुवाभी मेरा चित्त आपके समीपमें लगाया हुवाभी बाह्य पदार्थोंमें दौड़ २ कर जाता है यह बड़ा खेद है ॥ १२ ॥

संसारो बहुदुःखतः सुखपदं निर्वाणमेतत्कृते त्यक्त्वार्थादि तपोवनं वयमितास्तत्रोज्झितः संशयः ।
एतस्मादपि दुष्करव्रतविधेर्नाद्यापि सिद्धिर्यतो वाताली तरलीकृतं दलमिव भ्राम्यत्यदो मानसम्॥१३॥

अर्थः—हे जिनेश यह संसारतो नानाप्रकारके दुःखोंका देनेवाला है और वास्तिक सुखका स्थान है अथवा वास्तविक सुखका देनेवाला मोक्षहै इसलिये उसीमोक्षकी प्राप्तिकोलिये हमने समस्त धनधान्य आदि परिग्रहोंका त्याग किया और हम तपोवनकोभी प्राप्तहुवे तथा हमने समस्त प्रकारका संशय भी छोड़दिया तथा अत्यंत व्रतभी धारण किये किन्तु अभीतक उनकठिनव्रतोंके धारणकरनेसेभी सिद्धिकी प्राप्ति नहीं हुई क्योंकि पवनके समूह-से कपाये हुवे पत्तेके समान यह हमारा मन रातदिन बाह्यपदार्थोंमें भ्रमण करता रहता है ॥ १३ ॥

झम्पाः कुर्वदितस्ततः परिलसद्बाह्यार्थलाभाद्दनित्यं व्याकुलतां परां गतवतः कार्यं विनाप्यात्मनः ।
ग्रामं वासयदैन्द्रियं भवकृतो दूरं सुहृत्कर्मणः क्षेमं तावदिहास्ति कुत्र शमिनो यावन्मनो जीवति ॥१४॥

अर्थः—हेभगवन् जोमन बाह्यपदार्थोंको मनोहर मानकर उनकी प्राप्तिके लिये जहां तहा भटकता है और जो ज्ञानस्वरूपभी आत्माको विना प्रयोजन सदा अत्यन्त व्याकुल करता रहता है तथा जो इन्द्रियरूपी गांवको बसानेवाला है अर्थात् इसमनकी कृपासेही इन्द्रियोंकी विषयोंमें स्थिति होती है और जो संसारके पैदाकरने वाले कर्मोंका परममित्र है अर्थात् आत्मारूपी घरमें सदा कर्मोंको लाता रहता है ऐसा मन जबतक जीवित रहता है तबतक मुनियोंको कदापि कल्याणकी प्राप्ति नहीं होसक्ती ।

भावार्थः—जबतक आत्मामें कर्मोंका आवागमन लगारहता है तबतक आत्मा सदा व्याकुलही बना रहता है वे कर्म आत्मामें मनके द्वारा लायेजाते हैं क्योंकि मनके सहारेसेही इन्द्रियां रूप आदिके देखनेमें प्रवृत्त होतीहैं तथा रूप आदिके देखनेसे रागद्वेष उत्पन्न होते हैं फिर उनसे ज्ञानावरण आदि द्रव्यकर्मोंकी उत्पत्ति होती है इसलिये उनकर्मोंके संबन्धसे आत्मा सदा व्याकुलही रहता है और जब आत्माही व्याकुल रहा तब मुनियोंको कल्याणकी प्राप्तिभी कैसे होसक्ती है इसलिये कल्याणका रोकनेवाला मनही है ॥ १४ ॥

नूनं मृत्युमुपैति यातममलं त्वां शुद्धबोधात्मकं त्वत्तस्तेन बहिर्भ्रमत्यविरतं चेतो विकल्पाकुलम् ।
स्वामिन् किं क्रियतेऽत्र मोहवशतो मृत्योर्न भीःकस्य तत् सर्वानर्थपरम्पराकृदहितो मोहः स मे वार्यताम् ॥

अर्थः—निर्मल तथा अखंडज्ञानस्वरूप आपको पाकर मेरा मन मृत्युको प्राप्तहोजाता है इसलिये हेजिनेन्द्र नानाप्रकारके विकल्पोंकर युक्त मेराचित्त आपसे बाह्य समस्त पदार्थोंमेंही निरन्तर घूमता फिरता है क्या कियाजाय ? क्योंकि मृत्युसे सबही डरते हैं अतः यह सविनय प्रार्थना है कि समस्तप्रकारके अनर्थोंको

करनेवाला तथा अहितकारी इसमेरे मोहको नष्टकरो ।

भावार्थः—जबतक मोहका संबन्ध आत्माके साथ रहेगा तबतक चित्त मेरा तेरा करनेसे बाह्यपदार्थोंमें घूमताही रहेगा और जबतक चित्त घूमता रहेगा तबतक सदा आत्मामें कर्मोंका आवागमनभी लगाही रहेगा तथा इसरीतिसे आत्मा सदा व्याकुलही रहेगा इसलिये हेभगवन् इस सर्वथा नानाप्रकारके अनर्थोंके करने वाले मेरे मोहको नष्टकरो जिससे मेरी आत्माको शान्ति मिले ॥ १५ ॥

मोहही समस्तकर्मोंमें वलवान है इसबातको आचार्य दिखाते हैं ॥

सर्वेषामपि कर्मणामतितरां मोहो वलीयानसौ धत्ते चञ्चलतां बिभेति च मृतेस्तस्य प्रभावान्मनः ।
नो चेज्जीवति को म्रियेत क इह द्रव्यत्वतः सर्वदा नानात्वं जगतो जिनेन्द्र भवता दृष्टं परं पर्ययैः ॥

अर्थः—ज्ञानावरण आदि समस्त कर्मोंके मध्यमें मोहही अत्यंत बलवान कर्म है और इसी मोहके प्रभावसे यह मन जहां तहां चंचल होकर भ्रमण करता है और मरणसे डरता है यदि यह मोह नहोवे तो निश्चयनयसे न तो कोई जीवे और न कोई मरे क्योंकि आपने जो इसजगतको अनेक प्रकार देखा है वह पर्यायार्थिकनयकी अपेक्षासेही देखा है द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षासे नहीं इसलिये हेभगवन् इसमेरे मोहकोही सर्वथा नष्ट कीजिये ॥ १६ ॥

शार्दूलविक्रीड़ित ।

वातव्याससमुद्रवारिलहरीसंघातवत्सर्वदा सर्वत्रक्षणभङ्गुरं जगदिदं संचिंत्य चेतो मम ।
सम्प्रत्येतदशेषजन्मजनकव्यापारपारास्थितं स्थातुं वाञ्छति निर्विकारपरमानन्दे त्वयि ब्रह्मणि ॥१७॥

अर्थः—पवनकर व्याप्त ऐसाजो समुद्र उसकी जो जललहरीं उनके समूहके समान सर्वकाल तथा सर्व-

क्षेत्रोंमें यहजगत क्षणभरमें विनाशीक है ऐसा भलीभांति विचारकर यह मेरा मन इससमय हे जिनेन्द्र समस्त संसारके उत्पन्न करनेवाले जो व्यापार उनसे रहितहोकर निर्विकार परमानन्दस्वरूप परब्रह्म जो आप हैं सो आपमें ही ठहरनेकी इच्छा करता है ॥ १७ ॥

पापं स्यादशुभोपयोगत इतः प्राप्नोति दुःखं जनो धर्मः स्याच्च शुभोपयोगत इतः सौख्यं किमप्याश्रयेत् ॥
द्वन्द्वं द्वन्द्वमिदं भवाश्रयतया शुद्धोपयोगात्पुनः नित्यानन्दपदं तदत्र च भवानर्हन्नहं तत्र च ॥१८॥

अर्थः—जिससमय अशुभ उपयोग रहता है उससमय तो पापकी उत्पत्ति होती है तथा उसपापसे जीव नानाप्रकारके दुःखोंको प्राप्त होते हैं और जिससमय शुभ उपयोग रहता है उससमय धर्म (पुण्य) की उत्पत्ति होती है तथा धर्मसे जीवोंको सुख मिलता है और ये दोनों पापपुण्यरूपी द्वन्द्व संसारके ही कारण हैं अर्थात् इन दोनोंसे सदा संसार ही उत्पन्न होता रहता है किन्तु शुद्धोपयोगसे अविनाशी तथा आनन्दस्वरूप-पदकी प्राप्ति होती है और हे जिनेन्द्र आप तो उसपदमें निवास करते हैं तथा मैं शुद्धोपयोगरूपी पदमें निवास करता हूं ।

भावार्थः—उपयोगके तीनभेद हैं पहला अशुभोपयोग दूसरा शुभोपयोग तीसरा शुद्धोपयोग उनमें आदिके जो दो उपयोग हैं उनसे तो संसारमें ही भटकना पड़ता है क्योंकि जिससमय जीवोंका उपयोग अशुभ होगा उससमय उनको पापका बंध होगा तथा पापके बंध होनेसे उनको नानाप्रकारकी खोटी २ गतियोंमें भ्रमण करना पड़ेगा और जिससमय उपयोग शुभ होगा उससमय उस शुभयोगकी कृपासे उनको राजा महाराजा आदि पदोंकी प्राप्ति होगी इसलिये वहभी संसारका ही बढ़ानेवाला है किन्तु जिससमय उस शुभोपयोगकी प्राप्ति होगी उससमय संसारकी प्राप्ति नहीं हो सकती किन्तु निर्वाणकी प्राप्ति ही होगी इसलिये

हे भगवन् मैं शुद्धोपयोगमें ही स्थित रहना चाहता हूं ॥ १८ ॥

पद्मनन्दिपञ्चविंशतिका।

यन्नान्तर्न बहिःस्थितं न च दिशि स्थूलं न सूक्ष्मं पुमान्नैव स्त्री न नपुंसकं न गुरुतां प्राप्तं न यल्लाघवम्॥
कर्मस्पर्शशरीरगन्धगणनाव्याहारवर्णोज्झितं स्वच्छं ज्ञानदृगेकमूर्तितदहं ज्योतिःपरं नापरम् ॥ १९ ॥

अर्थः—जो आत्मस्वरूपतेज न तो भीतर स्थित है और न बाहिर स्थित है तथा न दिशामें ही स्थित है और न मोटा है न महीन है तथा आत्मारूपीतेज न तो पुल्लिंग है और न स्त्रीलिंग है तथा नपुंसकलिंग भी नहीं है और न भारी है और न हलका है तथा जो तेज कर्म, स्पर्श, शरीर, गंध, संख्या, वचन वर्णसे रहित है और जो निर्मल है तथा सम्यग्ज्ञान सम्यक्दर्शनस्वरूप है मूर्ति जिसकी ऐसा है उसी उत्कृष्ट तेजस्वरूप मैं हूं किन्तु आत्मस्वरूप उत्कृष्टतेजसे भिन्न नहीं हूं ॥ १९ ॥

शार्दूलविक्रीड़ित।

एतेनैव चिदुन्नतिक्षयकृता कार्यं विना वैरिणा शश्वत्कर्मखलेन तिष्ठति कृतं नाथावयोरन्तरम् ॥
एषोऽहं स च ते पुरः परिगतो दुष्टोऽत्र निस्सार्यतां सन्दक्षेतरनिग्रहो न यवतो धर्मः प्रभोरीदृशः ॥

अर्थः—हे भगवन् चैतन्यकी उन्नतिको नाशकरनेवाले और विनाकारण ही सदा वैरी इस दुष्टकर्मने आपमें तथा मुझमें भेद डालदिया है किन्तु कर्मशून्य अवस्थामें जैसी आपकी आत्मा है वैसी ही मेरी आत्मा है तथा इससमय यह कर्म आपके सामने मौजूद है इसलिये इसदुष्टको हटाकर दूर करो क्योंकि नीतिवान् प्रभुओंका यही धर्म है कि वे सज्जनोंकी रक्षा करैं तथा दुष्टोंका नाश करैं।

भावार्थः—हे भगवन् जिसप्रकार अनन्तविज्ञान अनन्तवीर्य अनन्तसुख तथा अनन्तदर्शन आदिगुण स्वरूप आपकी आत्मा है उसीप्रकार उन्हीं गुणोंकर सहित मेरी भी आत्मा है किन्तु भेद इतना ही है कि आपके

तो वे गुण प्रकट होगये हैं और मेरे उनगुणोंकी प्रकटता नहीं हुई है उसभेदका करनेवाला यहकर्म ही है क्योंकि कर्मोंकी कृपासे ही उसमेरे स्वभावोंपर आवरण पड़ा हुआ है तथा इससमय हमदोनों आपके सामने मौजूद हैं इसलिये इसदुष्टको दूरकरो क्योंकि आप तीनोंलोकके स्वामी हैं और नीतिवान् स्वामीका यह धर्म है कि वह सज्जनोंकी रक्षा करै तथा दुष्टोंका नाश करै ॥ २० ॥

आधिव्याधिजराम्रृतिप्रभृतयः संबन्धिनो वर्गणस्तद्भिन्नस्य ममात्मनो भगवतः किं कर्तुमीशा जडाः ॥
नानाकारविकारकारिण इमे साक्षान्नभोमण्डले तिष्ठन्तोऽपि न कुर्वते जलमुचस्तत्र स्वरूपान्तरम् ॥

अर्थः—हे भगवन् नानाप्रकारके आकार तथा विकारोंको करनेवाले मेघ आकाशमें रहतेहुए भी जिसप्रकार आकाशके स्वरूपका कुछ भी हेरफेर नहीं करते उसीप्रकार आधि, व्याधि, जरा, मरण आदि भी मेरा कुछ नहीं करसक्ते क्योंकि ये समस्त शरीरके विकार जड़ हैं तथा मेरी आत्मा ज्ञानवान् और शरीरसे भिन्न है।

भावार्थः—जिसप्रकार आकाश अमूर्त्तीक है इसलिये रंगविरंगे भी मेघ उसके ऊपर कुछ भी अपना प्रभाव नहीं डालसक्ते तथा उसके स्वरूपका परिवर्तनभी नहीं करसक्ते उसी प्रकार आत्मा ज्ञानदर्शनमय अमूर्तीक पदार्थ है इसलिये इस परभी आधि, व्याधि, जरा, मरण, आदि कुछभी अपना प्रभाव नहीं डालसक्ते क्योंकि ये मूर्तीक शरीरके धर्म हैं और आत्मा शरीरसे सर्वथा भिन्न है ॥ २१ ॥

संसारातपदह्यमानवपुषा दुःखं मया स्थीयते नित्यं नाथ यथा स्थलस्थितिमता मत्स्येन ताम्यन्मनः ।
कारुण्यामृतसंगशीतलतरे त्वत्पादपङ्केरुहे यावद्देव समर्पयामि हृदयं तावत्परं सौख्यवान् ॥ २२ ॥

अर्थः—हे भगवन् जिसप्रकार जलसे बाहिर स्थलमें विना पानीके मछली तड़फड़ाती है उसीप्रकार संसाररूपी संतापसे जिसका शरीर जलरहा है एसा मैं सदा दुःखित ही रहताहू किन्तु जबतक करुणारूपी

जलके संगसे जो अत्यंत शीतल हैं ऐसे आपके चरणकमलोंमें मैं अपने मनको लगाता हूं तबतक मैं अत्यन्त सुखी रहता हूं ॥

भावार्थः—जिसप्रकार स्थलमें पड़ी हुई मछली दुःखित रहती है उसीप्रकार इस नानाप्रकारके दुःखोंसे भरे हुवे संसारमें मैं भी सदा संतप्त रहता हूं तथा जिसप्रकार वही मछली जबतक जलमें भीतर रहती है तबतक सुखी रहती है उसीप्रकार जबतक मेरा मन करुणारूपी रससे अत्यंत शीतल आपके चरणकमलोंमें प्रविष्ट रहता है तबतक मैं भी सुखी रहता हूं इसलिये हे भगवन् आपके चरणकमलोंको छोड़कर मेरा मन दूसरी जगह न प्रवेश करै जिससे मैं दुःखी रहूं यही प्रार्थना है ॥ २२ ॥

साक्षग्राममिदं मनो भवति यद्बाह्यार्थसंबन्धभाक् तत्कर्म प्रविजृम्भते पृथगहं तस्मात्सदा सर्वथा ।
चैतन्यात्तव तत्तथेति यदि वा तत्रापि तत्कारणं शुद्धात्मन्मम निश्चयात्पुनरिव त्वय्येव देव स्थितिः ॥

अर्थ—हे भगवन् इन्द्रियोंके समूहकर सहित जो मेरा मन बाह्यपदार्थोंसे संबन्ध करता है उसीसे नानाप्रकारके कर्म मेरी आत्माके साथ आकर बंधते हैं किन्तु वास्तविकरीतिसे मैं उनकर्मोंसे सर्वकालमें तथा सर्वक्षेत्रमें जुदा ही हू तथा आपके भी चैतन्यसे भी सर्वथा वे कर्म जुदे ही हैं अथवा उस चैतन्यसे कर्मोंकेभेद करनेमें आपहीकारण हैं इसलिये हे शुद्धात्मन् हे जिनेन्द्र निश्चयसे मेरी स्थिति आपहीमें है ।

भावार्थः—यदि निश्चयनयसे देखाजावे तो हे जिनेन्द्र आप तथा मैं समान ही हूं क्योंकि निश्चयनयसे आपकी आत्मा भी कर्मबंधकर रहित है तथा मेरी आत्माके साथभी किसीप्रकार कर्मोंका बंधन नहीं रहता है इसलिये हे भगवन् मेरी स्थिति निश्चयसे आपके स्वरूपमें ही है ॥ २३ ॥

किं लोकेन किमाश्रयेण किमुत द्रव्येण कायेन किं किं वाग्भिः किमुतेन्द्रियैः किमसुभिः किं तैर्विकल्पैरपि ।

सर्वे पुद्गलपर्यया बत परे त्वत्तः प्रमत्तो भवन्नात्मन्नेभिरभिश्रयस्यतितरामालेन किं बन्धनम् ॥ २४ ॥

अर्थः—हे आत्मन् न तो तुझै लोकसे काम है और न दूसरेके आश्रयसे काम है तथा न तुझै द्रव्यसे प्रयोजन है और न शरीरसे प्रयोजन है तथा तुझै बचन और इन्द्रियोंसे भी कुछ काम नहीं और प्राणोंसेभी प्रयोजन नहीं तथा नानाप्रकारके विकल्पोंसे भी कुछ काम नहीं क्योंकि ये समस्त पुद्गलद्रव्यकीही पर्यायें हैं और तेरेसे भिन्न है तो भी बड़ेखेदकी बातहै कि तू इनको अपना मानकर आश्रय करता है सो क्या तू दृढ़ बंधनको प्राप्त नहीं होगा ? अवश्य ही होगा।

भावार्थः—हे आत्मन् तु तो निर्विकार चैतन्यस्वरूपी है और समस्तलोक तथा शरीर, इन्द्रिय, द्रव्य, वचन आदि समस्त पदार्थ पुद्गल द्रव्यकी पयार्य है और तुझसे सर्वथा भिन्न है ऐसा होनेपर भी यदि तू इनको अपने समझकर आश्रय करेगा तो तू अवश्य ही बंधनको प्राप्त होगा इसलिये इनसमस्त परपदार्थोंसे ममताको छोड़कर शुद्धानंद चैतन्यस्वरूप आत्माका ध्यानकर जिससे तू कर्मोंसे न बंधे ॥ २४ ॥

धर्माधर्मनभांसि काल इति मे नैवाहितं कुर्वते चत्वारोऽपि सहायतामुपगतास्तिष्ठन्ति गत्यादिषु ।
एकः पुद्गल एव सन्निधिगतो नोकर्मकर्माकृतिर्वैरी बन्धकृदेष सम्प्रति मया भेदासिना खण्डितः ॥२५॥

अर्थः—धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य, कालद्रव्य ये चारोंद्रव्य मेरे किसीप्रकारके अहितको नहीं करते हैं किंतु ये चारोंद्रव्य गति, स्थिति आदि कामोंमें सहकारी है इसलिये ये मेरे सहायी होकर ही रहते हैं परन्तु नोकर्म (तीन शरीर छै पर्याप्ति) तथा कर्म हैं स्वरूपजिसका ऐसा तथा समीपमें रहनेवाला और बंधका करनेवाला एक पुद्गल ही मेरा बैरी है इसलिये उसीके इससमय मैंने भेदरूपी तलवारसे खंड २ उड़ा दिये हैं।

भावार्थ—मुझसे धर्म, अधर्म, आकश, काल तथा पुद्गल ये पांच द्रव्य भिन्न हैं उनमेंसे धर्म, अधर्म, आ-

काश, काल ये चार द्रव्य तो मेरा किसीप्रकार अहित नहीं करते किंतु मेरी सहायता ही करते हैं अर्थात् धर्म-द्रव्य तो मेरे गमनमें सहकारी है तथा अधर्मद्रव्य ठहरनेमें सहकारी है और आकाशद्रव्य मुझे अवकाशदान देता है इसलिये अवकाशदान देनेमें वह भी मुझे सहकारी है और कालद्रव्यसे परिवर्तन होता है इसलिये परिवर्तन करनेमें वह भी सहकारी है परन्तु एक पुद्गलद्रव्यही मेरे बड़ेभारी अहितका करनेवाला है क्योंकि नोकर्म तथा कर्मस्वरूपमें परिणत होकर पुद्गलद्रव्य मेरे आत्माके साथ बंधको प्राप्त होता है तथा उसकी कृपासे मुझे नानाप्रकारकी गतियोंमें भ्रमण करना पड़ता है और सत्यमार्ग भी नहीं सुझता है इसलिये इससमय भेद-विज्ञानसे मैंने उसका खंडन किया है ॥ २५ ॥

शार्दूलविक्रीड़ित ।

रागद्वेषकृतैर्यथा परिणमेद्रूपान्तरैः पुद्गलो नाकाशादिचतुष्टयं विरहितं मूर्त्या तथा प्राणिनाम् ।
ताभ्यां कर्मघनं भवेदविरतं तस्मादियं संसृतिस्तस्यां दुःख परंपरेऽपि विदुषा त्याज्यौ प्रयत्नेन तौ ॥

अर्थ—जीवोंके नानाप्रकारके रागद्वेषोंके करनेवाले परिणामोंसे जिसप्रकार पुद्गलद्रव्य परिणमित होता है उसीप्रकार धर्म, अधर्म, आकाश, तथा काल ये चार अमूर्तिकद्रव्य रागद्वेषके करनेवाले परिणामोंसे परिणमित नहीं होते तथा उसरागद्वेषकेद्वारा प्रबलकर्मोंकी उत्पत्ति होती है और उसकर्मसे संसार होता है तथा संसारमें नानाप्रकारके दुःख भोगने पड़ते हैं इसलिये कल्याणकी अभिलाषा करनेवाले सज्जनोंको चाहिये कि वे राग तथा द्वेषको सर्वथा छोड़ दें ॥

भावार्थः—पुद्गलके अनेक परिणाम होते हैं उनमें रागद्वेषरूप जो पुद्गलके परिणामहैं उनसे सदा कर्म आत्मामें आकर बंधते रहते हैं और उन कर्मोंसे आत्माको संसारमें घूमना पड़ता है तथा वहांपर नाना

प्रकारके दुःख सहन करने पड़ते हैं इसलिये भव्यजीवोंको ऐसे परमअहितके करनेवाले रागद्वेषोंका त्याग अवश्य ही करदेना चाहिये ॥ २६ ॥

किं बाह्येषु परेषु वस्तुषु मनः कृत्वा विकल्पान् बहून् रागद्वेषमयान् मुधैव कुरुषे दुःखाय कर्माशुभम् ।
आनन्दामृतसागरे यदि वसस्यासाद्य शुद्धात्मनि स्फीतं तत्सुखमेकतामुपगतं त्वं यासि रे निश्चितम् ॥

अर्थः—हे मन बाह्य तथा तुझसे भिन्नजो स्त्री पुत्र आदिपदार्थ हैं उनमें रागद्वेषस्वरूप अनेक प्रकारके विकल्पोंको करके क्यों दुःखके लिये तू व्यर्थ अशुभ कर्मको बांधता है यदि तू आनद रूपी जलके समुद्रमें शुद्धात्माको पाकर उसमें निवास करेगा तो तू विस्तीर्ण निर्वाणरूपी सुखको अवश्य प्राप्त करैगा इसलिये तुझे आनंद स्वरूप शुद्ध आत्मामें ही निवास करना चाहिये और उसीका ही ध्यान तथा मनन करना चाहिये ॥२७

इत्याध्याय हृदि स्थिरं जिन भवत्पादप्रसादात्सती मध्यात्मैकतुलामयं जन इतः शुद्ध्यर्थमारोहति ।
एवं कर्तुममी च दोषिणमितः कर्मारयो दुर्धराः तिष्ठन्ति प्रसभं तदत्र भगवन् मध्यस्थसाक्षी भवान् ॥

अर्थः—हे जिनेन्द्र आपके चरणकमलोंकी कृपासे पूर्वोक्त बातोंको भलीभांति मनमें चिंतवनकर जिस समय यह प्राणी शुद्धिके लिये अध्यात्मरुपी तुला (तखड़ी) चढ़ता है उससमय उसको दोषी बनानेके लिये कर्म रूपी भयंकर बैरी मौजूद हैं इसलिये हे भगवान् ऐसी दशामें आपही मध्यमें बैठकर साक्षी हैं ॥

भावार्थ—तखड़ीके दो पले होते हैं उनमें से अध्यात्मरुपी एक पलडेपरतो शुद्धि के लिये यह प्राणी चढ़ता है और दूसरेमें कर्मरूपी बैरी उस प्राणीको दोषी बनानेकेलिये मौजूद हैं और हे भगवन् आप उनदोनों-के बीचमें साक्षी हैं इसलिये आपको पूरीतौरसे न्याय करना चाहिये ॥ २८ ॥

विकल्परूप ध्यानतो संसारस्वरूप है और निर्विकल्पध्यान मोक्षस्वरूप है इस बातको आचार्य दिखाते हैं—

द्वैतं संसृतिरेव निश्चयवशादद्वैतमेवामृतं संक्षेपादुभयत्र जल्पितमिदं पर्यन्तकाष्ठागतम् ।
निर्गत्याद्यपदाच्छनैः सबलितादन्यत्समालम्बते यः सोऽसंज्ञ इति स्फुटं व्यवहृतेर्ब्रह्मादिनामेति च ॥

अर्थः—द्वैत सविकल्पकध्यानतो वास्तविकरीतिसे संसार स्वरूप है तथा अद्वैत (निर्विकल्पक) ध्यान मोक्षस्वरुप है यह संसार तथा मोक्षमें अंतदशाको प्राप्त संक्षेपसे कथन है तथाजो मनुष्य इनदोनोंमेंसे आदिका जो द्वैतपद है उससे धीरेसे हटकर अद्वैतपदको आलम्बन करता है वह पुरुष वास्तविक रीतिसे नामरहित हो जाता है अथवा उसी पुरुषको व्यवहार नयसे ब्रह्मा धाता आदि नामसे पुकारते हैं ।

भावार्थ—जो पुरुष सविकल्पध्यानको करने वाला है वह तो संसारमें ही घूमा करता है किन्तु जो पुरुष निर्विकल्पकध्यानको आचरण करता है वह मोक्षमें जाकर सिद्धपदको प्राप्त करता है तथा सिद्धोंका निश्चयनयसे कोई नाम न होनेसे वह नाम रहित हो जाते हैं अथवा व्यवहारनयसे उन्हींको ब्रह्मा आदि नामसे भी पुकारते हैं ॥ २९ ॥

चारित्रं यदभाणि केवलदृशो देव त्वया मुक्तये पुंसो तत्खलु मादृशेन विषमे काले कलौ दुर्धरम् ।
भक्तिर्या समभूदिह त्वयि दृढा पुण्यैः पुरोपार्जितैः संसारार्णवतारणे जिन ततः सैवास्तु पोतो मम ॥

अर्थः—हे जिनेन्द्रदेव जो आपने केवलज्ञानरूपी दृष्टिसे मुक्तिके लिये चारित्रका वर्णन कियाहै उस चारित्रको इस भयकर कलिकालमें मेरे समान मनुष्य बड़ी कठिनतासे धारण करसक्ताहै किन्तु पूर्वकालमें संचित जो पुण्य उससे जो मेरी आपमें दृढ़ भक्ति है वही हे जिन मुझे संसाररूपी समुद्रसे पारकरनेमें जहाजके समान हो अर्थात् मुझे संसार समुद्रसे वही भक्ति पार कर सकेगी ।

भावार्थः—विना कर्मोंका नाशकर मोक्षकी प्राप्ति नहीं हो सक्ती और कर्मोंका नाश आपकेद्वारा वर्णन

किये हुवे चारित्र (तप) से होता है उस तपको शक्तिके अभावसे इस पंचमकालमें हेभगवन् मुझ सरीखा मनुष्य धारण नहीं करसक्ता इसलिये हेभगवन् यही प्रार्थना है कि भाग्यके उदयसे जो आपमें मेरी दृढ़भक्ति है उसीसे मेरे कर्म नष्ट हो जावे और मुझे मोक्षकी प्राप्ति होवे ॥ ३० ॥

इन्द्रत्वं च निगोदतां च बहुधा मध्ये तथा योनयः संसारे भ्रमता चिरं यदखिलाः प्राप्ता मयाऽनन्तशः।
तन्नापूर्वमिहास्ति किञ्चिदपि मे हित्वा विमुक्तिप्रदां सम्यग्दर्शनबोधवृत्तपदवीं तां देव पूर्णां कुरु ॥३१॥

अर्थः—इससंसारमें भ्रमणकर मैंने इन्द्रपना निगोदपना और बीचमें अन्य भी समस्त प्रकारकी योनि अनंतबार प्राप्तकी हैं इसलिये इन पदवियोंमेंसे कोई भी पदवी मेरेलिये अपूर्व नहीं है किन्तु मोक्षपदको देने-वाली सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रकी पदवी अभीतक नहीं मिली है इसलिये हेभगवन् यह प्रार्थना है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रकी पदवीकोही पूर्णकरो ।

भावार्थः—यद्यपि संसारमें बहुतसी इन्द्र चक्रवर्ती आदि पदवी हैं और वे समस्त पदवी मैंने प्राप्तभी करली हैं किन्तु हे भगवन् जो पदवी सर्वोत्कृष्ट मोक्षरूपी सुखके देनेवाली है वह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रकी पदवी अभीतक मैंने नहीं प्राप्त की है इसलिये यह विनयपूर्वक प्रार्थना है कि कृपाकर मुझे सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्रकी पदवीको पूर्णतया प्रदान करें ॥ ३१ ॥

श्रीवीरेण मम प्रसन्नमनसा तत्किञ्चिदुच्चैःपदप्राप्त्यर्थं परमोपदेशवचनं चित्ते समारोपितम् ।
येनास्तामिदमेकभूतलगतं राज्यं क्षणध्वंसि यत् त्रैलोक्यस्य च तन्न मे प्रियमिह श्रीमज्जिनेश प्रभो ॥

अर्थः—बाह्य तथा अभ्यंतर लक्ष्मीसे शोभित ऐसे श्री वीरनाथ भगवानने अपने प्रसन्नचित्तसे सबसे

१—वृत्ति यह भी ख. पुस्तक में पाठ है ।

ऊंचे पदकी प्राप्तिकेलिये जो मेरे चित्तमें उपदेश जमाया है अर्थात् उपदेशदिया है उस उपदेशके सामने क्षणभरमें विनाशीक ऐसा पृथ्वीका राज्य मुझै प्रिय नहीं है यह बाततो दूररहो किन्तु हे प्रभो हे जिनेन्द्र उस उपदेशके सामने तीनलोकका राज्यभी मुझै प्रिय नहीं है ।

भावार्थः—यद्यपि संसारमें पृथ्वीका राज्य तथा तीनलोकका राज्यमिलना भी एक उत्तमबात है किन्तु हेभगवन् प्रसन्नचित्तसे श्रीवीरनाथभगवानने जो मुझै उपदेशदिया है उसके सामने वे दोनों बातें मुझै इष्ट नहीं है इसलिये मैं ऐसे उपदेशकाही प्रेमी हूं ॥ ३२ ॥

सूरेः पङ्कजनन्दिनः कृतिमिमामालोचनामर्हतामग्रे यः पठति त्रिसन्ध्यममलश्रद्धानताङ्गो नरः ।
योगीन्द्रैश्चिरकालरूढतपसा यत्नेन यन्मृग्यते तत्प्राप्नोति परं पदं स मतिमानानन्दसद्म ध्रुवम् ॥३३॥

अर्थः—श्रद्धासे जिसका शरीर नम्रीभुत है ऐसा जो मनुष्य श्रीपद्मनन्दि आचार्य द्वारा कीगई अलोचना नामकी कृतिको तीनोंकाल श्रीअर्हन्तदेवके सामने पढ़ता है वह बुद्धिमान मनुष्य उसपदको प्राप्त होता है जिसपदको चिरकालपर्य्यंत तपकर बड़े २ मुनि घोरप्रयत्न करनेपर प्राप्त करते हैं ।

भावार्थः—जो मनुष्य प्रातःकाल मध्यान्हकाल तथा सायंकाल तीनोंकालोंमें श्रीअर्हन्तदेवके सामने अलोचनाका पाठ पढ़ता है वह शीघ्रही मोक्षको प्राप्त होता है इसलिये मोक्षाभिलाषियोंको अवश्यही श्रीअर्हंत देवके सामने पद्मनन्दि आचार्यद्वारा बनाई हुई आलोचनानामक कृतिका तीनोंकाल पाठ करना चाहिये ॥३३॥

इसप्रकार इसग्रंथमें आलोचनानामक अधिकार समाप्त हुवा ।

॥२६६॥

सद्बोधचन्द्रोदयाधिकारः ।

शार्दूलविक्रीडित ।

यज्ज्ञानन्नपि बुद्धिमानपि गुरुः शक्तो न वक्तुं गिरा प्रोक्तं चेन्न तथापि चेतसि नृणां सम्माति चाकाशवत् ।
यत्र स्वानुभवस्थितेऽपि विरला लक्ष्यं लभन्ते चिरात्तन्मोक्षैकनिबन्धनं विजयते चित्तत्वमत्यद्भुतम् ॥

अर्थः—मोक्षरूपी सुखके देनेवाले जिस आत्मतत्वको भलीभांति जानता हुवा तथा बुद्धिमान भी वृहस्पति वाणीसे कुछभी वर्णन नहीं करसक्ता है यदि किसी रीतिसे वर्णन भी करे तो भी अत्यन्त विस्तीर्ण होनेके कारण आकाशके समान मनुष्योंके हृदयमें उसको समाविष्ट नहीं करसक्ता है और स्वानुभवमें स्थितहोकर विरलेही प्राणी जिस आत्मतत्त्वको लक्ष्यमें लाते हैं ऐसा वह अत्यन्त आश्चर्यका करनेवाला आत्मतत्त्व सदा इसलोक में जयवन्त है।

भावार्थः—यह आत्मतत्त्व कठिन तो इतना है कि जिसको साधारण पंडितोंकी तो क्या वात साक्षात वृहस्पति भी वर्णन नहीं करसक्के और विस्तृत इतना है कि वह किसीके हृदयमें आकाशकी तरह प्रविष्ट नहीं होसक्ता अर्थात् जिसप्रकार आकाश अधिक लम्बा चोड़ा है इसलिये वह किसी जगहपर नहीं अमासक्ता उसी प्रकार यह आत्मतत्त्वभी इतना विस्तृत है कि साधारणरीतिसे मनुष्य समझ नहीं सक्के और अनेकप्रकारके प्रयत्न करनेपर विरलेही मनुष्य इस आत्मतत्त्वको लक्ष्यमें लासक्ते हैं ऐसा समस्त मोक्ष आदि उत्तम सुखोंका देनेवाला आत्मतत्त्व सदा इसलोकमें जयवंत है ॥ १ ॥

नित्यानित्यतया महत्तनुतयानेकैकरूपत्वतश्चित्तत्वं सदसत्तया च गहनं पूर्णं च शून्यं च यत् ।
तज्जीयादखिलश्रुताश्रयशुचिज्ञानप्रभाभासुरो यस्मिन् वस्तुविचारमार्गचतुरो यः सोऽपि संमुह्यति ॥२॥

अर्थः—जो चैतन्यरूपी तत्त्व नित्य तथा अनित्यपनेसे और गुरू तथा लघुपनेसे तथा एकरूप और

अनेकरूपपनेसे तथा सतरूप और असतरूपपनेसे अत्यंत गहन है और जो पूर्ण तथा शून्यभी है ऐसा आत्मतत्त्व सदा इसलोकमें जयवंत है जिस आत्मतत्त्वमें समस्तशास्त्रोंके अभ्याससे पाई हुई जो ज्ञानकी प्रभा उससे देदीप्यमान तथा वास्तविक पदार्थोंके विचारकरनेमें चतुरभी मनुष्य मुग्ध होजाता है अर्थात् उसकोभी इस चैतन्य (आत्म) तत्त्वका पता नहीं लगने पाता।

भावार्थः—जो चैतण्यरूपीतत्त्व द्रव्यकी अपेक्षातो नित्य है तथा पर्यायकी अपेक्षा अनित्य है और जो संसारावस्थामें कर्मोंके जरियेसे भारी होनेपरभी कर्मरहित अवस्थामें हलका है तथा जो स्वद्रव्यकी अपेक्षा एकरूप है तथा पर्यायकी अपेक्षा अनेकरूप है और जो स्वचतुष्टयकी अपेक्षा सत् स्वरूप है तथा पर चतुष्टय-की अपेक्षा असत स्वरूप है तथा जो चैतन्यरूपी तत्त्व स्वद्रव्यादिचतुष्टयकी अपेक्षा पूर्ण है तथा परद्रव्यादि चतुष्टयकी अपेक्षा शून्य है ऐसा यह अत्यंत गहन आत्मतत्त्व इसलोकमें सदा जयवंत है और समस्तशास्त्रों-के अभ्याससे जिन महापुरुषोंने ज्ञानरूपी प्रभाको पाकर अपनी आत्माको देदीप्यमान बनाया है और वास्त-विक पदार्थाके विचार करनेमें जिनकी बुद्धि अत्यंत प्रवीण है ऐसे महापुरुषभी उस आत्मतत्त्वका खोज नहीं करसक्ते हैं अर्थात् वास्तविक रीतिसे उनको भी आत्मतत्वका पता नहीं लगता॥ २॥

सर्वस्मिन्नणिमादिपङ्कजवने रम्येऽपि हित्वा रतिं यो दृष्टिं शुचिमुक्तिहंसवनितां प्रत्यादराद्दत्तवान्।
चेतोवृत्तिनिरोधलब्धपरमब्रह्मप्रमोदाम्बुभृत्सम्यक्साम्यसरोवरास्थितिजुषे हंसाय तस्मै नमः॥ ३॥

अर्थः—जो हंस अत्यंत मनोहरभी अणिमा महिमा आदि स्वरूप कमलवनसे अपनी प्रीतिको हटाकर अत्यंत पवित्र मोक्षरूपी हंसिनीमें अपनी दृष्टिको देताहुवा ऐसे उसचित्तकी वृत्तिके रोकनेसे प्राप्तहुवा जो परब्रह्मका उत्तम आनंद वही हुवा जल उससेभराहुवा जो मनोहरसमतारूपी सरोवर उसमें स्थिति करनेवाले

प्रियहंसकेलिये नमस्कार है ॥

भावार्थः—हंसका अर्थ आत्माभी है तथा हंसभी है जिसप्रकार हंस अत्यंत मनोहरभी कमलवनको छोड़कर और अत्यंत शुभ्र हंसिनीमें दृष्टिको लगाकर जलके भरेहुवे उत्तम सरोवरमें प्रीतिपूर्वक निवास करता है उसीप्रकार जो आत्मा अणिमा महिमा आदिक ऋद्धियोंकी कुछभी इच्छा न कर तथा अति आदरसे मोक्षमें दृष्टि लगाकर समतामें लीनहोता है उस आत्माकेलिये नमस्कार है ॥ ३ ॥

रथोद्धता ।

सर्वभावविलये विभाति यत्सत्समाधिभरनिर्भरात्मनः ।
चित्स्वरूपमभितः प्रकाशकं शर्मधाम नमताद्भुतं महः ॥ ४ ॥

अर्थः—चारोंतरफसे प्रकाशरूप तथा नानाप्रकारके कल्याणोंका देनेवाला और आश्चर्यकारी जो चैतन्य रूपीतेज समीचीन समाधिसे जिनकी आत्मा व्याप्त है ऐसे महामुनियोंके समस्त रागद्वेष आदि विभावोंके नाशहोनेपर प्रकट होता है उसचैतन्यरूपी तेजकेलिये नमस्कार करो ।

भावार्थः—यदि सामान्यतया देखाजावे तो जीवमात्रमें चैतन्यरूपीतेज मोजूद है किन्तु जो चैतन्यरूपी तेज समस्त रागादिभावोंके नाश होनेपर प्रकट होताहै और जो चौतर्फा प्रकाशरूप तथा समस्तप्रकारके कल्याणोंका देनेवाला है उस चैतन्यरूपी तेजके लिये नमस्कार है ॥ ४ ॥

विश्ववस्तुविधृतिक्षमं लसज्जालमन्तपरिवर्जितं गिराम् ।
अस्तमेत्यखिलमेवहेलया यत्र तज्जयति चिन्मयं महः ॥ ५ ॥

अर्थः—जो चैतन्यरूपीतेज समस्तपदार्थोंका प्रकाशकरनेवाला है और स्वयं प्रकाशस्वरूप है तथा अंत-

कर रहित है और यदि समस्तवाणी युगपत् मिलजावें तो भी उसका बर्णन नहीं करसक्ती हैं अर्थात् जो वाणीके अगोचर है ऐसा वह चैतन्यरूपीतेज सदा इसलोकमें जयवंत है ॥ ५ ॥

रथोद्धता ।

नो विकल्परहितं चिदात्मकं वस्तु जातु मनसोऽपि गोचरम् ।
कर्मजाश्रितविकल्परूपिणः का कथा तु वपुषो जडात्मनः ॥ ६ ॥

अर्थः—समस्त प्रकारके विकल्पोंकर रहित जो चैतन्यरूपीतेज किसीभी रीतिसे मनकेभी गोचर नहीं हो सक्ता, वह चैतन्यरूपीतेज कर्मोंसे पैदाहुवे नानाप्रकारके विकल्प वही है रूप जिसका तथा जड़स्वरूप ऐसे शरीरके गोचर कब हो सक्ता है ? अर्थात् कदापि नहीं हो सक्ता ॥ ६ ॥

अब आचार्य इसबातको बताते हैं कि वह चैतन्यरूपी तत्व मन आदिके प्रत्यक्ष न होकर भी स्वानुभव गम्य है

चेतसो न वचसोऽपि गोचरस्तर्हि नास्ति भविता खपुष्पवत् ।
शङ्कनीयमिदमत्र नो यतः स्वानुभूतिविषयस्ततोऽस्ति तत् ॥ ७ ॥

अर्थः—यदि कोई मनुष्य इसबातकी शंका करैं कि चैतन्यरूपीतेज न तो मनके गोचर है और न वचनके गोचर है इसलिये आकाशके फूलके समान उसका नास्तित्व हो जायगा तो आचार्य समाधान देते हैं कि ऐसी शंका कदापि नहीं करनी चाहिये क्योंकि वह चैतन्यरूपीतत्त्व स्वानुभवसे जानाजाता है इसलिये नास्तित्त्व न होकर उसका अस्तित्व ही है ॥

भावार्थः—आकाशका फूल न तो विचारनेमें ही आसक्ता है और न उसको देख तथा सुनहीं सक्ते हैं तथा उसको वचनसे भी नहीं कह सक्ते हैं इसलिये जिसप्रकार उसकी आस्तिता नहीं कही जासक्ती उसीप्रकार

आत्मतत्त्वकी भी अस्तिता नहीं बनसक्ती, क्योंकि यह भी न तो मनके गोचर है और न वचनके गोचर है यदि कोई इसप्रकारकी शंकाकरे तो ग्रंथकार कहते हैं कि उसकी इसप्रकारकी शंका सर्वथा अयुक्त है क्योंकि वह चैतन्यतत्व मन तथा वचनके गोचर न होनेपरभी स्वानुभवगोचर है इसलिये आकाशके फूलके समान उसकी नास्तिता न कहकर अस्तिता ही कहनी चाहिये ॥ ७ ॥

नूनमत्र परमात्मनि स्थितं स्वान्तमन्तमुपयाति तद्बहिः ।
तं विहाय सततं भ्रमत्यदः को बिभेति मरणान्न भूतले ॥ ८ ॥

अर्थः—जिससमय मन परमात्मामें स्थित होता है उससमय उसमनका नाश हो जाता है इसीलिये वह मन उसपरमात्माको छोड़कर जहां तहां बाहर भ्रमण करता है क्योंकि पृथ्वीतलमें मरणसे कौन नहीं डरता है ? अर्थात् सर्व ही डरते हैं ॥

भावार्थ—जबतक मनका संबंध इस आत्माके साथमें रहता है तबतक वह मन बाह्य पदार्थोंमें घूमता रहता है इसलिये आत्माकी परिणतिभी बाह्यपदार्थोंमें लगीरहती है किन्तु जिससमय यह आत्मा परमात्मा हो जाता है उससमय इसमनका सर्वथा नाश होजाता है उससमय इसकी बाह्यपदार्थोंमें परिणति नहीं लगती इसीलिये मन परमात्मामें स्थित न होकर बाह्यपदार्थोंमें ही घूमता रहता है क्योंकि पृथ्वीतलमें जब सब मरणसे डरते हैं तो अपने मरणका मनको भी पूरा २ भय है ॥ ८ ॥

तत्त्वमात्मगतमेव निश्चितं योऽन्यदेशनिहितं समीक्षते ।
वस्तु मुष्टिविधृतं प्रयत्नतः कानने मृगयते स मूढधीः ॥ ९ ॥

अर्थः—यदि निश्चयसे देखाजावे तो चैतन्यरूपी तत्त्व आत्मामें है आत्मासे भिन्न किसीभी स्थानमें नहीं

॥२७१॥

है किंतु जो मनुष्य आत्मासे भिन्न किसी दूसरेस्थानमें चैतन्यरूपी तत्त्व रहता है ऐसा समझते हैं तथा जानते हैं वे मूढ़बुद्धि मनुष्य वैसाही काम करते हैं जैसा कि मुट्ठीमें रक्खी हुई वस्तुको बनमें जाकर ढूड़ना ।

भावार्थः—मुट्ठीमें रक्खी हुई भी वस्तुका बनमें जाकर ढूडना जिसप्रकार व्यर्थ है उसीप्रकार अपनेसे भिन्न स्थानमें चैतन्यका मानना तथा देखना वृथा है इसलिये चैतन्यतत्त्वके खोजकरनेवाले उत्तमपुरुषोंको चैतन्यतत्त्व अपनेमेंही समझना चाहिये अपनेसे भिन्न स्थानमें नहीं ॥ ९ ॥

अब आचार्य इसबातको दिखाते हैं कि जो मनुष्य आत्मीकवस्तुमें तत्पर है वे ही उत्कृष्टध्यानके पात्र हैं ।

तत्परः परमयोगसम्पदां पात्रमत्र न पुनर्बहिर्गतः ।
नापरेण चलितः पथेप्सिता स्थानलाभविभवो विभाव्यते ॥ १० ॥

अर्थः—यदि कोई मनुष्य मार्गतो दूसरा है परंतु उसको छोड़कर दूसरे मार्गसे चले तो कदापि उसको अभीष्ट स्थानका लाभ नहीं हो सक्ता किन्तु ठीक मार्गपर चले तभी वह अपने अभीष्ट स्थानपर पहुंच सक्ता है उसीप्रकार जो पुरुष आत्मामें आसक्त हैं वे ही मनुष्य उत्कृष्ट ध्यानके पात्र हैं किन्तु जो मनुष्य आत्मामें आसक्त नहीं हैं बाह्यपदार्थोंमें ही आसक्त हैं वे कदापि उत्कृष्टध्यानके पात्र नहीं और न हो ही सक्ते हैं इसलिये उत्कृष्टध्यानके प्रेमी उत्तमपुरुषोंको आत्मामें अवश्य आसक्त रहना चाहिये ॥ १० ॥

अब आचार्य इसबातको दिखाते हैं कि जो तपस्वी आत्मस्वरूपमें लक्ष्य नहीं देते वे मूर्ख हैं ।

साधु लक्ष्यमनवाप्य चिन्मये यत्र सुष्ठु गहने तपस्विनः ।
अप्रतीतिभुवमाश्रिता जडा भान्ति नाट्यगतपात्रसन्निभाः ॥ ११ ॥

अर्थ—अत्यंत गहन ऐसे जिस चैतन्यरूपी तत्त्वमें भलीभांति लक्ष्य न देकर जो तपस्वी अज्ञानमयीभूमि

को आश्रित है अर्थात् अज्ञानी वनरहे हैं वे तपस्वी जड़ हैं और वे नाटकके पात्रके समान शोभित होते हैं ।

भावार्थः—जिसप्रकार नाटकका पात्र कभी राजा कभी मंत्री स्त्री आदि नानाप्रकारके वेषोंको धारण करता है किन्तु वह वास्तविक राजा, मंत्री, स्त्री, नहीं कहाजासक्ता उसीप्रकार तपस्वीका वेष धारणकर जो तपस्वी चैतन्यरूपी तत्वकी ओर अपना लक्ष्य नहीं देते वे तवस्वी कहलानेके योग्य नहीं और वे जड़ हैं इसलिये तपस्वियोंको चैतन्यरूपी तत्वपर अवश्यही लक्ष्य देना चाहिये ॥ ११ ॥

भूरिधर्मयुतमप्यबुद्धिमानन्धहस्तिविधिनावबुध्य यत् ।
भ्राम्यति प्रचुरजन्मसङ्कटे पातु वस्तदातिशायि चिन्महः ॥ १२ ॥

अर्थः—अज्ञानीपुरुष अंधहस्तिन्यायके समान अनेकधर्मोंकर सहित ऐसे चैतन्यतत्वको जानकरभी अनेक जन्म संकटोंमें भ्रमण करता है ऐसा वह अत्यंत अतिशयका भंडार चैतन्यरूपी तेज आपकी रक्षाकरो ।

भावार्थः—अंधेके आखोंके न होनेके कारण वह हाथीके समस्तस्वरूपको नहीं देखसक्ता इसलिये हाथीके समस्त स्वरूपके अज्ञानी उस अन्धेद्वारा वतलाया हुवा हाथीका स्वरूप जिसप्रकार प्रमाणभूत नहीं मानाजाता उसीप्रकार अज्ञानीद्वारा जाना हुवा अनेकान्तात्मकचैतन्यतेज प्रमाणभूत नहीं मानाजासक्ता अतएव अज्ञानी चैतन्यस्वरूपको जानताहुवाभी संसारमेंही भ्रमणकरता रहता है इसलिये ग्रंथकार कहते हैं कि ऐसा अतिशयशाली चैतन्यरूपी तेज सदा आपकी रक्षा करो ॥ १२ ॥

कर्मबंधकलितोप्यवंधनो द्वेषरागमलिनोऽपि निर्मलः ।
देहवानपि च देहवर्जितश्चित्रमेतदखिलं चिदात्मनः ॥ १३ ॥

अर्थः—जो आत्मा कर्मोंके वंधनकर सहित होकरभी कर्मवंधनकर रहित है तथा द्वेष और रागसे

मलिन होने परभी जो निर्मल है और देहधारी होनेपरभी जो देहकर रहित है इसलिये आचार्य कहते हैं कि आत्माका स्वरूप आश्चर्यकारी है ।

भावार्थः—इसश्लोकमें विरोधाभास नामक अलंकार है इसलिये आचार्य विरोधको दिखाते हैं कि जो कर्मबंधन कर सहित है वह कर्मबंधनकर रहित कैसे होसक्ता है ? और जो समल है वह निर्मल कैसे होसक्ता है ? और जो देहसहित है वह देहरहित कैसे होसक्ता है ? अब आचार्य विरोधका परिहार करते हैं यद्यपि अशुद्धनिश्चयसे आत्मा कर्मबंधनकर सहित है तथापि शुद्धनिश्चयनयसे आत्मा कर्मबंधनकर रहितही है तथा यद्यपि आत्मा अशुद्धनिश्चयनयसे रागद्वेषसे मलिन है तोभी शुद्धनिश्चयनयसे वह निर्मल है और आत्मा व्यवहारनयसे शरीरकर सहित है तोभी शुद्धनिश्चयनयसे उसका कोई शरीर नहीं है ।

सारार्थ-किसी अपेक्षासे आत्मा कर्मबंधनकर सहित है तथा किसी अपेक्षासे कर्मबंधनकर रहित है और किसी अपेक्षासे रागद्वेषसे मलिन है तथा किसी अपेक्षासे निर्मल है और किसी अपेक्षासे आत्मा शरीर सहित है तथा किसी अपेक्षासे शरीर कर रहित है इसप्रकार आत्मा अनेकधर्मात्मक है एकधर्मात्मक नहीं ऐसा विश्वास रखना चाहिये ॥

अब आचार्य इसवातको दिखाते हैं कि अनेकान्तात्मक वस्तुमें किसीप्रकारका विरोध नहीं आसक्ता ।

रथोद्धता ।

निर्विनाशमपि नाशमाश्रितं शून्यमप्यतिशयेन सम्भृतम् ।
एकमेव गतमप्यनेकतां तत्वमीदृगपि नो विरुध्यते ॥ १४ ॥

अर्थः—जो अनेकान्तात्मक तत्व नाशरहित होनेपरभी नाशकर सहित है और शून्य होनेपरभी संपूर्ण है (भराहुवा है) तथा एक होनेपरभी अनेक है ऐसा होनेपरभी उसमें किसीप्रकारका विरोध नहीं है ॥

भावार्थः——समस्तपदार्थोंकी सिद्धि किसी न किसी अपेक्षाके द्वाराही होती है यदि पदार्थों की सिद्धिमें अपेक्षा न मानीजाय अर्थात् यदि उनकी सिद्धि एकान्तरीतिसे ही कीजाय तो कदापि उनकी निर्दोष सिद्धि नहीं होसक्ती इसीलिये अनेकान्तात्मक तत्वमें किसी प्रकारका दोप आकर उपस्थित नहीं होता क्योंकि अपेक्षासेही अनेकान्तात्मक तत्वकी स्थिति है जैसे——यदि द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षा कीजावे तो तत्व नाशकर रहित है और यदि पर्यायार्थिकनयकी अपेक्षा कीजावे तो तत्वोंका नाशभी है और यदि परद्रव्यचतुष्टयकी अपेक्षा कीजावे तो तत्व शून्य भी है तथा स्वद्रव्यचतुष्टयकी अपेक्षा कीजावे तो तत्व शून्यताकर रहित भी है और शुद्धनिश्चयनयकी अपेक्षासे एकभी है तथा व्यवहारनयकी अपेक्षासे अनेक भी है इसरीतिसे अस्तित्व नास्तित्वादि अनेक धर्म तत्वमें मोजूद है तथा वे सव अपेक्षासे माने गयेहैं इसलिये उसमें किसी प्रकारका विरोध भी नहीं है ऐसा निश्चयसे समझना चाहिये ॥ १४ ॥

आत्मीकतत्वके पानेवालेही स्वस्वरूपके पानेवाले समझे जातेहैं इसवातको आचार्य दिखाते हैं ।

विस्मृतार्थपरिमार्गणं यथा यस्तथा सहजचेतनाश्रितः ।
स क्रमेण परमेकतां गतः स्वस्वरूपपदमाश्रयेद्ध्रुवम् ॥ १५ ॥

अर्थः——मूर्छित हुवा मनुष्य जिसप्रकार सावधान होकर अपनी भूली हुई चीजको ढूढ़ता है पीछे शान्त होकर अपने स्वरूपमें स्थित होता है उसीप्रकार जो मनुष्य अनादिकालसे भूलेहुवे अपने स्वाभाविक चैतन्यको आश्रयकर क्रमसे साम्यभावको धारण करता है वह मनुष्य निश्चयसे आत्मस्वरूपको आश्रय करता है अर्थात् उसको आत्मस्वरूपकी प्राप्ति होती है ॥ १५ ॥

यद्यदेव मनसि स्थितं भवेत्तत्तदेव सहसा परित्यजेत् ।

इत्युपाधिपरिहारपूर्णता सा यदा भवति तत्पदं तदा॥ १६॥

अर्थः—जो २ वात मनमें होवे (अर्थात् जिस २ वातकी मनमें इच्छा होवे) उसी २ वातको सवसे पहिले छोड़देवे इसप्रकार जिससमयमें समस्त उपाधिका नाशहोजाता है उसीसमयमें आत्मस्वरूपकी प्राप्ति होजाती है।

भावार्थः—ज्ञान दर्शनकी परिपूर्णताही आत्माका स्वरूप है और जिससमयमें इस अखण्डज्ञान तथा दर्शन की प्राप्ति होजाती है उसीको स्वस्वरूपकी प्राप्ति कहते हैं किन्तु जवतक कर्मजनित राग द्वेष अथवा इच्छा आदि उपाधियोंका संवंध इस आत्माके साथ रहता है तवतक आत्मस्वरूपकी प्राप्ति नहीं होती इसलिये स्वस्वरूपकी प्राप्तीके इच्छुक भव्यजीवोंको चाहिये कि वे जिससमय चित्तमें इच्छा आदिक उपाधि उत्पन्न होवे उसीसमय उनका त्यागकर आत्मस्वरूपकी प्राप्तिकरैं॥ १६॥

संहृतेषु स्वमनोऽनिलेषु यद्भाति तत्वममलात्मनः परम्।
तद्गतं परमनिस्तरङ्गतामाग्निरुग्र इह जन्मकानने॥ १७॥

अर्थः-पांचों इन्द्रियोंके तथा मनके और श्वासोच्छ्वासके संकुचित होनेपर जो आत्माका निर्मल तथा उत्कृष्टस्वरूप उदितहोकर शोभित होता है ऐसा वह अत्यंत निश्चल आत्मतत्व संसाररूपी वनकेलिये भयंकर अग्निके समान है।

भावार्थः—जिसप्रकार वनमें लगी हुई अग्नि समस्तवनको भस्म करदेती है उसीप्रकार परमात्मतत्वभी समस्तसंसारका नाशकरनेवाला है अर्थात् परमात्मतत्वके प्राप्तहोनेपर संसारका सर्वथा नाश होजाता है॥१७॥

निर्विकल्पपदवीका आश्रयणकरनेवालाही संयमी मोक्षपदको प्राप्त होता है इसवातको आचार्य दिखाते हैं।

मुक्त इत्यपि न कार्यमञ्जसा कर्मजालकलितोऽहमित्यपि।
निर्विकल्पपदवीमुपाश्रयन् संयमी हि लभते परं पदम्॥ १८॥

॥२७६॥

अर्थः—मैं समस्त कर्मोंकर रहित मुक्तहूं ऐसा भी संयमियोंको नहीं मानना चाहिये तथा मैं समस्त कर्मोंकर सहितहूं ऐसाभी नहीं मानना चाहिये क्योंकि निर्विकल्पपदवीको आश्रय करनेवालाही संयमी मोक्षपदको प्राप्त होता है

भावार्थः—मैं कर्मकर रहितहूं यह भी विकल्प है तथा मैं कर्मकर सहितहूं यहभी विकल्प है और जिस संयमीके जबतक ऐसा विकल्प रहता है तबतक उसकी कदापि मुक्ति नहीं होती इसलिये जो संयमी मोक्षाभिलाषी हैं उनको निर्विकल्पक पदवीकाही आश्रय करना चाहिये ॥ १८ ॥

अब आचार्य द्वैत तथा अद्वैतभावका निषेध वर्णन करते हैं।

कर्मचाहमिति च द्वये सति द्वैतमेतदिह जन्मकारणम्।
एक इत्यपि मतिः सती न यत्साप्युपाधिरचिता तदङ्गभृत् ॥ १९ ॥

अर्थः—हे जीव कर्म तथा मैं दो हूं इसप्रकारका द्वैतभी जीवोंको संसारका कारण है अर्थात् इसप्रकारके द्वैतसेभी जीवोंको नानाप्रकारके भवोंमें भ्रमण करना पड़ता है तथा मैं एकहूं यहभी बुद्धि ठीक नहीं क्योंकि उपर्युक्त दोनोंप्रकारकी बुद्धि उपाधिजन्य हैं।

भावार्थः—मैं द्वैतहू तथा एकहूं इसप्रकारके दोनोंभाव असत्य हैं क्योंकि ये संसारके उत्पन्न करनेवाले हैं तथा कर्मजनित उपाधिसे पैदा हुवे हैं इसलिये जोपुरुष मोक्षाभिलाषी हैं उनको इनदोनोंभावोंका त्यागकर निर्विकल्प पदवीकाही आश्रय करना चाहिये ॥ १९ ॥

अब आचार्य इसबातको दिखाते हैं कि शुद्धभावनातो शुद्धपदकी कारण है और अशुद्धभावना अशुद्ध पदकी कारण है

संविशुद्धपरमात्मभावना संविशुद्धपदकारणं भवेत्।
सेतरेतरकृते सुवर्णतो लोहतश्च विकृती तदाश्रिते ॥ २० ॥

अर्थः—जिसप्रकार सुवर्णसे सुवर्णपात्रकी उत्पति होती है तथा लोहसे लोहपात्रकी उत्पत्ति होती है उसीप्रकार शुद्ध परमात्माकी भावना करनेसे शुद्धपद मोक्षदपकी प्राप्ति होती है तथा अशुद्ध भावनासे अशुद्धपद स्वर्गनरकादि पदकी प्राप्ति होती है ।

भावार्थः—"कारण सदृशानि कार्याणि भवन्ति" अर्थात् कारणके समानही कार्य उत्पन्न होते हैं इस नीति के अनुसार जो भव्यजीव निष्कलंक शुद्ध बुद्ध परमात्माका ध्यान करते हैं उनको परमपंद मोक्षपदकी प्राप्ति होती है अर्थात् वे मोक्षको जाते हैं और जो मनुष्य परमात्माकी भावना नहीं करते हैं उनको परमपदकी प्राप्ति नहीं होती अर्थात् उनको संसारमें नरकादिगतियोंमें भ्रमण करना पड़ता है ॥ २० ॥

परमार्थको जाननेवाले योगीको किसीप्रकारके सुख दुःखका अनुभव नहीं करना पड़ता इसबातको आचार्य दिखाते हैं ।

कर्मभिन्नमनिशं स्वतोऽखिलं पश्यतो विशदबोधचक्षुषा ।
तत्कृतेऽपि परमात्मवेदिनो योगिनो न सुखदुःखकल्पना ॥ २१ ॥

अर्थः—समस्तकर्म मुझसे भिन्न हैं इसप्रकार निरंतर अपने दिव्यसम्यग्ज्ञानरूपी चक्षुसे देखनेवाले तथा परमात्माको भलीभांति जाननेवाले योगीके कर्मसे उत्पन्न सुखदुःखके होनेपरभी सुख दुःखकी कल्पना नहीं होती ।

भावार्थः—अपनेसे कर्मको भिन्न समझनेवाला और परमार्थको भलीभांति जाननेवाला योगीश्वर कर्म जनित सुखदुःखके होनेपरभी अपनेको सुखी दुःखी नहीं मानता ॥ २१ ॥

मानसस्य गतिरस्ति चेन्निरालम्ब एव पथि भास्वतो यथा ।
योगिनो दृगवरोधकारकः सन्निधिर्न तमसां कदाचन ॥२२॥

अर्थः—सूर्यकेसमान योगियोंके मनकी गति यदि निरालंबमार्गमें ही होवेतो कभीभी उनके सम्यग्दर्शन

सम्यग्ज्ञानकी प्रभाको रोकनेवाले अंधकारकी निकटता न होवे ।

भावार्थः—जिसप्रकार सूर्य निरावरण मार्गमें गमन करता है इसलिये उसका प्रकाश किसीकेद्वारा रोका नहीं जाता उसीप्रकार जिसयोगीका मन निरालम्बमार्गमें गमन करता है अर्थात् जिससमय योगी निरालम्ब-ध्यानको करता है उससमय उसयोगीके सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञानरूपीतेजको दर्शनावरण ज्ञानावरणरूपी अंधकार रोक नहीं सक्ता इसलिये योगियोंको सदा निरालम्बही ध्यान करना चाहिये ॥ २२ ॥

रुग्जरादिविकृतिर्न मेऽञ्जसा सा तनोरहमितः सदा पृथक् ।
मीलितेऽपि सति खे विकारिता जायते न जलदैर्विकारिभिः ॥ २३ ॥

अर्थः—नानाप्रकारके विकारोंकर सहितमेघोंकेसाथ संबंध होनेपरभी जिसप्रकार आकाशमें किसीप्रकारका विकार पैदा नहीं होता क्योंकि वे विकार मेघोंके हैं उसीप्रकार रोग वृद्धावस्था आदि नानाप्रकारके विकार शरीरके विकार ही हैं मेरे (आत्माके) विकार नहींहैं क्योंकि शरीरमे मैं सदा जुदाहूं ।

भावार्थः—मूर्तीकपदार्थोंमेंही विकार होता है अमूर्तीक पदार्थोंमें नहीं आकाश अमूर्तीक है इसलिये अनेकप्रकारके विकार सहित मेघोंके सम्बन्धहोनेपरभी जिसप्रकार आकाशमें विकार नहीं होता उसीप्रकार आत्माका भी विकार नहीं होसक्ता क्योंकि आत्मा अमूर्तीक है जो रोग वृद्धावस्था आदि विकार है वे शरीरके विकार हैं तथा शरीर आत्मासे सर्वथा भिन्न है ॥ २३ ॥

व्याधिनाङ्गमभिभूयते परं तद्गतोऽपि न पुनश्चिदात्मकः ।
उच्छ्रितेन गृहमेव दह्यते वन्हिना न गगनं तदाश्रितम् ॥ २४ ॥

अर्थः—यदि किसीकारणसे मकानमें अग्नि लगजावे तो उस अग्निसे मकानहीं जलता है किन्तु उसके

भीतर रहाहुवा आकाश नहीं जलता उसीप्रकार शरीरमें किसीकारणसे व्याधि उत्पन्न होजावे तो उस व्याधिसे शरीरही नष्ट होता है उसके भीतर रहेहुवे आत्माका नाश नहीं होता ।

भावार्थः—जिसप्रकार मकानमें उठीहुई अग्निसे मकानही जलता है उसीप्रकार शरीरमें उठी हुई व्याधिसे शरीरही नष्ट होता है किन्तु अग्निसे जिसप्रकार मकानके भीतर रहा हुवा आकाश नहीं जलता उसीप्रकार व्याधिसे शरीरके भीतर रहाहुवा चैतन्यस्वरूप आत्मा भी नष्ट नहीं होता ॥ २४ ॥

बोधरूपमखिलैरुपाधिभिर्वर्जितं किमपि यत्तदेव नः ।
नान्यदल्पमपि तत्वमीदृशं मोक्षहेतुरिति योगनिश्चयः ॥ २५ ॥

अर्थः—समस्तप्रकारकी रागद्वेष आदि उपाधियोंसे रहित तथा सम्यग्ज्ञानस्वरूप जो कोई वस्तु है वही हमारी है किन्तु इससे भिन्न थोड़ी भी वस्तु हमारी नहीं है इसप्रकार जो योगका निश्चय है वही मोक्षका कारण है किन्तु इससे भिन्न योगका निश्चय मोक्षका कारण नहीं ॥ २५ ॥

अब आचार्य इसवातको दिखाते हैं कि योगसेही तो आत्मा बंधनको
प्राप्त होता है और योगसेही मोक्षको प्राप्त होता है ।

योगतो हि लभते विबंधनं योगतो हि किल मुच्यते नरः ।
योगवर्त्म विषमं गुरोर्गिरा बोध्यमेतदखिलं मुमुक्षुणा ॥ २६ ॥

अर्थः—ध्यानसे ही तो मनुष्य बंधनको प्राप्त होता है तथा ध्यानसे ही मनुष्य मोक्षको प्राप्त होता है इसप्रकार यह ध्यानका मार्ग अत्यंत कठिन है किन्तु जो भव्यजीव मोक्षके अभिलाषी हैं उनको यह समस्त ध्यानका मार्ग गुरूके उपदेशसे समझना चाहिये ॥

भावार्थः—ध्यान अनेकप्रकारका होता है उनमें जो मनुष्य जैसा ध्यान करता है उसको उसीप्रकारके फलकी प्राप्ति होती है इसलिये मोक्षाभिलाषियोंको चाहिये कि वे मोक्षके कारणभूत ध्यानको ही गुरूके उपदेशसे समझै और संसारका जो कारण ध्यान है उसकी और दृष्टि न देवें ॥ २६ ॥

शुद्धज्ञानस्वरूप वस्तुही रमणीकस्थानहै इसवातको आचार्य दिखाते हैं ।

शुद्धबोधमयमस्ति वस्तु यद्रामणीयकपदं तदेव नः ।
स प्रमाद इह मोहजः क्वचित्कल्प्यते यदपरापि रम्यता ॥ २७ ॥

अर्थः—जो वस्तु शुद्धबोधस्वरूप है अर्थात् निर्मलसम्यग्ज्ञानस्वरूप है वही हमारा रमणीय स्थान है किन्तु जो मनुष्य निर्मल सम्यग्ज्ञानसे अतिरिक्तभी रमणीयता है इसबात को कहते हैं वह वास्तविक रमणीयता नहीं किन्तु वह मोहनीयकर्मसे उत्पन्नहुवा प्रमाद ही है ।

भावार्थः—निर्मलसम्यग्ज्ञानस्वरूपही रमणीय है किन्तु इससे भिन्न कोईभी पदार्थ रमणीय नहीं है यदि कोई मनुष्य इससे भिन्न पदार्थकोभी रमणीय माने तो उसका प्रमादही समझना चाहिये ॥ २७ ॥

आत्मबोधशुचितीर्थमद्भुतं स्नानमत्रकुरुतोत्तमं बुधाः ।
यन्न यात्यपरतीर्थकोटिभिः क्षालयत्यपि मलं तदन्तरम् ॥ २८ ॥

अर्थः—आचार्य उपदेश देते हैं कि हे भव्य पंडितो यदि तुम अपने पापोंका नाशकरना चाहते हैं तो अत्यंत पवित्र तथा आश्चर्यके करनेवाले उत्तम इस आत्मज्ञानस्वरूपी तीर्थमेंही स्नानकरो क्योंकि जो अंतरंगका मल अन्यकरोड़ों तीर्थोंमें स्नानकरनेपरभी नष्ट नहीं होता है वह अंतरंगका मल इस आत्मज्ञानस्वरूप तीर्थमें एकसमय स्नानकरनेपर ही नष्ट होजाता है ।

भावार्थः—पापसे भयभीतहोकर करोडों मनुष्य काशी प्रयाग आदि स्थानोंपर गंगा आदि नदियोंमें स्नान करते हैं तथा अपनेको मलरहित शुद्धमानते हैं परंतु गंगा आदि नदियोंमें स्नानकरनेसे बाह्यमलका ही नाश होता है किंतु रागद्वेष आदि अंतरंगमलका नाश नहीं होता और वास्तविकरीतिसे अंतरंगमलका नाशही वास्तविक सुखका मूल है इसलिये आचार्यवर उपदेश देतेहैं कि हे भव्यजीवो यदि तुम अंतरंगमलका नाशकरना चाहते हो तो तुमको इस परमपवित्र आत्मारूपी तीर्थमें ही स्नान करना चाहिये क्योंकि जो अंतरंगमल दूसरे २ करोड़ों तीर्थोंमें स्नानकरनेपरभी नष्ट नहीं होता वह अंतरंगमल आत्मरूपी पवित्रतीर्थमें एकवारही स्नान करनेसे निश्चयसे पलभरमें नष्ट होजाता है ॥ २८ ॥

चित्समुद्रतटबद्धसेवया जायते किमु न रत्नसंचयः ।
दुःखहेतुरमुतस्तु दुर्गतिः किं न विप्लवमुपैति योगिनः ॥ २९ ॥

अर्थः—आचार्य कहते हैं कि जो पुरुष बड़े उत्साहकेसाथ चैतन्यरूपी समुद्रके तीरकी भलीभांति सेवा करते हैं क्या उनको सम्यक्दर्शन आदि रत्नोंकी प्राप्ति नहीं होती है अवश्यही होती है तथा इस पायेहुवे रत्नसमूहसे चैतन्यरूपी समुद्रकी सेवाकरनेवाले मुनियोंकी क्या नानाप्रकारके दुःखोंको देनेवाली नरक आदि खोटी गतियोंका नाश नहीं होता ? अवश्य ही होता है ।

भावार्थः—जिसप्रकार समुद्रकी पारपर रहनेवाले मनुष्योंको नानाप्रकारके रत्नोंकी प्राप्ति होती है तथा उनरत्नोंकी सहायतासे वे धनिक हो जाते हैं और उनको दरिद्रतासे पैदाहुआ दुःख कुछ भी नहीं सतासक्ता उसीप्रकार जो मुनि सदा अपनी आत्माका चिंतन करनेवाले हैं उनको सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र रूपी रत्नोंकी प्राप्ति होती है तथा उनरत्नोंकी प्राप्ति होनेपर उनको किसीप्रकारकी नरकआदि गतियोंमें नहीं

जानापडता इसलिये दुःखसे सदा भयकरनेवाले मनुष्योंको आत्माका ही चिंतवन करना चाहिये ॥ २९ ॥

निश्चयावगमनास्थितित्रयं रत्नसंचितिरियं परात्मनि
योगदृष्टिविषयीभवन्नसौ निश्चयेन पुनरेक एव हि ॥

अर्थः—परमात्मामें जो निश्चय तथा ज्ञान और स्थिति है उन्हींको सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र कहते हैं और केवलीभगवानकी दृष्टिमें ये तीनों निश्चयनयसे आत्मस्वरूप ही हैं अर्थात् आत्मासे भिन्न सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र कोई पदार्थ नहीं।

भावार्थः—परमात्मा है इसप्रकारका जो निश्चय है सो तो सम्यग्दर्शन है और परमात्माको भलीभांति जानना सम्यग्ज्ञान है तथा परमात्मामें स्थिरता रखना सम्यक्चारित्र है और यदि निश्चयनयसे देखाजावे तो ये आत्मस्वरूप ही हैं आत्मासे भिन्न नहीं है तथा केवलीभगवान अपने केवलज्ञान तथा केवलदर्शनसे इनको आत्मस्वरूपही जानते हैं तथा देखते हैं ॥ ३० ॥

प्रेरिताः श्रुतगुणेन शेमुषीकार्मुकेण शरवद्दृगादयः
बाह्यवेध्यविषये कृतश्रमाश्चिद्रणे प्रहतकर्मशत्रवः ॥

अर्थः—चैतन्यरूपी संग्राममें शास्त्ररूपी गुण (प्रत्यंचा) सहित जो श्रेष्ठबुद्धिरूपी धनुष उससे प्रेरणा किये गये तथा बाह्यपादार्थोंके वेधनकरनेमें तत्पर ऐसे जो सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्ररूपी बाण हैं वे समस्त कर्मरूपी वैरियोंके नाशकरनेवाले होते हैं।

भावार्थः—जिसप्रकार संग्राममें प्रत्यंचासहित धनुषसे छोड़ेहुए बाणोंसे समस्तवैरी नष्ट हो जाते हैं उसी प्रकार चैतन्यरूपीसंग्राममें शास्त्ररूपी प्रत्यचासहित बुद्धिरूपी/धनुषसे प्रेरित तथा बाह्यपदार्थोंके वेधनकरनेमें

तत्पर जो सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्ररूपी बाण हैं वे समस्तकर्मरूपी वैरियोंको नष्ट करते हैं ॥३१॥

चित्तवाच्यकरणीयवर्जिता निश्चयेन मुनिवृत्तिरीदृशी
अन्यथा भवति कर्मगौरवात् सा प्रमादपदवीमुपेयुषः ॥

अर्थः——निश्चयकरके मुनियोंकी जो प्रवृत्ति है वह मन वचन कायकी प्रवृत्तिकर रहित है किन्तु वह मुनि यदि प्रमाद पदवीको प्राप्त हो जावे अर्थात् प्रमादी बनजावे तो कर्मकी गुरुतासे उसकी प्रवृत्ति विपरीत ही अर्थात् मन वचन कायकर सहितही हो जाती है ।

भावार्थः——निश्चयनयसे मुनियोंकी प्रवृत्ति मन वचन कायकी प्रवृत्तिकर रहित है किन्तु जिससमय वे प्रमादी बनजाते हैं उससमय प्रमादके द्वारा उनकी आत्मामें कर्मोंका आगमन होता है तथा पीछे कर्मोंका बंध होता है उससमय कर्मके संबंधसे उनकी प्रवृत्ति मनवचनकायकर सहितही होती है ॥ ३२ ॥

सत्समाधिशशलाञ्छनोदयादुल्लसत्यमलबोधवारिधिः
योगिनोऽणुसदृशं विभाव्यते यत्र मग्नमखिलं चराचरम् ॥

अर्थः——जिनयोगियोंके निर्मलज्ञानमें चर अचर समस्तजगत परमाणुके समान मालूम पड़ता है ऐसा वह योगियोंका ज्ञानरूपीसमुद्र श्रेष्ठसमाधिरूपचन्द्रमाके उदयसे वृद्धिको प्राप्त होता है ।

भावार्थः——जिसप्रकार चन्द्रमाके उदयसे समुद्र वृद्धिको प्राप्त होता है उसीप्रकार समाधिसे निर्मलज्ञान की वृद्धि होती जाती है तथा उसज्ञानमें समस्तजगत बड़ा भी परमाणुके समान छोटा मालूम पड़ता है अर्थात् अनंत भी जगत उसज्ञानमें परमाणुके समान ही है ॥ ३३ ॥

कर्मशुष्कतृणराशिरुन्नतोऽप्युद्गते शुचिसमाधिमारुतात्

भेदबोधदहने हृदिस्थिते योगिनोझटिति भस्मसाद्भवेत् ॥

अर्थः—पवित्र समाधिरूपीपवनसे उदयको प्राप्त, ऐसे भेदज्ञानरूपीअग्निके, योगीके हृदयमें स्थित होने पर प्रबल भी कर्मरूपी सूखेतृणोंका समूह शीघ्रही भस्मीभूत हो जाता है।

भावार्थ—जिसप्रकार सूखेतृणोंमें पड़ीहुई थोड़ीसी भी चिनगारी (अग्निका फुलिंगा) जिससमय पवनकी सहायतासे बढ़जाती है उससमय बहुत भी तृणोंके समूहको पलभरमें भस्म करदेती है उसीप्रकार जिससमय मुनियोंके मनमें (मेरी आत्मा भिन्न है और ये स्त्री पुत्र मित्र आदिपदार्थ भिन्न हैं ऐसा) स्वपरका भेदविज्ञान समाधिरूपीपवनसे उदयको प्राप्त हो जाता है उससमय जितने कर्मोंका आत्माके साथ संबंध मोजूद है वे समस्त कर्म पलभर में नष्ट हो जाते हैं इसालिये जिनमुनियोंको अपनी आत्मासे कर्मोंके जुदेकरनेकी अभिलाषा है उन को चाहिये कि वे निर्मलसमाधिसे भेदज्ञानको उदितकरैं जिससे उनके समस्तकर्म आत्मासे शीघ्र जुदे होजावें॥३४॥

अब आचार्य इसबातको बताते हैं कि समाधिरूपीकल्पवृक्ष मुनियोंको बांछितफलका देनेवाला है॥

चित्तमत्तकरिणा न चेद्धतो दुष्टबोधवनवन्हिनाथवा
योगकल्पतरुरेष निश्चितं वाञ्छितं फलति मोक्षसत्फलम् ॥

अर्थः—यदि यह समाधिरूपी कल्पवृक्ष मनरूपीमतवाले हाथीसे नष्ट न कियाजाय और दुष्टज्ञान (मिथ्याज्ञान) रूपी वनाग्निसे भस्म न कियाजाय तो वह अवश्य ही वांछित मोक्षरूपी श्रेष्ठफलको देता है।

भावार्थः—जिसप्रकार बनमें खड़ेहुए कल्पवृक्षको यदि मत्तहाथी नष्ट न करै अथवा बनकी अग्नि भस्म न करै तो वह अवश्यही उत्तम तथा मिष्टफलको देता है उसीप्रकार यह समाधि भी यदि खोटे विषयोंमें प्रवृत्त मनसे नष्ट न होवे और मिथ्याज्ञानपूर्वक न कीजाय तो अवश्यही मोक्षके देनेवाली होती है इसलिये जो मुनि

मोक्षरूपी उत्तमफलके इच्छुक है उनको चाहिये कि वे मनको अपने वशमें रक्खे और सम्यग्ज्ञानपूर्वक ही समाधिका आचरण करै अन्यथा उनको उत्तमफलकी प्राप्ति नहीं होगी ॥ ३५ ॥

जबतक मनमें परमात्माका ज्ञान नहीं होता है तभीतक बुद्धि शास्त्रोंमे भटकती फिरती है इसबातको आचार्य समझाते हैं ।

तावदेव मतिवाहिनी सदा धावति श्रुतगता पुरः पुरः
यावदत्र परमात्मसंविदा भिद्यते न हृदयं मनीषिणः ॥

अर्थः—आचार्य कहते हैं कि जबतक चित्त परमात्माके ज्ञानसे भेदको प्राप्त नहीं होता है तभीतक बुद्धिमानपुरुषकी बुद्धिरूपीनदी सदा शास्त्रोंमें आगे २ दौड़ती चली जाती है ।

भावार्थः—बुद्धिमानपुरुष शास्त्रका स्वाध्याय इसीलिये करते हैं कि किसीरीतिसे परमात्माका ज्ञान प्राप्त होवे किन्तु जिससमय चित्त परमात्माके ज्ञानसे भिन्न हो जाता है अर्थात् जिससमय मनमें परमात्माका ज्ञान हो जाता है उससमय बुद्धिमानकी बुद्धि शास्त्रकी ओर नहीं जाती है ॥ ३६ ॥

संसारमें चैतन्यरूपी दीपकही देदीप्यमान है इसबातको आचार्य दिखाते हैं ॥

यः कषायपवनैरचुम्बितो बोधवन्हिरमलोल्लसद्दशः
किं न मोहतिमिरं विखण्डयन् भासते जगति चित्प्रदीपकः ॥

अर्थः—जिस चैतन्यरूपी दीपकका पवनने स्पर्श नहीं किया है और जिसमें सम्यग्ज्ञानरूपी अग्नि मौजूद है तथा जिसकी दशा निर्मल और देदीप्यमान है ऐसा चैतन्यरूपी दीपक मोहरूपी अंधकारको नाश करता हुआ क्या जगतमें प्रकाशमान नहीं है ? अवश्यही है ।

भावार्थः—जो दीपक पवनद्वारा स्पृष्ट नहीं है अर्थात् जिसका पवनने स्पर्श नहीं किया है और जिसमें अग्नि मौजूद है तथा जिसमें बत्ती उत्तम है ऐसा दीपक जिसप्रकार अंधकारको नाश करता है और प्रकाशमान रहता है उसीप्रकार जिस चैतन्यके साथ क्रोधादि कषायोंका संबंध नहीं है और जिसमें सम्यग्ज्ञान मौजूद है तथा जिसकी स्थिति निर्मल और देदीप्यमान है ऐसा चैतन्य अवश्यही मोहको नाशकर संसारमें प्रकाशमान रहता है ॥ ३७ ॥

जो बुद्धि आत्मस्वरूपसे भिन्न बाह्यपदार्थोंमें भ्रमण करती है वह बुद्धि उत्तमबुद्धि नहीं इसबातको आचार्य समझाते हैं॥

बाह्यशास्त्रगहने विहारिणी या मतिर्बहुविकल्पधारिणी
चित्स्वरूपकुलसद्मनिर्गता सा सती न सदृशी कुयोषिता ॥

अर्थः—जो बुद्धि अपने चैतन्यरूपी जो कुलगृह उससे निकली हुई है अतएव जो बाह्य शास्त्ररूपी बनमें विहार करनेवाली है। और अनेकप्रकारके विकल्पोंको धारण करनेवाली है ऐसी वह बुद्धि उत्तम बुद्धि नहीं किन्तु कुलटा स्त्रीके समान निकृष्ट है।

भावार्थः—जिसप्रकार अपने घरसे निकलकर बाह्यवनोंमें भ्रमण करनेवाली और अनेकप्रकारके संकल्प विकल्पोंको धारण करनेवाली स्त्री कुलटा समझी जाती है और निकृष्ट समझी जाती है उसीप्रकार जो बुद्धि अपने चैतन्यरूपी मन्दिरसे निकलकर बाह्यशास्त्रोंमें विहार करनेवाली हैं और अनेक विकल्पोंको धारण करनेवाली है अर्थात् स्थिर नहीं है ऐसी बुद्धि उत्तम बुद्धि नहीं समझी जाती इसलिये अपनी आत्माके हितके अभिलाषियोंको चाहिये कि वे अपने आत्माके स्वरूपसे भिन्न पदार्थोंमें अपनी बुद्धिको भ्रमण न करने देवें और स्थिर रक्खें उसीसमय उनकी बुद्धि उत्तम बुद्धि हो सक्ती है॥ ३८ ॥

हेय और उपादेय दोनोंप्रकारके पदार्थोंमें जो भव्यजीव हेयको छोड़कर उपादेयको ग्रहण करता है वही मोक्षको जाता है इसबातको आचार्य दिखलाते हैं ॥

यस्तुहेयमितरञ्च भावयन्नाद्यतो हि परमाप्तुमीहते
तस्य बुद्धिरुपदेशतोगुरोराश्रयेत्स्वपदमेव निश्चलम् ॥

अर्थः—जो भव्यजीव हेय तथा उपादेयपदार्थोंका रातदिन चिंतवन करता है और उनदोनोंमें त्यागने योग्य पदार्थोंको त्यागकरता है उस भव्यजीवकी बुद्धि उत्तमगुरुके उपदेशसे चैतन्यरूपी जो अविनाशी स्थिरपद है उसको प्राप्त होती है इसमें किसीप्रकारका संशय नहीं ॥

भावार्थः—संसारमें भव्यजीवोंको त्यागनेयोग्यपदार्थतो स्त्रीपुत्र धन धान्य आदिक पादार्थ हैं और ग्रहणकरने योग्य चैतन्य स्वरूप है इसप्रकारका विचारकर जो भव्यजीव स्त्री पुत्र धन धान्य आदिक त्यागने योग्य पदार्थोंको त्यागकरता है उसमनुष्यकी बुद्धि अवश्यही निर्लोभीउत्तमगुरुओंके उपदेशसे नहीं चलायमान तथा अविनाशी, चैतन्यस्वरूपको प्राप्त होती है इसलिये निश्चलचैतन्यस्वरूपके अभिलाषी भव्यजीवोंको अवश्यही हेय पदार्थोंका त्यागकरदेना चाहिये ॥ ३९ ॥

जो मनुष्य मोहनिद्रामें मग्न है उसमनुष्यको बाह्यपदार्थभी स्वस्वरूपही मालूम पड़ते हैं इसबातको आचार्यवर दिखाते हैं ।

सुप्त एव बहुमोहनिद्रया लंघितः स्वमवलादि पश्यति ।
जाग्रतोच्चवचसा गुरोर्गतं संगतं सकलमेव दृश्यते ॥ ४० ॥

अर्थः—गाढ़ मोहरूपीनिद्राने जिसके ऊपर अपना प्रभावडाल रक्खा है अतएव जो मोहरूपी नींदमें

सुप्त एतदिह यद्दभी क पुस्तकमें पाठ है ।

मग्न है वह मनुष्य अपनेसे भिन्नभी स्त्री पुत्र आदिको अपना मानता है किन्तु जो मनुष्य जगरहा है उस-मनुष्यको तो समस्तजगत उत्तमगुरूके उपदेशसे संयुक्तमात्र क्षणभंगुरही मालूम पड़ता है ।

भावार्थः—जबतक जीव मोहनिद्रामें सोते रहते हैं तबतक उनको अपना पराया कुछभी भेद नहीं मालूम पड़ता इसीलिये वे जीव अपनेसे सर्वथा भिन्नभी स्त्री पुत्र धन धान्य आदिपदार्थोंको अपने स्वरूपही समझते हैं किन्तु जिससमय वे मोहनिद्रामें मग्न नहीं रहते उससमय उनकी दृष्टिके सामने गुरूके उपदेश से समस्तजगत क्षणभंगुर मालूम पड़ता है अतएव वे अपनेसे भिन्न किसी पदार्थमें रतनहीं होते ॥४०॥

निर्मल समाधिकी सिद्धिकेलिये बुद्धिमानपुरुषोंको सर्वपदार्थोंमें समताही
धारणकरनीचाहिये इसबातको आचार्य दिखाते हैं ।

जल्पितेन बहुना किमाश्रयेद् बुद्धिमानमलयोगसिद्धये ।
साम्यमेव सकलैरुपाधिभिः कर्मजालजनितैर्विवर्जितम् ॥ ४१ ॥

अर्थः—आचार्यवर कहते हैं कि बहुत कहांतक कहाजावे जो पुरुष बुद्धिमान हैं अर्थात् जिन पुरुषोंको इसबातका भलीभांति ज्ञान है कि यह पदार्थ त्यागने योग्य है और यह पदार्थ ग्रहणकरने योग्य है उनको चाहिये कि वे निर्मल योगकी सिद्धिकेलिये नानाप्रकारके कर्मोंसे पैदा हुई जो नानाप्रकारकी उपाधियां उनसे सर्वथा रहित साम्यभावका आश्रयकरैं ।

भावार्थः—जबतक पदार्थोंमें समता नहीं होती तबतक कदापि चित्तकी एकाग्रताके न होनेसे निर्मल योगकी प्राप्तिभी नहीं होसक्ती इसलिये आचार्यवर उपदेश देते हैं कि अधिक कहनेसे क्या ? जिन मनुष्योंको निर्मलयोगके प्राप्तकरनेकी अभिलाषा है उनको चाहिये कि वे समस्तप्रकारके कर्मोंसे उत्पन्न हुई उपाधियोंसे

सर्वथा रहित साम्यभावका ही अवलम्बन करै जहांतहां व्यर्थ भटकते न फिरैं ॥ ४१ ॥

आचार्यवर परमात्माके नाममात्रके लेनेसेही क्यालाभ होता है इसवातको वतलाते हैं ।

नाममात्रकथया परात्मनः भूरिजन्मकृतपापसंक्षयः ।
बोधवृत्तरुचयस्तु तद्गताः कुर्वते हि जगतां पतिं नरम् ॥ ४२ ॥

अर्थः—परमात्माके नाममात्रके कथनसेही अनेकजन्मोंमें संचय कियाहुवा पापोंका समूह पलभरमें नष्ट होजाता है और उसआत्मामे विद्यमान जो सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र रूपी रत्नत्रय है वहतो मनुष्यको जगतका पतीही वनादेता है अर्थात् परमात्मपदको प्राप्त करादेता है ।

भावार्थः—उस आत्माकी सिद्धिकेलिये प्रयत्न करना तो दूररहो किन्तु जो भव्यजीव उस परमात्माका केवल नामभी लेताहै उस मनुष्यके जन्म जन्मके पापोंके समूह पलभरमें नष्ट होजाते हैं और उस आत्मामें विद्यमान जो सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक् चारित्र हैं वेतो इसको परमात्माही वनादेते हैं अर्थात् सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्रकी और लक्ष्यदेनेसे तो मनुष्य साक्षात् तीनलोकका पति (सिद्ध) होजाता है इसलिये जो मनुष्य जन्मजन्मके पापोंके नाशकरनेकी इच्छा करनेवाले हैं तथा तीनोंलोकके पति होना चाहते हैं उनको चाहिये कि वे अवश्य परमात्माका नामलेवे और सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक् चारित्रकी और लक्ष्य देवे॥४२॥

जो मनुष्य चैतन्यस्वरूपआत्मामें लीनहै वह समस्तयोगियोंमें उत्तम हैं इसवातको आचार्य कहते हैं ।

चित्स्वरूपपदलीनमानसो यः सदा स किल योगिनायकः ।
जीवराशिरखिलश्चिदात्मको दर्शनीय इतिचात्मसन्निभः ॥ ४३ ॥

अर्थः—जिसयोगीका चित्त चैतन्यरूपजो मोक्षपद उसमें लगाहुवा है वही योगी समस्त यो-

गियोंमें उत्तम योगी है अर्थात् योगियोंका ईश्वर है और वही योगीश्वर समस्त चैतन्य स्वरूप प्राणियोंको अपने समान देखता है ।

भावार्थः—यों तो वेषधारी वहुतसे योगी संसारमें देखनेमें आते हैं किन्तु वास्तविक योगी (योगियोका ईश्वर) वही योगी है जिसका चित्त सांसारिक सुखोंसे सर्वथा विरक्त है और चैतन्यस्वरूप उत्तमपद मोक्षपदमें लगाहुवा है तथा वही मनुष्य समस्तप्राणियोंको अपने समान देखता है अन्ययोगी नहीं ॥ ४३ ॥

अब आचार्य इसवातको दिखाते हैं कि जितनेभर संसारमें जीव मोजूद हैं उनसवको अपने समान ही देखना चाहिये तभी कार्यसिद्धि होती है ।

अंतरङ्गवहिरङ्गयोगतः कार्यसिद्धिरखिलेति योगिना ।
आसितव्यमनिशं प्रयत्नतः स्वं परं सदृशमेव पश्यता ॥ ४४ ॥

अर्थः—समस्तप्रकारके कार्योंकी सिद्धि अंतरंग तथा वहिरंग योगसे होती है इसलिये जो योगी आपको तथा परको समान देखनेवाला है उसको वड़ेभारी प्रयत्नमे रहना चाहिये ।

भावार्थः—यह लोक एकेन्द्रीजीवोंसे पञ्चेन्द्रीजीवपर्यंत सवजगह घीके घड़ेके समान भराहुवा है उनसवजीवों को जो मनुष्य अपने समान मानता है उसीको समस्तकार्योंकी सिद्धि होती है किन्तु जो मनुष्य अपनेसे छोटेजीवोंको तुच्छ समझता है इसीलिये उनके मारनेमेंभी नहीं डरता है उस मनुष्यको कदापि किसी उत्तमकार्यकी सिद्धि नहीं होती इसलिये उत्तमकार्योंकी सिद्धिके अभिलाषी भव्यजीवोंको, आपको और परको समानही देखना मानाना चाहिये ॥ ४४ ॥

ख, पुस्तकमें आशितव्यम् यह भी पाठ है ॥

योगियोंका हृदय संसारके चरित्रोंको देखकर कदापि विकारभावको नहीं प्राप्त होता इस बातको आचार्य दिखातेहैं।

लोक एष बहुभावभावितः स्वार्जितेन विविधेन कर्मणा ।
पश्यतोऽस्य विकृतिर्जडात्मनः क्षोभमेति हृदयं न योगिनः ॥ ४५ ॥

अर्थः—अपने आप पैदा कियेहुवे जो नानाप्रकारके कर्म उनसे यह लोक अनेक भावोंकर सहित है इसलिये इसजड़स्वरूप संसारको देखते हुवेभी योगीका मन कदापि क्षोभको प्राप्त नहीं होता ।

भावार्थः—जिसयोगीको भलीभांति आत्माका ज्ञान होगया है और जिसकी इच्छा मोक्षस्थानमें निवास करनेकी है उसयोगीके मनमें इसलोकके देखनेसे अंशमात्रभी क्षोभनहीं होता क्योंकि अपनेद्वारा उपार्जनकिये कर्मोंसे यहलोक नानापरिणाममय होता है यह इसलोकका स्वभावही है इसबातको वह योगी भलीभांति समझताहै

अब आचार्य लोकके उद्धारका उपाय बताते हैं ।

सुप्तएव बहुमोहनिद्रया दीर्घकालमविरामया जनः ।
शास्त्रमेतदधिगम्य साम्प्रतं सुप्रबोध इह जायतामिति ॥ ४६ ॥

अर्थः—जिसका अंत नहीं है ऐसी जो गाढ़ मोहरूपीनिद्रा उससे यह लोक चिरकालसे सोयाहुआ है अब इसशास्त्रको जानकर जाग्रतदशाको प्राप्त हों ।

भावार्थः—अनादिकाल वीतगया यहलोक मोहरूपी गाढ़ निद्रामें सोयाहुवा है इसलिये इसको इस बातका भी ज्ञान नहीं कि कौनसी वस्तु तो मुझे ग्रहणकरनेयोग्य है और कौनसी वस्तु मुझे छोड़ने योग्य है इसलिये आचार्य उपदेश देते हैं कि अब हुवा सो तो हुआ किन्तु आगेकेलिये शास्त्रके अभिप्रायको भली-भांति जानकर तो जाग्रत अवस्थाको प्राप्त हो जिससे तुमको उत्तमसुखमिले नहीं तो अनादिकालतक तुमको

संसारमें ही रुलना पड़ेगा ॥ ४६ ॥

चित्स्वरूपगगने जयत्यसावेकदेशविषमापि रम्यता ।
ईषदुद्गतवचःकरैः परैः पद्मनन्दिवदनेन्दुना कृता ॥ ४७ ॥

अर्थः––पद्मनन्दिमुनिका जो मुख वही हुआ चंद्रमा उससे कुछ उदयको प्राप्त ऐसी जो वचनरूपी उत्कृष्ट किरण उनसे की गई, और स्वसंवेदन प्रत्यक्षके गोचर ऐसी यह रम्यता चैतन्यस्वरूपी आकाशमें चिरकालतक जयवंत प्रवर्तो ॥

भावार्थः—जिसप्रकार चंद्रमाकी किरणोंसे की हुई रम्यता आकाशमें रहती है उसीप्रकार पद्मनन्दि आचार्यके मुखसे निकले हुवे वचनोंसे की हुई यह रम्यता भी सदा सबजगहपर चिरकालतक जयवंत प्रवर्तो ।

अब आचार्य इसबातको दिखाते हैं कि यदि मोहवैरी विघ्नकरनेवाला संसारमें न होता तो मोक्षकी प्राप्ति अत्यंत सुलभ हो जाती ।

शार्दूलविक्रीडित ।

त्यक्ताशेषपरिग्रहः शमधनो गुप्तित्रयालंकृतः शुद्धात्मानमुपाश्रितो भवति यो योगी निराशस्ततः ।
मोक्षो हस्तगतोऽस्य निर्मलमतेरेतावतैव ध्रुवं प्रत्यूहं कुरुते स्वभावविषमो मोहो न वैरी यदि ॥४८॥

अर्थः—जिसने बाह्य तथा अभ्यंतरके भेदसे समस्त परिग्रहोंका नाश करदिया है और जिसके शान्तिही धन है तथा मनोगुप्ति वचनगुप्ति और कायगुप्ति इनतीन प्रकारकी गुप्तियोंसे जो शोभित है और जिसको शुद्धात्माकी प्राप्ति होगई है और जो निराश है अर्थात् जिसकी किसीभी पदार्थमें अंशमात्रभी इच्छा नहीं रही है ऐसा योगी होता है इसीलिये निर्मल है बुद्धि जिसकी ऐसे उसयोगीके यदि स्वभावसे ही कुटिल मोहरूपी

वैरी उसमोक्षकी प्राप्तिमें विघ्न न करता तो परिग्रह आदिके रहितपने आदिकारणोंसेही मोक्ष निश्चयसे हस्तगत होजाती अर्थात् उसकी प्राप्ति बहुत शीघ्र होजाती ।

भावार्थः—मोक्षकी प्राप्तिमें अन्यान्य सामिग्रीके होतेसन्तेभी यदि स्वभावसे ही कुटिल ऐसा मोह विघ्न करनेवाला होवे तो कदापि मोक्षकी प्राप्ति नहीं होसक्ती इसलिये जो मनुष्य मोक्षके अभिलाषी हैं उनको सबसे पहिले मोहरूपी प्रवल वैरीको जीतलेना चाहिये क्योंकि यही मोक्षकी प्राप्तिमें विघ्नका करनेवाला है और जबतक यह मोजूद रहता है तबतक मोक्षकी प्राप्तिमें दूसरे २ कारण व्यर्थ ही है ॥ ४८ ॥

त्रैलोक्ये किमिहास्ति कोपि स सुरः किंवा नरः किंफणी यस्माद्भीर्मम यामि कातरतया यस्याश्रयं चापदि।
उक्तं यत्परमेश्वरेण गुरुणा निश्शेषवाञ्छाभयभ्रान्तिक्लेशहरं हृदि स्फुरति चेच्चित्तत्वमत्यद्भुतम् ॥४९॥

अर्थः—जो चैतन्यतत्व समस्तप्रकारके अभिलाषा भय भ्रम तथा दुःखोंका दूरकरनेवाला है और अत्यंत आश्चर्यका करनेवाला है ऐसा चैतन्यरूपीतत्व परमईश्वर श्रीगुरुद्वारा कहागया यदि मेरे हृदयमें स्फुरायमान है मोजूद है तो तीनोंलोकमें न तो कोई ऐसा देव है जिससे मुझै भय होवे और न कोई ऐसा पुरुष तथा सर्प ही है जिससे मैं डरूं और कातर होकर आपत्तिमें किसीके सहारे जाऊं ।

भावार्थः—जबतक मनुष्यको चैतन्यस्वरूपका भलीभांति ज्ञान नहीं होता तथा जब तक किसी पदार्थकी अभिलाषा रहती है और भय तथा भ्रम और दुःख होते हैं तब मनुष्य एकदम कातर होकर उस इच्छाकी पूर्तिके लिये तथा भय भ्रम दुःखोंके दूरकरनेकेलिये जहांतहां देवी देवआदिकोंकी सेवाकेलिये भटकता फिरता है और उससे कुछ फलभी नहीं निकलता किन्तु मेरे हृदयमें तो श्रीगुरुमहाराजके उपदेशसे वह चैतन्य तत्व स्फुरायमान है जो चैतन्यस्वरूप तत्व समस्तप्रकारकी इच्छाओंका पूरण करनेवाला है और जिस-

की कृपासे भय भ्रम दुःख मेरे पास तकभी नहीं फटकने पाते फिर मुझे क्या आवश्यकता है जो मैं जहांतहां भटकूं और इच्छाकी पूर्तिकेलिये तथा भय भ्रम दुःख आदिके दूरकरनेकेलिये किसी देवी देवकी सेवा करूं ऐसा "जिसमनुष्यको चैतन्य स्वरूपका ज्ञान होगया है वह" सदा विचार करता रहता है ॥ ४९ ॥

अव आचार्यवर श्रेष्ठज्ञानकी महिमाको गातेहुवे सद्बोधचन्द्रोदयनामक अधिकारको समाप्त करते हैं ।

तत्वज्ञानसुधार्णवं लहरिभिर्दूरं समुल्लासयन् तृष्णापत्रविचित्रचित्तकमले संकोचमुद्रां दधत् ।
सद्विद्याश्रितभव्यकैरवकुले कुर्वन् विकारश्रियं योगीन्द्रोदयभूधरे विजयते सद्बोधचन्द्रोदयः ॥५०॥

अर्थः—वह श्रेष्ठज्ञानरूपी चंद्रमा अथवा "सद्बोधचन्द्रोदयनामक अधिकार" इससंसारमें योगियोंके जो इन्द्र अर्थात् बड़े २ योगी वेही हुवे उदयाचल उनमें सदा जयवंत है जो सद्बोधचन्द्रोदय, तत्वज्ञानरूपी जो अमृतसमुद्र उमको कल्लोलोंसे दूरतक उछालने वाला है औ तृष्णारूपीही हैं पत्र जिसमें ऐसे जो नानाप्रकारके चित्तरूपी कमल उनको संकुचित करनेवाला है तथा श्रेष्ठज्ञानका आधारभुत जो भव्यजीवरूपी "कैरवकुल" अर्थात् रात्रिविकामी कमलोंका समूह उसका विकास करनेवाला है ।

भावार्थः—जिसप्रकार उदयाचलमें चंद्रमाका उदय होता है उससमय समुद्र अपनी लहरोंको दूरतक उछालता हुवा वढ़ता चलाजाता है और सूर्यविकासी कमल संकुचित होजाते हैं तथा रात्रिविकासी कमल विकसित होजाते हैं उसीप्रकार जिससमय योगीश्वरोंकी आत्मामें श्रेष्ठज्ञानका उदय होता है अर्थात् जिस समय उनकी आत्मा सम्यग्ज्ञानको धारण करती है उससमय निरंतर उनयोगियोंका तत्वज्ञान बढताही चलाजाता है और चित्तमें जो कुछ किसीवस्तुकी तृष्णा रहती है वहसब नष्ट होजीती है और भव्यजीवोंके मनको अत्यंत प्रसन्नता होजाती है अर्थात् उनश्रेष्टज्ञानकेधारी योगीश्वरोंसे वास्तविकसुखके मार्गके सुननेसे भव्य-

जीवोंके चित्तको बड़ा भारी संतोष होता है ऐसा वह सम्यग्ज्ञानरूपी चन्द्रमाका उदय चिरकालतक इससंसारमें जयवंत रहता है ॥ ५० ॥

इसप्रकार श्रीपद्मनन्दिआचार्यद्वारा रचित इसपद्मनन्दिपञ्चविंशतिकामें

सद्बोधचन्द्रोदयनामक अधिकार समाप्त हुआ ॥

निश्चयपञ्चाशत् ।

आर्या ।

दुर्लक्ष्यं जगति परं ज्योतिर्वाचां गणः कवीन्द्राणाम् ।
जलमिव वज्रे यस्मिन्नलब्धमध्यो बहिर्लुठति ॥ १ ॥

अर्थः—जिसप्रकार जल हीरानामकरत्नके अंदर प्रवेश नहीं करता है और बाहिरीभागमेंही रहा आता है उसीप्रकार जिसचैतन्यस्वरूपज्योतिमें बड़े २ कवियोंकी बाणी भी प्रवेश नहीं करसक्ती बाहिरीभागमें ही रहजाती है ऐसा वह चैतन्यस्वरूपीतेज संसारमें दुर्लक्ष्य है अर्थात् जिसको बड़ी कठिनाईसे भी नहीं देख सक्ते

भावार्थः—जो बस्तु दृष्टिके गोचरहोवै अर्थात् जिसको देख सकैं उसको तो कविलोग वचनसे कहसक्ते हैं उसका वर्णन करसक्ते हैं किन्तु चैतन्यस्वरूपतेज संसारमें इतना दुर्लक्ष्य है कि जिसप्रकार जल हीराके मध्यभागमें प्रवेश नहीं करसक्ता है बाहिरीभागमें ही रहजाता है उसीप्रकार कवियोंकी बाणी भी उसके अंतरंगमें प्रवेशकर उसकावर्णन नहीं करसक्ती किन्तु बाहिरमें ही लडखडाती रहजाती हैं ॥ १ ॥

मनसोऽचिन्त्यं वाचामगोचरं यन्महस्तनोर्भिन्नम् ।
स्वानुभवमात्रगम्यं चिद्रूपममूर्तमव्याद्वः ॥ २ ॥

अर्थः—जिस चैतन्यरूपीतेजका मनसे चिंतवन नहीं करसक्ते हैं और वाणीसे भी वर्णन नहीं करसक्ते हैं और जो शरीरसे सर्वथा भिन्न है और केवल स्वानुभवसे ही जानाजाता है ऐसा वह चैतन्यरूपीतेज आपलोगोंकी रक्षा करै ॥

वपुरादिपरित्यक्ते मज्जत्यानंदसागरे मनसि ।
प्रतिभाति यत्तदेकं जयति परं चिन्मयं ज्योतिः ॥ ३ ॥

अर्थः—शरीर धन धान्य आदिसे रहित होनेपर जिससमय चित्त आनन्दसागरमें डूबता है उससमय जो तेज मालूम पडता है वह एक, तथा चैतन्यस्वरूपी उत्कृष्ट ज्योति इससंसारमें जयवंत है ॥

भावार्थः—जबतक प्राणियोंकी, यह शरीर मेरा है, यह स्त्री मेरी है, तथा ये पुत्र धन धान्य आदिक मेरे हैं, इसप्रकारकी शरीर, स्त्री, पुत्र, धन, धान्य, आदि पदार्थोंमें ममता लगी रहती है तबतक किसीको भी उसउत्कृष्ट चैतन्यस्वरूपी तेजका अनुभव नहीं होसक्ता किन्तु जिससमय शरीर आदिसे ममता छूटजाती है और मन आनंद सागरमें गोता मारता है उससमय जो तेज अनुभवमें आता है वही चैतन्य स्वरूप उत्कृष्टतेज है तथा वह तेज सदा इसलोकमें जयवंत है ॥ ३ ॥

अब आचार्य सद्गुरूको नमस्कार करते हैं ।

स जयति गुरुर्गरीयान् यस्यामलवचनरश्मिभिर्झटिति ।
नश्यति तन्मोहतमो यदविषयो दिनकरादीनाम् ॥ ४ ॥

१ ख पुस्तकमें "परेत्यक्ते" यह भी पाठ है उसका अर्थ यह है कि शरीर आदिके जो पर हैं उनके त्याग होने पर—

अर्थः—जिनगुरुओंके निर्मलवचनरूपी किरणोंसे जिसको सूर्य चन्द्र आदिकभी नाश नहीं करसक्ते ऐसा प्रवल मोहरूपी अंधकार वातकी बातमें नष्टहोजाता है ऐसे वे उत्तम गुरू सदा इसलोकमें जयवंत हैं अर्थात् ऐसे गुरुओंको मैं नमस्कार करता हूँ ।

भावार्थः—यों तो संसारमें वेषधारी वहुतसे गुरू मोजूद हैं और अपनेको जगद्गुरूके नामसे पुकारने-का प्रयत्न भी करते हैं किन्तु वे वनावटी गुरू सच्चे गुरू नहीं होसक्ते क्योंकि गुरुशद्बका अर्थ ही यह है जो मोहान्धकारको दूरकरनेवाला हो इसलिये जो अपने वचनोंसे मोहांधकारको दूरकरनेवाले हैं वास्तवमें वेही गुरू हैं और उन्हीं गुरुओंको मैं नमस्कार करता हूं ॥४॥

मोक्ष दुःसाध्य है इसवातको आचार्य दिखाते हैं ।

अस्तां जरादिदुःखं सुखमपि विषयोद्भवं सतां दुःखम् ।
तन्मन्यते सुखं यत्तन्मुक्तौ सा च दुःसाध्या ॥५॥

अर्थः—संसारमें जो जीवोंको जरा मरण आदिक दुःख होते हैं वे तो दुःखही हैं इसलिये वे तो दूरही रहो परन्तु विषयोंसे उत्पन्न हुवे सुखकोजो जीव सुखमानते हैं वह भी सुखनहीं हैं दुःखही हैं किन्तु वास्तविक सुखतो मोक्षमें ही है और वह मोक्ष अत्यंत दुःखसाध्य है ॥

भावार्थः—जरा मरण आदिके दुःखको तो सर्वमनुष्य दुःखही कहते हैं इसलिये वे तो दुःख हैं ही किन्तु वहुतसे अज्ञानीजीव इन्द्रियोंसे उत्पन्नहुवे सुखको भी सुख कहते हैं सो उसको सुख कहना ठीक नहीं वह सुख नहीं दुःखही है किन्तु यदि वास्तविक सुख है तो मोक्षमें ही है और वह मोक्ष अत्यंत दुःखसे साध्य है ॥५॥

विषयादिक सुखतो सुलभ है किन्तु मोक्षकेलिये शुद्धात्माकी प्राप्ति सुलभ नहीं है इसवातको आचार्य दिखाते हैं ।

श्रुतपरिचितानुभूतं सर्वं सर्वस्य जन्मने सुचिरम् ।
न तु मुक्तयेऽत्र सुलभा शुद्धात्मज्योतिरुपलब्धिः ॥ ६ ॥

अर्थः—जिनको चिरकालसे सुना है और जिनका परिचय तथा अनुभव किया है ऐसे समस्त काम क्रोध भोग विकथा आदिक सर्वप्राणियोंके जन्मकेलिये है अर्थात् उनकी प्राप्ति सबको सुलभरीतिसे हो सक्ती है किन्तु मुक्तिकेलिये शुद्ध जो आत्मज्योतिः उसकी प्राप्ति अत्यत दुर्लभ है ॥

भावार्थः—काम क्रोध भोग विकथा आदिक पदार्थतो अनादिकालसे प्रत्येक जन्ममें सुनेगये हैं तथा उनका परिचय और अनुभव कियागया है इसलिये उनकी प्राप्ति तो संसारमें अत्यंत सुलभ है अर्थात् उद्बोधक कारण पाकरही वे तो बहुत शीघ्र प्रकट होजाते हैं किन्तु मुक्तिकेलिये शुद्ध आत्माकी प्राप्ति अत्यंत दुर्लभ है अर्थात् इसकी प्राप्ति जल्दी नहीं होसक्ती क्योंकि किसी जन्ममें इसको भलीभांति सुना भी नहीं है और न इसका परिचय तथा अनुभव किया है इसलिये मोक्षाभिलाषियोंको शुद्ध आत्मज्योतिकी प्राप्तिकेलिये अवश्य प्रयत्न करना चाहिये ॥

आत्माका अनुभवभी कठिन है इसवातको आचार्य दिखाते हैं ।

बोधोऽपि यत्र विरलो वृत्तिवाचामगोचरोवाढम् ।
अनुभूतिस्तत्र पुनर्दुर्लक्ष्यात्मनि परं गहनम् ॥ ७ ॥

अर्थः—और जिस आत्माका ज्ञानभी अत्यंत दुर्लभ है और जिसका वर्णनभी वाणीके अगोचर है अर्थात् वाणीसे जिसका वर्णन नहीं करसक्ते और जव उसका वाणीसे वर्णन ही नहीं करसक्ते तब उसका अनुभव तो अत्यंत ही दुर्लक्ष्य है इसलिये आचार्य कहते हैं कि आत्मज्योति अत्यंत गहन है ॥

भावार्थः—जो पदार्थ गहन नहीं होता है उसका ज्ञान तो करसक्ते हैं अर्थात् उसको जानसक्ते हैं और

जब उसको जानसक्ते हैं तब उसका वर्णन भी करसक्ते हैं तथा वर्णन करनेसे उसका अनुभव भी होसक्ता है किन्तु आत्मा तो अत्यंत गहन है इसलिये प्रथम तो उसको जानही नहीं सक्ते यदि किसीरीतिसे जानभी लेवे तो उसका वर्णन नहीं करसक्ते यदि कुछ उसकावर्णन भी करसके तो उसका अनुभव नहीं करसक्ते इसलिये आत्माका बोध वर्णन अनुभव सर्वही कठिन है ॥ ७ ॥

अब आचार्य इसबातको कहते हैं दोनों नयोंमें व्यवहारनय तो अज्ञानीजनोंको समझानेकेलिये है और शुद्धनय कर्मोंके नाशकेलिये है इसलिये शुद्धनयका कुछ वर्णन करता हूं ।

व्यवहृतिरबोधजनबोधनाय कर्मक्षयाय शुद्धनयः ।
स्वार्थं मुमुक्षुरहमिति वक्ष्ये तदाश्रित किंचित् ॥ ८ ॥

अर्थः—जीव अज्ञानी है उनके समझानेकेलिये तो व्यवहारनय है और शुद्धनय कर्मोंके नाशके लिये है इसलिये आचार्य कहते हैं कि मोक्षका इच्छाकरनेवाला मैं अपनेलिये शुद्धनयका आश्रयकर कुछ कहता हूं अर्थात् शुद्धनयका वर्णन करता हूं ।

भावार्थः—यदि निश्चयनयसे अनुभव कियाजाय तो आत्मा एक अखंडपदार्थ है उसमें किसीप्रकारका भेद नहीं लेकिन जिनपुरुषोंके ज्ञानपर आवरण पड़ाहुवा है अर्थात् जो अज्ञानी हैं वे सहसा आत्माकेस्वरूपको नहीं जानसक्ते इसलिये सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान आदि आत्माके गुणोंको जुदा कर उनको आत्माका स्वरूप समझाया जाताहै और अखंडवस्तुको खंडरूपसे जानना यहविषय व्यवहार नयकाहै इसलिये व्यवहारनयतो मूर्खोंको समझानेकेलिये है किन्तु उसके आशयसे कर्मोंका नाश नहीं होसकता और शुद्धनयसे जो पदार्थ जैसाहै वह वैसाही समझाजाताहै इसलिये पदार्थके वास्तविकस्वरूपके समझानेके कारण शुद्धनय कर्मोंको

नाशकरने वालीहै अर्थात् मोक्षकी प्राप्तिमें कारण है इसलिये स्वयं मोक्षको जानेकी इच्छाकरनेवाले श्रीआचार्य कहतेहैं कि मैं अबइसग्रंथमें शुद्धनतका कुछ वर्णनकरताहूं ॥ ८ ॥

प्रथमही आचार्य इसबातको दिखातेहैं कि जो पुरुष निश्चयनयके अनुगामी हैं वे मोक्षको जातेहैं ।

व्यवहारोऽभूतार्थो भूतार्थो देशितस्तु शुद्धनयः ।
शुद्धनय आश्रिता ये प्राप्नुवन्ति यतयः पदं परमम् ॥ ९ ॥

अर्थः—व्यवहारनयतो असत्यार्थभूत कहागया है और शुद्धनय सत्यार्थभुत कहागया हैं और जो मुनि शुद्धनयको आश्रितहैं वे मुनि मोक्षपदको प्राप्तहोते हैं ।

भावार्थः—अखंडपदार्थको खंडरीतिसे जानना यह जो व्यवहारनयका विषय है वह सत्यार्थभुत नहीं है इसलिये व्यवहारनयभी सत्यार्थभूत नहींहै अतः जो जीव इसनयका आश्रय करतेहैं उनको संसारमें ही रुलना पड़ताहै मोक्षको नहीं जाते किन्तु जो जीव शुद्धनिश्चयनयका आश्रय करते हैं उनको मोक्षपदकी प्राप्तिहोती है क्योंकि जोपदार्थ जैसाहै वह शुद्धनिश्चयनयसे उसीरीतिसे जानाजाताहै इसलिये जोजीव मोक्षके अभिलाषी हैं उनको शुद्धनिश्चयनयकाही आश्रय करनाचाहिते और यदि संसारमें भटकना हो तो उनको संसारके प्रधानकारण व्यवहारनयका अवलम्बन करनाचाहिये ॥ ९ ॥

व्यवहारनयसे तो तत्वका स्वरूप कुछ कहसकतेहैं किन्तु निश्चयनयसे तत्व अवाच्यहै इसबातको आचार्य वतलाते हैं ।

तत्वं वागतिवर्ति व्यवहृतिमासाद्य जायते वाच्यम् ।
गुणपर्ययादिविवृतेः प्रसरति तच्चापि शतशाखम् ॥ १० ॥

अर्थः—निश्चयनयसे तो तत्व वाणीके अगोचरहै अर्थात् वचनसे उसकेस्वरूपका वर्णन नहीं करसक्ते

किन्तु वही तत्व व्यवहारनयकी अपेक्षासे वाच्य है अर्थात् वचनसे उसको कुछ कहसक्ते हैं और पीछे वहतत्व गुणपर्याय आदिके विवरणसे सैकडों शाखास्वरूपमें परिणत होजाताहै ।

भावार्थः—जिसप्रकार एकभी वृक्ष शाखा प्रशाखाओंसे अनेकप्रकारका होजाताहै उसीप्रकार यद्यपि निश्चयनयसे आत्मा अवाच्य तथा एक है तोभी व्यवहारनयसे वह वाच्य अर्थात् वचनद्वारा वर्णन करनेयोग्य हैं तथा गुणपर्याय आदि भेदोंसे अनेकप्रकारका है ॥ १० ॥

व्यवहारनयभी हेय नहींहै किन्तु उपादेय और पूज्य है इसबातको आचार्य दिखातेहैं ।

"मुख्योपचारविवृतिव्यवहारोपायतो[1] " यतः संतः ।
ज्ञात्वा श्रयन्ति शुद्धं तत्वमिति व्यवहृतिः पूज्या ॥ ११ ॥

अर्थः—मुख्य जो शुद्धनय उसमें उपचार से है विवरण जिसका ऐसा व्यवहारनय है उसकी सहायतासे सज्जनपुरुष शुद्धजो तत्व उसका अवलम्बन करते हैं इसलिये व्यवहारनयभी पूज्यही है ।

भावार्थः—यह भलीभाति अनुभव है किजन्मलेते ही जीव इतने बुद्धिमान नहीं होते जोकि विना प्रयास के ही वे असली तत्वको समझलेवे किन्तु उपदेशआदिके बलसे ही उनको असलीतत्व समझायाजाताहै और असली तत्वका जो स्वरूप है वह व्यवहारनयको अवलम्बन करके समझायाजाता है इसलिये असलीतत्वके आश्रयकरनेमें व्यवहारनयभी अवश्यकारण पडी अतः व्यवहारनय पूज्यही है किन्तु हेय नहीं ॥ ११ ॥

अव आचार्य निश्चयरत्नत्रय संसारका नाशक है इसबातको दिखाते हैं ।

---

१ क पुस्तक में मुख्योपचारविवृतिम् यहभी पाठ है तथा इसपाठ में, इस श्लोकका अभिप्राय यह है कि मुख्य जो शुद्धनय और उपचार जो व्यवहारनय इनदोनों के स्वरूपको व्यवहारनयकी सहायतासे जानकर भव्यजीव शुद्धतत्वका आश्रय करते हैं इसलिये व्यवहारनयभी पूज्यही है हेय नहीं है ।

आत्मनि निश्चयबोधस्थितयो रत्नत्रयं भवक्षतये ।
भूतार्थपथप्रस्थितबुद्धेरात्मैव तत्त्रितयम् ॥ १२ ॥

अर्थः—आत्मामें जो निश्चय बोध स्थितिरूप रत्नत्रय है अर्थात् सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रय है वह संसारके नाशकेलिये होती है और वह रत्नत्रय कोई जुदा पदार्थ नहीं है किन्तु जिन भव्यजीवोंकी बुद्धि भूतार्थमार्गमें स्थित है अर्थात् शुद्धनिश्चयनयको आश्रय करनेवाली है उन भव्यजीवोंकी आत्माही सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र स्वरूप जो रत्नत्रय उसरत्नत्रय स्वरूप है ।

भावार्थः—जो भव्यजीव सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक् चारित्र स्वरूप जो रत्नत्रय उसरत्नत्रयस्वरूप जो आत्मा उस आत्माका ध्यान करते हैं वे समस्त दुःखोंसे छूट जाते हैं और सीधे मुक्तिको जाते हैं इसलिये मोक्षाभिलाषियोंको अवश्यही रत्नत्रयस्वरूपआत्माका आराधन करना चाहिये ॥ १२ ॥

सम्यग्दर्शनादिरत्नत्रय आत्माका अखंडरूप है इसबातको आचार्य बतलाते हैं ।

सम्यक्सुखबोधदृशां त्रितयमखण्डं परात्मनोरूपम् ।
तत्तत्र तत्परो यः सएव तल्लब्धिकृतकृत्यः ॥ १३ ॥

अर्थः—सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र ये तीनों आत्माके अखंडरूप हैं इसलिये आचार्य कहकहते हैं कि जो पुरुष परमात्मामें लीनहैं अर्थात् परमात्माके आराधक हैं उनको सम्यग्दर्शन आदिकी प्राप्ति होती है और वे कृतकृत्य होजाते हैं ।

भावार्थः—जो मनुष्य आत्माके अराधन करनेवाले हैं उनको सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्रकी प्राप्ति होती है क्योंकि सम्यग्दर्शन आदिक आत्मासे भिन्न नहीं हैं आत्माकेही अखंड स्वरूप हैं और सम्य-

ग्दर्शन आदिकी प्राप्तिसे वे मनुष्य कृतकृत्य होजाते हैं अर्थात् उनको संसारमें कोईभी काम करनेकेलिये वांकी नहीं रहता इसलिये जो मनुष्य कृतकृत्य होना चाहते हैं उनको अवश्यही सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक् चारित्रकी प्राप्ति करनी चाहिये ॥ १३ ॥

अव आचार्यवर सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्रके स्वरूपको कहते हैं।

अग्नाविवौष्णभावः सम्यग्बोधेऽस्ति दर्शनं शुद्धम्।
ज्ञातं प्रतीतमाभ्यां सत्स्वास्थ्यं भवति चारित्रम् ॥ १४ ॥

अर्थः—जिसप्रकार अग्निमें उष्णता है उसीप्रकारसे जो आत्मामें ज्ञान हैं इसप्रकारकी जो दृढ़ प्रतीति है इसका नामतो सम्यग्दर्शन है और आत्माका जो भलीभांति ज्ञान है उसको निश्चयज्ञान कहते हैं तथा सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सहित जो आत्मा उस आत्मामें समचीन जो स्वस्थता उसको चारित्र कहते हैं।

भावार्थः—आत्मामें निश्चलरीतिसे जो श्रद्धान है उसकोतो सम्यग्दर्शन कहते हैं और इसी आत्माका जो ज्ञान है वह सम्यग्ज्ञान है और आत्मामें जो स्थिति है उसको चारित्र कहते हैं ॥ १४ ॥

अव आचार्य सम्यग्दर्शन आदिकी सफलताका वर्णन करते हैं।

विहिताभ्यासा बहिरर्थवेध्यसंवन्धतो दृगादिशराः।
सफलाः शुद्धात्मरणे छिन्दितकर्मारिसंघाताः ॥ १५ ॥

अर्थः—बाह्य जो पदार्थ वेही हुई वेध्य "निशान" उनके संवन्धसे कियागया है अभ्यास जिनका ऐसे जो सम्यग्दर्शन आदिक वांण हैं वे शुद्धात्मारूपी संग्राममें समस्त कर्मरूपी वैरियोंको नाशकर सफलहोते हैं।

१ क. पुस्तक में "बहिरर्थसंबन्धिनः" यह भी पाठ है।)

भावार्थः—नानाप्रकारके निशानोंको मार २ कर जिसबाणका अभ्यास कियागया है ऐसा वह वाण जिससमय वैरीका छेदकरता है उससमय जिसप्रकार सफल समझाजाता है उसीप्रकार जिससमय सम्यग्दर्शन आदिके होते सन्ते समस्तकर्म नष्ट होजाते हैं उससमय सम्यग्दर्शन आदिक सफल समझेजाते हैं ॥ १५ ॥

सम्यग्ज्ञानकी जबतक प्राप्ति नहीं होती है तबतक कदापि जीव सिद्ध नहीं होसक्ता इसबातको आचार्य दिखाते हैं।

हिंसोज्झित एकाकी सर्वोपद्रवसहो वनस्थोऽपि ।
तरुरिव नरो न सिध्यति सम्यग्बोधादृते जातु ॥ १६ ॥

अर्थः—समस्तप्रकारकी हिंसाओंकररहित और अकेला तथा समस्तप्रकारके उपद्रवोंको (विघ्नोंको) सहन करनेवाला मुनि वृक्षकेसमान वनमें स्थितभी सम्यग्ज्ञानके विना कभी भी सिद्ध नहीं वनसक्ता ।

भावार्थ—जबतक मुनि सम्यग्ज्ञानको नहीं प्राप्त करलेता तबतक चाहै तैसा वह हिंसाका त्यागी क्यों न हो और वह वनमें अकेलाही क्यों न रहताहो तथा समस्तप्रकारके उपसर्गोंको भलीभांति सहनेवाला क्यों न हो कभी भी सिद्धपदवीको नहीं पासक्ता इसलिये सिद्धपदके अभिलाषियोंको चाहिये कि वे सबसे पहले सम्यग्ज्ञानको प्राप्तकरैं॥

शुद्धनयमें स्थित कौन पुरुष होसक्ता है इसवातको आचार्यवर समझाते हैं ।

अस्पृष्टमवद्धमनन्यमयुतमविशेसमभ्रमोपेतः ।
यःपश्यत्यात्मानं स पुमान् खलु शुद्धनयनिष्ठः ॥ १७ ॥

अर्थः—जो मनुष्य भ्रमरहित होकर आत्माको अस्पृष्ट अवद्ध अनन्य अयुत अविशेष मानता है वही पुरुष शुद्धनयमें स्थित है ऐसा समझना चाहिये ।

भावार्थः—जो मनुष्य शुद्धनयका अवलम्बन करनेवाला है वह मनुष्य, जिसप्रकार जलमें पड़ाहुवा

भी कमलका पत्र जलसे अस्पृष्ट है अर्थात् जलके स्पर्शकर रहित है उसीप्रकार आत्मा भी कर्मोंके स्पर्शकर रहित है अर्थात् विमुक्त है ऐसा देखता है तथा आत्मा कर्मोंके बंधनकर रहित है अर्थात् एक है यहभी देखता है और आत्मा कर्मस्वरूप नहीं है कर्मोंसे भिन्न है यहभी वह देखता है और आत्मा अविशेष है अर्थात् कर्मोंद्वारा कियेहुवे जो मनुष्य देव आदि नानाप्रकारके विशेष, उनकरके रहित है ऐसाभी देखता है ॥ १७ ॥

नाटक समयसारकलशाभिषेक में भी कहा है ।

भेदाविज्ञानतःसिद्धा सिद्धा ये किल केचन ।
अस्यैवाभावतोबद्धा बद्धा ये किल केचन ॥१॥

अर्थः––जोकुछजीव सिद्धहुवे हैं वे जीव स्वपरभेदविज्ञानसे ही सिद्धहुवे है और जो कुछजीव बंधे हैं वे स्वपरभेदविज्ञानके अभावसे ही बंधे हैं इसलिये सिद्धबननेकी इच्छाकरनेवाले भव्यजीवोंको अवश्यही भेदविज्ञानकी ओर दृष्टि देनीं चाहिये ॥ १ ॥

जो शुद्धआत्माका ध्यान करता है उसको तो शुद्धआत्माकी प्राप्ति होती है और जो अशुद्धआत्माका ध्यान करता है उसको अशुद्धआत्माकी प्राप्ति होती है इसवातको आचार्य वतलाते हैं ।

शुद्धाच्छुद्धमशुद्धं ध्यायन्नाप्नोत्यशुद्धमेव स्वम् ।
जनयति हेम्नो हैमं लोहाल्लौहं नरः कटकम् ॥१८॥

अर्थः––जिसप्रकार मनुष्य सुवर्णसे सुवर्णमयही कढाईको वनाता है और लोहसे लोहमय कढ़ाईकोही वनाता है उसीप्रकार जो मनुष्य शुद्धात्माका ध्यान करता है उसको तो शुद्धात्माकीही प्राप्ति होती है और जो मनुष्य अशुद्धआत्माका ध्यान करता है उसको अशुद्धआत्माकी प्राप्ति होती है ।

भावार्थः—यह नियम है कि जिसप्रकारका कारण होता है कार्यभी उसीप्रकारका होता है सुवर्णसे सुवर्णमयपात्रकी तथा लोहसे लोहमयपात्रकी ही क्यों उत्पत्ति होती है उसका कारण यही है कि उन दोनोंका कारण सुवर्ण तथा लोहा है उसीप्रकार शुद्धात्माकी प्राप्ति में कारण शुद्धात्माका ध्यान है और अशुद्धात्माकी प्राप्तिमें अशुद्धात्माका ध्यान है इसलिये जो मनुष्य शुद्धात्माका ध्यान करते हैं उनको तो शुद्धात्माकी प्राप्ति होती है और जो मनुष्य अशुद्धआत्माका ध्यान करते हैं उनको अशुद्ध आत्माकीही प्राप्ति होती है अतः जो मनुष्य शुद्धआत्माकी प्राप्तिके अभिलाषी हैं उनको शुद्धआत्माकाही ध्यान मनन करना चाहिये ॥ १८ ॥

चारित्रकर शुद्ध यदि सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान रहैं तो जन्म नहीं होसक्ता इसबातको आचार्य कहते हैं ।

सानुष्ठानविशुद्धे दृग्बोधे जृम्भिते कुतो जन्म ।
उदिते गभस्तिमालिनि किं न विनश्यति तमो नैशम् ॥ १९ ॥

अर्थः–जिसप्रकार सूर्यके उदयहोनेपर रात्रिका अंधकार नष्ट होजाता है उसीप्रकार सम्यक्चारित्रसे शुद्ध जिससमय सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र होते हैं उससमय जन्म कदापि नहीं होसक्ता ।

भावार्थः—जबतक सूर्यका उदय नहीं होता है तभीतक निशाका अंधकार आकाशमें व्याप्त रहता है किन्तु जिससमय सूर्यका उदय होजाता है उससमय पलभरमें रात्रिका अंधकार दूर भगजाता है उसीप्रकार जबतक आत्मामें अखंड सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यकचारित्रकी प्राप्ति नहीं होती तभीतक संसार रहता है अर्थात् ससारमें भटकना पड़ता है किन्तु जिससमय निर्मल सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्रकी प्राप्ति होजाती है उससमय आत्माको संसारमें भटकना नहीं पड़ता ॥ १९ ॥

मनको नाशकरदेना चाहिये इसबातको आचार्य वर्णन करते हैं ।

आत्मभुवि कर्मबीजाच्चित्ततरुर्यत्फलं फलति ।
जन्ममुक्त्यर्थिना स दाह्यो भेदज्ञानोग्रदावेन ॥ २० ॥

आर्थः—आत्मारूपी भूमिमें कर्मरूपीवीजसे उत्पन्नहुवा मनरूपी वृक्ष, संसाररूपीफलको फलता है इसलिये आचार्य कहते हैं कि जिनको जन्मसे मुक्त होनेकी इच्छा है अर्थात् जो मुमुक्षु हैं उनको चाहिये कि वे भेद-ज्ञानरूपी जाज्वल्यमानअग्निसे उसचित्तरूपी वृक्षको जलावैं ।

भावार्थः—जिसप्रकार भूमिमें उत्पन्नहुवा वृक्ष फलको देता है उसीप्रकार जिससमय मनकी सहायतासे इन्द्रियां विषयोंमें प्रवृत्त होती हैं उससमय नानाप्रकारके कर्मोंका संबंध आत्मामें होता है और फिर कर्मोंके संबंधसे आत्माको संसारमें भटकना पड़ता है इसलिये संसारका पैदा करनेवाला मन ही है अतः भव्यजीवों-को चाहिये कि वे इसमनको स्वपरकेविवेकसे सर्वथा नष्टकरैं ॥ २० ॥

आत्माको कर्म अशुद्ध वनाते हैं तोभी भव्यजीवोंको भय नहीं करना चाहिये इसवातको आचार्य कहते हैं ।

अमलात्मजलं समलं करोति मम कर्मकर्दमस्तदपि ।
का भीतिः सति निश्चितभेदकरज्ञानकतकफले ॥ २१ ॥

अर्थः—यद्यपि कर्मरूपीकीचड़ अत्यंत निर्मलभी मेरे आत्मारूपीजलको गदला करती है तोभी मुझै कोई भयनहीं क्योंकि निश्चयसे स्वपरके भेदको करनेवाला ज्ञानरूपी कतक (फिटिकिरी) फल मेरे पास मोजूद है ।

भावार्थः—जिसप्रकार गदलेजलमें यदि फिटिकिरी छोडदीजावे तो वह फिटिकिरी शीघ्रही उसजलमें रही हुई कीचड़को नष्टकरदेती है और जलको निर्मल वनादेती है उसीप्रकार यद्यपि ज्ञानावरणादिकर्म आत्मा-को मलिन कररहे हैं तोभी स्वपरके भेदज्ञानसे वह कर्मोंसे कीहुई मलिनता पलभरमें नष्टहोजाती है इसलिये

यदि मेरी आत्मामें स्वपरका भेद विज्ञान है तो चाहै जितना कर्म मेरी आत्माको मलिन करैं मुझै किसीप्रकार-का भय नहीं है ऐसा भेदज्ञानी सदा विचार करता रहता है ॥ २१ ॥

औरभी आचार्य कहते हैं ।

अन्योहमन्यमेतच्छरीरमपि किं पुनर्न बहिरर्थाः ।
व्यभिचारी यत्र सुतस्तत्र किमरयः स्वकीयाःस्युः ॥ २२ ॥

अर्थः—मैं अन्यहूं और यदि यह शरीरभी मुझसे अन्य है तो बाह्य जो स्त्री पुत्र आदिक पदार्थ हैं वे तो मुझसे अवश्यही भिन्न है क्योंकि यदि संसारमें अपना पुत्रही अनिष्टका करनेवाला होजावे तो वैरीभी मेरे नहीं होसक्ते अर्थात् वेतो अवश्यही मेरे अनिष्टके करनेवाले होंगे ।

भावार्थः—संसारमें सबसे स्वकीय (अपना) पुत्र समझा जाताहै यदि वहभी मुझै दुःखका देनेवाला होजावे और मेरे अनिष्टोंका करनेवाला होजावे तो वैरी तो अवश्यही अनिष्टके करनेवाले होंगे क्योंकि वे पहिलेसेही स्वकीय (अपने) नहीं हैं उसीप्रकार संसारमें सबसे अधिक अपना संबंधी शरीर है यदि वहभी आत्मासे भिन्न है तो स्त्री पुत्र आदिकतो अवश्यही भिन्न हैं ऐसा समझना चाहिये ॥ २२ ॥

औरभी आचार्यवर आत्मा शरीरसे जुदा है इसबातको बताते हैं ।

व्याधिस्तुदति शरीरं न माममूर्तं विशुद्धबोधमयम् ।
अग्निर्दहति कुटीरं न कुटीरासक्तमाकाशम् ॥२३॥

अर्थः—यदि झोंपड़ेमें अग्नि लगजावे तो वह झोंपड़ेमें लगीहुई अग्नि झोंपड़ेकोही जलाती है किन्तु उसकेमध्यमें रहेहुवे आकाशको नहीं उसीप्रकार जो शरीर में नानाप्रकारके रोग उत्पन्न होते हैं वे रोग उस

शरीरकोही नष्ट करते हैं किन्तु उसशरीरमें रहेहुवे निर्मलज्ञानमय आत्माको नष्ट नहीं करते।

भावार्थः—जिसप्रकार अमूर्तीक आकाशका मूर्तीकअग्नि कुछभी नहीं करसक्ती किन्तु वह मूर्तीक झोपड़ेकोही जलाकर नष्टकरदेती है उसीप्रकार आत्मातो अमूर्तीक और निर्मलज्ञानमय है इसलिये मूर्तीक शरीके धर्म जो रोग आदिक हैं वे इस आत्माका कुछभी नहीं करसक्ते किन्तु वे शरीरके ही नाश करनेवाले होते हैं इसलिये शरीरमें रोग आदिके होनेपर सज्जनपुरुषोंको कभीभी नहीं डरना चाहिये ॥ २३ ॥

क्षुधा आदिक जो दुःख हैं वे शरीरमें ही होते हैं इसवातको आचार्यवर वर्णन करते हैं।

वपुराश्रितामिदमखिलं क्षुधादिभिर्भवति किमपि यदसातम्।
नो निश्चयेन तन्मे यदहं बाधाविनिर्मुक्तः ॥ २४ ॥

अर्थः—भूंख प्यास आदिकारणोंसे जो दुःख होना है वह समस्तदुःख मेरे शरीरमें ही होता है और निश्चयनयसे वह शरीर मेरा नहीं है क्योंकि मैं समस्तप्रकारकी बाधाओंकर रहित हूं।

भावार्थः—मैं तो निर्मलज्ञानस्वरूप हूं और शरीर जड़पदार्थ है इसलिये वह मुझसे भिन्न है यदि असातावेदनीकर्मके उदयसे क्षुधा तृषा आदि कारणोंसे दुःखभी होवे तो वह दुःख शरीरमें होता है मुझे कोई दुःख नहीं होता क्योंकि मैं समस्तप्रकारके दुःखोंसे रहित हूं ॥ २४ ॥

क्रोध मान आदिकभी आत्माके धर्म नहीं हैं इसवातको आचार्य दिखाते हैं।

नैवात्मनो विकारः क्रोधादिः किन्तु कर्मसंवन्धात्।
स्फटिकमणेरिव रक्तत्वमाश्रितात्पुष्पतो रक्तात् ॥ २५ ॥

अर्थः—जिसप्रकार लालफूलके आश्रयसे स्फटिकमणि लाल होजाती है उसीप्रकार आत्मामें कर्मके

संबंधसे क्रोध आदि विकार पैदा होजाते हैं किन्तु वे क्रोधादिविकार आत्माके विकार नही हैं ।

भावार्थः—स्फटिकमणि स्वभावसे लाल नहीं है किन्तु उसका तो सफेदही स्वभाव है परन्तु जिससमय उसकेपास लालफूल रखदिया जाता है तो उसलालफूलके संबंधसे वहभी लाल होजाती है उसीप्रकार आत्मा स्वभावसे न तो क्रोधी है और न मानी लोभी आदिकही है किन्तु कर्मोंके संबंधसे वह क्रोधी लोभी वनजाता है इसलिये क्रोध आदि विकार आत्माके विकार नहीं हैं किन्तु कर्मोंके ही विकार हैं ॥ २५ ॥

कर्मोंसे उत्पन्न हुवे विकल्पभी शुद्ध आत्मामें नहीं हैं इसवातको आचार्य समझाते हैं ।

कुर्यात् कर्म विकल्पं किं मम तेनातिशुद्धरूपस्य ।
मुखसंयोगजविकृतेर्न विकारी दर्पणो भवति ॥ २६ ॥

अर्थः—मुखके संयोगसे उत्पन्न हुवे विकारसे अर्थात् मलिनमुखके संबंधसे जिसप्रकार दर्पण मलिन नहीं होता उसीप्रकार कर्म चाहैं कितनेहीं विकल्प क्यों न करो किन्तु अत्यंत शुद्धस्वरूप मुझ आत्माका वे विकल्प कुछ नहीं करसक्ते ।

भावार्थः—जिसप्रकार मलिन मुखके संबंधसे दर्पण मलिन नहीं होता वह स्वच्छही वनारहता है उसी-प्रकार कर्मोंसे पैदाहुवे नानाप्रकारके विकल्पोंसे मेरा आत्मा विकल्पी नहीं वनसक्ता वह तो निर्मलही रहैगा ॥२६॥

औरभी आचार्य इसीविषयमें कहते हैं ।

अस्तां वाहिरुपाधिचयस्तनुवचनविकल्पजालमप्यपरम् ।
कर्मकृतत्वान्मत्तः कुतो विशुद्धस्य मम किञ्चित् ॥ २७ ॥

अर्थः—बाह्य स्त्री पुत्र आदि उपाधितो दूररहो किन्तु शरीर वचन और विकल्पभी मुझसे भिन्न हैं क्योंकि

॥३११॥

शरीर वचन और विकल्पभी कर्मसे कियेगये हैं मैं विशुद्ध हूं इसलिये मेरा कुछभी नहीं है।

भावार्थः—जोकुछ कर्मोंद्वारा कीहुई उपाधि हैं वे समस्त उपाधि मुझसे भिन्नही हैं मेरी कोई भी नहीं हैं क्योंकि जिनसे अत्यंत घनिष्ठ संबंध है ऐसे शरीर वचन आदिकभी जब मुझसे भिन्न हैं तो स्त्री पुत्र आदिक सर्वथा भिन्न तो मेरी आत्मासे भिन्न ही हैं ॥२७॥

कर्म तथा कर्मोंसे कियेहुवे सुखदुःखादिकभी भिन्न हैं इसबातको आचार्यवर दिखाते हैं।

कर्म परं तत्कार्यं सुखमसुखं वा तदेव परमेव ।
तस्मिन् हर्षविषादौ मोही विदधाति खलु नान्यः ॥२८॥

अर्थः—कर्मभी भिन्न हैं और कर्मोंके जो सुखदुःख आदिकार्य हैं वेभी भिन्न हैं और उनकर्मके सुख दुःख आदि कार्योंमें निश्चयसे मोही जीवही हर्ष विषादको करता है अन्य नहीं।

भावार्थः—जिसमनुष्यको हिताहितका विवेक नहीं है अर्थात् जो मोही है वह मनुष्य ज्ञानावरणादिकर्मों कोभी अपना मानता है और कर्मोंके कार्यकोभी अपना मानता है इसलिये जिससमय सातावेदनीयकर्मके उदयसे कुछ सुख होता है उससमय हर्षमानता है तथा असातवेदनीयकर्मके उदयसे जिससमय दुःख होता है उससमय विषादको करता है अर्थात् दुःख मानता है किन्तु जो मनुष्य बुद्धिमान है अर्थात् जिसमनुष्यको यहवस्तु मेरे हितको करनेवाली है और यहवस्तु मेरे अहितको करनेवाली है इसबातका ज्ञान है वह मनुष्य कर्म तथा कर्मोंके कार्यको अपना नहीं मानता और सातावेदनीयकर्मके उदयसे जिससमय कुछ सुखहोता है उससमय हर्ष नहीं मानता और जिससमय असातावेदनीय कर्मके उदयसे दुःख होता है उस समय विषाद नहीं करता क्योंकि वह समझता है कि कर्म तथा कर्मोंके जितनेभर कार्य हैं वे सब जड़हैं और मैं चेतन हूं

इसलिये वे मुझसे सर्वथा भिन्न हैं ॥ २८ ॥

मोक्षका अभिलाषी पुरुषही कुछ सुखी है इसवातको आचार्यवर दिखाते हैं ।

कर्म न यथा स्वरूपं न तथा तत्कार्यकल्पनाजालम् ।
तत्रात्ममतिविहीनो मुमुक्षुरात्मा सुखी भवति ॥ २९ ॥

अर्थः—जिसप्रकार कर्म आत्माका स्वरूप नहीं हैं उसीप्रकार उसकर्मका जो सुख दुःख आदिकार्य, उनकी जो कल्पना, उनका समूहभी, आत्माका स्वरूप नहीं है इसलिये उनकर्मोंमें तथा कर्मके कार्यजो सुख दुःख आदिक हैं उनमें, जो मोक्षकी इच्छाकरनेवाला भव्यजीव आत्मबुद्धिकर रहित है अर्थात् उनको अपना नहीं मानता है वही आत्मा (भव्यजीव) संसारमें सुखी है ।

भावार्थः—जवतक जीव अपनेसे सर्वथा भिन्न जो कर्म तथा कर्मोंके सुख दुःख आदि कार्यहैं उनको अपना मानता है तवतक उसको रंचमात्रभी सुख नहीं होता क्योंकि कर्म तथा कर्मोंके कार्योंको अपनानेके कारण उसको संसारमें भटकना पड़ता है और भटकनेसे उसको अनन्ते नरकादिदुःखोंका सामना करना पड़ता है किन्तु मोक्षकी इच्छा करनेवाले भव्यजीव कर्म तथा कर्मोंके कार्यको अपनाते नहीं हैं अतः उनकोही सुखकी प्राप्ति होती है अर्थात् वेही सुखी होते हैं इसलिये मोक्षाभिलाषियोंको चाहिये कि वे परपदार्थोंमें आत्मबुद्धि न करैं ॥२९॥

औरभी आचार्यवर कर्मकी भिन्नताका वर्णन करते हैं ।

कर्मकृतकार्यजाते कर्मैव विधौ तथा निषेधे च ।
नाहमतिशुद्धबोधो विधूतविश्वोपाधिर्नित्यम् ॥ ३० ॥

अर्थः—कर्मद्वारा कियेहुवे जो सुख दुःखरूपकार्य उनकार्योंके विधानमें तथा निषेधमें कर्मही है अर्थात्

कर्महीं कर्ता है किन्तु अत्यंत निर्मलज्ञानका धारी मैं नहीं हूं क्योंकि मैं सदा समस्तप्रकारकी, कर्मोंसे पैदा हुई जो उपाधियां उनसे रहित हूं ।

भावार्थः—कर्मके द्वारा जो राग, द्वेष, सुख, दुःख, आदिकार्य होते हैं उनसमस्तकार्योंका कर्ता, कर्मही है किन्तु मेरी आत्मा उन सुख दुःख आदिकार्योंका कर्ता नहीं है क्योंकि मेरी आत्मा अत्यंत शुद्धज्ञानका धारी है और सदा समस्तप्रकारकी जो कर्मजनितउपाधियां हैं उन उपाधियोंसे रहित है ॥ ३० ॥

बाह्यविकारोंकोभी मोही जीव सदा आत्मस्वरूपही मानता है इसवातको आचार्यवर दिखाते हैं ।

बाह्यायामपि विकृतौ मोही जागर्ति सर्वदात्मेति ।
किं नोपभुक्तहेमो हेमग्रावाणमपि मनुते ॥ ३१ ॥

अर्थः—जो मनुष्य धतूरेको खालेता है उसमनुष्यको जिसप्रकार पत्थरभी सोना मालूम पड़ता है उसी-प्रकार जो मनुष्य मोही है अर्थात् जिसमनुष्यको हिताहितका ज्ञान नहीं है वह मनुष्य बाह्य स्त्री पुत्र आदि विकृतिको आत्माही मानता है ।

भावार्थः—धूलि मट्टी पत्थर आदिक पदार्थ यद्यपि सुवर्ण नहीं है किन्तु जिसमनुष्यने धतूरा पी लिया है उसको वे सुवर्णही मालूम पड़ते हैं उसीप्रकार यद्यपि निश्चयनयसे स्त्री पुत्र धन धान्य पदार्थ जड़पदार्थ हैं इसलिये अपने नहीं हैं तोभी जिन मनुष्योंकी आत्मापर प्रबलमोहरूपी पर्दा पड़ाहुवा है उनको वे सब विपरीत ही सूझते हैं अर्थात् मोही मनुष्य उनसबको अपनाही मानता है ॥ ३१ ॥

मोक्षकी इच्छाकरनेवाला मनुष्य इसवातका विचार करता रहता है ।

सति द्वितीये चिन्ता कर्म ततस्तेन वर्तते जन्म ।
एकोऽस्मि सकलचिन्तारहितोऽस्मि मुमुक्षुरिति नियतम् ॥ ३२ ॥

॥३१४॥

अर्थः—द्वितीयवस्तुके होते सन्ते तो चिंता होती है और चिन्तासे कर्मोंका आगमन होता है और कर्मोंसे जन्महोता है इसलिये निश्चयसे मोक्षकी इच्छा करनेवाला मैं अकेलाहूं तथा समस्तप्रकारकी चिंताओंसे रहितहूं ।

भावार्थः—यह नियम है कि संसारमें जो जीव दुःखित हैं वे कर्मोंसे बंधेहुए हैं इसीलिये दुःखित हैं और आत्माकेसाथ जो कर्मोंका बंध है वह चिंतासे है और वह चिंता द्वितीयपदार्थोंके होते सन्तेही होती है इसीलिये मोक्षाभिलाषी ऐसा विचार करता रहता है कि निश्चयसे मैं अकेला हूं और समस्त प्रकारकी चिंतओंसे भी रहित हूं ॥३२॥

और भी मोक्षाभिलाषी इसप्रकारका विचार करता रहता है ।

> **यादृश्यपि तादृश्यपि परतश्चिंता करोति खलु बन्धम्**
> **किं मम तया मुमुक्षोः परेण किं सर्वदैकस्य ॥ ३३ ॥**

अर्थः—चिंता जिस २ प्रकारकी होती है उस २ प्रकारकी वह समस्तचिंता बंधको ही करनेवाली होती है मैं तो मोक्षकी इच्छा करनेवाला हूं इसलिये मुझै उसचिंतासे क्या प्रयोजन है और मैं तो सदा एक हूं इसलिये मुझै दूसरे पादार्थोंसे भी क्या प्रयोजन है ।

भावार्थः—चिंता दोप्रकारकी है एक तो शुभचिंता दूसरी अशुभचिंता उनमें शुभचिंता तो उसेकहते हैं जो शुभपदार्थोंकी चिंता की जाय जिसप्रकार तीर्थंकरके आसन आकार आदिककी, और अशुभचिंता उसे कहते हैं जो अशुभपदार्थोंकी चिंता की जाय जिसप्रकार स्त्री पुत्र आदिककी चिंता, किन्तु ये दोनों ही चिंता बंधकी ही कारण हैं, क्योंकि शुभचिंताके करनेसे शुभकर्मोंका बंध होता है और अशुभचिंताके करनेसे अशुभकर्मोंका बंध होता है और पीछे संसारमें भटकना पड़ता है इसलिये मोक्षाभिलाषी ऐसा विचार करता है कि मैं मुमुक्षु हूं इसलिये मुझै चिंतासे क्या प्रयोजन है और मैं सदा अकेला हू इसलिये मुझै पर जो स्त्री

पुत्र मित्र आदिक पदार्थ हैं उन पदार्थोंसे भी क्या प्रयोजन है ॥ ३३ ॥

मैं निर्मलज्ञानस्वरूप तथा निर्विकार हूं ज्ञानी इसबातका विचार करता है इसबातको आचार्य कहते हैं।

मयि चेतः परजातं तच्च परं कर्मविकृतिहेतुरतः
किं तेन निर्विकारः केवलमहममलबोधात्मा ॥ ३४ ॥

अर्थः—मेरी आत्मामें जो मन है वह मुझसे भिन्न है क्योंकि वह परपदार्थसे उत्पन्न हुआ है और जिससे मन उत्पन्न हुआ है ऐसा वह कर्म भी मुझमे भिन्न है क्योंकि वह विकारका करनेवाला है और मैं तो निश्चयसे विकार रहित हूं और निर्मलज्ञानका धारी हूं।

भावार्थः—यदि मन पर न होता और कर्म, विकारोंके करनेवाले न होते तब तो मैं उनको अपना मानता किन्तु मनतो मुझसे सर्वथा पर है क्योंकि वह जड़कर्मसे पैदा हुआ है और कर्म मुझे विकृत करनेवाला है अर्थात् मेरे ज्ञानादिगुणोंका घात करनेवाला है इसलिये मैं उनदोनोंको अपना कैसे मानूं ? इसलिये मैं तो विकार रहित हू तथा निर्मलज्ञानका धारी हूं अर्थात् निर्मलज्ञानस्वरूप हूं ॥ ३४ ॥

मोक्षाभिलाषियोंको समस्तप्रकारकी चिताओंका त्यागकरदेना चाहिये इसबातको आचार्यवर दिखाते हैं।

त्याज्या सर्वा चिन्तेतिबुद्धिराविष्करोति तत्तत्त्वम्
चन्द्रोदयायते यच्चैतन्यमहोदधौ झटिति ॥ ३५ ॥

अर्थः—समस्तप्रकारकी चिंता त्यागनेयोग्य हैं जिससमय इसप्रकारकी बुद्धि होती है उससमय वहबुद्धि उसतत्त्वको प्रकट करता है कि जो तत्त्व चैतन्यरूपी प्रबलसमुद्रमें शीघ्रही चंद्रमाके समान आचरण करता है।

भावार्थः—जिसप्रकार चंद्रमाके उदयहोनेपर समुद्र वृद्धिको प्राप्त होता है उसीप्रकार समस्त चिंताएं

॥३१६॥

त्यागनेयोग्य हैं इसप्रकारकी बुद्धि भी उसतत्त्वको प्रकट करती है कि जिसतत्वकी प्रकटतासे चैतन्यतत्व सदा बढ़ताही चला जाता है इसलिये मोक्षाभिलाषियोंको अवश्यही समस्तचिंताओंका त्यागकरदेना चाहिये ॥ ३५ ॥

और भी आचार्यवर चैतन्यके स्वरूपको वर्णन करते हैं ।

> चैतन्यमसम्पृक्तं कर्मविकारेण यत्तदेवाहम्
> तस्य च संसृतिजन्मप्रभृति न किंचित्कुतश्चिंता ॥ ३६ ॥

अर्थः—जो चैतन्य, कर्मोंके विकारोंसे अलिप्त है वही चैतन्य मैं हूं और उसचैतन्यके संसार में जन्म मरण आदिक कुछ भी नहीं हैं फिर किससे चिंता करनी चाहिये ॥

भावार्थः—यदि चैतन्यमें जन्म मरण आदिक होते तो चिंता होती किन्तु चैतन्यमें तो न जन्म है और न मरण है और वह चैतन्य रागद्वेष आदिक जो कर्मोंके विकार हैं उनसे अलिप्त है और उसी चैतन्य स्वरूप मैं हूं इसलिये मुझे चिंता नहीं करनी चाहिये ॥ ३६ ॥

मनको वशमें रखना चाहिये इसबातको आचार्य दिखलाते हैं ।

> चित्तेन कर्मणा त्वं वद्धो यदि बध्यते तया तदतः
> प्रतिवन्दीकृतमात्मन् मोचयति त्वां न सन्देहः ॥ ३७ ॥

अर्थः—अरे आत्मा तू इसमनकी कृपासे कर्मोंसे बंधाहुआ हं यदि तू इसमनको बांधलेवे अर्थात् मनको वशमें करलेवे तो इसमें किसीप्रकारका संदेह नहीं कि बंधाहुआ तू छूटजावेगा ।

भावार्थः—आचार्य उपदेश देते हैं कि तेरा सबसे अधिक वैरी मन है क्योंकि जबतक यहमन वशमें नहीं होता तबतक इसीकी कृपासे नानाप्रकारके कर्म आते हैं और तुझे बांधते हैं और इसीकी कृपासे तू इस-

॥३१७॥

समय भी कर्मोंसे बंधाहुआ है यदि अब भी इसको वशमें करले तो कर्मोंसे तू बंध नहीं सकता इसमें कुछ भी संदेह नहीं इसलिये तुझे मनको अवश्यही बांधना चाहिये ॥ ३७ ॥

मनको इसरीतिसे समझाना चाहिये—

नृत्वतरोर्विषयसुखच्छायालाभेन किं मनःपान्थ
भवदुःखक्षुत्पीडित ? तुष्टोऽसि गृहाण फलममृतम् ॥ ३८ ॥

अर्थः—" संसारका दुःखरूप जो क्षुधा उससे दुःखितहुआ अरे मनरूपी बटोही " तू क्यों मनुष्यरूपी वृक्षसे विषयसुखरूपी छायाके लाभसे संतुष्ट है, । अमृतफलको गृहणकर ।

भावार्थः—जिसप्रकार कोई रस्तागीर अत्यंत बुभुक्षित होकर वृक्षके नीचे बैठे और उसवृक्षपर लगेहुए फल खानेका प्रयत्न न करता हो तो कोई हितैषी मनुष्य वहां आकर उसको इसरीतिसे समझावे कि अरे भाई तू इसवृक्षकी छायामात्रके लाभसे क्यों संतुष्ट होरहा है इसवृक्षपरसे उत्तमफलोंको तोड़कर उनको खा जिससे तेरी भूखकी शान्ति होवे उसीप्रकार आत्मा मनको समझाता है कि अरे मन तू संसारके दुःखोंसे पीड़ितहुआ इसमनुष्यजन्ममें इन्द्रियोंके विषयोंके लाभसे ही क्यों वृथा संतुष्ट होरहा है अरे इसमनुष्यजन्मसे ही प्राप्त होनेवाले अमृतरूपी फलको प्राप्तकर, अर्थात् जिसमें किसीप्रकारका न तो जन्म है और न मरण है ऐसे उसमोक्षपदकी ओर दृष्टिलगा क्योंकि विषयोंके लाभसे सन्तुष्टहो कर तू संसारमें ही भटकैगा और नानाप्रकार के दुःखोंको उठावेगा इसमें किसीप्रकारका संदेह नहीं है ॥ ३८ ॥

मुनियोंका चित्त निरालम्बमार्गकाही अवलम्बन करता है इसबातको आचार्य समझाते हैं ।

स्वान्तं ध्वान्तमशेषं दोषोज्झितमर्कविम्बमिव मार्गे
विनिहन्ति निरालम्बे संचरदनिशं मुनीशानाम् ॥ ३९ ॥

॥३१८॥

अर्थः—समस्तदोषोंकर रहित सूर्यके प्रतिविम्बके समान मुनीश्वरोंका मन निरालम्बमार्गमें ही गमन करत करता है तथा निरालम्बमार्गमें गमनकरनेके कारण वह समस्तअंधकारको दूर करदेता है ।

भावार्थः—जिसप्रकार सूर्य आकाशमें गमन करता है और जव वह वादलोंके समूहसे ढका नहीं जाता तथा राहुसे ग्रसा नहीं जाता उससमय वह समस्त अंधकारको नाश करदेता है उसीप्रकार मुनियोंका चित्त जिससमय समस्तदोषोंकर रहित होता है तथा जिसमें कोई अवलम्बन नहीं ऐसे मार्गमें अर्थात् निर्विकल्प मार्गमें गमन करता है उससमय वह मुनियोंका चित्तभी समस्त अज्ञानादि अंधकारको दूरकरदेता है ॥ ३९ ॥

अपने चैतन्यस्वरूपको देखनेवाला योगी सिद्ध होता है इसबातको आचार्य समझाते हैं ।

संविच्छिखिना गलिते तनुमूषाकर्ममदनमयवपुषि
स्वमिव स्वं चिद्रूपं पश्यन् योगी भवति सिद्धः ॥ ४० ॥

अर्थः—सम्यग्ज्ञानरूपी जो अग्नि उससे जिससमय शरीररूपी जो मूषा, उसमें जो कर्मरूपीमोम स्वरूप शरीर, वह पिघलकर निकलजाता है उससमय जो योगी आकाशके समान अपने चैतन्यरूपको देखताहै वहीयोगी सिद्धहोता है ।

भावार्थः—एक मिट्टीका मनुष्याकार पात्र बनायाजाय तथा उसके भीतर मोम भरदियाजाय और पीछे वह आंचसे तपायाजाय उससमय जिसप्रकार उसमोमके निकलजानेपर उसमूषामें मनुष्याकार आकाशके प्रदेश रहजाते हैं उसीप्रकार यह शरीर तो मूषाहै और कर्म मोम है और सम्यग्ज्ञानरूपी अग्नि है इनमेंसे जिससमय सम्यग्ज्ञान-रूपी अग्निसे कर्म सर्वथा नष्टकर दियेजाते हैं उससमय जोकुछ उसशरीरके भीतर अमूर्तीकप्रदेश रहजाते हैं वे आत्माके प्रदेश हैं अर्थात् उन्हींका नाम आत्मा है इसलिये जो मनुष्य उस आत्माका ध्यान करते हैं वे सिद्ध पदको प्राप्त होते हैं अर्थात् उनको नरक आदि गतियोंमें भ्रमण नहीं करना पड़ता ।

सारार्थः—जोभव्यजीव समस्तकर्मोंकर रहित चैतन्यस्वरूप उनसिद्धोंका ध्यानकरते हैं उनको सिद्धपद की प्राप्ति होती है ॥ ४० ॥

मैं ही चैतन्यस्वरूप हूं इसबातको आचार्य दिखाते हैं ।

अहमेव चित्स्वरूपश्चिद्रूपस्याश्रयो मम स एव
नान्यत्किमपि जडत्वात्प्रीतिः सदृशेषु कल्याणी ॥ ४१ ॥

अर्थः—मैंही चैतन्यस्वरूप हूं और मेरे चैतन्यस्वरूपका आश्रय वह चैतन्यही है और चैतन्यसे भिन्न वस्तु चैतन्यस्वरूप नहीं है और न चैतन्यसे भिन्नवस्तु मेरे चैतन्यकी आश्रय हैं क्योंकि वे जड़ हैं मेरी प्रीति उनमें नहीं हो सकती, प्रीति समानपदार्थोंमेंही कल्याणकी करनेवाली होती है ।

भावार्थः—जिसप्रकार अग्निका लक्षण उष्णता है और वह कदापि अग्निसे जुदा नहीं रहसक्ता उसीप्रकार आत्माका लक्षण ज्ञान है और वह कदापि आत्मासे जुदा नहीं रहसक्ता इसलिये वहज्ञानस्वरूप मैं हूं और मेरे चैतन्यस्वरूपका आश्रय ज्ञानादिस्वरूप चैतन्यही है किन्तु चैतन्यसे भिन्न अर्थात् जिनमें चेतनता नहीं रहती है ऐसे पुद्गल धर्म अधर्म आकाशआदि जो द्रव्य हैं वे मेरा स्वरूप नहीं है और न वे मेरे आधार हैं क्योंकि वे जड़ हैं और मैं चेतनहूं और पुद्गल आदिपदार्थोंमें मेरी प्रीति भी नहीं हो सकती क्योंकि वे मेरे समानजातीय नहीं है मेरा समानजातीय तो चैतन्यही है इसलिये मेरी प्रीति उसीमेंही है और चैतन्यमें की हुई प्रीति ही मुझे सुखको देसक्ती है और देती है ॥ ४१ ॥

स्वपरके विवेकसेही आत्मा परको छोड़कर शुद्ध होता है ऐसा आचार्यवर दिखाते हैं—

स्वपर विभागावगमे जाते सम्यक् परे परित्यक्ते ।
सहजबोधैकरूपे तिष्ठत्यात्मा स्वयं शुद्धः ॥ ४२ ॥

अर्थः—जिससमय आत्मामें स्वपरके विभागका ज्ञान होजाता है और त्यागने योग्य जो वस्तु उनका त्याग होजाता है उससमय स्वाभाविक निर्मलज्ञान स्वरूप जो अपना रूप है उसमें आत्मा ठहरता है और पीछे स्वयं शुद्ध होजाता है ।

भावार्थः—यहवस्तु मेरी है और यह वस्तु मेरी नहीं है जवतक इसप्रकारका स्व परका विवेक आत्मामें नहीं होता है और जवतक आत्मा परपदार्थोंको नहीं छोड़ता है तवतक आत्मा बाह्यपदार्थोंमें ही घूमा करता है और स्वस्वरूपमें कभीभी स्थिर नहीं रहता इसीलिये शुद्धभी नहीं होता किन्तु जिससमय ज्ञान दर्शन आदिक मेरे हैं और रूप रस आदिक मेरे नहीं हैं इसप्रकारका आत्मामें विवेकज्ञान होजाता है और रूप रस आदिक जो पर हैं उनसे वह जुदा होजाता है उससमय वह स्वाभाविक निर्मलज्ञानरूप अपने स्वरूपमें स्थिर होजाता है और अत्यंत शुद्ध होजाता है ॥ ४२ ॥

इसीश्लोकके आशयको लेकर समयसारमें भी कहा है ।

चैद्रूप्यं जड़रूपतां च दधतोः कृत्वा विभागं द्वयोरन्तर्दारुणदारणेन परितो ज्ञानस्य रागस्य च ।
भेदज्ञानमुदेति निर्मलमिदं मोदध्वमध्यासिताः शुद्धज्ञानघनौघमेकमधुना सन्तो द्वितीयच्युताः ॥

आर्थः—चैतन्यरूपता और जड़रूपताको धारणकरनेवाले अर्थात् चेतन और जड़ जो आत्मा और शरीर हैं उनके, विभागको करके (उनको जुदी २ रीतिसे जानकर) और अच्छीतरह अंतरंगसे, ज्ञानके तथा रागके

१ क पुस्तकमें "सहजैकवोधरूपे तिष्ठत्यात्मा परं सिद्ध." यह भी पाठ है इसमें सिद्ध पदका अर्थ शुद्धही है ।

विभागको करके "अर्थात् ज्ञान आत्माका धर्म है तथा राग शरीरका धर्म है इसवातको भलीभांति जानकर" यह निर्मलभेदज्ञान उत्पन्न होता है इससमय मोक्षाभिलाषी जो भव्यजीव हैं वे शुद्ध जो ज्ञान वहीहै धनका समूह जिसकें उसको अर्थात् आत्माको प्राप्तहोकर और परपदार्थोंके संबंधसे रहित होकर चिरकालतक आनंदसे रहो।

भावार्थः—स्व तथा परके विभागसे आत्मा शुद्ध होता है इसलिये भव्यजीवोंको स्वपरविभागकी ओर अवश्य लक्ष्य देना चाहिये॥ ४२॥

निश्चयकर आत्मा हेयोपादेयके विभागसे भी रहित है इसवातको आचार्यवर दिखाते हैं।

हेयोपादेयविभागभावना कथ्यमानमपि तत्वम्।
हेयोपादेयविभागभावनावर्जितं विद्धि॥ ४३॥

अर्थः—जो तत्व हेय तथा उपादेयकी भावनाकर रहित कहागया है वह तत्व भी निश्चयसे हेय तथा उपादेयकी भावना कर रहित ही है ऐसा समझो।

भावार्थः—जड़रूपजो परतत्व है वहतो हेय है और चैतन्यरूप जो स्वतत्व है वह उपादेय है इसप्रकार स्वपरविभागकी भावनासे जो चैतन्यतत्वका वर्णन कियागया है वह तत्वभी वास्तविकरीतिसे हेय तथा उपादेयकी भावनाकर रहितही है क्योंकि जिससमय शुद्धनिश्चयनयका आश्रयण कियाजाता है उससमय निर्विकल्पक अवस्था होती है तथा उस अवस्थामें हेय उपादेय आदिक कोई भी किसीप्रकारका विकल्प नहीं होता॥४३॥

शुद्धात्मतत्व मनके गोचर नहीं हैं इसवातको भी आचार्य वतलाते हैं।

प्रतिपद्यमानमपि च श्रुतादिशुद्धं परात्मनस्तत्वम्।
उररीकरोतु चेतस्तदपि न तच्चेतसोगम्यम्॥ ४४॥

॥३२२॥

अर्थः—शास्त्रकेद्वारा भलीभांति कहे हुवेभी अत्यंत विशुद्ध परमात्मतत्वको चाहे मन, स्वीकार करो तोभी वह मनके गम्य नहीं है अर्थात् मन उसको नहीं जानसक्ता है ।

भावार्थः—यद्यपि शास्त्रने उस अत्यंतशुद्ध परमात्माके स्वरूपका भलीभांति वर्णन किया है और उस परमात्मतत्वको मनने स्वीकारभी करलिया है तो भी वह मनके गोचर नहीं है अर्थात् मन उसको भलीभांति जान नहीं सक्ता क्योंकि मन सविकल्पक है तथा आत्मा निर्विकल्पक है इसलिये मन उसको कैसे जानसक्ता है? ॥४४॥

अद्वैतभावनासे मोक्ष होती है इसवातको आचार्य वर्णन करते हैं ॥

अहमेकाक्यद्वैतं द्वैतमहं कर्मकलित इति बुद्धेः ।
आद्यमनपायि मुक्तेरद्विविकल्पं भवस्य परम् ॥ ४५ ॥

अर्थः—मैं अकेला हूं इसप्रकारकी जो बुद्धि है वह तो अद्वैत बुद्धि है और कर्मोंकर सहित हूं इस प्रकारकी जो बुद्धि है वह द्वैत बुद्धि है इनदोनों बुद्धियोंमें आदिकी जो अविनाशी अद्वैत बुद्धि है वह तो मोक्ष की कारण है और दूसरी जो द्वैतबुद्धि है वह संसार की कारण है ॥

भावार्थः—जवतक मैं, तथा अन्य, इसप्रकारका द्वैत भाव रहता है तबतक जीवको संसारमें डोलना पड़ता है किन्तु जिससमयमें यह द्वैतभाव नष्ट हो जाता है अर्थात् अद्वैत भाव हो जाता है उसीसमय जीव मोक्षको प्राप्त होता है क्योंकि मैं तथा तू इत्यादि विकल्परहित निर्विकल्पकअवस्थाहीका तो नाम मोक्ष है इसलिये मोक्षाभिलाषी भव्यजीवोंको चाहिये कि वे मैं अकेलाही हूं इसप्रकारके अद्वैतभावका ही चिंतवन करैं ॥ ४५ ॥

द्वैत तथा अद्वैतभावसे रहितपनाही मोक्ष है इसबातको आचार्य वतलाते है ।

बद्धो मुक्तोऽहमथ द्वैते सति जायते ननु द्वैतम् ।
मोक्षायेत्युभयमनोविकल्परहितो भवति मुक्तः ॥ ४६ ॥

अर्थः—मैं बंधाहुवाहूं तथा मैं मुक्त हूं इसप्रकारके द्वैतके होतेसन्ते निश्चयसे द्वैत होता है और इस प्रकारके दोनोंविकल्पोंसे रहित जीव मुक्त होता है ।

भावार्थः—द्वैत तथा अद्वैतका जिससमय सर्वथा त्याग हो जाता है उसीसमय मुक्ति होती है इसलिये जो जीव मुक्त होना चाहते हैं उनको दोनोंप्रकारके विकल्पोंके त्यागकरनेका प्रयत्न करना चाहिये ॥ ४६ ॥

निर्विकल्पचित्तसे परमानंदकी प्राप्ति होती है इसबातका आचार्यवर वर्णन करते हैं ।

गतभाविभवद्भावाभावप्रतिभावभावितं चित्तम् ।
अभ्यासाच्चिद्रूपं परमानन्दान्वितं कुरुते ॥ ४७ ॥

अर्थः—भूत भविष्यत वर्तमानकालके जो पदार्थ उनकी भावनासे भाया हुवा जो चित्त है वह अभ्याससे चैतन्यरूपको परमानंदकरसहित करता है ।

भावार्थः—भूत भविष्यत जो विकल्प उनसे रहित भाया हुवा जोचित्त वह चैतन्यको परमादनंकर युक्त करता है अर्थात् उसप्रकारकी भावनासे चित्त अत्यंत आनंदित हो जाता है ॥ ४७ ॥

जो मनुष्य जिसरीतिसे आत्माको देखता है उसको उसीप्रकारके आत्माकी प्राप्ति होती है इसबातको आचार्यवर दिखाते हैं ।

बद्धं पश्यन् बद्धो मुक्तं मुक्तो भवेत् सदात्मानं ।
याति यदीयेन पथा तदेव पुरमश्नुते पान्थः ॥ ४८ ॥

अर्थः—जिसप्रकार जो रस्तागीर जिसपुरके मार्गसे गमन करता है वह उसीपुरको प्राप्त होता है

उसीप्रकार जो जीव आत्माको सदा बँधा हुवा देखता है वह कर्मोंसे बद्ध ही रहता है और जो पुरुष आत्मा को सदा कर्मोंसे रहित देखता है वह मुक्त ही होता है ॥

भावार्थः—जिसप्रकार जो मनुष्य जिसनगरके मार्गसे गमन करता है वह उसी नगरमें पहुंचता है उसी प्रकार जो मनुष्य जिसप्रकारके आत्माका आराधन करता है वह उसीप्रकारके आत्मस्वरूपको प्राप्त होता है अर्थात् यदि वह आत्माकी भावना करनेवाला कर्मोंसे बद्ध आत्माका ध्यान करेगा तो उसकी आत्मा कर्मोंसे बद्धही रहैगी और यदि वह कर्मोंसे मुक्त आत्माका ध्यान करैगा तो उसकी आत्मा मुक्त ही होवेगी ॥ ४८ ॥

मनको इसरीतिसे शिक्षा देनीचाहिये ॥

मागा बहिरन्तर्वा साम्यसुधापानवर्द्धितानन्द ।
आस्व यथैव तथैव च विकारपरिवर्जितः सततम् ॥ ४९ ॥

अर्थः—समतारूपी जो अमृत उसके पीने से बढ़ा है अनंद जिसको ऐसा हे मन, तू बाहर तथा भीतर मत गमन करै और जिसरीतिसे तू समस्तप्रकारके विकारोंसे रहित हो उसी प्रकारसे रह ।

भावार्थः—जवतक मन जहांतहां घूमता फिरता है तबतक साम्यभावका अनुभव नहीं करसक्ता और नानाप्रकारोंके विकारोंसे विकृत हो जाता है किन्तु जिससमय उसका जहांतहां घूमना वंद हो जाता है उस समय वह समताका अनुभव करता है तथा विकारोंसे विकृतभी नहीं होता इसलिये आचार्यवर इस बातको समझाते हैं कि भव्यजीवोंको मनको इसरीतिसे शिक्षा देनी चाहिये कि हे समतारूपीअमृतके पानसे अत्यंत आनंदित मन, तू बाहर तथा भीतर कहीं भी मत घूमे और जिस प्रकारसे वने उसप्रकारसे तू समस्त विकार रहितही रह ॥ ४९ ॥

तज्जयति यत्र लब्धे श्रुतभुवि मत्यापगातिधावन्ती ।
व्यावृत्ता दूरादपि झटिति स्वस्थानमाश्रयति ॥ ५० ॥

अर्थः—जिसचैतन्यरूपतत्वके प्राप्तहोनेपर शास्त्ररूपीभूमिमें अत्यंत दौड़तीहुई बुद्धिरूपी नदी दूरसेही लौटकर शीघ्रही अपनेस्थानको प्राप्तहोजाती है ऐसा वह चैतन्यरूपीतत्व सदा इसलोकमें जयवंत है ॥

भावार्थ—जबतक बुद्धि शास्त्रमें लगी रहती है तबतक कदापि उसचैतन्यतत्व (परमात्मतत्त्व) की प्राप्ति नहीं होती किन्तु जिससमय चैतन्यकी प्राप्तिहोनेपर बुद्धि शास्त्रसे व्यावृत्तहोजाती है अर्थात् शास्त्रसे फिरजाती है उससमय बुद्धि शीघ्रही अपने चैतन्यस्वरुपको प्राप्त होती है इसलिये वह चैतन्यरूपीतत्व सदा इसलोकमें जयवंत है ॥ ५० ॥

और भी आचार्यवर उपदेश देते हैं ।

तन्नमत गृहीताखिलकालत्रयजगत्त्रयव्याप्ति ।
यत्रास्तमेति सहसा सकलोऽपि हि वाक्परिस्पन्दः ॥ ५१ ॥

अर्थः—ग्रहण की है तीनोंकालोंमें तीनोंजगतकीव्याप्ति जिसने तथा जिसके होतेसंते समस्तवाणीका परिस्पन्द शीघ्रही नष्ट होजाता है उसचैतन्यको नमस्कार करो ॥

भावार्थः—जो चैतन्य तीनोंकालोंमे तीनोंजगतमें व्यापरहा है और जिसचैतन्यका वाणीसे सर्वथा वर्णन नहीं करसक्ते उसचैनन्यरुपीतेजको नमस्कार करो ॥ ५१ ॥

तन्नमत विनष्टाखिलविकल्पजालद्रुमाणि परिकलिते ।
यत्र वहन्ति विदग्धा दग्धवनानीव हृदयानि ॥ ५२ ॥

अर्थः—उसचैतन्यरूपको नमस्कार करो जिस चैतन्यरूपकी प्राप्तिके होनेपर मुनिगण सर्वथा नष्टहो गये हैं विकल्परूपी वृक्ष जिनसे ऐसे हृदयोंको जले हुवे वनोंके मानिन्द धारण करते हैं ॥

भावार्थः—जबतक मनुष्योंके चित्तमें नानाप्रकारके विकल्पलगे रहते हैं तबतक मनुष्योंको कभी भी सुखकी प्राप्ति नहीं हो सक्ती किन्तु जिसचैतन्यके होतेसन्ते मनुष्योंके मनके समस्तविकल्प नष्ट होजाते हैं ऐसे उसचैतन्यतत्त्वको नमस्कार करो ॥ ५२ ॥

जिससमय समस्तनयोंका पक्षपात नष्ट हो जाता है उससमय समयसारकी प्राप्ति है इसबातको आचार्यवर दिखाते हैं।

बद्धो वा मुक्तोवा चिद्रूपो नयविचारविधिरेषः ।
सर्वनयपक्षरहितो भवति हि साक्षात्समयसारः ॥ ५३ ॥

चैतन्यस्वरूप आत्मा कर्मोंसे बधाहुवा है तथा कर्मोंसे रहितभी है यह नयविचारकी विधि है और समस्त नयोंके पक्षसे रहित होनेपर ही निश्चयसे समयसार होता है ॥

भावार्थः—समयसार नाम शुद्धात्माका है उसशुद्धात्माकी प्राप्ति उसी समय होती है जिससमय समस्त निश्चय तथा व्यवहारनयका पक्षपात दूर होजाता है किन्तु जकतक व्यवहारनयसे आत्मा वंधाहुवा है तथा निश्चयनयसे आत्मा मुक्त है इसप्रकारका नयका पक्षपात रहता है तब तक उस समयसार शुद्धात्माकी प्राप्ति कदापि नहीं होसक्ती इसलिये शुद्धात्माकी प्राप्तिके इच्छुकोंको नयोंके पक्षपात कर रहित ही रहना चाहिये॥५३॥

नाटकसमयसारमेंभी कहा है ।

एकस्य बद्धो न तथा परस्य चितिद्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ १ ॥

अर्थः—व्यवहारनयसे तो आत्मा कर्मोंसे बंधा हुवा है और निश्चयनयसे आत्मा मुक्त है इसप्रकार इन दोनोंप्रकारके आत्माओंमें दोनों प्रकारके पक्षपात है जो मनुष्य वास्तविक तत्वका जाननेवाला है और समस्त प्रकारके नयोंके पक्षपातोंसे रहित है उसका चैतन्य है सो निश्चयकरके चैतन्य ही है ॥ १ ॥

और भी कहा है

> अलमलमतिजल्पैर्दुर्विकल्पैरनल्पैरयमिव परमार्थः सेव्यतां नित्यमेव ।
> स्वरसविसरपूर्णज्ञानविस्फूर्तिमात्रान्न खलु समयसारादुत्तरं किञ्चिदस्ति ॥ २ ॥

अर्थः—नानाप्रकारके जो खोटे २ विकल्प उनके अत्यंतकहनेसे पूर्णहो पूर्णहो सदा इसपरमार्थ परमात्मा की ही सेवा करो क्योंकि अपना रस जो विसर अर्थात् फैलाव उससे परिपूर्ण जो ज्ञान उसकी है केवल प्रकटता जिसमें ऐसे समयसारसे उत्कृष्ट, यहांपर कोईभी वस्तु नहीं है अर्थात् समयसारही उत्कृष्ट वस्तु है ॥ २ ॥

आत्मा नय प्रमाण निक्षेपआदिविकल्पोंसे भी रहित है इसबातको आचार्यवर दिखाते हैं ?

> नयनिक्षेपप्रमितिप्रभृतिविकल्पोज्झितं परं शान्तम् ।
> शुद्धानुभूतिगोचरमहमेकं धाम चिद्रूपम् ॥ ५४ ॥

अर्थः—जिसमें नय निक्षेप प्रमिति आदिक किसी प्रकारके विकल्प नहीं है और जो उत्कृष्ट है तथा शांत है और शुद्धानुभवके गोचर है तथा एक है वह चैतन्यरुपी तेज मैं ही हूं ॥

भावार्थः—नतो मुझमें द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकस्वरूप नयका विकल्प है और न प्रत्यक्ष परोक्षरूपप्रमाण का विकल्प है तथा नाम स्थापना आदि निक्षेपका विकल्प भी मुझमें नहीं है और मैं उत्कृष्ट हूं तथा शांत

हूं तथा शुद्धानुभवके गोचर हूं और चैतन्यस्वरूप तेज हूं ॥ ५४ ॥

समयसारमें भी कहा है ।

उदयति न नयश्रीरस्तमेति प्रमाणं क्वचिदपि च न विद्मो याति निक्षेपचक्रम् ।
किमपरमभिदध्मो धाम्नि सर्वंकषेऽस्मिन्ननुभवमुपयाते भाति न द्वैतमेव ॥

अर्थः—सबको कषनेवाले इसचैतन्यरूपी तेजके अनुभव होनेपर द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक नयभी उदयको प्राप्त नहीं होते तथा प्रत्यक्ष तथा परोक्षप्रमाण अस्त होजाते हैं और नाम स्थापना द्रव्य भाव रूपी निक्षेप न जाने कहां चलाजाते है और अधिक कहां तक कहा जावे द्वैत भी दृष्टि गोचर नहीं होता ॥ १ ॥

चैतन्यरूपके जाननेपर सब जाना जाता है तथा चैतन्यरूपके देखने पर सब देखा जाता है इसबातको आचार्यवर दिखाते हैं ।

ज्ञाते ज्ञातमशेषं दृष्टे दृष्टं च शुद्धचिद्रूपे ।
निश्शेषबोध्यविषयौ दृग्बोधौ यन्न तद्भिन्नौ ॥ ५५ ॥

अर्थः—जिसचैतन्यस्वरूपतेजके जानने पर तो समस्तवस्तु जानीं जातीं है और देखनेपर समस्तवस्तु देखीं जातीं हैं क्योंकि समस्त जो ज्ञेयपदार्थ वे हैं विषय जिनके ऐसे जो दर्शन और ज्ञान हैं वे आत्मस्वरुप ही हैं आत्मासे भिन्न नहीं है ॥ ५५ ॥

जबतक आत्माका दर्शन नहीं होता तबतक अन्यपदार्थोंमें प्रीति होती है किन्तु जिससमय आत्माका दर्शन होजाता है उससमय बाह्यपदार्थोंमें प्रीति नहीं होती इसबातको आचार्यवर दिखाते हैं ॥

भावे मनोहरेऽपि च काचिन्नियता च जायते प्रीतिः।
अपि सर्वाः परमात्मनि दृष्टे तु स्वयं समाप्यन्ते ॥ ५६ ॥

अर्थः—अत्यंतमनोहरभी पदार्थमें कोई विचित्र तथा निश्चितप्रीति होजाती है किंतु जिससमय परमात्मा का दर्शन होजाता है उससमय उन अन्यपदार्थोंमें प्रीतिकी समाप्ति होजाती है।

भावार्थः—जबतक मनुष्य परमात्माको नहीं देखता तभीतक उसमनुष्यको बाह्यपदार्थ प्रीतिके करने वाले होते हैं अर्थात् वह बाह्यपदार्थोंको प्रिय मानता है किन्तु जिससमय उसको परमात्माका दर्शन हो जाता है उससमय वह बाह्यपदार्थोंको अंशमात्रभी प्रिय नहीं मानता अप्रियही मानता है ॥ ५६ ॥

बुद्धिमान् पुरुषोंके आत्माके साथ विद्यमानभी कर्मोंका सम्बंध अविद्यमान सरीखाही है इसबातको आचार्यवर दिखाते हैं

सन्नप्यसन्निव विदां जनसामान्योऽपि कर्मणो योगः।
तरणपटूनामृद्धः पथिकानामिव सरित्पूरः ॥ ५७ ॥

अर्थः—यद्यपि कर्मोंका संबंध सबप्राणियोंके समान है तोभी बुद्धिमानपुरुषके वह विद्यमानभी नहीं विद्यमानके समानही है जिसप्रकार तैरनेमें चतुररस्तागीरोंको बढ़ाहुवा नदीका प्रवाह।

भावार्थः—यद्यपि जिसप्रकार नदीका प्रवाह समस्तप्राणियोंको समान भयका करने वाला है तोभी जो रस्तागीर तैरनेमें चतुर हैं अर्थात् जिनको तैरना अच्छा आता है उनको वह भयका करनेवाला नहीं होता उसीप्रकार यद्यपि कर्मोंका संबंध सबजीवोंके समान है तोभी जो पुरुष बुद्धिमान हैं अर्थात् जिनको स्वपरका विवेक है उनपुरुषोंको आत्माके साथ विद्यमानभी कर्मोंका संबंध नहीं विद्यमानसाही है ॥ ५७ ॥

तत्वज्ञानियोंको हेय तथा उपादेयका अवश्य ध्यान रखनाचाहिये इसबातको आचार्यवर दिखाते हैं।

मृगयमाणेन सुचिरं रोहणभुवि रत्नमीप्सितं प्राप्य ।
हेयाहेयश्रुतिरपि विलोक्यते लब्धतत्वेन ॥ ५८ ॥

अर्थः—रोहणपर्वतकी भूमिमें चिरकालसे रत्नको ढूढ़नेवाला मनुष्य दैवयोगसे इष्टरत्नको पाकर जिस प्रकार यह तत्व हेय है अथवा उपादेय है इसबातका बिचार करता है उसीप्रकार जिसमनुष्यको वास्तविकतत्व की प्राप्ति होगई है उसको भी यह तत्व हेय है अथवा उपादेय है ऐसा बिचार करना चाहिये ।

भावार्थः—जिसप्रकार किसीमनुष्यको रत्नकी इच्छा हुई और उसी इच्छासे वह रोहणाचलकी भूमि में रत्न ढूढ़ने लगगया और उसको इष्टरत्नकी प्राप्तिभी होगई उससमय जिसप्रकार वह मनुष्य विचार करता है कि यह तत्व हेय है अथवा अहेय है अर्थात् छोड़ने योग्य है अथवा ग्रहणकरने योग्य है उसीप्रकार अनादि कालसे तत्वकी प्राप्तिके इच्छुक मनुष्यको यदि भाग्यवश तत्व मिलजावे तो उसको भी इसप्रकारका विचार करना चाहिये कि यह तत्व मुझे ग्रहण करने योग्य है कि छोड़ने योग्य है ॥ ५८ ॥

तत्वज्ञानीको इसरीतिसे विचारकरना चाहिये ।

कर्मकलितोपि मुक्तः सश्रीको दुर्गतोप्यहमतीव ।
तपसा दुःख्यपि च सुखी श्रीगुरुपादप्रसादेन ॥ ५९ ॥

अर्थः—यद्यपि ज्ञानावरण आदि कर्मोंसे मेरी आत्मा संयुक्त है तोभी मैं श्रीगुरुके चरणारविंदकी कृपासे सदा मुक्त हूं और यद्यपि मैं अत्यंत दरिद्री हूं तोभी मैं श्रीगुरूके चरणोंके प्रसादसे लक्ष्मीकर सहित हूं और यद्यपि मैं तपसे दुःखित हूं तोभी श्रीगुरूके चरणोंकी कृपासे मैं सदा सुखी ही हू अर्थात् मुझे किसी प्रकारका संसारमें दुःख नहीं है ॥ ५९ ॥

बोधादस्ति न किञ्चित्कार्यं यद्दृश्यते मलात्तन्मे ।
आकृष्टयंत्रसूत्राद्दारुनरः स्फुरति नटकानाम् ॥ ६० ॥

अर्थः—जो कुछ मेरे कार्य मोजूद है अर्थात् जो कुछ कार्य मैं कररहा हूं वह कर्मकी कृपासे कररहा हूं ज्ञानसे कुछ भी कार्य नहीं क्योंकि नटके खैंचेहुवे यंत्रके सूत्रसे ही पुतली नाचती है ।

भावार्थः—जिसप्रकार पुतलीके नृत्यमें नटद्वारा खींचा हुवा सूत्रही कारण है उसीप्रकार मेरे जो कार्य दृष्टि गोचर हो रहेहैं उनमें कर्मही कारण है अर्थात् कर्मकी कृपासे ही मुझमें कार्य दीख रहे है ज्ञानकी कृपासे नहीं॥६०॥

निश्चयपंचाशतपद्मनन्दिनं सूरिमाश्रिभिः कैश्चित् ।
शब्दैः स्वभक्तिसूचितवस्तुगुणैर्विरचितेयमिति ॥ ६१ ॥

अर्थः—श्रीपद्मनन्दी आचार्यको आश्रित तथा अपनी भक्तिसे प्रकटकिया है वस्तुका गुण जिन्होने ऐसे कैएक शब्दोंद्वारा इसनिश्चयपञ्चाशत्‌की रचनाकी गई है ।

भावार्थः—इसश्लोकसे आचार्यने अपनी लघुताका वर्णन किया है कि इसअनित्यपञ्चाशत्‌नामक अधिकारकी रचना मैंने नहीं की है किन्तु मुझको आश्रित कईएक वचनोंने की है ॥ ६१ ॥

तृणं नृपश्रीः किमु वच्मि तस्यां न कार्यमाखण्डलसम्पदोऽपि ।
तत्वं परं चेतसि चेन्ममास्ति अशेषवाञ्छाविलयैकरूपं ॥ ६२ ॥

अर्थः—समस्तप्रकारकी इच्छाओंको दूरकरनेवाला यदि चैतन्यरूपी तत्व मेरे मनमें मोजूद है तो राजलक्ष्मी तो तृणके समान है इसलिये मैं उसके विषयमें तो क्या हूं इन्द्रकी संपदा भी मेरे लिये किसी कामकी नहीं॥६२॥

इसप्रकार श्रीपद्मनंदि पंचविंशतिकामें अनित्य पंचाशत नामक अधिकार समाप्त हुवा ।

संयम न होवै तो ब्रह्मचर्यका नाश होता है ऐसा समझना चाहिये ॥ ४ ॥

चेतः संयमनं यथावदवनं मूलव्रतानां मतं शेषाणां च यथाबलं प्रभवतां बाह्यं मुनेर्ज्ञानिनः
तज्जन्यं पुनरांतरं समरसीभावेन चिच्चेतसो नित्यानंदविधायिकार्यजनकं सर्वत्र हेतुर्द्वयम् ॥५॥

अर्थः—ज्ञानीमुनिके यथाशक्ति होनेवाले जो मूलगुण तथा उत्तरगुण हैं उनको यथायोग्य जो रक्षण करना है वह तो बाह्य मनका संयम है तथा उसबाह्यमनके संयमसे उत्पन्न हुवा और सदा आनंदके करनेवाले कार्यको पैदाकरनेवाला "चैतन्य तथा मनके समरसीभावसे, जो मनका संयम होता है वह अंतरंगमनका संयम है तथा सबजगह यह दोनों प्रकारका संयम कारण है ॥ ५ ॥

समस्तस्त्रियोंके त्यागकरनेमें व्रतीको अत्यंत प्रयत्न करनाचाहिये इसबातको आचार्यवर दिखाते हैं ।

चेतोभ्रांतिकरी नरस्य मदिरापीतिर्यथा स्त्री तथा तत्संगेन कुतो मुनेर्व्रतविधिः स्तोकोऽपि सम्भाव्यते ।
तस्मात्संसृतिपातभीतमतिभिः प्राप्तैस्तपोभूमिकां कर्तव्यो व्रतिभिः समस्तयुवतित्यागे प्रयत्नो महान् ॥

अर्थः—जिसप्रकार मदिराकापान मनुष्यको भ्रांतिका करनेवाला होता है उसीप्रकार स्त्रीभी मनुष्यके चित्तको भ्रांतिकी करनेवाली होती है इसलिये उस स्त्रीकी संगतिसे मुनीके थोड़ेभी व्रतके विधानकी संभावना नहीं होसक्ती इसलिये आचार्य कहते हैं कि जिनमुनियोंकी मति संसारमें भ्रमणकरनेसे भयभीत है और जो मुनि तपकी भूमिकाको प्राप्तहोगये हैं उनको समस्तस्त्रियोंके त्यागमें बड़ाभारी प्रयत्न करनाचाहिये ।

भावार्थः—जिसप्रकार शराबको पीनेवाला मनुष्य बेहोश रहता है और वह कुछभी काम नहीं करसक्ता उसीप्रकार स्त्रीका लोलुपी पुरुषभी हिताहितसे शून्य तथा किंकर्तव्यता विमूढ़ रहता है इसलिये ऐसी निकृष्ट स्त्रीकी संगतिसे थोड़ासाभी व्रतका विधान नहीं होसक्ता अतः आचार्य उपदेश देते हैं कि जिनमुनियोंकी

बोधादस्ति न किञ्चित्कार्यं यदृदृश्यते मलात्तन्मे ।
आकृष्टयंत्रसूत्राद्दारुनरः स्फुरति नटकानाम् ॥ ६० ॥

अर्थः—जो कुछ मेरे कार्य मोजूद है अर्थात् जो कुछ कार्य मैं कररहा हू वह कर्मकी कृपासे कररहा हूं ज्ञानसे कुछ भी कार्य नहीं क्योंकि नटके खैंचेहुवे यंत्रके सूत्रसे ही पुतली नाचती है ।

भावार्थः—जिसप्रकार पुतलीके नृत्यमें नटद्वारा खींचा हुवा सूत्रही कारण है उसीप्रकार मेरे जो कार्य दृष्टि गोचर हो रहेहैं उनमें कर्मही कारण है अर्थात् कर्मकी कृपासे ही मुझमें कार्य दीख रहे है ज्ञानकी कृपासे नहीं॥६०॥

निश्चयपंचाशतपद्मनन्दिनं सूरिमाश्रिभिः कैश्चित् ।
शब्दैः स्वभक्तिसूचितवस्तुगुणैर्विरचितेयमिति ॥ ६१ ॥

अर्थः—श्रीपद्मनन्दी आचार्यको आश्रित तथा अपनी भक्तिसे प्रकटकिया है वस्तुका गुण जिन्होने ऐसे कैएक शब्दोंद्वारा इसनिश्चयपञ्चाशत्‌की रचनाकी गई है ।

भावार्थः—इसश्लोकसे आचार्यने अपनी लघुताका वर्णन किया है कि इसअनित्यपञ्चाशत्‌नामक अधिकारकी रचना मैंने नहीं की है किन्तु मुझको आश्रित कईएक वचनोंने की है ॥ ६१ ॥

तृणं नृपश्रीः किमु वच्मि तस्यां न कार्यमाखण्डलसम्पदोऽपि ।
तत्वं परं चेतसि चेन्ममास्ति अशेषवाञ्छाविलयैकरूपं ॥ ६२ ॥

अर्थः—समस्तप्रकारकी इच्छाओंको दूरकरनेवाला यदि चैतन्यरूपी तत्व मेरे मनमें मोजूद है तो राजलक्ष्मी तो तृणके समान है इसलिये मैं उसके विषयमें तो क्या हूं इन्द्रकी संपदा भी मेरे लिये किसी कामकी नहीं॥६२॥

इसप्रकार श्रीपद्मनंदि पंचविंशतिकामें अनित्य पंचाशत नामक अधिकार समाप्त हुवा ।

ब्रह्मचर्यरक्षावर्त्यधिकारः ।

शार्दूलविक्रीडित ।

भ्रूक्षेपेण जयंति ये रिपुकुलं लोकाधिपाः केचन द्राक्तेषामपि येन वक्षसि दृढं रोपः समारोपितः ।
सोऽपि प्रोद्धतविक्रमस्मरभटः शान्तात्मभिर्लीलया यैः शस्त्रग्रहवर्जितैरपि जितः स्तेभ्यो यतिभ्यो नमः ॥ ॥३३४॥

अर्थः—संसारमें कई एक ऐसेभी राजा हैं जोकि अपनी भ्रुकुटीके विक्षेपमात्रसे ही वैरियोंके समूहको जीत लेते हैं उन राजाओंके भी हृदयमें शीघ्रही जिस कामदेवरूपी योधानें दृढ़तासे वाणको समारोपित कर दिया है ऐसे अत्यंत पराक्रमी भी उस कामदेवरूपीसुभटको समस्तप्रकारके शास्त्रोंकररहित तथा जिनकी आत्मा क्रोधादिकषायोंके नाशहोनेसे शांत होगई हैं ऐसे यतियोंने बातकीबातमें जीतलिया हैं उन यतियोंके लिये नमस्कार है अर्थात् वे यतीश्वर मेरी रक्षा करैं ।

भावार्थः—जिन राजाओंकी भौं टेढ़ीहोनेपर ही प्रवलभी शत्रुओंका समूह बातकीबातमें वश हो जाता हैं उन महापराक्रमी राजाओंके हृदयमें भी जिस कामदेवरूपी सुभटने अपना वाण समारोपित करदिया है अर्थात् उसने ऐसे पराक्रमी राजाओं के ऊपर भी अपना प्रभाव जमा रक्खा है उसमहापराक्रमी भी कामदेवरूपी सुभटको विनाही हथियारके जिन शांतात्मामुनियोंने बातकीबातमें जीतलिया आचार्य कहते हैं कि उनमुनियोंकेलिये मैं मस्तकझुकाकर नमस्कार करताहूं ॥ १ ॥

ब्रह्मचारी कौन होसक्ता है इसबातको आचार्यवर दिखाते हैं ।

आत्मा ब्रह्मविविक्तबोधनिलयो यत्तत्र चर्यं परं स्वांगासंगविवर्जितैकमनसस्तद्ब्रह्मचर्यं मुनेः । ॥३३५॥
एवं सत्यवलाः स्वमातृभगिनीपुत्रीसमाः प्रेक्षते वृद्धाद्या विजितेन्द्रियो यदि तदा स ब्रह्मचारी भवेत्

अर्थः—अपने शरीरमें जो आसक्तता उसकर रहित है एकमन जिसका अर्थात् जिसमुनीके मनमें शरीरविषयक कुछभी आसक्तता नहीं है ऐसे मुनीकी जो समस्तपदार्थोंसे भिन्न तथा ज्ञानस्वरूप आत्मा है वही ब्रह्म है और उसब्रह्ममें जो चर्या है अर्थात् एकाग्रता है वही ब्रह्मचर्य है और ऐसे होनेपर जो वृद्ध आदिक स्त्रियां हैं उनको अपनी माता, वहिन, लड़कीके समान देखता है उससमय वह ब्रह्मचारी होता है ॥

भावार्थः—समस्तपदार्थोंसे भिन्न और ज्ञानका स्थान अर्थात् ज्ञानस्वरूप जो आत्मा है वह तो ब्रह्म है और उसब्रह्ममें जो शरीरविषयकममताकररहितमुनीके मनकी एकाग्रता है वह अतरंग ब्रह्मचर्य है और बाह्यमें जो वृद्धस्त्रीको माताके समान समझता है तथा बरावरकी स्त्रीको वहिनके समान तथा छोटीस्त्रीको पुत्रीके समान समझता है उसपुरुषका वह बाह्यब्रह्मचर्य है और जो इन दोनोंप्रकारके ब्रह्मचर्यका पालन करनेवाला है वह (वशी) ब्रह्मचारी होता है ॥२॥

अब आचार्य इसबात को दिखाते हैं कि यदि शयन आदि अवस्थामें मुनिको अतीचारलगे तो वे प्रायश्चित करते हैं

स्वप्ने स्यादतिचारिता यदि तदा तत्रापि शास्त्रोदितप्रायश्चितविधिं करोति रजनीभागानुमत्या मुनिः
रागोद्रेकतया दुराशयतया सा गौरवात्कर्मणस्तस्य स्याद्यदि जाग्रतोपि हि पुनस्तस्यां महच्छोधनम् ॥

अर्थः—यदि किसीकारणसे स्वप्नमें मुनिको अतीचार लगजावे तो मुनि रात्रिका विभागकर शास्त्रमें कहेहुवे प्रायश्चित्तको करते हैं और यदि जाग्रतअवस्थामें रागके उद्रेकसे अथवा खोटेआशयसे वा कर्मकी गुरुतासे यदि मुनिको अतीचार लगजावे तो उस अतीचारितामें वे वड़ाभारी संशोधन करते हैं ॥

भावार्थः—यदि मुनीश्वरोंको सोतेसमय रात्रिमें अतीचार लगै तो वे रात्रिका विभागकर प्रायश्चित

करते हैं और यदि जाग्रतअवस्थामें रागकी अधिकतासे वा खोटे आशयसे अथवा कर्मके गौरवसे अतीचार लगे तो मुनि उसका बड़ाभारी संशोधन करते हैं ॥ ३ ॥

साधुके दृढ़मनका संयम जो है वही ब्रह्मचर्यकी रक्षाकरता है इसबातको आचार्य दिखाते हैं।

नित्यं खादति हस्तिसूकरपलं सिंहोवली तद्रातिर्वर्षेणैकादिने शिलाकणचरे पारावते सा सदा ।
न ब्रह्मव्रतमेति नाशमथवा स्यान्नैव भुक्तेर्गुणात्तद्रक्षां दृढ एक एव कुरुते साधोर्मनःसंयमः ॥४॥

अर्थः—भोजनके गुणसे अर्थात् भोजनके करनसे ब्रह्मचर्यव्रत नष्ट होता है तथा भोजनके न करनसे ब्रह्मचर्यव्रत पलता है यह बात नहीं है क्योंकि अत्यंत बलवान सिंह सदा हाथी तथा सूहरके मासकों खाता है किंतु वर्षमें वह एकहींसमय रतिको करता है तथा कबूतर सदा पत्थरके टुकड़े खाता है तोभी वह सदा रति करता रहता है किंतु ब्रह्मचर्यका पालन (रक्षा) एकमात्र साधुका दृढ़ जो मनका संयम है वही करता है।

भावार्थः—वहुतसे मनुष्य ऐसा समझते हैं कि पुष्टभोजनकरनेसे ब्रह्मचर्य नहीं पलता है और पुष्ट भोजनके न करनेसे ब्रह्मचर्य पलता है सो यहबात नहीं क्योंकि यदि पुष्टभोजन करनेसेहीं कामकी अतितीव्रता होती तो सिंहको भी अधिक कामी होना चाहिये क्योकि वहभी तो दिनरात हाथी तथा सूहरके अत्यंत पुष्ट मांसको खाता है किंतु वह रति वर्षमें एकही दिवस करता है तथा यदि पुष्ट भोजनके न करनेसे ही काम अधिक नहीं सताता है तो कबूतर जोकि रातादिन रूखे पत्थरके टुकड़ोंको खाता, है उसै कामको अधिक नहीं सताना चाहिये किंतु देखनमें आता है कि कबूतर बड़ा कामी होता है तथा सदा रति करता रहता है इसलिये पुष्टभोजनकरनेसे ब्रह्मचर्यका नाश होता है तथा पुष्टभोजनके न करने से ब्रह्मचर्यका पालन होता है यह बात नहीं किंतु ब्रह्मचर्यकी रक्षाका कारण एकमात्र साधुका दृढ़मनका संयमही है और दृढ़मनका

संयम न होवे तो ब्रह्मचर्यका नाश होता है ऐसा समझना चाहिये ॥ ४ ॥

चेतः संयमनं यथावदवनं मूलव्रतानां मतं शेषाणां च यथाबलं प्रभवतां बाह्यं मुनेर्ज्ञानिनः
तज्जन्यं पुनरांतरं समरसीभावेन चिच्चेतसो नित्यानंदविधायिकार्यजनकं सर्वत्र हेतुर्द्वयम् ॥५॥

अर्थः—ज्ञानीमुनिके यथाशक्ति होनेवाले जो मूलगुण तथा उत्तरगुण हैं उनको यथायोग्य जो रक्षण करना है वह तो बाह्य मनका संयम है तथा उसबाह्यमनके संयमसे उत्पन्न हुवा और सदा आनंदके करनेवाले कार्यको पैदाकरनेवाला "चैतन्य तथा मनके समरसीभावसे, जो मनका संयम होता है वह अंतरंगमनका संयम है तथा सबजगह यह दोनों प्रकारका संयम कारण है ॥ ५ ॥

समस्तस्त्रियोंके त्यागकरनेमें व्रतीको अत्यंत प्रयत्न करनाचाहिये इसबातको आचार्यवर दिखाते हैं।

चेतोभ्रांतिकरी नरस्य मदिरापीतिर्यथा स्त्री तथा तत्संगेन कुतो मुनेर्व्रतविधिः स्तोकोऽपि सम्भाव्यते।
तस्मात्संसृतिपातभीतमतिभिः प्राप्तैस्तपोभूमिकां कर्तव्यो व्रतिभिः समस्तयुवतित्यागे प्रयत्नो महान् ॥

अर्थः—जिसप्रकार मदिराकापान मनुष्यको भ्रांतिका करनेवाला होता है उसीप्रकार स्त्रीभी मनुष्यके चित्तको भ्रांतिकी करनेवाली होती है इसलिये उस स्त्रीकी संगतिसे मुनीके थोड़ेभी व्रतके विधानकी संभावना नहीं होसक्ती इसलिये आचार्य कहते हैं कि जिनमुनियोंकी मति संसारमें भ्रमणकरनेसे भयभीत है और जो मुनि तपकी भूमिकाको प्राप्तहोगये हैं उनको समस्तस्त्रियोंके त्यागमें वड़ाभारी प्रयत्न करनाचाहिये।

भावार्थः—जिसप्रकार शराबको पीनेवाला मनुष्य बेहोश रहता है और वह कुछभी काम नहीं करसक्ता उसीप्रकार स्त्रीका लोलुपी पुरुषभी हिताहितसे शून्य तथा किंकर्तव्यता विमूढ़ रहता है इसलिये ऐसी निकृष्ट स्त्रीकी संगतिसे थोड़ासाभी व्रतका विधान नहीं होसक्ता अतः आचार्य उपदेश देते हैं कि जिनमुनियोंकी

बुद्धि संसारके भ्रमणसे अत्यंत भयभीत है और जो तपकी भूमिका को प्राप्त होगये हैं उनमुनियोंको चाहिये कि वे समस्तप्रकारकी स्त्रियोंके त्यागमें बड़ा प्रयत्न करैं ॥ ६ ॥

औरभी आचर्यवर स्त्रीके त्यागकी दृढ़ता को बतलाते हैं—

मुक्तेर्द्वारि दृढार्गला भवतरोः सेकेंगंना सारिणी मोहव्याधविनिर्मिता नरमृगस्याबंधने वागुरा ।
यत्संगेन सतामपि प्रसरति प्राणादिपातादि तत्तद्वार्तापि यतेर्यातित्वहतये कुर्यान्न किं सा पुनः ॥७॥

अर्थः—यहस्त्री मुक्तिके द्वारके रोकनेकेलिये मजबूत अर्गला है और संसाररुपीवृक्षके सींचनेकेलिये नाली है तथा मनुष्यरूपी मृगोंके बांधनेकेलिये मोहरूपीव्याधद्वारा बनाया हुवा जाल है क्योंकि जिस स्त्रीके संगसे सज्जनोंका भी जीवन नष्ट होजाता है और जिसस्त्रीकी बातभी मुनियोंके मुनिपनेके नाशके लिये होती है वह स्त्री संसारमें और क्या २ नहीं करसक्ती ? अर्थात् समस्तप्रकारके अनिष्टोंको करसक्ती है ॥

भावार्थः—स्त्रीको अर्गलाकी उपमा इसलिये दी गई है कि जिससमय किवाड़ लगाकर अर्गला लगादी जाती है उससमय जिसप्रकार उसदरवाजेके भीतर कोईभी प्रवेश नहीं करसकता उसीप्रकार जो मनुष्य स्त्रीके लोलपी हैं अर्थात् स्त्रीके फंदेमें फसे हुवे हैं उनको मोक्षकी प्राप्ति कदापि नहीं होसकती । और स्त्रीको नाली की उपमा इसलिये दी गई है कि जिसप्रकार नालीद्वारा सींचनेसे वृक्ष दिन प्रतिदिन वढ़ता चलाजाता है उसीप्रकार स्त्रीलपटियोंकेलिये संसारभी बढ़ता चलाजाता है अर्थात् उनको निरंतर संसारमें भ्रमण करना पड़ता है और स्त्रीको जालकी उपमा इसलिये दी गई है कि जिसप्रकार जालमें फसकर जीव दुःख पाते हैं उसी प्रकार स्त्रीमें आसक्त होनेसे जीवोंको नानाप्रकारके दुःखोंका सामना करना पड़ता है इसलिये ऐसी स्त्री संसारमें समस्त अनिष्टोंके करनेवाली है क्योंकि जिस स्त्रीके संगसे सज्जनोंका भी जीवन नष्ट होजाता है तथा

यतियोंके यतिपनेका भी नाम निशान उड़जाता है ॥ ७ ॥

और भी आचर्यवर स्त्रीके विषयमें उपदेश देते हैं—

तावत्पूज्यपदस्थितिः परिलसत्तावद्यशो जृंभते तावच्छुभ्रतरा गुणाः शुचिमनस्तावत्तपो निर्मलम्।
तावद्धर्मकथापि राजति यतेस्तावत्स दृश्यो भवेत् यावन्न स्मरकारि हारि युवते रागान्मुखं वीक्षते॥

अर्थः—जबतक यति, प्रीतिसे कामके उद्दीपनकरनेवाले तथा मनोहर स्त्रीके मुखको नहीं देखता तभीतक वह यति पूज्यपदमें अर्थात् उत्तमपदमें स्थित रहता है और तभीतक उसयतीका शोभायमान यश वृद्धिको प्राप्त होता रहता है तथा तभीतक उसके गुण निष्कलंक रहते हैं और तभीतक उसयतीश्वरका मन पवित्र बना रहता है तथा उसीसमयतक उसका निर्मल तप रहता है तथा उसीसमयतक उसकी धर्मकथा शोभित रहती है और तभीतक वह देखने योग्य बनारहता है किंतु स्त्रीके मुखदेखतेही ये कोई बातें नहीं रहतीं इसलिये यतियोंको स्त्रीका मुख कदापि नहीं देखना चाहिये ॥ ८ ॥

मुनीश्वरोंको स्त्रीका सर्वथा त्यागकरदेना चाहिये इसबातको आचार्यवर बताते हैं—

तेजोहानिमपूततां व्रतहतिं पापं प्रपातं पथो मुक्तेरागितयांगनास्मृतिरपि क्लेशं करोति ध्रुवं।
तत्सानिध्यविलोकनप्रतिवचःस्पर्शादयः कुर्वते किं नानर्थपरंपरामिति यतेस्त्याज्यावला दूरतः॥९॥

अर्थः—जिसस्त्रीका रागसहितपनेसे स्मरणभी तेजकी हानिको करता है तथा अपवित्रताको करता है और व्रतोंके नाशको करता है तथा पापकी उत्पत्ति करता है और मोक्षके मार्गसे मनुष्योंको गिराता है और निश्चयसे नानाप्रकारके क्लेशोंको करता है तब उसस्त्रीके समीपमें रहना तथा उसका देखना और उसके साथ वचनालाप, और उसके स्पर्श, आदिक किस २ अनर्थको नहीं करते ? अर्थात् सबही अनर्थोंको करते हैं इस

लिये ऐसी स्त्री यतियोंको दूरसे ही त्यागने योग्य है ।

भावार्थः—जब स्त्रीका न कुछ स्मरणही तेजका नाशकरता है और पवित्रता नहीं होने देता तथा समस्तप्रकारके व्रतोंको जड़से उड़ाता है और मोक्षमार्गसे भ्रष्ट करता है और नानाप्रकारके दुःखोंको देता है तब उसके पास रहना उसका देखना उसके साथ बार्तालाप करना और स्पर्श आदिकरना किस २ अनर्थको न करेगा ? इसलिये अपने हितके अभिलाषीयतीश्वरोंको चाहिये कि वे सर्वथा स्त्रीसे दूररहै ॥ ९ ॥

और भी आचार्यवर मुनीश्वरोंको उपदेश देते हैं—

वेश्या स्याद्धनतस्तदस्ति न यतेश्चेदस्ति सा स्यात्कुतो नात्माया युवतिर्यतित्वमभवत्तत्त्यागतो यत्पुरा ।
पुंसोऽन्यस्य च योषिता यदि रतिश्छिन्नो नृपात्तत्पतेः स्यादापज्जननद्वयक्षयकरी त्याज्यैव योषा यतेः ॥

आर्थः—यदि मुनि वेश्याके लोलुपी वनें तो वेश्या उनको मिल नहीं सकती क्योंकि वेश्या अधिक धन होनेपर ही प्राप्त होती है और वह धन यतीके पास है नहीं, यदि कदाचित् धनभी होवे तो वेश्या उनको मिल नहीं सकती और अपनी स्त्रीकीभी यतिको प्राप्ति नहीं हो सकती क्योंकि पहिले उसस्त्रीके त्यागसेही यतिपना हुवा है और यदि दूसरे पुरुषकी स्त्रीके साथ यति रतिकरैं तो वे राजासे छेदन आदिक दंडको प्राप्त होते हैं तथा उसस्त्रीके पतिके द्वाराभी वहुतसे कष्टोंको पाते हैं इसलिये यतियोंको दोनों जन्मोंकी नाशकरनेवाली स्त्री का सर्वथा त्यागकरदेना चाहिये ।

भावार्थः—यदि स्त्रीके साथमें प्रीतिकरनेसे कुछ सुखामिलता तबतो यतियोंको स्त्रीकेसाथ प्रीतिकरना अच्छा होता किन्तु स्त्रीके साथमें प्रीतिकरनेमें तो अंशमात्रभी सुख नहीं क्योंकि वेश्याके साथ प्रीति तो धन से होती है सो धन यतीके पास है नहीं, इसलिये उनको एकप्रकारका कष्टही है यदि कदाचित् उनके पास

धन होवेभी तो वेश्या उनको कहांसे मिलसकती है यदि कहो अपनी युवतिके साथ रति करैं सो अपनी स्त्री भी यतिको नहीं मिलसकती क्योंकि पहिले उसस्त्रीके त्यागसेही यति हुवे हैं इसलियेभी दुःखही है यदि कहो कि परस्त्रीके साथ ही रति करैं सोभी नहीं बनसकता क्योंकि परस्त्रीसेवियोंको राजा, छेदनभेदन आदि दंड देता है तथा उसस्त्रीका पति भी नानाप्रकारके ताड़न आदि दुःख देता है और स्त्री दोनों जन्मोंके नाशकरने वाली होती है इसलिये ऐसी स्त्रीका मुनिको सर्वथा त्याग करदेना चाहिये ॥ १० ॥

आचार्य ब्रह्मचर्यकी महिमाका वर्णन करते हैं—

दारा एव गृहं नचेष्टकचितं तत्तैर्गृहस्थो भवेत्तत्त्यागे यतिरादधाति नियतं सद्ब्रह्मचर्यं[1] परम्।
वैकल्यं किल तत्र चेत्तदपरं सर्वं विनष्टं व्रतं पुंसस्तेन विना तदा तदुभयभ्रष्टत्वमापद्यते ॥ ११ ॥

अर्थः—स्त्रीका नामही घरहै किंतु ईंटोंसे व्याप्त घर नहीं कहलाता इसलिये उन स्त्रियोंसे ही मनुष्य गृहस्थ होता है और उसस्त्रीके सर्वथा त्यागसे ही यति उत्कृष्ट तथा श्रेष्ठ ब्रह्मचर्यको निश्चयसे धारण करतेहैं यदि उसब्रह्मचर्यमें किसीकारणसे विकलताहो जावे तो दूसरे २ समस्त व्रत नष्ट हो जाते हैं और उससमय उसब्रह्मचर्यके विना यतिके व्रतीपना तथा गृहस्थपना दोनों नष्ट हो जाते हैं।

भावार्थः—स्त्रीके ग्रहणसे तो मनुष्य गृहस्थ कहाजाता है और स्त्रीके त्यागसे यति, वास्तविकरीतिसे ब्रह्मचर्यका पालनकरते हैं यदि ब्रह्मचर्यमें किसीप्रकारकी विकलता (हीनता) हो जावे तो और दूसरे २ भी समस्तव्रत नष्ट हो जाते हैं और ब्रह्मचर्यमें विकलताके आजानेके कारण न तो वास्तविकरीतिसे व्रतीपनाही

१ सद्ब्रह्मचर्यम् यहभी क, पुस्तकमें पाठ है।

रहता है और न गृहस्थपनाही रहताहै इसलिये यतियोंको चाहिये कि वे ब्रह्मचर्यके धारण करनेपर उसका अच्छी तरह पालन करैं और यदि ब्रह्मचर्य भलीभांति पालन न करसके तो वे गृहस्थही वने रहे जिससे उन का गृहस्थपनातो उत्तम बना रहै नहीं तो दोनोंही गृहस्थपना तथा व्रतीपना उनके नष्ट हो जावेंगे ॥ ११ ॥

और भी आचार्यवर मुनियोंको उपदेश देते हैं ।

सम्पद्येत दिनद्वयं यदि सुखं नो भोजनादेस्तदा स्त्रीणामप्यतिरूपगर्विंतधियामंगं शवांगायते ।
लावण्याद्यपि तत्र चंचलमिति श्लिष्टं च तत्तद्गतां दृष्ट्वा कुंकुमकज्जलादिरचनां मा गच्छ मोहं मुने॥१२॥

अर्थः—रूपसे अत्यंत घमंडयुक्त है बुद्धि जिन्होंकी ऐसी स्त्रियोंको यदि दोदिन भी भोजनादिसे सुख न मिले अर्थात् यदि वे दोदिन भी नहीं खांय तो उनका शरीर मुर्देके शरीरके समान मालूम पड़ता है और उनस्त्रियोंके शरीरमें मौजूद जो लावण्य है वह भी चंचल है अर्थात् क्षणभर में विनाशीक है इसलिये हे मुनि-यो उनस्त्रियोंके शरीरमें केसर, काजल, आदिकी रचनाको देखकर मोहित मत हो ॥

भावार्थः—यदि स्त्रियोंका शरीर नित्य तथा सुंदर, बना रहता और उनके शरीरका लावण्य चंचल न होता तबतो हे मुनियों तुमको उनके शरीरमें केसर तथा काजल आदिकी रचनाको देखकर मुग्ध होना था लेकिन उनका शरीर तो ऐसा है कि यदि वें दोदिनभी भोजन न करैं तो वह मुर्देके शरीरके समान फीका पड़जाता है और उनमैं जो कुछ लावण्य दृष्टि गोचर होता है वह भी पलभर में नष्ट होजाताहै इसलिये ऐसी निस्सार स्त्रीमैं कदापि तुमको मोह नहीं करना चाहिये ॥ १२ ॥

स्त्रीके शरीरकी शोभा क्षणभंगुर है इसबातको आचार्य दिखाते हैं—

तद्गतां, यहभी ख पुस्त में पाठ हैं—

रम्भास्तम्भमृणालहेमशशभृन्नीलोत्पलाद्यैः पुरा यस्य स्त्रीवपुषः पुरः परिगतैः प्राप्ता प्रतिष्ठा न हि ।
तत्पर्यंतदशां गतं विधिवशात्क्षिप्तं क्षतं पक्षिभिर्भीतैश्छादितनासिकैः पितृवने दृष्टं लघु त्यज्यते ॥१३॥

अर्थः—जिस स्त्रीके शरीरके आगे प्राप्त ऐसे केलोंका स्तंभ, कमलका तंतु, वरफ, चंद्रमा, और नीलकमल आदिकोने भी पहिले प्रतिष्ठा नहीं पाईथी वही स्त्रीका शरीर जिससमय मृतशरीर वनजाता है और जब वह श्मसान भूमिमें फैंकदियाजाता है और जिससमय पक्षी उसके टुकड़े २ कर देते है उससमय वह देखा हुआ शरीर, भयभीत तथा जिनकी नाक ढकी हुई हैं ऐसे मनुष्योंके द्वारा शीघ्र ही छोड़ दिया जाता है ॥ १३ ॥

भावार्थः—जबतक स्त्रीका शरीर जीवितशरीर रहता है तबतकतो इतना मनोहर रहता है कि केलोंका स्तंभभी उसके सामने कोई चीज नहीं, और न कमल तंतुही कोई चीज है तथा शीतल इतना होता है कि वरफ चंद्रमा तथा नीलकमलकीभी शीतलता उसके सामने कोई चीज नहीं। किंतु वही शरीर जब मृतशरीर वन जाता है उससमय वह श्मसानभूमिमें फेंक दिया जाता है और पक्षिगण उसके टुकड़े २ उड़ा देते हैं और मनुष्य उसको भयभीत होकर तथा नाक ढककर देखते है और शीघ्रही छोड़देते हैं इसलिये ऐसे अपवित्र तथा अनित्यशरीरमें मुनियोंको कभी भी रागनहीं करना चाहिये ॥ १३ ॥

और भी इसीविषयमें आचार्य कहते हैं—

अंगं यद्यपि योषितां प्रविलसत्तारुण्यलावण्यवद्भूषावत्तदपि प्रमोदजनकं मूढात्मनां नो सताम् ।
उच्छूनैर्बहुभिः शवैरातितरां कीर्णं श्मसानस्थलं लब्ध्वा तुष्यति कृष्णकाकनिकरो नो राजहंसव्रजः ॥१४॥

अर्थः—यद्यपि स्त्रियोंका शरीर मनोहर यौवनअवस्था तथा लावण्यकर सहितभी है, और अनेक प्रकार के भूषणोंसे भूषितहै तोभी वह मूढबुद्धिपुरुषोंको ही आनंदका देनेवाला है किंतु सज्जनपुरुषोंको आनंदका

देनेवाला नहीं जिसप्रकार सड़े हुवे अनेक मुर्दोंसे व्याप्त श्मसानभूमिको प्राप्त होकर काले काकोंका समूहही संतुष्ट होताहै राजहंसोंका समूह संतुष्ट नहीं होता ॥

भावार्थः—जिसप्रकार सड़ेहुवे मुर्दोंसे व्याप्त श्मसानभूमिको प्राप्त होकर कौवा संतुष्ट होता है और राजहस संतुष्ट नहीं होता उसीप्रकार यद्यपि स्त्रीका शरीर उत्तम यौवन तथा लावण्यकर सहितभी है और नानाप्रकारके भूषणोंसे भी सहित है तोभी उसको मूर्खलोगही हर्षका करनेवाला मानते है विद्वानलोग हर्षका करनेवाला कदापि नहीं मानते ॥ १४ ॥

स्त्रीका शरीर अपावित्र है इसलिये विद्वानलोग उसमें राग नहीं करते इसबातको आचार्यवर दिखाते हैं ।

यूकाधाम कचाः कपालमजिनाच्छन्नं मुखं योषितां तच्छिद्रे नयने कुचौ पलभरौ वाहूतते कीकसे ।
तुंदं मूत्रमलादिसद्म जघनं प्रस्पान्दिवर्चोगृहं पादस्थूणमिदं किमत्र महतां रागाय संभाव्यते ॥१५॥

अर्थः—स्त्रियोंके वालतो जूंवाओंके स्थान हैं और मुख तथा कपाल चामकर वेष्टित हैं और दोनों नेत्र उसके छेद है तथा स्तन मांससे भेरे हुवे हैं और दोनों भुजा विस्तृत हाड्डियां है और स्त्रियोंका पेट मूत्र तथा मलका घर है और जघन वहती हुई विष्टाके घर हैं और स्त्रियोंके चरण स्थूणके समानहै इसलिये नहीं मालूम सज्जनोंको स्त्रियोंकी कोनसी चीज रागकेलिये होती है ।

भावार्थः—यदि स्त्रीकी कोई भी चीज पवित्र तथा सुंदर होती तो स्त्रीमें विद्वान पुरुषोंके रागकी संभावना हो सक्ती थी किंतु स्त्रीकी तो कोई चीज पवित्र तथा सुंदर नहीं क्योंकि उनके वालोंमें तो असंख्याते जूवां लीख आदि जीव भरे हुवे हैं और मुख तथा कपाल चर्मकर वेष्ठित हैं तथा दोनों नेत्र छिद्र है और स्तन मांसके पिंड

१ क पुस्तकमें अजिनाच्छादि यहभी पाठ है ।

है और भुजा लंबी २ हाड्डियां है और पेट मल मूत्रका पिटारा है और जघन वहती हुई विष्टाके घरहैं और चरण थूड़ीके समानहै इसलिये ऐसे अपवित्र स्त्रीके शरीरमें उत्तमपुरुषोंको कदापि मोह नहीं करना चाहिये॥१५॥

और भी आचार्यवर स्त्रीकी अपवित्रताको दिखाते हैं—

कार्याकार्यविचारशून्यमनसो लोकस्य किं ब्रूमहे यो रागांधतयादरेण वनितावक्रास्यलालां पिबेत् ।
श्लाघ्यास्ते कवयः शशांकवदिति प्रव्यक्तवाग्डंबरैश्चर्मानद्धकपालमेतदपि यैरग्रे सतां वर्ण्यते ॥ १६ ॥

अर्थः—रागसे अंधाहोकर जो लोक बड़े आदरसे स्त्रीके मुखकी लारका पान करता है ग्रंथकार कहते हैं कि कार्य तथा अकार्यके विचारसे रहित है मन जिसका ऐसे उसलोकके विषयमें हम क्या कहे ? और वे कविभी सराहना करने योग्य है कि जो कवि सज्जनोंके सामने चामसे ढकाहुवा है कपाल जिसका ऐसेभी स्त्रीके मुखको, अपने प्रबलबाणीके आडंबरसे चंद्रमाके समान कहते हैं ।

भावार्थ—विनाही उपदेशके समस्तजीव स्त्रीके सेवकवनेहुवे हैं और रातादिन बड़े आदरसे उनकी लारका पान करते है किन्तु कविलोग चामसे ढकेहुए भी स्त्रीके मुखको चंद्रमाकी उपमा देकर और उनको चंद्रवदनी कहकर और भी जीवोंको भ्रांत करते हैं यह बड़ीभारी भूल है इसलिये ऐसी निकृष्ट तथा अपवित्र स्त्रीकी प्रशंसा करनेवाले वे कवि कुकवि हैं ऐसा समझना चाहिये ॥ १६ ॥

आचार्यवर कवियोंकी निंदा करते हैं—

एष स्त्रीविषये विनापि हि परप्रोक्तोपदेशं भृशं रागांधो मदनोदयादनुचितं किं किं न कुर्याज्जनः ।
अप्येतत्परमार्थबोधविकलः प्रौढं करोति स्फुरच्छृंगारं प्रविधाय काव्यमसकृल्लोकस्य कश्चित्कविः ॥१७॥

अर्थः—रागसे अंध यह लोक परके दियेहुवे उपदेशके विनाही कामके उदयसे अर्थात् कामीहोकर क्या

२ अनुचित काम नहीं करता है अर्थात् सबही अनुचित काम को करता है इतनेपरभी जिसको अंशमात्रभी परमार्थका ज्ञान नहीं ऐसा कोई कवि जिसमें भलीभांति शृंगारका वर्णन कियागया है ऐसे काव्यको वनाकर और भी निरंतर लोगोंको चतुर (स्त्रियोंके सेवनमें प्रौढ़) करता रहता है।

भावार्थः—यह नीतिकारका सिद्धांत है कि जो पदार्थ त्यागने योग्य होता है उसमें मनुष्यकी बुद्धि विना उपदेशके प्रवेशकर जाती है, उपादेय पदार्थके ग्रहणकरनेमें उतनी जल्दी बुद्धि प्रवेश नहीं करती इसलिये जो पुरुष रागांध है उनकी एकतो विना उपदेशके ही स्त्रीके विषयमें बुद्धि प्रवृत्त होजाती है और जब उनकी बुद्धि स्त्री विषयमें फसजाती है तब वे अनेकप्रकारके अनुचित कामकर बैठते हैं। ऐसे होनेपर भी कविलोग अपनेको दयालु समझकर और भी उनकोलिये शृंगारविशिष्ट काव्योंको वनाकर उनको स्त्रीविषयमें चतुर वनादेते हैं इसलिये ऐसे कवियोंको उत्तम कवि न समझकर कुकवि हीं समझना चाहिये ॥ १७ ॥

अब आचार्यवर इसबातको बताते कि हैं जो मुनि स्त्री तथा धनका त्यागी है वह देवोंका देव है और सबोंका मानने योग्य है——

दारार्थादिपरिग्रहः कृतगृहव्यापारसारोऽपि सन् देवः सोऽपि गृही नरः परधनस्त्रीनिस्पृहः सर्वदा।
यस्य स्त्री नतु सर्वथा नच धनं रत्नत्रयालंकृतो देवानामपि देव एव स मुनिः केनात्र नो मन्यते ॥

अर्थः—जिसपुरुषके स्त्रीका परिग्रह मौजूद है और धनका परिग्रह मौजूद है तथा जिसने समस्त गृहसंबंधी व्यापारको करलिया है ऐसा गृहस्थ भी मनुष्य, यदि परधन तथा परस्त्रीमें निस्पृह है तो वहभी जव देव कहाजाता है तब जिसमुनिके न तो स्त्री है और न सर्वथा धनही है और जो सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र स्वरूप रत्नत्रयसे शोभित है वहतो देवोंकाभी देवहै ही। और उसमुनिकी सबही प्रातिष्ठा करते हैं।

भावार्थः—चाहै उस मनुष्यके स्त्री तथा धन हो और चाहे उसने समस्तघरके काम किये हुवे हों यदि वह परधन तथा परस्त्रीमें इच्छा रहित है वह भी जब देव कहलाता है तब जो सर्वथा स्त्रीका त्यागी है और सर्वथा धनका त्यागी है अर्थात् जिसके पास कणमात्रभी धन नहीं है और सम्यग्दर्शनादिरत्नत्रयसे विभूषित है तो वह क्यों नहीं देवोंका देव होगा और वह क्यों नहीं सज्जनोंके आदरका पात्र होगा ? अवश्यही होगा इसलिये मुनियोंको चाहिये कि वे स्त्री तथा धनमें सर्वथा इच्छाका त्याग करदेवें ॥ १८ ॥

कामिन्यादि विनात्र दुःखहतये स्वीकुर्वते तच्च ये लोकास्तत्र सुखं पराश्रिततया तद्दुःखमेव ध्रुवम् ।
हित्वा तद्विषयोत्थमंतविरसं स्तोकं यदाध्यात्मिकं तत्तत्वैकदृशां सुखं निरुपमं नित्यं निजं नीरजम् ॥

अर्थः—स्त्री आदिके विना संसारमें दुःख होता है यह समझकर लोग दुःखके दूरकरनेकेलिये स्त्री आदिका स्वीकार करते हैं परंतु स्त्री आदिकमें जो सुख है सो पराधीनताके कारण दुःखही है इसलिये अंतमें विरस तथा थोड़ा जो विषयसे उत्पन्न सुख है उसको छोड़कर जो तत्त्वज्ञानियोंका आत्मसंबधी सुख है वही सुख उपमारहित तथा सदाकाल रहनेवाला और अपना तथा निर्दोष है ऐसा समझना चाहिये ॥

भावार्थः—जो अल्पज्ञानी दुःखके दूरकरनेकेलिये स्त्री भोजन आदिका स्वीकार करते हैं सो ठीक नहीं क्योंकि स्त्री भोजन आदिके स्वीकारसे दुःख दूर नहीं होता और न सुखही मिल सकता क्योंकि वह जो सुख है वह पराधीनताके कारण दुःखही है और वह विषयोत्थ सुख अंतमें विरस तथा थोड़ा है इसलिये ऐसे सुखको छोड़कर, तत्वज्ञानी पुरुष जो उपमारहित तथा नित्य और स्वीय तथा निर्दोष सुखका अनुभव करते हैं वास्तवमें वही सुख है ऐसा समझना चाहिये ॥ १९ ॥

अब आचार्य इसबातको वताते है कि जो पुण्यवान हैं वे भी यतीश्वरोंको नमस्कार करते हैं ।

सौभाग्यादिगुणप्रमोदसदनैः पुण्यैर्युतास्ते हृदि स्त्रीणां ये सुचिरं वसंति विलसत्तारुण्यपुण्याश्रियाम् ॥
ज्योतिर्बोधमयं तदंतरदृशा कायात्पृथक् पश्यतां येषां ता नतु जातु तेऽपि कृतिनस्तेभ्यो नमःकुर्वते ॥

अर्थः—वे मनुष्य सौभाग्य आदिगुण तथा आनंदके स्थानभूत जोपुण्य उनकर सहित हैं जोमनुष्य मनोहर जो यौवनअवस्था उससे पवित्र है शोभा जिनकी, ऐसी स्त्रियोंके मनमें चिरकालतक निवासकरते हैं और वे पुण्यवान पुरुष भी, जो मुनि अपनी प्रसिद्ध अंतर्दृष्टिसे सम्यग्ज्ञानमयतेजको शरीरसे जुदा देखने वाले हैं और जिनके पास स्त्री फटकनेतक भी नहीं पाती ऐसे मुनीश्वरोंको नमस्कार करते हैं ।

भावार्थः—यद्यपि संसारमें वे मनुष्य भी पुण्यात्मा तथा धन्य है जो यौवन अवस्थासे शोभायमान स्त्रियोंके हृदयमें चिरकालतक निवासकरते हैं अर्थात् जिनको स्त्रियां हृदयसे चाहती हैं किन्तु उनसे भी धन्य वे यतीश्वर हैं जोकि अपनी अंतर्दृष्टिसे सम्यग्ज्ञानमय ज्योतिको जुदाकर देखते हैं और जिनके पास स्त्रियां स्वप्नमेंभी नहीं फटकने पातीं तथा वे पुण्यात्मा और स्त्रियोंके प्रिय भी मनुष्य, जिनको मस्तक झुकाकर नमस्कार करते हैं॥२०॥

मनुष्यभवसे मोक्षकी प्राप्ति होती है इसलिये भव्यजीवोंको मनुष्यभव पाकर तपकरना चाहिये इसबातका आचार्य उपदेश देते हैं ।

दुष्प्रापं बहुदुःखराशिरशुचि स्तोकायुरल्पज्ञता ज्ञातप्रांतदिनः जराहतमतिः प्रायो नरत्वं भवे ॥
अस्मिन्नेव तपस्ततः शिवपदं तत्रैव साक्षात्सुखं सौख्यार्थीति विचिंत्य चेतसि तपः कुर्यान्नरो निर्मलम् ॥

अर्थः—जिसनरभवमें बहुत दुःखोंका समूह है और जिसमें अपवित्र तथा थोड़ी आयु है और जिसमें थोड़ा ज्ञानपना है तथा जिसमें अंतके दिनका निश्चय नहीं है "अर्थात् कब मरण होगा यहबात माळूम नहीं है" और जिसनरभवमें बुद्धि वृद्धावस्थाकर नष्ट है ऐसा इससंसारमें यह नरभव है किंतु तपकी प्राप्ति इसी

नरभवमें होती है और उसतपसे मोक्षपदकी प्राप्ति होती है तथा उसमोक्षपदमें साक्षात् सुखमिलता है इस-लिये ग्रंथकार कहते हैं कि ऐसा भलीभांति चित्तमें विचारकर जो मनुष्य उत्तमसुखकी प्राप्तिके अभिलाषी हैं उनको अवश्य ही निर्मलतप करना चाहिये ।

भावार्थः—यद्यपि इस नरभवमें बहुतसे दुःख है तथा अपवित्र और थोड़ी आयु है और थोड़ा ज्ञान है तथा इसनरभवमें मरणके दिनका भी निश्चय नहीं है जरासे बुद्धि भी नष्ट है तौभी तपकी प्राप्ति इस-नरभवमें ही होती है और उसतपसे मोक्षपदकी प्राप्ति होती है तथा मोक्षमें साक्षात् सुख मिलता है इसलिये ऐसा विचारकर और इस उत्तमनरभवको पाकर मनुष्य को निर्मलतप अवश्य करना चाहिये किन्तु व्यर्थ ही इसनरभवको व्यतीत नहीं करना चाहिये ॥ २१ ॥

उक्तेयं मुनिपद्मनंदिभिषजा द्वाभ्यां युतायाः शुभा सद्वृत्तौषधिविंशतेरुचितवागर्थाम्भसा वर्तिता ॥
निर्ग्रन्थैः परलोकदर्शनकृते प्रोद्यत्तपोवर्द्धकैश्चेतश्चक्षुरनंगरोगशमनी वर्तिः सदा सेव्यताम् ॥

अर्थः—श्रीपद्मनंदिनामक वैद्यद्वारा, उचित जो वचन और अर्थ वही हुआ जल उससे दो श्लोकों कर सहित तथा श्रेष्ठ छन्दरूपही हैं औषधि जिसमें ऐसी जो विंशति उससे "अर्थात् बाईस श्लोकोंसे" यहशुभ सलाई (ब्रह्मचर्यरक्षावर्ति) बनाई है इसलिये जो समस्तप्रकारके परिग्रहोंकर रहित निर्ग्रंथ हैं और उन्नत जो तप उससे वर्धमान है अर्थात् जो अत्यंत तपस्वी हैं उनको मनरूपी नेत्रमें स्थित जो कामरूपीरोग, उसको शांत करनेवाली यह सलाई परलोकके दर्शनकोलिये अवश्य ही सेवनीय है ।

भावार्थः—जिसप्रकार नेत्रका रोगी पुरुष नेत्रसे देखनेकेलिये किसी वैद्यद्वारा उत्तमजलसे बनाईहुई सलाईका सेवन करता है उसीप्रकार आचार्यवरपद्मनंदिनामकवैद्यने भी यह ब्रह्मचर्यरक्षावर्ति उत्तम वचन तथा

अर्थरूपजलसे २२ श्लोकोंमें बनाई है इसलिये जो मनुष्य समस्तप्रकारके परिग्रहोंसे रहित निर्ग्रंथ है और प्रबलतपस्वी तथा परलोकके देखनेके अभिलाषी हैं उनको अवश्य ही इस कामरूपीज्वरको शमन करनेवाली सलाई (ब्रह्मचर्यरक्षावर्ति) का सेवनकरना चाहिये अर्थात् उनको अवश्यही पूरीतौरसे ब्रह्मचर्यका रक्षणकरना चाहिये ॥२२॥

इसप्रकार श्रीपद्मनंदिआचार्यद्वारा रचित श्रीपद्मनंदिपंचविंशतिकामें ब्रह्मचर्यरक्षावर्तिनामक अधिकार समाप्तहुआ ।



ऋषभस्तोत्रप्रारंभः ।

गाथा ।

जय उसह णाहिणंदण तिहुवणणिलयेकदीव तित्थयर ।
जय सयलजीववच्छल णिम्मलगुणरयणणिहि णाह ॥

जय ऋषभ नाभिनंदन त्रिभुवननिलयैकदीप तीर्थंकर
जय सकलजीववत्सल निर्मलगुणरत्ननिधे नाथ ।

अर्थः—श्रीमान नाभिराजाकेपुत्र, तथा उर्ध्वलोक मध्यलोक और अधोलोकरूपी जो घर उसकेलिये दीपक, तथा धर्मतीर्थकी प्रवृत्तिकरनेवाले, हे ऋषभदेव भगवान तुम सदा इसलोकमें जयवंत रहो। तथा समस्तजीवों-पर वात्सल्यको धारणकरनेवाले, और निर्मल जो गुण वेही हुए रत्न उनके आकर (खजाना) ऐसे हे नाथ तुम सदा इसलोकमें जयवंत रहो ॥ १ ॥

सयलसुरासुरमणिमउडकिरणकब्बुरियपायपीठ तुमं
धण्णा पेच्छंति थुणंति जवंति झायंति जिणणाह ॥

॥३४९॥

सकलसुरासुरमणिमुकुटकिरणै. कर्वुरितपादपीठ
त्वां धन्याः प्रेक्षंते स्तुवंति जपंति ध्यायति जिमनाथ ।

अर्थः—समस्त जो सुर तथा असुर उनके जो चित्रविचित्र मणियोंकर सहित मुकुट, उनकी जो किरणें उनसे कर्वुरित अर्थात् चित्रविचित्र है सिंहासन जिनका ऐसे हे जिननाथ जो मनुष्य आपको देखते हैं और आपकी स्तुति करते हैं तथा आपका जप और ध्यान करते हैं वे मनुष्य धन्य हैं ।

भावार्थः—हे जिनेंद्र आपको वड़े २ सुर असुर भी आकर नमस्कार करते हैं इसलिये हरएक मनुष्यको आपके दर्शनका तथा आपकी स्तुतिका और आपके जप तथा ध्यानका सुलभरीतिसे अवसर नहीं मिलसकता किंतु जो मनुष्य ऐसे पुण्यवान हैं जिनको आपका दर्शनमिलता है और आपकी स्तुति तथा जप और ध्यानका भी अवसर मिलता है वे मनुष्य संसारमें धन्य हैं अर्थात् उनमनुष्योंको धन्यवाद है ॥ २ ॥

इसीश्लोकके तात्पर्यको लेकर कहींपर कहा भी है—

यःपुष्पैर्जिनमर्चति स्मितसुरस्त्रीलोचनैः सोर्च्यते यस्तं वंदाति एकशस्त्रिजगता सोऽहर्निशं वन्द्यते ॥
यस्तं स्तौति परत्र वृत्तदमनस्तोमेन संस्तूयते यस्तं ध्यायति वलृप्तकर्मनिधनः स ध्यायते योगिभिः ।

अर्थः—जो मनुष्य जिनेंद्रभगवानकी फूलोंसे पूजन करता है वह मनुष्य परभवमें मंदहास्यसहित ऐसी जो देवांगना उनके नेत्रोंसे पूजित होता है और जो मनुष्य एकबारभी जिनेंद्रको वंदता है वह मनुष्य रात दिन तीनों लोकमें वंदनीय होता है अर्थात् तीनोंलोक आकर उसकी वंदना करता है तथा जो मनुष्य एकबार भी जिनेंद्रभगवानकी स्तुति करता है परलोकमें बड़े २ इंद्र उसकी स्तुति करते हैं और जो मनुष्य एकबार भी जिनेंद्रभगवानका ध्यान करता है वह समस्तकर्मोंसे रहित होजाता है तथा बड़े २ योगीश्वर भी उसमनुष्यका ध्यान करते हैं इसलिये भव्यजीवोंको चाहिये कि वे भगवानकी पूजन तथा वंदना और स्तुति तथा ध्यान सर्वदा किया करैं ॥१॥

चम्मच्छिणावि देहे तइतइलोयेण माइ महहरिसो
णाणाच्छिणा उणोजिण ण याणिमो किं परिप्फुरइ ॥

चर्माक्ष्णापि दृष्टे त्वयि त्रैलोक्ये न माति महाहर्षे
ज्ञानाक्ष्णा पुनर्स जिन न जानीम' किं परिस्फुरति ।

अर्थः—हे जिनेंद्र हे भगवन् यदि हम आपको चामकी आंखसे भी देखलें तो भी हमें इतना भारी हर्ष होता है कि वह हर्ष तीनोंलोकों में नहीं समाता फिर यदि आपको हम ज्ञानरूपी नेत्रसे देखें तबतो हम कहीं नहीं सकते कि हमको कितना आनंद न होगा ?

भावार्थः—चर्मके नेत्रका विषय परिमित तथा बहुत थोड़ा है इसलिये उसचर्मनेत्रसे आपका समस्तस्वरूप हमको नहीं दीखसकता किंतु हेप्रभो उसचर्मनेत्रसे जो कुछ आपका स्वरूप दृष्टिगोचर होता है उससेही हमको इतना भारी हर्ष होता है कि औरकी तो क्या बात वह तीनोंलोकमें भी नहीं समाता किंतु यदि हम ज्ञानरूपी नेत्रसे आपके समस्तस्वरूपको देखे तब हम नहीं जानसकते हमको कितना आनन्द न होगा ? ॥३॥

तं जिण णाणमणंतं विसईकयसयलवत्थुवित्थारं
जो थुणइ सो पयासइ समुद्दकहमवटसालूरो ।

त्वा जिन ज्ञानमनंत विषयीकृतसकलवस्तुविस्तार
य.स्तौति स प्रकाशयति समुद्रकथामवटसालूर' ।

अर्थः—हे जिनेंद्र जो पुरुष, नहीं है अंत जिसका तथा जिसने समस्तवस्तुओंके विस्तारको विषयकर लिया है ऐसे ज्ञानस्वरूप आपकी स्तुति करता है वह कूवाका मैढ़क समुद्रकी कथा का वर्णन करता है ।

भावार्थः—जिसप्रकार कूवाका मैढ़क समुद्रकी कथा नहीं करसकता उसीप्रकार हे जिनेंद्र जो पुरुष

॥२५१॥

ज्ञानस्वरूप आपका स्तवन तथा आपको नमस्कार नहीं करता उसका ज्ञान समस्तपदार्थोंका विषयकरनेवाला नहीं होता किंतु जो मनुष्य आपकी भक्तिपूर्वक स्तुति करता है उसको विस्तृतज्ञानकी प्राप्ति होती है ॥४॥

अह्मारिसाण तुह गोत्तकित्तणेणावि जिणेस संचरई ।
आयेसम्मग्गंती पुरडाहियेइच्छिया लच्छी ॥

अस्मादृशां तव गोत्रकीर्तनेनापि जिनेश संचरति
आदेश मार्गयंती पुरतोहृदयेप्सिता लक्ष्मीः ।

अर्थः—हे जिनेंद्र हेप्रभो आपके नामके कीर्तनमात्रसेही हमसरीखे मनुष्यों के आगे आज्ञाको मांगता हुई मनोवांछित लक्ष्मी गमन करती है ।

भावार्थः—हेजिनेन्द्र आपके नाममें ही इतनी शक्ति है कि आपके नामके कीर्तनमात्रसेही हमसरीखे मनुष्योंके सामने हमारी आज्ञाको मागती हुई लक्ष्मीदोड़ती फिरती है तब जो मनुष्य साक्षात् आपको प्राप्त करलेगा उसकी तो फिर बातही क्या है? अर्थात् उसकोतो आवश्यही अंतरंग तथा वहिरंग लक्ष्मीकी प्राप्ति होगी॥५॥

जासिसिरी तइ संते तुव अवयणमित्तियेणट्ठा ।
संके जणियाणट्ठा दिट्ठा सव्वट्ठसिद्धावि ॥

आसीत् श्रीः त्वयि सति त्वयि अवतीर्णे नष्टा
शंके जनितानिष्टा दृष्टा सर्वार्थसिद्धावपि ।

अर्थः—हे सर्वज्ञ हे जिनेश जिससमय आप सवार्थसिद्धिविमानमेंथे उससमय जैसी उस विमानकी शोभाथी वह शोभा आपके इसपृथ्वीतल उतरनेपर आपके वियोगसे उत्पन्नहुवे दुःखसे नष्ट होगई ऐसा मैं (ग्रंथकार) शंका (अनुमान) करता हूं ।

भावार्थ—हे भगवन् आपमें यहबड़ी भारी एक प्रकारकी खूबी मोजूद है कि जहांपर आप निवास करते हैं वहीं पर उत्तम शोभाभी रहती है क्योंकि जिससमय आप सर्वार्थसिद्धिनामके विमानमें विराजमानथे उस समय उसविमानकी बड़ी भारी शोभाथी किंतु जिससमय आप इस पृथ्वीतलमें उतरकर आये उससमय उस विमानकी उतनी शोभा नहीं रही किंतु इसपृथ्वीतलकी शोभा अधिक बढ़गई ॥६॥

णाहिघरे वसुहारा वडणंजं सुइर महितहो अरणी ।
आसि णहाहि जिणसेर तेण धरा वसुमयी जाया ॥

नाभिगृहे वसुधारापतनं यत् सुचिरं महीमवतरणात्
आसीत् नभसो जिनेश्वर तेन धरा वसुमती जाता ।

अर्थः—हे जिनेश्वर जिसमय आप इस पृथ्वीतलपर उतरेथे उससमय जो नाभिराजाके घरमें बहुत कालतक धनकी वर्षा आकाशसे हुई थी उसीसे हे प्रभो यह पृथ्वी वसुमती हुई है ।

भावार्थः—पृथ्वीका नाम वसुमती है और जो धनको धारणकरनेवाली होवे उसीको वसुमती कहते हैं इसलिये ग्रंथकार उत्प्रेक्षा करते हैं कि इस पृथ्वीका नाम वसुमती जो पड़ा है सो हे भगवन् आपकी कृपासे ही पड़ा है क्योंकि जिससमय आप सर्वार्थसद्धिविमानसे पृथ्वीमंडलपर उतरे थे उससमय बराबर १५ मासतक रत्नोंकी वृष्टि इसपृथ्वी मंडलमें नाभिराजाके घरमें हुई थी इसलिये पृथ्वीके समस्त दारिद्र्य दूर होगये थे। किंतु पहिले इसका नाम वसुमती नहीं था ॥ ७ ॥

सञ्चियसुरणवियपया मरुएवी पहु ठिऊसि जं गब्भे ।
पुरऊपद्दो वज्झइ मज्झे से पुत्तवत्तीणं ॥

शचीसुरनामितपदा मरुदेवी प्रभो स्थितोऽसि यद्गर्भे
पुरतःपट्टो बध्यते मध्ये तस्याः पुत्रवतीनाम् ।

अर्थः—हे प्रभो हे जिनेंद्र आप मरुदेवीमाताके गर्भमें स्थित होतेहुए इसीलिये मरुदेवीमाता इन्द्राणी तथा देवोंसे नमस्कार कियेगये हैं चरणजिसके ऐसी होतीहुई और जितनीभर पुत्रवती स्त्रियां थीं उनसबमें मरुदेवीका ही पद सबसे प्रथम रहा ।

भावार्थः—संसारमें बहुतसी स्त्रियां पुत्रोंको पैदाकरनेवाली हैं, उनमें मरुदेवीके ही चरणोंको क्यों इन्द्राणी तथा देवोंने नमस्कारकिया ? और उनके चरणोंकी ही क्यों सेवा की ? इसका कारण केवल यही है कि हे प्रभो मरुदेवीमाताके गर्भमें आप आकर विराजमान हुए थे इसलिये उनकी इतनी प्रतिष्ठाहुई और वे जितनीभर पुत्रोंको पैदाकरनेवाली स्त्रियां थीं और हैं, उनमें सबमें उत्तम समझी गई और कोई कारण नहीं ॥ ८ ॥

अंकत्थे तइ दिट्ठे जं तेण सुरालयं सुरिंदेण
अणिमेसत्तवहुत्तं सहलं णयणाणपडिवट्ठं ॥

अंकस्थे त्वयि दृष्टे गच्छता सुरालयं सुरेन्द्रेण
अनिमेषत्ववहुत्वं सफलं नयनानां प्रतिपन्नम् ।

अर्थः—हे जिनेन्द्र हे प्रभो जिससमय आपको लेकर इंद्र मेरुपर्वतको चला तथा आपको गोदमें बैठे हुए उसने देखा उससमय उसके नेत्रोंका निमेष (पलक) कर रहितपना तथा वहुतपना सफल हुवा ।

भावार्थः—हे प्रभो इन्द्रके नेत्रोंकी अनिमेषता और अधिकता आपके देखनेसे ही सफल हुई थी यदि इन्द्र आपके स्वरूपको न देखता तो उसके नेत्रोंका पलकरहितपना और हजार नेत्रोंका धारण करना, सर्वथा निष्फल ही समझा जाता ।

सारार्थः—आपके समान रूपवान संसारमें दूसरा कोई भी मनुष्य नहीं था ॥ ९ ॥

तित्थत्तणमावण्णो मेरु तुह जम्मण्हाणजलजोए ।
तत्तस्स सूरपमुहा पयाहिणं जिण कुणंति सया ॥

तीर्थत्वमापन्नो मेरुस्तव जन्मस्नानजलयोगेन
तत् तस्य सूरप्रमुखाः प्रदाक्षिणा जिन कुर्वंति ।

अर्थः—हे प्रभो हे जिनेंद्र जिससमय आपका जन्मस्नान मेरुके ऊपर हुआ था उससमय उसस्नानके जलके संबंधसे मेरु तीर्थपनेको प्राप्तहुआ था अर्थात् तीर्थ बना था और इसीलिये हे जिनेंद्र उस मेरुपर्वतकी सूर्य चंद्रमा आदिक सदा प्रदक्षिणा करते रहते हैं ।

भावार्थः—आचार्य उत्प्रेक्षा करते हैं कि हे प्रभो जबतक मेरुपर्वतके ऊपर आपका जन्मस्नान नहीं हुआ था तबतक वह मेरुपर्वत सामान्यपर्वतोंके समान था और तीर्थ भी नहीं था किंतु जिससमयसे आपका जन्मस्नान मेरुके ऊपर हुआ है उससमयसे उस आपके जन्मस्नानके जलके संबंधसे मेरुपर्वत तीर्थ अर्थात् पवित्र स्थान होगया है और यह वात संसारमें प्रत्यक्षगोचर है कि जो वस्तु पवित्र हुआकरती है उसकी लोग भक्ति तथा परिक्रमा आदि करते हैं इसीलिये उसमेरुको पवित्रमानकर सूर्य चंद्रमा आदि रातदिन उसमेरुकी प्रदक्षिणा (परिक्रमा) करते रहते हैं ऐसा मालूम होता है ॥ १० ॥

मेरुसिरे पडणुच्छलि यणीरताडणपणट्ठदेवाणं ।
तं वित्तं तुह ण्हाणं तह जह णहमासियं किण्णं ॥

मेरुशिरसि पतनोच्छलननीरताडनप्रनष्टदेवानाम्
तद्वृत्त तव स्नान तथा यथा नभ आश्रित कीर्णम् ।

अर्थः—हे जिनेंद्र हे प्रभो मेरुपर्वतके मस्तकपर आपके स्नानके होनेपर पतनसे उछलताहुआ जोजल उसके ताड़नसे अत्यंतनष्ट जोदेव उनदेवोंकी ऐसी दशा होतीहुई मानो चारोओरसे आकाश ही व्याप्त हो गया हो ॥११॥

णाह तुह जम्म हरिणो मेरुस्सि पणच्चमाणस्स ।
वेल्लिरभुवाहिभग्गा तहे अज्जवि भंगुरा मेहा ॥

नाथ तव जन्मस्नाने हरे: मेरौ प्रनृत्यमानस्य
प्रलंबभुजाभ्यां भग्ना: तथा अद्यापि भंगुरा मेघा: ।

अर्थः—हे प्रभो आपके जन्मस्नानकेसमय जिससमय अपनी लंबी भुजाओंको फैलाकर इंद्रने नृत्यकिया था उनलंबी भुजाओंसे जो मेघ भग्नहुए थे वे मेघ इससमय भी क्षणभंगुर ही हैं ।

भावार्थः—ग्रंथकार उत्प्रेक्षा करते हैं कि जो मेघ क्षणभंगुर मालूम पड़ते हैं उनकी क्षणभंगुरताका यही कारण है कि जिससमय भगवानका जन्मस्नान मेरुपर्वतके ऊपर हुआ था उससमय उसमेरुपर्वतके ऊपर आनंदमें आकर अपनी भुजाओंको फैलाकर इंद्रने भगवानके सामने नृत्यकिया था और उससमय फैलीहुईभुजाओंसे मेघ भग्नहुए थे इसीकारण अब भी मेघोंमें भंगुरता है किंतु भंगुरताका दूसरा कोई भी कारण नहीं है ॥ १२ ॥

जाण वहुएहि वित्ती जाया कप्पदुमेहि तेहि विणा ।
एक्केणवि ताण तए पयाण परिकप्पिया णाह ॥

यासां बहुभिर्वृत्तिर्जाता कल्पद्रुमै:, तैर्विना
एकेनापि तासां त्वया प्रजानां परिकल्पिता नाथ ।

अर्थः—हे नाथ हे प्रभो जिनप्रजाओंकी आजीविका बहुतसे कल्पवृक्षोंसे होती हुई उन कल्पवृक्षोंके अभावमें उन प्रजाओंकी आजीविका आप अकेलेने ही की ।

भावार्थः—जबतक ऋषभदेव भगवानकी उत्पत्ति पृथ्वीतलपर नहीं हुई थी उससमयतक इसजम्बूद्वीपमें भोगभूमिकी रचना थी और उस भोगभूमिकी स्थितिमें समस्तजीव भोगविलासी ही थे क्योंकि युगलिया उत्पन्न होते थे और जिससमय उनको जिसबातकी अवश्यकता होती थी उससमय उसवस्तुकी प्राप्तिकेलिये उनको प्रयत्न नहीं करना पड़ता था किंतु वे सीधे कल्पवृक्षोंके पास चलेजाते थे तथा जिसबातकी उनको अभिलाषा होती थी उस अभिलाषाकी पूर्ति उन कल्पवृक्षोंके सामनें कहनेपर ही हो जाती थी क्योंकि उससमय दश-प्रकारके कल्पवृक्ष मौजूद थे तथा जुदी २ सामिग्री देकर जीवोंको आनंद देते थे । किंतु जिससमय भगवान आदिनाथका जन्म हुआ उससमय जम्बूदीपमें कर्मभूमिकी रचना हो गई भोगभूमिकी रचना न रही, तथा कल्पवृक्षभी नष्टहोगये उससमय जीव भूंखे मरने लगे और उनको अपनी आजीविकाकी फिक्र पड़ी तव उस समय भगवान आदीश्वरने असि, मषि, वाणिज्य, आदिका उपदेश दिया तथा और भी नानाप्रकारके लौकिक उपदेश दिये जिससे उनको फिरभी वैसाही सुख माल्रूम होनेलगा इसलिये कर्मभूमिको आदिमें भगवान आदिनाथने ही कल्पवृक्षोंका काम किया था इसलिये इसीवातको ध्यानमें रखकर ग्रंथकार भगवानकी स्तुति करते हैं कि हे प्रभो जिनप्रजाओंकी आजीविका भोगभूमिकी रचनाके समय वहुतसे कल्पवृक्षोंसे हुईथी वही आजीविका कर्मभूमिके समय विना कल्पवृक्षोंके आप अकेलेनेहीं की इसलिये हेजिनेंद्र आप कल्पवृक्षोंमें भी उत्तमकल्पवृक्षहैं॥१३॥

पहुणा तए सणाहा धरा सती एकहन्नहो वूढो
णवघणसमयसमुल्लसि यसासछम्मेण रोमंचो ।

प्रभुणा त्वया सनाथा धरा आसीत् तस्याः कथमहोवृद्धः
नवघनसमयसमुल्लासितश्वासच्छद्मना रोमाच. ।

अर्थः—हे जिनेश हे प्रभो आपनेही यह पृथ्वी सनाथकी क्योंकि यदि ऐसा न होता तो नवीन मेघके समयमें होनेवाला जो श्वासोच्छ्वास उसके वहानेसे इसमें रोमांच कैसे हुवे होते ?

भावार्थः—जो स्त्री विवाहकी अत्यंत अभिलाषिणीहै यदि उसका विवाह होजावे अर्थात् वह सनाथा हो जाय तो जिसप्रकार उसके शरीरमें रोमांच उद्गत होजाते हैं और उस रोमांचके उद्गमसे उसकी सनाथता का अनुमान करलिया जाता है उसीप्रकार हे प्रभो जिससमय आप इसपृथ्वीपर अवतीर्ण हुवे थे उससमय पृथ्वी में रोमांच हुवे इसलिये उन रोमांचोंसे यह बात जानली थी कि आपने इसपृथ्वीको सनाथा अर्थात् नाथसहित किया॥१४॥

विज्जुव्व घणे रंगे दिट्ठपणिट्ठा पणच्चिरी अमरी
जइया तइयावि तये रायसिरी तारिसी दिट्ठा ॥

विद्युदिव घने रंगे दृष्टप्रणष्टा प्रनत्यती अमरी
यदा तदापि त्वया राज्यश्रीः तादृशी दृष्टा ।

अर्थः—हे वीतराग जिसप्रकार मेघमें विजली दीखकर नष्ट हो जाती है ,उसीप्रकार आपने जिससमय नत्यकरती हुई नीलांजसा नामकीदेवांगनाको पाहिलें देखकर पीछै नष्ट हुई देखी उसीसमय आपने राज्य लक्ष्मी को भी वैसाही देखा अर्थात् उसको भी आपने चंचल समझ लिया ।

भावार्थः—किसीसमय भगवान सिंहासन पर आनंदसे विराजमानथे और नीलांजसा नामकी अप्सरा का नांच देखरहे थे उसीसमय अकस्मात वह अप्सरा लीन हो पुनः प्रकट हुई इस दृश्यको देखकर ही भगवानको शीघ्र ही इसबातका विचार हुवा कि जिसप्रकार यह अप्सरा लीनहोकर तत्कालमें प्रकट हुई है उसी प्रकार इसलक्ष्मी का भी स्वभाव है अर्थात् यहभी चंचल है अतएव उससमय शीघ्रही भगवानको वैराग्य हो गया उसी अवस्थाको ध्यानमें रखकर ग्रंथकारने इसश्लोकसे भगवानकी स्तुति की है ॥१५॥

वेरग्गदिणे सहसा वसुहा जुण्णंतिणव्व जं मुक्का
देव तएसा अज्जवि विलवइ सरिजलरवा वरई ।

वैराग्यदिने सहसा वसुधा जीर्णतृणमिव यत् मुक्ता
देव त्वया सा अद्यापि विलपति सरिज्जलमिषेण वराकी ।

अर्थः—हे जिनेश हे प्रभो जिसदिन आपको वैराग्य हुआ था उसदिन जो आपने यह पृथ्वी पुराने तृणके समान छोड़दीथी वह दीनपृथ्वी इससमयभी नदीके व्याजसे विलाप कररही है ॥

भावार्थः—जिससमय नदीमें जलका प्रवाह आता है उससमय नदी कल २ शब्द करती है उसको अनुभवकर ग्रथकार उपेक्षा करते है कि हेप्रभो यह नदी जो कल२ शब्द कर रही है यह इसका कल २ शब्द नहीं है किंतु यह कल २ शब्द इसपृथ्वीके विलापका शब्द है क्योंकि जिसदिन आपको वैराग्य हुवाथा उस समय आपने इस बिचारी पृथ्वीको सड़ेतृणके समान छोड़दिया था और आप इसके नाथ थे, इसलिये आपके द्वारा ऐसा अपमान पाकर यह विलाप कररही है । और कोईभी कारण नहीं ॥१६॥

अइ सोहओसि तइया काउस्सग्गट्ठिओ तुमं णाह
धम्मिक्कघरारंभे उज्झीकय मूलखंभोव्व ।

अतिशोभितोऽसि तदा कायोत्सर्गास्थितस्त्वं नाथ
धर्मैकगृहारम्भे ऊर्ध्वीकृत मूलस्तंभ इव ।

अर्थः—हेभगवन् हेप्रभो जिससमय आप कायोत्सर्गसहित विराजमानथे उससमय धर्मरुपी घरके निर्माणमें उन्नत मूलखंभके समान आप अत्यंत शोभित होते थे ॥

भावार्थः—हेभगवन् जिससमय आप कायोत्सर्गमुद्राको धारणकर वनमें खड़े थे उससमय ऐसा मालूम

होता था कि आप इसधर्मरूपीघरके स्थितरहनेमें प्रधानखंभही है अर्थात् जिसप्रकार मूलखंभके आधारसे घर टिका रहता है उसीप्रकार आपके द्वारा ही यह धर्म विद्यमान था ॥ १७ ॥

हिययत्थझाणसिहिओज्झमाणसहसासरीरधूमोव्व
सोहइ जिण तुह सीसे महुपरकुलसण्णिहकेसभरो ॥

हृदयस्थध्यानशिखिदह्यमानशीघ्रशरीरधूम्रवत्
शोभते जिन तव शिरसि मधुकरकुलसन्निभः केशसमूहः ।

अर्थः—हे प्रभो हे जिनेंद्र भौंरोंकेसमूहके समान काला जो आपके मस्तकपर बालोंकासमूह है वह हृदयमेंस्थित जो ध्यानरूपीअग्नि उससे शीघ्रजलायाहुआ जो शरीर उसके धूआंकेसमान शोभित होता है ऐसा मालूम पड़ता है ।

भावार्थः—धूआं भी काला है और भगवानके मस्तकपर विराजमान केशोंका समूह भी काला है इस लिये ग्रंथकार उत्प्रेक्षा करते हैं कि हे प्रभो यह जो आपके मस्तकपर बालोंका समूह है वह बालोंका समूह नहीं है किंतु वैराग्यसंयुक्त आपके हृदयमें जलती हुई जो ध्यानरूपी अग्नि उससे जलायाहुआ जो आपका शरीर है उसका यह धूआं है ॥ १८ ॥

कम्मकलंकचउक्के णट्ठे णिम्मलसमाहि भूईए
तुहणाणदप्पणेच्चिय लोयालोयं पणिप्फलियं ॥

कर्मकलंकचतुष्के नष्टे निर्मलसमाधिभूत्या तव
ज्ञानदर्पणेऽत्र लोकालोकं प्रतिबिम्बितम् ॥

अर्थः—हे जिनेश हे प्रभो निर्मलसमाधिके प्रभावसे चार घातिया कर्मोंके नाशहोनेपर आपके सम्यग्ज्ञानरूपीदर्पणमें यह लोक तथा अलोक प्रतिबिम्बित होता हुआ ।

भावार्थः—जबतक इसआत्मामें अखंडज्ञान (केवलज्ञान) की प्रकटता नहीं होती तबतक यह आत्मा लोक तथा अलोकके पदार्थोंको नहीं जानसकता किंतु जिससमय उसकेवलज्ञानकी प्रकटता हो जाती है उस समय यह लोकालोकके पदार्थोंको जानने लगजाता है तथा उस सम्यग्ज्ञानकी प्रकटता तेरवे गुणस्थानमें, जबकि प्रकृष्टध्यानसे चार घातियाकर्मोंका नाश हो जाता है तब होती है इसीआशयको लेकर ग्रंथकार स्तुति करते हैं कि हे प्रभो आपने प्रकृष्टध्यानसे चार घातियाकर्मोंका नाश करदिया है इसीलिये आप समस्त लोकालोकके भलीभांति जाननेवाले हुए हैं ॥ १९ ॥

आवरणाईण तए समूलमुम्मूलियाइ दट्ठूण
कम्मचउक्केणमुअंव णाह भीएण सेसेण ॥

आवरणादीनि त्वया समूलमुन्मूलितानि दृष्ट्वा
कर्मचतुष्केण मृतवत् नाथ भीतेन शेषेण ॥

अर्थः—हे प्रभो हे जिनेन्द्र जिससमय आपने जड़सहित ज्ञानावरणादि घातियाकर्मोंका सर्वथा नाश कर दिया था उससमय उन सर्वथा नष्ट ज्ञानावरणादि कर्मोंको देखकर शेषके जो चार घातियारहे वे भयसे आपकी आत्मामें मरेहुए के समान रहगये ।

भावार्थः—जिससमय ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, और अंतराय, इन चारकर्मोंका सर्वथा नाश हो जाता है उससमय शेष जो वेदनीय, आयुः, नाम, तथा गोत्र, ये चार अघातियाकर्म हैं वे बलहीन रहजाते हैं इसी आशयको मनमें रखकर ग्रंथकार उत्प्रेक्षा करते हैं कि हे भगवन् जो अघातियाकर्म आपकी आत्मामें मृतके समान अशक्त होकर पड़ेरहे उनकी अशक्तताका कारण यह है कि जब आपने अत्यंतप्रबल चार घातिया

कर्मोंको नाश करदिया उससमय उनको बड़ाभारी भयहुआ कि हम भी अब निर्मूल किये जायंगे इसीलिये वे मरेहुएके समान अशक्त ही आपकी आत्मामें स्थित रहे ॥ २० ॥

णाणामणिणिम्माणे देव ठ्ठिउ सहसि समवसरणम्मि ।
उवरिव्व सण्णिविट्ठो जियाण जोईण सव्वाणं ॥

नानामणिनिर्माणे देव स्थितः शोभते समवशरणे
उपरि इव सन्निविष्ट' यावतां योगिनां सर्वेषाम् ॥

अर्थः—हे जिनेश हे प्रभो जिससमवशरणकी रचना चित्रविचित्र मणियोंसे की गई थी ऐसे समवशरणमें जितनेभर मुनि थे उन समस्तमुनियोंके ऊपर विराजमान आप अत्यंत शोभाको प्राप्त होते थे ॥ २१ ॥

लोउत्तरावि सा समवसरणसोहा जिणेस तुह पाये ।
लहिऊण लहइमहिमं रविणो णलिणिव्व कुसुमट्ठा ॥

लोकोत्तरापि सा समवशरणशोभा जिनेश तव पादौ ।
लब्ध्वा लभते महिमानं रवेः नलिनीव कुसुमस्था ॥

अर्थः—हे भगवन् हे प्रभो जिसप्रकार पुष्पमें स्थित कमलिनी सूर्यके किरणोंको पाकर और भी अधिक महिमाको प्राप्त होती है उसीप्रकार यद्यपि समवशरणकी शोभा स्वभावसे ही लोकोत्तर होती है तो भी हे जिनेन्द्र आपके चरणकमलोंको पाकर वह और भी अत्यंत महिमाको धारण करती है ।

भावार्थः—एकतो कमलिनी स्वभावसे ही अत्यंत मनोहर होती है किंतु यदि वही कमलिनी सूर्यके किरणोंको प्राप्तहो जावे तो और भी महिमाको प्राप्त होती है उसीप्रकार समवशरणकी शोभा एक तो स्वभावसे

ही लोकोत्तर अर्थात् सबसे उत्तम होती है और आपके चरणोंके आश्रयको प्राप्तहोकर, और भी वह अत्यंत महिमा को धारण करती है ॥ २२ ॥

णिद्दोसो अकलंको अजडो चंदोव्व सहासितं तहवि ।
सींहासणायलत्थो जिणंदकयकुवलयाणंदो ॥

निर्दोष अकलंक अजडः चन्द्रवत् शोभते तथापि ।
सिंहासनाचलस्थ जिनेंद्र कृतकुवलयानंद ॥

अर्थः—हे जिनेंद्र हे प्रभो आप यद्यपि निर्दोष तथा अकलंक और अजड़ है तोभी अचल सिंहासनमें स्थित तथा किया है कुवलयको आनंद जिन्होंने ऐसे आप चंद्रमाके समान शोभित होते हैं ।

भावार्थ—आपतो निर्दोष हैं और चंद्रमा दोषा (रात्रि) कर सहित है अर्थात् सदोष है और आपतो कर्मकलंककर रहित हैं किंतु चंद्रमा कलंककर सहित हैं तथा आप तो जडता रहित हैं किंतु चंद्रमा जड़ताकर सहित है इसलिये इसरीतिसे तो आपमें तथा चंद्रमामें भेद है परंतु जिसप्रकार चंद्रमा पर्वतकी शिखिरपर स्थित रहता है और रात्रिविकासीकमलोंको आनंदका देनेवाला होता है इसलिये शोभाको प्राप्त होता है उसीप्रकार पर्वतके समान आप भी सिंहासनपर स्थित थे तथा आपने समस्त पृथ्वीमंडलको आनंद दिया था इसलिये आप भी चंद्रमाके समान ही शोभित होते थे ॥ २३ ॥

अच्छंतु ताव इयरा फुरियविवेया णमंतसिरसिहरा ।
होइ असोहो रुक्खोवि णाह तुह संणिहाणत्थो ॥

आस्तां तावत् इतरा स्फुरितविवेका नम्रशिर शिखरा·
भवति अशाको वृक्ष. अपि नाथ तव सन्निधानस्थ ॥

अर्थः—आचार्य कहते हैं कि हे प्रभो हे जिनेंद्र जिनभव्यजीवोंके ज्ञानकी ज्योति स्फुरायमान है और जो आपको मस्तक झुकाकर नमस्कार करते हैं वे तो दूरही रहें किंतु हे भगवन् आपके समीप रहाहुआ जड़ भी वृक्ष, अशोक हो जाता है।

भावार्थः—हे जिनेश जिनको ज्ञान मौजूद है अर्थात् जो ज्ञानी हैं तथा आपको मस्तक झुकाकर नमस्कार करनेवाले हैं ऐसे भव्यजीव आपके पासमें रहकर तथा आपका उपदेश सुनकर शोकरहित होजाते हैं इसमें तो कोई आश्चर्य नहीं किन्तु जो वृक्ष जड़ है वह भी आपके केवल समीपमें रहा हुआ ही अशोक हो जाता है इसमें वड़ाभारी आश्चर्य है ॥ २४ ॥

छत्तत्तयमालंवियणिम्मलमुत्ताहलच्छलात्तुज्झ।
जणलोयणेसु वरिसइ अमयंपिव णाह विंदूहिं ॥

छत्रत्रयमालंवितनिर्मलमुक्ताफलच्छलात्तव
जनलोचनेषु वर्षति अमृतमिव नाथ विंदुभि. ॥

अर्थः—हे भगवन् हे नाथ आपके जो ये तीनों छत्र हैं वे लटकतेहुए जो निर्मल मुक्ताफल उनके व्याजसे मनुष्योंकी आंखोंमें विंदुओंसे अमृतकी वर्षा करते हैं ऐसा मालूम होता है।

भावार्थः—हे भगवन् जिससमय भव्यजीव आपके छत्रको देखते हैं उससमय उनको इतना आनंद होता है कि आनंदके मारे उनकी आंखोंसे अश्रुपात होने लगता है ॥ २५ ॥

कयलोयलोयणुप्पलहरिसाइ सुरेसहच्छचालियाइ।
तुह देव सरहससहरकिरणकयाइव्व चमराइ ॥

कृतलोकलोचनोत्पलहर्षाणि सुरेशहस्तचालितानि

तव देव शरच्छशधराकिरणकृतानि इव चमराणि ॥

अर्थः—जिन चमरोंके देखनेसे समस्तलोकके नेत्ररूपी कमलोंको हर्ष होता है और जिनको वड़े २ इंद्र ढोरते हैं ऐसे हे जिनेंद्र आपके चमर शरदऋतुके चंद्रमाकी किरणोंसे बनाये गये हैं ? ऐसा मालूम होता है ।

भावार्थः—और ऋतुकी अपेक्षा शरदऋतुके चंद्रमाकी किरण बहुत स्वच्छ तथा सफेद होती है इसलिये ग्रंथकार कहते हैं कि हे भगवन् आपके चमर इतने स्वच्छ तथा सफेद हैं जोकि ऐसे मालूम होते हैं मानों शरदकालीन चंद्रमाकी किरणोंसे ही वनाये हुए हैं और जिनको देखनेमात्रसे समस्तलोकके नेत्रोंको आनंद होता है तथा जिनको वड़े इंद्र आकर ढोरते हैं ॥ २६ ॥

विहलीकयपंचसरो पंचसरो जिण तुमम्मि काऊण

अमरकयपुप्पविठ्ठिछलइव वहु मुअइ कुसुमसरो ॥

विफलीकृतपञ्चशरः पञ्चशरो जिन त्वयि कृत्वा

अमरकृतपुष्पवृष्टिच्छलाद् इव वहून् मुंचति कुसुमशरान् ॥

अर्थः—हे भगवन् हे जिनेंद्र जिस कामदेवके आपके सामने पांचोंबाण विफल हो गये हैं ऐसा वह कामदेव, देवोंकर कीहुई जो आपके ऊपर पुष्पोंकी वर्षा उसके व्याजसे पुष्पोंके वाणोंका त्यागकर रहा है ऐसा मालूम है ।

भावार्थः—आपके अतिरिक्त जितनेभर देव हैं उनको वाण मार २ कर कामदेवने वशमें करलिया किंतु हे प्रभो जब वही कामदेव अपने वाणोंसे आपको भी वशकरने आया तव आपके सामने तो उसके वाण कुछकरही नहीं सकते थे । इसलिये उसकामदेवके समस्तवाण आपके सामने विफल होगये इसलिये ऐसा मालूम होता है कि जिससमय देवोंने आपके ऊपर फूलोंकी वर्षा की उससमय वह फूलोंकी वर्षा नहीं थी

किंतु अपने बाणोंको योग्य न समझकर कामदेव अपने फूलोंके बाणोंको फैंकरहा है, क्योंकि संसारमें यहबात देखने में भी आती है कि समयके ऊपर जो चीज काम नहीं देती है उसको मनुष्य फिर छोड़ ही देता है ॥२७॥

एस जिणो परमप्पा णाणोण्णाणं सुणेह मावयणं
तुह दुंदुही रसंतो कहइव तिजयस्स मिलियस्स ॥

एष जिन. परमात्मा नान्योऽन्येषा शृणुत मावचनम्
तव दुदुभि रसन् कथयति इव त्रिजगतः मिलितस्य ॥

अर्थः—हे भगवन् वजतीहुई जो आपकी दुंदुभि (नगाड़ा) वह तीनोंलोकको इकट्ठाकर यह बात कहती है कि हे लोगो यदि वास्तविक परमात्मा है तो भगवान आदिनाथ ही हैं किंतु इनसे भिन्न परमात्मा कोई भी नहीं इसलिये तुम इनसे अतिरिक्त दूसरेका उपदेश मत सुनो इन्ही भगवानके उपदेशको सुनो ।

भावार्थः—मंगलकालमें जिससमय आपकी दुंदुभि आकाशमें शब्दकरती है अर्थात् वजती है उससमय उसके वजनेका शब्द निष्फल नहीं है किंतु वह इसबातको पुकार २ कर कहती है कि हे भव्यजीवो यदि तुम परमात्माका उपदेश सुनना चाहते हो तो भगवान श्रीआदिनाथका दियाहुआ ही उपदेश सुनो किंतु इनसे भिन्न जो दूसरे २ देव हैं उनके उपदेशको अंशमात्र भी मत सुनो क्योंकि यदि परमात्मा हैं तो श्रीआदीश्वर भगवान ही है किंतु इनसे भिन्न लोकमें दूसरा परमात्मा नहीं ॥ २८ ॥

रविणो संतावयरं ससिणो उण जड्डयाअरं देव
संतावजडत्तहरं तुम्हच्चिय पहु पहावलयं ॥

रवे संतापकर शशिन पुन जडताकर देव
संतापजडत्वहर तवार्चित प्रभो प्रभावलयम् ॥

अर्थः—हे जिनेश हे प्रभो सूर्यका प्रभासमूह तो मनुष्योंको संतापका करनेवाला है तथा चंद्रमाका प्रभासमूह जड़ताका करनेवाला है किंतु हे पूज्यवर आपका प्रभासमूह तो संताप जडता दोनोंको नाश करनेवाला है।

भावार्थः—यद्यपि संसारमें बहुतसे तेजस्वी पदार्थ दृष्टिगोचर होते हैं किन्तु हे पूज्यवर प्रभो आपके समान कोई भी तेजस्वी पदार्थ उत्तम नहीं क्योंकि हम यदि सूर्यको उत्तम तेजस्वी पदार्थ कहैं सो हम कह नहीं सकते क्योंकि उसका जो प्रभाका समूह है वह मनुष्योंको अत्यत संतापका करनेवाला है और यदि चंद्रमाको हम उत्तम तथा तेजस्वी पदार्थ कहैं तो यह भी बात नहीं बन सकती क्योंकि चंद्रमाकी प्रभाका समूह जड़ताका करनेवाला है किन्तु हे जिनवर आपकी प्रभाका समूह संताप तथा जड़ता दोनोंका सर्वथा नाश करनेवाला है इसलिये आपकी प्रभाका समूह ही उत्तम तथा सुखदायक है ॥ २९ ॥

मंदरमहिज्जमाणांवुरासिणिग्घोससण्णिहा तुज्झ
वाणीसुहा ण अण्णा संसारविसस्सणासयरी ॥

मदरमथ्यमानाम्बुराशिनिर्घोषसन्निभा तव ।
वाणी शुभा ससारविषस्य नाशकरी ॥

अर्थः—हे भगवन् हे जिनेश मंदराचलसे मथन किया गया जो समुद्र उसका जो निर्घोषि (बड़ाभारी शब्द) उसके समान जो आपकी वाणी है वह शुभ है किंतु अन्यवाणी शुभ नहीं । तथा आप की वाणीही संसाररूपी विषको नाशकरने वाली है किंतु और दूसरी वाणी संसाररूपी विषको नाशकरने वाली नहीं है ।

भावार्थः—हेभगवन् यद्यपि संसारमें बहुतसे बुद्ध प्रभृति देव मौजूद हैं और वाणी उनकीभी मौजूद है किंतु हे प्रभो जैसी आपकी वाणी (दिव्य ध्वनि) शुभ तथा उत्तम है वैसी बुद्ध आदिकी वाणी नहीं

क्योंकि आपकी वाणी अनेकांतस्वरुप पदार्थका वर्णन करनेवालीहै और उनकी वाणी एकांतस्वरुप पदार्थका वर्णन करने वाली है तथा वस्तु अनेकांतात्मकही है एकान्तात्मक नहीं। और आपकी वाणी समस्तसंसाररूपी विषको नाशकरने वाली है किन्तु बुद्ध आदिकी वाणी संसाररूपी विषको नाशकरने वाली नहीं संसाररूपी विषको उत्कटकरने वालीही है तथा आपकी वाणी मंदराचलसे जिससमय समुद्रको मथन हुवाथा और जैसा उस समयमें शब्द हुवा था उसी शब्दके समान उन्नत तथा गंभीर है ॥ ३० ॥

पत्ताण सारणिंपिव तुज्झगिरं सा गई जडाणंपि
जा मोक्खतरुट्ठाणे असरिसफलकारणं होई ॥

प्राप्तानां सारिणीमिव तव गिरं सा गतिः जडानामपि
या मोक्षतरुस्थाने असदृशफलकारणं भवति

अर्थः—हेप्रभो हेजिनेश जो अज्ञानीजीव आपकी वाणीको प्राप्तकर लेते हैं उन अज्ञानीभी जीवोंकी वह गति होती है जोगति मोक्षरूपी वृक्षके स्थानमें अत्युत्तम फलकी कारण होती है ॥

भावार्थः—जोजीव ज्ञानी है वे आपकी वाणीको पाकर मोक्षस्थानमें जाकर उत्तम फलको प्राप्त होते हैं इस में तो किसीप्रकारका आश्चर्य नहीं किंतु हे भगवन् अज्ञानीभी पुरुष आपकी वाणीका आश्रयकर मोक्ष स्थानमें उत्तम फलको प्राप्त करते हैं और जिसप्रकार नदी वृक्षके पासमें जाकर उत्तम फलोंकी उत्पत्तिमें कारण होती है उसीप्रकार आपकी वाणीभी उत्तम फलोंकी उत्पत्तिमें कारण है इसलिये आपकी वाणी उत्तम नदीके समान है ॥३१॥

पोयंपिव तुह पवयणम्मि सलीणफुडमहो कयजडोहं ।
हेलाणच्चिय जीवा तरंति भवसायरमणंतं ॥

पोत इव तव प्रवचने सल्लीना स्फुटमहो कृतजलौघम् ।
हेलयार्थेत जीवा तरति भवसागरमनत ॥

अर्थः—जिन मनुष्योंके पास जहाज मौजूद है वे मनुष्य जिसप्रकार उसजहाजमें बैठकर जिसमें बहुत सा जलका समूह विद्यमान है ऐसे समुद्रको बातकी बातमें तरजाते हैं उसीप्रकार हे पूज्य हे जिनेश जोमनुष्य आपके वचनमें लीन हैं अर्थात् जिनमनुष्योंको आपके वचनके ऊपर श्रद्धान है बड़े आश्चर्यकी बात है कि वे मनुष्य भी पलमात्रमें जिसका अंत नहीं है ऐसे संसाररूपी सागरको तरजाते हैं ।

भावार्थः—हे प्रभो इससमय जितनेभर जीव हैं सब अज्ञानी हैं उनको स्वयं वास्तविक मार्गका ज्ञान नहीं हो सकता यदि हो सकता है तो आपके वचनमें श्रद्धान रखनेपर ही हो सकता है । इसलिये हे प्रभो जिन मनुष्योंको आपके वचनोंपर श्रद्धान है वे मनुष्य, अनंत भी इस संसारसमुद्रको बातकी बातमें तरजाते हैं किंतु जो मनुष्य आपके वचनोंमें श्रद्धान नहीं रखते वे इससंसार समुद्रसे पार नहीं हो सकते जिसप्रकार जहाजवाला ही समुद्रको पार करसकता है और जिसके पास जहाज नहीं वह नहीं कर सकता ॥ ३२ ॥

तुह वयणं चिय साहइ णूणमणेयंतवायवियडपहं
तह हियपईपअरं सव्वत्तणमप्पणो णाह ॥

तव वचनमेव साधयति नूनमनेकांतवादविकटपथम्
तथा हृदयप्रदीपकरं सर्वज्ञत्वमात्मनो नाथ ॥

अर्थः—हे जिनेंद्र हे प्रभो आपके वचन ही निश्चयसे अनेकांतवादरूपी जो विकट मार्ग है उसको सिद्ध करते हैं तथा हे नाथ यह जो आपका सर्वज्ञपना है वह समस्त मनुष्योंके हृदयोंको प्रकाश करनेवाला है ।

॥३६९॥

भावार्थः—जितनेभर पदार्थ हैं वे समस्तपदार्थ अनेकधर्मस्वरूप हैं जब और जिसवाणीसे उन पदार्थोंके अनेकधर्मोंका वर्णन कियाजायगा तभी उन पदार्थोंका वास्तविकस्वरूप समझाजायगा किंतु दो एक धर्मके कथन से उन पदार्थोंका वास्तविक स्वरूप नहीं समझा जा सकता और हे भगवन् आपसे अतिरिक्त जितनेभर देवहैं उन सबकी वाणी एकांतमार्गको ही सिद्ध करती है इसलिये उनकी वाणी वस्तुके वास्तविक स्वरूपको नहीं कह सकती किंतु आपकी वाणी ही अनेकांतमार्गको सिद्ध करनेवाली है इसलिये वही पदार्थोंके वास्तविक स्वरूपका वर्णनकर सकती है तथा आपके सर्वज्ञपनेसे भी समस्तमनुष्योंके हृदयको प्रकाश होता है अर्थात जिससमय आप उनको यथार्थ उपदेश देते हैं उससमय उनके हृदयमें भी वास्तविक पदार्थोंका ज्ञान हो जाता है ॥३३॥

विप्पडिवज्जइ जो तुह गिराए मइसुइवलेण केवलिणो
वरदिट्ठिदिट्ठणहजंतपक्खगणणेवि सो अंधो ॥

विप्रतिपद्यते यस्तव गिरि मतिश्रुतिवलेन केवलिन.
वरदृष्टिदृष्टनभोयातपक्षिगणनेपि सोन्धः ॥

अर्थः—हे भगवन् जो मनुष्य मतिज्ञान तथा श्रुतज्ञानकेही बलसे आप केवलीके वचनमें विवाद करता है वह मनुष्य उसप्रकारका काम करता है कि अच्छी दृष्टिवाले मनुष्य द्वारा देखेहुए जो अकाशमें जातेहुए पक्षी उनकी गणनामें जिसप्रकार अंधा संशय करता है ।

भावार्थः—जिसकी दृष्टि तीक्ष्ण है ऐसा कोई मनुष्य यदि आकाशमें उड़ते हुए पक्षियोंकी गणना करै और उससमय कोई पासमें बैठा हुआ अंधापुरुष उससे पंक्षियोंकी गणनामें विवाद करै तो जैसा उससूझते पुरुषके सामने उस अंधेका विवाद करना निष्फल है उसीप्रकार हे प्रभो हे जिनेश यदि कोई केवल मतिज्ञान

तथा श्रुतज्ञानका धारी आपके वचनमें विवाद करै तो उसका भी विवादकरना निरर्थक ही है क्योंकि आप केवली हैं तथा आपके ज्ञानमें समस्तलोक तथा अलोकके पदार्थ हाथकी रेखाके समान झलक रहे हैं और वह प्रतिवादी मनुष्य मतिज्ञान तथा श्रुतज्ञानका धारी होनेककारण थोड़ेही पदार्थोंका ज्ञाता है ॥ ३४ ॥

भिण्णाण परणयाणं एक्केक्कमसंगयाणया तुज्झ
पावंति जयम्मि जयं मज्झम्मि रिऊण किं चित्तं ॥

भिन्नाना परनयानाम् एकमेकमसगताना तव
प्राप्नुवंति जगत्रये जय मध्ये रिपूणा किं चित्रम् ॥

अर्थः—हे भगवन् हे प्रभो आपके नय, परस्परमें नहीं संवंध रखनेवाले, तथा भिन्न, ऐसे परवादियोंके नयरूपीवैरियोंके मध्यमें तीनोंजगतमें विजयको प्राप्त होते हैं इसमें कोई भी आश्चर्य नहीं।

भावार्थः—परस्परमें नहीं संवंध रखनेवाले तथा एकदूसरेके विरोधी ऐसे शत्रु, जिनमें एकता है तथा एकदूसरेके विरोधी नहीं हैं ऐसे योधाओंके द्वारा जिसप्रकार बातकीबातमें जीतलिये जाते हैं तो जैसा उन शत्रुओंके जीतनेमें कोई आश्चर्य नहीं है उसीप्रकार हे प्रभो जो परवादियोंकी नय परस्परमें एकदूसरेसे संवंध नहीं रखनेवाली हैं तथा भिन्न हैं ऐसी उन नयोंको यदि परस्परमें संवंधरखनेवाली तथा अभिन्न आपकी नय जीतलेवे तो इसमें क्या आश्चर्य है ? कुछ भी आश्चर्य नहीं है ॥ ३५ ॥

अण्णस्स जए जीहा कस्स सयाणस्स वण्णणे तुज्झ
जच्छ जिण तेवि जाया सुरगुरुपमुहा कई कुंठा ॥

॥३७१॥

अन्यस्य जगति जिह्वा कस्य सज्ञानस्य वर्णने तव
यत्र जिन तेऽपि जाता. सुरगुरुप्रमुखाः कवय. कुठाः ॥

अर्थः—हे जिनेश हे प्रभो ऐसा संसारमें कौंनसा पुरुष समर्थ है कि जिसकी जिह्वा उत्तमज्ञानके धारक आपके वर्णन करनेमें समर्थ हो ? क्योंकि वृहस्पति आदिक जो उत्तम कवि हैं वे भी आपके वर्णन करनेमें मंदबुद्धि हैं ।

भावार्थः—संसारमें वृहस्पतिके बराबर पदार्थोंके वर्णन करनेमें दूसरा कोई उत्तम कवि नहीं है क्योंकि वेइंद्रके भी गुरु हैं किंतु हे जिनेंद्र आपके गुणानुवाद करनेमें वे भी असमर्थ हैं अर्थात् उनकी बुद्धिमें भी यह सामर्थ्य नहीं जो आपका गुणानुवाद वे करसके क्योंकि आपके गुण संख्यातीत तथा अगाह है । और जब वृस्पतिकी जिह्वा भी आपके गुणानुवाद करनेमें हार मानती है तब अन्य साधारणमनुष्योंकी जिह्वा आपका गुणानुवाद करसके यह बात सर्वथा असंभव है ॥ ३६ ॥

सो मोहत्थेण रहिओ पयासिओ पहु सुपहो तएवईया
तेणाज्जवि रयणजुआ णिव्विघ्घं जंति णिव्वाणं ॥

स मोहचौररहित. प्रकाशित प्रभो सुपथा तस्मिन्काले
तेनाद्यापि रत्नत्रययुता निर्विघ्न यांति निर्वाणम् ॥

अर्थः—हे प्रभुओंकेप्रभु जिनेंद्र आपने उससमय मोहरूपी चोरकररहित उत्तममार्गका प्रकाशन किया था इसलिये सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्रके धारी भव्यजीव इससमय भी उसमार्गसे बिना ही क्लेशके मोक्षको चलेजाते हैं ।

भावार्थः—यदि मार्ग साफ तथा चोरोंके भयकर रहित होवे तो रस्तागीर जिसप्रकार बिना ही विघ्नसे उसमार्गसे चलेजाते हैं उसीप्रकार हे भगवन् आपने भी जिसमार्गका उपदेश दिया है वह मार्ग भी साफ तथा सबसे वलवानमोहरूपीचोरकर रहित है इसलिये जो भव्यजीव सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्ररूपी रत्नत्रयके धारी हैं वे विना ही किसी विघ्नके सुखसे उसमार्गसे मोक्षको चलेजाते हैं ।

सारार्थः—यदि मोक्षमार्गमें गमन करनेवाले प्राणियोंको रोकनेवाला है तो मोहरूपीचोर ही है इसीलिये भव्यजीव सहसा मोक्षको नहीं जाते । और हे भगवन् आपने मोहरहित मार्गका वर्णन किया है इसलिये भव्य जीव निर्विघ्न मोक्षको चलेजाते हैं ॥ ३७ ॥

उम्मुद्दियम्मि तम्मि हु मोक्खणिहाणे गुणणिहाण तए
केहिं ण जुणतिणाइव इयरणिहाणाइ भुवणम्मि ॥

उन्मुद्रिते तस्मिन् खलु मोक्षनिधाने गुणनिधान त्वया
कैर्न जीर्णतृणानीव इतरनिधानानि भुवने ॥

अर्थः—हे भगवन् हे गुणनिधान जिससमय आपने मोक्षरूपी खजानेको खोलदिया था उससमय ऐसे कौनसे भव्यजीव नहीं हैं जिन्होंने सड़ेतृणके समान दूसरे २ राज्यआदि निधानोंको नहीं छोड़दिया ।

भावार्थः—हे जिनेश हे गुणनिधान जबतक भव्यजीवोंने मोक्षरूपी खजानेको नहीं समझा था तथा उसके गुणोंको नहीं जाना था तभीतक वे राज्यआदिको उत्तम तथा सुखका करनेवाला समझते थे किंतु जिस समय आपने उनको मोक्षरूपीखजानेको खोलकर दिखादिया तब उन्होंने राज्य आदिक निधानोंको सड़ेहुए तृणके समान छोड़दिया अर्थात् वे सब मोक्षरूपी खजानेकी प्राप्तिके इच्छुक हो गये ॥ ३८ ॥

मोहमहाफणिडक्को जणो विरायं तुमं पमुत्तूण
इयरणाए कह पहु विवेयणो चेयणं लहइ ॥

मोहमहाफणिदष्टो जनो विरागं त्वां प्रमुच्य
इतराज्ञया कथ प्रभो चेतनां लभते ॥

अर्थः—हे प्रभो हे जिनेश जो पुरुष मोहरूपी प्रवल सर्पसे काटा गया है अर्थात् जो अत्यंत मोही है वह मनुष्य समस्तप्रकारके रोगोंसे रहित वीतराग आपको छोड़कर आपसे भिन्न जो कुदेव हैं उनकी आज्ञासे कैसे चेतनाको प्राप्त कर सकता है ? अर्थात् वह कैसे ज्ञानी बन सकता है ?

भावार्थः—जो जीव यह पुत्र मेरा है यह स्त्री मेरी है तथा यह संपत्ति मेरी है इसप्रकार अनादिकालसे मोहकर ग्रस्त हो रहा है अर्थात् जिसको अंशमात्र भी हिताहितका ज्ञान नहीं है हे प्रभो उस मनुष्यको कभी भी आपसे भिन्न कुदेवादिकी आज्ञासे चेतनाकी प्राप्ति नहीं हो सकती है अर्थात् वह मनुष्य कदापि कुदेवादि के मार्गमें गमन करनेसें ज्ञानका संपादन नहीं कर सकता ॥ ३९ ॥

भवसायरम्मि धम्मो धरइ पडंतं जणं तुहच्चेव
सवरस्सव परमारणकारणमियराण जिणणाह ॥

भवसागरे धर्मो धरति पतंतं जनं तवैव
शवरस्येव परमारणकारणमितरेषा जिननाथ ॥

अर्थः—हे प्रभो हे जिनेश संसाररूपी समुद्रमें गिरतेहुए जीवोंको आपका धर्म ही धारण करता है किंतु हे जिनेन्द्र आपसे भिन्न जितनेभर धर्म हैं वे भीलके धनुषके समान दूसरोंके मारनेमें ही कारण हैं ।

भावार्थ—जिसप्रकार भीलका धमुष जीवोंको मारने ही वाला है रक्षा करनेवाला नहीं उसीप्रकार हे

जिनेन्द्र यद्यपि संसारमें बहुतसे धर्म मौजूद है परंतु वे सर्वधर्म प्राणियोंको दुःखोंके ही कारण हैं अर्थात् जो प्राणि उन धर्मोंको धारण करता है उसको अनेकगतियोंमें भ्रमणहीकरना पड़ता है तथा उन गतियोंमें नाना प्रकारके दुःखोंको वह उठाता है क्योंकि उन धर्मोंमें वस्तुका वास्तविक स्वरूप जोकि जीवोंको हितकारी है नहीं बतलाया गया है किंतु हे प्रभो आपके धर्ममें वस्तुका यथार्थस्वरूप भलीभांति बतलाया गया है अर्थात् असली मोक्षमार्ग आदिको विस्तृत रीतिसे समझाया गया है इसलिये जो प्राणी आपके धर्मके धारण करनेवाले हैं वे शीघ्र ही इस भयंकर संसाररूपी समुद्रको तर जाते है इसलिये आपका धर्म ही उत्तम धर्म है ॥४०॥

अण्णो को तुह पुरउ वग्गइ गुरुयत्तणं पयासंसो
जम्मि तइ परामियत्तं केशणहाणंपि जिण जायं ॥

अन्य क तव पुरतो वल्गति गुरुत्वं प्रकाशयन् ॥
यस्मिन् त्वयि प्रमाणत्वं केशनखानामपि जिन जातम् ॥

अर्थः—हे प्रभो हे जिनेन्द्र जब आपके केश तथा नख भी परिमित हैं अर्थात् बढते घटते नहीं तब ऐसा कौन है जो आपके सामने अपनी गुरुताको प्रकाशित करता हुआ बोलने की सामर्थ्य रखता हो ।

भावार्थः—जब अचेतन भी नख तथा केश आपके प्रतापसे सदा परिमित ही रहते हैं अर्थात् न कभी बढ़ते हैं तथा न कभी घटते हैं तब जो आपके प्रतापको जानता है वह कैसे आपके सामने अपनी महिमाको प्रकटकर सकता है तथा आपके सामने अधिक बोल सकता है ॥ ४१ ॥

सोहइ सरीरं तुह पहु तिहुयणजणणयणविंबविच्छुरियं
पडिसमयमच्चियं चारुतरलनीलुप्पलेहिंव ॥

शोभते शरीरं तव प्रभो त्रिभुवनयनविबविच्छुरितं
प्रतिसमयमर्चितं चारुतरलनीलोत्पलैरिव ॥

अर्थः—हे प्रभो हे जिनेन्द्र तीनोंलोकके जीवोंके जो नेत्र उनकी जो प्रतिविंब उनसे चित्रविचित्र आपका शरीर ऐसा मालूम पड़ता है मानों सुंदर तथा चंचल नीलकमलोंसे प्रतिसमय पूजित ही है क्या ?

भावार्थः—हे जिनेन्द्र आपका शरीर अत्यंत स्वच्छ सोनेके रंगका है और जीवोंके नेत्रोंको उपमा नील-कमलोंसे दीगई है इसलिये जिससमय वे जीव आपके दर्शन करते हैं उससमय उनके नेत्रोंके प्रतिविंब आपके शरीरमें पड़ते हैं उननेत्रोंके प्रतिबिंबको अनुभवकर ग्रंथकार उत्प्रेक्षा करते हैं कि हे प्रभो वे नेत्रोंके प्रतिबिंब नहीं हैं किंतु प्रतिसमय समस्तजीव आपकी नीलकमलोंसे पूजा करते हैं इसलिये वे नीलकमल हैं ॥ ४२ ॥

अहमहमिआये णिवडंति णाह छुहियालिणोव्व हरिचक्खू
तुज्झच्चिय णहपहसरसज्झट्ठियचलणकमलेसु ॥

अहमहमिकया निपतति नाथ क्षुधितालय इव हरिचक्षूंपि
तव अर्चितनखप्रभासरोमध्यास्थितचरणकमलेपु ॥

अर्थः—हे जिनेश हे प्रभो आपके पूजित जो नख उनकी जो प्रभा (कांति) वही हुआ सरोवर उसके मध्यमें स्थित जो चरणकमल उनमें भूंखेभ्रमरोंके समान इन्द्रोंके नेत्र अहम् अहम् (मैं मैं) इसरीतिसे गिरते हैं।

भावार्थः—जिसप्रकार कमलोंमें सुगंधके लोलुपी भ्रमर बारम्बार आकर गिरते हैं उसीप्रकार हे जिनेन्द्र जिससमय इन्द्र आकर आपके चरणकमलोंको नमस्कार करते हैं उससयय आपके चरणकमलोंमें भी उन इन्द्रोंके नेत्ररूपी भ्रमर पड़ते हैं और वे नेत्र काले २ भ्रमरोंके समान मालूम पड़ते हैं ॥ ४३ ॥

कणयकमलाणमुवरिं सेवातुहविवुहकप्पियाण तुह
अहियसिरीणं तत्तो जुत्तं चरणाणसंचरणं ॥ ?

कनककमलानामुपरि सेवातुरविबुधकल्पितानां तव
अधिकश्रीणां ततो युक्तं चरणानां सञ्चरणम् ॥

अर्थः—हे जिनेन्द्र हे प्रभो आपके चरण अत्यंत उत्तम शोभाकर संयुक्त हैं इसलिये उनका, भक्तिवश देवोंद्वारा रचित जो सुवर्णकमल उनके ऊपर गमन करना युक्त ही है ।

भावार्थः—जिससमय भगवान ज्ञानावरणादि चारघातिया कर्मोंको सर्वथा नष्ट कर देते हैं उससमय उनको केवलज्ञानकी प्राप्ति होती है और केवलज्ञानकी प्राप्ति होनेके पीछे वे उपदेश देनेको निकलते हैं उस समय यद्यपि वे आकाशमें अधर चलते हैं तोभी देव भक्तिके वशहोकर उनके चलनेकेलिये सुवर्णकमलोंसे निर्मित मार्गकी रचना करते हैं उसी आशयको मनमें रखकर ग्रंथकार भगवानकी स्तुति करते हैं कि हे भगवन् आपने जो देवरचित सुवर्णकमलों पर गमन किया था वह सर्वथा युक्त ही था क्योंकि जैसे सुवर्णकमल एक उत्तम पदार्थ थे उसीप्रकार आपके चरण भी अति उत्तम शोभाकर संयुक्त थे ॥ ४४ ॥

सइहरिकयकण्णसुहो गिज्जइ अमरेहि तुह जसो सग्गो
मण्णे तं सोउमणो हरिणो हरिणंकसल्लीणे ॥

शचीन्द्रकृतकर्णसुखं गीयते अमरैस्तव यशः स्वर्गे
मन्ये तच्छ्रोतुमना हरिणः हरिणांकसल्लीनः ॥

अर्थः—हे भगवन् हे जिनेन्द्र जिसके सुननेसे इंद्र तथा इंद्राणीके कानोंको सुख होता है ऐसे आपके यशको

सदा स्वर्गोंमें देवतालोग गाया करते हैं इसलिये ऐसा मालूम होता है कि उसीके सुननेकेलिये मृग चंद्रमामें जाकर लीन हो गया ।

भावार्थः—संसारमें यह किंवदन्ती भलीभांति प्रसिद्ध है कि चंद्रमाके हिरणका चिह्न है इसीलिये उसका नाम मृगांक है (अर्थात् चंद्रमामें हिरण रहता है) अतः आचार्यवर उत्प्रेक्षा करते हैं कि इस भूमंडलको छोड़कर जो चंद्रमामें जाकर हिरणने स्थिति की है उसका यही कारण है कि वह पासमें स्वर्गमें गाना सुननेकेलिये गया है क्योंकि हे जिनेन्द्र इन्द्र तथा इन्द्राणीके कानोंको सुखके करनेवाले आपके यशको स्वर्गमें सदा देव गान किया करते हैं और हिरण गानेका अत्यंत प्रिय है यह प्रत्यक्षगोचर है ॥ ४५ ॥

अलियं कमले कमला कमकमले तुह जिणिंद सा वसई
णहकिरणणिहेण घडंति णयजणे से कडक्खछडा ॥

अलीकं कमले कमला क्रमकमले तव जिनेन्द्र सा वसति
नखकिरणनिभेन घटते नतजने तस्याः कटाक्षच्छटाः ॥

अर्थः—हे प्रभो हे जिनेश लक्ष्मी कमलमें रहती है यह बात सर्वथा असत्य है क्योंकि वह लक्ष्मी आपके चरणकमलोंमें रहती है क्योंकि जो भव्यजीव आपको शिरझुकाकर नमस्कार करते हैं उन भव्यजीवोंके ऊपर नखोंकी किरणोंके वहानेसे उस लक्ष्मीका कटाक्षपात प्रतीत होता है ।

भावार्थः—ग्रंथकार उत्प्रेक्षा करते हैं कि हे भगवन् आपकी जो नखोंकी किरणे हैं वे नखोंकी किरण नहीं किंतु आपके चरणोंमें विराजमान जो लक्ष्मी (शोभा) है उसके कटाक्षपात हैं क्योंकि जो पुरुष भक्ति पूर्वक आपके चरणकमलोंको नमस्कार करते हैं उनके ऊपर मुग्ध होकर लक्ष्मी कटाक्षपात करती है अर्थात्

जो पुरुष आपके चरणकमलोंको शिर झुकाकर नमस्कार करते हैं उनको लक्ष्मीकी प्राप्ति होती है वे लक्ष्मी-वान बन जाते हैं इसलिये हे प्रभो जो यह संसारमें किंवदंती प्रसिद्ध है कि लक्ष्मीकमलमें निवास करती है यहबात सर्वथा असत्य है किंतु वह आपके चरणकमलोंमें ही रहती है अन्यथा भव्यजीव लक्ष्मीवान कैसे हो सकते हैं ॥ ४६ ॥

जे कयकुवलयहरिसे तुमम्मि विद्देसिणो स ताणंपि
दोसो ससिम्मि वा आहयाण जह वाहिआवरणं ॥

ये कृतकुवलयहर्षे त्वयि विद्वेषिणः स तेषामपि
दोष शशिनि इव आहताना यथा वाह्यावरणम् ॥

अर्थः—चंद्रमा तो सदा पृथ्वीको (रात्रिविकासी कमलोंको) आनंदका ही देनेवाला है किंतु जो मनुष्य रोग ग्रस्त हैं वे चंद्रमासे घृणा करते हैं सो जिसप्रकार उस घृणाके करनेमें उनके वाह्य आवरणका (उनके रोगका) ही दोष है चंद्रमाका दोष नहीं। उसीप्रकार हे जिनेंद्र आपतो समस्त भूमडलको आनंदके करनेवाले हैं यदि ऐसा होनेपर भी कोई मूर्ख आपसे विद्वेष करै तो वह उसीका दोष है इसमें आपका कोई भी दोष नहीं ॥४७॥

को इहहि उव्वरंति जिण जयसंहरणमरणवणासिहिणो
तुह पयथुरणिज्झरणीवारणमिणमो ण जइ होंति ॥

क इहहि उद्धरंति जिन जगत्संहरणमरणवनाशिखिन.
तव पादस्तुतिनिर्झरिणीवारणमिद न यदि भवति ॥

अर्थः—हे भगवन् हे प्रभो आपके चरणोंकी स्तुति वही हुई नदी उससे यदि वारण बुझाना नहीं होता

अग्नि उससे कैसे उद्धार होता ?

तो समस्तजगतको संहार करनेवाली ऐसी जो मरणरूपी वनकी अग्नि उससे कैसे उद्धार होता ?

भावार्थः—यदि किसीकारणसे वनमें अग्नि लगजावे और उस अग्निका बुझानेवाला यदि नदीका जल न होवे तो उस अग्निसे जिसप्रकार कुछ भी चीज नहीं बचती सब ही भस्म हो जाती हैं उसीप्रकार हे जिनेन्द्र यदि आपके चरणोंकी स्तुतिरूप जो नदी उससे बुझाना न होता तो समस्त जगतको नष्ट करनेवाली मरण-रूपी वनाग्निसे किसीप्रकारसे उद्धार नहीं हो सकता था ।

सारार्थः—हे जिनेन्द्र यदि जीवोंको मरनेसे बचाने वाली है तो आपकी चरणोंकी स्तुति ही है ॥ ४८ ॥

करजुयलकमलमउले भालत्थे तुह पुरो करा वसइ
सग्गापवग्गकमला थुणंति तं तेण सप्पुरिसा ॥

करयुगलकमलमुकुले भालस्थे तव पुरत कृते वसति
स्वर्गापवर्गकमला कुर्वंति तत् तेन सत्पुरुषा ॥

अर्थः—हे भगवन् हे जिनेन्द्र जिससमय भव्यजीव आपके सामने दोनों हाथरूपी कमलोंको मुकुलितकर अर्थात् जोड़कर मस्तकपर रखते हैं उससमय उनको स्वर्ग तथा मोक्षकी लक्ष्मीकी प्राप्ति होती है इसी लिये उत्तम पुरुष हाथ जोड़कर मस्तकपर रखते हैं ।

भावार्थः—ग्रंथकार उत्प्रेक्षा करते हैं कि हे भगवन् जो सज्जनपुरुष हाथ जोड़कर मस्तकपर रखते हैं उनका उसप्रकारका कार्य निष्फल नहीं है किंतु उनको, हाथ जोड़कर मस्तकपर रखनेसे स्वर्ग तथा मोक्ष लक्ष्मीकी प्राप्ति होती है अर्थात् हे भगवन् जो भव्यजीव आपको हाथ जोड़कर तथा मस्तक नवाकर नमस्कार करते हैं उनको स्वर्ग तथा मोक्षके सुखोंकी प्राप्ति होती है ॥ ४९ ॥

॥३८०॥

वियलइ मोहणधूली तुह पुरओ मोहठगपरिट्ठविया
पणवियसीसाउ तओ पणवियसीसा वुहा होंति ॥

विगलति मोहनधूलिस्तव पुरतो मोहठकस्थापिता
प्रणमितशीर्षान् तत प्रणमितशीर्षा बुधा भवति ॥

अर्थः—हे भगवन् हे प्रभो जो भव्यजीव आपको मस्तक झुकाकर नमस्कार करते हैं उनकी मोहरूपी ठगसे स्थापित मोहन रूपी धूली आपके सामने बातकी बातमें नष्टहो जाती है इसीलिये विद्वान पुरुष आपको नमस्कार करतेहैं

भावार्थः—जिन जीवोंकी आत्मा पर जबतक मोहरूपी भयंकर तथा दुर्जय ठगद्वारारचित मोहनधूली विद्यमान रहती है तबतक उन जीवोंको अंशमात्र भी हेयोपादेयका ज्ञान नहीं होता किंतु वे विक्षिप्तके समान यह पुत्र मेरा है यह स्त्री मेरी है और यह द्रव्य मेरा है ऐसे असत्यविकल्पोंको सदा किया करते हैं किंतु हे प्रभो जिससमय वे भव्यजीव आपको मस्तक नवाकर विनयसे नमस्कार करते हैं उससमय आपके सामने प्रबल भी उस मोहरूपी ठगकी कुछ भी तीन पांच नहीं चलती अर्थात् वह आपको नमस्कार करनेवाले भव्यजीवोंके ऊपर अंशमात्र भी मोहनधूली नहीं डालसकता इसीलिये उत्तम विद्वानपुरुष आपको मस्तक झुकाकर नमस्कार करते हैं ५०॥

वंभप्पमुहा सण्णा सव्वा तुह जे भणंति अण्णस्स
ससिजोण्णा खज्जोए जडेहि जोडिज्जये तेहिं ॥

ब्रह्मप्रमुखा संज्ञा सर्वा तव ये भणति अन्यस्य
शशिज्योत्स्ना खद्योते जडैः युज्यते तैः ॥

अर्थः—हे प्रभो हे जिनेन्द्र ब्रह्मा विष्णु आदिक जो संज्ञा सुननेमें आती हैं वे आपकीही हैं अर्थात् आप ही ब्रह्मा हैं तथा आप ही विष्णु हैं तथा बुद्ध आदिक भी आप ही हैं किंतु जो मनुष्य ब्रह्मा विष्णु आदि

संज्ञा दूसरोंकी मानते हैं वे मूढमनुष्य चंद्रमाकी चांदनीका खद्योत (जिगुनू) के साथ संबंध करतेहैं ऐसा मालूम होताहै।

भावार्थः—खद्योतका (पटबीजनाका) प्रकाश बहुत कम होता है और शीतल नहीं होता और चंद्रमाका प्रकाश अधिक तथा शान्तिका देनेवाला होता है यह बात भलीभांति प्रतीति सिद्ध है ऐसे होनेपर भी जो मनुष्य चंद्रमाकी अधिक तथा शीतल चांदनीको यदि खद्योतकी चांदनी कहै तो जिसप्रकार वह मूर्ख समझा जाता है उसीप्रकार हे प्रभो वास्तविक रीतिसे तो ब्रह्मा आदिक संज्ञा आपकी ही है किंतु जो मनुष्य चतुर्मुख व्यक्तिको ब्रह्मा कहता है तथा गोपिकाओंके साथ रमण करनेवालेको पुरुषोत्तम (विष्णु) कहता है और पार्वती नामकी स्त्रीके पतिको महादेव कहता है वह मनुष्य मूर्ख है क्योंकि ब्रह्मा आदिक जो संज्ञा है वे सार्थक हैं तथा उनका अर्थ चतुर्मुख आदि व्यक्तियोंमें घट नहीं सकता इसलिये वे ब्रह्मा आदिक नहीं हो सकते ॥ ५१ ॥

आदिनाथ स्तोत्रमें भी यही बात कही है—

वसंततिलका ।

बुद्धस्त्वमेव विबुधार्चितबुद्धिबोधात्त्वं शंकरोऽसि भुवनत्रयशंकरत्वात् ।
धातासि धीर शिवमार्गविधेर्विधानाद्व्यक्तं त्वमेव भगवन् पुरुषोत्तमोऽसि ॥

अर्थः—हे आदीश्वर भगवन् आपके ज्ञानकी बड़े २ देव आकर पूजन करते हैं इसलिये आप ही बुद्ध हो किंतु आपसे भिन्न दूसरा कोई भी बुद्ध नहीं तथा आपही तीनोंलोकके कल्याणके करनेवाले हैं इसलिये आप ही शंकर हो किंतु आपसे भिन्न कोई भी शंकर (महादेव) नहीं है और हे धीर मोक्षमार्गकी विधिके रचना करनेवाले आपही हैं इसलिये आप ही विधाता (ब्रह्मा) हैं किंतु आपसे भिन्न कोई भी व्यक्ति ब्रह्मा नहीं है और आप प्रकट रीतिसे समस्त पुरुषोंमें उत्तम हैं इसलिये आप ही पुरुषोत्तम (विष्णु) हैं किंतु

आपसे भिन्न कोई भी व्यक्ति पुरुषोत्तम नहीं है ॥ १ ॥

और भी आदिनाथ स्तोत्रमें कहा है—

त्वामव्ययं विभुमचिंत्यमसंख्यमाद्यं ब्रह्माणमीश्वरमनंतमनंगकेतुम् ।
योगीश्वरं विदितयोगमनेकमेकं ज्ञानस्वरूपममलं प्रवदंति सन्तः ॥

अर्थः—हे भगवन् आप नाशकर रहित हैं तथा विभु हैं अर्थात् आपका ज्ञान सर्व जगहपर व्यापक है और आप अचिन्त्य हैं अर्थात् आपका भलीभांति कोई चिंतवन नही कर सकता और आप असंख्य हैं तथा आप सबके आदिमें हुए हैं और आप ब्रह्मा हैं तथा ईश्वर हैं और अंतकर रहित हैं तथा आप कामदेव स्वरूप हैं और समस्त योगियोंके ईश्वर हैं तथा आप प्रसिद्धध्यानी हैं और आप अपने गुणोंकी अपेक्षा व्यवहारनयसे अनेक हैं तथा परमशुद्धनिश्चयनयकी अपेक्षा एक हैं और आप ज्ञानस्वरूप है तथा निर्मल हैं ऐसा उत्तम पुरुष कहते हैं॥५२॥

तं चेव मोक्खपयवी तं चिय सरणं जणस्स सव्वस्स
तं णिक्कारणविज्जो जाइजरामरणवाहिहरो ॥

त्वं चैव मोक्षपदवी त्वमेव शरणं जनस्य सर्वस्य
त्वं निष्कारणवैद्यः जातिजरामरणव्याधिहरः ॥

अर्थः—हे भगवन् हे जिनेश आप ही तो मोक्षके मार्ग हैं तथा समस्त प्राणियोंके आप ही शरण हैं और समस्त जन्म जरा मरण आदि रोगोंके नाश करनेवाले आप ही बिना कारणके वैद्य हैं ॥ ५३ ॥

किच्छाहि समुवलद्धे कयकिच्चा जम्मि जोइणो होंति
तं परमकारणं जिण ण तुमाहिंतो परोअत्थि ॥

॥३८३॥

कृच्छात्समुपलब्धे कृतकृत्या यस्मिन् योगिनो भवंति
तत्परमपदकारणं जिन न त्वत्तः परोऽस्ति ॥

अर्थः—हे प्रभो हे जिनेन्द्र बड़े कष्टोंसे आपको प्राप्तहोकर योगीलोग कृतकृत्य होजाते हैं अर्थात् संसारमें उनको दूसरा कोई भी काम नहीं बाकी रहता इसलिये आपसे भिन्न कोई भी परमपद (मोक्षपद) का कारण दूसरा नहीं है ।

भावार्थः—यद्यपि संसारमें बहुतसे देव हैं तथा वे अपनेको परमपदका कारण भी कहते हैं किंतु हे जिनेन्द्र उनमें अनेक दूषण मौजूद हैं इसलिये वे परमपदके कारण नहीं हो सकते किंतु यदि परमपदके कारण हो तो आपही हो क्योंकि योगी तपआदिको करके आपके स्वरूपको प्राप्त होकर कृतकृत्य हो जाते हैं॥५४॥

सुहमोसि तह ण दीससि जह पहु परमाणुपेत्थियेहिंपि
गुरवो तह वोहमए जह तइ सत्वंपि सम्मायं ॥

सूक्ष्मोऽसि तथा न दृश्यसे परमाणुप्रेक्षिभिरपि
गरिष्ठस्तथा बोधमये यथा त्वयि सर्वमपि सम्मातम् ॥

अर्थः—हे प्रभो हे जिनेश आप सूक्ष्म तो इतने हैं कि परमाणुपर्यंत पदार्थोंको प्रत्यक्ष करनेवाले भी आपको देख नहीं सकते तथा गुरु आप इतने हैं कि सम्यग्ज्ञानस्वरूप आपमें यह समस्त पदार्थसमूह समाया हुआ है अर्थात् आपका ज्ञान आकाशसे भी अनंतगुणा है इसलिये अकाशादि समस्त पदार्थ आपके ज्ञानमें झलक रहे हैं॥५५॥

णिस्सेसवत्थुसत्थे हेयमहेयं निरूवमाणस्स
तं परमप्पासारो सेसमसारं पलालं वा

निश्शेषवस्तुसार्थे हेयमहेय विरूप्यमाणस्य
त्वं परमात्मा सार, शेषमसार पलाल वा ॥

अर्थः—हे प्रभो हे जिनेन्द्र समस्तवस्तुओंके समूहमें जो मनुष्य हेय तथा उपादेयको देखनेवाला है उस पुरुषकी दृष्टिमें परमात्मा आप ही सार हैं और आपसे भिन्न जितनेभर पदार्थ हैं वे समस्त सूखेतृणके समान असार हैं ।

भावार्थः—यद्यपि संसारमें अनेक पदार्थ हैं किंतु हे प्रभो जो मनुष्य हेय तथा उपादेयका ज्ञाता है अर्थात् यह वस्तु त्यागने योग्य है तथा यह वस्तु ग्रहणकरने योग्य है जिसको इसबातका भलीभांति ज्ञान है उस मनुष्यकी दृष्टिमें यदि सारभूत पदार्थ हो तो आप ही हो क्योंकि आप समस्त कर्मोंकर रहित परमात्मा हो परंतु आपसे भिन्न कोई भी पदार्थ सार नहीं किंतु जिसप्रकार सूखा तृण असार है उसीप्रकार आपसे भिन्न समस्त पदार्थ असार हैं ॥ ५६ ॥

धरइ परमाणुलीलं जं गब्भे तिहुयणंपि तंपि णह
अंतो णाणस्स तुह इयरस्स न एरिसी महिमा ॥

धरति परमाणुलीला यद्गर्भे त्रिभुवनमपि तदपि नभ.
अन्तो ज्ञानस्य तव इतरस्य न ईदृशी महिमा ॥

अर्थः—हे प्रभो हे जिनेश जिस आकाशके गर्भमें ये तीनोंभुवन परमाणुकी लीलाको धारण करते हैं अर्थात् परमाणुके समान माळूम पड़ते हैं वह आकाश भी आपके ज्ञानके मध्यमें परमाणुके समान माळूम पड़ता है ऐसी महिमा आपके ज्ञानमें ही मौजूद है किंतु आपसे भिन्न और किसी भी देवके ज्ञानमें ऐसी महिमा नहीं है।

भावार्थः—जैनसिद्धांतमें आकाश अनंतप्रदेशी माना गया है और उस आकाशके दो भेद स्वीकार किये हैं एक लोकाकाश दूसरा अलोकाकाश उनमें जिसमें जीवादि द्रव्य रहें उसको लोक कहते हैं वह लोक इस आकाशके मध्यमें सर्वथा छोटा परमाणुके समान माळूम पड़ता है क्योंकि लोक असंख्यात प्रदेशी ही हैं तथा

आकाश अनंतप्रदेशी है परंतु हे भगवन् यह एक आपकी अपूर्व महिमा है कि अनंतप्रदेशी भी यह आकाश आपके ज्ञानमें परमाणुके समान ही है अर्थात् आपका ज्ञान आकाशसे भी हे प्रभो अनंतगुणा है किंतु हे भगवन् आपसे भिन्न जितनेभर देव हैं उनमें यह महिमा नहीं मौजूद है क्योंकि जब उनके केवलज्ञान ही नहीं है तो वह अनंतगुण हो किसप्रकार सकता है ॥ ५७ ॥

भुवणत्थुय थुणइ जइ जए सरस्सइ संतयं तुहं तहवि
ण गुणंतं लहइ तहिं को तरइ जडो जणो अण्णो ॥

भुवनस्तुत्य स्तौति यदि जगति सरस्वती संततं त्वां तथापि
न गुणांत लभते तर्हि कस्तरति जडो जनोऽन्यः ॥

अर्थ—हे तीनभुवनके स्तुतिकेपात्र संसारमें सरस्वती आपकी स्तुति करती है यदि वह भी आपके गुणोंके अंतको नहीं प्राप्त करसकती है तब अन्य जो मूर्ख पुरुष है वह यदि आपके गुणोंकी स्तुति करै तो वह कैसे आपके गुणोंका अंत पा सकता है ?

भावार्थः—सरस्वतीके सामने पदार्थके वर्णन करनेमें दूसरा कोई भी प्रवीण नहीं है क्योंकि वह साक्षात् सरस्वती ही है परंतु हे प्रभो जब वह भी आपके गुणोंके अंतको नहीं प्राप्त करसकती है अर्थात् आपके गुणोंके वर्णन करनेमें जब वह भी हार मानती है तब हे जिनेश जो मनुष्य मूर्ख हैं अर्थात् जिसकी बुद्धिपर ज्ञानावरणकर्मका पूरा २ प्रभाव पड़ाहुआ है वह मनुष्य कैसे आपके गुणोंको वर्णन करसकता है ?

सारार्थः—हे जिनेन्द्र आपमें इतने अधिक गुण विद्यमान हैं तथा वे इतने गंभीर हैं कि उनको कोई भी वर्णन नहीं करसकता ॥ ५८ ॥

खयरिव्व संचरंती तिहुयणगुरु तुह गुणोहगयणम्मि
दूरंपि गया सुइरं कस्स गिरा पत्तयेरंता ॥

खचरीव सचरती त्रिभुवनगुरो तव गुणौघगमने
दूरमपि गता सुचिर कस्य गी. प्राप्तपर्यंता ॥

अर्थः—हे त्रिभुवनगुरो हे जिनेन्द्र आपके गुणोंके समूहरूपी आकाशमें गमन करनेवाली तथा दूरतक गईहुई ऐसी किसकी वाणीरूपी पक्षिणी है ? जो अंतको प्राप्त हो जावे ।

भावार्थः—जिसप्रकार आकाशमें गमन करनेवाली पक्षिणी यदि दूरतक भी उड़ती २ चली जावे तोभी आकाशके अंतको नहीं प्राप्त करसकती है क्योंकि आकाश अनत है उसीप्रकार हे प्रभो आपके गुण भी अनत हैं इसलिये कवि अपनी वाणीसे चाहे जितना आपके गुणोंका वर्णन करै तौभी उसकी बाणी आपके गुणोंके अंतको नहीं पा सकती ॥ ५९ ॥

जच्छअसको सको अणीसरो ईसरो फणीसोवि
तुह थोत्ते तच्छ कई अहममई तं खमिज्जासु ॥

यत्राशक्त. शक्रोऽनीश्वर ईश्वर. फणीश्वरोऽपि
तव स्तोत्रे तत्र वा कवि. अहममति तत्क्षमस्व ॥

अर्थः—हे गुणागार प्रभो जिस आपके स्तोत्रकरनेमें इन्द्र भी असमर्थ हैं और महादेव तथा शेषनाग भी अशक्त हैं उस आपके स्तोत्र करनेमें मैं अल्पबुद्धि कवि क्या चीज हूं ? इसलिये मैं ने भी जो आपका स्तोत्र किया है उसको क्षमा कीजिये ।

भावार्थः—हे प्रभो हे जिनेन्द्र आपकें गुणोंका स्तोत्र इतना कठिन है कि साधारण मनुष्योंकी तो क्या

बात जो अत्यंत बुद्धिमान तथा सामर्थ्यवान हैं ऐसे इन्द्र ईश्वर (महादेव) तथा धरणीन्द्र है वेभी नहीं करसकते किंतु मुझ अल्पबुद्धिने इस आपके स्तोत्रके करनेका साहस किया है इसलिये यह मेरा एकप्रकारका बड़ाभारी अपराध है अतः विनयपूर्वक प्रार्थना है कि इस मेरे अपराधको आप क्षमा करैं ॥ ६० ॥

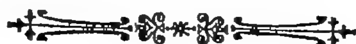
तं भव्वपोमणंदी तेयणिहीणो सरुव्वणिद्दोसो
मोहंधयारहरणे तुह पाया मम पसीयंतु ॥

त्वं भव्यपद्मनंदी तेजोनिधि सूर्यवन्निर्दोष
मोहांधकारहरणे तव पादौ मम प्रसीदेताम् ॥

अर्थः——हे जिनेश हे प्रभो आप भव्यरूपी कमलोंको आनंदके देनेवाले तथा तेजके निधान और निर्दोष सूर्यके समान हैं इसलिये मोहरूपी अंधकारके नाश करनेकेलिये आपके चरण सदा प्रसन्न रहैं।

भावार्थः——जिसप्रकार सूर्य कमलोंको आनंदका करनेवाला होता है तथा तेजका भंडार होता है और निर्दोष होता है तथा उसकी किरण समस्त अंधकारके नाश करनेवाली होती हैं उसीप्रकार हे प्रभो आप भी भव्यरूपी कमलोंको आनंदके देनेवाले हैं तथा तेजके निधान हैं तथा निर्दोष हैं इसलिये आप सूर्यके समान हैं इसलिये विनयपूर्वक प्रार्थना है कि आपके चरण मोहरूपी अंधकारके नाश करनेकेलिये सदा मेरेऊपर प्रसन्न रहैं ॥ ६१ ॥

इसप्रकार श्रीपद्मनंदिआचार्यद्वारा रचितश्रीपद्मनंदिपंचविंशतिकामें
ऋषभस्तोत्र समाप्तहुआ ॥



श्रीमाज्जिनवरस्तोत्रप्रारंभः ।

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर सहलीहूआइ मज्झ णयणाई
चित्तं गत्तं च लहू अमिएणव सिंचियं जायं ॥

दृष्टे त्वयि जिनवर सफलीभूतानि मम नयनानि
चित्त गात्र च लघु अमृतेनवै सिंचित जातम् ॥

अर्थः—हे जिनेश हे प्रभो आपके देखनेपर मेरे नेत्र सफल होते हैं तथा मेरा मन और मेरा शरीर ऐसा मालूम होता है कि मानों अमृतसे ही शीघ्र सींचा गया हो ।

भावार्थः—उत्तम पदार्थोंके देखनेसे ही नेत्र सफल होते हैं हे भगवन् आप उत्तमपदार्थ हैं इसलिये आपके देखनेसे मेरे नेत्र सफल होते हैं तथा मनमें और मेरे शरीरमें इतना आनंद होता है मानों ये दोनों अमृतसे ही सींचे गये हों ॥ १ ॥

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर दिट्ठिहरासेसमोहतिमिरेण
तह णट्ठं जह दिट्ठं जहट्ठियं तं मए तच्च ॥

दृष्टे त्वयि जिनवर दृष्टिहरनिखिलमोहतिमिरेण
तथा नष्ट यथा दृष्ट यथास्थित तन्मया तत्त्वम् ॥

अर्थः—हे जिनेन्द्र आपके देखनेपर, जो सर्वथा दृष्टिको रोकनेवाला था ऐसा मोहरूपी अंधकार इसरीतिसे नष्ट हो गया कि मैंने जैसा वस्तुका स्वरूप था वैसा देखलिया ।

भावार्थः—जिसप्रकार अंधकारमें वस्तुका वास्तविक स्वरूप थोड़ाभी नहीं मालूम पड़ता क्योंकि अंध-

कार दृष्टिका प्रतिरोधक (रोकनेवाला) है उसीप्रकार जबतक मोहका प्रभाव इस आत्माके ऊपर पड़ा रहता है तबतक वस्तुका अंशमात्रभी वास्तविक स्वरूप नहीं मालूम पड़ता किंतु हेप्रभो जिससमय आपके दर्शन होजाते हैं उससमय वलवानभी मोहरूपी अंधकार पलभरमें नष्ट होजाता है और ऐसा सर्वथा नष्ट होजाता है कि वस्तुका वास्तविक स्वरूप दीखने लगजाता है ॥ २ ॥

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर परमाणंदेण पूरियं हिययं
मज्झ तहा जह मग्गे मोक्खंपिव पत्तमप्पाणं ॥

दृष्टे त्वयि जिनवर परमानंदेन पूरित हृदयं
मम तथा यथा मन्ये मोक्षमपि वा प्राप्तमात्मानम् ॥

अर्थः—हेजिनेन्द्र हेप्रभो आपके देखनेसें परमानन्दसे भरेहुवे मैं अपने मनको ऐसा मानता हूं मानों मैं ही मोक्षको साक्षात् प्राप्त होगया हों ॥

भावार्थः—जिससमय मेरा आत्मा मोक्षको प्राप्त होजाय तथा जैसा उसको वहां पर आनंद मिले उसी प्रकार हे प्रभो मुझे आपके देखनेसे आनंद मालूम पड़ता है अर्थात् आपके दर्शनसे पैदा हुवा सुख तथा मोक्षका सुख ये दोनों सुख बराबर हैं किंतु इनमें किसी प्रकारका भेद नहीं ॥ ३ ॥

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर णट्ठं चिय मण्णयं महापावं
रविउग्गमे निसाए ठाइ तमो कित्तियं कालं ॥

दृष्टं त्वयि जिनवर नष्टे चैव ज्ञात महापापम्
रव्युद्गमे निशाया तिष्ठेत् तमः कियतं कालम् ॥

अर्थः—हेजिनवर आपके देखनेपर प्रबलपाप नष्ट होगया ऐसा मुझे मालूम हुवा सो ठीक ही है

क्योंकि सूर्यके उदय होनेपर रात्रिका अंधकार कितने कालतक रहसक्ता है ? ॥

भावार्थः—हेजिनेन्द्र जिसप्रकार अत्यंत प्रबलभी रात्रिका अंधकार सूर्यके देखतेही पलभरमें नष्ट हो जाता है उसीप्रकार हेकृपानिधान अत्यंत जबर्दस्त, तथा बड़ाभारीभी पाप आपके दर्शनसे पलभरमें नष्ट होजाता हे ॥४॥

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर सिज्झइ सो कोवि पुण्णपब्भारो
होइ जणो जेण पहु इह परलोयत्थसिद्धीणं ॥

दृष्टे त्वयि जिनवर सिध्यति स कोऽपि पुण्यप्राग्भरः
भवति जनो येन प्रभु' इहपरलोकस्यसिद्धीनाम् ॥

अर्थः—हेजिनेन्द्र आपके देखनेसे ऐसे किसी उत्तम पुण्योंके सभूहकी प्राप्ति होती है कि जिसकी कृपा से, यहजन इसलोक तथा परलोक दोनों लोककी सिद्धियोंका स्वामी होजाता है ॥

भावार्थः—जोमनुष्य आपका दर्शन करते हैं उनको हेप्रभो ऐसे अपूर्व पुण्यकी प्राप्ति होती है कि वे उस पुण्यकी कृपासे इसलोकमें तो तीर्थंकर चक्रवर्ती आदि विभूतियोंको प्राप्त करते हैं तथा परलोकमें आणिमा महिमा आदि ऋद्धियोंके धारी इन्द्र अहमिन्द्र आदि विभूतियों को पाते हैं ॥ ५ ॥

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर मण्णे तं अप्पणो सुकयलाहम्
होही सो जेणासरिससुहनिही अक्खओ मोक्खे ॥

दृष्टे त्वयि जिनवर मन्य तमात्मनः सुकृतलाभम्
भविष्यति येनासदृशसुखनिधिः अक्षयो मोक्ष ॥

अर्थः—हेजिनेश हेप्रभो आपके देखनेसे उस पुण्यलाभ को मानता हूं जिस पुण्यलाभसे असाधारण सुखका निधि तथा अविनाशी ऐसे मोक्षपद की प्राप्ति होती है ॥ ६ ॥

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर संतोषो मज्झ तह परो जाओ
इंदविहवोपि जणइ ण तण्हालेसंपि जह हियए ॥

दृष्टे त्वयि जिनवर संतोषो मम तथा परोजात.
इन्द्राविभवोऽपि जनयति न तृष्णालेशमपि यथा हृदये ॥

अर्थः—हे स्वामिन् हेजिनेन्द्र आपके देखनेसे मुझे ऐसा उत्तम संतोष हुवा है कि जिससंतोषके सामने इन्द्रका ऐश्वर्यभी मेरे हृदयमें तृष्णाके लेशकोभी उत्पन्न नहीं करता ॥

भावार्थः—संसारमें यद्यपि इन्द्रके ऐश्वर्यका पानाभी बड़े भारी पुण्यका फल है तो भी हेजिनेन्द्र आपके दर्शन से ही मुझे इतना उत्कृष्ट तथा बड़ा भारी संतोष होता है कि मुझे इन्द्रके ऐश्वर्यके पानेकी तृष्णाही नहीं होती अर्थात् मैं आपके दर्शनसे उत्पन्न हुवे सतोषके सामने इन्द्रके ऐश्वर्यको भी सड़े तृणके समान असार मानता हूं॥७॥

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर वियारपडिवज्जिए परमसंते
जस्स ण हिट्ठी दिट्ठी तस्स ण णियजम्मविच्छेओ ॥

दृष्टे त्वयि जिनवर विकारपारिवर्जिते परमशान्ते
यस्य न हृष्टा दृष्टिः तस्य न निजजन्मविच्छेदः ॥

अर्थः—समस्तप्रकारके विकारोंकर रहित तथा परमशांत ऐसे आपको देखकर हे जिनेन्द्र जिसमनुष्यकी दृष्टिको आनंद नहीं होता उस मनुष्यके स्वीयजन्मोंका नाशभी नहीं होता ॥

भावार्थः—हे भगवन् हे जिनेश जो मनुष्य समस्त प्रकारके विकारोंकर रहित तथा परमशांत ऐसी आप की मुद्राको देखकर आनंदित होता है उसको संसारमें जन्म नहीं धारण करने पड़ते किंतु जिसमनुष्यकी

दृष्टिको समस्तविकारोंकर रहित तथा शान्तस्वभावी आपको देखकर आनंद नहीं होता उसमनुष्यको अनंत कालतक इससंसारमें परिभ्रमण करना पड़ता ॥ ८ ॥

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर जम्मह कज्जंतराउलं हियथं
कइयावि होइ पुव्वाजियस्स कम्मस्स सो दोसो ॥

दृष्टे त्वयि जिनवर यन्मम कार्यान्तराकुल हृदय
कदापि भवति पूर्वार्जितस्य कर्मण' स दोष ॥

अर्थः—हे प्रभो हे जिनेन्द्र आपको देखकर भी जो कभी २ मेरा मन दूसरे २ कार्योंसे आकुलित हो जाता है उसमें मेरे पूर्वोपजित कर्मका ही दोष है ॥

भावार्थः—हे प्रभो संसारमें आपके दर्शन अलभ्य है अर्थात हरएक मनुष्यको आपके दर्शन नहीं मिल सक्के इसलिये यद्यपि आपका दर्शन मनकी एकाग्रता से ही करना चाहिये तो भी हे प्रभो मैंने जो पूर्वभवोंमें अशुभकर्मोंका उपार्जन किया है उन अशुभकर्मोंने मेरे ऊपर इतना अपना प्रभाव जमारक्खा है कि आपके दर्शनके होनेपर भी मेरा मन दूसरे २ कार्योंसे व्याकुलित होजाता है इसलिये दूसरे २ कार्योंमें जो मेरा मन आसक्त होता है उसमें पूर्वोपार्जित कर्मोंका ही दोष है मेरा कोई दोष नहीं है ॥ ९ ॥

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर अछओ जम्मंतरं ममेहावि
सहसा सुहेहि घडियं दुक्खेहि पलाइयं दूरं ॥

दृष्टे त्वयि जिनवर आस्ता जन्मांतरं ममेहापि
सहसा सुखैर्घटितं दु'खैश्च पलायित दूरम् ॥

स· पुस्तकमें णयजम्मविच्छेओ यह भी पाठ है ।

अर्थः—हे जिनवर प्रभो आपके दर्शनसे मेरे दूसरे जन्मोंकी तो बात दूरही रहो किंतु इसजन्ममेंभी मुझे नानाप्रकारके सुखोंकी प्राप्ति होती है और मेरे समस्तपाप दूरभग जाते है ॥

भावार्थः—हेजिनेश आपके दर्शनोंमें इतनी शक्ति है कि जो मनुष्य आपको विनयभावसे देखता है उसमनुष्यके जन्मजन्मांतरके समस्तदुःख नष्ट हो जाते हैं तथा नानाप्रकारके सुखोंकी प्राप्ति होती है यह तो कुछ बात नहीं अर्थात् जन्मान्तरके दुःख तो अवश्य ही नष्ट होते हैं तथा जन्मांतरमें सुख मिलता ही है किंतु हे प्रभो इसजन्ममें भी आपके दर्शनोंसे नानाप्रकारके सुखोंकी प्राप्ति होती है तथा समस्तप्रकारके दुःखोंका नाश होजाता है अर्थात् आपके दर्शन तत्काल फलके देनेवाले हैं ॥ १० ॥

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर वज्झइ पट्टो दिणम्मि अज्जयणे
सहलत्तणेण मज्झे सव्वदिणाणंपि सेसाणं ॥

दृष्टे त्वयि जिनवर बध्यते पट्टो दिनेऽद्यतने
सफलत्वेन मध्ये सर्वदिनानामपि शेषाणाम् ॥

अर्थः—हे प्रभो जिनवर आपके दर्शनोंके होनेकेकारण समस्त दिनोंमें आजका दिन उत्तम तथा सफल है ऐसा जानकर पट्टबंधन किया ।

भावार्थः—समस्त दिनोंमें मेरा आजका दिन उत्तम तथा सफल है ऐसा मैं समझता हूं क्योंकि आज मुझे आपका दर्शन मिला है ॥ ११ ॥

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर भवणमिदं तुज्झ महमहग्घतरं
सव्वाणंपि सिरीणं संकेयघरेव पडिहाये ॥

दृष्टे त्वयि जिनवर भवनमिदं तव महार्घ्यतरम्
सर्वासामपि श्रीणां संकेतगृहमिव प्रतिभाति ॥

अर्थः—हे प्रभो जिनेश्वर आपके देखनेसे यह जो बहुमूल्य आपका मंदिर है वह मेरेलिये समस्तप्रकार की लक्ष्मीके संकेत घरके समान है ऐसा मुझे मालूम पड़ता है ।

भावार्थः—हे भगवन् आपके दर्शनसे यह आपका स्थान मुझे ऐसा मालूम पड़ता है मानों समस्तप्रकारकी लक्ष्मीकी प्राप्तिकेलिये मेरेलिये संकेत घर है ॥ १२ ॥

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर भत्तिजलोल्लं समासियं छेत्तं
जंतं पुलयमिसा पुणवीयांकुरियमिव सोहइ ॥

दृष्टे त्वयि जिनवर भक्तिजलौघेन समाश्रित क्षेत्रम् ॥
यत्तत्पुलकमिषात् पुण्यबीजमङ्कुरितमिव शोभते ॥

अर्थः—हे प्रभो हे जिनेन्द्र आपके देखनेसे जो मेरा क्षेत्र (शरीर) भक्तिरूपी जलसे समाश्रित हुआ (सींचागया) वह शरीर रोमांचोंके बहानेसे ऐसा शोभित होता है मानों अंकुरस्वरूपसे परिणत पुण्यबीज ही है ।

भावार्थः—हे प्रभो हे जिनेन्द्र जिससमय मैं आपको भक्तिपूर्वक देखता हूं उससमय मारे आनंदके मेरे शरीरमें रोमांच होजाते हैं तथा वे रोमांच ऐसे मालूम होते हैं मानों पुण्यरूपीबीजसे अंकुर ही उत्पन्न हुए हों ॥ १३ ॥

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर समयामयसायरे गहीरंम्मि
रायाइदोसकलुसे देवे को मण्णइ सयाणे ॥

दृष्टे त्वयि जिनवर समयामृतसागरे गंभीरे ॥
रागादिदोषकलुषे देवे को मन्यते सज्ञानः ॥

अर्थः—हे प्रभो हे जिनेन्द्र सिद्धांतरूपी अमृतके गंभीरसमुद्र, आपके देखनेपर ऐसा कौंनसा ज्ञानी होगा जों, रागादिदोषोंसे जिनकी आत्मा मलिन हो रही है ऐसे देवोंको मानेगा ? ।

भावार्थः—जबतक मनुष्य ज्ञानी नहीं होता अर्थात् कौंनसा पदार्थ मुझे हितका करनेवाला है और कौनसा पदार्थ मुझे अहितका करनेवाला है ऐसा मनुष्यको ज्ञान नहीं होता तबतक वह जहां तहां रागी तथा द्वेषी भी देवोंको उत्तमदेव समझता है किंतु जिससमय उसको हिताहितका ज्ञान होजाता है उससमय वह रागी तथा द्वेषी देवोंको न अपना हितकारी मानता है तथा उनके पास भी नहीं झांकता है इसलिये हे प्रभो जिसने सिद्धांतरूपी अमृतके समुद्र आपको देखलिया है वह ज्ञानवान् प्राणि कभी भी रागी तथा द्वेषी देवों को नहीं मानसकता है ॥ १४ ॥

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर मोक्खा अइदुलहोवि संपडई
मिच्छत्तमलकलंकी मणो ण जइ होइ पुरिसस्स ॥

दृष्टे त्वयि जिनवर मोक्षोऽतिदुर्लभः संप्रतिपद्यते
मिथ्यात्वमलकलंकितमनो न यदि भवति पुरुषस्य ॥

अर्थः—हे प्रभो जिनेश यदि मनुष्यका मन मिथ्यात्वरूपी कलंकसे कलंकित नहीं हुआ हो तो वह पुरुष आपके दर्शनसे अत्यंत दुर्लभ भी मोक्षको भलीभांति प्राप्त कर लेता है ।

भावार्थः—यदि मनुष्यका चित्त मिथ्यात्वरूपी मलसे ग्रस्त हो जावे तो उस मनुष्यको तो मोक्षकी प्राप्ति हो ही नहीं सकती क्योंकि जिसप्रकार पित्तज्वरवालेको मीठा भी दूध जहरके समान कडुआ लगता है उसी प्रकार उस मिथ्यादृष्टिको आपका उपदेश तथा आपका दर्शन विपरीत ही मालूम पड़ता है और जब वह

आपके उपदेशको ही अच्छा न मानेगा तबतक उसको वास्तविक पदार्थका स्वरूप नहीं मालूम पड़सकता और वास्तविक स्वरूपके न जाननेसे वह मोक्षको नहीं जासकता किंतु जिसमनुष्यका मन मिथ्यात्वरूपी कलंकसे कलंकित नहीं है अर्थात् जो मनुष्य सम्यग्दृष्टि है वह मनुष्य आपके दर्शनसे अत्यंत कठिन भी मोक्षको सुलभरीतिसे प्राप्त करलेता है ॥ १५ ॥

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर चम्ममएणाच्छिणावि तं पुण्णं
जं जणह पुरोकेवलदंसणणाणाइ णयणाई ॥

दृष्टे त्वयि जिनवर चर्ममयेनाक्ष्णापि तत्पुण्यं
यज्जनयति पुरः केवलदर्शनज्ञानानि नयनानि ॥

अर्थः—हे प्रभो जो मनुष्य आपको इस चामके नेत्रसे भी देखलेता है उस मनुष्यको उसअपूर्व पुण्यकी प्राप्ति होती है जो पुण्य आगे केवलदर्शन तथा केवलज्ञानरूपीनेत्रोंको उत्पन्न करता है ।

भावार्थः—हे प्रभो जो मनुष्य आपको चर्मके नेत्रोंसे देख लेता है उस मनुष्यको जब उसचर्मके नेत्रसे देखते ही इतने पुण्यकी प्राप्ति होती है कि वह आगे केवलदर्शन तथा केवलज्ञानको भी प्राप्त करलेता है अर्थात् वह पुरुष चारघातिया कर्मोंको नाशकर केवली बनजाता है तब जो पुरुष आपको दिव्यनेत्रसे देखता है उसको क्या २ फलकी प्राप्ति न होगी अर्थात् दिव्यदृष्टिसे आपको देखनेवाला मनुष्य तो अवश्य ही अचिंत्य फलको प्राप्त करताहै इसमें किसीप्रकारका संशय नहीं ॥ १६ ॥

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर सुकयत्थो मण्णई ण जेणाप्पा
सो वहुअ वड्डुणोद्बुडुणाइ भवसायरे काही ॥

दृष्टे त्वयि जिनवर सुकृतार्थो मानितो न येनात्मा
स बहु मज्जनोन्मज्जितानि भवसागरे करिष्यति ॥

अर्थः—हे प्रभो हे जिनेन्द्र जिस मनुष्यने आपको देखकर भी अपनी आत्माको कृतकृत्य नहीं माना वह मनुष्य नियमसे संसाररूपी समुद्रमें मज्जन तथा उन्मज्जनको करैगा अर्थात् जिसप्रकार मनुष्य समुद्रमें उछलता तथा डूबता है उसीप्रकार वह मनुष्य बहुतकालतक संसारमें जन्म मरण करता हुआ भ्रमण करैगा ॥ १७ ॥

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर णिच्छयदिट्ठीय होइ जं किंपि
ण गिराइगोयरं तं साणुभवत्थंपि किं भणिमो ॥

दृष्टे त्वयि जिनवर निश्चयदृष्ट्या भवति यत्किमपि,
न गिरां गोचरं तत् स्वानुभवस्थमपि किं भणामः ॥

अर्थः—हे प्रभो हे जिनेश वास्तविक दृष्टिसे आपके देखनेपर जोकुछ हमको (आनंद) होता है वह यद्यपि हमारे मनमें स्थित है तो भी वह वचनके अगोचर ही है इसलिये हम उसके विषयमें क्या कहैं ? ।

भावार्थः—हे प्रभो जिससमय मैं आपको निश्चयदृष्टिसे देखलेता हूं उससमय मुझे इतना आनंद होता है कि मैं यद्यपि अपने आप उसको जानता हूं तोभी उसको वचनसे नहीं कह सकता ॥ १८ ॥

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर दट्ठव्वावहिविसेसरूवम्मि
दंसणसुद्धायगयं दाणिं मम णत्थि सव्वत्थ ॥

दृष्टे त्वयि जिनवर द्रष्टव्यावधिविशेषरूपे
दर्शनशुद्ध्या गतमिदानीं मम नास्ति सर्वार्थः ॥

अर्थः—हे प्रभो जिनेन्द्र देखनेयोग्य पदार्थोंकी सीमाके विशेषस्वरूप अर्थात् केवलज्ञानस्वरूप आपके

देखनेपर मैं दर्शनविशुद्धिको प्राप्त हुआ और इससमय जितनेभर बाह्यपदार्थ हैं वे मेरे नहीं हैं ॥ १९ ॥

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर अहियं सुहिया समुज्जला होई
जणदिट्ठी को पेच्छइ तद्दंसणसुहयरं सूरं ॥

दृष्टे त्वयि जिनवर अधिक सुखिता समुज्ज्वला भवति
जनदृष्टिः कः प्रेक्षते तद्दर्शनसुखकर सूरम् ॥

अर्थः—हे भगवन् आपको देखकर मनुष्योंकी दृष्टि अधिक सुखी तथा अत्यंत निर्मल होती है इसलिये दर्शनको सुखके करनेवाले सूर्यको कौन देखता है ? अर्थात् कोई नहीं ।

भावार्थः—यद्यपि संसारमें आप तथा सूर्य दोनों हीं प्रतापी हैं और दोनों ही देखनेयोग्य पदार्थ हैं किंतु हे प्रभो जब आपके दर्शनसे ही मनुष्योंकी दृष्टि अधिक सुखी तथा अत्यंत स्वच्छ हो जाती है तब सूर्यके देखनेकी क्या आवश्यकता है ? ॥ २० ॥

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर बुहम्मि दोसोज्झियम्मि वीरम्मि
कस्स किल रमइ दिट्ठी जडम्मि दोसायरे खत्थे ॥

दृष्टे त्वयि जिनवर बुद्धे दोषोज्झिते वीरे
कस्य किल रमते दृष्टिः जडे दोषाकरे खस्थे ॥

अर्थः—हे जिनेन्द्र ज्ञानवान समस्तदोषोंकर रहित और वीर ऐसे आपको देखकर ऐसा कौन मनुष्य है जिसकी दृष्टि जड़ तथा दोषाकर और आकाशमें रहनेवाले ऐसे चंद्रमामें प्रीतिको करै ।

भावार्थः—यद्यपि चंद्रमा भी मनुष्योंको आनंदका देनेवाला है किंतु हे प्रभो चंद्रमा ज्ञानरहित जड़ है और दोषाकार है तथा आकाशमें ऊपर रहनेवाला है और आप ज्ञानवान हैं अर्थात् ज्ञानस्वरूप हैं और

क्षुधातृषा आदि अठारह दोषोंके जीतनेवाले हैं तथा अष्टकर्मोंके जीतनेकेकारण आप वीर हैं इसलिये आपको छोड़कर ऐसा कौन मनुष्य है जिसकी दृष्टि चंद्रमामें प्रीतिको करैगी ? ॥ २१ ॥

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर चिंतामणिकामधेणुकप्पतरू
खज्जोयव्व पहाये मज्झ मणे णिप्पहा जाया ॥

दृष्टे त्वयि जिनवर चिंतामणिकामधेनुकल्पतरव·
खद्योता इव प्रभाते मम मनसि निष्प्रभा जाता. ॥

अर्थः—हे प्रभो जिनेन्द्र आपके देखने पर जिसप्रकार सुबहके समयमें पटवीजना प्रभा रहित हो जाता है उसीप्रकार चिंतामाणी कामधेनु और कल्पवृक्ष भी मेरे मनमें प्रभारहित हो गये ॥

भावार्थः—जब तक अंधेरी रात रहती है तब तक तो पटवीजनाका प्रकाशभी प्रकाश समझा जाता है किंतु जिससमय प्रातःकाल होता है और सूर्यकी किरण जहां तहां चारो ओर कुछ फैल जातीं है उस समय जिसप्रकार उस पटवीजनाका प्रकाश कुछ भी नहीं समझा जाता उसी प्रकार हे प्रभो। जब तक मैं ने आपको नहीं देखा था तब तक मैं चिंतामणी कामधेनु तथा कल्पवृक्षों को उत्तम समझता था क्योंकि संसारमें ये इच्छाके पूरण करनेवाले गिने जाते हैं किंतु जिससमयसे मैंने आपको देख लिया है उससमय से मेरे मनमें आपही तो चिंतामणी हैं तथा आपही कामधेनु और कल्पवृक्ष हैं किंतु जिनको संसारमें चिंतामणी कामधेनु कल्पवृक्ष कहते हैं वे आपके दर्शनके सामने फीके हैं ॥२२॥

दृष्टे तुमम्मि जिणवर रहसरसो यह मणम्मि जो जाओ
आणांदासुमिसासो तत्तो णीहरइ बाहिरंतो ॥

दृष्टे त्वयि जिनवर रहस्यरसो मम मनसि योजात
आनदाश्रुमिषात् स ततो निस्सरति बहिरत ॥

अर्थः—हे जिनेश आपके देखनेसे जो मेरे मनमें रहस्यरस (प्रेमरस) उत्पन्न हुवा है वह प्रेमरस आमंदाश्रुओंके व्याजसे भीतरसे बाहिर निकलता है ऐसा मालूम होता है ।

भावार्थः—हे प्रभो हे दीनवन्धो मैं जिससमय आपको देखता हूं उससमय मेरे मनमें इतना आधिक आनंद होता है कि मारे आनंदके मारे मेरी आखोंमें आंसू निकल आते हैं किंतु मैं उनको आनंदाश्रु नहीं कहता क्योंकि मुझे ऐसा जान पड़ता है कि आनंदके आसुओंके व्याजसे भीतर न अमाता हुवा प्रेमरसही बाहर निकलता है ॥२२॥

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर कल्लाणपरंपरा पुरो पुरिसे
संचरइ अणाहूयावि ससहरे किरणमालव्व ॥

दृष्टे त्वयि जिनवर कल्याणपरपरा पुर पुरुपस्य
संचरति, अनाहूतापि शशधरे किरणमाला इव ॥

अर्थः—हे प्रभो जिनेन्द्र जिसप्रकार चंद्रमामें किरणोंकी माला (पंक्ति) आगे गमन करती है उसी प्रकार आपके दर्शनसे पुरुषोंके सामने विना बुलाये भी कल्याणोंका परंपरा आगे गमन करती है ।

भावार्थः—जो मनुष्य आपका दर्शन करता है उसको इसभवमें तथा परभवमें नाना प्रकारके कल्याणों की प्राप्ति होती है ॥२३॥

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर दिसवल्लीओ फलंति सव्वाओ
इड्ढं अहुलियाविह्व वारिसइ सुण्णंपि रयणोहिं ॥

दृष्टे त्वयि जिनवर दिशवल्यः फलति सर्वाः

इष्टमफुल्लितापि खलु वर्षति शून्योऽपि रत्नैः ॥

अर्थः—हे प्रभो जिनेश्वर आपके दर्शनसे विना पुष्पितभी समस्त दशादिशारूपी लता इष्टपदार्थों को देती है तथा रत्नोंकर रहितभी आकाश रत्नोंकी वृष्टि करता है ॥

भावार्थः—यद्यपि नियम यह है कि लता पुष्पित होकर फलको देती है किंतु हे प्रभो आपके दर्शनों में इतनी शक्ति है कि नहीं पुष्पित होकर भी मनुष्योंको दिशारूपीलता इष्टफलको देती हैं तथा रत्नोंकर रहित भी आकाश आपके दर्शनोंकी कृपासे रत्नोंकी वृष्टिको करता है ॥ २४ ॥

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर भव्वो भयवज्जिओ हवे णवरं

गणणिंदच्चिय जायइ जोण्हापसरे सरे कुमुअं ॥

दृष्टे त्वयि जिनवर भव्यो भयवर्जितो भवेन्नवरिम्

गतनिद्र एव जायते ज्योत्स्नाप्रसरे सरसि कुमुदम् ॥

अर्थः—जिसप्रकार चांदनीके फैलनेपर सरोवरमें रात्रिविकाशी कमल शीघ्र ही प्रफुल्लित होजाते हैं उसीप्रकार हेजिनेश आपके केवल दर्शनसे ही भव्यजीव समस्तकारके भयोंकर रहित तथा मोहरूपी निद्रासे रहित सुखी होजातेहैं।

भावार्थः—जिसप्रकार रात्रिविकाशी कमलोंके संकोचरहितपनेमें तथा प्रफुल्लतामें चंद्रमाकी चांदनी असाधारण कारण है उसीप्रकार हे प्रभो भव्यजीवोंके मोहनिद्राके रहितपनेमें तथा समस्तप्रकारके भयोंको दूरकरनेमें आप ही असाधारण कारण हैं और दूसरा कोई नहीं ॥ २५ ॥

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर हियएण महा सुहं समुल्लसियं

सरिणाहेणिव सहसा उग्गमिए पुण्णिमा इंदे ॥

दृष्टे त्वयि जिनवर हृदयेन महासुखं समुल्लसितम्
सरित्राथेनेव सहसा उद्गमिते पूर्णिमाचंद्रे ॥

अर्थः—हे जिनेश हे प्रभो जिसप्रकार चंद्रमाके उदय होने पर समुद्र शीघ्रही उल्लासको प्राप्त होता है उसीप्रकार आपके दर्शनसे भी मेरे हृदयमें अत्यंत प्रसन्नता होती है ।

भावार्थः—जिससमय पूर्णिमासीके चंद्रमाको देखकर समुद्र उछलता है उससमय यद्यपि चंद्रमा समुद्रके उछलनेकेलिये प्रेरणा नहीं करता किंतु चंद्रमाके उदय होते ही जिसप्रकार वह स्वभावसे ही उल्लासको प्राप्त होता है उसीप्रकार हे प्रभो आपको देखकर आपकी प्रेरणासे मेरा मन प्रसन्न नहीं होता किंतु आपके देखनेसे ऐसा अपूर्व आनंद होता है जिससे वह स्वभावसे ही प्रसन्न होजाता है ॥ २६ ॥

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर दोहिमि चक्खूहिं तह सुही अहियं
हियये जह सहसाहो होहित्ति मणोरहो जातः ॥

दृष्टे त्वयि जिनवर द्वाभ्यां चक्षुर्भ्यां तथा सुखी अधिकं
हृदये यथा सहसार्थो भविष्यति इति मनोरथो जात ॥

अर्थः—हे प्रभो हे जिनेश आपको देखकर मैं इतना हृदयमें अधिक सुखी हुवा मानो बहुत शीघ्र मेरे प्रयोजन सिद्ध होंवेगें ऐसा मेरा मनोरथ हीं सिद्ध हुवा ।

भावार्थः—मनुष्यकी जो अभिलाषा हुआकरती है यदि उसकी सिद्धि शीघ्र होनेवाली हो तो जिस प्रकार उसमनुष्यके हृदयमें वचनातीत आनंद होता है उसीप्रकार हे प्रभो आपको देखकर मुझे भी वचनातीत आनंद हुआ अर्थात् मैं आपके दर्शनसे अत्यंत सुखी हुआ ॥ २७ ॥

॥४०३॥

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर भवोवि मित्तणं गओ एसो
एयम्मि ठियस्स जओ जायं तुह दंसणं मज्झ ॥

दृष्टे त्वयि जिनवर भवोऽपि मित्रत्वं गत एष
एतस्मिन् स्थितस्य यतः जातं तव दर्शनं मम ॥

अर्थः—हे प्रभो हे जिनेश आपके दर्शनसे यह जन्म भी मेरा परममित्र बनगया क्योंकि इसजन्ममें रहनेवाले मुझे आपका दर्शन हुआ है ।

भावार्थः—संसारमें जितनेभर दुःखोंको उत्पन्न करनेवाले पदार्थ हैं वे किसीके हितकारी मित्र नहीं होते इसलिये यद्यपि जन्म जीवोंका मित्र नहीं हो सकता क्योंकि वह जीवोंको नानाप्रकारके दुःखोंका देनेवाला है किन्तु हे प्रभो आपके दर्शनसे वह जन्म मित्र ही बनगया क्योंकि अनेक जन्मोंसे आपका दर्शन नहीं मिला है किंतु इसीजन्ममें आपका दर्शन मुझे भाग्यसे मिला है ॥ २८ ॥

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर भव्वाणं भूरिभत्तिजुत्ताणं
सव्वाओ सिद्धीओ होंति पुरो एकलीलाए ॥

दृष्टे त्वयि जिनवर भव्यानां भूरिभक्तियुक्तानाम्
सर्वाः सिद्धयो भवति पुर एकलीलया ॥

अर्थः—हे प्रभो हे भगवन् गाढ़ जो भक्ति उसभक्तिकर सहित जो भव्यजीव हैं उनको आपके दर्शनसे बातकी बातमें समस्तप्रकारकी सिद्धियोंकी प्राप्ति हो जाती है ।

भावार्थः—संसारमें उत्तमोत्तम सिद्धियोंकी प्राप्ति यद्यपि अत्यंत कठिन है किंतु हे प्रभो जो मनुष्य आपके गाढ़भक्त हैं अर्थात् आपमें भक्ति तथा श्रद्धा रखते हैं उन मनुष्योंको केवल आपके दर्शनसे ही समस्त

प्रकारकी सिद्धियां बातकी बातमें आगे आकर उपस्थित हो जाती हैं ॥ २९ ॥

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर सुहगइसंसाहणेक्कवीयम्मि
कंठगयजीवियस्सवि धीरं संपज्जए परमं ॥

दृष्टे त्वयि जिनवर शुभगतिसंसाधनैकबीजे
कंठगतजीवितस्यापि धैर्यं संपद्यते परमम् ॥

अर्थः—हे प्रभो हे जिनेन्द्र शुभगतिकी सिद्धिमें एक असाधारण कारण ऐसे आपके दर्शनसे जिसप्राणीके प्राण कंठमें आगये हैं अर्थात् जो तत्काल मरनेवाला है ऐसे उसप्राणीको उत्तमधीरता आजाती है ।

भावार्थः—जिसप्रकार किसी जीवपर अधिक कष्ट आकर पड़े और उससमय यदि कोई उसका हितैषी मनुष्य सामने पड़जावे तो उसको एकदम धीरता आजाती है उसीप्रकार हे प्रभो जिसमनुष्यके प्राण सर्वथा कंठमें आपहुंचे हैं अर्थात् जो शीघ्र ही मरनेवाला है उसमनुष्यको यदि आपका दर्शन होजावे तो वह शीघ्रही धीरवीर बनजाता है अर्थात् उसको मरणसे किसीप्रकारका भय नहीं रहता क्योंकि आप जीवोंको शुभगतिकी प्राप्तिमें एक असाधारण कारण है इसलिये वह आपके दर्शनसे समझलेता है कि अब मेरे समस्तदुःख दूरहोगये ॥३०॥

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर कमम्मि सिद्धे ण किं पुरा सिद्धं
सिद्धियरं को णाणी यहइ ण तुह दंसणं तह्मा ॥

दृष्टे त्वयि जिनवर क्रमे सिद्धे न किं पुरा सिद्धम्
सिद्धिकरं को ज्ञानी इच्छति न तव दर्शनं तस्मात् ॥

अर्थः—हे प्रभो हे जिनेश आपकेदर्शनसे आपके चरणकमलोंकी प्राप्ति होनेपर ऐसी कौनसी वस्तु बाकी रही जो मुझे न मिली हो? अर्थात् समस्त पदार्थोंकी सिद्धि हुई इसलिये ऐसा कौनसा ज्ञानी है जो

नवाकर नमस्कार करते हैं इसलिये आचार्यवर सरस्वतीके चरणकमलोंकी आशीर्वादात्मक स्तुति करते हैं कि इसप्रकार आश्चर्यके करनेवाले सरस्वतीको चरणकमल सदा इसलोकमें जयवंत हैं ॥ १ ॥

अपेक्षते यन्न दिनं न यामिनीं नचांतरं नैव बहिश्च भारति
न तापकृज्जाड्यकरं न तन्महः स्तुवे भवत्याः सकलप्रकाशकम् ॥

अर्थः—हे सरस्वति जो आपका तेज न तो दिनकी अपेक्षा करता है और न रात्रिकी अपेक्षा करता है और न भीतरकी अपेक्षा करता है और न बाहिरकी अपेक्षा करता है और जो तेज न जीवोंको संतापका देनेवाला है और न जड़ताका करनेवाला है तथा जो समस्त प्रकारके पदार्थोंका प्रकाश करनेवाला है आचार्य कहते हैं कि इसप्रकारके सरस्वतीके तेजको मैं मस्तकझुकाकर नमस्कार करता हूं अर्थात् ऐसा सरस्वतीका आश्चर्यका करनेवाला तेज मेरी रक्षा करो ।

भावार्थः—यद्यपि संसारमें सूर्यआदि बहुतोंके तेज मौजूद हैं किंतु वे एकदूसरेकी अपेक्षाके करनेवाले हैं जिसप्रकार सूर्यका तेज तो दिनकी अपेक्षा करनेवाला है तथा चंद्रमाका तेज रात्रिकी अपेक्षा करनेवाला है और सूर्य तथा चंद्रमा दोनोंके तेज मनुष्योंको नानाप्रकारके संतापोंके देनेवाले हैं अर्थात् सूर्यके तेजसे तो मनुष्य मारे गर्मीके व्याकुल हो जाते हैं तथा चंद्रमाका तेज कामोत्पादक होनेके कारण कामी पुरुषोंको नाना प्रकारके संतापोंका देनेवाला होता है और सूर्य तथा चंद्रमाके तेज बाह्यके ही प्रकाशक हैं अंतरंगके प्रकाशक नहीं हैं तथा सूर्य चंद्रमाके तेज थोड़े ही पदार्थोंके प्रकाशक हैं समस्त पदार्थोंके प्रकाशक नहीं हैं । किंतु सरस्वतीका तेज न तो दिनकी अपेक्षा करता है और न रातकी अपेक्षा करता है और न वह भीतर तथा बाहिर की ही अपेक्षा करता है और जीवोंको संतापका भी देनेवाला नहीं है और न जड़ताका करनेवाला

है तथा समस्त पदार्थोंका प्रकाश करनेवाला है इसलिये आचार्यवर कहते हैं कि ऐसे सरस्वतीके तेजकेलिये मैं मस्तक झुकाकर नमस्कार करता हू ॥ २ ॥

तव स्तवे यत्कविरस्मि साम्प्रतं भवत्प्रसादादेव लब्धपाटवः
सवित्रि गंगासरितेऽर्घदायको भवामि तत्तज्जलपूरिताञ्जलिः ॥

अर्थः—हे सरस्वतिमातः आपकी कृपासे ही प्राप्त किया है चातुर्य जिसने ऐसा जो मैं इससमय आपकी स्तुति करनेमें कवि हुआ हूं उससे ऐसा मालूम होता है कि गंगा नदीके जलसे पूरित (भरीहुई) है अंजिली जिसकी ऐसा मैं गंगा नदीकेलिये ही अर्घदेनेवाला हुआ हूं ।

भावार्थः—जिसप्रकार गंगानदीसे पानी लेकर उसीको अर्घ देते हैं उसीप्रकार हे मातः सरस्वति आपकी कृपासे ही चातुर्यप्राप्तकर आपकी स्तुतिमें ही मैं कवि हुआ हूं ॥ ३ ॥

श्रुतादिकेवल्यपि तावकीं श्रियं स्तुवन्नशक्तोऽहमिति प्रपद्यते
जयेति वर्णद्वयमेवमादृशा वदंति यद्देवि तदेव साहसम् ॥

अर्थः—हे सरस्वति मातः आपकी शोभाकी स्तुति करताहुआ श्रुत है आदिमें जिसके ऐसा केवली भी अर्थात् श्रुतकेवली भी जव "मैं सरस्वतीकी शोभाकी स्तुति करनेमें" असमर्थ हूं ऐसा अपनेको मानता है तव मुझसरीखे मनुष्योंकी तो क्या बात है ? अर्थात् मुझसरीखे मनुष्य तो आपकी स्तुति कर ही नहीं सकते किंतु हे देवि जो मुझसरीखे मनुष्य आपकेलिये जय इन दो वर्णोंको भी बोलते हैं वही मेरेसरीखे मनुष्योंका एक बड़ा भारी साहस है ऐसा समझना चाहिये ।

भावार्थः—यद्यपि श्रुतकेवली समस्त शास्त्रके पारंगत होते हैं किंतु हे मातः आपकी लक्ष्मी (शोभा)

इतनी अधिक है कि वे भी आपकी शोभाका वर्णन नहीं करसकते और जब वेही आपकी शोभाका वर्णन नहीं करसकते तो मुझसरीखे मनुष्योंकी तो बातही क्या है अर्थात् मैं तो अल्पज्ञानी हूं इसलिये मैं तो आपकी शोभाका वर्णन कर ही नहीं सकता और हे देवि हमसरीखे मनुष्योंमें इतनी भी शक्ति नहीं है जो आपकेलिये जय ये दो अक्षर भी कहसकैं किंतु जो हम आपकेलिये जय ये दो अक्षर कहते हैं वह हमसरीखे मनुष्योंका बड़ा भारी साहस है ऐसा समझिये ॥ ४ ॥

त्वमत्र लोकत्रयसद्मनि स्थिता प्रदीपिका बोधमयी सरस्वति
तदंतरस्थाखिलवस्तुसंचयं जनाः प्रपश्यन्ति सदृष्टयोप्यतः ॥

अर्थः——हे सरस्वति मातः आप तीनलोकरूपी घरमें स्थित सम्यग्ज्ञानमय उत्कृष्ट दीपक हैं जिसदीपकी कृपासे सम्यग्दृष्टिजीव उन तीनोंलोकोंके भीतर रहनेवाले जीवाजीवादि पदार्थोंको भलीभांति देखते हैं ।

भावार्थः——नानाप्रकारके पदार्थोंसे भरेहुये घरमें यदि अंधकारके समयमें दीपक रखदिया जाय तो नेत्रवाला पुरुष जिसप्रकार दीपककी सहायतासे समस्त पदार्थोंको भलीभांति देखलेता है उसीप्रकार यह तीनों लोक भी एकप्रकारका घर है तथा इसमें एक कोनेसे लेकर दूसरे कोनेपर्यंत भलीभांति जीवादिपदार्थ भरेहुए हैं उस त्रिलोकरूपी घरमें समस्त पदार्थोंके प्रकाशकरनेमें हे मातः आप उत्कृष्टदीपकके समान हैं क्योंकि आपकी कृपासे सम्यग्दृष्टि पुरुष त्रिलोकमें भरेहुए समस्तपदार्थोंको भलीभांति देखलेते हैं ॥ ५ ॥

नभःसमं वर्त्म तवातिनिर्मलं पृथुप्रयातं विबुधैर्न कैरिह
तथापि देवि प्रतिभासतेतरां यदेतदक्षुण्णमिव क्षणेन तत् ॥

अर्थः——हे देवि आपका जो मार्ग है वह आकाशके समान अत्यत निर्मल है और अत्यंत विस्तीर्ण है

उसमार्गमें ऐसे कौनसे विबुध हैं जो नहीं गये हों अर्थात् सबही गये हैं किंतु मातः तो भी वहमार्ग क्षणभरमें ऐसा मालूम होता है कि अक्षुण्ण ही हैं अर्थात् कोई भी उसमार्गसे नहीं गया है ।

भावार्थः—जिसप्रकार आकाशका मार्ग अत्यंत निर्मल तथा विस्तीर्ण है और उसपर अनेकप्रकारके अनेकदेव भी गमन करते हैं किंतु वह क्षणमात्रमें ऐसा मालूम पड़ता है कि इसमार्गसे कोई भी नहीं गया है उसीप्रकार हे सरस्वति हे मातः आपका मार्ग भी अत्यत निर्मल है और विस्तीर्ण है और अनेक विद्वान उसमार्गसे गये भी हैं तोभी वह मार्ग क्षणभरमें ऐसा मालूम होता है कि उसमार्गसे कोई भी नहीं गया है अर्थात् हे सरस्वति मातः आपका मार्ग अत्यंत गहन है ॥ ६ ॥

तदस्तु तावत्कवितादिकं नृणां तव प्रभावात्कृतलोकविस्मयम्
भवेत्तदप्याशु पदं यदिष्यते तपोभिरुग्रैर्मुनिभिर्महात्मभिः ॥

अर्थः—हे मातः सरस्वति समस्तलोकको आश्चर्यके करनेवाले कविता आदिक गुण मनुष्योंको आपकी कृपासे हों इसमें किसीप्रकारका आश्चर्य नहीं हैं किन्तु हे मातः जिस पदको बडे २ मुनि कठिन २ तप करके प्राप्त करने की इच्छा करते हैं वह पदभी आपकी कृपासे बातकी बातमें प्राप्त हो जाता है ॥

भावार्थः—हे मातः जो मनुष्य आपके उपासकहैं और जिनके ऊपर आपकी कृपा है उन मनुष्योंको आपके प्रसादसे समस्तलोकको आश्चर्यके करने वाली कविता आदिकी प्राप्ति होती है अर्थात् कविताआदिसे वे समस्तलोकको आश्चर्य सहित करते हैं । तथा आपकी कृपासे मनुष्योंको उस मोक्षपदकी प्राप्ति होती है जिस मोक्षपदकी बड़े २ मुनिगण उग्रतपोंके द्वारा प्राप्त करनेकी अभिलाषा करते हैं ॥ ७ ॥

भवत्कला यत्र न वाणि मानुषे न वेत्ति शास्त्रं स चिरं पठन्नपि ।

मनागपि प्रीतियुतेन चक्षुषा यमीक्षसे कैर्न गुणैः स भूष्यते ॥

अर्थः—हे सरस्वति हे मातः जिसमनुष्यमें आपकी कला नहीं अर्थात् जो मनुष्य आपका कृपापात्र नहीं है वह चिरकालतक पढ़ता हुवा भी शास्त्रको नहीं जानता है किन्तु जिसको आप थोड़ा भी स्नेह सहित नेत्र से देख लेतीहो अर्थात् जो मनुष्य थोड़ाभी आपकी कृपाका पात्र वन जाता है वह मनुष्य संसारमें किन २ गुणोंसे विभूषित नहीं होता है? अर्थात् विनाही प्रयत्नके वह केवल आपकी कृपा से समस्तगुणोंका भंडार हो जाता है।

भावार्थः—हे मातः आपकी विना कृपाके यदि मनुष्य चाहै कि मैं पढ़ २ कर विद्वान हो जाऊं तथा वास्तविक तत्वोंका मुझे ज्ञान हो जावे यह कभी भी नहीं होसक्ता किन्तु जिस मनुष्यपर आपकी थोड़ी भी कृपा रहती है वह मनुष्य विनाही पढ़े विद्वता आदि अनेकगुणोंको बातकी बात में प्राप्त कर लेता है इसलिये आपकी कृपा ही मनुष्योंको कल्याणकी करने वाली है ॥ ८ ॥

स सर्ववित्पश्यति वेत्ति चाखिलं नवा भवत्या रहितोऽपि बुध्यते ।
तदत्र तस्यापि जगत्त्रयप्रभोस्त्वमेव देवि प्रतिपत्तिकारणम् ॥

अर्थः—संसारमें जो केवली भगवान समस्तपदार्थोंको भलीभांति देखते हैं तथा समस्तपदार्थोंको भलीभांति जानते हैं वे भी आपकी ही कृपासे हे देवि जानते तथा देखते हैं किन्तु आपकी कृपाके बिना न वे जानते हैं और न देखतेही हैं इसलिये हेमातः इससंसारमें तीनोंजगतके प्रभु उन केवलीके ज्ञान तथा दर्शनमें भी आपही कारण है ॥

भावार्थः—हे सरस्वति यदि आप न होती तो समस्त जगतके प्रभु केवली भगवान भी समस्त पदार्थों को न तो देखही सक्के थे और न जान ही सक्के थे इसलिये केवली भगवानके समस्तपदार्थोंके जाननेमें तथा दर्शनमें आपही आसाधारण कारण हैं ॥ ९ ॥

चिरादति क्लेशशतैर्भवाम्बुधौ परिभ्रमन् भूरि नरत्वमश्नुते ।
तनूभृदेतत्पुरुषार्थसाधनं त्वया विना देवि पुनः प्रणश्यति ॥

अर्थः—चिरकालसे इससंसाररूपी समुद्रमें भ्रमण करता हुवा यह जीव सेकड़ों क्लेशोंसे इस मनुष्य जन्मको पाता है तथा वह मनुष्यभवही समस्त पुरुषार्थोंका साधन है किंतु हे देवि आपके विना वह पाया हुवा भी मनुष्यभव नष्टही हो जाता है ।

अर्थः—यद्यपि गतिचार हैं परंतु उनसवमें मनुष्यति (मनुष्यभव) अत्युत्तम है क्योंकि इसमनुष्यभव में ही जीव कर्मोंसे छूटनेका उपाय कर सक्ते हैं तथा सबसे उत्तम जो स्थान मोक्ष हैं उसको भी जीव इसी मनुष्यभवमें प्राप्त करते हैं किंतु इस मनुष्यभवकी प्राप्ति बड़ी कठिनाईसे होती है तथा इसमनुष्यभवकी प्राप्तिका फल यथार्थ तत्वज्ञानी बनना और तत्वज्ञानी बननेका उपाय सरस्वती की सेवा है इसलिये आचार्यवर कहते हैं कि हे मातः सरस्वति यदि आपकी कृपा न होवे तो मनुष्यका मनुष्यभव पाना व्यर्थ ही है क्योंकि वह मनुष्य विना आपकी कृपा से यथार्थ ज्ञान प्राप्त नहीं कर सक्ता है और यथार्थ ज्ञानके विना जो मनुष्यभव की प्राप्तिका फल है वह उसको नहीं मिल सक्ता है ॥१०॥

कदाचिदंव त्वदनुग्रहं विना श्रुते ह्यधीतेऽपि न तत्त्वनिश्चयः ।
ततः कुतः पुंसि भवेद्विवेकता त्वया विमुक्तस्य तु जन्म निष्फलम् ॥

अर्थः—हे मातः आपके अनुग्रहके विना शास्त्रके भलेप्रकार अध्ययनकरनेपरभी वास्ताविकतत्वका निश्चय नहीं होता है और वास्ताविकतत्वके निश्चय न होनेके कारण मनुष्य में हिताहितका विवेक भी नहीं हो सक्ता है ? इसलिये हे देवि आपके अनुग्रहकर रहित जो पुरुष हैं उसका मनुष्य जन्म पाना निष्फलहीं है ॥

भावार्थः—जिससमय मनुष्यको वास्तविक तत्वका निश्चय (श्रद्धान) होता है उसीसमय उसमनुष्यको यह पदार्थ त्यागने योग्य है तथा यह पदार्थ ग्रहण करने योग्य है इसप्रकारका विवेक होता है और ये दोनों वाते शास्त्रके अध्ययनसे प्राप्त होती हैं विना शास्त्रके अध्ययनके नहीं किंतु आचार्यवर सरस्वतीकी स्तुति करते हैं कि हे मातः यदि मनुष्यके ऊपर आपकी कृपा न होवे तो वह मनुष्य भलीभांति शास्त्रका पाठी ही क्यों न हो? उसको कदापि वास्तविकतत्वोंका निश्चय नहीं हो सक्ता है और जब उसको वास्तविक पदार्थोंका निश्चय ही नहीं हो सक्ता है तब उसको हेय तथा उपादेयका ज्ञान तो होई नहीं सक्ता और आपकी कृपाके विना उस मनुष्यका बड़े क्लेशोंसे पाया हुवा मनुष्यभव भी व्यर्थ ही है इसलिये हे मातः आप ही तो जीवोंके तत्वके निश्चयमें कारण है तथा आपही उनके हिताहित विवेकमें कारण है तथा आपकी ही कृपासे मनुष्यका मनुष्यभव भी सर्वथा फलीभूत है ॥११॥

विधाय मातः प्रथमं त्वदाश्रयं श्रयंति तन्मोक्षपदं महर्षयः ।
प्रदीपमाश्रित्य गृहे तमस्तते यदीप्सितं वस्तु लभेत मानवः ॥

अर्थः—जिसप्रकार मनुष्य, जो घर अंधकारसे व्याप्त है ऐसे घरमें दीपकके आश्रयसे इष्ट वस्तुको प्राप्त कर लेता है उसी प्रकार हे मातः बड़े २ ऋषि पहले आपके आश्रयको करते हैं सर्वोत्कृष्ट पीछे उस प्रसिद्ध मोक्षस्थान को वे पाते हैं ॥

भावार्थः—जिस घर में बहुतसा अंधकार भरा हुवा है यदि उस घरमें से, कोई मनुष्य चाहै कि मैं विना दीपकके ही अपनी इष्ट वस्तुको निकाल कर ले आऊं तो वह मनुष्य कदापि नहीं ला सक्ता किंतु दीपक की सहायता से ही ला सक्ता है इसलिये जिसप्रकार वह मनुष्य दीपककी चाह करता है उसीप्रकार हे मातः

सरस्वति यदि बड़े २ मुनि इसबातको चाहैं कि हम विनाही आपकी कृपाके सीधे मोक्षपदको चले जावे तो वे कदापि नहीं जासक्ते किंतु आपकी सहायता से, कृपासे, ही वे जा सक्ते हैं इसलिये वे सबसे प्रथम आप का आश्रय करते हैं पीछे मोक्षको जाते है इसलिये अत्यंत तपस्वी भी मुनियों की मोक्षकी प्राप्तिमें आपही कारण हैं॥१२॥

त्वयि प्रभूतानि पदानि देहिनां पदं तदेकं तदपि प्रयच्छति ।
समस्तशुक्लापि सुवर्णविग्रहा त्वमत्र मातः कृतचित्रचेष्टिता ॥

अर्थः—हे मातः यद्यपि तुझमें अनेकपद हैं तौभी तू जीवोंको एकही पददेती है तथा यद्यपि तू चौतर्फा शुक्ल है तौभी तू सुवर्णविग्रहा (सुवर्ण के समान शरीरको धारण करने वाली) है इसलिये तू इससंसारमें आश्चर्यकारी चेष्टाको धारण करने वाली है ।

भावार्थः—इसश्लोकमें विरोधाभासनामक अलंकार है इसलिये आचार्यवर शब्दसे विरोध दिखाते हैं कि जो अनेक पदोंका धारण करनेवाला होगा ? वह जीवोंका एकही पद क्यों देगा तथा जो चौतर्फा सफेदहोगा वह सुवर्णके रंगके समान शरीरको धारण करनेवाला कैसे होगा ? अब आचार्यवर उसविरोधका अर्थसे परिहार करते है कि हे मातः यद्यपि आपमें अनेकपद (सुबंत तथा तिङन्तरूप) मौजूद है तोभी अपनेभक्तों को आप एक मोक्षपदको देती है और यद्यपि आप शुक्ल (उज्वल) हैं तोभी आप सुवर्णविग्रहा (श्रेष्ठ "वर्ण" अक्षररूपी शरीरको धारणकरनेवाली) हो इसलिये आपकी इस प्रकारका चेष्टा आश्चार्य करती है ॥

सारार्थः—हेमात आप अनेक सुबंत तथा तिङन्तस्वरूपपदोंको धारण करनेवाली हो तथा भव्यजीवोंको मोक्ष को देनेवालीहो और आप सर्वथा निर्मलहो तथा श्रेष्ठवर्णरूपी शरीरको धारण करनेवाली हो ॥ १३ ॥

समुद्रघोषाकृतिरर्हति प्रभौ यदा त्वमुत्कर्षमुपागता भृशम् ।

अशेषभाषात्मतया त्वया तदा कृतं न केषां हृदि मातरद्भुतम् ।

अर्थः—हेमातः सरस्वति जिससमय तू भगवान् अर्हतमें अत्यंत उत्कर्षको प्राप्त हुईथी अर्थात् जिस समय समवसंरणमें तू भगवान अर्हतके मुखसे दिव्यध्वनिरूपमें प्रकट हुईथी उससमय तेरी ध्वनि समुद्रके समान धीर तथा गंभीर थी और उससमय तू अनेक भाषास्वरूपथी इसलिये किसके मनमें तेने उस समय आश्चर्य नहीं कियाथा अर्थात् तुझको सुनकर समस्तजीव आश्चर्य करते थे ।

भावार्थः—जिससमम ज्ञानावरणादि चारघातियाकर्म नष्ट हो जाते हैं उससमय केवलज्ञानकी प्राप्ति होती है तथा उनकेवलीके विनाही इच्छाके दिव्यवाणी प्रगट होती है उसीसमयका ध्यानकर ग्रंथकार सरस्वती की स्तुति करते हैं कि हे मातः जिससमय आप केवलीके मुखसे दिव्यध्वानिरूप परिणत होकर निकलती है उस समय आपकी ध्वनि समुद्रकी ध्वानिके समान होती है जिससे दूरभी बैठे हुवे पशु पक्षी भली भांति सुन सक्ते हैं तथा उससमय आपसमस्तभाषास्वरूप परिणत होकर उनकेवलीके मुखसे प्रकट होती हो । इसलिये समस्त पशु पक्षी आदिक अपनी २ भाषामें आपको समझलेते है तथा उनको असली तत्वका भली भांति निश्चय हो जाता है और आपको इसस्वरूपमें परिणत सुनकर वे लोग बड़ा आश्चर्य करते है ॥ १४ ॥

सचक्षुरप्येष जनस्त्वया बिना यदंध एवेति विभाव्यते वुधैः ।
तदस्य लोकात्रितयस्य लोचनं सरस्वति त्वं परमार्थदर्शने ॥

अर्थः—हे मातः सरस्वति आपकेबिना नेत्रों साहितभी इसपुरुषको विद्वानलोग अंधाही समझते हैं इसलिये हे सरस्वति इसतीनोंलोकके वास्तविक दर्शनमें आपही नेत्र हैं ।

भावार्थः—यद्यपि इसलोकमें अनेक पदार्थ भरेहुवे हैं किन्तु उनसब पदार्थोंमें परमपदार्थ जो मोक्ष है

वही उत्तम पदार्थ है तथा उसपरमपदार्थका दर्शनही नेत्रका फलहै यदि मोक्षस्थानका दर्शन नेत्रसे न होवे तो वहनेत्रही नहीं है आंखोंसे मोक्षरूप परमपुरुषार्थका दर्शन हो नहीं सक्ता इसलिये आंखोंके होतेभी आप-केविना उसपुरुषको विद्वानलोग अंधाही कहते हैं तथा वह परमार्थकादर्शन हे सरस्वति आपकी कृपासेही होता है इसलिये परमार्थके दर्शनमें आपही नेत्र हैं ॥ १५ ॥

गिरा नरप्राणितमेति सारतां कवित्ववक्तृत्वगुणे च सा च गीः ।
इदं द्वयं दुर्लभमेव ते पुनः प्रसादलेशादपि जायते नृणाम् ॥

अर्थः—मनुष्यका जो जीवन है वह बाणीसे सफल समझा जाता है और कवित्व तथा वक्तृत्वगुणके होनेपर वाणी सारभूत समझी जाती है किन्तु इससंसारमें कविपना तथा वक्तापना दोनोंही दुर्लभ हैं परन्तु आपके तो थोड़ेसेही प्रसाद (अनुग्रह)से ये दोनों गुण बातकीबातमें प्राप्त हो जाते हैं ।

भावार्थः—इससंसारमें बड़ेकष्टोंसे तो जीवन प्राप्तहोता है यदि उसजीवनमें बाणीकी प्राप्ति न होवे तो वह दुःखोंसे पाया हुवाभी मनुष्यजन्म निस्सारही समझा जाता है इसलिये मनुष्यकेजीवनकी तो सफलता वाणीसे है और उसवाणीकी सफलता कविपनेसे तथा वक्तावननेसे होती है क्योंकि सुंदरबाणीकीभी प्राप्ति हुई किन्तु सुंदर कविताकरना तथा अच्छीतरह बोलना नहीं आया तो उसबाणीका मिलना न मिलना एकसाही है किन्तु ये दोनोंबातें "अर्थात् कविपना तथा वक्तापना" संसारमें अत्यंत दुर्लभ है किन्तु हेमातः सरस्वति आपकी कृपासे इन दोनों बातोंको मनुष्य बातकीबातमें पालेता है अर्थात जिसमनुष्यपर आपकी कृपा होती है वह मनुष्य प्रसिद्ध कविभी बनजाता है और अच्छीतरह बोलनेवाला भी वह मनुष्य हो जाता है ॥ १६ ॥

नृणां भवत्सन्निधिसस्कृतं श्रवो विहाय नान्यद्धितमक्षयं च तत् ।
भवेद्विवेकार्थमिदं परं पुनर्विमूढतार्थं विषयं स्वमर्पयत् ॥ १७ ॥

अर्थः—हे मातः सरस्वति जिसकानका आपके समीपमें संस्कार कियागया है अर्थात् जो कान आपके सहवाससे शुद्ध एवं पवित्र कियागया है वही कान हितका करनेवाला तथा अविनाशी है किन्तु उससे भिन्न कान न हितकारी है और न अविनाशी है और आपके सहवाससे पवित्रही कान मनुष्योंको विवेककेलिये होता है किन्तु उससे भिन्न अपने विषयोंकी ओर झुकताहुवा कान विवेककेलिये नहीं होता किन्तु विशेषतासे मूढ़ताके लियेही होता है।

भावार्थः—हेमातः जिसकानसे आपके असली २ तत्व सुनेजाते हैं वही कान मनुष्योंको हितका करनेवाला होता है अर्थात् उसकानसे असलीतत्वोंको सुनकर मनुष्य खोटे मार्गमें प्रवृत नहीं होते किन्तु हितकारी मार्गसेही गमनकरते हैं तथा वही कान अविनाशी है अर्थात् उसका कभीभी नाश नहीं होता किन्तु उससे भिन्न कान अर्थात् जिसकानसे आपके असली तत्व नहीं सुने जाते वह कान न तो मनुष्योंको हितका करनेवाला होता है और न अविनाशीही होता है तथा हे सरस्वति आपके असलीतत्वोंसे पवित्रही कान मनुष्योंको विवेककेलिये होता है अर्थात् उसकानसे असलीतत्वोंको समझकर मनुष्य यहबात जानलेते हैं कि यह बस्तु हमको त्यागने योग्य है तथा यह वस्तु हमको ग्रहण करने योग्य है किंतु उसकानसे भिन्न कान मनुष्योंको विवेककेलिये नहीं होता मूढ़ताकेलियेही होता है क्योंकि वह कान अपने अन्य विषयोंमें अर्थात् खोटे २ गायन तथा खोटे २ शब्दोंके सुननेमें प्रवृत्त हो जाता है इसलिये उसकानकी कृपासे मनुष्य अधिक मूढ़ही बनजाते हैं ॥१७॥

कृत्वापि ताल्वोष्टपुटादिभिर्नृणां त्वमादिपर्यंतविवर्जितास्थितिः ।
इतित्वयापीदृशधर्मयुक्तया स सर्वथैकान्तविधिर्विचूर्णितः ॥ १८ ॥

अर्थः—हे मातः सरस्वति यद्यपि तू मनुष्योंके तालू तथा ओष्ठ पुटोंसे की गई है तोभी तेरी स्थिति आदि तथा अंतकर रहितही है अतः इसप्रकारके धर्मोंकर संयुक्त हे सरस्वति तूने सर्वथा एकान्तमार्गका नाश करदिया ऐसा भलीभांति प्रतीत होता है ।

भावार्थः—अनेक महाशयोंका यह सिद्धांत है कि सरस्वति कंठ तालु आदिक स्थानोंसे ही पैदा हुई है किंतु यह एकांतसिद्धांत उनका वास्तविक सिद्धांत नहीं क्योंकि यदि ऐसाही मानाजाय तो सरस्वती आदि अंतकर रहित नहीं हो सक्ती किंतु अनेकांतमतको मानकर ऐसाही स्वीकार करना चाहिये कि किसीरीतिसे सरस्वती कंठ तालु आदिकस्थानोंसे उत्पन्नभी हुई है तथा किसीरीतिसे आदि अंतकर रहितभी है अर्थात् द्रव्य श्रुतकीतो तालू कंठ आदिस्थानोंसे उत्पत्ति है किंतु भावश्रुत ज्ञानात्मक है इसलिये शुद्धनिश्चयनयसे वह आदि तथा अंतकर रहित है इसी आशयकोलेकर इसश्लोकसे आचार्यवर सरस्वतिमाताकी स्तुतिकरते हैं कि हेमातः यद्यपि आप किसी स्वरूपसे कंठ तालु आदिस्थानोंसे उत्पन्नहुईहो तोभी आप किसी स्वरूपसे आदि अंतकर रहितहीहो इसलिये इसप्रकारके धर्मोंको धारण करनेके कारण आपने एकांत विधिका सर्वथा नाशकरदिया है॥१८॥

अपि प्रयाता वशमेकजन्मनि द्युधेनुचिंतामणिकल्पपादपाः ।
फलंति हि त्वं पुनरत्र चापरे भवे कथं तैरुपमीयसे बुधैः ॥

अर्थः—हे सरस्वति मातः किसीरीतिसे वशको प्राप्त ऐसे कामधेनु, चिंतामणि, तथा कल्पवृक्ष, एकही भवमें मनुष्योंको इष्टफलके देनेवाले होते है किन्तु आप इसभवमें तथा परभवमें (दोनोंभवोंमें) मनुष्योंके इष्टफलोंको देनेवालीहो इसलिये आपको कामधेनु, आदिकी उपमा कभीभी नहीं दीजासक्ती है ॥

भावार्थः—हे सरस्वति बहुतसे कवि जिससमय आपका वर्णन करते हैं उससमय आपको कामधेनु

चिंतामणि तथा कल्पवृक्षकी उपमा दियाकरते है किंतु उसप्रकारकी आपकेलिये उपमा देना योग्य नहीं है क्योंकि यदि किसीरीतिसे कामधेनु तथा कल्पवृक्ष और चिंतामणि मनुष्योंके ऊपर संतुष्टहोजावे तो वे इतनाही काम करसक्ते है कि उसमनुष्यको इसीभवमें इष्टफलोंको देसक्ते हैं दूसरे भवमें नहीं किन्तु हेमातः यदि आपकिसी जीवपर संतुष्टहोजावो तो उसको इसभवमें तथा परभवमें दोनोंभवोंमें इष्टफलको देती हो इसलिये वे कदापि आप की समताको धारण नहीं करसक्ते ॥ १९ ॥

अगोचरो वासरकृन्निशाकृतो जनस्य यच्चेतसि वर्तते तमः ।
विभिद्यते वागधिदेवते त्वया त्वमुत्तमज्योतिरिति प्रगीयसे ॥

अर्थः—हे वागधिदेवते हे सरस्वति जो अंधकार सूर्य तथा चंद्रमाके भी गोचर नहीं है अर्थात् न जिस अंधकारको सूर्यदेखसक्ता है और न चद्रमा देखसक्ता है ऐसा मनुष्योंके चित्तमें अंधकार विद्यमान है उसअंधकार को तू नाशकरती है इसलिये संसारमें तूही उत्तम ज्योति है ऐसा (विद्वान मनुष्य) तेरा गुणगान करते हैं।

भावार्थः—यद्यपि संसारमें सूर्यचंद्र दीपक रत्न आदिक बहुतसे पदार्थ है, जो अंधकारको नाशकरते हैं किंतु वे बाहिरी अंधकारको ही नाशकरते हैं मनुष्योंके मनमें स्थित जो भीतरी अंधकार है उसको नाश नहीं करसक्ते क्योंकि वह अंधकार उनके अगोचर है किंतु हेमातः आप उसभीतरी अंधकारकोभी नाशकरती हो इस लिये सूर्यचंद्र आदि समस्तज्योतियोंमें आपही उत्तम ज्योति हो ऐसा बडे २ विद्वान कवि आपका गुणगान करते है ॥२०॥

जिनेश्वरस्वच्छसरःसरोजिनी त्वमंगपूर्वादिसरोजराजिता ।
गणेशहंसव्रजसेविता सदा करोषि केषां न मुदं परामिह ॥

अर्थः—हेमातः सरस्वति तू जिनेश्वररूपी जो निर्मल सरोवर उसकी तो कमलिनी है और ग्यारह अंग

चौदह पूर्वरूपीजो कमल उनकरके शोभित है और गणधररूपी जो हंसोंका समूह उसकरके सेवित हैं इसलिये तू इस संसारमें किसको उत्तम हर्षके करने वाली नहीं है ?

भावार्थः—जो कमलिनी उत्तमसरोवरमें उत्पन्न हुई है और जिसके चारोंओर भांति २ के कमल शोभा वढारहे है तथा अत्यंतमनोहरहंसोंका समूह जिसकी सेवाकर रहा है ऐसी कमलिनी जिसप्रकार सबोंकेचित्तोंका प्रसन्नकरनेवाली होती है उसीप्रकार हेमातः आपभी जिनेश्वररूपी उत्तम सरोवरसे पैदा हुई हो अर्थात् आपको भी केवली भगवानने प्रगटकिया है तथा आप ग्यारह अंग चौदह पूर्वको धारण करने वाली हो और बडे २ गणधर आपकी सेवा करते हैं फिरभी आप मनुष्योंके चित्तोंको क्यों नहीं प्रसन्नताकी करनेवाली होंगी ? अर्थात् अवश्यही मनुष्य आपको सुनकर प्रसन्न होंगे ॥ २१ ॥

परात्मतत्वप्रतिपत्तिपूर्वकं परं पदं यत्र सति प्रसिध्यति ।
कियत्ततस्ते स्फुरतः प्रभावतो नृपत्वसौभाग्यवरांगनादिकम् ॥

अर्थः—हेमातः सरस्वति जब आपकी कृपासे परमात्मतत्वका जो ज्ञान उसज्ञान पूर्वक परमपद (मोक्ष पद) की सिद्धि होजाती है तब आपके देदीप्यमान प्रभावके सामने राजापना, सौभाग्य तथा उत्तमस्त्री आदिकी प्राप्ति क्या चीज है ?

भावार्थः—यद्यपि संसारमें राजापना तथा सौन्दर्य और उत्तमस्त्री आदिकी प्राप्ति भी अत्यंत कठिन है किन्तु हे मातः आपके देदीप्यमानप्रभावके सामने इनकी प्राप्ति कोई कठिन नहीं है अर्थात् जिसके ऊपर आपकी कृपा है वह भाग्यशाली विनाही परिश्रमसे इनपदार्थोंको प्राप्त करलेता है क्योंकि सबसे कठिन परात्म-तत्वका ज्ञान तथा मोक्षपदकी प्राप्ति है जब मनुष्य आपकी कृपासे परमातमज्ञानको तथा मोक्षपदको भी वात

कीबातमें प्राप्तकरलेता है तब उनकी अपेक्षा अत्यंतसुलभ नृपत्व सौभाग्य आदि चीजोंका प्राप्तकरना उसके लिये क्या कठिन बात है ? ॥ २२ ॥

त्वदंघ्रिपद्मद्वयभक्तिभाविते तृतीयमुन्मुलति बोधलोचनम् ।
गिरामधीशे सह केवलेन यत्समाश्रितं स्पर्धमिवेक्षतेऽखिलम् ॥

अर्थः—हे मातः सरस्वति जो भव्यजीवमनुष्य आपके दोनों चरण कमलोंकी भक्ति तथा सेवाकरता है उसमनुष्यके तीसरा सम्यग्ज्ञानरूपी नेत्र प्रकट होता है जो सम्यग्ज्ञानरूपीनेत्र केवलज्ञानके साथ ईर्षाकरकेही मानो समस्तपदार्थोंको देखता जानता है ऐसा मालूम पड़ता है ।

भावार्थः—सरस्वतीकी कृपासे जीवोंको श्रुतज्ञानकी प्राप्ति होती है और उसश्रुतज्ञानसे केवलज्ञान के समान समस्तपदार्थ जानेजाते हैं भेद इतनाही है कि केवलज्ञानतो पदार्थोंको प्रत्यक्षरूपसे जानता है क्योंकि केवल आत्माकी सहायतासे होनेवाला केवलज्ञान प्रत्यक्षज्ञान कहा गया है । तथा श्रुतज्ञान पदार्थोंको परोक्षरूपसे जानता है क्योंकि वह मनकी सहायतासे होता है इसलिये वह परोक्ष ज्ञान कहागया है किंतु पदार्थोंके जाननेमें दोनों ज्ञान है समानही । इसलिये आचार्यवर स्तुतिकरते है। कि हे मातः जो मनुष्य आपके दोनों चरणकमलोंका भक्त है उसमनुष्यको श्रुतज्ञानकी प्राप्ति होती है और उसश्रुतज्ञानसे वह मनुष्य केवल ज्ञानकेसमान समस्तपदार्थोंको भली भांति जानता है ॥ २३ ॥

त्वमेव तीर्थं शुचिबोधवारिमत्समस्तलोकत्रयशुद्धिकारणम् ।
त्वमेव चानंदसमुद्रवर्धने मृगांकमूर्तिः परमार्थदर्शिनाम् ॥

अर्थः—हे मातः सरस्वति सम्यग्ज्ञानरूपीजलसे भराहुवा तथा समस्त लोकोंकी शुद्धिका कारण तू ही

तो पवित्र तीर्थ है तथा जो पुरुष मरमार्थको देखनेवाले हैं उनमनुष्योंके आनंदरूपी समुद्रके वढ़ानेमें तू हीं चंद्रमा है ॥

भावार्थः—जिससे भव्यजीव तरैं उसीका नाम तीर्थ है इसलिये लोग जिसप्रकार अत्यंत निर्मल जल से भरे हुवे गंगा आदि तीर्थों को तीनोंलोककी शुद्धिका कारण समझते हैं उसीप्रकार हे मातः सरस्वति सम्यग्ज्ञानरूपी जलसे भरी हुई और समस्तलोककी शुद्धिका कारण तूभी तीर्थ है अर्थात् जो मनुष्य तुझ में गोता लगाते हैं वे मनुष्य अत्यंतशुद्ध हो जाते हैं तथा जिसप्रकार चंद्रमाके उदित होनेपर समुद्र वृद्धि को प्राप्त होता है उसीप्रकार हे मातः जो मनुष्य परमार्थके देखनेवाले हैं उन मनुष्योंके आनंद रूपीसमुद्रके वढ़ाने में तू चंद्रमाके समान है ॥ २४ ॥

त्वयादिवोधः खलु संस्कृतो व्रजेत् परेषु वोधेष्वखिलेषु हेतुतां ।
त्वमाक्षि पुंसामति दूरदर्शने त्वमेव संसारतरोः कुठारिका ॥

अर्थः—हे भगवति सरस्वति तेरे द्वारा अत्यंत पवित्रकियाहुवा मतिज्ञानही वाकीके बचे हुवे समस्त श्रुत, मनः पर्यय, आदि ज्ञानों में कारण है और अत्यंत दूर देखनेमें तूही मनुष्यका नेत्र है और संसार रूपी वृक्षके काटनेकेलिये तूही कुठार है ।

भावार्थः—हे मातः समस्तज्ञानोंमें तू ही कारण पड़ती है अर्थात् तेरी हीं कृपासे समस्तज्ञान आत्मा में प्रगट होते हैं और जितने भर दूर पदार्थ हैं उनके देखनेमें तूही नेत्र है क्योंकि जितने भर मेरू आदिक देश से दूर, तथा राम रावण आदि कालसे दूर, तथा परमाणु आदिक स्वभावसे दूर पदार्थ है उन सबका दर्शन तेरी ही कृपा से होता है और संसारके नाश करने में भी तूहीं कारण है अर्थात् जो मनुष्य तेरे भक्त तथा आराधक है वे मनुष्य यथार्थतत्वज्ञानको प्राप्तकर निर्विघ्नरीतिसे सीधे मोक्षको चले जाते हैं अर्थात्

उनका संसार सर्वथा छूट जाता है ॥ २५ ॥

यथाविधानं त्वमनुस्मृता सती गुरूपदेशोयमवर्णभेदतः ।
न ताः श्रियस्ते न गुणा न तत्पदं प्रयच्छसि प्राणभृते न यच्छुभे ॥

अर्थः—हे शुभे हे सरस्वति यह गुरूका उपदेश है कि जो पुरुष शास्त्रानुसार अकारसे लेकर अंततक आपका स्मरण करने वाला है उसपुरुषके न तो कोई ऐसा लक्ष्मी है जिसको आप न देवे और न कोई उत्तम गुण तथा उत्तम पदही है जोकि आपकी कृपासे वह जीव न पासकै ।

भावार्थः—हे मातः जो मनुष्य शास्त्रानुसार आपकी सेवा करने वाला है उस मनुष्यको अंतरंग केवलज्ञानादि तथा वहिरंग समवसरणादि समस्त प्रकारकी लक्ष्मीकी प्राप्ति होती है तथा वह मनुष्य आपकी कृपासे औदार्य धैर्य आदिक समस्तगुणोंको भी प्राप्तकरलेता है और आपकी ही कृपासे उसको मोक्षपदकी प्राप्तिभी शीघ्र होजाती है॥

अनेकजन्मार्जितपापपर्वतो विवेकवज्रेण स येन भिद्यते ।
भवद्वपुःशास्त्रघनान्निरेति तत्सदर्थवाक्यामृतभारमेदुरात् ॥

अर्थः—हे मातः हे सरस्वति अनेकभवोंमे संचयकियाहुवा जो पापरूपी पर्वत है वह जिस विवेकरूपी वज्रके द्वारा तोड़ा जाता है वह विवेकरूपी वज्र श्रेष्ठ अर्थ तथा वाक्यरूपी जो जल उसका जो भार उससे वृद्धिको प्राप्त ऐसा आपका शरीर स्वरूपजो शास्त्र वहीहुवा मेघ उससे निकला है ।

भावार्थः—जिसप्रकार उत्तमपानीके धारणकरने वाले मेघसे वज्र उत्पन्नहोता है तथा वह वज्र पर्वत को छिन्न भिन्न करदेता है उसीप्रकार हे मातः श्रेष्ठ अर्थ तथा वाक्योंसे परिपूर्ण ऐसे आपके शास्त्रसे मनुष्यों को हिताहितका विवेक होता है तथा उसविवेकसे अनेक जन्मोंमें संचितभी पापका समूह पलभरमें नष्टहो जाता है॥२७॥

तमांसि तेजांसि विजित्य वाङ्मयं प्रकाशयद्यत्परमं महन्महः ।
न लुप्यते तैर्नच तैः प्रकाश्यते स्वतः प्रकाशात्मकमेव नंदतु ॥

अर्थः—हे सरस्वति अंधकार तथा अन्यतेजोंको जीतकर प्रकाशकरता हुवा तथा सर्वोत्कृष्ट, तेरीवाणी स्वरूप तेज इसलोकमें जयवंत प्रवर्तो क्योंकि जो तेज न तो अंधकारसे नाश होता है और न किसी दूसरे तेज से प्रकाशित होता है किंतु स्वतः प्रकाशस्वरूपही है ॥

भावार्थः—यद्यपि सूर्य चन्द्र आदि बहुतोंके तेज संसारके अंदर मौजूद है किंतु हे मातः आपकेवाणी रूपीतेजकी तुलना दूसरा कोईभी तेज नहीं करसकता है क्योंकि वे समस्ततेज अंधकारद्वाराविनाशीक हैं तथा कईएकतेज दूसरेके प्रकाशसे प्रकाशित होते हैं और आपका तेज न तो प्रबलसेप्रबल अंधकार द्वाराही विनाशीक है और दूसरे तेजकी अपने प्रकाशहोनेमें सहायताभी नहीं चाहता किन्तु स्वतः प्रकाशमानही है इसलिये हे सरस्वति ऐसा आपका तेज सदा इसलोकमें जयवंत रहो ॥ २८ ॥

तव प्रसादः कवितां करोत्यतः कथं जडस्तत्र घटेत मादृशः ।
प्रसीद यत्रापि मयि स्वनन्दने न जातु माता विगुणेपि निष्ठुरा ॥ २९ ॥

अर्थः—हे सरस्वति हे मातः तेरा प्रसादही कविताका करनेवाला है इसलिये मेरे (ग्रंथकर्ताके) समान वज्रमूर्ख उसकविताके करनेमें कैसे चेष्टाको करसकता है? अतः इसकविताके करनेमें तू मुझपर प्रसन्न हो क्यों कि यदि अपना पुत्र निर्गुणी भी होवै तौभी माता उसके ऊपर कठोर नहीं बनती ।

भावार्थः—पुत्र कैसाभी निर्गुणी तथा अविनीत क्यों न हो तौ भी जिसप्रकार माता उसके ऊपर रुष्ट नहीं होती सदा उसके ऊपर दयालु ही रहती है उसीप्रकार हे सरस्वति आप भी मेरी माता हो ।

अपना उपकारी मानता है तथा उसकी शक्त्यनुसार सेवा भी करता है उसीप्रकार यह जगत भी प्रमादके वश होकर अज्ञानांधकारमें पड़ाहुआ था और सर्वथा हिताहितके विवेकसे शून्य था उससमय श्रीआदिनाथभगवानने अपने उपदेशसे इस जगतका उद्धार किया तथा इसको पर और आत्मतत्त्वका ज्ञान कराया अतः सबसे यदि उपकारी हैं तो आदिनाथ ही भव्यजीवोंके उपकारी हैं इसलिये हे भव्यजीवो आपके परमादरणीय तथा सेवाके पात्र श्रीआदिनाथ ही हैं ॥ १ ॥

अजितनाथभगवानकी स्तुति ।

भवारिरेको न परोऽस्ति देहिनां सुहृच्च रत्नत्रयमेकमेव हि ।
स दुर्जयो येन जिनस्तदाश्रयात्ततोऽजितान्मे जिनतोऽस्तु सत्सुखम् ।

अर्थः—जीवोंका संसार ही एक बैरी है और दूसरा कोई भी वैरी नहीं है तथा मित्र सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय ही है और कोई दूसरा मित्र नहीं और वह संसाररूपी वैरी अत्यंत दुर्जय है किंतु जिस श्रीअजितनाथ भगवानने उस सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्ररूपी मित्रकी सहायता से उस संसाररूपी भयंकर बैरी को सर्वथा जीत लिया है उस अजितनाथभगवानसे मुझे श्रेष्ठ सुख मिले ऐसी मेरी प्रार्थना है ।

भावार्थः—जिसप्रकार कोई भयंकर बैरी मित्रोंकी सहायतासे पलभरमें जीतलिया जाता है उसीप्रकार श्रीअजितनाथभगवानने भी सम्यग्दर्शनादिरत्नत्रयरूपीमित्रकी सहायतासे संसाररूपी भयंकर बैरीको जीत लिया है क्योंकि जीवोंको सबसे प्रबल बैरी संसार है और मित्र सबसे अधिक रत्नत्रय है इसलिये इसप्रकार अत्यंतबीर श्रीअजितनाथभगवान मुझे उत्तमसुखके दाता हो ऐसी मेरी प्रार्थना है ॥ २ ॥

संभवनाथभगवानकी स्तुति ।

पुनातु नः संभवतीर्थकृज्जिनः पुनः पुनः संभवदुःखदुःखिताः ।
तदर्तिनाशाय विमुक्तिवर्त्मनः प्रकाशकं यं शरणं प्रपेदिरे ॥

अर्थः—बारंबार संसारके दुःखोंसे दुःखित जो प्राणी समस्तसंसारके दुःखोंके नाशकेलिये मोक्षके मार्गको प्रकाश करनेवाले ऐसे जिस श्रीसंभवनाथकी शरणको प्राप्त हुए ऐसे श्रीसंभवनाथजिनेंद्र हमारी रक्षा करो अर्थात् ऐसे श्रीसभवनाथभगवानको हम नमस्कार करते हैं ॥

भावार्थः—जो संभवनाथभगवान प्राणियोंको संसारके दुःखोंसे छुटानेवाले हैं तथा मोक्षके मार्गके प्रकाश करनेवाले हैं और शरणमें आये हुए जीवोंकी रक्षा करनेवाले हैं ऐसे श्रीसंभवनाथभगवान हमारी रक्षा करैं ॥३॥

अभिनंदननाथभगवानकी स्तुति ।

निजैर्गुणैरप्रतिमैर्महानजो नतु त्रिलोकीजनतार्चनेन यः ।
यतो हि विश्वं लघु तं विमुक्तये नमामि साक्षादभिनंदनं जिनम् ॥

अर्थः—जो अभिनंदनभगवान तीनोंलोकके जनोंसे पूजित हैं इसलिये बडे नहीं है किंतु दूसरोंजीवोंमें नहीं पाये जांय ऐसे जो स्वीयगुण हैं उनसे बडे हैं और जो जन्मकर रहित है तथा जिनसे समस्तलोक छोटा है अर्थात् जो सांसारिक सुखोंको तुच्छ समझते हैं अथवा जिनके ज्ञानके सामने यह लोक बहुत छोटी चीज है ऐसे जीवोंको समस्तप्रकारके आनंदके देनेवाले श्रीअभिनंदनजिनेंद्रको मैं मस्तक झुकाकर ममस्कार करता हूं ।

भावार्थः—जो अपने असाधारणगुणोंसे महान है किंतु तीनोंलोकके जीवोंद्वारा पूजित है इसलिये महान नहीं है तथा जन्म मरण आदिक जिनके पासभी नहीं फटकने पाते और जो समस्त पदार्थोंको देखने

वाले हैं और जिनके नामके स्मरणमात्रसेही समस्त जीवोंको आनंद होता है ऐसे श्रीअभिनंदननाथको मैं मुक्तिकेलिये मस्तकझुकाकर नमस्कार करता हूं ॥ ४ ॥

सुमतिनाथभगवानकी स्तुति।

नयप्रमाणादिविधानसंघटं प्रकाशितं तत्त्वमतीव निर्मलम्।
यतस्त्वया तत्सुमतेऽत्र तावकं तदन्वयं नाम नमोस्तु ते जिन ॥

अर्थः—हे सुमतिनाथ जिनेन्द्र, जिसमें प्रमाण तथा नयोंका भलीभांति संघट है और जो अत्यंत निर्मल है ऐसा तत्त्व आपने प्रकाशित किया है इसलिये हेजिनेश आपका नाम सार्थक है तथा आपके लिये नमस्कार हो।

भावार्थः—जिसकी बुद्धि शोभन होवे उसको सुमति कहते हैं यह सुमति शब्दका अर्थ है हे सुमति नाथ जिनेश आपका यह नाम सर्वथा सार्थक है क्योंकि आपने उसतत्वका प्रकाशकिया है जिसतत्वमें प्रमाण तथा नयका अच्छीतरह संघट है तथा जिसमें किसीप्रकारका दोष नहीं है और इसीलिये जो निर्मल हैं अतः हे प्रभो हे जिनेश आपके लिये नमस्कार है ॥ ५ ॥

पद्मप्रभतीर्थंकरकी स्तुति।

रराज पद्मप्रभतीर्थकृत्सदस्यशेषलोकत्रयलोकमध्यगः।
नभस्युडुव्रातयुतः शशी यथा वचोऽमृतैर्वर्षति यः स पातु वः ॥

अर्थः—आकाशमें चंद्रमा जिसप्रकार नक्षत्रोंसे शोभित होता है तथा जीवोंको आनंदामृतका वर्षण करता है उसीप्रकार जो पद्मप्रभभगवान तीनोंलोकके जो समस्तजीव उनके मध्यमागमें शोभित होते थे

१ क. पुस्तकमें सद्घटं सहमी पाठ है। २ क. पुस्तमें पातु न- मंह भी पाठ है।

तथा जो अपने वचनरूपी अमृतको वर्षानेवाले थे ऐसे वे श्रीपद्मप्रभभगवान हमारी रक्षा करैं अर्थात् ऐसे पद्मप्रभभगवानको हम नमस्कार करते हैं।

भावार्थः—जिसप्रकार चंद्रमा आकाशमें नक्षत्रोंसे वेष्ठित हुवा अधिक शोभाको प्राप्त होता है उसी प्रकार जो पद्मप्रभभगवान समवशरणमें समस्तजीवोंके मध्यमें अत्यंत शोभित होते थे तथा जिसप्रकार चंद्रमा अपने प्रकाशसे जगतको आनंदका देने वाला है उसीप्रकार जो पद्मप्रभभगवान अपने उपदेशसे जीवोंका आनंदके देनेवाले थे अर्थात् जिनके उपदेशको सुनकर भव्यजीव आनंद सागरमें मग्न हो जाते थे ऐसे श्री पद्मप्रभभगवान हमारी रक्षा करैं॥ ६॥

सुपार्श्वनाथकी स्तुति।

नरामराहीश्वरपीडने जयी धृतायुधो धीरमना झषध्वजः।
विनापि शस्त्रैर्ननु येन निर्जितो जिनं सुपार्श्वं प्रणमामि सर्वदा॥

अर्थः—जो कामदेव नरेन्द्र देवेन्द्र फणीन्द्रको भी दुःखका देनेवाला है और जो शस्त्रोंका धारी है तथा जिसका मन अत्यंतधीर है और जिसकी मीनकी ध्वजा है ऐसाभी कामदेव जिस सुपार्श्वनाथ जिनेन्द्रने विना ही शस्त्रके पलभरमें जीतलिया उन सुपार्श्वभगवानको मैं सर्वदा मस्तकझुकाकर नमस्कार कारता हूं॥

भावार्थः—यद्यपि संसारमें नरेन्द्र देवेन्द्र तथा फणीन्द्रभी बड़े बीर गिने जाते हैं किन्तु कामदेवके सामने जिनकी कुछ भी बीरता नहीं चलती अर्थात् जो कामदेव इनको भी जीतनेवाला है तथा जिस कामदेवके पास सदा शस्त्र (बाण) रहते हैं और जो धीरमन तथा मीनकी ध्वजाकी धारी है उस कामदेवको भी विना शस्त्र के जिन सुपार्श्वनाथभगवानने बातकी बातमें जीतलिया अर्थात् जिन भगवानके सामने तीनलोकके विजयी भी

कामदेवकी कुछ भी तीन पांच न चली उन श्रीसुपार्श्वजिनेंद्रको मैं सर्वदा मस्तकझुकाकर नमस्कार करता हूं॥७॥

चन्द्रप्रभभगवानकी स्तुति ।

शशिप्रभो वागमृतांशुभिः शशी परं कदाचिन्न कलंकसंगतः ।
नवापि दोषाकरतां ययौ यतिर्जयत्यसौ संसृतिपापनाशनः ॥ ८ ॥

अर्थः—जो चंद्रप्रभभगवान वाणीरूपी अमृतकी किरणोंसे यद्यपि चंद्रमा है परन्तु कभीभी कलंककरके युक्त नहीं हैं और न कभी दोषाकरताको ही प्राप्तहुवे हैं तथा समस्तसंसारके पापोंके नाशकरनेवाले हैं ऐसे यति चंद्रप्रभभगवान सदा इसलोकमें जयवंत हैं ।

भावार्थः—जिसप्रकार चंद्रमा अपनी अमृतमयी किरणोंसे जीवोंको आनंदका देनेवाला होता है उसीप्रकार चंद्रप्रभभगवान भी अपने वचनामृतकीवर्षासे जीवोंको आनंदके देनेवाले हैं अतः इसरीतिसेतो चंद्रप्रभभगवान चंद्रमा ही हैं किन्तु जिसप्रकार चंद्रमा कलंककरसहित हैं तथा दोषाकर है उसप्रकार भगवान कलंकसहित नहीं हैं किन्तु कलंककर रहितही हैं तथा दोषाकर नहीं हैं किंतु दोषोंकर रहितही हैं और समस्त संसारके नाशकरनेवाले हैं इसलिये ऐसे अपूर्व चंद्रमा श्रीचंद्रप्रभभगवान सदा इसलोकमें जयवंत हैं ॥८॥

पुष्पदंतभगवानकी स्तुति ।

यदीयपादद्वितयप्रणामतः पतत्यधो मोहनधूलिरंगिनाम् ।
शिरोगता मोहठकप्रयोगतः स पुष्पदंतः सततं प्रणम्यते ॥ ९ ॥

अर्थः—मोहरूपीठगद्वारा प्राणियोंके शिरोमें स्थापित मोहनरूपी धूलि जिस पुष्पदंतभगवानके दोनोंचरणकमलोंके प्रणामसेही पलभरमें नीचे गिरपड़ती है उनपुष्पदंतभगवानको हम सदा प्रणाम करते हैं ।

भावार्थः—कोईठग किसीमनुष्यपर मोहनधूलि (जादू) डाल देवे तो जिसप्रकार उसको कुछभी नहीं सूझता तथा वहठग उसकी सबचीजोंको ठगलेता है उसीप्रकार इससंसारमें मोहभी एक बड़ाभारी ठग है तथा उसने भी प्राणियोंके मस्तकोंपर मोहनधूलि डालरक्खी है इसलिये उन प्राणियोंको कुछ भी हिताहितका विवेक नहीं है अर्थात् मोहद्वारा उनका सबविवेक ठगागया है किंतु वह मोहनधूलि श्रीपुष्पदंतभगवानके दोनो चरण कमलोंको प्रणाम करनेसे बातकीबात पलभरमें नष्ट हो जाती है इसलिये आचार्य कहते हैं कि हम ऐसे श्रीपुष्पदन्त-भगवानको नमस्कार करते हैं ॥९॥

शीतलनाथभगवानकी स्तुति ।

सतां यदीयं वचनं सुशीतलं यदेव चन्द्रादपि चन्दनादपि
तदत्र लोके भवतापहारि यत् प्रणम्यते किं न स शीतलो जिनः ॥

अर्थः—जिस शीतलनाथभगवानके वचन सज्जनोंको चन्द्रमा तथा चंदनसे भी अधिक शीतल जान-पड़ते हैं और जो वचन समस्तसंसारके तापोंके नाश करनेवाले हैं ऐसे शीतलनाथभगवान क्या नमस्कारके पात्र नहीं हैं ? अवश्य ही हैं ।

भावार्थः—यद्यपि संसारमें चंद्रमा तथा चंदन भी शीतलपदार्थ हैं तथा तापके दूरकरनेवाले हैं किंतु ये बहुत थोड़े शीतल पदार्थ हैं तथा थोड़ेही तापको नाश कर सकते हैं किंतु भगवान शीतलनाथके वचन अत्यंत शीतल तथा समस्तसंसारके तापोंको दूरकरनेवाले हैं इसलिये ऐसे शीतलनाथभगवानको मस्तक झुकाकर नमस्कार हैं ॥१०॥

श्रेयोनाथभगवानकी स्तुति ।

जगत्त्रये श्रेय इतो ह्ययादिति प्रसिद्धनामा जिन एष वन्द्यते
यतो जनानां बहुभक्तिशालिनां भवंति सर्वे सफला मनोरथाः ॥

अर्थः—तीनोंलोकमें समस्तकल्याणोंकी प्राप्ति श्रीश्रेयोनाथभगवानसे होती है इसलिये ये जिनेन्द्र, श्रेयोनाथ इसनामसे प्रसिद्ध हैं तथा जो भव्यजीव इन श्रेयोनाथभगवानमें गाढ़भक्तिकर सहित हैं उन भव्य जीवोंके इन्हीं भगवानकी कृपासे समस्तमनोरथ सिद्ध होते हैं ।

भावार्थः—११ ग्यारहवें तीर्थंकरका जो श्रेयोनाथभगवान नाम पड़ाहै उसका कारण यही है कि तीनोंलोकमें उन्हींकी कृपासे कल्याणोंकी प्राप्ति होती है और उन्हींकी कृपासे भव्यजीवोंके समस्तमनोरथ सिद्ध होते हैं ॥११॥

वासुपूज्यतीर्थंकरकी स्तुति ।

पादाब्जयुग्मे तव वासुपूज्य जनस्य पुण्यं प्रणतस्य तद्भवेत्
यतो न सा श्रीरिह हि त्रिविष्टपे न तत्सुखं यन्न पुरः प्रधावति ॥

अर्थः—हे वासुपूज्यजिनेश जो भव्यजीव आपके दोनों चरणकमलोंको नमस्कार करनेवाला है उस भव्यजीवको इस संसारमें उसअपूर्व पुण्यकी प्राप्ति होती है कि जिस पुण्यकी कृपासे इनतीनोंलोकमें न तो कोई ऐसी लक्ष्मी है जो आगे दौड़कर न आती हो और न कोई ऐसा सुख है जो न मिलता हो ।

भावार्थः—हे वासुपूज्यजिनेश जो मनुष्य आपके चरणकमलोंकी सेवा करनेवाले हैं उनमनुष्योंको अपूर्व पुण्यकी प्राप्ति होती है तथा उस पुण्यकी कृपासे वे इस संसारमें उत्तमोत्तम लक्ष्मीको प्राप्तकर लेते हैं और समस्तप्रकारके सुख उनके सामने पलभरमें आकर उपस्थित होजाते हैं ॥ १२ ॥

विमलनाथतीर्थंकरकी स्तुति ।

मलैर्विमुक्तो विमलो न कैर्जिनो यथार्थनामा भुवने नमस्कृतः
तदस्य नामस्मृतिरप्यसंशयं करोति वैमल्यमघात्मनामपि ॥

अर्थः—इससंसारमें ऐसा कौन होगा जिसने समस्तमलोंकर रहित तथा सार्थकनामको धारण करने वाले जिनेन्द्र श्रीविमलनाथको नमस्कार न किया हो अर्थात् समस्त ही जीव श्रीविमलनाथभगवानको नमस्कार करते हैं इसीलिये श्रीविमलनाथभगवानके नामका स्मरण ही पापीभी मनुष्योंको अत्यंत विमल बनादेता है।

भावार्थः—जो मनुष्य पापी हैं अर्थात् रातदिन पापका संचय करतेरहते हैं यदि वे मनुष्य भी श्रीविमलनाथ जिनेन्द्रका नाम लेलेवें तो वे बातकी बातमें समस्तपापोंकर रहित हो जाते हैं क्योंकि विमलनाथ स्वयं समस्तप्रकारके मलोंकर रहित हैं तथा (समस्तप्रकारके मलोंकर जो रहित होवे उसको विमल कहते हैं) इस सार्थकनामको भी विमलनाथभगवान धारण करते हैं तथा समस्त संसारीजीव उनको नमस्कार करते हैं ॥१३॥

अनंतनाथतीर्थंकरकी स्तुति।

अनंतबोधादिचतुष्टयात्मकं दधाम्यनंतं हृदि तद्गुणाशया
भवेद्यदर्थी ननु तेन सेव्यते तदन्वितो भूरितृषेव सत्सरः ॥

अर्थः—अनंत विज्ञानादि स्वरूप श्रीअनंतनाथभगवानको मैं उनके गुणोंकी आशासे अपने हृदयमें धारण करता हूं क्योंकि संसारमें यह बात प्रत्यक्षगोचर है कि जो पुरुष जिसगुणकी प्राप्तिका इच्छुक होता है वह मनुष्य उसकी ही सेवा करता है जिसप्रकार अत्यंत प्यासा मनुष्य अपनी प्यासकी शांतिकेलिये उत्तम (स्वच्छजलसे भरेहुए) सरोवरकी सेवा करता है।

भावार्थः—जिसप्रकार अत्यंत प्यासा मनुष्य अपनी प्यासके बुझानेकेलिये अत्यंतनिर्मल जलसे भरेहुए सरोवरकी सेवा करता है उसीप्रकार अनंतविज्ञान अनंतवीर्य अनंतसौख्य तथा अनंतदर्शन इसअनंतचतुष्टयका मैं भी आकांक्षी हूं इसलिये अनंतचतुष्टयके धारण करनेवाले श्रीअनंतनाथभगवानको मैं अपने हृदयमें धारण

करता हूं क्योंकि जो जिसगुणकी प्राप्तिका अभिलाषी होता है वह अवश्य ही उसकी सेवा करता है ॥१४॥

धर्मनाथतीर्थंकरकी स्तुति ।

नमोस्तु धर्माय जिनाय मुक्तये सुधर्मतीर्थप्रविधायिने सदा
यमाश्रितो भव्यजनोऽतिदुर्लभां लभेत कल्याणपरम्परां पराम् ॥

अर्थः—जिस धर्मनाथभगवानको आश्रयकर भव्यजीव अत्यंतदुर्लभ सर्वोत्कृष्ट कल्याणोंकी परंपराको प्राप्त होते हैं उन श्रेष्ठ धर्मरूपीतीर्थके प्रवर्तानेवाले तथा अष्टकर्मोंके जीतनेवाले श्रीधर्मनाथभगवानको मैं मोक्षकी प्राप्तिकेलिये सर्वदा नमस्कार करता हूं ॥ १५ ॥

शांतिनाथभगवानकी स्तुति ।

विधाय कर्मक्षयमात्मशांतिकृज्जगत्सु यः शांतिकरस्ततोऽभवत्
इति स्वमन्यं प्रति शांतिकारणं नमामि शांतिं जिनमुन्नताश्रियम् ॥

अर्थः—जो शांतिनाथ भगवान् अपनी आत्माकी शांतिकरनेवाले कर्मोंके क्षयको करके समस्तजगतमें शांतिके करनेवाले होतेहुवे ऐसे स्व तथा परको शांतिके करनेवाले और अंतरंग तथा बहिरंग दोनोंप्रकारकी लक्ष्मीके स्वामी सोलहवें तीर्थंकर श्रीशांतिनाथभगवानको मैं मस्तक झुकाकर नमस्कार करता हूं अर्थात् शांतिके देनेवाले श्रीशांतिनाथभगवान मुझे भी शांतिप्रदान करैं

भावार्थः—जबतक इसआत्माके साथ कर्मोंका संबंध रहता है तबतक यह मेरा है यह तेरा है इस प्रकारके विकल्पोंको करताहुआ यह सदा व्याकुल ही रहाकरता है किंतु जिससमय कर्म आत्मासे जुदे हो जाते हैं उससमय विकल्पोंसे रहित होनेके कारण आत्मा शांत हो जाता है श्रीशांतिनाथभगवानने अपने तपोबलसे

घातियाकर्मोंका सर्वथा नाशकरदिया है इसलिये कर्मोंसे रहित होनेके कारण वे शांत हैं और वे स्वयंशांत समस्त जगतमें भी शांतिके करनेवाले हैं इसलिये इसप्रकार स्व परकी शांतिके करनेवाले और समस्त लक्ष्मीके स्वामी श्रीशांतिनाथभगवानको मैं मस्तक झुकाकर शांतिकी प्राप्तिकेलिये नमस्कार करता हूं ॥ १६ ॥

कुंथुनाथतीर्थंकरकी स्तुति ।

दयांगिनां चिद्द्वितयं विमुक्तये परिग्रहद्वन्द्वविमोचनेन तत्
विशुद्धमासीदिह यस्य मादृशां स कुंथुनाथोऽस्तु भवप्रशांतये ॥

अर्थः—बाह्य तथा अभ्यंतरके भेदसे समस्तप्रकारके परिग्रहोंके छोड़नेके कारण जिस कुंथुनाथभगवानके समस्त प्राणियोंपर दया और चैतन्य ये दोनों विशुद्ध होगये वे श्रीकुंथुनाथ भगवान मेरेसमान मनुष्योंको संसारकी शांतिकेलिये हों ।

भावार्थः—जबतक ममेदामिति (यह मेरा है ऐसे) मूर्छालक्षण परिग्रहका संबंध आत्माके साथमें रहता है तबतक किसीप्रकारकी विशुद्धता नहीं होती और जिससमय इस परिग्रहका संबंध छूटजाता है उससमय विशुद्धिकी प्राप्ति होती है श्रीकुंथुनाथभगवानने समस्तप्रकारके परिग्रहका त्याग करदिया है इसलिये बाह्यमें तो समस्तप्राणियोंपर दयाकी विशुद्धि हुई तथा अंतरंगमें चैतन्यकी विशुद्धि हुई इसलिये ऐसे श्रीकुंथुनाथ भगवान मेरेसमान मनुष्योंको संसारकी शांतिकेलिये होवें ॥ १७ ॥

अरनाथतीर्थंकरकी स्तुति ।

विभांति यस्यांघ्रिनखा नमत्सुरस्फुरच्छिरोरत्नमहोऽधिकप्रभः
जगद्गृहे पापतमोविनाशना इव प्रदीपाः स जिनो जयत्यरः ॥

अर्थः—नमस्कार करतेहुए जो देवता उनके मस्तकोंपर मुकुटोंमें लगेहुए जो देदीप्यमान रत्न उनकी जो कान्ति उससे भी है अधिक प्रभा जिनकी ऐसे जिस अरनाथ जिनेन्द्रके चरणोंके नख, संसाररूपी घरमें पापरूपी अंधकारको नाशकरनेवाले दीपकोंके समान शोभित होते हैं वे अरनाथभगवान इसलोकमें जयवंत हैं।

भावार्थः—जिसप्रकार दीपक अंधकारको नाश करता है उसीप्रकार अत्यंत देदीप्यमान भगवानके चरणके नख भी पापरूपी अंधकारको नाश करते हैं अर्थात् जो भव्यजीव भगवानके चरणोंके नखोंकी आराधना करते हैं उनके समस्तपाप नष्ट हो जाते हैं ॥ १८ ॥

मल्लिनाथभगवानकी स्तुति।

सुहृत्सुखी स्यादहितः सुदुःखितः स्वतोप्युदासीनतमादपि प्रभोः
यतः स जीयाज्जिनमल्लिरेकतां गतो जगद्विस्मयकारिचेष्टितः ॥

अर्थः—यद्यपि मल्लिनाथभगवान स्वयं उदासीन हैं तो भी जिन मल्लिनाथ प्रभूसे उनके स्नेही भक्त सुख पाते हैं तथा उनके शत्रु दुःख पाते हैं इसलिये ऐसे वे आत्मस्वरूपमें लीन तथा समस्तजगतको आश्चर्य करनेवाली चेष्टाको धारण करनेवाले श्रीमल्लिनाथभगवान सदा इसलोकमें जयवंत प्रवर्तो।

भावार्थः—यद्यपि यहबात अनुभव गोचर है कि जो मनुष्य उदासीन होता है अर्थात् जो मित्र शत्रुको समान मानता है उससे न तो मित्र सुखी होते हैं और न शत्रु दुःखी ही होते हैं किंतु मल्लिनाथभगवानमें यह विचित्रता है कि वे स्वय उदासीन होनेपर भी अपने भक्तोंको सुखके देनेवाले हैं तथा निंदकोंको दुःखके देनेवाले हैं (अर्थात् जो मनुष्य उनकी सेवा तथा भक्ति करता है उसको शुभकर्मका बंध होता है जिस से उसको शुभकर्मके फलस्वरूप सुखकी प्राप्ति होती है तथा जो मनुष्य उनकी निंदा करता है उनको घृणाकी

दृष्टिसे देखता है उसको अशुभकर्मोंका बंध होता है जिससे उसको संसारमें नानाप्रकारके दुःखोंका सामना करना पड़ता है) इसलिये इसप्रकार अपने आत्मस्वरूपमें लीन तथा आश्चर्यकारी चेष्टाको धारण करनेवाले श्रीमल्लिनाथभगवान इसलोकमें जयवंत रहो ॥ १९ ॥

सुव्रतनाथभगवानकी स्तुति ।

विहाय नूनं तृणवत्स सम्पदं मुनिर्व्रतैर्योऽभवदत्र सुव्रतः
जगाम तद्धामविरामवर्जि तं सुबोधदृङ्मे स जिनः प्रसीदतु ॥

अर्थः—जो सुव्रतनाथमुनि, समस्तपदार्थोंको निश्चयसे तृणकेसमान छोड़कर व्रतोंका धारणकरनेसे सुव्रतनामको धारणकरतेहुए और जो नाशकर रहित (अविनाशी) मोक्षपदको प्राप्तहुए तथा जो सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञानके धारी हैं ऐसे वे सुव्रतनाथ भगवान मेरेऊपर प्रसन्न हों ।

भावार्थः—जो उत्तम व्रतोंको धारण करनेवाला हो उसको सुव्रत कहते हैं बीसवे तीर्थंकारका जो सुव्रतनाम पड़ा है सो इसलिये पड़ा है कि उन्होंने समस्त संपदाओंका त्यागकर व्रतोंको धारण किया है इस लिये इसप्रकार व्रतोंको पालनेकेकारण सुव्रतनामको धारण करनेवाले तथा अविनाशी मोक्षपदको प्राप्त और सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञानके धारी श्रीसुव्रतनाथभगवान मुझपर प्रसन्न हों ऐसी मेरी प्रार्थना है ॥ २० ॥

नमिनाथतीर्थंकरकी स्तुति ।

परम्परायत्ततयातिदुर्बलं चलं स्वसौख्यं यदसौख्यमेव तत्
अदः प्रमुच्यात्मसुखे कृतादरो नमिर्जिनो यः स ममास्तु मुक्तये ॥

अर्थः—जो नमिनाथभगवान पराधीनतासे प्राप्त तथा पर (भिन्न) और अत्यंत दुर्बल तथा चंचल ऐसा

इन्द्रियोंसे उत्पन्नहुआ सुख दुःखस्वरूप ही है ऐसा समझकर तथा इन्द्रिय संबंधी सुखको छोड़कर आत्मसंबंधी सुखमें आदर करतेहुए वे श्रीनमिनाथभगवान मुझे मुक्तिकेलिये हों।

भावार्थः—इन्द्रियोंसे उत्पन्नहुआ सुख पराधीन है और वास्तविक सुखसे भिन्न है अत्यंत दुर्बल है तथा चंचल है और वह सुख नहीं दुःखस्वरूप ही है किंतु आत्मसंबंधी सुख स्वाधीन है स्वीय (अपना) है दुर्बलता रहित है स्थिर है और वही वास्तविक सुख है ऐसा भलीभांति समझकर जो नमिनाथभगवान इन्द्रियसबंधी सुखको छोड़कर आत्मसंबंधी सुखमें भलीभांति आदर करतेहुए वे श्रीनमिनाथभगवान मुझे मुक्तिके लिये होवें अर्थात् मुझे मुक्ति देवें ऐसी मेरी प्रार्थना है ॥ २१ ॥

अरिष्टसंकर्तनचक्रनेमितामुपागतो भव्यजनेषु यो जिनः
अरिष्टनेमिर्जगतीतिविश्रुतः स ऊर्जयन्ते जयतादितः शिवम् ॥

अर्थः—जो भगवान भव्यजनोंके अशुभकर्मोंके नाशकरनेमें चक्रकी धारापनेको प्राप्त हैं इसीलिये जो संसारमें अरिष्टनेमि इसनामसे प्रसिद्ध हैं तथा जो गिरनारपर्वतसे मोक्षको पधारे हैं वे अरिष्टनेमिभगवान सदा इसलोकमें जयवंत रहो।

भावार्थः—जिसप्रकार चक्रकी धारा छेदनकरनेमें पैनी रहती है उसीप्रकार भगवान भी भव्यजीवोंके अशुभकर्मोंके नाशक हैं अर्थात् भगवानकी कृपासे भव्यजीवोंके अशुभकर्म नष्ट हो जाते हैं इसीलिये जो भव्यजीवोंके अशुभकर्मोंके नाशकरनेमें चक्रकी धाराके समान है अतएव जिन्होंने अरिष्टनेमि इसनामको धारणकिया है तथा जिन्होंने परमपूज्य श्रीगिरनारपर्वतसे मोक्षपाई है वे श्रीअरिष्टनेमिभगवान सदा इसलोक में जयवंत रहो ॥ २२ ॥

पार्श्वनाथभगवानकी स्तुति।

यदूर्ध्वदेशे नभसि क्षणादहिप्रभोः फणारत्नकरैः प्रधावितम्
पदातिभिर्वा कमठाहतेःकृते करोतु पार्श्वः स जिनो ममामृतम् ॥

अर्थः—जिसपार्श्वनाथभगवानके मस्तकपर आकाशमें कमठासुरके मारनेकेलिये शेषनागके फणोंमें लगेहुए जो रत्न उनकी किरणें, पदाति (सेना) के समान धावाकरतींहुई वे पार्श्वनाथभगवान मेरेलिये मोक्षको दो।

भावार्थ—किसीसमय भगवान ध्यानमें अत्यंत लीन होकर वनमें विराजमान थे उससमय उनके पूर्व भवका वैरी कमठासुर आकाशमार्गसे चलाजारहा था जिससमय उसका विमान इनके मस्तकपर आया तो आगे चलाही नहीं क्योंकि तीर्थंकर आदि महात्माओंके ऊपरसे किसीका विमान नहीं जाता। तब वह नीचे उतरा और भगवानको देखते ही उसको पूर्वभवका स्मरण हो गया वस फिर क्या था! भगवानको ध्यानसे चलाय मान करनेकेलिये उसने वहुतसे उपाय सोचे और किये परंतु भगवानके सामने वे सब निष्फलही हुवे अंत में उसने मेघ वर्षाये तथा ओले गिराये और प्रचंड पवन चलाई उससमय धरणेंद्र और पद्मावतीने भगवानका उपसर्ग निवारणकिया क्योंकि धरणेंद्रने भगवानके मस्तकपर अपना फणा फैलाकर मेघका निवारण किया तथा पद्मावतीने आसन वनकर भगवानके उपसर्गको निवारण किया उसीबातको अपनेमनमें धारणकर ग्रंथकार उत्प्रेक्षाकरते हैं कि पार्श्वनाथ भगवानके मस्तकपर शेषनागके फणोंके रत्नोंके किरण जहातहां नहीं फैल रहे हैं किंतु वे कमठके मारनेकेलिये सेनाही है अतः ऐसे पार्श्वनाथ भगवान मुझे मुक्ति प्रदान करें ॥२३॥

वर्धमानभगवानकी स्तुति ॥

त्रिलोकलोकेश्वरतां गतोपि यः स्वकीयकायेऽपि तथापि निस्पृहः।
स वर्धमानोऽन्त्यजिनो नताय मे ददातु मोक्षं मुनिपद्मनंदिने ॥

अर्थः—जोवर्धमानस्वामी तीनलोकके ईश्वर होने परभी अपने शरीर में भी निस्पृह (इच्छा रहित) होते हुवे वे अंतिमजिनेन्द्र वर्धमानस्वामी नमस्कार करतेहुवे मुझपद्मनंदिमुनिकेलिये मोक्ष प्रदान करो ॥२४॥

इसप्रकार इस श्रीपद्मनंदी आचार्यविरचित श्रीपद्मनंदिपंचविंशतिकामें स्वयंभुस्तोत्र
"चतुर्विंशतिजिनेन्द्र" स्तोत्र समाप्त हुवा ॥

सुप्रभाताष्टकस्तोत्रम्।

शार्दूलविक्रीडित।

निश्शेषावरणद्वयस्थिति निशाप्रान्तेन्तरायक्षयो द्योते मोहकृते गते च सहसा निद्राभरे दूरतः।
सम्यग्ज्ञानदृगाक्षियुग्ममभितो विस्फारितं यत्र त लब्धं यैरिह सुप्रभातमचलं तेभ्यो यतिभ्यो नमः॥१॥

अर्थः—दोनो जो निश्शेषावरण अर्थात् ज्ञानावरण और दर्शनावरण उनकी जो स्थिति वही हुई रात्रि उसके अंतहोनेपर तथा अंतराय कर्मके क्षयहोनेसे प्रकाशहोनेपर और मोहिनीय कर्मकेद्वारा किये हुवे निद्राके भारके शीघ्रही दूरहोने पर जिससुप्रभातमें सम्यग्ज्ञान तथा सम्यग्दर्शनरूपदोनों नेत्र उन्मीलित हुवे (खुले) उस अचल सुप्रभातको जिन यतियोंने प्राप्त करलिया है उन यतियोंकेलिये नमस्कार है॥

भावार्थः—जिसप्रकार प्रभातकालमें रात्रिका सर्वथा अंत होजाता है तथा प्रकाश प्रकट होजाता है और निद्राका नाश होजाता है अर्थात सोते हुवे प्राणी उठ बैठते हैं और दोनों नेत्र खुल जाते हैं उसी प्रकार जिस सुप्रभातमें ज्ञानावरण और दर्शनावरणके सर्वथा नाशहोनेपर तथा मोहनीय कर्मकी कृपासे उत्पन्न हुई निद्राके सर्वथा दूर होजाने पर सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन प्रकट हुवे और ऐसे सुप्रभातको जिन मुनियोंने

प्राप्तकरलिया है उन मुनियोंके लिये मस्तक झुकाकर नमस्कार है ॥ १ ॥

यत्सच्चक्रसुखप्रदं यदमलं ज्ञानप्रभाभासुरं लोकालोकपदप्रकाशनविधिप्रौढं प्रकृष्टं सकृत् ।
उद्भूते सति यत्र जीवितमिव प्राप्तं परं प्राणिभिः त्रैलोक्याधिपतेर्जिनस्य सततं तत्सुप्रभातं स्तुवे॥२॥

अर्थः—तीनोलोकके स्वामी श्रीजिनेन्द्र भगवानके मैं उस सुप्रभातस्तोत्रको नमस्कार करता हूं कि जो जिनेंद्रभगवानका सुप्रभात समस्तजीवोंको सुखका देनेवाला है और समस्तप्रकारके मलोंसे रहित होनेके कारण अमल है और ज्ञानकीजो प्रभा उससे देदीप्यमान है तथा समस्त लोकालोकको प्रकाश करनेवाला है और जो अत्यंत महान है और जिसके एकवारही उदित होने पर समस्त प्राणियोंको ऐसा मालूम पड़ता है कि हमको उत्कृष्ट जीवन की प्राप्ति हो जाती है अर्थात् वे अपना जीवन धन्य समझते हैं ।

भावार्थः—जिसप्रकार प्रभातकाल समस्तप्राणियोंको सुखका देनेवाला होता है और अंधकारके नाश होजानेपर निर्मल होता है देदीप्यमान सूर्यकी कान्तिसे चमकीला होता है और समस्तपदार्थोंका प्रकाशक होता है और प्रकृष्ट होता है तथा जिसप्रभातकालके उदित होनेपर समस्तप्राणी अपना जीवन उत्कृष्ट समझते हैं उसीप्रकार तीनलोकके स्वामी श्रीजिनेंद्रदेवका भी प्रभात (केवल ज्ञान) है क्योंकि यह भी समस्तजीवोंको सुख का देनेवाला है (अर्थात् जिससमय केवल ज्ञान प्रगट होता है उससमय तीनोंलोकके जीवोंको आनंद होता है) और ज्ञानावरणादि कर्मोंके अभावसे निर्मल है तथा ज्ञानकी (अपनी) प्रभासे देदीप्यमान है और समस्त लोक तथा अलोकका प्रकाशकरनेवाला है और महान है और जिस केवलज्ञानके उदित होनेपर समस्तप्राणी अपनेको धन्यसमझते हैं उसतीनोंलोकके स्वामी श्रीजिनेन्द्रदेवके सुप्रभात (केवलज्ञान) केलिये नमस्कार है॥२॥

एकान्तोद्धतवादिकौशिकशतैर्नष्टं भयादाकुलैः जातं यत्र विशुद्धखेचरनुतिव्याहारकोलाहलम् ।
यत्सद्धर्मविधिप्रवर्तनकरं तत्सुप्रभातं परं मन्येऽर्हत्परमेष्ठिनो निरुपमं संसारसंतापहृत् ॥ ३ ॥

अर्थः—जिसअर्हतभगवानके उपमारहित सुप्रभातके होनेपर भयभीत होकर एकांतसिद्धांतसे मत्त ऐसे सैकडों वादीरूपी कौशिक (बाल उल्लू) नष्ट होगये और अत्यंतशुद्ध जो विद्याधरोंकी स्तुति उसका जो शब्द उसका कोलाहल होताहुआ और जो सुप्रभात उत्तमधर्मकी प्रवृत्तिका करनेवाला है वह अर्हतभगवानका सुप्रभात (केवलज्ञान) समस्तसंसारके संतापोंको दूरकरनेवाला है ऐसा मैं मानता हूं।

भावार्थः—जिसप्रकार सुबहकेसमय समस्त उल्लू छिपजाते हैं तथा पक्षिगण अपने कलकल शब्दोंसे आकाशमें कोलाहलकरते हैं और उत्तमधर्मकी प्रवृत्ति होती है अर्थात् जिसप्रभातकालमें मनुष्य अपनी २ धर्म क्रियायोंमें तत्पर होजाते हैं और जो सुप्रभातउपमारहित है तथा समस्तसंतापोंको दूरकरनेवाला है उसीप्रकार अर्हंतभगवानका भी सुप्रभात है क्योंकि भगवानके सुप्रभातके (केवलज्ञानके) सामने भी वस्तुके एकांतस्वरूपको ही मानकर मदोन्मत्तवादीरूपी उल्लू नष्ट होजाते हैं और जिससुप्रभातमें विद्याधर भगवानकी स्तुति करते हैं उससमय उनकी स्तुतिके शब्दका कोलाहल सबजगहपर व्याप्त होजाता है तथा भगवानका सुप्रभात (केवल ज्ञान) श्रेष्ठधर्मकी प्रवृत्तिका करनेवाला है अर्थात् जिससमय संसार अज्ञानांधकारसे समाप्त होजाता है उससमय केवलज्ञानीके केवलज्ञानसे ही श्रेष्ठमार्गकी प्रवृत्ति होती है और यह भगवानका सुप्रभात उत्कृष्ट है उपमा रहित है तथा समस्तसंसारके संतापोंका दूरकरनेवाला है ऐसा मैं मानता हूं ॥ ३ ॥

सानंदं सुरसुन्दरीभिरभितः शक्रैर्यदा गीयते प्रातः प्रातरधीश्वरं यदतुलं वैतालिकैः पठ्यते ।
यच्चाश्रावि नभश्चरैश्च फणिभिः कन्याजनाद्गायतस्तद्वन्दे जिनसुप्रभातमखिलं त्रैलोक्यहर्षप्रदम् ॥

अर्थः—जिसजिनेन्द्रभगवानके समस्तसुप्रभातस्तोत्रको आनंदयुक्त देवांगना तथा इंद्र गानकरते हैं तथा-उपमारहित जिससुप्रभातस्तोत्रको वंदीजन राजाओंकेसामने सुबहकेसमय पढ़ते हैं और गानकरती हुई नाग-कन्याओंसे गायेहुये जिस स्तोत्रको विद्याधर तथा नागेन्द्र सुनतेभी हैं उस तीनोंलोकको हर्षके देनेवाले भगवानके सुप्रभातस्तोत्रको मैं शिर नवाकर नमस्कार करता हूं।

भावार्थः—जिसजिनेंद्रभगवानके स्तोत्रको स्वर्गमेंतो बड़े आनंदसे देवांगना तथा इन्द्र गानकरते हैं और मध्यलोकमें राजाओंकेआगे प्रातःकालमें वंदीजन गानकरते हैं तथा अधोलोकमें नागकन्या अपने मधुर स्वरसे गानकरती है जिसको बड़ी लालसासे विद्याधर तथा नागेन्द्र सुनते हैं ऐसे उस तीनोंलोकोंको हर्षके करनेवाले भगवानके सुप्रभातको में नमस्कार करता हूं॥ ४॥

उद्योते सति यत्र नश्यतितरां लोकेऽन्धचौरश्चिरं दोषेशोंतरतीत यत्र मलिनो मंदप्रभो जायते।
यत्रानीतितमस्ततेर्विघटनाज्जाता दिशो निर्मला वंद्यं नंदतु शाश्वतं जिनपतेस्तत्सुप्रभातं परम्॥

अर्थः—जिसजिनेन्द्रभगवानके सुप्रभातके प्रकाशमान होनेपर संसारमें पापरूपीचोर सर्वथा नष्ट होजाते हैं तथा मनरूपी चंद्रमा मलिन मंदप्रभ(फीका) होजाता है और अनीतिरूपी अंधकारके सर्वथा नाश-होजानेके कारण समस्त दिशायें स्वच्छ होजाती हैं तथा जो भगवानका सुप्रभात उत्कृष्ट है तथा सदाकाल रहनेवाला है और वंदनीक है ऐसा वह जिनेन्द्रभगवानका सुप्रभात सदा इसलोकमें जयवंत प्रवर्तो।

भावार्थः—जिसप्रकार सुवहके होजानेपर सवचोर नष्टहोजाते हैं और चंद्रमा मलिन तथा फीका पड़-जाता है तथा समस्त अंधकारके नाशहोजानेसे दिशा सर्वथा स्वच्छ होजाती है और जो उत्कृष्ट तथा वंद्य है उसीप्रकार श्रीजिनेन्द्रदेवका भी सुप्रभात (केवलज्ञान) है क्योंकि इसजिनेन्द्रके सुप्रभातके प्रकाशमान होने-

परभी समस्त पापरूपी चोर सर्वथा नष्ट होजाते हैं तथा मनरूपी चंद्रमा भी मलिन तथा फीका पड़जाता है अर्थात् मनका व्यापार सर्वथा नष्ट होजाता है और अनीतिरूपी मार्गके सर्वथा नाश होजानेकेकारण समस्त दिशायें निर्मल होजाती हैं (अर्थात् भगवानके सुप्रभातके प्रकाशमान होनेपर मिथ्यामार्गकी प्रवृति नष्ट होजाती है और उत्तममार्गकी प्रवृत्ति, होती है) और जो जिनेन्द्रभगवानका सुप्रभात उत्कृष्ट है तथा सदाकाल रहनेवाला है और समस्तभव्यजीवोंका वंद्य (स्तुतिके करने योग्य) है ॥ ५ ॥

मार्गं यत्प्रकटीकरोति हरते दोषानुषंगस्थितिं लोकानां विदधाति दृष्टिमचिरादर्थावलोकक्षमाम् ।
कामासक्तधियामपि कृशयति प्रीतिं प्रियायामिति प्रातस्तुल्यतयापि कोऽपि महिमापूर्वः प्रभातोऽर्हताम्

अर्थः—जो अर्हतभगवानका सुप्रभात मार्गको प्रकटकरता है और समस्त दोषोंके संगसे होनेवाली स्थितिको नष्टकरता है तथा लोगोंकी दृष्टियोंको शीघ्रही पदार्थोंके देखनेमें समर्थ वनाता है और जिनमनुष्यों-की वुद्धि काम में आसक्त हैं अर्थात् जोपुरुष कामीहैं उनकी स्त्री विषयक प्रीतिको नष्ट करता है इसलिये यद्यपि अर्हतदेवका प्रभात प्रातःकालके समान मालूम पड़ता है तोभी यह प्रातःकालसे वचनागोचर अपूर्व महिमाकाधारी है ऐसा जान पड़ता है ।

भावार्थः—यद्यपि शब्दसे प्रातःकाल तथा जिनेन्द्रका सुप्रभात समानही प्रतीत होते हैं तोभी प्रातःका-लकी (सुवहकी) अपेक्षा अर्हतभगवानके सुप्रभातकी महिमा अपूर्वही है क्योंकि प्रातःकालतो मनुष्योंके चलने के लिये सड़क आदिमार्गको प्रकट करता है किंतु भगवानका सुप्रभात सम्यग्दर्शनादि स्वरूप मोक्षके मार्गको प्रकट करता है तथा प्रातःकालतो रात्रिकी स्थितिका नाश करता है किंतु भगवानका सुप्रभात रागद्वेष रूपी दोषोंकी स्थितिको दूर करता है और प्रातःकाल तो घटपटादि थोड़े पदार्थोंके देखनेमें ही मनुष्यों की दृष्टियों

को समर्थ करता है किंतु अर्हंत भगवानका सुप्रभात मनुष्योंकी दृष्टिको मूर्तीक तथा अमूर्तीक समस्तपदार्थोंके देखनेमें समर्थ बनाता है तथा प्रातःकाल तो कामी पुरुषोंकी स्त्रीविषयक प्रीतिकोही नष्ट करता है किन्तु अर्हंत भगवानका सुप्रभात समस्तप्रकारके मोहका नाश करनेवाला है इसलिये प्रातःकालकी अपेक्षा अर्हंत भगवान-का सुप्रभात अपूर्व महिमाकाधारी है इसमें किसीप्रकारका सन्देह नहीं ॥ ६ ॥

यद्भानोरपि गोचरं न गतवाचिते स्थितं तत्तमो भव्यानां दलयत्तथा कुवलये कुर्वद्विकासश्रियम् ।
तेजः सौख्यहतेरकर्तृ सदिदं नक्तंचराणामपि क्षेमं वो विदधातु जैनमसमं श्रीसुप्रभातं सदा ॥

अर्थः—जो अंधकार सूर्यके भी गोचर [विषयभुत] नहीं है ऐसे इस भव्यजीवोंके चित्तोंमें विद्यमान भी अंधकारको जो जिनेन्द्रका सुप्रभात नष्टकरनेवाला है तथा भूमंडलमें जो जिनेन्द्रका सुप्रभात विकासकी शोभाको धारणकरता है [अर्थात् पृथ्वीमंडलमें विकसित होता है] और जो जिनेन्द्रका सुप्रभात रात्रिमें गमन-करनेवाले जीवोंके तेज तथा सुखके नाशको नहीं करता है ऐसा यह समीचीन तथा उपमारहित जिनेन्द्रभग-वानका सुप्रभात सदा आपलोगोंके कल्याणको करो ।

भावार्थः—जो जिनेन्द्रका सुप्रभात, जहांपर सूर्यकी भी गम्य नहीं है ऐसे भव्यजीवोंके मनमें मौजूद अंधकारका नाश करनेवाला है तथा जो समस्त पृथ्वीमंडलके ऊपर प्रकाशमान है और सूर्य तो रात्रिमें गमन करनेवाले उल्लू आदि जीवोंके तेज तथा सुखका नाश करनेवाला है किंतु जिनेन्द्रभगानका सुप्रभात रात्रिमें गमन करनेवाले जीवोंके न तो तेजका नाश करनेवाला है तथा न सुखका नाश करनेवाला है और जो समीचीन है तथा उपमारहित है ऐसा यह जिनेन्द्रभगवानका सुप्रभात सदा आप लोगोंके कल्याणको करे ॥७॥

भव्याम्भोरुहनन्दिकेवलरविः प्राप्नोति यत्रोदयं दुष्कर्मोदयनिद्रया परिहृतं जागर्ति सर्वं जगत् ॥
नित्यं यैः परिपठ्यते जिनपतेरेतत्प्रभाताष्टकं तेपामाशु विनाशमेति दुरितं धर्मःसुखं वर्धते ॥

अर्थः—जिस श्रीजिनेंद्रदेवके सुप्रभातमें भव्यरूपीकमलोंको आनंदकादेनेवाला केवलज्ञानरूपी सूर्य उदय को प्राप्त होता है और जिसभगवानके सुप्रभातमें समस्तजगत खोटेकर्मोंसे पैदा हुई जो निद्रा उससे रहित होकर प्रबोध अवस्थाको प्राप्त होता है आचार्यवर कहते हैं कि जिनेन्द्रभगवानके इसप्रकारके उत्तम सुप्रभाताष्टक-को जो भव्यजीव नित्य पढते हैं उनभव्यजीवोंके समस्त पापोंका नाश होजाता है और उनके धर्मकी वृद्धि होती है तथा सुखकी भी वृद्धि होती है ।

भावार्थः—जिसप्रकार प्रातःकालमें कमलोंको आनंदके देनेवाले सूर्य्यका उदय होताहै तथा समस्त-लोक निद्रासे रहितहोकर प्रबोध अवस्थाको प्राप्त होजाता है अर्थात् जगजाता है उसीप्रकार भगवानका-सुप्रभात भी है क्योंकि भगवानके सुप्रभातमेंभी भव्यरूपीकमलोंको आनंदके देनेवाले अथवा भव्यपद्मनंदी आचार्यको आनंदके देनेवाले केवलज्ञानरूपी सूर्यका उदय होता है और समस्तलोक खोटेकर्मोंसे पैदा हुई जो निद्रा उससे रहित होकर प्रबोध अवस्थाको प्राप्त होता है इसलिये आचार्यवर कहते हैं कि जो भव्यजीव सदा इसजिनेन्द्रभगवानके सुप्रभातष्टकस्तोत्रको पढ़ते हैं उन भव्यजीवोंके समस्त अशुभ कर्मोंका नाश होजाता है और उनके सुखकी तथा धर्मकी वृद्धि होती है ॥ ८ ॥

इसप्रकार श्रीपद्मनंदी आचार्यद्वारा विरचित श्रीपद्मनंदिपंचविंशतिकामें
सुप्रभाताष्टकस्तोत्र नामक अधिकार समाप्तहुआ ।

श्रीशांतिनाथस्तोत्रम् ।

शार्दूलविक्रीडित ।

त्रैलोक्याधिपतित्वसूचनपरं लोकेश्वरैरुद्धृतं यस्योपर्युपरीन्दुमण्डलनिभं छत्रत्रयं राजते ॥
अश्रांतोद्गतकेवलोज्वलरुचा निर्भर्सितार्कप्रभं सोऽस्मान् पातु निरञ्जनो जिनपतिः श्रीशांतिनाथः सदा॥१॥

अर्थः—जिन श्रीशांतिनाथभगवानके मस्तकके ऊपर तीनोंलोकके स्वामीपनेके प्रकट करनेमें तत्पर तथा देवेन्द्रोंद्वारा आरोपित चंद्रमाके प्रतिबिम्बके समान तीनछत्र शोभित होते हैं और निरंतर उदयको प्राप्त ऐसा जो केवलज्ञान उसकी जो निर्मलकांति उससे जिनने सूर्यकी प्रभाको भी नीचे करदिया है और जो समस्त पापोंकर रहित हैं ऐसे वे श्रीशांतिनाथ जिनेन्द्र सदा हम लोगोंकी रक्षा करो।

भावार्थः—श्रीशांतिनाथभगवान तीनोंलोकके स्वामी हैं इसबातके प्रकट करनेकोलिये जिन श्रीशांतिनाथ भगवानके मस्तकके ऊपर देवेन्द्रोंने चंद्रमाके समान तीनछत्र आरोपित किये हैं और जिन्होंने सदा उदयको प्राप्त ऐसे अपने केवलज्ञानकी कांतिसे सूर्यकी प्रभाको भी नीचे करदिया है और ज्ञानावरणादि कर्म जिनके पास भी नहीं फटकने पाते इसीलिये जो कर्मोंसे उत्पन्नहुई कालिमासे रहित हैं ऐसे श्रीशांतिनाथभगवान सदा हमारी रक्षाकरो अर्थात ऐसे श्रीशांतिनाथभगवानको नमस्कार है ॥ १ ॥

देवः सर्वविदेष एव परमो नान्यस्त्रिलोकीपतिः संत्यस्यैव समस्ततत्त्वविषया वाचः सतां सम्मताः ।
एतद्धोषयतीव यस्य विबुधैरास्फालितो दुन्दुभिः सोस्मान् पातु निरंजनो जिनपतिः श्रीशांतिनाथःसदा ॥

अर्थः—देवताओंकर ताड़ित (बजाईहुई) जिस श्रीशांतिनाथभगवानकी दुन्दुभि (नक्काड़ा) संसारमें मानों इसबातको प्रकट करके कहरहा है कि समस्तपदार्थोंको जाननेवाले तथा उत्कृष्ट और तीनोंलोकके पति

यदि है तो शांतिनाथभगवान ही हैं किंतु इनसे भिन्न न कोई समस्तपदार्थोंका जाननेवाला है और न उत्कृष्ट तथा तीनोंलोकोंका पति ही है तथा समस्त तत्त्वोंको वर्णन करनेवाले इसी [भगवान] के वचन सज्जनोंको सम्मत हैं किंतु इनसे भिन्न किसीके वचन सम्मत नहीं है ऐसे वे समस्त कर्मोंकर रहित श्रीशांतिनाथभगवान सदा हमारी रक्षाकरो ॥ २ ॥

दिव्यस्त्रीमुखपङ्कजैकमुकरप्रोल्लासिनानामणिस्फारीभूतविचित्ररश्मिरचितानम्रामरेन्द्रायुधैः।
सच्चित्रीकृतवातवर्त्मनि लसत्सिंहासने यः स्थितः सोऽस्मान् पातु निरंजनो जिनपतिः श्रीशांतिनाथःसदा ॥

अर्थ——जो श्रीशांतिनाथभगवान, देवांगनाओंके जो मुखकमल वेही हुए एकदर्पण उनमें देदीप्यमान जो नाना प्रकारके रत्न उनकी जो चारोओर फैलीहुई किरणें उनकरके बनाये हुए, तथा चारोओरसे मुड़ेहुए, ऐसे जो इन्द्र धनुष, उनसे चित्रविचित्र जो आकाश, उसमें देदीप्यमान सिंहासनमें विराजमान होते हुवे ऐसे वे समस्त पापोंकर रहित श्रीशांतिनाथभगवान सदा हमारी रक्षाकरो।

भावार्थः——जिससमय भगवानको देवांगना आकर नमस्कार करती हैं उससमय उनके भूषणोंके रत्नोंकी किरणोंसे चित्रविचित्र आकाश ऐसा मालूम पड़ता है मानों उसमें इन्द्रधनुष ही पडे हों तो इसप्रकार इन्द्र धनुषों के समान चित्रविचित्र आकाशमें जो शांतिनाथभगवान सिंहासनपर विराजमान होते हुवे ऐसे वे समस्तपापोंकर रहित श्रीशांतिनाथभगवान हमारी रक्षाकरो अर्थात् ऐसे शांतिनाथभगवानको मस्तकझुकाकर नमस्कार है ॥३॥

गंधाकृष्टमधुव्रतव्रजरुतैर्व्यापारिता कुर्वती स्तोत्राणीव दिवःसुरैः सुमनसां वृष्टिर्यदग्रेऽभवत् ॥
सेवायातसमस्तविष्टपपतिस्तुत्याश्रयस्पर्धया सोऽस्मान् पातु निरंजनो जिनपतिः श्रीशांतिनाथो जिनः॥४॥

अर्थ——जिस श्रीशांतिनाथभगवानके आगे आकाशमें देवोंद्वारा कीहुई फूलोंकी वर्षा इसप्रकारसे होती

हुई मानों सेवामें आयेहुए जो समस्तलोकके स्वामी देवेन्द्रादिक उनकी स्तुतिसे उत्पन्नहुई ईर्षासे, सुगंधसे खैंचेहुए जो भ्रमर उनका जो समूह उनके शब्दोंसे स्तोत्रोंको ही कररही हो इसलिये इसप्रकार समस्तपापोंसे रहित श्रीशांतिनाथभगवान हमारी रक्षाकरो ।

भावार्थः—आचार्यवर उत्प्रेक्षा करते हैं कि जिससमय भगवानके ऊपर पुष्पवृष्टि होती है उससमय उसकी सुगंधिसे आयेहुए जो भ्रमर उनके जो गुंजारशब्द वे गुंजार शब्द नहीं हैं किंतु तीनोंलोकके पति देवेन्द्र नरेन्द्र धरणेन्द्र आकर भगवानकी स्तुति करते हैं उससमय उनकी स्तुतिकी ईर्षासे पुष्पवृष्टि भी भगवान की मानों स्तुति कररही है ऐसी मालूम होती है ॥ ४ ॥

खद्योतौ किमुतानलस्य कणिके शुभ्राभ्रलेशावथ सूर्याचंद्रमसाविति प्रगुणितौ लोकाक्षियुग्मैःसुरैः ॥
तर्क्येते हि यदग्रतोतिविशदं तद्यस्यभामण्डलं सोऽस्मान्पातु निरंजनो जिनपतिःश्रीशांतिनाथःसदा ॥५॥

अर्थः—जिस श्रीशांतिनाथभगवानके भामंडलके आगे सूर्य तथा चन्द्रमाको लोगोंके नेत्र तथा देव ऐसा मानते थे कि क्या ये सूर्य चंद्रमा दो खद्योत [जुगनू] हैं अथवा अग्निके दो फुलिंगे हैं वा सफेदमेघके ये दो टुकडे हैं, ऐसा जिस शांतिनाथभगवानका भामंडल था ऐसे वे समस्तपापोंकर रहित श्रीशांतिनाथ-भगवान हमारी रक्षाकरो ।

भावार्थः—जिस श्रीशांतिनाथभगवानका भामंडल इतना देदीप्यमान था कि जिसके सामने अत्यंत प्रकाशमान सूर्यचंद्रमा भी जुगुनू तथा अग्निके फुलिंगे और सफेद मेघके टुकडोंके समान जान पडते थे ऐसे वे समस्तकर्मोंसे पैदाहुई कालिमासे रहित श्रीशांतिनाथभगवान हमारी रक्षाकरो ॥ ५ ॥

यस्याशोकतरुर्विनिद्रसुमनोगुच्छप्रसक्तैः क्वणद्भृंगैर्भक्तियुतः प्रभोरहरहर्गायन्निवास्ते यशः ॥

शुभ्रं साभिनयोमरुच्चलतापर्यंतपाणिश्रिया सोऽस्मान्पातु निरंजनो जिनपतिःश्रीशांतिनाथःसदा ॥६॥

अर्थः—जिस श्रीशांतिनाथभगवानका भक्तिसहित अशोकवृक्ष खिलेहुए जो फूल उनके जो गुच्छे उन पर बैठेहुए जो शब्दकरतेहुए भ्रमर उनसे प्रभुके निर्मलयशको गानकररहा है ऐसा माळूम होता है और पवनसे कंपित जो लता उनके जो अग्रभाग वेही हुए हाथ उनसे ऐसा जान पडता है मानों नृत्य ही कर रहा हो ऐसे वे समस्तपापोंकर रहित श्रीशांतिनाथभगवान हमारी रक्षाकरो ।

भावार्थः—जिसके खिले हुवे फूलोंके गुच्छोंपर भ्रमर गुंजार कर रहे हैं और जिसके शाखाओंके अग्रभाग पवनसे हिलरहे हैं ऐसे अशोक वृक्षके नीचै वैठे ध्यानारूढ़ भगवानको अपने मनमें भावनाकर ग्रंथकार उत्प्रेक्षा करते हैं कि जो अशोक वृक्षके फूलेहुवे फूलोंपर भ्रमर गुंजार शब्द कररहे हैं वे शब्द उनके गुंजारके शब्द नहीं है किंतु भक्तिवश होकर अशोक वृक्ष भगवानके निर्मल यशका गान कररहा है तथा वे जो पवनसे अशोक वृक्षकी लताओंके अग्रभाग हिल रहे हैं वे लताओं के अग्रभाग नहीं है किन्तु वे अशोक वृक्षके हाथ हैं तथा हाथ फैलाकर अशोक वृक्ष भक्तिवश होकर नृत्य कररहा है इसलिये जिनका अशोक वृक्ष भक्तियुक्त होकर ऐसी चेष्टा कर रहा है ऐसे वे समस्तपापोंकर रहित श्रीशांतिनाथ भगवान हमारी रक्षाकरो ॥६॥

विस्तीर्णाखिलवस्तुतत्वकथनापारप्रवाहोज्वला निश्शेषार्थिनिषविताातिशिशिरा शैलादिवोत्तुंगतः ।
प्रोद्भूता हि सरस्वती सुरनुता विश्वं पुनाना यतः सोऽस्मान्पातु निरञ्जनो जिनपतिः श्रीशांतिनाथःसदा ७

अर्थः—जो अत्यंत विस्तीर्ण है तथा समस्ततत्वोंका जो कथन वहीहुवा प्रवाह उससे उज्वल है और जिसकी समस्त अर्थिजन (याचक) सेवा करते हैं और जो अत्यंत शीतल है तथा जिसकी समस्तदेव स्तुति करते हैं और जो समस्तजगतको पवित्रकरने वाली है ऐसी सरस्वती (गंगा) अत्यंत ऊंचे पर्वतके समान

जिस श्री शांतिनाथ भगवान से प्रकट हुई है ऐसे वे समस्तपापोंकर रहित श्री शांतिनाथ भगवान हमारी रक्षाकरैं ।

भावार्थः—जिसप्रकार गंगानदी अत्यंत लंबी चौड़ी है और जिसका पार नहीं ऐसे प्रवाहसे उज्वल है तथा जिसकी याचकगण सेवा करते हैं और जो अत्यंत शीतल है तथा जिसकी वड़े २ देव स्तुति करते हैं और जो समस्त जगतको पवित्र करनेवाली है तथा अत्यंत उन्नत ऐसे हिमालय पर्वतसे प्रकट हुई है उसी-प्रकार सरस्वती भी है क्योंकि यहभी अत्यंत विस्तीर्ण है तथा समस्ततत्वोंका जो कथन वही हुवा प्रवाह उस से अत्यंत निर्मल है। इसके भक्तलोग इसकी भी सेवाकरते हैं और यह अत्यंत शीतल है और इसकी वड़े २ देव स्तुतिकरते हैं तथा समस्तजगतको पवित्र करनेवाली है और अत्यंत उन्नत श्रीशांतिनाथ हिमालयसे उत्पन्नहुई है इसलिये जिनसे इसप्रकार गंगानदीके समान सरस्वती उत्पन्नहुई है ऐसे वे समस्त पापोंकर रहित श्री शांतिनाथ भगवान हमारी रक्षाकरो ॥ ७ ॥

लीलोद्वेल्लितबाहुकंकणरणत्कारप्रहृष्टैःसुरैश्चंचच्चन्द्रमरीचिसंचयसमाकारैश्चलच्चामरैः ।
नित्यं यः परिवीज्यते त्रिजगतां नाथस्तथाप्यस्पृहः सोऽस्मान्पातु निरंजनो जिनपतिः श्रीशांतिनाथःसदा

अर्थः—जिस शांतिनाथभगवानके ऊपर लीलासे कंपित जो भुजा उनमें पहिनेहुवे जो ककण उनकाजो रणत्कार शब्द उनसे अत्यंत हर्षित ऐसे देव, देदीप्यमान जो चन्द्रमा उसकी जो किरणें उनका जो समूह उसके समान रूपको धारण करनेवाले चंचल चमरोंको ढ़ोरते हैं और जो तीनोंलोकके नाथ हैं तोभी जो निरी-ह है अर्थात् समस्तपदार्थोंमें इच्छाकर रहित हैं ऐसे वे समस्तपापोंकररहित श्री शांतिनाथभगवान सदा हमारी रक्षाकरो अर्थात् ऐसे श्रीशांतिनाथ भगवानके नमस्कार है ॥

भावार्थः—जिन श्रीशांतिनाथभनवानके ऊपर समस्त आभूषणोंकर सहित देवेन्द्रं, चंद्रमाकी किरणोंके

समान निर्मल चमरोंको ढोरते हैं और जो तीनोंलोकके नाथ हैं तोभी जिन भगवानकी किसी पदार्थमें इच्छा नहीं है ऐसे वे समस्तप्रकारके पातकोंकर रहित श्री शांतिनाथ भगवान सदा हमारी रक्षाकरो ॥ ८ ॥

निश्शेषश्रुतबोधवृद्धमतिभिः प्राज्यैरुदारैरपि स्तोत्रैर्यस्य गुणार्णवस्य हरिभिः पारो न हि प्राप्यते ।
भव्यांभोरुहनंदिकेवलरविर्भक्त्या मयापि स्तुतः सोऽस्मान्पातु निरंजनो जिनपतिःश्रीशांतिनाथःसदा

अर्थः—समस्तशास्त्रोंके ज्ञानसे जिनकी बुद्धियां अत्यंत विशाल हैं ऐसे इन्द्र भी अत्यत उत्कृष्ट तथा बडे २ स्तोत्रोंसें जिन श्रीशांतिनाथके गुणरूपी समुद्रका पार नहीं पासकते ऐसे उन भव्यरूपी कमलोंको अथवा भव्यपद्मनंदीको आनंदके करनेवाले केवलज्ञानरूपीसूर्यके धारी श्रीशांतिनाथभगवानकी मैने स्तुतिकी है इसलिये समस्तपापोंकर रहित श्रीशांतिनाथभगवान हमारी रक्षाकरो ॥ ९ ॥

इसप्रकार श्रीपद्मनंदिआचार्यद्वारा विरचित श्रीपद्मनंदि पंचविंशतिकामें
शांत्यष्टकस्तोत्र समाप्तहुआ ।

जिनपूजाष्टकं ।

वसन्ततिलका ।

जातिर्जरामरणमित्यनलत्रयस्य जीवाश्रितस्य बहुतापकृतो यथावत् ।
विध्यापनाय जिनपादयुगाग्रभूमौ धारात्रयं प्रवरवारिकृतं क्षिपामि ॥१॥

अर्थः—जीवोंके आश्रित अर्थात् जीवोंमें होनेवाली तथा अत्यंत संतापको देनेवाली ऐसी जन्म जरा और मरण ये तीनप्रकारकी अग्नी हैं उन तीनोंप्रकारकी अग्नियोंको यथावत् बुझानेकेलिये श्रीजिनेन्द्रभगवानके

१ क० पुत्थकम शुद्धमतिभिः—यह भी पाठ है ।

दोनों चरणाक अग्रभागकी भूमिमें उत्तमजलसे बनाईहुई तीनधाराओंका मैं क्षेप करता हूं ।

भावार्थः—जितनेभर संसारीजीव हैं उनजीवोंको जिसप्रकार अग्नि अत्यंत संतापको देनेवाली होती है उसीप्रकार जन्म जरा और मरण ये तीन अत्यंत संतापके देनेवाले हैं इसलिये इनतीनोंके विनाशकेलिये श्री जिनेन्द्रभगवानके दोनों चरणोंके अग्रभागकी भूमिमें मैं उत्तम निर्मल जलसे बनाईहुई तीनधाराओंका क्षेप करता हूं अर्थात् तीनवार जलको चढ़ाता हूं ॥ १ ॥ जलम

यद्वद्वचोजिनपतेर्भवतापहारि नाहं सुशीतलमपीह भवामि तद्वत् ।
कर्पूरचंदनमितीव मयार्पितं सत्त्वत्पादपंकजसमाश्रयणं करोति ॥ २ ॥

अर्थः—जिसप्रकार भगवानके वचन समस्तसंसारके संतापके हरण करनेवाले हैं उसीप्रकार अत्यंत शीतल भी मैं संसारके सतापोंका हरण करनेवाला नहीं हूं इसीलिये ऐसा समझकर मेरेद्वारा चढ़ाया हुआ यह कपूरमिलाहुआ चंदन हे भगवन् आपके चरणकमलोंके आश्रयको करता है ।

भावार्थः—यद्यपि संसारमें चंदन भी अत्यंतशीतल पदार्थ है किंतु चंदन अपनेको आपके वचनोंके सामने अत्यंत शीतल नहीं समझता क्योंकि आपके वचनतो संसारसंबंधी समस्तसंतापोंके दूरकरनेवाले हैं किंतु ऐसा चंदन नहीं इसीलिये हे भगवन् मेरेद्वार आपके चरणकमलोंमें चढ़ायाहुआ यह कपूरमिश्रित चंदन आपके चरणकमलोंका आश्रय करता है ॥ २ ॥ चंदनम

राजत्यसौ शुचितराक्षतपुंजराजिर्दत्ताधिकृत्य जिनमक्षतमक्षधूर्तैः ।
वीरस्य नेतरजनस्य तु वीरपट्टो बद्धः शिरस्यतितरां श्रियमातनोति ॥ ३ ॥

अर्थः—इन्द्रियरूपी जो धूर्त उससे नहीं नष्टकिये गये ऐसे जो जिनेन्द्रभगवान हैं उनको आश्रयकर

दीगई अत्यंत निर्मल जो अक्षतोंके पुंजोंकी पंक्ति है वह अत्यंत शोभित होती है सो ठीक ही है क्योंकि जो मनुष्य अत्यंत शूरवीर है उसके मस्तकपर बंधाहुआ ही वीरपट्ट शोभाको प्राप्त होता है डरपोकके मस्तकपर बंधाहुआ शोभाको प्राप्त नहीं होता ।

भावार्थः—जो मनुष्य शूरवीर है उसके शिरपर बंधाहुआ वीरपट्ट जिसप्रकार शोभाको प्राप्तहोता है उसप्रकार डरपोकके शिरपर बंधाहुआ वीरपट्ट शोभाको नहीं प्राप्तहोता उसीप्रकार जो मनुष्य इन्द्रियरूपी धूर्तोंसे अक्षत है अर्थात् जो इन्द्रियोंके वशमें नहीं है उन्हीं मनुष्योंको आश्रयकर दीहुई यह निर्मल अक्षतोंके पुंजोंकी श्रेणि सुशोभित होती है किंतु जो मनुष्य इन्द्रियोंके आधीन है उनमनुष्यकेलिये दीहुई अक्षतोंके पुंजोंकी पंक्ति शोभित नहीं होती जिनेन्द्रदेवने समस्तइन्द्रियोंको वशमें करलिया है इसलिये उनको आश्रयकर दीहुई यह यह अक्षतोंके पुंजोंकी पंक्ति शोभित होती है ॥ ३ ॥ अक्षतम्

साक्षादपुष्पशर एष जिनस्तदेनं संपूजयामि शुचिपुष्पसुरैर्मनोज्ञैः ॥
नान्यं तदाश्रयतया किल यन्न तत्र तत्तत्र रम्यमधिकां कुरुते च लक्ष्मीम् ॥

अर्थः—ये जिनेन्द्रभगवान साक्षात् अपुष्पशर हैं अर्थात् मदनकरके रहित हैं इसीलिये मैं इन जिनेन्द्र भगवानका अत्यंत मनोहर ऐसे फूलोंके हारोंसे पूजनकरता हूं किंतु भगवानसे जो अन्य हैं वे मदनकर रहित नहीं है सहित ही हैं इसलिये फूलोंके हारोंसे उनकी पूजा नहीं करता क्योंकि जो चीज जहांपर नहीं होती है वही वहांपर मनोहर समझी जाती है और वह वहांपर अत्यंत शोभाको प्राप्त होती है किंतु जो चीज जहां पर होती है वह वहांपर मनोहर नहीं होती और न वहांपर अत्यंत शोभाको ही धारण करसकती है ।

भावार्थः—यह नियम है कि जो चीजजहांपर नहीं होतीहै वही वहांपर मनोहर समझीजातीहै तथा वही

वहांपर शोभाको प्राप्त होती है किंतु जो चीज जहांपर होती है वह वहांपर मनोहर नहीं समझीजाती और वह वहांपर शोभाको भी प्राप्त नहीं होती । श्रीजिनेन्द्रसे भिन्न जितनेभर देव हैं उनसबके पास पुष्पशर हैं अर्थात् वे सब "मदन सहित" हैं इसलिये उनकी पुष्पोंकी मालाओंसे मैं पूजन नहीं करता क्योंकि उनके चरणोंमें चढ़ाई हुई फूलोंकी माला न मनोहरही समझी जासकती हैं और न वहांपर शोभाको ही प्राप्त होसकती हैं । किंतु श्री जिनेन्द्रभगवान पुष्पशररहित (मदनरहित) हैं इसलिये उनके चरणकमलोंमें चढ़ाईहुई फूलोंकी माला मनोहर होती हैं तथा शोभाको भी प्राप्त होसक्ती हैं इसलिये श्रीजिनेन्द्रदेवका, ही मैं फूलोंकी मालाओंसे पूजन करताहूं ॥ ४ ॥ पुष्पम् ॥

देवोयमिन्द्रियवलं प्रलयं करोति नैवेद्यमिन्द्रियवलप्रदखाद्यमेतत् ।
चित्रं तथापि पुरतः स्थितमर्हतोऽस्य शोभां विभर्ति जगतो नयनोत्सवाय ॥ ५ ॥

अर्थः—यह श्रीजिनेन्द्रदेवतो समस्त इन्द्रियोंके वलको नष्टकरता है और यह नैवेद्य इन्द्रियोंके वलको वढ़ानेवाला है तथा खानेयोग्य है तोभी श्रीअर्हतभगवानके सामने चढ़ायाहुवा यह नैवेद्य समस्त जगतके नेत्रोंके उत्सवके लिये शोभाको धारण करता है यह आश्चर्य है ।

भावार्थः—संसारमें यह देखनेमें आता है कि जो पुरुष जिसव्यसनका विरोधी होताहै यदि वह व्यसनोंको उत्पन्नकरनेवाली वस्तु उसके सामने रखदी जावे तो उसवस्तुको देखकर वह मनुष्य अवश्यही विकृत होजाता है किंतु भगवानमें यह आश्चर्य है कि नैवेद्य भगवानके सामने रक्खा हुवा भी भगवानको विकृत नहीं करता क्यों कि नैवेद्य इन्द्रियोंके वलको वढ़ानेवाला है तथा सुस्वादु है और भगवान समस्त इन्द्रियोंके वलको प्रलयकरनेवाले हैं इसलिये ऐसा नैवेद्य भगवानके सामने रक्खा हुवा लोगोंके नेत्रोंको उत्सवका करनेवाला है ॥ ५ ॥

आरार्तिकं तरलवन्हिशिखं विभाति स्वच्छे जिनस्य वपुषि प्रतिविम्बितं सत् ।
ध्यानानलो मृगयमाण इवावशिष्टं दग्धुं परिभ्रमति कर्मचयं प्रचंडः ॥ ६ ॥

भावार्थः—चंचल है अग्निकी शिखा जिसमें ऐसी तथा श्रीजिनेन्द्रभगवानके स्वच्छशरीरमें प्रतिबिम्बितहुई आरती ऐसी माल्हम होती है मानो प्रचंडध्यानरूपी अग्नि, बचेहुवे कर्मोंको भस्मकरनेकेलिये जहां-तहां ढूंढती हुई भ्रमण करती है ।

भावार्थः—उन्नत शिखाको धारणकरनेवाली जो आरतीकी ज्वाला भगवानके शरीरमें प्रतिविम्बित है वह आरतीकी ज्वाला नहीं है किंतु भगवानकी ध्यानरूपी अग्नि है तथा वह बचेहुवे समस्त अघातियाकर्मों-को नाशकरनेकेलिये ढूंढ़ती फिरती है ऐसी माल्हम होती है ॥ ६ ॥

कस्तूरिका रसमयीरिव पत्रवल्लीः कुर्वन् मुखेषु चलनैरिव दिग्वधूनाम् ।
हर्षादिव प्रभुजिनाश्रयणेन वातप्रेङ्खद्वपुर्नटति पश्यत धूपधूम्रम् ॥ ७ ॥

अर्थः—दिशारूपी स्त्रियोंके मुखमें कस्तूरीकेरससे बनाईहुई पत्ररचनाके समान पत्ररचनाको करताहुवा प्रभु श्रीजिनेन्द्रभगवानके आश्रयसे, पवनसे कंपित है शरीर जिसका ऐसा धूपका धूवा, हर्षसे मानों नृत्यही कररहा है ऐसा माल्हम होता है ।

भावार्थः—धूपका धूवां सबजगहपर फैल रहा है इससे तो यह माल्हम पड़ता है मानोंवह दिशारूपी स्त्रियोंके मुखोंपर कस्तूरीकेरससे रचीहुई पत्ररचनाके समान पत्ररचनाको कररहाहो क्योंकि कस्तूरीके रसका रंग तथा धूवांका रंग एकसाही होता है तथा निकलते समय पवन से कंपित होता है उससे ऐसा माल्हम पड़ता है कि वह मानो श्रीजिनेन्द्रके आश्रयके करनेसे हर्षसे नृत्यही कररहा हो ॥ ७ ॥ धूपम् ॥

उच्चैः फलाय परमामृतसंज्ञकाय नानाफलैर्जिनपतिं परिपूजयामि।
तद्भक्तिरेव सकलानि फलानि दत्ते मोहेन तत्तदपि याचत एव लोकः ॥ ८ ॥

अर्थः—सबसे ऊंचे तथा उत्तम अमृत है संज्ञा जिसकी ऐसे उस फलकेलिये अर्थात मोक्षफलकेलिये मैं श्रीजिनेन्द्रभगवानकी भांतिभांतिके अनेक प्रकारके फलोंसे पूजा करताहूं यद्यपि श्रीजिनेन्द्रभगवानकी भक्तिही समस्त फलोंको देनेवाली है तोभी लोक मोहसे फलोंकी याचना करताही है।

भावार्थः—यद्यपि भगवानकी भक्तिमें ही यह सामर्थ्य है कि जो मनुष्य भगवानकी भक्तिको करता है उसको उत्तमोत्तम समस्तप्रकारके फलोंकी प्राप्ति होती है तो भी मनुष्य मोहके वशहोकर फलोंकी याचना करता है उसीप्रकार मुझे भक्ति करनेसे अविनाशी सुखके भंडार मोक्षरूपी सुखकी प्राप्ति होसकती है तोभी मैं मोहके वशहोकर उसमोक्षरूप फलकी प्राप्तिके लिये श्रीजिनेन्द्रभगवानकी नानाप्रकारके फलोंको चढ़ाकर पूजाकरताहूं ॥ ८ ॥ फलम् ॥

पूजाविधिं विधिवदत्र विधाय देवे स्तोत्रं च संमदरसाश्रितचित्तवृत्तिः।
पुष्पाञ्जलिं विमलकेवललोचनाय यच्छामि सर्वजनशांतिकराय तस्मै ॥ ९ ॥

अर्थः—श्रेष्ठ जो हर्ष वहीहुवा रस उससे आश्रित है चित्तकी वृत्ति जिसकी ऐसा मैं (पूजक) शास्त्रानुसार भगवानकी भलीभांति पूजाको करके तथा भलीभांति स्तोत्रको भी पढ़करके निर्मल केवल ज्ञानरूपीनेत्रके धारण करनेवाले और समस्तजीवोंको शांतिके देनेवाले उनश्री जिनेन्द्रभगवानके लिये पुष्पोंकी अंजलिको समर्पण करता हूं ॥ ९ ॥ पुष्पांजलिः ॥

श्रीपद्मनंदितगुणौघ न कार्यमस्ति पूजादिना यदपि ते कृतकृत्यतायाः।

स्वश्रेयसे तदपि तत्कुरुते जनोऽर्हन् कार्या कृषिः फलकृते नतु भूपकृत्यै ॥ १० ॥

अर्थः—श्री पद्मनंदि आचार्यद्वारा गान कियागया है गुणोंका समूह जिनका ऐसे हेअर्हन् हे वीतराग यद्यपि आप कृतकृत्य हैं इसलिये उस कृतकृत्यपनेरूपहेतुसे आपको पूजा आदिकसे कुछभी कार्य नहीं है तोभी लोक अपने कल्याणकेलिये ही आपकी पूजाकरता है क्योंकि खेती अपने कल्याणोंकी प्राप्तिकेलिये ही की जाती है किंतु राजाके कामकेलिये नहीं की जाती ॥

भावार्थः—जिसप्रकार किसानलोग खेतीको अपने ही कल्याणोंकेलिये करते हैं राजाके कल्याणोंकेलिये नहीं उसीप्रकार हे समस्तगुणोंके भंडार श्री जिनेन्द्रदेव जो मनुष्य आपकी पूजाकरते हैं वे अपने कल्याणोंकेलिये ही करते हैं आपके लिये नहीं करते क्योंकि आप समस्तकर्मोंको करचुके हैं इसलिये कृतकृत्य है अतः आपको पूजन आदि कार्यसे किसीप्रकारका कोईभी प्रयोजन नहीं है ॥ १० ॥

इसप्रकार श्रीपद्मनंदिआचार्यद्वारा विरचित श्री पद्मनंदिपंचविंशतिकामें पूजाष्टकनामक अधिकार समाप्तहुवा ॥

अथ करुणाष्टकम्।

त्रिभुवनगुरो जिनेश्वर परमानंदैककारण कुरुष्व।
मयि किंकरे त्र करणां यथा तथा जायते मुक्तिः ॥ १ ॥

अर्थः—हे तीनों लोकोंकेगुरु, हे कर्मोंके जीतनेवाले महात्माओंके स्वामी, और हे उत्कृष्ट मोक्षरूपी नंदकेदेनेवाले. जिनेन्द्र मुझदासपर ऐसीदया कीजिये जिससे कि मेरी मोक्ष होजावे अर्थात् समस्तपापकर्मोंसे सर्वथा छूटजाऊं ॥ १ ॥

निर्विण्णोहं नितरामर्हन् बहुदुःखया भवस्थित्या ।
अपुनर्भवाय भवहर कुरु करुणामत्र मयि दीने ॥ २ ॥

अर्थः—हे समस्तघातियाकर्मोंको जीतनेवाले अर्हंतभगवान, अनेकप्रकारके दुःखोंको देनेवाली ऐसी जो संसारकी स्थिति है उससे मैं सर्वथा खिन्न हूं इसलिये हे संसारके नाशकरनेवाले जिनेन्द्र इससंसारमें मुझ दीनपर ऐसी दया कीजिये जिससे मुझे फिरसे जन्म न धारण करनापड़े अर्थात् मैं मुक्त होजाऊं ॥ २ ॥

उद्धर मां पतितमतो विषमाद्भवकूपतः कृपां कृत्वा ।
अर्हन्नलमुद्धरणे त्वमसीति पुनः पुनर्वच्मि ॥ ३ ॥

अर्थः—हे प्रभो मैं इसभयंकर संसाररूपी कूवेमें पडाहुवा हूं इसलिये मेरे ऊपर दयाकरके मुझे इससंसाररूपी भयंकर कूवेंसे बाहिर निकालिये क्योंकि हे अर्हन् हे भगवन् इसकूपसे मुझे निकालनेमें आपही समर्थ हैं ऐसा मैं फिर २ से आपकी सेवामें निवेदन करता हूं ॥ ३ ॥

त्वं कारुणिकः स्वामी त्वमेव शरणं जिनेश तेनाहम् ।
मोहरिपुदलितमानः पूत्कारं तव पुरः कुरुते ॥ ४ ॥

अर्थः—हे जिनेश हे प्रभो यदि संसारमें दयावान हैं तो आपही हैं और भव्यजीवोंके शरण हैं तो आप ही हैं इसलिये मोहरूपीबैरीने जिसका मान (अभिमान) नष्टकरदिया है ऐसा मैं आपके सामनेही पूत्कारको करता हूं अर्थात् फुक्का मार २ कर रोता हूं ॥ ४ ॥

ग्रामपतेरपि करुणा परेण केनाप्युपद्रुते पुंसि ।
जगतां प्रभो न किं तव जिन मयि खलकर्मभिः प्रहते ॥ ५ ॥

॥४६१॥

अर्थः—जो मनुष्य जिसगांवका अध्यक्ष (मुखिया) है यदि उसगांवमें किसीमनुष्यपर कोई अन्य मनुष्य आकर उपद्रवकरै अर्थात् उसको दुःख देवे तो वह ग्रामका मुखिया भी जब उस दुःखितमनुष्यपर करुणा करता है तो हे जिनेन्द्र आपतो तीनोंलोकके प्रभू हैं और मुझे अत्यंत दुष्ट कर्मोंने सतारक्खा है तो क्या आप मेरे ऊपर करुणा न करेंगे ? अवश्य ही दयाकरेंगे ॥ ५ ॥

अपहर मम जन्म दयां कृत्वेत्येकत्र वचसि वक्तव्यों ।
तेनातिदग्ध, इति मे देव वभूव प्रलापित्वम् ॥ ६ ॥

अर्थः—हे प्रभो सबका मूलभुत एकही शब्द कहदेना चाहिये वह एक शब्द यही है कि कृपाकर आप मेरे जन्मको [संसारको] सर्वथा नष्ट करें क्योंकि मैं इसजन्मसे अत्यंतदुःखित हूं इसीलिये यह मेरा आपके सामने प्रलाप हुआ है अर्थात् मैं विलप २ कर रो रहा हूं ॥ ६ ॥

तव जिन चरणाब्जयुगं करुणामृतसंगशीतलं यावत् ।
संसारातपतप्तः करोमि हृदि तावदेव सुखी ॥ ७ ॥

अर्थः—हे प्रभो हे जिनेन्द्र संसाररूपी आतपसे संतप्तहुआ मैं जबतक दयारूपी जलके संगसें अत्यन्त शीतल ऐसे आपके दोनों चरणकमलोंको हृदयमें धारणकरता हूं तभीतक मैं सुखी हूं ।

भावार्थः—जिसप्रकार कोई मनुष्य धूपके संतापसे अत्यंत संतप्त होवे तथा उससमय पानीके संबंधसे अत्यंतशीतल ऐसे कमलोंको अपने हृदयपर धरे तो जिसप्रकार वह सुखी होता है उसीप्रकार हे प्रभो हे जिनेंद्र मैं भी संसारके प्रखर संतापसे अत्यंत संतप्त हूं इसालिये जबतक मैं दयारूपी जलके संबंधसे अत्यंत शीतल ऐसे आपके दोनों चरणकमलोंको अपने हृदयमें धारणकरता हूं तबतक मैं अत्यंत सुखी रहता हूं ॥ ७ ॥

जगदेकशरण भगवन्नसमश्रीपद्मनन्दितगुणौघ।
किं बहुना कुरु करुणामत्र जने शरणमापन्ने ॥ ८ ॥

अर्थः—हे समस्तजगतके एकशरण, हे भगवन् आपसे अतिरिक्त जनोंमें नहीं पायेजांय ऐसे श्रीपद्मनंदि नामक आचार्यद्वारा गानकिये गुणोंके समूहको धारणकरनेवाले हे जिनेश हे प्रभो अब मैं विशेष कहांतक कहूं बस यही प्रार्थना है कि इस शरणमें आयेहुवे जनपर अर्थात् मुझपर आप इससंसारमें दया करैं ॥ ८ ॥

इति श्रीपद्मनन्दिआचार्यद्वाराविरचित श्रीपद्मनन्दिपञ्चविंशतिकामें
करुणाष्टकनामक अधिकार समाप्त हुआ।

क्रियाकांडचूलिकाधिकारः।

शार्दूलविक्रीडित।

सम्यग्दर्शनबोधवृत्तशमताशीलक्षमाद्यैर्घनैः संकेताश्रयवज्जिनेश्वर भवान् सर्वैर्गुणैराश्रितः।
मन्ये त्वय्यवकाशलब्धिरहितैः सर्वेऽत्र लोके वयं संग्राह्या इति गर्वितैः परिहृतो दोषैरशेषैरपि ॥१॥

अर्थः—हे प्रभो हे जिनेश निविड़ जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, शमता, शील और क्षमा आदिक समस्त गुण हैं उन्होंने संकेतके घरके समान आपका आश्रय किया है इसीलिये आपमें जिन्होंने स्थानको नहीं पाया है और जो समस्त लोकमें हम संग्राह्य (ग्रहणकरने योग्य) हैं इसप्रकारके अभिमानकर संयुक्त हैं ऐसे समस्तदोषोंने, आपको छोड़दिया है ऐसा मालूम होता है ॥

भावार्थः—ग्रंथकार कहते हैं कि हे जिनेन्द्र आपमें जो समस्त गुणही गुण दीखते हैं और दोष एक

नहीं दीखता उसका कारण यही माल्हम पड़ता है कि समस्तगुणोंने पहलेसे ही आपसमें सलाहकर आपको स्थान वनालिया और पीछे उनके विरोधी जो दोष हैं उन्होंने आपमें स्थानको नहीं पाया तव उनदोषोंको इसवातका अभिमान उत्पन्न हुआ कि हम समस्त संसारमें फैलेहुवे हैं और समस्त संसारके ग्रहणकरने योग्य हैं यदि एक केवल जिनेन्द्रमें हमको आश्रय नहीं मिला और उन्होंने हमको ग्रहण नहीं किया तो हमारा कोईभी नुक्सान नहीं इसीलिये इसप्रकारके अभिमानसे आपको उन्होंने सर्वथा छोड़दिया ॥ १ ॥

वसंततिलका ।

यस्त्वामनंतगुणमेकभुवं त्रिलोक्याः स्तौति प्रभूतकवितागुणगर्वितात्मा ।
आरोहति द्रुमशिरः स नरो नभोऽतं गन्तुं जिनेन्द्र मतिविभ्रतो बुधोऽपि ॥ २ ॥

अर्थः—हे जिनेन्द्र आपतो अनन्तेगुणोंके भंडार हैं और तीनोंलोकके एकस्वामी हैं ऐसा समझकर भी यदि प्रचुर जो कविताका गुण उससे जिसकी आत्मा अत्यंत गर्वकर सहित है अर्थात् जो कविताचातुर्य-का बड़ाभारी अभिमानी है ऐसा कोई मनुष्य आपकी स्तुति करै तो समझलेना चाहिये कि वह बुद्धिमान भी मनुष्य अपनी बुद्धिके भ्रमसे (मूर्खतासे) आकाशके अंतको प्राप्तहोनेकेलिये वृक्षकी चोटीपर चढ़ता है ऐसा निस्संदेह माल्हम होता है ॥

भावार्थः—आकाश अनंत है तथा सवजगहपर व्याप्त है इसलिये सैकड़ों वृक्षोंकी चोटीपर चढ़नेसेभी जिसप्रकार उसका अंत नहीं मिलसकता उसीप्रकार हेजिनेन्द्र आप भी अनंते गुणोंके भंडार हैं और समस्त जगतके स्वामी हैं इसलिये आपका स्तवनकरना भी अत्यंत कठिन है यदि कोई मनुष्य अपनी कवित्वशक्ति-का अभिमान रखकर आपकी स्तुति करना चाहै तो वह बुद्धिमान होनेपर भी सर्वथा मूर्ख है ऐसा समझना चाहिये ॥

शक्नोति कर्तुमिह कः स्तवनं समस्तविद्याधिपस्य भवतो विबुधार्चिताङ्घ्रेः ।
तत्रापि तज्जिनपते कुरुते जनो यत्तच्चित्तमध्यगतभक्तिनिवेदनाय ॥ ३ ॥

अर्थः—हे प्रभो आप समस्तविद्याओंके स्वामी हैं और आपके चरणोंकी बड़े २ देव अथवा बड़े २ पंडित आकर पूजन करते हैं इसलिये संसारमें आपकी स्तुतिके करनेकेलिये कोई भी समर्थ नहीं है तो भी हे जिनेन्द्र जो लोग आपकी स्तुति करते हैं वे केवल अपने चित्तमें प्राप्त जो भक्ति उसके निवेदन करनेके लिये ही करते हैं और दूसरा कोई भी कारण नहीं है ॥ ३ ॥

नामापि देव भवतः स्मृतिगोचरत्वं वाग्गोचरत्वमथ येन सुभक्तिभाजा ।
नीतं लभेत स नरो निखिलार्थसिद्धिं साध्वी स्तुतिर्भवतु मा किल कात्र चिंता ॥ ४ ॥

अर्थः—हे जिनेन्द्र हे प्रभो जो आपका भक्त मनुष्य आपके नामको भी स्मरण करता है अथवा आपके नामको वचनद्वारा कहता भी है उस मनुष्यको भी संसारमें समस्त प्रकारकी सिद्धियोंकी प्राप्ति होजाती है तब आपकी उत्तमरीतिसे स्तुतिहो अथवा मतहो कोईभी चिंता नहीं ॥

भावार्थः—जो मनुष्य आपकी स्तुति तथा भक्ति करता है वह किसी न किसी लाभकेलिये ही करता है यदि उसभव्यजीवको आपके नामके स्मरणसे अथवा आपके नामके उच्चारण करनेसे ही समस्त प्रकारकी सिद्धियां प्राप्त होजावें तो चाहै आपकी स्तुति उससे उत्तमरीतिसे हो या न हो कोई चिंता नहीं ॥ ४ ॥

एतावतैव मम पूर्यत एव देव सेवां करोमि भवतश्चरणद्वयस्य ।
अत्रैव जन्मनि परत्र च सर्वकालं न त्वामितः परमहं जिन याचयामि ॥ ५ ॥

1 यह श्लोक ख. पुस्तकमें नहीं है मालूम होता है लेखककी कृपासे छूटगया है क्योंकि यह श्लोक प्रकरणसे सर्वथा संबंध रखता है ॥

अर्थः—हे जिनेश इसभवमें तथा परभवमें मैं आपके दोनों चरणोंकी सदा काल सेवाकरता रहूं यही मुझे प्राप्ति होवे किंतु मैं इससे अधिक आपसे कुछभी नहीं मांगता ॥ ५ ॥

सर्वागमावगमतः खलु तत्त्वबोधो मोक्षाय वृत्तमपि संप्रति दुर्घटं नः।
जाड्यात्तथा कुतनुतस्त्वयि भक्तिरेव देवास्ति सैव भवतु क्रमतस्तदर्थम् ॥ ६ ॥

अर्थः—समस्तप्रकारके शास्त्रोंके ज्ञानसे निश्चयसे तत्वोंका ज्ञान होता है और उन्हीं शास्त्रोंसे मोक्षकेलिये सम्यक्चारित्रकी भी प्राप्ति होती है किंतु इस पंचमकालमें हमारेलिये वे दोनों मूर्खताके कारण तथा, दुर्गंधिमयशरीरके कारण अत्यंत दुर्घट हैं अर्थात् सहसा प्राप्त नहीं होसकते इसलिये मुझमें जो आपकी भक्ति है वही क्रमसे मोक्षकेलिये होवे ऐसी प्रार्थना है ॥

भावार्थः—यद्यपि मोक्षकेलिये तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति तथा सम्यक्चारित्रकी प्राप्ति शास्त्रोंसे होसकतीहै किन्तु इसपंचमकालमें अज्ञानताकी अधिकतासे तथा असमर्थ और दुर्गंधमय शरीरके कारण न तो तत्त्वज्ञानही हम-सरीखे मनुष्योंको होसकता है और न सम्यक्चारित्रही पलसकता है और मोक्षको चाहते ही हैं इसलिये हे जिनेन्द्र यह विनय पूर्वक प्रार्थना है कि जो मुझमें आपकी भक्ति मौजूद है वही मुझे मोक्षकेलिये होवे ॥६॥

हरति हरतु वृद्धं वार्धकं कायकान्तिं दधति दधतु दूरं मंदतामिन्द्रियाणि।
भवति भवतु दुःखं जायतां वा विनाशः/परमिह जिननाथे भक्तिरेका ममास्तु ॥७॥

अर्थः—वृद्धावस्था समस्तशरीरकी कांतिको नष्ट करती है सो करो तथा समस्तइन्द्रियां बहुतकालतक मंद होजाती हैं सो होवें और संसारमें दुःख होता है सो भी हो, तथा विनाशभी हो किंतु जिनेन्द्रभगवानमें जो मेरी भक्ति है वह सदा रहो ऐसी प्रार्थना है॥

भावार्थः—वृद्धावस्थामें चाहे मेरे समस्तशरीरकी कांति नष्ट हो और मेरी समस्त इन्द्रियांभी शिथिल होवें तथा मुझै दुःखभी भोगना पड़े और मेरा मरणभी होजावे तोभी जो जिनेन्द्रभगवानमें मेरी भक्ति है वह सदा स्थिर रहै यह विनयसे प्रार्थना है ॥ ७ ॥

अस्तु त्रयं मम सुदर्शनबोधवृत्तसंबंधि यांतु च समस्तदुरीहितानि ।
याचे न किंचिदपरं भगवन् भवन्तं नाप्राप्तमस्ति किमपीह यतस्त्रिलोक्याम् ॥ ८ ॥

अर्थः—हे प्रभो इस संसारमें सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूपी जो त्रयी है वह मेरे होवे तथा मेरे समस्त पाप नष्ट होजावें बस यही मैं आपसे याचना करताहूं किंतु इससे भिन्न दूसरी वस्तु, मैं नहीं मागता क्योंकि संसारमें इनसे भिन्न ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है जो मुझै प्राप्त न होगई हो ॥

भावार्थः—हे जिनेश मैं इससंसारमें बड़ीसे बड़ी ऋद्धिका धारी देवभी होचुका तथा राजाभी होचुका और भी मैंने अनेक विभूतियां प्राप्त करलीं किंतु अभीतक मुझै सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र की प्राप्ति नहीं हुई है और मेरे; पापभी अभी नष्ट नहीं हुवे हैं इसलिये मैं यह आपसे याचना करताहूं कि मुझै इनतीनोंकी प्राप्ति होजावे तथा समस्तकर्म मेरे नष्ट होजावें और इनसे अधिक मैं आपसे कुछभी नहीं मांगता क्योंकि सम्यग्दर्शन आदिसे भिन्न बस्तुका मांगना विना प्रयोजनका है ॥ ८ ॥

वसंततिलका ।

धन्योऽस्मि पुण्यनिलयोस्मि निराकुलोऽस्मि शांतोस्मि नष्टविपदस्मि विदास्मि देव ।
श्रीमज्जिनेन्द्र भवतोऽङ्घ्रियुगं शरण्यं प्राप्तोस्मि चेदहमतीन्द्रियसौख्यकारि ॥ ९ ॥

अर्थः—हे श्री जिनेन्द्र जो सुख अतीन्द्रिय है अर्थात् इन्द्रियोंसे नहीं हो सकता है उससुखके करने-

वाले यदि मुझे संसारमें आपके दोनों चरण प्राप्त होगये तो हे देव मैं अपनेको धन्यहूं पुण्यवान हूं समस्त-प्रकारकी आकुलताओंकर रहितहूं शांतहूं तथा सब प्रकारकी आपत्तियोंकर भी रहितहूं और ज्ञानीहूं ऐसा भलीभांति समझता हूं ॥

भावार्थः—हेप्रभो यदि संसारमें जीवोंको अलभ्य हैं तो अतीन्द्रियसुखके करनेवाले आपके चरणकमल ही हैं और जब मुझे उन्हीं की प्राप्ति हो गई तब मैं धन्यहूं, पुण्यवानहूं, निराकुलहूं, शांतहूं, और समस्तप्रकारकी आपत्तियोंकर रहितहूं तथा ज्ञानीहूं ऐसा मैं अपनेको मानताहूं ॥ ९ ॥

रत्नत्रये तपसि पंक्तिविधे च धर्मे मूलोत्तरेषु च गुणेष्वथ गुप्तिकार्ये ।
दर्पात् प्रमादत उतागसि मे प्रवृत्ते मिथ्यास्तु नाथ जिनदेव तव प्रसादात् ॥१०॥

अर्थः—हेप्रभो जिनेश सम्यग्दर्शनादिरत्नत्रयमें, तपमें, दशप्रकारकेधर्ममें, तथा मूलगुण और उत्तरगुणोंमें और तीन प्रकारकी गुप्तियोंमें जो कुछ अभिमानसे अथवा प्रमादसे मुझे अपराध लगाहो सो हे जिनदेव हे नाथ आपके प्रसादसे वह मेरा अपराध सर्वथा मिथ्याहो ऐसी प्रार्थना है ॥१०॥

मनोवचोऽङ्गैः कृतमाङ्गिपीड़नं प्रमोदितं कारितमत्र यन्मया ।
प्रमादतो दर्पत एतदाश्रयं तदस्तु मिथ्या जिन दुष्कृतं मम ॥ ११ ॥

अर्थः—हे प्रभो हे जिनेन्द्र प्रमादसे अथवा अभिमानसे जो मैंने मन वचन कायसे जीवोंको पीड़ादी है अथवा दूसरोंसे मैंने दिलवाई है वा जीवोंको पीड़ादेनेवाले दूसरेजीवोंको मैंने अच्छा कहा है इनसे पैदाहुवा वह समस्तपाप मेरा मिथ्या हो ॥ ११ ॥

शार्दूल विक्रीडित ।

चिंतादुष्परिणामसंततिवशादुन्मार्गगाया गिरः कायात्संवृतिवर्जितादनुचितं कर्मार्जितं यन्मया ।
तन्नाशं व्रजतु प्रभो जिनपते त्वत्पादपद्मस्मृतेरेषा मोक्षफलप्रदा किल कथं नास्मिन् समर्था भवेत् ॥

अर्थः—हे प्रभो हे जिनेन्द्र चिंतासे खोटे परिणामोंकी संततिसे तथा खोटे मार्गमें गमनकरनेवाली वाणीसे और संवर रहित शरीरसे जो मैंने नानाप्रकारके कर्मोंका उपार्जन किया है वे समस्तकर्म आपके चरणकमलोंके स्पर्शसे सर्वथा नाशको प्राप्त होवे क्योंकि आपके दोनों चरणकमलोंकी जो स्मृति है वह निश्चयसे मोक्षफलके देनेवाली है इसलिये वह पापकर्मोंके नाशकरनेमें क्यों नहीं समर्थ होगी ? ॥

भावार्थः—हे जिनेश मैंने खोटे पदार्थोंकी चिंतासे तथा खोटे परिणामोंसे कुत्सितवचनोंसे और संवर-कररहित शरीरसे अनेक प्रकारके कर्मोंका संचय किया है किंतु हे जिनेन्द्र अब उनकर्मोंके नाशका उपाय आपके दोनों चरणकमलोंकी स्मृतिही है अतः उससे ये मेरे समस्तपाप नष्ट होजावें क्योंकि आपके दोनों चरण-कमलोंकी स्मृतिमें जब जीवोंको मोक्षरूपीफलके देनेकी शक्ति मोजूद है तब क्या वह स्मृति इन पापकर्मोंके नाशमें समर्थ नहीं होसकती है अवश्यही होसकती है ॥ १२ ॥

वसन्ततिलका ।

वाणी प्रमाणमिह सर्वविदस्त्रिलोकीसद्मन्यसौ प्रवरदीपशिखासमाना ।
स्याद्वादकांतिकलिता नृसुराहिवंद्या कालत्रयप्रकटिताखिलवस्तुतत्त्वा ॥ १३ ॥

अर्थः—जो सर्वज्ञदेवकी वाणी स्याद्वादरूपीकांतिकर संयुक्त है और जिसकी मनुष्य देव नागकुमार सब ही स्तुतिकरते हैं तथा जो तीनोकालोंमें रहनेवाले समस्ततत्त्वोंको प्रकट करनेवाली है अतएव जो तीनलोक-

रूपी धरम उत्कृष्टदीपककी शिखाके समान है वही बाणी प्रमाण है ॥

भावार्थः—जिसप्रकार दीपक कांतिकरसहित होता है और वंदनीय होता है तथा पदार्थोंका प्रकाशकरने वाला होता है उसीप्रकार जो सर्वज्ञकी वाणी स्याद्वादरूपीकांतिकर सहित है और मनुष्य देव नागकुमार आदि सबोंसे वंदनीय है तथा तीनोंकालोंमें रहनेवाले समस्तपदार्थोंको प्रकटकरनेवाली है ऐसी वह त्रिलोकरूपी मकानमें उत्कृष्टदीपकके समान केवलीकी बाणी ही प्रमाण है ॥ १३ ॥

पृथ्वी ।

क्षमस्व तद्वाणि तज्जिनपतिश्रुतादिस्तुतौ यदूनमभवन्मनोवचनकायवैकल्यतः ।
अनेकभवसंभवैर्जडिमकारणैः कर्मभिः कुतोत्र किल मादृशे जननि तादृशं पाटवम् ॥१४॥

अर्थः—हे मातः सरस्वति मनवचनकायकी विकलतासे जिनेन्द्रभगवानकी स्तुतिमें अथवा शास्त्रकी स्तुतिमें जो कुछ [मुझसे] हीनता हुई है उसको क्षमाकर । क्योंकि अनेकभवोंमें उत्पन्न हुवे तथा जडताके कारण जो कर्म हैं उनसे मेरेसमानमनुष्यमें जिनेन्द्रकी तथा शास्त्रआदिकी भलीभांति स्तुतिकरनेमें कहांसे इतनी चतुरता आसकती है? ॥

भावार्थः—हे मातः अनेकभवोंमें उत्पन्न तथा जडताकेकारण घोर कर्मोंका प्रभाव मेरी आत्माके ऊपर पडाहुवा है इसलिये जिनेन्द्रभगवानकी स्तुतिमें तथा शास्त्र आदिकी स्तुतिमें जितनी विद्वत्ता होनी चाहिये उतनीविद्वत्ता मुझमें नहीं है इसलिये मनवचनकायकी विकलतासे जो श्रीजिनेन्द्रकी स्तुतिमें अथवा शास्त्र आदिकी स्तुतिमें हीनता हुई है उसको हे मातः सरस्वति आप क्षमाकरें ॥ १४ ॥

॥४७०॥

अनुष्टुप् ।

पल्लवोयं क्रियाकांडकल्पशाखाग्रसंगतः ।
जीयादशेषभव्यानां प्रार्थितार्थिफलप्रदः ॥ १५ ॥

अर्थः—समस्त भव्यजीवोंको अभिलषितफलोंका देनेवाला ऐसा यह क्रियाकांडरूपी कल्पवृक्षका शाखामें लगाहुवा क्रियाकांडचूलिकाधिकाररूपी जो पल्लव है वह सदा इसलोकमें जयवंत रहो ।

भावार्थः—जिसप्रकार कल्पवृक्षकी शाखाके अग्रभागमें लगाहुवा पल्लव जीवोंको अभीष्टफलोंका देनेवाला होता है उसीप्रकार यह क्रियाकांडरूपी कल्पवृक्षकी शाखापर लगाहुवा क्रियाकांडचूलिका नामक अधिकाररूपी पल्लव भी भव्यजीवोंको अभीष्टफलका देनेवाला है इसलिये ऐसा वह पल्लव सदा इसलोकमें जयवंत रहो ॥ १५ ॥

भुजंगप्रयात ।

क्रियाकांडसंबंधिनी चूलिकेयं नरैः पठ्यते यैस्त्रिसन्ध्यं च तेषाम् ।
वपुर्भारती चित्तवैकल्यतो या न पूर्णा क्रिया सापि पूर्णत्वमेति ॥१६॥

अर्थः—जो भव्यजीव इसक्रियाकांड संबंधिनी चूलिकाको तीनोंकाल (प्रातःकाल, मध्यान्हकाल, तथा सायंकाल,) पढ़ता है तथा पढेगा उसभव्यजीवकी जो क्रिया मन वचन कायकी विकलतासे पूर्णनहीं हुई है वह शीघ्रही पूर्ण होजाती है ॥ १६ ॥

पृथ्वी ।

जिनेश्वर नमोस्तु ते त्रिभुवनैकचूड़ामणे गतोऽस्मि शरणं विभो भवभिया भवंतं प्रति ।
तदाहर्तिकृते बुधैरकाथि तत्वमेतन्मया श्रितं सुदृढचेतसा भवहरस्त्वमेवात्र यत् ॥१७॥

अर्थः—हे तीनभुवनके चूड़ामणि जिनेन्द्र आपकेलिये नमस्कार हो संसारके भयसे भीतहोकर मैं आपके शरणको प्राप्तहुवा हूं विद्वानलोगोंने जो संसारकी पीड़ाके नाशकरनेकेलिये तत्व कहा है उसका मैंने दृढ़चित्तसे आश्रय करलिया है अर्थात् अपने अंतरंगमें धारणकरलिया है क्योंकि इससंसारमें आपही समस्त संसारके नाशकरनेवाले हो ॥ १७ ॥

वसंततिलका ।

अर्हन् समाश्रितसमस्तनरामरादिभव्याब्जनन्दिवचनांशुरवेस्तवाग्रे ।
मौखर्यमेतदबुधेन मया कृतं यत् तद्भूरिभक्तिरभसस्थितमानसेन ॥ १८ ॥

अर्थः—हे अर्हन् सभामें बैठेहुवे जो समस्त मनुष्य तथा देव आदिक भव्यजीव वे ही हुवे कमल उनको आनंदकेदेनेवाले हैं वचनरूपीकिरण जिनके ऐसे आप जिनदेवसूर्यके सामने जो मुझ अपंडितने वाचालता प्रकटकी है वह अत्यंतगाढ़ जो भक्ति उसमें स्थित मनसेही की है ॥

भावार्थः—इसश्लोकसे आचार्यने अपनी लघुता प्रकटकी है यथा हे जिनेन्द्र जिसप्रकार सूर्यकी किरण कमलोंको आनंदके देनेवाली होती हैं उसीप्रकार आपके वचनरूपी किरणभी समवसरणमें बैठे हुवे समस्त मनुष्य देव आदि भव्यजीवोंको आनंदकी देनेवाली हैं इसलिये आप सूर्यके समान हैं अतः आपके आगे मैं मूर्खहूं आपकी स्तुति करनहीं सकता किन्तु यह जो मैंने कुछ वचनोंसे वाचालता प्रकटकी है वह आपकी भक्तिसे प्रेरित मनसेही की है ॥ १८ ॥

इति श्रीपद्मनंदि आचार्यद्वारा विरचित श्रीपद्मनंदिपञ्चविंशतिकामें
क्रियाकाण्डचूलिका नामक अधिकार समाप्त हुवा ॥

॥४७२॥

अथैकत्वभवानादशकम्।

अनुष्टुप्।

स्वानुभूत्यैव यद्गम्यं रम्यं यच्चात्मवेदिनाम्।
जल्पे तत्परमज्योतिरवाङ्मानसगोचरम् ॥ १ ॥

अर्थः—जो परमतेज स्वानुभवसेही जानाजाता है और जोपुरुष आत्मस्वरूपके जाननेवाले हैं उनको मनोहर मालूम पड़ता हैं और जो तेज न वचनके गोचर हैं और न मनका विषयभूत है उस परमतेजका मैं वर्णन करता हूं।

भावार्थः—परमज्योतिसे यहांपर आत्मरूपीतेज लियागया है वह आत्मरूपीतेज अमूर्त है (चैतन्यस्वरूप-है) इसलिये न ता मूर्तवाणीके गोचर हैं और न मनके गोचर है और जो आत्मस्वरूपके जाननेवालोंको अत्यंतमनोहर मालूम पड़ता है तथा जो स्वानुभवसेही गम्य है ऐसे उसतेजको मैं वर्णन करताहूं ॥ १ ॥

एकत्वैकपदप्राप्तमात्मतत्वमवैति यः।
आराध्यते स एवान्यैस्तस्याराध्यो न विद्यते ॥२॥

अर्थः—जो भव्यजीव एकत्वस्वरुपको प्राप्त ऐसे आत्मतत्वको जानता है उस पुरुषकी अन्य लोग पूजा आराधना करते हैं किन्तु उसका आराध्य कोई नहीं अर्थात् वह किसी को नहीं पूजता ॥ २ ॥

एकत्वज्ञो बहुभ्योऽपि कर्मभ्यो न विभेति सः
योगी सुनौगतोऽम्भोधिजलेभ्य इव धीरधीः ॥ ३ ॥

अर्थ—जिसप्रकार धीरबुद्धिपुरुष उत्तमनावमें बैठा हुवा समुद्रके जलसे भय नहीं करता है उसीप्रकार

जो योगी एकत्वस्वरूपका जाननेवाला है वह बहुतभी कर्मोंसे अंशमात्रभी भय नहीं करता है ॥ ३ ॥

चैतन्यैकत्वसंवित्तिदुर्लभो सैव मोक्षदा।
लब्धा कथं कथञ्चिच्चेच्चिंतनीया मुहुर्मुहुः ॥४॥

अर्थः—चैतन्यके एकत्वका जो ज्ञान है वह अत्यंत दुर्लभ है और वह ज्ञानही मोक्षका देने वाला है इसलिये यदि किसी रीतिसे उसचैतन्यका ज्ञान होजावे तो वारंवार उस ज्ञानका चिंतवन करना चाहिये ॥

भावार्थः—जिससमय आत्मा समस्तकर्मोंके संबंधसे रहित एक है इसप्रकार आत्मामें एकत्वका ज्ञान होता है उसीसमय मोक्षकी प्राप्ति होती है क्योंकि मोक्षका कारण चैतन्यके एकत्वका ज्ञानही है किंतु इस चैतन्यके एकत्वका ज्ञान होता बड़ी कठिनतासे है। यदि भाग्यवश चैतन्यके एकत्वका ज्ञान होभी जाय तो विद्वानोंको (मोक्षकी प्राप्तिके अभिलाषियों को) चाहिये कि वे वारंवार इसका चिंतवनकरैं किंतु उसके चिंतवनकरनेमें प्रमाद न करैं ॥ ४ ॥

इसी आशयको लेकर समयसारमें भी कहा है।

सुदपरिचिदाणुभूदा सव्वस्सावि कामभोगवंधकहा
एयत्तस्सुवलंभो णवरि ण सुलहो विभत्तस्य ॥ ५ ॥

अर्थः—जितनेभर जीव ससारमें मौजूद हैं उनसबने प्रायः काम भोग संबंधी कथातो सुनी है तथा उसका परिचय और अनुभवभी किया है इसलिये कामभोगसंबंधी कथा उनकेलिये सुलभ है किंतु एकत्व और विभक्त आत्माका उनको कभीभी ज्ञान नहीं हुवा है इसलिये केवल उसकी प्राप्ति सुलभ नहीं है इसलिये भव्यजीवोंको चाहिये कि वे एकत्व और विभक्त आत्माकी प्राप्तिकेलिये उद्योग करैं ॥ ५ ॥

मोक्षएव सुखं साक्षात्तच्च साध्यं मुमुक्षुभिः
संसारेऽत्र तु तन्नास्ति यदस्ति खलु तन्न तत् ॥ ६ ॥

अर्थः—साक्षात यदि सुख है तो मोक्षमेंही है और उससुखको मोक्षाभिलाषी ही सिद्ध करसकते हैं इससंसारमें साक्षात सुख नहीं है और जो है भी वह निश्चयसे सुख नहीं दुखही है ॥

भावार्थः—बहुतसे मूर्खमनुष्य इन्द्रियोंसे जायमान सुखको ही साक्षात् सुख समझते हैं किन्तु वह साक्षात सुख नहीं क्योंकि वह अनित्य है तथा परिणाममें दुःखका देनेवाला है किन्तु वास्तविकसुख मोक्षमेंही है क्यों कि वह नित्य है और निर्विकल्प है और उस सुखको जो मनुष्य मोक्षके अभिलाषी हैं वेही सिद्ध कर सकते हैं इसलिये मोक्षाभिलाषियोंको चाहिये कि वे उससुखके लिये पूरा २ प्रयत्न करैं ॥ ६ ॥

किञ्चित्संसारसंवंधि वंधुरं नेति निश्चयात्
गुरूपदेशतोऽस्माकं निःश्रेयसपदं प्रियम् ॥ ७ ॥

अर्थः—संसार संवंधीभी कोई वस्तु निश्चयसे हमको प्रिय नहीं है किन्तु श्रीगुरुके उपदेशसे हमको मोक्षपदही प्रिय है ॥

भावार्थः—अनेक मनुष्य संसारमें स्त्रीः, पुत्र मित्र सुवर्ण आदि पदार्थोंको प्रिय मानते हैं किन्तु वे निश्चयसे हमको प्रिय नहीं हैं क्योंकि वे दुःख के देने वाले हैं यदि एक प्रिय है तो श्रीगुरुके उपदेशसे जिसका स्वरूप जानगया है ऐसा मोक्ष ही प्रिय है ॥ ७ ॥

मोहोदयविषाक्रान्तमपि स्वर्गसुखं चलम् ।
का कथाऽपरसौख्यानामलं भवसुखेन मे ॥ ८ ॥

अर्थः—मोहका जो उदय वहीहुवा विष उससे व्याप्त यदि स्वर्गसुखभी संसारमें विनाशीक है तब स्वर्गसे भिन्न जितनेभर सुख हैं उनकी क्या कथा,है अर्थात् वेतो अवश्यही विनाशीक हैं इसलिये मुझै संसार संबंधी सुख नहीं चाहिये ॥

भावार्थः—समस्तमनुष्योंका यह सिद्धांत है कि संसारमें सबसे उत्तम सुख स्वर्गका सुख है किन्तु यह उन मनुष्योंका भ्रम है क्योंकि मोहोदयरूपविषसे व्याप्त वह स्वर्ग सुखभी चलायमान है विनाशीक है और जब स्वर्ग सुख ही चलायमान तथा विनाशीक है तब और सुखतो अवश्यही विनाशीक है इसलिये मुझै संसारके सुखसे कोई प्रयोजन नहीं ॥ ८ ॥

लक्ष्यीकृत्य[1] सदात्मानं शुद्धबोधमयं मुनिः
आस्ते यः सुमतिश्चात्र[2] सोप्यमुत्र चरन्नपि ॥ ९ ॥

अर्थः—श्रेष्ठबुद्धिका धारक जो मुनि इसभवमें निर्मलसम्यग्ज्ञानस्वरूप तथा श्रेष्ठ आत्माको लक्ष्यकर रहता है वह परभवमें गयाहुवा भी इसीप्रकार आत्माको लक्ष्यकर रहता है ।

भावार्थः—आत्मा सम्यग्ज्ञानस्वरूप है तथा अतिश्रेष्ठ है इसलिये जो उत्तम बुद्धिका धारकमुनि इसभवमें इसप्रकारके आत्माको लक्ष्यकर रहता है परभवमें गयेहुवे भी उसमुनिका लक्ष्य आत्मामें वैसाही वनारहता है इसलिये मुनियोंको चाहिये कि वे इसीप्रकार आत्मामें लक्ष्यरक्खें ॥ ९ ॥

वीतरागपथे स्वस्थः[3] प्रस्थितो मुनिपुंगवः ।
तस्य मुक्तिसुखप्राप्तेः कः प्रत्यूहो जगत्त्रये ॥१०॥

१ क पुस्तक में "लक्ष्मीकृत्य" यह भी पाठ है ॥ २ ख पुस्तकमें "समितिश्चत्र" यह भी पाठ है ॥ ३ क. पुस्तकमें "स्वच्छ" यह भी पाठ है । ४

अर्थः—अपने आत्मस्वरूपमें तिष्ठनेवाले जिसउत्तममुनिने वीतरागमार्गमें गमनाकिया है उस मुनिकी मोक्षकी प्राप्तिमें तीनोंलोकमें कोईभी विघ्न नहीं है॥

भावार्थः—जबतक मुनि वीतराग मार्गमें गमन नहीं करता तबतकतो उसको मोक्षकी प्राप्ति नहीं होस-कती क्योंकि उसकेलिये मोक्षकी प्राप्तिमें बहुतसे विघ्न आकर उपस्थित होजाते हैं किंतु जो मुनि वीतरागमार्गमें गमनकरनेवाले हैं उनको मोक्षसुखकी प्राप्तिमें तीनोंलोकमें किसीप्रकारका विघ्न आकर उपस्थित नहीं होता इसलिये मोक्ष सुखके अभिलाषी मुनियोंको वीतराग मार्गमें ही स्थित रहना चाहिये ॥१०॥

इत्येकाग्रमना नित्यं भावयन् भावनापदम् ।
मोक्षलक्ष्मीकटाक्षालिमालापद्मश्च जायते ॥ ११ ॥

अर्थः—जो मुनि इसप्रकार एकचित्तहोकर सदा ऐसी भावना करता रहता है वह मुनि मोक्षरूपीजो लक्ष्मी उसके जो कटाक्ष वेही हुवे आलिमाला (भ्रमरसमूह) उसकेलिये कमलके समान होता है ॥

भावार्थः—जिसप्रकार कमलपर स्वयं भौंरे आकर बैठजाते हैं उसीप्रकार जो मुनि उपर्युक्तभावनाको करनेवाले हैं उनमुनियोंके ऊपर मुग्धहोकर स्वयंमोक्षरूपी लक्ष्मी अपने कटाक्षपातोंको करती है अर्थात् वे मुनि शीघ्रही मोक्षको प्राप्तहोजाते हैं इसलिये मुनियोंको चाहिये कि वे सदा ऐसीही भावना करते रहें ॥ ११ ॥

एतद्धर्मफलं धर्मः स चेदस्ति ममामलः ।
आपद्यपि कुतश्चिंता मृत्योरपि कुतो भयम् ॥ १२ ॥

अर्थः—इस मनुष्य भवका फल धर्म है यदि मेरे वह धर्म निर्मल मौजूद हैं तो आपत्तिके आने पर भी मुझे चिंता नहीं और न मुझे मरण से ही भय है ॥

॥४७८॥

भावार्थः—जबतक निर्मल धर्मकी प्राप्ति नहीं होती तबतकतो आपत्ति में चिंता रहती है तथा जन्म मरणसे भी भय रहता है किन्तु यदि इस मनुष्य भवका फल निर्मल धर्म मेरे पास मोजूद है तो नतो मुझे आपत्तिमें किसी प्रकारकी चिंता हो सकती है और न मुझको जन्म मरणसे भी भय हो सकता है ॥१२॥

इति श्रीपद्मनंदिआचार्य द्वारा विरचित श्रीपद्मनंदिपंचविंशतिकामें एकत्वभावना नामक अधिकार समाप्त हुवा।

अथ परमार्थविंशतिः।

शार्दूलविक्रीडित।

मोहद्वेषरतिश्रिता विकृतयो दृष्टाः श्रुताः सेविताः वारम्वारमनंतकालविचरत्सर्वाङ्गिभिः संसृतौ॥
अद्वैतं पुनरात्मनो भगवतो दुर्लक्ष्यमेकं परं बीजं मोक्षतरोरिदं विजयते भव्यात्मभिर्वंदितम् ॥१॥

अर्थ—संसारमें अनंतकालसे भ्रमण करते हुवे प्राणियोंने मोह द्वेष रागके आश्रित जो विकार हैं उनको देखा है सुना है तथा उनको अनुभव भी किया है किंतु भगवान आत्मा के अद्वैतको न देखा है और न सुना है तथा उसका अनुभव भी नहीं किया है इसलिये कठिनरीतिसे देखने योग्य तथा एक और उत्कृष्ट तथा भव्यजीवोंसे सदा वंदित ऐसा यह भगवान आत्माका अद्वैत इसलोकमें जयवंत है॥

भावार्थः—मोह राग द्वेष आदिकर्मों का विकार समस्त संसारी प्राणियोंके साधारणरीतिसे पाये जाते हैं इस लिये जो जीव अनंत कालसे संसारमें भ्रमण करने वाले हैं उन्होंने अनेकवार इन मोहविकारोंको देखा है तथा

---

१ क पुस्तमें " दुर्लक्षम् " यह भी पाठ है॥

॥४७८॥

सुना है और इनका अनुभवभी किया है किंतु अभी तक कर्मोंसे रहित आत्माका अनुभव आदिक नहीं किया है इसलिये दुर्लक्ष्य कठिनरीतिसे देखने योग्य तथा एक उत्कृष्ट और मोक्षरूपी वृक्षका बीज तथा जिसकी भव्य जीव सदा स्तुति करते रहते हैं ऐसा वह आत्माका अद्वैत (कर्म रहित आत्मा) सदा इसलोकमें जयवंत है १ ।

अंतर्बाह्यविकल्पजालरहिता शुद्धैकचिद्रूपिणीं बन्दे तां परमात्मनः प्रणयिनीं कृत्यान्तगां स्वस्थाताम् ।
यत्रानंतचतुष्टयामृतसरित्यात्मानमन्तर्गतं न प्राप्नोति जरादिदुस्सहशिखो जन्मोग्रदावानलः ॥२॥

अर्थः—जो स्वस्थता अंतरंग तथा बहिरंग दोनों प्रकारके विकल्पोंकर रहित है तथा शुद्ध एक चैतन्य स्वरूपको धारण करने वाली है और परमात्मासे प्रीति कराने वाली है तथा कृतकृत्य है ऐसी उस स्वस्थता को नमस्कार करता हूं क्योंकि जिस अनंतविज्ञानादि चतुष्टय स्वस्थातारूपीअमृतनदीके मध्यमें रहे हुवे आत्मा को वृद्धावस्था आदि दुस्सह ज्वालाओंको धारण करनेवाली जन्मरूपी भयंकर अग्नि प्राप्त ही नहीं होसकती

भावार्थः—जिसप्रकार उत्तम जलसे भरी हुई नदीके भीतर स्थित पदार्थका भयंकर ज्वाला को धारण करने वाली भयंकरभी अग्नि कुछभी नहीं करसकती उसीप्रकार जिस अनंतचतुष्टयस्वरूपी नदीके मध्यमें प्रविष्ट आत्माका जरा आदि दुस्सह ज्वालाओंको धारणकरनेवाली भी भयंकर जन्मरूपी अग्नि कुछ भी नहीं कर सकती अर्थात् जिस स्वस्थताकी (आत्मस्वरूपके अनुभवपनेकी) प्राप्तिसे आत्मा जन्म मरण आदिकर रहित होजाता है और जो शुद्ध, एक, चैतन्यस्वरूपको धारणकरनेवाली है तथा परमात्मासे स्नेह करानेवाली तथा कृतकृत्य है ऐसी उसस्वस्थताको मैं नमस्कार करताहूं ॥ २ ॥

एकत्वस्थितये मतिर्यदनिशं संजायते मे तयाप्यानंदः परमात्मसंन्निधिगतः किञ्चित्समुन्मीलति ।
कंचित्कालमवाप्य सैव सकलैः शीलैर्गुणैराश्रिता तामानंदकलां विशालविलसद्बोधां करिष्यत्यसौ ॥३॥

॥४७९॥

अर्थः—जो निरंतर मेरी बुद्धि एकत्वस्थिति की ओर जाती है उससे भी मुझै परमात्म संवन्धी कुछ २ आनंद उत्पन्न होता है यदि वही बुद्धि कुछकालतक समस्तशील आदि उत्तमगुणोंसे सहितहोकर रहेगी तो अवश्यही विशाल तथा देदीप्यमान है ज्ञान जिसमें ऐसी उस आनंदकी कलाको प्राप्त करैगी॥

भावार्थः—जबमुझै एकत्व स्थितिकी ओर बुद्धिके जानेसेही परमात्मासंवन्धी कुछ ज्ञान होता है तब यदि मेरी बुद्धि कुछकालतक शील आदिगुणोंसे विशिष्ट रहेगी तो अवश्यही परमात्माके आनंदको प्राप्त होगी इसमें किसीप्रकारका संशय नहीं॥ ३॥

केनाप्यस्ति न कार्यमाश्रितवता मित्रेण चान्येन वा प्रेमाङ्गेपि न मेस्ति सम्प्रति सुखी तिष्ठाम्यहं केवलः।
संयोगेन यदत्र कष्टमभवत्संसारचक्रे चिरं निर्विण्णः खलु तेन तेन नितरामेकाकिता रोचते॥ ४॥

अर्थः—मेरे आश्रित जो मित्र हैं न तो मुझै उनसे कुछकाम है और न मुझै दूसरेसेभी काम है और मुझै अपने शरीरमेंभी प्रेमनहीं इससमय मैं अकेलाही सुखीहूं क्योंकि मुझै संसाररूपी चक्रसे मित्र आदिके संयोगसे कष्ट हुवाथा इसलिये मैं निश्चयसे उदासीनहूं और मुझै अब एकान्त स्थानही प्रिय है॥

भावार्थः—जबतक मेरा मित्र स्त्री पुत्र आदि परपदार्थोंसे संवन्धरहा तबतक मुझै नानाप्रकारके कष्टों-का सामना करना पड़ा इसलिये अब मुझै उन मित्र तथा स्त्री पुत्र आदिपदार्थोंसे कुछभी काम नहीं हैं किंतु मैं अब सर्वथा उदासीनहूं और मुझै एकांतही अच्छा लगता है॥ ४॥

यो जानाति स एव पश्यति सदा चिद्रूपतां न त्यजेत् सोहं नापरमस्ति किंचिदपि मे तत्वं सदैतत् परम्।
यच्चान्यत्तदशेषकर्मजनितं क्रोधादिकायादि वा श्रुत्वा शास्त्रशतानि सम्प्रति मनस्येतच्छ्रुतं वर्तते॥ ५॥

अर्थः—जो जानता है वही सदा देखता है और जो चैतन्यस्वरूपको नहीं छोड़ता है वह मैंही हूं

तथा अन्यपदार्थ मेरा कुछभी नहीं है और यही समीचीन तत्त्व है । अन्य जो क्रोधादिक तथा शरीर आदिक हैं वे समस्त कर्मोंसे उत्पन्न हुवे हैं इसलिये सैकड़ों शास्त्रोंको सुनकर मनमें यही सिद्धांत स्थित है ॥

भावार्थः—मैंने सैकड़ों शास्त्रोंका अवलोकन किया है इसलिये मेरे मनमें यह सिद्धांत स्थिर होगया है कि जो जानता है वही देखता है और चैतन्यस्वरूपको नहीं छोड़ता है वह मैंही हूं और संसारमें दूसरा कोई भी पदार्थ मेरा नहीं है और ये जो क्रोध आदि तथा शरीर आदिक कार्य हैं वे समस्त कर्मोंसे पैदाहुवे हैं ॥५॥

हीनं संहननं परीषहसहं नाभूदिदं साम्प्रतं काले दुःखमसंज्ञकेऽत्र यदपि प्रायो न तीव्रं तपः ।
कश्चिन्नातिशयस्तथापि यदसावार्तं हि दुष्कर्मणामंतः शुद्धचिदात्मगुप्तमनसः सर्वं परं तेन किम् ॥६॥

अर्थः—दुःखम है नाम जिसका ऐसे इसपंचमकालमें संहनन हीन होता है इसीलिये इससमय वह संहन परीषहोंका सहनेवालाभी नहीं होता है और प्रायकरके तीव्र तपभी नहीं होसकता है तथा किसीप्रकार का अतिशयभी नहीं होता तोभी मैं दुष्कर्मोंसे पीड़ितहूं इसलिये अंतरंगमें शुद्ध जो चैतन्य स्वरूप उससे गुप्त मनके धारी मुझसे समस्तपदार्थ पर हैं मुझे उन परपदार्थोंसे क्या प्रयोजन है ? ॥

भावार्थः—जिससमय चतुर्थकालकी प्रवृत्ति थी उससमय संहनन उत्तम था और वह संहनन समस्तपरीषहोंका सहन करनेवालाथा और उससमय घोर तप भी धारण किया जा सकता था तथा अनेकप्रकारके अतिशयभी प्रकट होते थे इसलिये उससमय दुष्कर्मोंकी पीड़ाका भय नहीं था किंतु इसपंचमकालमें न तो उत्तम संहन है और इसीलिये वह संहनन परीषहोंके सहनकरनेमें समर्थ नहीं । और इसकालमें घोरतपभी धारण नहीं कियाजाता है तथा किसीप्रकारका अतिशय भी प्रकट नहीं होता और दुष्कर्म दुःख वरावर देते ही हैं इसलिये

क. पुस्तकमें " कार्यादिवा " यह भी है।

अंतरंगमें शुद्ध ऐसे चैतन्यस्वरूपसे गुप्त मनको धारणकरनेवाले मुझसे समस्तपदार्थ पर हैं तथा उनसे मुझे किसीप्रकारका प्रयोजन नहीं है यही मुझे विचारना चाहिये ॥ ६ ॥

सद्दग्बोधमयं विहाय परमानंदस्वरूपं परं ज्योतिर्वान्यदहं विचित्रविलसत्कर्मैकतायामपि ।
कार्ष्ण्ये कृष्णपदार्थसन्निधिवशाज्जाते मणौ स्फाटिके यत्तस्मात्पृथगेव स द्वयकृतो लोके विकारो भवेत् ॥७॥

अर्थः—नानाप्रकारके विद्यमान जो कर्म उनकी एकता होने परभी मैं सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान स्वरूप और परमानंद स्वरूप तथा उत्कृष्टतेजके धारी आत्माको छोड़कर भिन्न नहीं हूं अर्थात् आत्मस्वरूपही हूं क्योंकि काले पदार्थके संवन्धसे स्फटिकमणिके काले होनेपरभी वह कृष्णता उससे भिन्नही है और विकार जो संसारमें होता है वह दो पदार्थोंद्वारा किया हुवाही होता है ॥

भावार्थः—जिसप्रकार अत्यंत निर्मल स्फटिकमणिके पास कोई चीज कालेवर्णकी रखदीजावे तो यद्यपि उसकाले पदार्थके संबंधसे स्फटिकमणि काली होजाती है तोभी वह कालिमा उस स्फटिकमणिसे भिन्न ही है उसका स्वरूप नहीं। किंतु उसका स्वच्छता आदिकही स्वरूप है उसीप्रकार यद्यपि कर्म तथा आत्मा नीरक्षीरके समान अभिन्न मालूम पड़ते हैं तो भी मैं सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञानस्वरूप तथा परमानंदस्वरूप और उत्कृष्टतेजके धारी आत्मासे, भिन्न नहीं हूं किंतु उसआत्मस्वरूपही हूं ॥ ७ ॥

इसी आशयको लेकर समयसारमें भी कहा है ।

वर्णाद्या वा रागमोहादयो वा भिन्ना भावा सर्व एवास्य पुंसः ।
तेनैवान्तस्तत्वतः पश्यतोऽमी नो दृष्टाःस्यु दृष्टमेकं परं स्यात् ॥ ८ ॥

अर्थः—इसपुरुषके रूप, रस, गंध आदिक तथा राग, द्वेष मोह आदिक जितनेभर भाव हैं समस्तभिन्न

हैं इसलिये जो पुरुष अंतरंग तत्त्वका देखनेवाला है उसके दृष्टिगोचर ये कोई भाव नहीं होते किंतु उसके दृष्टि गोचर वह प्रधान तेज ही होता है ॥ ८ ॥

आपत्सापि यतेः परेण सह यः संगो भवेत् केनचित् सापत्सुष्ठु गरीयसी पुनरहो यः श्रीमतां संगमः।
यत्तु श्रीमदमद्यपानविकलैरुत्तानितास्यैर्नृपैः सम्पर्कः सुमुमुक्षुचेतसि सदा मृत्योरपि क्लेशकृत् ॥ ९ ॥

अर्थः—यतीका किसी दूसरे पदार्थके साथ जो संयोग होता है वह एकप्रकारकी आपत्ति है और उसी यतिका श्रीमानोंके साथ संगम होजावे तो बड़ीभारी आपत्ति है और जो पुरुष लक्ष्मीके मदरूपी मदिरासे मत्त होरहे हैं और जिनके मुख ऊंचेको हैं ऐसे राजाओंके साथ संबंध होजावे तो वह संबन्ध मोक्षाभिलाषीके चित्तमें मरणसे भी अधिक दुःखका देनेवाला है ॥

भावार्थः—यहबात अनुभव सिद्ध है कि मनुष्योंको जो कुछ कष्ट होते हैं वे परके संबंधसेही होते हैं और यतियोंका यतिपना तो परके संबंधसे रहित होनेसेही होता है क्योंकि यदि यतियोंका सामान्यलोगोंके साथ भी संबंध होतो उनको दुःख भोगना पड़ता है और यदि उन्हीं यतीश्वरोंका श्रीमानमनुष्योंके साथ संबंध होजावे तो उनको घोर आपत्तिका सामना करना पड़ता है और जिसप्रकार मदिराके पानसे मनुष्य मत्त होजाता है और उन्नत मुख होजाता है उसीप्रकार जो राजा, लक्ष्मीका जो घमंड वही हुवा मद्य उसके पीनेसे मत्त हैं और जिनके मुख ऊपरको चढ़ेहुवे हैं ऐसे राजाओंके साथ उन मोक्षाभिलाषी यतियोंका संबंध होजावे तो उन यतियोंके चित्तमें वह संबन्ध मरणसे अधिकभी वेदनाका करनेवाला होता है इसलिये जो मुनि मोक्षाभिलाषी हैं उनको संसारमें किसीके साथ संबन्ध नहीं रखना चाहिये किंतु अपने आत्मस्वरूपकाही चिंतवन करना चाहिये ॥९॥

स्निग्धा मा मुनयो भवंतु गृहिणो यच्छन्तु मा भोजनं मा किञ्चिद्धनमस्तु मा वपुरिदं रुग्वर्जितं जायताम्।

नग्नं मामवलोक्य निन्दतु जनस्तत्रापि खेदो न मे नित्यानंदपदप्रदं गुरुवचो जागर्ति चेच्चेतसि ॥१०॥

अर्थः—सदा आनंदस्थानको देनेवाला ऐसा श्रीगुरुका वचन यदि मेरे चित्तमें प्रकाशमान है तो चाहैं मुनिगण मेरे ऊपर प्रीति मति करो और भलेही गृहस्थ लोग मुझै भोजन मत दो और मेरेपास धनभी चाहैं कुछ न हो और मेरा शरीर भी भलेही रोगकर रहित मत हो और लोग मुझै नग्नदेखकर चाहैं मेरी निन्दाभी करो तोभी मुझै किसीप्रकारका खेद नहीं ॥

भावार्थः—जिससमय मेरे मनमें सदा आनंदका देनेवाला गुरूका वचन प्रकाशमान न हो। उससमय यदि मुनिगण मेरे ऊपर प्रीति न करैं, तथा श्रावक लोग मुझै भोजन न देवे, और मेरे पास धन न होवे तथा शरीरभी नीरोग न होवे तथा मुझै नग्न देखकर लोग मेरी निन्दा करैं तो मुझै खेद होसकता है किंतु यदि मेरे मनमें श्रीगुरूका उपदेश विराजमान है तो मुझै उपर्युक्त कोईभी वात खेदके करनेवाली नहीं होसकती क्यों-कि श्रीगुरूका उपदेश सदा आनंदस्थानका देनेवाला है ॥१०॥

दुःखव्यालसमाकुले भववने हिंसादिदोषद्रुमे नित्यं दुर्गतिपल्लिपातिकुपथे भ्राम्यन्ति सर्वेऽगिनः।
तन्मध्ये सुगुरुप्रकाशितपथे प्रारब्धयानो जनो यात्यानंदकरं परं स्थिरतरं निर्वाणमेकं पदम् ॥ ११ ॥

अर्थः—जो संसाररूपीवन नानाप्रकारके दुःखरूपी जो हस्ती अथवा अजगर उनसे व्याप्त है और जिसमें हिंसा असत्य चोरी आदिकदोषरूपी वृक्ष मौजूद हैं और जो संसाररूपीवन दुर्गतिरूपी जो भीलोंके स्थान उनकरसहितजो खोटेमार्ग उनकर सहित है ऐसे संसाररूपीवनमें सदा समस्तजीव भ्रमण करते रहते हैं किन्तु उसी संसाररूपीवनमें उत्तम गुरुओंद्वारा प्रकाशितमार्गमें जो मनुष्य गमन करनेवाला है वह मनुष्य समस्तप्रकारके आनंदोंको करनेवाले और उत्कृष्ट तथा निश्चल और अनुपम ऐसे निर्वाण स्थानको अर्थात्

मोक्षस्थानको प्राप्त होता है ॥

भावार्थः—जिसप्रकार वन नानाप्रकारके हस्ती अजगर और वृक्ष तथा भिल्लोंके घरोंकर सहित भयंकर मार्गोका स्थान होता है और उसीवनमें किसी हितैषीद्वारा बतलाये हुवे मार्गसे जो मनुष्य गमन करता है वह अपने उत्तम अभीष्ट स्थानपर पहुंच जाता है उसीप्रकार यह संसार भी वन है क्योंकि इसमेंभी नानाप्रकारके दुःखरूपी हस्ती मौजूद हैं और यह हिंसा आदिक दोषरूपी वृक्षोंका स्थान है तथा दुर्गतिरूप भीलोंके घरोंकर सहित है खोटे भयंकर मार्ग इसमें भी हैं इसलिये इसप्रकारके संसाररूपी वनमें जो मनुष्य उत्तमगुरुओंद्वारा प्रकाशितमार्गमें गमन करता है वह मनुष्य कल्याणोंके करनेवाले निश्चल उत्कृष्ट तथा अनुपम निर्वाणपुरको प्राप्त होता है ॥ ११ ॥

यत्सातं यदसातमङ्गिषु भवेत्तत्कर्मकार्यं ततस्तत्कर्मैव तदन्यदात्मन इदं जानंति ये योगिनः ।
ईदृग्भेदविभावनाश्रितधियां तेषां कुतोहं सुखी दुःखी चेति विकल्पकल्मषकला कुर्यात्पदं चेतसि ॥१२॥

अर्थः—जीवोंमें जो सुख तथा दुःख हैं वे समस्तकर्मोंके कार्य हैं इसलिये कर्मही हैं और ये कर्म आत्मासे भिन्न हैं इसवातको जो योगीश्वर जानते हैं उन इसप्रकारकी भेदभावनाके भावनेवाले योगीश्वरोंके मन में, मैं सुखी हूं और मैं दुःखीहूं इसप्रकारकी विकल्प संबन्धी जरासी भी मलिनता कैसे स्थानको प्राप्त करसकती है ?॥

भावार्थः—जवतक योगियोंको इसवातका भलीभांति ज्ञान नहीं होता कि सुख दुःख आदिक जो कार्य हैं वे कर्मोंके कार्य हैं इसलिये कर्मही हैं और आत्मा कर्मोंसे सर्वथा भिन्न हैं तभीतक उनके मनमें मैं सुखी हूं तथा दुःखी हूं इसप्रकारके विकल्प उत्पन्न होते रहते हैं किन्तु जिससमय योगियोंको इसप्रकारका भली-भांति ज्ञान होजाता है कि कर्म तथा उनके सुख दुःख आदिकार्य सर्व आत्मासे भिन्न हैं उससमय उनके

मनमें कर्मीभी मैं सुखी हूं तथा दुःखी हूं इसप्रकारके मलिनविकल्प नहीं होते हैं इसलिये योगियोंको चाहिये कि वे कर्म तथा आत्माके भेदको भलीभांति जानकर मैं सुखी हूं तथा दुःखी हूं इसप्रकारके मलिनविकल्पोंसे सर्वदा विमुक्त रहैं ॥ १२ ॥

देवं तत्प्रतिमां गुरुं मुनिजनं शास्त्रादि मन्यामहे सर्वं भक्तिपरा वयं व्यवहृतौ मार्गे स्थिता निश्चयात् ।
अस्माकं पुनरेकताश्रयणतो व्यक्तीभवच्चिद्गुणस्फारीभूतमतिप्रबंधमहसामात्मैव तत्त्वं परम् ॥ १३ ॥

अर्थः—जबतक हम व्यवहारमार्गमें स्थित हैं तभीतक हम भक्तिमें तत्पर होकर देवको देवकीप्रतिमाको गुरुको मुनिजनोंको तथा सर्व शास्त्र आदिको मानते हैं किन्तु निश्चयनयसे तो एकत्वके आश्रयसे प्रगटहुवा जो चैतन्यरूपी गुण उससे प्रगल्भ जो बुद्धि उसबुद्धिसंबन्धी तेजके धारी हमारे केवल एक आत्मा ही उत्कृष्ट तत्त्व है किन्तु इससे भिन्न कोई भी तत्त्व नहीं है ॥

भावार्थः—जबतक हम व्यवहार मार्गमें स्थित है तब तकतो हम भक्तिवशहोकर देवको भी मानते हैं देवकी प्रतिमाको भी नमस्कार करते हैं तथा गुरु और मुनिजनोंको भी मानते हैं शास्त्र आदिकी भी भलीभांति भक्ति करते हैं किन्तु जिससमय हम शुद्ध निश्चय मार्गका अवलंवन करते हैं उससमय आत्माही हमारा उत्कृष्ट तत्त्व है क्योंकि उससमय एकत्वकी भावनासे प्राप्त हुई जो बुद्धिकी प्रौढ़ता उससे देव आदिका कुछभी भेद प्रतीत नहीं होता ॥ १३ ॥

वर्षं हर्षमपाकरोतु तुदतु स्फीता हिमानी तनुं घर्मः शर्महरोस्तु दंशमशकं क्लेशाय सम्पद्यताम् ।
अन्यैर्वा बहुभिः परीषहभटैरारभ्यतां मे मृतिर्मोक्षं प्रत्युपदेशनिश्चलमतेर्नात्रापि किञ्चिद्भयम् ॥१४॥

अर्थः—चाहै वर्षा मेरे हर्षको नष्टकरै औ बढ़ाहुवा जो बरफका समूह वह भलेही मेरे शरीरको पीड़ा-

दे, और सूर्यका आतपभी मेरे कल्याणोंका नाशकरनेवालाहो और डांस मच्छरभी मुझै दुःख देवे, तथा औरभी जो वचेहुवे परीषहरूपी सुभट है उनसेभी भलेही मेरा मरण होजाओ तोभी मुझै इनमें किसीसे कुछभी भयनहीं है क्योंकि मेरी बुद्धि मोक्षके प्रति जो उपदेश उससे निश्चल है ॥

भावार्थः—परीषह आदिके जयसे मोक्ष होता है ऐसे मोक्षके लिये श्रीगुरुद्वारा दियेहुवे उपदेशसे मेरी बुद्धि निश्चल है इसलिये वर्षाकालमें चाहै वर्षा मेरे हर्षका नाशकरो और शरदकालमें चाहै बढ़ेहुवे वरफका समूह मेरे शरीरको दुःखितकरो और उष्णकालमें सूर्यका आतप भलेही मेरे कल्याणों का नष्टकरनेवाला होवे और डांस मच्छर आदिकभी चाहैं मुझै दुःख देवे और दूसरे २ बचेहुवे सुभटोंसेभी चाहैं मेरी मृत्युहोजावे तोभी मुझै इनमेंसे किसीसेभी कुछ भय नहीं है ॥ १४ ॥

चक्षुर्मुख्यहृषीककर्षकमयो ग्रामो मृतो मन्यते चेद्रूपादिकृषिक्षमां वलवता बोधारिणा त्याजितः ।
तच्चिंतां न च सोऽपि सम्प्रति करोत्यात्मा प्रभुःशक्तिमान् यत्किञ्चिद्भवतितात्र तेन च भवोप्यालोक्यते नष्टवत्

अर्थः—आत्मा सर्वशक्तिशाली प्रभु है इसलिये यह, यद्यपि सम्यग्ज्ञानका वैरी जो ज्ञानवरणकर्म (अथवा मोह) है उसके द्वारा, नेत्र है प्रधान जिन्होंमें ऐसी जो इन्द्रियां उनइन्द्रियरूपीकिसानोंसे बनाहुवा (इन्द्रियरूपीकिसानस्वरूप) जो ग्राम उसको मराहुवा मानता है तथा उन इन्द्रियरूपी किसानोंकी जो रूपादि खेती उसकी जो जमीन उससे रहित भी मानता है तोभी उन इन्द्रियोंकी तथा इन्द्रियोंके विषयोंकी कुछभी चिंता नहीं करता क्योंकि वह समझताहै कि जो कुछ होनेवालाहै वह तो होगा ही इसलिये वह समस्त-जगतको सर्वथा नष्टसा ही समझता है ।

भावार्थः—जिसप्रकार सर्वशक्तिमान राजा किसी वैरीद्वारा उजड़ेहुवे अपने गांवको तथा जमीनको

॥४८७॥

देखकर कुछभी चिन्ता नहीं करता उसीप्रकार सर्वशक्तिशाली यह आत्माभी ज्ञानावरणादिद्वारा नेत्रादि इन्द्रियोंको नष्ट मानता है तथा रूपादिसे रहितभी मानता है तो भी उनकी चिंता नहीं करता क्योंकि वह भलीभांति जानता है कि जो कुछ होनेवाला है वहतो नियमसे होताही है इसलिये वह समस्तजगतको नष्ट ही सदा समझता रहता है ॥ १५ ॥

कर्मक्षत्युपशांतिकारणवशात्सद्देशनाया गुरोरात्मैकत्वविशुद्धबोधनिलयो निश्शेषसंगोज्झितः ।
शश्वत्तद्गतभावनाश्रितमना लोके वसन् संयमी नावद्येन स लिप्यतेऽब्जदलवत्तोयेन पद्माकरे ॥१६॥

अर्थः—कर्मोंके क्षयसे तथा कर्मोंके उपशमसे अथवा गुरूके उत्तम उपदेशसे जो संयमी आत्माके एकत्वसे निर्मलज्ञानका स्थान है तथा समस्तप्रकारके परिग्रहोंसे रहितहै और निरन्तर जिसका मन आत्मसम्बन्धी भावनाकर सहित है ऐसा वह संयमी संसारमें रहता हुवाभी जिसप्रकार सरोवरमें कमलका पत्ता जलसे लिप्त नहीं होता उसीप्रकार अंशमात्रभी पापोंसे लिप्त नहीं होता ।

भावार्थः—चाहै कमलकापत्ता कितनेभी अगाधपानीमें क्यों न पड़ाहो तोभी वह जराभी पानीसे लिप्त नहीं होता उसीप्रकार जिस संयमीका मन कर्मोंके उपशमसे अथवा कर्मोंके सर्वथा क्षयसे वा गुरूके उत्तम उपदेशसे आत्माके एकत्वसम्बन्धी निर्मलज्ञानका धारक है और समस्तप्रकारकी परिग्रहोंसे रहित है और जिसका चित्त सदा आत्मसम्बन्धी एकत्व भावनाकरसहित है वह संयमी यद्यपि संसारमें भी मौजूद है तथापि समस्तप्रकारके पापोंसे अलिप्तही है अर्थात उसकी आत्माके साथ किसीप्रकारके कर्मोंका सम्बन्ध नहीं ॥ १६ ॥

गुर्वंघ्रिद्वयदत्तमुक्तिपदवीप्राप्त्यर्थनिर्ग्रंथता जातानन्दवशान्ममैन्द्रियसुखं दुःखं मनो मन्यते ।
सुस्वादुः प्रतिभासते किल खलस्तावत्समासादितो यावन्नो सितशर्करातिमधुरा सन्तर्पिणी लभ्यते ॥१७॥

अर्थः—गुरूके जो दोनों चरण उनसे दी हुई जो मोक्षपदवी उसकी प्राप्तिके लिये जो निर्ग्रंथता उससे

नहीं होती तभीतक खल अत्यंत मिष्ट मालूम पड़ती है ॥

भावार्थः—जब तक स्वच्छ अत्यंतमिष्ट तथा तृप्तिकी करनेवाली सक्कर की प्राप्ति नहीं होती तभीतक मनुष्यको खल अत्यंत मिष्ट मालूम पड़ती है किन्तु जिससमय उत्तम मिष्ट शक्कर की प्राप्ति होजाती है उस-समय वह खल जराभी मिष्ट नहीं मालूम होती उसीप्रकार जबतक जीवोंको गुरूके दोनोंचरणोंसे प्रदत्त जो मोक्षरूपी पदवी उसकी प्राप्तिकेलिये जो निर्ग्रंथता उससे उत्पन्नहुवा जो आनंद उसका अनुभव नहीं होता तभीतक उनको इन्द्रियोंसे उत्पन्न हुवा सुख, सुख मालूम पडता है किंतु जिससमय उस आनंदका अनुभव होजाता है उससमय इन्द्रियोंसे उत्पन्न हुवा सुख, सुख नहीं प्रतीत होता किंतु वह दुःखही प्रतीत होता है मुझे उसप्रकारके वचनागोचर आनंदका अनुभव है इसलिये मुझै इन्द्रियोंसे जायमान सुख, दुःख ही है ऐसा सर्वथा मालूम पड़ता है ॥ १६ ॥

निर्ग्रन्थत्वमुदा ममोज्वलतरध्यानाश्रितस्फीतया दुर्ध्यानाक्षसुखं पुनः स्मृतिपथप्रस्थाय्यपि स्यात्कुतः ।
निर्गत्योद्गतवातबोधितशिखिज्वालाकरालाद्गृहाच्छीतां प्राप्य च वापिकां विशति कस्तत्रैव धीमान्नरः ॥

अर्थः—अत्यंत निर्मल जो ध्यान उसके आश्रयसे अत्यंत वृद्धिगत निर्ग्रंथतासे पैदाहुवा यदि हर्ष मेरे मौजूद है तो मुझै खोटेध्यानसे उत्पन्नहुवा जो इन्द्रियसंबंधी सुख उसका कैसे स्मरण होसकता है ? क्योंकि ऐसा कौन बुद्धिमान पुरुष है जो चलती हुई जो पवन उससे जाज्वल्यमान जो अग्निकी ज्वाला उससे अत्यंत भयंकर ऐसे घरसे निकलकर और अत्यंत शीत ऐसी बावड़ी को पाकर फिर उसी जाज्वल्यमान

अग्निसे भयंकर घरमें प्रवेश करैगा ?

भावार्थः—अत्यंत उत्कृष्ट जो पवन उससे जाज्वल्यमान जो अग्निकी ज्वाला उससे भयंकर घरसे निकलकर तथा अत्यंत निर्मल जलसे भरीहुई वावड़ी को पाकर जिसप्रकार बुद्धिमान पुरुष फिरसे उस जाज्वल्यमान अग्निसे भयंकर मकानमें प्रवेश नहीं करता। उसीप्रकार यदि मुझमें अत्यन्त निर्मल जो ध्यान उसके आश्रयसे अत्यंत बढ़ाहुवा ऐसा निर्ग्रंथतासे उत्पन्न हुवा आनंद मौजूद है तो मुझै खोटे ध्यानसे उत्पन्न हुवा जो इन्द्रिय संबंधी सुख उसका स्मरण नहीं होसकता है अर्थात् इन्द्रियोंसे उत्पन्नहुवे सुखको मैं सुख नहीं मान सकता ॥ १७ ॥

जायेतोद्गतमोहतोऽभिलषिता मोक्षेपि सा सिद्धिहृत् तद्भूतार्थपरिग्रहो भवति किं क्वापि स्पृहालुर्मुनिः।
इत्यालोचनसंगतैकमनसा शुद्धात्मसंबन्धिना तत्त्वज्ञानपरायणेन सततं स्थातव्यमग्राहिणा ॥ १८ ॥

अर्थः—यदि उत्पन्नहुवे मोहसे मोक्षमें भी अभिलाषा की जाय तो वह इच्छा मोक्षके नाशकरनेवाली ही होती है इसलिये जो शुद्धनिश्चयनयका आश्रय करनेवाला है वह कहीं भी कैसी भी इच्छा नहीं करता इसलिये जिसमुनिका मन आलोचनाकर सहित है और जो शुद्ध आत्मासे संबंध रखनेवाला है और तत्त्वोंके ज्ञानमें दत्तचित्त है उसमुनिको चाहिये कि वह समस्तप्रकारकी परिग्रहोंसे रहित ही रहै ॥

भावार्थः—समस्तकर्म तथा कर्मोंके कार्योंका जिससमय सर्वथा नाश होजाता है उसीसमय मोक्षकी प्राप्ति होती है। इच्छा मोहसे उत्पन्न होती है इसलिये वह कर्मका कार्यहोनेपरभी कर्मही है इसलिये मोक्षके विषयमें भी किसी मुनि की इच्छा हो जावे तो वह इच्छा मोक्षकी निषेध करनेवाली ही है अतः जो मुनि शुद्धनिश्चय नयके आश्रयकरनेवाले हैं और मोक्षके अभिलाषी हैं वे कदापि किसी पदार्थमें जरा भी इच्छा नहीं करते

हैं इसलिये आचार्यवर उपदेशदेते हैं कि जिन मुनियोंका मन आलोचना करके सहित है तथा जो समस्त कर्मोंसे रहित आत्मासे संबन्ध रखनेवाले हैं अर्थात् कर्मरहित आत्माके ध्यान करनेवाले हैं और जो तत्त्वोंके ज्ञानमें दत्तचित्त है उनको चाहिये कि वे सर्वथा समस्तप्रकारके परिग्रहोंसे रहितही रहैं अर्थात् किसीपदार्थमें (ममेदं) यह मेरा है ऐसी बुद्धि कदापि न करैं ॥ १८ ॥

जायंते विरसा रसा विघटते गोष्ठीकथाकौतुकं शीर्यन्ते विषयास्तथा विरमति प्रीतिः शरीरेऽपि च ।
जोषं वागपि धारयत्यविरतानन्दात्मशुद्धात्मनश्चिन्तायमपि यातुमिच्छति समं दोषैर्मनः पंचताम् ॥

अर्थः—सदा आनन्दस्वरूप जो शुद्धात्मा उसके चिंतवन होनेपर रस जो हैं सो विरस होजाते हैं और गोष्ठीमें जो कथाका कौतुहल है वह नष्ट होजाताहै और समस्तविषय नष्ट होजाते हैं तथा शरीरमें भी अंशमात्र भी प्रीति नहीं रहती और बाणी भी जोषको धारणकरलेती है अर्थात् मौनका अवलम्बन करना पड़ता है और समस्तदोषोंके साथ मनभी नष्ट होजाता है ।

भावार्थः—जबतक मनुष्य निरंतर आनन्दस्वरूप परमात्माका विचार नहीं करता तबतक उसको रस प्रिय लगते हैं गोष्ठीकी कथाका कौतुहल भी उत्तमलगता है और तबतक विषय भी नष्ट नहीं होने तथा शरीरमें भी प्रीति बनी रहती है और बाणी भी मौनको धारण नहीं करती तथा समस्तदोष भी मौजूद रहते हैं और मनभी कायम बना रहता है किन्तु जिससमय उस आनन्दस्वरूप परमात्माका विचार आकर उपस्थित होजाता है उससमय रस प्रिय नहीं रहते गोष्ठीमें जो कथाका कौतुहल रहता है वह भी नष्ट होजाता है विषय भी समस्त किनारा करजाते हैं शरीरमें प्रीति भी नहीं रहती और बाणी मौनको धारणकरलेती है और कोई प्रकार का दोषभी नहीं रहता तथा दोषोंके साथ मन भी सर्वथा नष्ट होजाता है ॥ १९ ॥

तत्त्वं वागतिवर्ति शुद्धनयतो यत्सर्वपक्षच्युतं तद्वाच्यं व्यवहारमार्गपतितं शिष्यार्पणे जायते।
प्रागल्भ्यं न तथापि तत्र विवृतौ बोधो न तादृग्विधस्तेनायं ननु मादृशो जडमतिर्मौनाश्रितास्तिष्ठति॥

अर्थः—शुद्धनिश्चयनयसे तो तत्त्व वचनके अगोचर है तथा समस्तप्रकारके पक्षोंकर (अपेक्षाओंकर) रहित है किन्तु व्यवहारमार्गमें आयाहुआ वह तत्त्व शिष्योंके बोधकेलिये वाच्य (वचनकेद्वारा कहनेयोग्य) होता है तो भी (ग्रंथकार कहते हैं) कि उसतत्त्वके व्याख्यानके करनेमें न तो मुझमें भलीभांति प्रौढ़ता है और न मुझमें उसके वर्णनकरनेयोग्य ज्ञानही है इसलिये मेरे समान जडबुद्धीपुरुष मौनकोधारणकर ही रहता है

भावार्थः—यद्यपि शुद्धनिश्चयनयसे तत्त्व अवाच्य है तथा समस्तप्रकारकी अपेक्षाओंकर रहित है तो भी वह तत्त्व शिष्योंको बोधकरानेकेलिये व्यवहारसे वाच्य है वचनसे कहा जासकता है इसलिये ग्रंथकार कहते हैं तो भी इसपरमार्थतत्त्वको मैं भलीभांति वर्णन नहीं करसकता क्योंकि उसतत्त्वके वर्णन करनेमें न तो मुझै अपनेमें प्रौढ़ताही प्रतीत होती है और न उतना मुझमें ज्ञानही विद्यमान है इसलिये मैं अब मौनको ही धारण करताहूं ॥१०॥

इसप्रकार श्रीपद्मनन्दि आचार्यद्वारा विरचित श्रीपद्मनन्दिपंचविंशतिकामें परमार्थसंगतिनामक अधिकार समाप्त हुआ।

अथ शरीराष्टकाधिकारः।

शार्दूलविक्रीडित।

दुर्गंधाशुचिधातुभित्तिकलितं संछादितं चर्मणा विण्मूत्रादिभृतं क्षुधादिविलसद्दुःखाखुभिश्छिद्रितम्।
क्लिष्टं कायकुटीरकं स्वयमपि प्राप्तं जराबन्हिना चेदेतत्तदपि स्थिरं शुचितरं मूढो जनो मन्यते ॥१॥

अर्थः—यह शरीररूपी झोंपड़ा दुर्गंध तथा अपवित्र वीर्य आदि धातुरूपी भीतोंसे बनाहुवा है और चामसे ढकाहुआ है तथा विष्टा मूत्र आदिसे भी भराहुआ है और इसमें क्षुधा आदिक बलवान् दुःखरूपी चूहोंने छेदकररक्खे हैं और यह अत्यंत क्लिष्ट है और इसके चारोओर जरारूपी अग्नि मौजूद है तो भी मूर्खजीव इसको स्थिर तथा अत्यंत पवित्र मानताहै यह बड़े आश्चर्यकी बात है ॥ १ ॥

दुर्गन्धं कृमिकीटजालकलितं नित्यं स्रवद्दूरसं शौचस्नानविधानवारिविहितप्रक्षालनं रुग्भृतम् ।
मानुष्यं वपुराहुरुन्नतधियो नाडीव्रणं भेषजं तत्रान्नं वसनानि पट्टकमहो तत्रापि रागी जनः ॥ २ ॥

अर्थः—दुर्गन्धमय तथा लट और कीड़ाओंके समूहकर व्याप्त और जिसमें चारोओरसे रक्त, पीव, आदि बहरहे हैं और जिसका प्रक्षालन पवित्रजलसे कियाजाता है और जो नानाप्रकारके रोगोंकर व्याप्त है और जिसमें औषधि अन्न और वस्त्ररूपी पट्टी है ऐसे मनुष्यके शरीरको उच्चबुद्धिके धारक मनुष्य नाडीव्रण (घाव) कहते हैं तो भी बड़े आश्चर्यकी बात है ऐसे निकृष्ट शरीरमें भी जीव रागी बनते हैं ।

भावार्थः—जिसप्रकार घाव अत्यंत दुर्गंधमय होता है और नानाप्रकारके लट कीड़े आदिकसे व्याप्त होता है और सदा जिसमें रक्त आदि टपकता रहता है और अत्यंत शुद्धजलसे धोया जाता है तथा जिसके ऊपर औषधि लगाई जाती है तथा पट्टी बांधी जाती है उसीप्रकार यह शरीर भी है क्योंकि यह भी नाना-प्रकारकी दुर्गंधोंसे व्याप्त है तथा इसमें भी नानाप्रकारके कीड़े मौजूद हैं और लोहू पीव आदिक घृणाके करनेवाले रसभी इससे सदा बहते रहते हैं और उत्तमजलसे भी इसका स्नान कराया जाता है तथा नाना-प्रकारके भयंकर रोगोंका भी यह घर है अन्न रूपी औषधि भी इसके उपयोगमें लाई जाती है और वस्त्ररूपी पट्टीभी इसपर बांधी जाती है परन्तु बड़े आश्चर्यकी बात है कि ऐसे निकृष्ट शरीरमें भी मनुष्य राग करता है ?

और इसको खराब नहीं मानता है ॥ २ ॥

नृणामशेषाणि सदैव सर्वथा वपूंषि सर्वाशुचिभांजि निश्चितम् ।
ततः क एतेषु बुधः प्रपद्यते शुचित्वमम्बुस्तुतिचंदनादीभिः ॥ ३ ॥

अर्थः—मनुष्योंके समस्तशरीर सदाकाल सबप्रकारसे अपवित्र हैं ऐसा भलीभांति निश्चित है इसलिये संसारमें ऐसा कौनसा बुद्धिमान पुरुष होगा जो इस शरीरको स्नानसे तथा चंदनसे पवित्र करनेका प्रयत्न करैगा।

भावार्थः—यदि मनुष्यका शरीर किसीप्रकारसे तथा किसीकालमें पवित्र होता तबतो स्नानोंसे तथा चंदनोंके लेपसे इसका पावित्र करना मनुष्योंका फलप्रद समझा जाता परंतु यह शरीरतो न किसीप्रकारसे शुद्ध होसकता है और न किसीकालमें पवित्र होसकता है इसलिये जो मनुष्य वास्तविकरीतिसे शरीरकी दशाको जाननेवाले हैं ऐसे वे विद्वानपुरुष कभी भी स्नान तथा चंदनादिके लेपोंसे शरीरको शुद्ध बनानेका प्रयत्न नहीं करते॥३॥

तिक्तेक्ष्वाकुफलोपमं वपुरिदं नैवोपभोग्यं नृणां स्याच्चेन्मोहकुजन्मरन्ध्ररहितं शुष्कं तपोधर्मतः ।
नांते गौरवितं तदा भवनदीतीरे क्षमं जायते तत्तत्र नियोजितं वरमथासारं सदा सर्वथा ॥ ४ ॥

अर्थः—मनुष्योंका शरीर कड़वी तूमड़ीके समान है इसलिये वह सर्वथा उपयोग करनेके योग्य नहीं है यदि यही शरीर मोह तथा खोटे जन्मरूपी छिद्रोंकर रहित होवे और तपरूपी धूप से सूखा हुवा होवे और अंतरंगमें अभिमान करके सहित न होवे तो यह संसाररूपी नदीसे पारकरनेमें समर्थ हो सकता है इसलिये उस शरीरमें उत्कृष्टभी चंदन आदि लगाना सदा सर्वथा असारही है ।

भावार्थः—जिस प्रकार तूंबी कड़वी होनेके कारण उपभोग योग्य नहीं होती और यदि वही तूंबी छिद्र

१ पुस्तक में तिक्तेक्ष्वाक यह भी पाठ है ॥

कर रहित होवे तथा धूपसे सूखी हुई होवे और अंतरंगमें भारी न होवे तो नदी के पार होनेमें समर्थ होती है उसी प्रकार यह शरीर भी है क्योंकि यह भी तूंबीके समान कडुवा दुःखका देनेवाला है और यदि यही शरीर मोह तथा खोटे जन्मरूपी छेदोंकर रहित होवे। तपरूपी धूप से सूखा हुवा होवे और अंतरंगमें अभिमान कर सहित न होवे तो अवश्यही यह संसाररूपी नदी के पार होने में समर्थ हो सकता है अन्यथा असार है इसलिये भव्य जीवों को ऐसा ही प्रयत्न करना चाहिये कि जिससे उनका शरीर मोहादि छिद्रोंकर रहित होवे और तप सहित होवे तथा अंतरंगमें अभिमान करके सहित न होवे तभी उनको मोक्षकी प्राप्ति हो सकती है ॥४॥

मालिनी

भवतु भवतु यादृक् तादृगेतद्वपुर्मे हृदि गुरुवचनं चेदस्ति तत्तत्त्वदर्शि ।
त्वरितमसमसारानंदकंदायमाना भवति यदनुभावादक्षया मोक्षलक्ष्मीः ॥

अर्थः—वस्तुके वास्तविकस्वरूपका दिखानेवाला यदि गुरूका वचन मेरे मनमें विद्यमान है तो यह मेरा शरीर जैसारहै वैसारहै कोई चिंता नहीं क्योंकि मनमें विद्यमान उस श्रीगुरूके वचनके अनुभवसे ही बातकी बातमें असाधारण सर्वोत्तम आनंदको देनेवाली तथा अविनाशी मोक्षरूपी लक्ष्मी की प्राप्ति होती है ॥

भावार्थः—यदि मनमें गुरूका वचन विद्यमान न रहै और उससमय शरीर पुण्यकी संचयकरने वाली शुभक्रियाओं में न लगा हो तो उससमय चिंता अवश्य करनी चाहिये और यदि समस्तपदार्थोके वास्तविकस्वरूपका प्रकाशकरने वाला गुरूका वचन मनमें विद्यमान है तो शरीर चाहे कैसाभी रहे कोई चिंता नहीं क्योंकि उसगुरुके वचनके अनुभवसे ही दूसरी जगहपर न पायाजाय ऐसी सर्वोत्तम आनंदको देनेवाली तथा अविनाशी मोक्षरूपी लक्ष्मी की प्राप्ति होती है इसलिये जहां तक बने वहां तक भव्यजीवोंको गुरूके

वचनमें अवश्यही श्रद्धान रखना चाहिये ॥ ५ ॥

शार्दूलविक्रीडित।

पर्यन्ते कृमयोऽथ वन्हिवशतो भस्मैव मत्स्यादनात् विष्टा स्यादथवा वपुः परिणतिस्तस्येदृशी जायते।
नित्यं नैव रसायनादिभिरपि क्षय्येव यत्तत्कृते कः पापं कुरुते बुधोऽत्र भविता कष्टा यतो दुर्गतिः ॥

अर्थः—जिस शरीरकी अवस्था ऐसी होती है कि अंतसमयमें तो लटे पड़जाती हैं अथवा अग्निसे भस्म हो जाता है वा मछली आदिकोंके खानेसे विष्टास्वरूपमें परिणत हो जाता है और नित्य नहीं है तथा अनेक प्रकारकी रसायन आदिक खाने परभी नष्ट हो जाता है उस शरीरकेलिये ऐसा संसारमें कौन बुद्धिमान पुरुष होगा जो पाप करेगा जिस पापसे आगे अनेक प्रकारके दुःखोंको देनेवाली दुर्गति होवेगी।

भावार्थः—यदि यह शरीर अंत समयमें लट आदि कीड़ोंसे व्याप्त तथा अग्निसे भस्मस्वरूप और मछली आदिके खानेपर बिष्टास्वरूप, न होता तथा नित्य और रसायनादिके खानेसे विनाशीक न होता तबतो उस शरीरकेलिये अनेक प्रकारके पापोंका करना कोई खराब नहीं था किंतु यह शरीरतो मरणसमयमें अनेक प्रकारके कीड़ाओंसे व्याप्त हो जाता है तथा अग्निसे जलकर भस्म हो जाता है और जिससमय मछली आदिक जीव इसको खालेते हैं उससमय यह उनकी विष्टास्वरूपमें परिणत हो जाता है तथा नित्यभी यह नहीं है और अनेक प्रकारकी रसायन आदिकोंके खानेपरभी नष्ट होजाता है फिर ऐसा कौनसा बुद्धिमान होगा? जो इसकेलिये अनेकप्रकारके पापोंको संचय करैगा? क्योंकि पापोंसे अनेकप्रकारके दुःखोंको देनेवाली दुर्गति की आगामी भवोंमें प्राप्ति होती है ॥ ६ ॥

नो तीर्थं न जलं तदस्ति भुवने नान्यत्किमप्यस्ति तन्निश्शेषाशुचि येन मानववपुः साक्षादिदं शुध्यति ।
आधिव्याधिजरामृतिप्रभृतिभिर्व्याप्तं सदा तत्पुनः शश्वत्तापकरं यथास्य वपुषो नामाप्यसह्यं सताम् ॥

अर्थः—यह मनुष्योंका शरीर अत्यंततो अपवित्र है तथा सदा आधि व्याधि जरा मरण आदिक उपाधियोंसे व्याप्त है और सदा तापकाकरनेवाला है तथा सज्जनपुरुष इसका नाम श्रवणभी नहीं करसकते ऐसा यह मनुष्योंका शरीर है इसलिये इसखराब शरीरके शुद्धकरनेमें न तो कोई उत्तमतीर्थ इससंसारमें है और न कोई इसकी साक्षात् शुद्धिका करनेवाला जलहै तथा इनसे भिन्न और भी वस्तु कोई ऐसी नहीं है जो इसशरीरको वास्तविकरीतिसे शुद्ध करसके—

भावार्थः—बहुतसे भोले मनुष्य इसअत्यत अपवित्र शरीरकी वास्तविकदशाको न जानकर दूसरोंके कहनेसुननेसे प्रयाग आदि तीर्थोंमें गंगाआदि नदियोंमें स्नानकर इसको पवित्र समझलेते हैं तथा कोई २ कूवें आदिके जलको ही गंगा आदिका जलमानकर तथा उसजलसे स्नानकर इसको पवित्र समझलेते हैं तथा कोई कोई तीर्थजलसे भिन्न रज आदि लगाकर ही अपने शरीरको पवित्रमानलेते हैं किन्तु आचार्यवर कहतेहैं कि यह उनमनुष्योंकी बड़ीभारी भूल है क्योंकि यह शरीर इतना अपवित्रहै कि इसकी बराबर संसारमें कोई चीज अपवित्र नहीं तथा यह शरीर अनेकप्रकारकी आधि ज्वर आदिक व्याधि वृद्धावस्था मरण आदि दुःखोंका घर है अर्थात् इसीके संबंधसे मनुष्योंको अनेकप्रकारके आधि व्याधि आदिक सहने पड़ते हैं तथा यह जीवोंको अनेकप्रकारके सतापोंका भी करनेवाला है इसलिये ऐसे निकृष्ट इसशरीरके पवित्र करनेके लिये इससंसारमें नतो कोई तीर्थ है तथा कोई जलभी नहीं है और इनसे भिन्न और भी कोई ऐसी चीज नहीं है जो इसशरीरको पवित्र करसके इसलिये सज्जनोंको चाहिये कि वे प्रयाग आदि तीर्थोंको तथा गंगा

वचनमें अवश्यही श्रद्धान रखना चाहिये ॥ ५ ॥

शार्दूलविक्रीडित।

पर्यन्ते कृमयोऽथ वन्हिवशतो भस्मैव मत्स्यादनात् विष्टा स्यादथवा वपुः परिणतिस्तस्येदृशी जायते।
नित्यं नैव रसायनादिभिरपि क्षय्येव यत्तत्कृते कः पापं कुरुते बुधोऽत्र भविता कष्टा यतो दुर्गतिः॥

अर्थः—जिस शरीरकी अवस्था ऐसी होती है कि अंतसमयमें तो लटे पड़जाती हैं अथवा अग्निसे भस्म हो जाता है वा मछली आदिकोंके खानेसे विष्टास्वरूपमें परिणत हो जाता है और नित्य नहीं है तथा अनेक प्रकारकी रसायन आदिक खाने परभी नष्ट हो जाता है उस शरीकेलिये ऐसा संसारमें कौन बुद्धिमान पुरुष होगा जो पाप करेगा जिस पापसे आगे अनेक प्रकारके दुःखोंको देनेवाली दुर्गति होवेगी।

भावार्थः—यदि यह शरीर अंत समयमें लट आदि कीड़ोंसे व्याप्त तथा अग्निसे भस्मस्वरूप और मछली आदिके खानेपर बिष्टास्वरूप, न होता तथा नित्य और रसायनादिके खानेसे विनाशीक न होता तबतो उस शरीरकेलिये अनेक प्रकारके पापोंका करना कोई खराब नहीं था किंतु यह शरीरतो मरणसमयमें अनेक प्रकारके कीड़ाओंसे व्याप्त हो जाता है तथा अग्निसे जलकर भस्म हो जाता है और जिससमय मछली आदिक जीव इसको खालेते हैं उससमय यह उनकी विष्टास्वरूपमें परिणत हो जाता है तथा नित्यभी यह नहीं है और अनेक प्रकारकी रसायन आदिकोंके खानेपरभी नष्ट होजाता है फिर ऐसा कौनसा बुद्धिमान होगा? जो इसकेलिये अनेकप्रकारके पापोंको संचय करैगा? क्योंकि पापोंसे अनेकप्रकारके दुःखोंको देनेवाली दुर्गति की आगामी भवोंमें प्राप्ति होती है ॥ ६ ॥

रूपी विषका फैलाव फैलगया है। इसलिये ये अत्यंत दुःखी हैं तथा इनकी सम्यग्दर्शन रूपी दृष्टिभी बंद होरही है। इसलिये आचार्यवर इनको उपदेश देते हैं कि हे भव्यजीवो यदि उसविषको नाशकर तुम सुखी होना चाहते हो तो यहकामकरो कि श्रीमान् मुनिपद्मनंदिके (हमारे) मुखरूपी चंद्रमासे निकले हुवे इस स्नानाष्टक रूपी अमृतका पानकरो जिससे तुम सुखी होजावो तथा तुम्हारे ऊपर मोहरूपी सर्पके काटने से उत्पन्न हुवा जो मिथ्यात्वरूपी विष वह सर्वथा नष्ट होजावे ॥

इसप्रकार श्रीपद्मनंदिद्वाराविरचितश्रीपद्मनंदिपचविंशतिकानामकग्रंथमें
स्नानाष्टकनामक अधिकार समाप्तहुवा ।

अथ ब्रह्मचर्याष्टकम् ।

भवविवर्धनमेव यतो भवेदधिकदुःखकरं चिरमंगिनाम् ।
इति निजांगनयापि न तन्मतं मतिमतां सुरतं किमतोन्यथा ॥ १ ॥

अर्थः—जिस मैथुनके करनेसे संसारकीही वृद्धि होती है तथा जो मैथुन समस्तजीवोंको अत्यंतदुःखका देनेवाला है इसलिये सज्जनपुरुषोंने उसको अपनी स्त्रीके साथकरना भी ठीक नहीं मानाहै वे सज्जन दूसरी स्त्रियोंसे अथवा अन्यप्रकारसे उसको कैसे अच्छा मानसकते हैं ?

भावार्थः—मैथुनके करनेसे अनेकप्रकारके कीड़ोंका विघात होताहै तथा विघातसे हिंसाहोती है और हिंसासे कर्मोंका बंध होता है तथा कर्मोंके बंधसे इसपंचपरावर्तनरूप संसारमें घूमना पड़ता है इसलिये मैथुनके करनेसे केवल संसारकी वृद्धि ही है तथा मैथुनके करनेसे मनुष्योंको नानाप्रकारके दुःखोंका सामना करना

पड़ता है इसलिये मैथुन समस्तजीवोंको अधिक दुःखका देनेवाला है ऐसा भलीभांति समझकर जिनसज्जन पुरुषोंने उसमैथुनको अपनी स्त्रीके साथभी करना अनुचित समझा है वे सज्जनपुरुष दूसरीं स्त्रियोंसे तथा अन्य प्रकारसे मैथुन करना कैसे योग्य समझ सकते हैं ॥ १ ॥

पशव एव रते रतमानसा इति बुधैः पशुकर्म तदुच्यते ।
अभिधया ननु सार्थकयानया पशुगतिः पुरतोस्य फलं भवेत् ॥ २ ॥

अर्थः—जो मनुष्य मैथुनकरनेके अत्यंत अभिलाषी हैं वे साक्षात् पशु ही हैं क्योंकि जो वास्तविकरीतिसे पदार्थोंके गुणदोषोंको विचारनेवाले हैं ऐसे बुद्धिमानोंने इसमैथुनको पशुकर्मकहा है सो इसमैथुनको पशुकर्म कहना सर्वथा ठीकही है क्योंकि मैथुनकरनेवाले मनुष्योंको मैथुनकर्मसे आगे पशुगति ही होती है ।

भावार्थः—मैथुनको विद्वानलोगोंने पशुकर्म इसलिये कहाहै कि जिसप्रकार पशुओंका काम हित तथा अहितकर रहित होता है उसीप्रकार इसमैथुनमें भी मनुष्य बिना इसके गुणदोषविचारेही प्रवृत्त होजाता है इसलिये इसप्रकारके मनुष्य जोकि सदा मैथुनकीही इच्छाकरनेवाले हैं और उसमें उत्तरोत्तर अभिलाषाको वढातेही जाते हैं वे साक्षात् पशुही है तथा विद्वानलोगोंने जो इसमैथुनको पशुकर्मसंज्ञादी है सो बिलकुल ठीकही है क्योंकि जो मनुष्य बड़ी लालसापूर्वक इसमैथुनकर्मके करनेवाले हैं उनको आगेभवमें जाकर पशुगति ही मिलती है इसलिये आगे जाकर इसमैथुनकर्मकाफल पशुगतिकी प्राप्ति ही है ॥ २ ॥

यदि भवेदवलासु रतिः शुभा किल निजासु सतामिह सर्वथा ।
किमिति पर्वसु सा परिवर्जिता किमिति वा तपसे सततं बुधैः ॥ ३ ॥

अर्थः—आचार्य कहते हैं कि सज्जनपुरुषोंको यदि अपनी स्त्रियोंके साथ मैथुनकर्मकरना शुभ होता

आदिनदियोंके जलोंको और रजआदि दूसरी वस्तुओंको भी इससर्वथा अपवित्र शरीरकी शुद्धिमें कारण न समझे किन्तु इनको उलटे अपवित्र करनेवाले ही समझे ॥ ५ ॥

सर्वैस्तीर्थजलैरपि प्रतिदिनं स्नानं न शुद्धं भवेत् कर्पूरादिविलेपनैरपि सदा लिप्तं च दुर्गंधभृत् ।
यत्नेनापि च रक्षितं क्षयपथप्रस्थायि दुःखप्रदं यत्तस्माद्वपुषः किमन्यदशुभं कष्टं च किं प्राणिनाम् ॥

अर्थः—संसारमें जितने प्रयागआदि तीर्थ हैं। तथा जितनी उनतीर्थोंमें गंगाआदिक विशाल २ नदियां हैं। यदि उनसबनदियोंके जलसे धोयाभी जावे तो भी यह शरीर शुद्ध नहीं होसकता। तथा अत्यंत सुगन्धित कपूर आदि पदार्थोंसे भी यदि इसके ऊपर लेप कियाजावे तौ भी यह सुगन्धयुक्त नहीं होता। किन्तु उल्टा दुर्गंधयुक्त ही होजाता है और इसकी अनेकप्रकारोंसे यदि रक्षाभी की जाय तोभी यह शीघ्रही नष्ट होजाता है। तथा यह शरीर नानाप्रकारके दुःखोंको भी देनेवाला है इसलिये जीवोंको इसशरीरसे अधिक न तो कोई अशुभ है तथा कष्टका देनेवाला भी कोई इससे अधिक नहीं है ॥

भावार्थः—वहुतसे मनुष्य यह समझते हैं कि जलसे स्नान करनेपर यह शरीर शुद्ध होजायगा किन्तु आचार्य इसवातका उपदेश देतेहैं कि अरेभाई थोडेसे जलकी तो क्या बात है यदि समस्ततीर्थोंके जलसे भी इसशरीरको धोयाजावे तोभी यह रंचमात्र भी शुद्ध नहीं होता। तथा बहुतसे यह जानते हैं कि अतर फुलेल कपूर आदिकसे लिप्त करैं तो यह सुगंधियुक्त होजायगा किंतु आचार्य इसवातको पुकार २ कर कहते हैं कि इस दुर्गंधमय शरीरसे चाहैं जितना अतर लगायाजाय। चाहैं जितना फुलेल लगायाजाय और कपूरभी खूब लगायाजाय, तोभी यह शरीर अंशमात्र भी सुगंधित नहीं होसकता किंतु उल्टा और दुर्गंधमयही होता चलाजाता है। तथा वहुतसे मनुष्य यह समझते हैं कि यह हमारा शरीर सदाकाल कायम रहे इसलिये वे इसके

लिये नानाप्रकारके प्रयत्न करते हैं इसकी रक्षाके उपायों को सोचते हैं तोभी जिसप्रकार विजली क्षणमात्रमें चमककर नष्ट होजाती है उसीप्रकार यह शरीर भी क्षणमात्र में नष्ट होजाता है। तथा शरीरसे ही मनुष्योंको इससंसारमें नानाप्रकारके दुःखोंका सामना करना करना पड़ता है इसलिये संसारमें इस शरीरसे अधिक न तो कोई प्राणियोंके लिये अशुभपदार्थ है और न कोई उनको इसशरीरसे अधिक कष्टकाही देनेवाला है इसलिये भव्यजीवोंको चाहिये कि वे न तो इसशरीरको जल आदिसे शुद्ध माने और अत्र फुलेल कपूर आदिसे सुगंधित भी न समझै तथा इसको क्षणभरमें विनाशीक समझकर इसकी रक्षाका भी उपाय न करैं। नहीं तो उनको पीछे जरूरही पछिताना पड़ेगा ॥ ७ ॥

तंभव्या भूरिभवार्चितोदितमहादृङ्मोहसर्पोल्लसन्मिथ्याबोधविषप्रसंगविकला मंदीभवद्दृष्टयः।
श्रीमत्पंकजनंदिवक्त्रशशिभृद्बिंबप्रसूतं परं पीत्वा कर्णपुटैर्भवंतु सुखिनः स्नानाष्टकाख्यामृतम् ॥८॥

अर्थः—अनेक भवोंमें जिसका उपार्जन कियागया है ऐसा जो प्रबल दर्शनमोहरूपी महासर्प उसके काटने से तमाम शरीरमें फैलाहुवा जो मिथ्यात्वरूपी विष उसके संबन्धसे जो अत्यन्त दुःखित हैं तथा जिनका सम्यग्दर्शन मंदहोगया है ऐसे जो मनुष्य हैं वे श्रीमान् पद्मनंदीआचार्यके मुखरूपी चंद्रमासे निकलाहुवा जो यह स्नानाष्टकरूपी अमृत है उसको अपने कानोंसे पीकर सुखी होवें।

भावार्थः—जिससमय किसीमनुष्यको कालानाग काटलेता है उससमय उसको बड़ा दुःख होता है तथा समस्तशरीरमें विषके फैलजानेसे उसमनुष्यकी दृष्टि वंद होजाती है। यदि वही मनुष्य कहींसे अमृतको पाकर पान करजावे तो उसका विष सर्वथा नष्ट होजाता है उसीप्रकार इनजीवोंको भी अत्यंत भयंकर तथा वलवान दर्शन मोहरूपी सर्पने काटलिया है तथा दर्शनमोहरूपी सर्पके काटनेसे इनकी आत्मामें मिथ्यात्व

नो तीर्थं न जलं तदस्ति भुवने नान्यत्किमप्यास्ति तन्निश्शेषाशुचि येन मानववपुः साक्षादिदं शुध्यति ।
आधिव्याधिजरामृतिप्रभृतिभिर्व्याप्तं सदा तत्पुनः शश्वत्तापकरं यथास्य वपुषो नामाप्यसह्यं सताम् ॥

अर्थः—यह मनुष्योंका शरीर अत्यंततो अपवित्र है तथा सदा आधि व्याधि जरा मरण आदिक उपाधियोंसे व्याप्त है और सदा तापकाकरनेवाला है तथा सज्जनपुरुष इसका नाम श्रवणभी नहीं करसकते ऐसा यह मनुष्योंका शरीर है इसलिये इसखराब शरीरके शुद्धकरनेमें न तो कोई उत्तमतीर्थ इससंसारमें है और न कोई इसकी साक्षात् शुद्धिका करनेवाला जलहै तथा इनसे भिन्न और भी वस्तु कोई ऐसी नहीं है जो इसशरीरको वास्तविकरीतिसे शुद्ध करसके—

भावार्थः—बहुतसे भोले मनुष्य इसअत्यंत अपवित्र शरीरकी वास्तविकदशाको न जानकर दूसरोंके कहनेसुननेसे प्रयाग आदि तीर्थोंमें गंगाआदि नदियोंमें स्नानकर इसको पवित्र समझलेते हैं तथा कोई २ कूवे आदिके जलको ही गंगा आदिका जलमानकर तथा उसजलसे स्नानकर इसको पवित्र समझलेते हैं तथा कोई कोई तीर्थजलसे भिन्न रज आदि लगाकर ही अपने शरीरको पवित्रमानलेते हैं किन्तु आचार्यवर कहतेहैं कि यह उनमनुष्योंकी बड़ीभारी भूल है क्योंकि यह शरीर इतना अपवित्रहै कि इसकी बराबर संसारमें कोई चीज अपवित्र नहीं तथा यह शरीर अनेकप्रकारकी आधि ज्वर आदिक व्याधि वृद्धावस्था मरण आदि दुःखोंका घर है अर्थात् इसीके संबंधसे मनुष्योंको अनेकप्रकारके आधि व्याधि आदिक सहने पड़ते हैं तथा यह जीवोंको अनेकप्रकारके संतापोंका भी करनेवाला है इसलिये ऐसे निकृष्ट इसशरीरके पवित्र करनेके लिये इससंसारमें नतो कोई तीर्थ है तथा कोई जलभी नहीं है और इनसे भिन्न और भी कोई ऐसी चीज नहीं है जो इसशरीरको पवित्र करसके इसलिये सज्जनोंको चाहिये कि वे प्रयाग आदि तीर्थोंको तथा गंगा

॥५०४॥

लिये नानाप्रकारके प्रयत्न करते हैं इसकी रक्षाके उपायों को सोचते हैं तोभी जिसप्रकार विजली क्षणमात्रमें चमककर नष्ट होजाती है उसीप्रकार यह शरीर भी क्षणमात्र में नष्ट होजाता है। तथा शरीरसे ही मनुष्योंको इससंसारमें नानाप्रकारके दुःखोंका सामना करना करना पड़ता है इसलिये संसारमें इस शरीरसे अधिक न तो कोई प्राणियोंके लिये अशुभपदार्थ है और न कोई उनको इसशरीरसे अधिक कष्टकाही देनेवाला है इसलिये भव्यजीवोंको चाहिये कि वे न तो इसशरीरको जल आदिसे शुद्ध माने और अत्र फुलेल कपूर आदिसे सुगंधित भी न समझै तथा इसको क्षणभरमें विनाशीक समझकर इसकी रक्षाका भी उपाय न करैं। नहीं तो उनको पीछे जरूरही पछिताना पड़ेगा ॥ ७ ॥

तंभव्या भूरिभवार्चितोदितमहादृङ्मोहसर्पोल्लसन्मिथ्याबोधविषप्रसंगविकला मंदीभवद्दृष्टयः।
श्रीमत्पंकजनंदिवक्त्रशशिभृद्बिंबप्रसूतं परं पीत्वा कर्णपुटैर्भवंतु सुखिनः स्नानाष्टकाख्यामृतम् ॥८॥

अर्थः—अनेक भवोंमें जिसका उपार्जन कियागया है ऐसा जो प्रवल दर्शनमोहरूपी महासर्प उसके काटने से तमाम शरीरमें फैलाहुवा जो मिथ्यात्वरूपी विष उसके संबन्धसे जो अत्यन्त दुःखित हैं तथा जिनका सम्यग्दर्शन मंदहोगया है ऐसे जो मनुष्य हैं वे श्रीमान् पद्मनंदीआचार्यके मुखरूपी चंद्रमासे निकलाहुवा जो यह स्नानाष्टकरूपी अमृत है उसको अपने कानोंसे पीकर सुखी होवें।

भावार्थः—जिससमय किसीमनुष्यको कालानाग काटलेता है उससमय उसको बड़ा दुःख होता है तथा समस्तशरीरमें विषके फैलजानेसे उसमनुष्यकी दृष्टि वंद होजाती है। यदि वही मनुष्य कहींसे अमृतको पाकर पान करजावे तो उसका विष सर्वथा नष्ट होजाता है उसीप्रकार इनजीवोंको भी अत्यंत भयंकर तथा वलवान दर्शन मोहरूपी सर्पने काटलिया है तथा दर्शनमोहरूपी सर्पके काटनेसे इनकी आत्मामें मिथ्यात्व

होता है किंतु यत्किंचित् बाह्य शुद्धिकेलिये ही होता है ॥ २ ॥

चित्ते प्राग्भवकोटिसंचितरजः संबंधिताविर्भवन्मिथ्यात्वादिमलव्यपायजनकः स्नानं विवेकः सताम् ॥
अन्यद्वारिकृतं तु जन्तुनिकरव्यापादनात्पापकृत्, नो धर्मो न पवित्रता खलु ततः काये स्वभावाशुचौ ॥

अर्थः—पूर्वभवोंमें उपार्जन कियेहुए जो करोड़ोंपाप उनके संबंधसे प्रकट होतेहुए जो मिथ्यात्वादिक मल उनके नाशको करनेवाला सज्जनोंके चित्तमें जो विवेक है वही स्नान है किंतु इससे भिन्न जो जलसे कियाहुआ स्नान है व अनेकजीवोंके विध्वंस करनेवाला होनेसे पापका ही करनेवाला है क्योंकि स्वभावसे ही अपवित्र इस शरीरमें न तो स्नानसे ही पवित्रता हो सकती है और न धर्म ही हो सकता है।

भावार्थः—शुद्धिका अर्थ निर्मलता है और निर्मलता उसीसमय हो सकती है जिससमय समस्त मलों का नाश हो जावे जलसे कियाहुआ जो स्नान है उससे निर्मलता नहीं होती है किंतु मलोंकी (पापोंकी) ही उत्पत्ति होती है क्योंकि जलस्नानके होनेपर अनेक जीवोंका विध्वंस होता है और उससे पापकी उत्पत्ति होती है। किंतु सज्जनोंके चित्तमें जो हिताहितका विवेक है वही स्नान है क्योंकि वही स्नान सर्वभवोंमें उपार्जन कियेहुए जो करोड़ोंपाप उनपापोंसे उत्पन्नहुआ जो मिथ्यात्व आदिक मल उसमलका सर्वथा नाश करने वाला है इसलिये जो मनुष्य स्नानसे शुद्धि मानते है उनको चित्तमें जो हिताहितका विवेक वह विवेक ही परम-शुद्धिका कारण स्नान है ऐसा भलीभांति समझना चाहिये ॥ ३ ॥

सम्यग्बोधविशुद्धवारिणि लसत्सद्दर्शनोर्मिव्रजे नित्यानंदविशेषशैत्यसुभगे निश्शेषपापद्रुहि ॥
सत्तीर्थे परमात्मनामनि सदा स्नानं कुरुध्वं बुधाः शुद्ध्यर्थं किमु धावत त्रिपथगामालाप्रयासाकुलः ॥

अर्थः—भोभव्यजीवो जिसमें सम्यग्ज्ञानरूपी अत्यंत निर्मलजल मौजूद है तथा जिसमें देदीप्यमान अनेक

तरंगे विद्यमान हैं और सदा आनंदको देनेवाली उत्तम शीतलताकर मनोहर है और जो समस्त पापोंका नाश करनेवाला है ऐसे इस परमात्मा नामक उत्तम तीर्थमें ही सदा स्नान करो अनेक प्रकारके प्रयत्नोंसे व्याकुल होकर क्यों शुद्धताकेलिये प्रयाग आदिक तीर्थोंमें गंगा आदिक नदियोंपर भटकते फिरते हो ।

भावार्थः—बहुतसे भोलेप्राणी शुद्धिके अर्थ स्नानकेलिये प्रयाग आदि तीर्थोंमें गंगा आदि तीर्थोंपर भटकते फिरते हैं किंतु परम करुणाके धारी आचार्य उनपर करुणाकर उपदेश देते हैं कि यदि तुम शुद्धिके लिये तीर्थमें स्नान करनेकी इच्छा रखते हो तो तुम इस परमात्मारूपी उत्तम तीर्थमें ही स्नान करो क्योंकि जिसप्रकार प्रयाग आदि तीर्थोंमें गंगाआदि नदियोंका जल रहता है उसीप्रकार इस परमात्मारूपी तीर्थमें भी सम्यग्ज्ञानरूपी उत्तम पवित्र जल मौजूद है तथा जिसप्रकार प्रयागआदि तीर्थोंमें गंगाआदि नदियोंका जल मनोहर लहरोंकर सहित होता है उसीप्रकार इस परमात्मारूपीतीर्थमें भी सम्यग्दर्शनआदि उत्तम तरंगोंका समूह मौजूद है तथा जिसप्रकार प्रयागआदि तीर्थ गंगाआदि नदियोंके जलसे शीतल रहते हैं उसीप्रकार यह परमात्मारूपी तीर्थ भी सदा जो आनंदविशेष वही हुई शीतलता उसकर मनोहर है तथा यह आत्मारूपीतीर्थ समस्त पापोंका नाश करनेवाला है अर्थात् जो पुरुष उसमें गोता मारनेवाले हैं उनकी आत्माके साथ किसीप्रकारके कर्ममलका संबंध नहीं रहता है इसालिये यही समस्त तीर्थोंमें उत्तम तीर्थ है किंतु जो वास्तविक तीर्थ नहीं केवल तीर्थके समान मालूम पड़ते हैं ऐसे प्रयागआदि तीर्थोंमें गंगाआदि नदियोंपर तुम क्यों व्यर्थ स्नान करते हैं।

नो दृष्टः शुचितत्त्वनिश्चयनदो न ज्ञानरत्नाकरः पापैः क्वापि न दृश्यते च समतानामातिशुद्धा नदी ॥
तेनैतानि विहाय पापहरणे सत्यानि तीर्थानि ते तीर्थाभाससुरापगादिषु जडा मज्जंति तुष्यंति च ॥

अर्थः—मूर्खलोगोंने अपने पापों तथा दुर्भाग्योंकी कृपासे न तो पवित्र निश्चयरूपी तालाबको देखा है

और न ज्ञानरूपी समुद्र उनकी नजर पड़ा है तथा कहींपर उन्होंने समतारूपी शुद्ध नदीको भी नहीं देखा है इसीलिये वे मूर्खपुरुष पापोंके सर्वथा नाश करनेवाले इन पवित्र तीर्थोंको छोड़कर जो वास्तविक तीर्थ नहीं है तीर्थाभास अर्थात् तीर्थोंके समान मालूम पडते हैं ऐसे गंगाआदि तीर्थोंमें स्नान करते हैं और स्नान करके अपनेको अत्यत संतुष्ट मानते हैं ।

भावार्थः—यदि निश्चयनयसे देखाजावे तो सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्ररूपी नदीमें भलीभांति स्नानकरनेसे समस्त पापोंका नाशहोता है किन्तु इनसे भिन्न नदियोंमें स्नानकरनेसे थोड़ेभी पापोंका नाश नहीं होता किन्तु जो पुरुष पापी है मूर्खहै इसालिये अपने पापोंकी तीव्रतासे अथवा दुर्भाग्योंसे जिन्होंने सम्यग्दर्शनरूपी तालाबको नहीं देखा है तथा सम्यग्ज्ञानरूपी समुद्रभी जिनकी नजरनहीं पड़ा है और अत्यंतशुद्ध समतारूपी नदीकी ओरभी जो झांककर नहीं देखसके हैं वेही ऐसे समस्तपापोंके नाशकरनेवाले पवित्र तीर्थोंको छोड़कर सदा पापके संचयकरनेवाले तथा जो तीर्थ नहीं है (तारनेवाले नहीं हैं) किंतु उल्टे संसारमें डुबानेवाले होनेकेकारण तीर्थके समानमालूम पड़ते हैं ऐसे गंगा त्रिवेणी आदि तीर्थोंको ही उत्तमतीर्थ मानकर उनमें स्नानकरते हैं तथा उनमें स्नानकर अपनेके संतुष्ट मानते हैं तथा कृतकृत्यमानते हैं यह बड़ी भारी भूल है इसालिये जो सर्वथा पापोंका नाशकरना चाहते हैं सुखी होना चाहते हैं उनको चाहिये कि वे समस्तपापोंके नाशकरनेवाले तथा परम पवित्र सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्ररूपी नदियोंमें ही स्नानकरैं और इन्हींको परमतीर्थ समझें किन्तु इनसे भिन्न गंगा आदि नदियोंकीओर झांककरभी नहीं देखै और उनको तीर्थ न समझकर सर्वथा तीर्थाभास ही समझै ॥ ५ ॥

नो तीर्थं न जलं तदस्ति भुवने नान्यत्किमप्यस्ति तन्निश्शेषाशुचि येन मानववपुः साक्षादिदं शुध्यति ।
आधिव्याधिजरामृतिप्रभृतिभिर्व्याप्तं सदा तत्पुनः शश्वत्तापकरं यथास्य वपुषो नामाप्यसह्यं सताम् ॥

अर्थः——यह मनुष्योंका शरीर अत्यंततो अपवित्र है तथा सदा आधि व्याधि जरा मरण आदिक उपाधियोंसे व्याप्त है और सदा तापकाकरनेवाला है तथा सज्जनपुरुष इसका नाम श्रवणभी नहीं करसकते ऐसा यह मनुष्योंका शरीर है इसलिये इसखराब शरीरके शुद्धकरनेमें न तो कोई उत्तमतीर्थ इससंसारमें है और न कोई इसकी साक्षात् शुद्धिका करनेवाला जलहै तथा इनसे भिन्न और भी वस्तु कोई ऐसी नहीं है जो इसशरीरको वास्तविकरीतिसे शुद्ध करसके——

भावार्थः——बहुतसे भोले मनुष्य इसअत्यंत अपवित्र शरीरकी वास्तविकदशाको न जानकर दूसरोंके कहनेसुननेसे प्रयाग आदि तीर्थोंमें गंगाआदि नदियोंमें स्नानकर इसको पवित्र समझलेते हैं तथा कोई २ कूवें आदिके जलको ही गंगा आदिका जलमानकर तथा उसजलसे स्नानकर इसको पवित्र समझलेते हैं तथा कोई कोई तीर्थजलसे भिन्न रज आदि लगाकर ही अपने शरीरको पवित्रमानलेते हैं किन्तु आचार्यवर कहतेहैं कि यह उनमनुष्योंकी बड़ीभारी भूल है क्योंकि यह शरीर इतना अपवित्रहै कि इसकी बराबर संसारमें कोई चीज अपवित्र नहीं तथा यह शरीर अनेकप्रकारकी आधि ज्वर आदिक व्याधि वृद्धावस्था मरण आदि दुःखोंका घर है अर्थात् इसीके संबंधसे मनुष्योंको अनेकप्रकारके आधि व्याधि आदिक सहने पड़ते हैं तथा यह जीवोंको अनेकप्रकारके संतापोंका भी करनेवाला है इसलिये ऐसे निकृष्ट इसशरीरके पवित्र करनेके लिये इससंसारमें नतो कोई तीर्थ है तथा कोई जलभी नहीं है और इनसे भिन्न और भी कोई ऐसी चीज नहीं है जो इसशरीरको पवित्र करसके इसलिये सज्जनोंको चाहिये कि वे प्रयाग आदि तीर्थोंको तथा गंगा

संसारस्तनुयोग एष विषयो दुःखान्यतो देहिनो वन्हेर्लोहसमाश्रितस्य घनतो घातो यथा निष्ठुरात्[1]।
त्याज्या तेन तनुर्मुमुक्षुभिरियं युक्त्या महत्या तया नो भूयोपि यथात्मनो भवकृते तत्सन्निधिर्जायते ॥

अर्थः—जिसप्रकार लोहके आश्रित अग्निको अत्यंत कठिन घनसे घात (चोट) सहने पड़ते हैं उसी प्रकार शरीरके संबन्धसे यह संसार होता है और संसारसे जीवोंको अनेकप्रकारके दुःख भोगने पड़ते हैं इसलिये जो भव्यजीव मुमुक्षु हैं अर्थात् मोक्षके अभिलाषी हैं उनको ऐसी किसी बड़ीभारी युक्तिकेसाथ इसशरीरका त्याग करदेना चाहिये कि जिससे पुनः इस आत्माको संसारमें भ्रमण करानेकेलिये इसशरीरका संबंध न होवे ॥

भावार्थः—जिससमय लोहपिंड अग्निमें रखदिया जाता है और जब वह अग्निस्वरूप परिणत होजाता है उससमय जिसप्रकार उसलोहके पिंडके साथ २ उस अग्निपरभी अत्यन्त कठोर घनके द्वारा अनेक चोटें पड़ती हैं उसीप्रकार जबतक इसशरीरका संबंध रहता है तबतक जीवोंको नाना प्रकारके दुःखोंका सामना करनापड़ता है क्योंकि इसशरीरके संबंधसे जीव नानाप्रकारके पापोंका उपार्जन करता है और उनपापोंसे उसको इसचतुर्गतिस्वरूप संसारमें घूमना पड़ता है और संसारमें घूमनेसे उसको अनेक प्रकारके दुःख भोगने पड़ते हैं इसलिये आचार्यवर उपदेशदेते हैं कि जो मनुष्य मुमुक्षु हैं अर्थात् संसारके दुःखोंसे छूटकर मोक्षको जाना चाहते हैं उनको चाहिये कि वे ऐसी किसी बड़ीभारी युक्तिसे इस शरीरका त्यागकरैं कि फिरसे अनेक भावोंमें भ्रमण करानेवाले इसशरीरका आत्माके साथ संबंध न होवे ॥ ७ ॥

रक्षापोषविधौ जनोस्य वपुषः सर्वः सदैवोद्यतः कालादिष्टजरा करोत्यनुदिनं तज्जर्जरं चानयोः ।
स्पर्द्धामाश्रितयोर्द्वयोर्विजयनी सैका जरा जायते साक्षात्कालपुरस्सरा यदि तदा कास्था स्थिरत्वे नृणाम्॥

1 ख पुस्तक म घाताग्रतो निष्ठुरात् यह भी पाठ है ॥

अर्थः—यह मनुष्यतो इसशरीरकी रक्षाकरनेमें तथा पोषण करनेमें सदा लगारहता है परंतु कालकी आज्ञाकारिणी दासी यह वृद्धावस्था सदा उसशरीरको जर्जरित्त अर्थात् छिन्नाभिन्न करती रहती है और यदि आपसमें ईर्षा द्वेष करनेवाले ऐसे इन जन्ममरणोंके मध्यमें काल है आगे जिसके ऐसी सबको जीतनेवाली यह वृद्धावस्था मोजूद है तो यह शरीर सदाकाल रहैगा ऐसा मनुष्योंको क्या दृढ विश्वास है ? ॥

भावार्थः—यदि इसशरीरको रातदिन उजाड़नेवाली यह कालकी दासी वृद्धावस्था न होती तबतो मनुष्योंका नानाप्रकारसे इसशरीरकी रक्षाकरना, दूध दही घी आदि स्निग्धपदार्थोंसे और इत्र फुलेल सुगंध लगाकर इसशरीरका पोषणकरना व्यर्थ न होता किंतु मनुष्यतो सदा इसशरीरका रक्षण करता रहता है और सदाही इसका पोषण करता रहता है तो भी यह दुष्टा जरा उसको उजाड़ती ही रहती है इसलिये सदा कियाहुवा भी रक्षण तथा पोषण इसशरीरका व्यर्थही होजाता है और यदि परस्परमें इर्षा रखनेवाले जन्म-मरणके मध्यमें सबको जीतनेवाली और जिसके आगे काल मोजूद है ऐसी वृद्धावस्था न होती तबतो मनु-ष्योंको, यह शरीर सदाकाल रहैगा कभीभी नाश नहीं होगा ऐसा विश्वास करना उचित होता लेकिन काल-की दासी सबोंको जीतनेवाली वृद्धावस्थातो जन्ममरणोंके बीचमें बैठी हुई है इसलिये क्या निश्चय है कि यह शरीर सदा काल रहेगा इसलिये जो मनुष्य वास्तविक तत्त्वके स्वरूपको जाननेवाले हैं उनको चाहिये कि वे इस शरीरको स्थिर समझकर व्यर्थ इसकी रक्षा तथा पोषण न करैं और यह स्थिर है यह भी न माने ॥ ८ ॥

इतिश्रीपद्मनंदि आचार्यद्वारा विरचित श्रीपद्मनंदिपंचविंशतिकामें शरीराष्टकनामक अधिकार समाप्त हुवा।

अथ स्नानाष्टकम् ।

शार्दूलविक्रीडित ।

सन्माल्यादि यदीयसन्निधिवशादस्पृश्यतामाश्रयेद्विण्मूत्रादिभृतं रसादिघटितं वीभत्सु यत्पूति च ।
आत्मानं मलिनं करोत्यपि शुचिं सर्वाशुचीनामिदं संकेतैकगृहं नृणां वपुरपां स्नानात् कथं शुद्ध्यति ॥

अर्थः—जिसशरीरके संबन्धमात्रसेही उत्तम सुगंधित पुष्पोंकी बनीहुई मालाभी स्पर्श करनेयोग्य नहीं रहती हैं और जो शरीर विष्टा मूत्र आदिकसे चौतर्फा भरा हुवा है और अनेकप्रकारके रस आदिकोंसे बना हुवा है और अत्यंत भयका करनेवाला है तथा दुर्गंधसे व्याप्त है और जो शरीर अत्यंत पवित्र भी आत्माको मलिन करदेता है और समस्ताजितनेभर संसारमें अपवित्र पदार्थ हैं उनसबका संकेत घर है ऐसा यह मनुष्योंका शरीर जलके स्नानसे कैसे शुद्ध होसकता है ? ॥

भावार्थः—अनेक मनुष्य ऐसा समझते हैं कि यह शरीर स्नानकरनेसे पवित्र होताहै लेकिन यह सर्वथा उनकी भूलही है क्योंकि जो मनोहर पुष्पोंकी माला अत्यंत सुगंधित तथा उत्तम होती है वह मालाभी एक समय इसशरीरके संबंधसेही ऐसी होजाती है कि औरकी तो क्या वात ? उसका स्पर्श भी नहीं कियाजाता है और स्वयं यह शरीर विष्टा मूत्र आदि निकृष्ट पदार्थोंका भंडार है तथा अनेकप्रकारके रसोंसे भराहुवा है और अत्यंत भयंकर तथा दुर्गन्धमय है और यद्यपि आत्मा पवित्र है लेकिन यह शरीर उस आत्माको भी अपवित्र बनालेता है और जितनेभर संसारमें अपवित्र पदार्थ हैं उनसबका स्थान यह शरीरही है इसलिये ऐसा निकृष्ट शरीर कैसे जलसे शुद्ध होसकता है ? कदापि नहीं होसकता ॥ १ ॥

॥४९९॥

आत्मातीव शुचिः स्वभावत इति स्नानं वृथास्मिन् परे कायश्चाशुचिरेव तेन शुचितामभ्येति नो जातुचित् ।
स्नानस्योभयथेत्यभूद्विफलता ये कुर्वते तत्पुनस्तेषां भूजलकीटकोटिहननात्पापाय रागाय च ॥

अर्थः—आत्मा तो स्वभावसे अत्यंत पवित्र है इसलिये इसआत्माके पवित्रकरनेकेलिये स्नान करना व्यर्थही है और शरीर सर्वथा अपवित्रही है यह कदापि पवित्र हो नहीं सकता इसलिये इसशरीरके पवित्र करनेकेलिये भी वह स्नान विना प्रयोजनका ही है अतः दोनों प्रकारसे स्नान विफलही है ऐसा सिद्धहुवा इसलिये ऐसा निश्चय होनेपर भी जो पुरुष स्नानको करते हैं उनमनुष्योंद्वारा कियाहुवा वह स्नान करोड़ों पृथ्वीकायके तथा जलकायके जीवोंके नाश होनेसे पापके तथा रागकेलिये ही होता है ॥

भावार्थः—यह बातविचारकरने योग्य है कि मनुष्य जो स्नान करते हैं वे किसचीजकी शुद्धिकेलिये स्नान करते हैं। कहोगे यदि आत्माकी शुद्धिकेलिये स्नान करते हैं तो उनका स्नान करना सर्वथा व्यर्थ ही है क्योंकि आत्मा स्वभावसेही अत्यंतशुद्ध है और जो स्वभावसे शुद्ध होता है उसको शुद्धकरनेवाले दूसरे पदार्थकी आवश्यकता नहीं होती यदि कहोगे कि शरीरकी शुद्धिकेलिये स्नान करते हैं तोभी स्नान करना सर्वथा निरर्थकही है क्योंकि जो पदार्थ सर्वथा अशुद्ध होता है वह कदापि शुद्ध हो नहीं सकता जिसप्रकार कोला कभीभी सफेद नहीं होसकता । शरीर सर्वथा अशुद्ध है इसलिये उसकी शुद्धता स्नानसे होनहीं सकती इसलिये स्नान शरीर तथा आत्मा दोनोंकेलिये सर्वथा विफलही है किंतु जो मनुष्य ऐसा समझकर भी स्नान करते हैं वे लोग पापका ही संचय करते हैं क्योंकि स्नानके करनेसे पृथ्वीकायके तथा जलकायके जीवोंका विध्वंस होता है और जीवोंके विध्वंससे पाप होता ही है यह बात सर्वसम्मत है। तथा स्नानके करनेसे राग भी बढ़ता है इसलिये मनुष्योंको यह कभी भी नहीं समझना चाहिये कि स्नान शरीर तथा आत्माकी शुद्धिकेलिये

उत्तम फलका देनेवाला होता तो वे अष्टमी चतुर्दशीआदि पर्वोंमें अपनी स्त्रीका त्याग क्यों करदेते तथा तपके समय भी उनअपनीस्त्रियोंको विद्वानलोग क्यों छोड़ देते ।

भावार्थः—जैनशास्त्रोंमें अष्टमी चतुर्दशी पर्वोंका बड़ाभारी माहात्म्य मानागया है तथा जिन२ भव्यजीवोंने इन पर्वोंमें यथायोग्य व्रतोंका पालनकिया है उनको अनेकप्रकारके उत्तमोत्तम फलोंकी प्राप्ति भी हुई हैं इसालिये उत्तमफलके अभिलाषी सज्जनपुरुप इनपर्वोंमें यथायोग्य भलीभांति व्रतोंका आचरण करते हैं जिससमय ये सज्जनपुरुष अष्टमी चतुर्दशी आदिपर्वोंमें उपवास आदि व्रतोंको धारण करते है उससमय वे परस्त्रियोंका त्यागतो करतेही हैं किंतु अपनीस्त्रियोंको भी सर्वथा त्यागकरदेते हैं इसीयुक्तिको लेकर आचार्य उपदेश देते हैं कि हे अत्यंतनिकृष्टमैथुनकर्मकेअभिलाषीपुरुषो ? यदि सज्जनोंको अपनी स्त्रियोंमें कीहुई प्रीति अथवा उनकेसाथ कियाहुआ मैथुन शुभफलका देनेवाला होता तो सज्जनपुरुष पर्वोंमें उपवास व्रतोंको धारण करतेसमय स्त्रियोंका क्यों सर्वथा त्यागकरदेते इसलिये मालूम होताहै कि अपनी स्त्रियोंकेसाथ कियाहुआ भी मैथुन किसीप्रकारके शुभफलोंका देनेवाला नहीं है तथा जिससमय सज्जनपुरुष संसारमें कामभोग आदिसे विरक्त होकर तपको जाते हैं उससमय सर्वथा स्त्रियोंका त्याग करकेही जाते हैं बताओ यदि स्त्रियोंकेसाथ मैथुन करनेसे जराभी शुभफलकी प्राप्ति होती तो सज्जनपुरुष तपके समय अपनी स्त्रियोंको साथ क्यों नहीं लेजाते इसलिये साफ मालूम होता हैं कि मैथुनकरनेसे थोड़ेसेभी उत्तमफलकी प्राप्ति नहीं होती ॥ ३ ॥

रतिपतेरुदयान्नरयोषितोरशुचिनोर्वपुषोः परिघट्टनात् ।
अशुचि सुष्ठुतरं तदितो भवेत्सुखलवे विदुषः कथमादरः ॥४॥

अर्थः—जिससमय कामकी उत्पात्ति होती है उससमय कामकी उत्पात्तिसे अत्यंत अपवित्र दोनोंशरीरोंका

आपसमें परिघट्टन अर्थात् घिसना होता है तथा उस परिघट्टनसे अत्यंत अपवित्र फलकी प्राप्ति होती है इस-लिये थोड़ेसे सुखकी प्राप्तिकेलिये विद्वानलोग कैसे उसमैथुनमें आदर करसकते हैं। कभी भी नहीं करसकते।

भावार्थः—यह नियम हैं कि कारण जैसा होता है कार्यभी वैसाही होता है यदि कारण अच्छा होवे तो कार्यभी उससे अच्छाही उत्पन्न होता है और यदि कारण खराब होवे तो कार्य भी उससे खराब ही उत्पन्न हुआ देखने में आता है मैथुन उस समय होता है जिस समय कामी दोंनों स्त्री पुरुषोंको कामकी अतितीव्रता होती है तथा तीव्रताके होने पर जब उन दोनोंके अत्यंत अपवित्र शरीरोंका आपसमें मिलाप होता है इस-लिये जब दोनों अपवित्र शरीरोंका मिलाप ही मैथुनकी उत्पत्तिमें कारण पड़ा तो समझना चाहिये कि मैथुन का एक अत्यंत खराब फल है इसलिये इसप्रकारके मैथुनसे उत्पन्न हुवे थोड़े सुखमें विद्वान लोग कैसे आदरको कर सकते हैं ? अर्थात् कभी भी नहीं कर सकते ॥ ४ ॥

अशुचिनि प्रसभं रतकर्मणि प्रतिशरीररतिर्यदपि स्थिता ।
चिदरिमोहविजृंभणदूषणादियमहो भवतीति निषेधिता ॥

अर्थः—कामके वशीभूत होकर वलात्कारसे अत्यंत अपवित्र मैथुनकर्मके होनेपर कामी स्त्री पुरुषोंके शरीर में उत्पन्न हुई यह कामसंबंधी प्रीति चैतन्यका वैरी जो मोह उसके फैलावके दूषणसे होती है इसलिये यह कामकी प्रीति सर्वथा निषिद्ध मानी गई है ।

भावार्थः—जबतक इस आत्मामें मोहनीय कर्मकी प्रवलता रहती है तबतक वास्तविक चैतन्यस्वरूप-आत्माका प्रगट नहीं होता क्योंकि आत्माका जो वास्तविक चैतन्य स्वरूप है उसका यह मोहनीय कर्म प्रवल वैरी संसार में है। और यह जो रति उत्पन्न होती है सो इस मोहनीय कर्मकी प्रवलतासेही होती है क्योंकि काम

के वशीभूत होकर जब दोनों स्त्री पुरुष परस्पर में स्नेह रूपी रस्सी में बंध जाते हैं तथा स्नेह रूपी रस्सी में बंध कर जब वे मैथुन कर्म में प्रवृत्त होते हैं उस समय उन दोनों के शरीरमें यह काम संबन्धी रति स्थित होती है इसलिये इस रतिकी उत्पत्ति आत्माके वास्तविचैतन्यके वेरी मोहके फैलावसेही होती है इसीलिये सर्वथा वास्तविक वस्तुके स्वरूपसे हटानेवाली इस रतिका निषेध विद्वानलोगोंने किया है ॥ ५ ॥

निरवशेषयमद्रुमखंडने शितकठारहतिर्ननु मैथुनम् ।
सततमात्महितं शुभमिच्छता परिहतिविधिनास्य विधीयते ॥

अर्थः—आचार्य कहते हैं कि यह मैथुनकर्म समस्त संयमरूपी वृक्षके खंडन करनेमें तीक्षण् कुठारकी धाराके समान हैं इसलिये जो मनुष्य निर्मल अपनी आत्माके हितके करनेवाले हैं वे इसका सर्वथा त्याग कर देते है।

भावार्थः—पांच प्रकारके स्थावर तथा जीवोंकी जो रक्षा करना है इसीका नाम संयम है वह संयम मैथुनकर्ममें प्रवृत्तिहोनेपर कदापि नहीं पलता है क्योंकि मैथुनकर्मके करनेसे अनेकप्रकारके जीवोका विघात होता है इसलिये मैथुन करनेसे किसी प्रकारके आत्माके हितकी प्राप्ति नहीं होती हैं इसीलिये जो पुरुष यह चाहते हैं कि हमारी आत्माका किसीप्रकारसे हित होवे वे इस महान निकृष्ट पापके करनेवाले मैथुनकर्मका सर्बथा त्याग करते हैं अतः आत्महितैषियोंको कदापि इस मैथुनकर्म की ओर ऋजु नहीं होना चाहिये किंतु इसका दूरसे ही त्याग करदेना चाहिये ॥ ६ ॥

मधु यथा पिवतो विकृतिस्तथा वृजिनकर्मभृतः सुरते मतिः ।
न पुनरेतदभीष्टमिहागिनां न च परत्र यदायतिदुःखदम् ॥

अर्थः—जिसप्रकार मदिरापीनेवालेपुरुषको, विकार होते हैं उसीप्रकार जो पुरुष पापी हैं उसकी सदा रति

तदेवैकं परं दुर्गमगम्यं कर्मविद्विषाम्।
तदेवैतत्तिरस्कारकारि सारं निजं वलम् ॥ ४८ ॥

अर्थः—तथा वहीचैतन्यस्वरूपआत्मा एक ऐसा किला है कि जिसमें कर्मरूप वैरी कदापि प्रवेश नहीं करसक्ते और उनकर्मरूपी शत्रुओंका अपमान करनेवाला वही चैतन्य स्वरूप आत्मा एक उत्कृष्ट वल है॥

भावार्थः—जो मनुष्य चैतन्यस्वरूप आत्माका ध्यान करते हैं उनका कर्मरूपी वैरी कुछ नहीं करसक्ते इसलिये भव्यजीवोंको शुद्धात्माकाही ध्यान करना चाहिये ॥ ४८ ॥

तदेव महती विद्या स्फुरन्मन्त्रस्तदेव हि।
औषधं तदपि श्रेष्टं जन्मव्याधिविनाशनम् ॥ ४९ ॥

अर्थः—और वही चैतन्यस्वरूपीतेज प्रवलविद्या है तथा वही स्फुरायमान मंत्र है और समस्त जन्म जरा आदिको नाश करनेवाली वही एक परमऔषधि है ॥ ४९ ॥

अक्षयस्याक्षयानन्दमहाफलभराश्रियः।
तदेवैकं परं वीजं निःश्रेयसलसत्तरोः ॥ ५० ॥

अर्थः—और उसी शुद्धात्मारूपीतेजसे अविनाशी तथा अक्षय सुखरूपीउत्तमफलकेदेनेवाले मोक्ष-रूपीमनोहरवृक्षकी उत्पत्ति होती है ॥

भावार्थः—जो पुरुष उस शुद्धात्माका अनुभव मनन ध्यान करते हैं उनको अक्षयसुखकी देनेवाली मोक्ष लक्ष्मीकी प्राप्ति होती है इसलिये भव्यजीवोंका सदा उसआत्माकाही चिंतवन करते रहना चाहिये ॥५०॥

तदेवैकं परं विद्धि त्रैलोक्यगृहनायकम् ।
येनैकेन विना शङ्के वसदप्येतदुद्वसम् ॥ ५१ ॥

अर्थः—आचार्य कहते हैं कि हेभव्यजीवो तीनलोकरूपीघरका स्वामी उसीचैतन्यस्वरूपतेजको तुम समझो क्योंकि मैं ऐसी शंकाकरता हूं कि इसएकचैतन्यस्वरूपतेजके विना यह तीनलोकरूपी घर भी वनके समान है॥

भावार्थः—यद्यपि यहलोक जीवाजीवादि छै द्रव्योंसे भराहुवा है तो भी इसमें जाननेवाला एक आत्माही है और इसके सिवाय समस्तलोक जड़ही हैं इसलिये यह आत्माही तीनलोकोंका राजा है अतः उत्तम फलके चाहनेवाले भव्यजीवोंको इसीमें लीन रहना चाहिये ॥ ५१ ॥

शुद्धं यदेव चैतन्यं तदेवाहं न संशयः ।
कल्पनयानयाप्येतद्धीनमानन्दमन्दिरम् ॥ ५२ ॥

अर्थः—जो निराकार, निरंजन, शुद्ध, चिद्रूप है सो मैंही हूं इसमें किसीप्रकारका संशय नहीं है इस प्रकार की कल्पना से भी वह आनन्दस्वरूप शुद्धात्मा रहित है ॥

भावार्थः—जो शुद्ध चैतन्य स्वरूप है वह मैंही हूं इसमें सिकीप्रकारका संशय नहीं इसप्रकारकी भी कल्पना उस शुद्धात्मामें नहीं है इसलिये शुद्धात्मा समस्तप्रकारकी कल्पनाओंसे रहितही है ॥५२॥

मोक्षकेलिये की हुई इच्छा भी ठीक नहीं ऐसा आचार्य बताते हैं ।

स्पृहा मोक्षेऽपि मोहोत्था तन्निषेधाय जायते ।
अन्यस्मै तत्कथं शान्ता स्पृहयन्ति मुमुक्षवः ॥ ५३ ॥

अर्थः—मोहके हे.तेसन्तहीं इच्छा होती है इसलिये आचार्य उपदेश देते हैं कि यदि मोक्षकेलिये

भी मोहसे पैदाहुई इच्छा होजावे तो वही जब मोक्षके रोकनेवाली हो जाती है तब शान्त तथा मोक्षभिलाषी मनुष्य अन्यपदार्थोंकेलिये कैसे इच्छा करसक्ते हैं ! ॥ ५३ ॥

ज्ञानीमनुष्य इसबातका बिचार करते हैं ।

अहं चैतन्यमेवैकं नान्यत्किमपि जातुचित् ।
सबन्धोऽपि न केनापि दृढपक्षो ममेदृशः ॥ ५४ ॥

अर्थः—मैं एक चैतन्यस्वरूपही हूं चैतन्यसे भिन्न नहीं हूं और मेरा निश्चयनयसे किसी दूसरे पदार्थ केसाथ संबन्ध भी नहीं है यह मेरा प्रबल सिद्धान्त है ॥ ५४ ॥

शरीरादिवहिश्चिन्ताचक्रसम्पर्कवर्जितम् ।
विशुद्धात्मस्थितं चित्तं कुर्वन्नास्तेनिरन्तम् ॥ ५५ ॥

अर्थः—बाह्यशरीर आदि पदार्थों की चिन्ता छोड़कर रागद्वेष आदिमलोंसे रहित तथा निर्मल अपनी आत्मामें ही चित्त को लगाते हैं ॥ ५५ ॥

एवं सति यदेवास्ति तदस्तु किमिहापरैः ।
आसाद्यात्मन्निदं तत्वं शान्तो भव सुखी भव ॥ ५६ ॥

अर्थः—इसप्रकार पूर्वोक्तरीतिसे आत्माके चिंतवनसे जो होता है सो हो दूसरे २ बिचारों से क्या प्रयोजन है इसप्रकारके वास्तविकस्वरूपको प्राप्त होकर अरे आत्मा तू शान्त हो तथा सुखी हो इसप्रकार ज्ञान अपनी आत्माको शिक्षा देता रहता है ॥ ५६ ॥

आपारंजन्मसन्तानपथभ्रान्तिकृतश्रमम् ।
तत्वामृतमिदं पीत्वा नाशयन्तु मनीषिणः ॥ ५७ ॥

अर्थः—आचार्य उपदेश देते हैं कि हेभव्यपुरुषो इस कहेहुवे चैतन्यामृतका पानकरो तथा इसअपार संसारमें अनन्त तिर्यंच नरक आदि पर्यायोंमें भ्रमरणकरनेसे जो खेद हुवा है उसको शान्त करो ॥ ५७ ॥

अतिसूक्ष्ममतिस्थूलमेकं चानेकमेव तत् ।
स्वसंवेद्यमेवद्यञ्च यदक्षरमनक्षरम् ॥ ५८ ॥
अनौपम्यमनिर्देश्यमप्रमेयमनाकुलम् ।
शून्यं पूर्णं च यन्नित्यमनित्यं च प्रचक्ष्यते ॥ ५९ ॥
निश्शरीरं निरालम्बं निश्शब्दं निरुपाधि यत् ।
चिदात्मकं परंज्योतिरवाङ्मानसगोचरम् ॥ ६० ॥
इत्यत्र गहनेऽत्यन्तदुर्लक्ष्ये परमात्मनि ।
उच्यते यत्तदाकाशं प्रत्यालेख्यं विलिख्यते ॥ ६१ ॥

अर्थः—आचार्य कहते हैं वह चैतन्यरूपीतेज अत्यन्त सूक्ष्म भी है और अत्यन्त स्थूल भी है, और एक भी है अनेक भी है, स्वसंवेद्य भी है अवेद्य भी है, अक्षर भी है, अनक्षरभी है, तथा उपमारहित है, अवक्तव्य है, अप्रमेय है, आकुलता रहित है, और शून्य भी है, पूर्ण भी है, नित्य भी है, अनित्य भी है, और शरीर रहित है, आश्रय रहित है शब्दरहित है, उपाधिरहित है, तथा चैतन्यस्वरूपपरमतेजका धारी है, और न उसको बचनसेही कहसक्ते हैं तथा न उसका मनसे चिंतवन करसक्ते हैं, इसप्रकार यह परमात्मा अगम्य तथा दृष्टि के अगोचर है इसलिये

जिसप्रकार अमूर्तीकआकाश पर चित्र लिखना कठिन है उसीप्रकार परमात्माका वर्णन करना भी अत्यंत कठिन है ॥

भावार्थः—इसअमूर्तीक परमात्माको इन्द्रियोंसे नहीं देखसक्ते इसलिये तो वह सूक्ष्म है और केवल दर्शन तथा केवलज्ञानसे देखा और जाना जासक्ता है इसलिये वह स्थूल भी है तथा सदा अपने स्वरूपमें विद्यमान रहता है और परपदार्थोंसे भिन्न है इसलिये शुद्धनिश्चयनयसे यह एक भी है और पर्यायार्थिकनयकी अपेक्षा से इसकी अनेक ज्ञान दर्शन आदि पर्याय मोजूद हैं इसलिये यह अनेक भी है, तथा अहम् २ इत्याकारक स्वसंवेदनप्रत्यक्षके गोचर है अर्थात् अपनेसे जाना जाता है इसलिये तो स्वसंवेद्य है और इन्द्रियोंसे यह नहीं जाना जासक्ता इसलिये यह अवेद्य भी है तथा व्यवहारनयसे बचनसे कुछ कहा जाता है इसलिये तो यह अक्षर है किन्तु शुद्धनिश्चयनयसे इसको कुछ भी नहीं कहसक्ते इसलिये यह अनक्षर भी है अथवा "जिसका नाश न होवे वह अक्षर है" यदि ऐसा अक्षर शब्दका कर्थ करेंगे तोभी शुद्धनिश्चयनयसे तो यह अक्षर ही है क्योंकि शुद्धनिश्चयनयसे इसका कुछभी नाश नहीं होता तथा व्यहारनयसे यह अनक्षर (विनाशीक) भी है क्योंकि प्रतिसमय इसकी पर्याय पलटती रहती है और इसकी समानताको धारण करनेवाला कोई पदार्थ नहीं है इसलिये यह उपमा रहित भी है तथा इसके वास्तविक स्वरूपको कुछभी कह नहीं सक्ते इसलिये यह अवक्तव्य भी है और इसके 'केवलज्ञानरूपी, गुणोंका किसी क्षेत्र आदिके द्वारा परिमाण नहीं किया जासक्ता अर्थात् वह समस्त लोक तथा अलोकका प्रकाश करनेवाला है इसलिये यह अप्रमेय भी है और यह अचिंत्य सुखका भण्डार है इसलिये आकुलता रहित भी है तथा यह परद्रव्य क्षेत्र काल भावकी अपेक्षासे रहित है इसलिये शून्यभी है और समस्त ज्ञान, दर्शन, सुख, आदि गुणोंसे भराहुवा है इसलिये यह पूर्ण भी है और द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षा इसका विनाश नहीं होता इसलिये यह नित्य भी है तथा पर्यायार्थिक नयकी

अपेक्षा इसका प्रतिसमय विनाश होता रहता है इसलिये वह अनित्य भी है और इसका कोई शरीर नहीं इसलिये यह शरीररहित हैं और इसका कोई आश्रय (आधार) नहीं इसलिये यह आश्रय रहित भी है और यह तो चेतन है तथा शब्द पुद्गल है इसलिये यह शब्दरहित भी है तथा इसके साथ निश्चयनयसे किसी प्रकारकी कर्मोंकी उपाधि नहीं लगी हुई है इसलिये यह उपाधि रहित है और यह चैतन्यस्वरूप ज्योति है और इसको वचनसे कह नहीं सक्ते तथा मनसे विचार नहीं सक्ते इसलिये यह वाणी तथा मनका अगोचर भी है इसलिये इसप्रकारके शुद्धात्माका वर्णन करना अल्पज्ञानियोंकेलिये कठिनहै॥ ५८।५९।६०।६१ ॥

अस्तां तत्र स्थितो यस्तु चिंतामात्रपरिग्रहः ।
तस्यात्र जीवितं श्लाघ्यं देवैरपि स पूज्यते ॥ ६२ ॥

अर्थः—जो पुरुष उसशुद्धात्मामें तिष्ठने वाला है वहतो दूररहो किंतु जो पुरुष इसशुद्धात्माका चिंतवन करनेवाला है उसकाभी जीवन इससंसारमें अत्यंतप्रशंसनीय है तथा उसकी बड़े २ देव आकर पूजा सेवा आदि करते हैं इसलिये भव्यजीवोंको सदा शुद्धात्माका ही ध्यान करना चाहिये ॥ ६२ ॥

सर्वविद्भिरसंसारै सम्यग्ज्ञानविलोचनैः ।
एतस्योपासनोपायः साम्यमेकमुदाहृतम् ॥ ६३ ॥

अर्थः—समस्तपदार्थोंके जाननेवाले तथा कर्मोंकररहित तथा केवलज्ञानरूपी नेत्रके धारी केवली भगवान इस शुद्धात्माकी उपासना करनेका उपाय समता ही है ऐसा कहते हैं ॥

भावार्थः—समस्त पदार्थोंमें समता रखनेसेही इस आत्माकी भलीभांति आराधना होसक्ती है इसलिये आत्माकी उपासना करनेवाले भव्यजीवोंको समस्तपदार्थों में अवश्य समता रखनी चाहिये ॥ ६३ ॥

साम्यं स्वास्थ्यं समाधिश्च योगश्चेतोनिरोधनम्।
शुद्धोपयोग इत्येते भवन्त्येकार्थवाचकाः ॥ ६४ ॥

अर्थः—साम्य, स्वास्थ्य, समाधि, योग, चित्त, निरोध, शुद्धोपयोग, ये सर्वशब्द एकही अर्थके कहनेवाले हैं अर्थात् इन शब्दोंके नाम जुदे २ हैं किन्तु अर्थ एकही है ॥ ६४ ॥

और भी आचार्यवर साम्यहीके स्वरूपका वर्णन करते हैं।

नाकृतिर्नाक्षरं वर्णो नो विकल्पश्च कश्चन।
शुद्धचैतन्यमेवैकं यत्र तत्साम्यमुच्यते ॥ ६५ ॥

अर्थः—जिसमें न कोई आकार है और न कोई अक्षर है और न कोई नीलाआदि वर्ण है और न जिसमें कोई विकल्प है किन्तु जिसमें केवल एक चैतन्यही है वही साम्य है ॥ ६५ ॥

साम्यमेकं परं कार्यं साम्यं तत्वं परं स्मृतम्।
साम्यं सर्वोपदेशानामुपदेशो विमुक्तये ॥ ६६ ॥

अर्थः—साम्यही एक उत्कृष्ट कार्य है और साम्यही एक उत्तम तत्व है तथा साम्यही मुक्तिकेलिये समस्तउत्तमउपदेशोंमेंसे उपदेश है ॥ ६६ ॥

साम्यं सद्बोधनिर्माणं शश्वदानन्दमन्दिरम्।
साम्यं शुद्धात्मनोरूपं द्वारं मोक्षैकसद्मनः ॥ ६७ ॥

अर्थः—इस साम्यसेही भव्यजीवोंको सम्यग्ज्ञानकी प्राप्ति होती है तथा इससाम्यसेही अविनाशी सुख मिलता है और यह साम्यही शुद्धात्माका स्वरूप है तथा यह साम्यही मोक्षरूपी मकानका द्वार है ॥ ६७ ॥

साम्यं निश्शेषशास्त्राणां सारमाहुर्विपश्चितः।
साम्यं कर्ममहादावदाहे दावानलायते॥ ६८॥

अर्थः—समस्तशास्त्रोंका सारभूत यह साम्यही है और यही साम्य समस्तकर्मरूपीवनके जलानेमें दावानलके समान है ऐसा गणधर आदि देव कहते हैं॥

भावार्थः—शास्त्रके अध्ययनकरनेसे समताकी प्राप्ति होती है तथा समताके होने पर समस्तकर्मोंका नाश होजाताही इसलिये भव्यजीवोंको साम्यकी और अवश्य ऋजु होना चाहिये॥ ६८॥

साम्यं शरण्यमित्याहुर्योगिनां योगगोचरम्।
उपाधिरचिताशेषं दोषक्षपणकारणम्॥ ६९॥

अर्थः—और यह साम्यही समस्तदुःखोंके दूरकरनेमें समर्थ है तथा ध्यानीपुरुषही इसका ध्यान करते हैं और यह साम्यही आत्मा और कर्मोंके संबंधसे उत्पन्नहुवे जो रागादिदोष उनको सर्वथा नष्टकरने वाला है इसलिये भव्यजीवोंको सदा साम्यकाही मनन करना चाहिये॥ ६९॥

निस्पृहायाणिमाद्यब्जखण्डे साम्यसरोजुषे।
हंसाय शुचये मुक्तिहंसीदत्तदृशे नमः॥ ७०॥

अर्थः—अणिमा महिमा आदि रूपजो कमलखण्ड उसकी जिसके अंशमात्रभी इच्छा नहीं है तथा जो समतारूपीसरोवरमें सदा प्रीतिपूर्वक रमण करनेवाला है और जिसकी दृष्टि मोक्षरूपी हंसीमें लगी हुई है और जो अत्यंतपवित्र है ऐसे परमहंस उसशुद्धात्माकेलिये मेरा नमस्कार है॥ ७०॥

ज्ञानिनोमृतसंगाय मृत्युस्तापकरोऽपि सन्।

आमकुम्भस्य लोकेस्मिन् भवेत् पाकविधिर्यथा ॥ ७१ ॥

अर्थः—जिसप्रकार मिट्टीके कच्चेघड़ेकेलिये पकानेकी विधि एकप्रकारसे तापकीही उपजानेवाली है तो भी वहपाकविधि घड़ेको अमृत (जल) के संगमकरानेवाली होती है अर्थात पकजानेपरही घड़ा पानी के भरनेके योग्य होता है उसीप्रकार यद्यपि वहिरात्माओंको मृत्यु, दुःखके देनेवाली है तोभी ज्ञानियोंकेलिये वह अमृत (मोक्ष) के समागमकेही लिये होती हैं अर्थात् ज्ञानीपुरुष सदा मृत्युके नाशके लियेही प्रयत्न करते रहवे हैं तथा चेतन्य स्वरूपसे भिन्नही मृत्युको मानते हैं इसलिये मृत्युके होनेपरभी उनको दुःख नहीं होता॥७१॥

मानुष्यं सत्कुले जन्म लक्ष्मीर्बुद्धिः कृतज्ञता ।
विवेकेन विना सर्वं सदप्येतन्न किञ्चन ॥ ७२ ॥

अर्थः—जो मनुष्य विवेकी नहीं हैं उसका मनुष्यपना, उच्चमकुलमें जन्म, धन, ज्ञान, और कृतज्ञपना, होकर भी, निष्फलही हैं इसलिये मनुष्योंको विवेकी अवश्य होना चाहिये ॥ ७२ ॥

विवेक किसको कहते हैं इसवातको आचार्यवर वतलाते हैं

चिदचिद्द्वे परे तत्वे विवेकस्तद्विवेचनम् ।
उपादेयमुपादेयं हेयं हेयञ्च कुर्वतः ॥ ७३ ॥

अर्थः—संसारमें चेतन तथा अचेतन दोप्रकारके तत्व हैं उनमें ग्रहणकरने योग्यको ग्रहणकरनेवाले तथा त्यागकरनेयोग्यको त्यागकरनेवालेपुरुषका जो विचार है उसीको विवेक कहते हैं ॥

भावार्थः—चैतन्यस्वरूप आत्मातो ग्रहण करने योग्य है तथा जड़ शरीर आदि त्यागने योग्य है ऐसा जो विचार है उसीका नाम विवेक है ॥ ७३ ॥

दुःखं किञ्चित्सुखं किञ्चिच्चित्ते भाति जडात्मनः ।
संसारेऽत्र पुनर्नित्यं सर्वं दुःखं विवेकिनः ॥ ७४ ॥

अर्थः—मूर्खपुरुषोंको तो इससंसारमें कुछ सुख तथा कुछ दुःख मालूम पड़ता है किन्तु जो हिताहित-के जाननेवाले विवेकी हैं उनकोतो इससंसारमें सब दुःखही दुःख निरन्तर मालूम पड़ता है ॥ ७४ ॥

हेयञ्च कर्मरागादि तत्कार्यञ्च विवेकिनः ।
उपादेयं परंज्योतिरुपयोगैकलक्षणम् ॥ ७५ ॥

अर्थः—विवेकीपुरुषको ज्ञानावरणादिकर्मोंका तथा उनके कार्यभूत रागादिकोंका अवश्यही त्याग कर-देना चाहिये और ज्ञान दर्शन स्वरूप इसउत्कृष्टआत्मतेजको ही ग्रहणकरना चाहिये ॥ ७५ ॥

ज्ञानीमनुष्य इसबातका विचार करतेरहते हैं ।

इन्द्रवज्रा ।

यदेव चैतन्यमहं तदेव तदेव जानाति तदेव पश्यति ।
तदेव चैकं परमस्ति निश्चयाद्गतोऽस्मि भावेन तदेकतां परम् ॥ ७६ ॥

अर्थः—जो चैतन्य है सो मैंही हूं और वही चैतन्य पदार्थोंको जानता है तथा देखता है और वही एक उत्कृष्ट है और निश्चयनयसे स्वभावसे मैं तथा चैतन्य अत्यंत अभिन्न हूं ॥ ७६ ॥

वसन्ततिलका ।

एकत्वसप्ततिरियं सुरसिन्धुरुच्चैः श्रीपद्मनन्दिहिमभूधरतः प्रसूता ।
यो गाहते शिवपदाम्बुनिधिं प्रविष्टामेतां लभेत स नरः परमां विशुद्धिम् ॥ ७७ ॥

अर्थः—यह एकत्वसप्ततिरूपीगंगानदी अत्यंतउन्नत ऐसे श्रीपद्मनन्दीनामकहिमालयपर्वतसे पैदा हुई है तथा मोक्षपदरूपीसमुद्रमें जाकर मिली है इसलिये जोभव्यजीव उसनदीमें स्नान करते हैं इनके समस्तमलों नाशहोजाते हैं और वे अत्यन्त विशुद्ध होजाते हैं ।

भावार्थः—जो भव्यजीव इस एकत्वसप्ततिनामकअधिकारका चिंतवन मनन करते हैं उनके समस्त रागादि दोष दूर होजाते हैं अतः वे अत्यंत शुद्ध होजाते हैं और मोक्षके प्राप्तहोते हैं इसलिये उत्तमपुरुषोंको सदा इसका ध्यान चिंतवन करना चाहिये ॥ ७७ ॥

संसारसागरसमुत्तरणैकसेतुमवं सतां सदुपदेशमुपाश्रितानाम् ।
कुर्यात्पदं मललवोऽपि किमन्तरङ्गे सम्यक् समाधिविधिसान्निधिनिस्तरङ्गे ॥ ७८ ॥

अर्थः—जिन सज्जनपुरुषोंने संसारसमुद्रसे पारकरनेमें पुलके समान इसउत्तम उपदेशका आश्रय कियाहै उनसज्जनपुरुषोंके उत्तमआत्मध्यानके करनेसे क्षोभरहितअतरगमें किसीप्रकारका रागादिमल नहीं रहसक्ता

भावार्थः—इस एकत्वअधिकारके उपदेशसे जिन भव्यजीवोंका मन अत्यन्तनिर्मल होगया है उन भव्यजीवोंके मनमें किसीप्रकारका मल-प्रवेश नहीं करसक्ता ॥ ७८ ॥

निर्मलचित्तहोकर ज्ञानी ऐसा बिचार करता है ।

शार्दूलविक्रीडित ।

आत्मा भिन्नस्तदनुगतिमत्कर्म भिन्नं तयोर्या प्रत्यासत्तेर्भवति विकृतिः सापि भिन्ना तथैव ।
कालक्षेत्रप्रमुखमपि यत्तच्च भिन्नं मतं मे भिन्नं भिन्नं निजगुणकलालङ्कृतं सर्वमेतत् ॥ ७९ ॥

अर्थः—यह ज्ञानस्वरूप मेरा आत्मा भिन्न है और उसके पीछे चलनेवाला कर्म भी भिन्न है तथा कर्म

और आत्माके संबन्धसे जो कुछ बिकार हुवा है वह भी मुझसे भिन्न है और काल क्षेत्र आदिक जो पदार्थ है वे भी मुझसे भिन्न है इसप्रकार अपने २ गुण तथा अपनी २ पर्यायोंसे सहित जितने भर पदार्थ है सर्व मुझ से भिन्नही भिन्न है इसप्रकार ज्ञानीसदा विचार करता रहता है ॥ ७९ ॥

बसन्ततिलका ।

येऽभ्यासयन्ति कथयन्ति विचारयन्ति सम्भावयन्ति च मुहुर्मुहुरात्मतत्वम् ।
ते मोक्षमक्षयमनूनमनन्तसौख्यं क्षिप्रं प्रयान्ति नवकेवललब्धिरूपम् ॥ ८० ॥

अर्थः—आचार्य उपदेश देते हैं कि जो भव्यजीव उसआत्मतत्वका बारंबार अभ्यास करते हैं और कथन करते हैं तथा विचार और अनुभव करते हैं वे भव्यजीव अविनाशी, और महान् तथा अनन्त दर्शन, क्षायक ज्ञान, और क्षायकचारित्र, आदि नौ केवललब्धिस्वरूपसुखके भण्डार ऐसे मोक्षपदको बात की बातमें पालेते है इसलिये भव्यजीवोंके सदा इसआत्मतत्वका चिंतवन करना चाहिये ॥ ८० ॥

इसप्रकार श्रीपद्मनन्दिआचार्य विरचित पद्मनन्दिपञ्चविंशतिकामें
एकत्व सप्तति नामक अधिकार समाप्त हुवा ॥

यतिभावनाष्टक ।

आदाय व्रतमात्मतत्वममलं ज्ञात्वाथ गत्वा वनं निश्शेषामपि मोहकर्मजनितां हित्वा विकल्पावलिम् ।
ये तिष्ठन्ति मनोमरुच्चिदचलैकत्वप्रमोदं गताः निष्कम्पा गिरिवज्जयन्ति मुनयस्तेसर्वसङ्गोज्झिताः ॥१॥

अर्थः—व्रतको ग्रहणकर, तथा निर्मलआत्माके स्वरूपको जानकर, और वनमें जाकर, तथा मोहकर्म

॥१८९॥

से पैदाहुवे समस्तविकल्पोंको नष्टकर, समस्तप्रकारके परिग्रहोंसे रहित जो मुनिगण मनरूपीपवनसे नहीं चलायमान ऐसे चैतन्यकी एकतामें हर्ष सहित है अर्थात् अपने आत्मध्यानमें लीन हैं और पर्वतके समान निश्चल स्थित है वे मुनिगण सदा इसलोकमें जयवन्त हैं ॥ १ ॥

मुनिगण इसप्रकारकी भावनाओं का चिंतवन करते हैं।

शार्दूलविक्रीड़ित।

चेतोवृत्तिनिरोधनेन करणग्रामं विधायोद्वसं तत्संहृत्य गतागतौ च मरुतो धैर्यं समाश्रित्य च।
पर्यङ्केन मया शिवाय विधिवच्छून्यैकभूभृद्दरीमध्यस्थेन कदाचिदर्पितदृशा स्थातव्यमन्तर्मुखम् ॥२॥

अर्थः—चित्तकी वृत्तिको रोककर तथा इन्द्रियोंको उजाड़कर (वशकर) और श्वासोच्छ्वासको रोककर तथा धीरताको धारणकर और पर्यंक आसनमाड़कर (पालती मारकर) और आनन्दस्वरूपचैतन्यकी तरफ दृष्टि लगाकर निर्जनपर्वतकी गुफामें बैठकर मैं कब आत्मध्यान करूंगा ? ॥ २ ॥

धूलीधूसरितं विमुक्तवसनं पर्यङ्कमुद्रागतं शान्तं निर्वचनं निमीलितदृशं तत्वोपलम्भे सति।
उत्कीर्णं दृषदीव मां वनभुवि भ्रान्तो मृगाणां गणः पश्यत्युद्गतविस्मयो यदि तदा मादृग्जनः पुण्यवान्॥३॥

अर्थः—निजस्वरूपकी प्राप्तिहोनेपर धूलिसे मलिन तथा वस्त्ररहित और पर्यंकमुद्रासहित तथा शांत और बचनरहित तथा आखोंको बन्दाकिये हुवे मुझे जिससमय बनमें भ्रमसहितमृग आश्चर्यसे देखेंगे उसीसमय मेरे समान मनुष्य पुण्यवान समझा जायगा।

भावार्थः—जिससमय मैं निर्जनवनमें निजस्वरूपमें लीनहोकर मौनसहित दिगम्बरमुद्राको धारण कर तथा पालती मारकर और आखोंको बन्दकर धूलिसे मलिन होकर तथा क्रोध आदि कषायोंसे रहित

शान्तहोकर रहूंगा तथा मृगोंका समूह मुझै काष्टपाषाणकी मूर्तिजानकर आश्चर्यसे देखेगा उसीसमय मैं पुण्यवान हूं ऐसी ज्ञानी सदा भावना करता रहता है ॥ ३ ॥

वासः शून्यठे कचिन्निवसनं नित्यं ककुम्मण्डलं सन्तोषो धनमुन्नतं प्रियतमा क्षान्तिस्तपोभोजनम् ।
मैत्री सर्वशरीरिभिः सह सदा तत्वैकचिन्तासुखं चेदास्ते न किमस्ति मे शमवतः कार्यं न किञ्चित्परः॥४॥

अर्थः—यदि किसी शून्यमठ में मेरा निवासस्थान है तथा अविनाशीदिशाओंका समूह वस्त्र है और सन्तोष धन है तथा क्षमारूपी स्त्री है और तपरूपी भोजन है तथा समस्तप्राणियोंके साथ मित्रता है और आत्मस्वरूपका चिंतवन है तो मेरे सर्वही वस्तु मोजूद है फिर मुझे दूसरीवस्तुओंसे क्या प्रयोजन है ऐसा योगीश्वर सदा बिचार करते रहते हैं ॥ ४ ॥

लब्ध्वा जन्म कुले शुचौ वरवपुर्बुद्ध्वा श्रुतं पुण्यतो वैराग्यञ्च करोति यः शुचितया लोके स एकः कृती।
तेनैवोज्झितगौरवेण यदि वा ध्यानामृतं पीयते प्रासादे कलशस्तदा मणिमयो हैमे समारोपितः ॥५॥

अर्थः—जो मनुष्य इससंसारमें उत्तमकुलमें जन्म पाकर तथा नीरोग और सुन्दर शरीर को प्राप्तकर और शास्त्र को जानकर वैराग्यको प्राप्त होकर पवित्र तपको करता है वह मनुष्य संसारभरमें एकही पुण्यवान समझा जाता है । और वहीतपकरनेवालापुरुष यदि मदरहित होकर ध्यानामृत का आस्वादन करै तो समझना चाहिये कि उस मनुष्य ने सुवर्णमयघरके ऊपर मणिमय कलशकी स्थापना की ।

भावार्थः—जिसप्रकार संसारमें कोई मनुष्य सुवर्णमईमकान बनवावे तो वह अधिक प्रतिष्ठित समझा जाता है और यदि वही पुरुष उसके ऊपर मणिमईकलश चढ़ावे तो वह और भी अत्यंत प्रतिष्ठित समझाजाता है उसीप्रकार उत्तमकुलमें जन्मपाकर, तथा नीरोग, और सुन्दर शरीरको प्राप्तहोकर और शास्त्रको जानकर तथा

वैराग्यको पाकर, जोपुरुष तपकरता है वह अधिकप्रतिष्ठित समझाजाता है । किन्तु जो ऐसा होकर ध्यान भी करता है वह और भी अत्यंत प्रतिष्ठित समझाजाता है इसलिये भव्यजीवोंको उपर्युक्त सामिग्रीके मिलनेपर ध्यान अवश्य करना चाहिये ॥ ५ ॥

शार्दूल विक्रीडित ।

ग्रीष्मे भूधरमस्तकाश्रितशिलां मूलं तरोः प्रावृषि प्रोद्भूते शिशिरे चतुष्पथपदं प्राप्ताः स्थितिं कुर्वते ॥
ये तेषां यमिनां यथोक्ततपसां ध्यानप्रशान्तात्मनां मार्गे सञ्चरतो मम प्रशमिनः कालः कदा यास्यति ॥

अर्थः—जो योगीश्वर ग्रीष्मऋतुमें पहाड़ोंके अग्रभागमें स्थितशिलाके ऊपर ध्यानरसमें लीनहोकर रहते हैं तथा वर्षाकालमें वृक्षोंके मूलमें बैठकर ध्यानकरते हैं और शरदऋतुमें चौड़े मैदानमें बैठकर ध्यानलगाते हैं उन शास्त्र के अनुसारतपकेधारी तथा ध्यानसे जिनकी आत्मा शांत होगई हैं ऐसे योगीश्वरोंके मार्गमें गमन करनेकेलिये मुझे भी कब वह समय मिलैगा ॥ ६ ॥

भेदज्ञानविशेषसंहृतमनोवृत्तिः समाधिः परो जायेताद्भुतधाम धन्यशमिनां केषांचिदत्राचलः ॥
वज्रे मूर्ध्नि पतत्यपि त्रिभुवने वह्निप्रदीप्तेऽपि वा येषां नो विकृतिर्मनागपि भवेत्प्राणेषु नश्यत्स्वपि ॥

अर्थः—और स्वपरके भेदज्ञानसे जिस समाधिमें मनकी वृत्ति संकुचित है और जो आश्चर्यकारी हैं तथा उत्कृष्ट और अचल है ऐसी वह समाधि उन धन्य तथा शाम्यभावके धारक मुनियोंके होती है जिस समाधिके होनेपर मस्तक पर वज्रगिरनेपर भी तथा तीनोंलोकके जलनेपर भी और निजप्राणोंके नष्ट होनेपर भी जिन मुनियोंके मनको किसी प्रकारका विकार नहीं होता ॥ ७ ॥

अन्तस्तत्वमुपाधिवर्जितमहं व्यापारवाच्यं परं ज्योतिर्यैः कलितं श्रुतं च यतिभिस्ते सन्तु नः शान्तये॥

येषां तत्सदनं तदेव शयनं तत्सम्पदस्तत्सुखं तद्वृत्तिस्तदपि प्रियं तदखिलश्रेष्ठार्थसंसाधकम् ॥८॥

अर्थः—जिसके साथ किसीप्रकारके कर्मकासंबंध नहीं है तथा जो "अहम्" इसशब्दसे कहाजाता है ऐसे उत्कृष्ट ज्योतिःस्वरूपआत्मतत्वको जिनमुनीश्वरोंने जानलिया है तथा सुनलिया है और जिन योगीश्वरोंके वह निज तत्वही एक रहनेका स्थान है और वही सोनेका स्थान है तथा वही श्रेष्ठ संपदा है और वही सुख है तथा वही वृत्ति है और वही प्रिय है तथा वही निजतत्व जिनमुनियोंको मनोवांछितपदार्थोंका सिद्धकरनेवाला है वे यतीश्वर मुझे शान्ति प्रदान करें ॥ ८ ॥

पापारिक्षयकारि दातृ नृपतिस्वर्गापवर्गश्रियां श्रीमत्पङ्कजनन्दिभिर्विरचितं चिच्चेतनानन्दिभिः ॥
भक्त्या यो यतिभावनाष्टकमिदं भव्यस्त्रिसन्ध्यं पठेत् किं किं सिध्यति वाञ्छितं न भुवने तस्यात्र पुण्यात्मनः ॥

अर्थः—जो यतिभावनाष्टक समस्तपापरूपीवैरियोंकानाशकरनेवाला है और राजलक्ष्मी तथा स्वर्गमोक्ष की लक्ष्मीका देनेवाला है तथा जिसकी रचना चैतन्यस्वरूपतत्वमें आनंदमाननेवाले श्रीपद्मनन्दिमुनीने की है ऐसे यतिभावनाष्टकको जोभव्यजीव भक्तिपूर्वक तीनोंकाल पढ़ते हैं उनभाग्यशाली भव्यजीवोंको संसारमें किस २ इष्टपदार्थकी प्राप्ति नहीं होती ? अर्थात् सर्वइष्टपदार्थ उनको सुलभ रीतिसे मिलजाते है ॥ ९ ॥

इसप्रकार इसपद्मनन्दिपञ्चविंशतिकामें यतिभावनाष्टक
नामक पञ्चम अधिकार समाप्तहुआ ॥

श्रावकाचारः ।

अनुष्टुप् ।

आद्यो जिनो नृपःश्रेयान् व्रतदानादिपूरुषौ ।
एतदन्योऽन्यसंवन्धे धर्मस्थितिरभूदिह ॥ १ ॥

अर्थः—आदि जिनेन्द्र श्रीऋषभनाथ और श्रेयांस नामकराजा ये दोनों महात्मा व्रततीर्थ तथा धर्म तीर्थके प्रवर्तानेमें आदि पुरुष है और इसभरतक्षेत्रमें इनदोनोंके संवंधसे ही धर्मकी स्थिति हुई है ॥

भावार्थः—चतुर्थकालकी आदिमें जिससमय कर्मभूमिकी प्रवृत्ति थी उससमय सवसे पहिले व्रत-तीर्थकी प्रवृत्ति श्री आदीश्वर भगवानने की है अर्थात् प्रथमही प्रथम इन्होंने ही तप आदिको धारण किया है तथा उसीकालमें दानतीर्थकी प्रवृत्ति श्री श्रेयांस राजाने की है अर्थात् सवसे पहिले श्रीआदीश्वरभगवानको श्रेयांस राजानेही दान दिया है इसलिये ये दोनों महात्मा व्रततीर्थ तथा दानतीर्थके प्रवर्तानेमें आदि पुरुष है और इनदोनोंके संवंधसेही इसभरतक्षेत्रमें धर्मकी स्थिति हुई है ॥ १ ॥

अब आचार्य धर्मके स्वरूपका वर्णन करते हैं ।

सम्यग्दृग्वोधचारित्रत्रितयं धर्म उच्यते ।
मुक्तेः पन्था स एव स्यात्प्रमाणपरिनिष्ठितः ॥ २ ॥

अर्थः—सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र इनतीनोंके समुदायको धर्म कहते हैं तथा प्रमाणसे निश्चित यहधर्मही मोक्षका मार्ग है ॥ २ ॥

रत्नत्रयात्मके मार्गे संचरन्ति न ये जनाः ।

॥१९४॥

तेषां मोक्षपदं दूरं भवेद्दीर्घतरोभवः ॥ ३ ॥

अर्थः—जो मनुष्य इस सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र स्वरूपमोक्षमार्गमें गमन नहीं करते हैं उनको कदापि मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती और उनकेलिये संसार दीर्घतर होजाता है अर्थात् उनका संसार कभी भी नहीं छूटता ॥ ३ ॥

सम्पूर्णदेशभेदाभ्यां सच धर्मोद्विधा भवेत् ।
आद्ये भेदे च निर्ग्रन्था द्वितीये गृहिणः स्थिताः ॥ ४ ॥

अर्थः—और वह रत्नत्रयात्मकधर्म सर्वदेश तथा एकदेशके भेदसे दो प्रकारका है उसमें सर्वदेश धर्मका तो निर्ग्रन्थ मुनि पालन करते हैं और एकदेशधर्मका गृहस्थ (श्रावक) पालन करते हैं ॥ ४ ॥

सम्प्रत्यपि प्रवर्तेत धर्मस्तेनैव वर्त्मना ।
तेनैतेऽपि च गण्यन्ते गृहस्था धर्महेतवः ॥ ५ ॥

अर्थः—इसकलिकालमें भी उसधर्मकी उसीमार्गसे अर्थात् सर्वदेश तथा एकदेशमार्गसे ही प्रवृत्ति है इस लिये उसधर्मके कारण, गृहस्थभी गिनेजाते हैं ॥ ५ ॥

सम्प्रतयत्र कलौ काले जिनगेहे मुनिस्थितिः ।
धर्मश्च दानमित्येषां श्रावका मूलकारणम् ॥ ६ ॥

अर्थः—और इसकालमें श्रावकगण बड़े २ जिनमन्दिर वनवाते हैं तथा आहार देकर मुनियोंके शरीर की स्थिति करते हैं तथा सर्वदेश और एकदेशरूप धर्मकी प्रवृत्ति करते हैं और दान देते हैं इसलिये इनसवोंके मूल कारण श्रावक ही है अतः श्रावकधर्मभी अत्यन्त उत्कृष्ट है ॥ ६ ॥

षट् आवश्यकर्म ।

देवपूजा गुरूपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः ।
दानश्चेति गृहस्थानां षट् कर्माणि दिने दिने ॥ ७ ॥

अर्थः—जिनेन्द्रदेवकी पूजा और निर्ग्रन्थगुरुओंकीसेवा तथा स्वाध्याय और संयम तथा योग्यतानुसार तप और दान ये छै कर्म श्रावकोंको प्रतिदिन करने योग्य है ॥ ७ ॥

सामायिकका लक्षण ।

समता सर्वभूतेषु संयमे शुभभावना ।
आर्तरौद्रपरित्यागस्तद्धि सामायकंव्रतम् ॥ ८ ॥

अर्थः—समस्तप्राणियोंमें साम्यभावरखना तथा संयमधारणकरनेमें अच्छीभावना रखना और आर्तध्यान तथा रौद्रध्यानका त्याग करना इसीका नाम सामायिकव्रतहै ॥ ८ ॥

सामायिकं न जायेत व्यसनम्लानचेतसः ।
श्रावकेन ततः साक्षात्त्याज्यं व्यसनसप्तकम् ॥ ९ ॥

अर्थः—जिनमनुष्योंका चित्त व्यसनोंसे मलिन होरहा है उनके कदापि यह सामायिक व्रत नहीं होसक्ता इसलिये सामायिकके आकांक्षी श्रावकोंको सातो व्यसनोंका सर्वथा त्यागकरदेना चाहिये ॥ ९ ॥

सातव्यसनोंके नाम ।

द्यूतमांससुरावेश्याखेटचौर्यपराङ्गनाः ।
महापापानि सप्तैव व्यसनानि त्यजेद्बुधः ॥ १० ॥

अर्थः—जूवा मांस मद्य वेश्या शिकार चोरी परस्त्री ये सात व्यसन संसारमें प्रबल पाप है इसलिये विद्वानोंको चाहिये कि वे इनका सर्वथा त्याग करदेवें ॥ १० ॥

अनुष्टुप् ।

धर्मार्थिनोऽपि लोकस्य चेदस्ति व्यसनाश्रयः ।
जायते न ततः सापि धर्मान्वेषणयोग्यता ॥ ११ ॥

अर्थः—जो पुरुष धर्मकी अभिलाषा करनेवाला है यदि उसके भी ये व्यसन होवे तो उसपुरुषमें धर्म धारणकरनेकी योग्यता कदापि नहीं होसक्ती अर्थात् वह धर्मकी परीक्षाकरनेका पात्रही नहीं होसक्ता इसलिये धर्मार्थीपुरुषोंको अवश्यही व्यसनोंका त्याग करदेना चाहिये ॥ ११ ॥

सप्तैव नरकाणि स्युस्तैरेकैकं निरूपितम् ।
आकर्षयन्नृणामेतद् व्यसनं स्वसमृद्धये ॥ १२ ॥

अर्थः—आचार्य कहते हैं कि जिसप्रकार व्यसन सात है उसीप्रकार नरकभी सातही है इसलिये ऐसा मालूम होता है कि उन नरकोंने अपनी २ वृद्धिकेलिये मनुष्योंको खींचकर नरकमें लेजानेकेलिये एक २ व्यसनको नियत किया है ॥ १२ ॥

धर्मशत्रुविनाशार्थं पापायकुपतेरिह ।
सप्ताङ्गबलवद्राज्यं सप्तभिर्व्यसनैः कृतम् ॥ १३ ॥

अर्थः—और भी आचार्य कहते हैं कि धर्मरूपीवैरीके नाशकेलिये पापनामक दुष्टराजाका सातव्यसनोंसे रचाहुवा यह सात हैं अंगजिसके ऐसा बलवान् राज्य है ।

॥१९७॥

भावार्थः—जिसप्रकार राजा सप्तांगसेनासे शत्रुका विजयकरता है उसीप्रकार यह पापरूप राजा भी सप्तव्यसनरूपी सप्तांगसेनासे धर्मरूपी शत्रुको जीतता है इसलिये जो पुरुष धर्मकी रक्षा करना चाहते हैं उन को इन सप्तव्यसनोंका सर्वथा त्याग करदेना चाहिये ॥ १३ ॥

आचार्य छै अवश्यकोंकी महिमाका बर्णन करते हैं।

प्रपश्यन्ति जिनं भक्त्या पूजयन्ति स्तुवन्ति ये
ते च दृश्याश्च पूज्याश्च स्तुत्याश्च भुवनत्रये ॥१४॥

अर्थः—जो भव्यजीव जिनेंद्रभगवानको भक्तिपूर्वक देखते हैं तथा उनकी पूजा स्तुति करते हैं वे भव्य-जीव तीनोंलोकमें दर्शनीय तथा पूजाके योग्य तथा स्तुतिके योग्य होते हैं अर्थात् सर्वलोक उनको भक्तिसे देखता है तथा उनकी पूजा स्तुति करता है ॥ १४ ॥

ये जिनेन्द्रं न पश्यन्ति पूजयन्ति स्तुवन्ति न
निष्फलं जीवितं तेषां तेषां धिक् च गृहाश्रमम् ॥१५॥

अर्थः—किन्तु जो मनुष्य जिनेन्द्रभगवानको भक्तिसे नहीं देखते हैं और न उनकी भक्तिपूर्वक पूजा स्तुतिही करते हैं उनमनुष्योंका जीवन संसार में निष्फल है तथा उनके गृहस्थाश्रमकेलिये भी धिक्कार है ॥१५॥

प्रातरुत्थाय कर्तव्यं देवतागुरुदर्शनम्
भक्त्या तद्वन्दना कार्या धर्मश्रुतिरुपासकैः ॥१६॥
पश्चादन्यानि कार्याणि कर्तव्यानि यतो बुधैः
धर्मार्थकाममोक्षाणामादौ धर्मः प्रकीर्तितः ॥ १७ ॥

अर्थः—भव्यजीवोंको प्रातःकाल उठकर जिनेंद्रदेव तथा गुरुका दर्शन करना चाहिये और भक्तिपूर्वक उनकी वदना स्तुति भी करनी चाहिये और धर्मका श्रवण भी करना चाहिये इनके पीछे अन्य गृह आदि संबंधी कार्य करने योग्य है क्योंकि गणधर आदि महापुरुषोंने धर्म अर्थ काम मोक्ष इनचार पुरुषार्थोंमें धर्मका ही सबसे प्रथम निरूपण किया है तथा उसीको मुख्यमाना है ॥ १६ ॥ १७ ॥

गुरोरेव प्रसादेन लभ्यते ज्ञानलोचनम्
समस्तं दृश्यते येन हस्तरेखेव निस्तुषम् ॥१८॥

अर्थः—जिस केवलज्ञानरूपीलोचनसे समस्तपदार्थ हाथकी रेखाकेसमान प्रकटरीतिसे देखनेमें आते है ऐसा ज्ञानरूपीनेत्र निर्ग्रंथगुरुओंकी कृपासेही प्राप्त होता है इसलिये ज्ञानके आकाक्षी मनुष्योंको भक्तिपूर्वक गुरुओंकी सेवा वंदना आदि करनी चाहिये ॥ १८ ॥

ये गुरुं नैव मन्यन्ते तदुपास्तिं न कुर्वते
अंधकारो भवेत्तेषामुदितेऽपि दिवाकरे ॥१९॥

अर्थः—जो मनुष्य गुरुओंको नहीं मानते हैं और उनकी सेवा वंदना नहीं करते हैं उन मनुष्योंकेलिये सूर्यके उदय होनेपर भी अंधकारही है ॥

भावार्थः—जो मनुष्य परिग्रहरहित तथा ज्ञान ध्यान तपमेंलीन गुरुओंको नहीं मानते हैं तथा उनकी उपासना भक्ति आदि नहीं करते हैं उनपुरुषोंके अंतरंगमें अज्ञानरूपी अंधकार सदा विद्यमान रहता है इसलिये सूर्यके उदयहोनेपर भी वे अन्धेही बने रहते हैं अतः भव्यजीवोंको चाहिये कि वे अज्ञानरूपअंधकारके नाशकरनेकेलिये गुरुओंकी सेवा करै ॥ १९ ॥

ये पठन्ति न सच्छास्त्रं सद्गुरुप्रकटीकृतम्
तेऽन्धाः सचक्षुपोपीह सम्भाव्यन्ते मनीपिभिः ॥२०॥

अर्थः—जो मनुष्य उत्तम और निष्कलंक गुरुओंसे प्रकटकियेहुये शास्त्रको नहीं पढ़ते हैं उनमनुष्योंको विद्वानपुरुष नेत्रधारी होनेपर भी अन्धेही मानते हैं ।

भावार्थः—वस्तुका स्वरूप यथार्थरीतिसे शास्त्रसे जानाजाता है किन्तु जो मनुष्य शास्त्रको न तो देखते हैं और न वांचते ही हैं वे मनुष्य वस्तुके यथार्थ स्वरूपको भी नहीं जानते हैं इसलिये नेत्रसाहित होनेपर भी वे अंधेही हैं अतः भव्यजीवोंको शास्त्रका स्वाध्याय तथा मनन अवश्य करना चाहिये ॥ २० ॥

मन्ये न प्रायशस्तेषां कर्णाश्च हृदयानि च
यैरभ्याशे गुरोः शास्त्रं नश्रुतं नावधारितम् ॥२१॥

अर्थः—आचार्य कहते हैं जिनमनुष्योंने गुरूके पासमें रहकर न तो शास्त्रको सुना है तथा हृदयमें धारणभी नहीं किया है उनके कान तथा मन नहीं हैं ऐसा प्रायकर हम मानते हैं ॥ २१ ॥

भावार्थः—कान तथा मनकी प्राप्तिका सफलपना शास्त्रके सुननेसे और उसके अभिप्रायको मनमें धारण करनेसे होता है किन्तु जिनमनुष्योंने कानपाकर शास्त्रका श्रवण नहीं किया है तथा मन पाकर उसका अभिप्राय भी नहीं समझा है उन मनुष्योंके कान तथा हृदयका पाना न पानासरीखाही है इसलिये विद्वानोंको शास्त्रका श्रवण तथा उसका मनन अवश्य करना चाहिये जिससे उनके कान तथा हृदय सफल समझे जावें ॥ २१ ॥

॥ अब आचार्य संयमनामकआवश्यकका कथन करते हैं ॥

देशव्रतानुसारेण संयमोऽपि निषेव्यते
गृहस्थैर्येन तेनैव जायते फलवद्व्रतम् ॥२२॥

अर्थः—धर्मात्माश्रावकोंको एकदेशव्रतके अनुसार संयम भी अवश्य पालना चाहिये जिससे उनका कियाहुआ व्रत फलीभूत होवे ।

भावार्थः—जीवोंकी रक्षाकरना और मन तथा इन्द्रियोंको वशमें रखना इसकानाम संयम है जबतक यह संयम न किया जावेगा तबतक व्रत कदापि फलीभूत नहीं होसक्ते इसलिये आचार्य उपदेश देते हैं कि एकदेशव्रतके अनुसार श्रावकोंको संयम अवश्य पालना चाहिये जिससे उनका व्रत फलका देनेवाला होवे ॥२२॥

त्याज्यं मांसंच मद्यंच मधूदुम्बरपञ्चकम्
अष्टौ मूलगुणाःप्रोक्ता गृहिणो दृष्टिपूर्वकाः ॥२३॥

अर्थः—श्रावकोंको मद्य मास मधुका तथा पांच उदुम्बरोंका अवश्य त्याग करदेना चाहिये और सम्यग्दर्शनपूर्वक इन आठोंका त्यागही गृहस्थोंके आठ मूलगुण हैं ॥ २३ ॥

अणुव्रतानि पञ्चैव त्रिःप्रकारं गुणव्रतम्
शिक्षाव्रतानि चत्वारि द्वादशेति गृहिव्रते ॥२४॥

अर्थः—पांच प्रकारके अणुव्रत तथा तीनप्रकारके गुणव्रत और चारप्रकारके शिक्षाव्रत ये बारहव्रत गृहस्थोंके हैं।

भावार्थः—अहिंसाअणुव्रत सत्यअणुव्रत अचौर्यअणुव्रत ब्रह्मचर्यअणुव्रत तथा परिग्रहपरियाणनामक-अणुव्रत ये पांच अणुव्रत, और दिग्व्रत देशव्रत तथा अनर्थदंडव्रत ये तीन गुणव्रत, तथा देशावकाशिक सामायिक प्रोषधोपवास वैयावृत्य ये चार शिक्षाव्रत, इसप्रकार इन बारहव्रतोंको गृहस्थ पालने हैं ॥ २४ ॥

पर्वस्वथ यथाशक्ति भुक्तित्यागादिकं तपः
वस्त्रपूतं पिवेत्तोयं रात्रिभोजनवर्जनम् ॥२५॥

अर्थः—अष्टमी चतुर्दशीको शक्तिके अनुसार उपवास आदितप, तथा छनेहुए जलका पान, और रातको भोजनका त्याग भी गृहस्थोंको अवश्य करना चाहिये ॥ २५ ॥

तं देशं तं नरं तत्स्वं तत्कर्माण्यपि नाश्रयेत्
मलिनं दर्शनं येन येन च व्रतखण्डनम् ॥२६॥

अर्थः—सम्यग्दृष्टिश्रावक ऐसे देशको तथा ऐसे पुरुषको और ऐसे धनको तथा ऐसी क्रियाको कदापि आश्रयण नहीं करते जहांपर उनका सम्यग्दर्शन मलिन होवे तथा व्रतोंका खंडन होवे ॥ २६ ॥

भोगोपभोगसंख्यानं विधेयं विधिवत्सदा
व्रतशून्या न कर्तव्या काचित्कालकला बुधैः ॥२७॥

अर्थः—आचार्य उपदेश देते हैं कि श्रावकोंको भोगोपभोगपरिमाणव्रत सदा करना चाहिये और विद्वानोंको एकक्षण भी बिना व्रतके नहीं रहना चाहिये ॥ २७ ॥

रत्नत्रयाश्रयः कार्यस्तथा भव्यैरतन्द्रितैः
जन्मान्तरेऽपि यच्छ्रद्धा यथा संवर्धतेतरा ॥२८॥

अर्थः—आलस्यरहित होकर भव्यजीवोंको उसीरीतिसे रत्नत्रयका आश्रय करना चाहिये जिससे दूसरे २ जन्मोंमें भी उसकी श्रद्धा बढ़तीही चाली जावे ॥ २८ ॥

विनयश्च यथायोग्यं कर्तव्यः परमेष्ठिषु

दृष्टिबोधचारित्रेषु तद्वत्सु समयाश्रितैः ॥२९॥

अर्थः—जो जिनेन्द्रके सिद्धान्तके अनुयायी हैं उन भव्यजीवोंको योग्यतानुसार, जो उत्कृष्टस्थानमें रहनेवाले हैं ऐसे परमेष्ठियोंमें विनय अवश्य करनी चाहिये तथा सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्रमें और इनके धारणकरनवालेमहात्माओंमें मी अवश्य विनय करना चाहिये ॥

भावार्थः—जो मनुष्य जिनेन्द्रसिद्धान्तके भक्त हैं तथा धर्मात्मा हैं उनको समसरणलक्ष्मीकरयुक्त, और चारघातियाकर्मोंको नाशकर केवलज्ञान आदि अनन्त चतुष्टय के धारी, श्रीअर्हन्त परमेष्ठीमें, तथा समस्त कर्मोंको नाशकर लोकके शिखरपर विराजमान और अनन्तज्ञानादि आठगुणोंकर सहित सिद्धपरमेष्ठीमें, तथा दर्शनाचार ज्ञानाचार आदि पांचआचारोंको स्वयं आचरण करनेवाले और अन्योंको भी आचरण करानेवाले ऐसे आचार्य परमेष्ठीमें, तथा ग्यारहअंग चौदहपूर्वके पढ़ने पढ़ानेके अधिकारी ऐसे उपाध्याय परमेष्ठीमें, और रत्नत्रयको धारणकर मोक्षके अभिलाषी ऐसे साधुपरमेष्ठीमें, अवश्य विनय करनी चाहिये उसीप्रकार सम्यक्-दर्शन सम्यग्ज्ञानादि रत्नत्रयमें तथा उसरत्नत्रयके धारणकरनेवालोंमें भी अवश्य विनय करनी चाहिये ॥ २९ ॥

दर्शनज्ञानचारित्रतपःप्रभृति सिध्यति
विनयेनेति तं तेन मोक्षद्वारं प्रचक्षते ॥३०॥

अर्थः—विनयसे सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र तथा तप आदिकी प्राप्ति होती है इसलिये उस विनयको गणधर आदि महापुरुष मोक्षका द्वार कहते हैं अतः मोक्षके अभिलाषीभव्योंको यह विनय अवश्य करनी चाहिये ॥ ३० ॥

सत्पात्रेषु यथाशक्ति दानं देयं गृहस्थितैः

दानहीना भवेत्तेषां निष्फलैव गृहस्थता ॥३१॥

अर्थ—धर्मात्मा गृहस्थोंको मुनिआदिउत्तमपात्रोंमें शक्तिके अनुकूल दान भी अवश्य देना चाहिये क्योंकि विना दानके गृहस्थोंका गृहस्थपना निष्फलही है ॥ ३१ ॥

दानं ये न प्रयच्छन्ति निर्ग्रन्थेषु चतुर्विधम्
पाशा एव गृहास्तेषां बन्धनायैव निर्मिता ॥३२॥

अर्थः—जो पुरुष निर्ग्रन्थयतीश्वरोंको आहार औषधि अभय तथा शास्त्र इसप्रकार चारप्रकारके दानको नहीं देते हैं उनकेलिये घर जालके समान केवल बांधनेकेलियेही बनायेगये हैं ऐसा मालूम होता है ।

भावार्थः—जिसघरमें यतीश्वरोंका आवागमन बना रहता है वे घर तथा उनघरोंमें रहनेवाले श्रावक धन्य गिनेजाते हैं किन्तु जो मनुष्य यतीश्वरोंको दान नहीं देते इसीलिये जिनके घरमें यतीश्वर नहीं आते वे घर नहीं हैं किन्तु मनुष्योंके फासनेकेलिये जाल हैं इसलिये भव्यजीवोंको चाहिये कि वे प्रतिदिन यथायोग्य यतीश्वरोंको दान अवश्य दिया करैं ॥ ३२ ॥

अभयाहारभैषज्यशास्त्रदाने हि यत्कृते
ऋषीणां जायते सौख्यं गृही श्लाघ्यः कथं न सः ॥३३॥

अर्थः—जिस गृहस्थके अभयदान अहारनान औषधिदान तथा शास्त्रदानके करनेपर यतीश्वरोंको सुख होता है वह गृहस्थ क्यों नहीं प्रशंसाके योग्य है ? अर्थात् उसगृहस्थकी सर्वलोक प्रशंसा करता है इसलिये ऐसा उत्तमदान गृहस्थोंको अवश्य देना चाहिये ॥ ३३ ॥

समर्थोऽपि न यो दद्याद्यतीनां दानमादरात्

छिनत्ति स स्वयं मूढः परत्र सुखमात्मनः ॥३४॥

अर्थः—समर्थहोकर भी जो पुरुष आदरपूर्वक यतीश्वरोंको दान नहीं देता वहमूपुरुष आगामी जन्ममें होनेवाले अपने सुखको स्वयंनाशकरता है ।

भावार्थः—जो मनुष्य एकसमय भी यतीश्वरोंको नवधाभक्तिसे दानदेता है उसको परभवमें नानाप्रकारके स्वर्गआदि सुखोंकी प्राप्ति होती है किन्तु जो पुरुष समर्थहोकर भी आदरपूर्वक यतीश्वरोंको दान नहीं देता वह स्वर्गआदि सुखके बदले नानाप्रकारके नरकोंके दुःखोंको भोगता है इसलिये समर्थगृहस्थोंको तो अवश्यही दानदेना चाहिये ॥ ३४ ॥

दृषन्नावा समो ज्ञेयो दानहीनो गृहाश्रमः
तदारूढो भवाम्भोधौ मज्जत्येव न संशयः ॥३५॥

अर्थः—जो गृहस्थाश्रम दानकर रहित है वह पत्थरकी नावके समान है तथा उस गृहस्थाश्रमरूपी पत्थरकी नावमें बैठनेवाला मनुष्य नियमसे संसाररूपी समुद्रमें डूबता है ।

भावार्थः—जो मनुष्य पाषाणसे बनीहुई नावपर चढ़कर समुद्रको तरना चाहता है वह जिसप्रकार नियमसे समुद्रमें डूबता है उसीप्रकार जिस गृहस्थाश्रममें यतीश्वरोंकेलिये दान नहीं दियाजाता उस गृहस्थाश्रममें रहनेवाले गृहस्थ कदापि संसारको नाशकर मोक्ष नहीं पासक्ते इसलिये संसारसे तरनेकी अभिलाषा करनेवाले भव्यजीवोंको अवश्यही यतीश्वरोंको दानदेना चाहिये ॥ ३५ ॥

स्वमतस्थेषु वात्सल्यं स्वशक्त्या ये न कुर्वते
वहुपापावृतात्मानस्ते धर्मस्य पराङ्मुखाः ॥३६॥

अर्थः—जो मनुष्य साधर्मीसज्जनोंमें शक्तिके अनुसार प्रीति नहीं करते उन मनुष्योंकी आत्मा प्रबल पापसे ढकीहुई है और वे धर्मसे पराङ्मुख हैं अर्थात् धर्मके अभिलाषी नहीं हैं इसलिये भव्यजीवोंको साधर्मी मनुष्योंके साथ अवश्य प्रीति करनी चाहिये ॥ ३६ ॥

येषां जिनोपदेशेन कारुण्यामृतपूरिते
चित्ते जीवदया नास्ति तेषां धर्मः कुतोभवेत् ॥३७॥

अर्थः—जिनेन्द्रभगवानके उपदेशसे करुणासे पूरित भी जिन मनुष्योंके चित्तोंमें दया नहीं है उन मनुष्योंके धर्म कदापि नहीं होसक्ता।

भावार्थः—समस्तजीवोंपर दयाभावरखना इसीकानामधर्म है किन्तु जिनेन्द्रभगानके उपदेशसे जिन मनुष्योंके चित्त करुणारससे भरेहुए हैं ऐसे मनुष्योंके भी अंतरंगमें यदि दया नहीं है तो वे मनुष्य, धर्मके पात्र कदापि नहीं होसक्ते इसलिये उत्तमपुरुषोंको जीवोंपर अवश्य दयाकरनी चाहिये ॥ ३७ ॥

मूलं धर्मतरोराद्या व्रतानां धाम सम्पदाम्
गुणानां निधिरित्यङ्गिदया कार्या विवेकिभिः ॥३८॥

अर्थः—धर्मरूपी वृक्षकीजड़ तथा समस्तव्रतोंमें मुख्य और सर्वसंपदाओंका स्थान तथा गुणोंका खजाना यह दया है इसलिये विवेकी मनुष्योंको यहदया अवश्य करनी चाहिये।

भावार्थः—जिसप्रकार बिनाजड़के वृक्ष नहीं ठहरसक्ता उसीप्रकार विना दयाके धर्म नहीं होसक्ता इस लिये यहदया धर्मरूपी वृक्षकीजड़ है तथा समस्तअणुव्रत तथा महाव्रतोंमें यह मुख्य है क्योंकि विनादयाके पालनकियेहुए अणुव्रत तथा महाव्रत सर्वनिष्फल है और इसीदयासे बड़ीं २ इन्द्र चक्रवर्ती आदिकी संपदाओंकी

प्राप्ति होती है इसलिये यहदया संपदाओंका स्थान है और इसीदयासे समस्तगुणोंकी प्राप्ति होती है इसलिये यहदया गुणोंका खजाना है अतः जो मनुष्य हित तथा अहितके जाननेवाले हैं उनको ऐसी उत्तमदया प्राणियों में अवश्य करनी चाहिये किंतु दयासे पराङ्मुखकदापि नहीं रहना चाहिये ॥ ३८ ॥

सर्वे जीवदयाधारा गुणास्तिष्ठन्ति मानुषे
सूत्राधाराः प्रसूनानां हाराणां च सराइव ॥३९॥

अर्थः—जिसप्रकार फूलोंके हारोंकीलड़ीं सूत्रके आश्रयसे रहतीं हैं उसीप्रकार मनुष्यमें समस्तगुण जीव दयाके आधारसे रहते हैं इसलिये समस्तगुणोंकी स्थितिके अभिलाषी भव्यजीवोंको यहदया अवश्य करनी चाहिये ॥३९॥

यतीनां श्रावकाणां च व्रतानि सकलान्यपि
एकाऽहिंसाप्रसिद्ध्यर्थं कथितानि जिनेश्वरैः ॥४०॥

अर्थः—जितनेभर मुनियोंके व्रत तथा श्रावकोंके व्रत सर्वज्ञदेवने कहे हैं वे सर्व अहिंसाकी प्रसिद्धिके लियेही कहे हैं किन्तु हिंसाका पोषण करनेवाला उनमें कोई भी व्रत नहीं कहागया है इसलिये व्रतीमनुष्योंको समस्तप्राणियोंपर दयाहीरखनी चाहिये ॥ ४० ॥

जीवहिंसादिसंकल्पैरात्मन्यपि हि दूषिते
पापं भवति जीवस्य न परं परपीडनात् ॥४१॥

अर्थः—केवल अन्य प्राणियोंको पीड़ा देनेसेही पापकी उत्पत्ति नहीं होती कि "उसजीवको मारूंगा अथवा वह जीव मरजावे तो अच्छा हो" इत्यादि जीवहिंसाके संकल्पोंसे जिससमय आत्मा मलिन होता है उससमयभी पापकी उत्पत्ति होती है इसलिये उत्तममनुष्योंको जीवहिंसाका संकल्पभी नहीं करना चाहिये ॥४१॥

॥२०७॥

द्वादशापि सदा चिन्त्या अनुप्रेक्षा महात्मभिः
तद्भावना भवत्येव कर्मणःक्षयकारणम् ॥४२॥

अर्थः—उत्तमपुरुषोंको बारह भावनाओंका सदा चिंतवन करना चाहिये क्योंकि उन भावनाओंका चिंतवन, समस्तकर्मोंका नाशकरनेवाला होता है ॥ ४२ ॥

॥ आचार्यवर बारहभावनाओंके नाम बताते हैं ॥

अध्रुवाशरणेचैव भव एकत्वमेव च
अन्यत्वमशुचित्वं च तथैवाश्रवसंवरौ ॥४३॥
निर्जरा च तथा लोको बोधिदुर्लभधर्मता
द्वादशैता अनुप्रेक्षा भाषिता जिनपुङ्गवैः ॥४४॥

अर्थः—अध्रुव १ अशरण २ संसार ३ एकत्व ४ अन्यत्व ५ अशुचित्व ६ आश्रव ७ संवर ८ निर्जरा ९ लोक १० बोधिदुर्लभ ११ धर्म १२ ये बारह अनुप्रेक्षा जिनेन्द्रदेवने कही हैं ॥ ४३ ॥ ४४ ॥

अनित्यभावनाके स्वरूपका वर्णन ॥

अध्रुवाणि समस्तानि शरीरादीनि देहिनाम्
तन्नाशेऽपि न कर्तव्यः शोकोदुष्कर्मकारणम् ॥४५॥

अर्थः—प्राणियोंके समस्त शरीर धन धान्य आदिपदार्थ विनाशीक हैं इसलिये उनके नष्ट होनेपर जीवोंको कुछभी शोक नहीं करना चाहिये क्योंकि उस शोकसे केवल खोटे कर्मोंका बंधही होता है ॥ ४५ ॥

आस्रवभावनाका स्वरूप ।

जीवपोतो भवाम्भोधौ मिथ्यात्वादिकरन्ध्रवान् ।
आस्रवति विनाशार्थं कर्माम्भः प्रचुरं भ्रमात् ॥ ५१ ॥

अर्थः—इस संसाररूपीसमुद्रमें जिससमय यह जीवरूपीजहाज मिथ्यात्व अविरति प्रमाद कषाय योगरूप छिद्रोंसे सहित होता है उससमय यह अपने विनाशकेलिये अज्ञानतासे प्रचुर कर्मरूपी जलको आस्रवरूप करताहै ।

भावार्थः—जिसप्रकार समुद्रमें जिससमय जहाजमें छिद्र हो जाते हैं उससमय वह उनछिद्रोंसे अपने डुबानेकेलिये स्वयं जलको ग्रहण करता है उसीप्रकार यह जीव जिससमय मिथ्यात्वादि कर्मबन्धके कारणोंकर संयुक्त होता है उससमय यह अपने विनाशकेलिये स्वयं कर्मको ग्रहण करता है इसलिये भव्यजीवोंको इसप्रकार आस्रवके स्वरूपको जानकर कर्मोंके रोकनेकेलिये ही प्रयत्न करना चाहिये ॥ ५१ ॥

संवरका स्वरूप ।

कर्मास्रवनिरोधोऽत्र संवरो भवति ध्रुवम् ।
साक्षादेतदनुष्ठानं मनोवाक्कायसंवृतिः ॥ ५२ ॥

अर्थः—आयेहुए कर्मोंका जो रुकजाना है वही निश्चयसे संवर है तथा मन बचन कायका जो संवरण (स्वाधीन) करना है यही संवरका आचरण है ।

भावार्थः—जिससमय मन बचन कायस्वरूपयोग, मिथ्यात्व कषाय आदिसे रहित होकर गुप्ति समिति धर्म अनुप्रेक्षाके चिंतवनमें तथा परीषहोंके जीतनेमें लीन होता है उसीसमय संवर होता है इसलिये संवरकी प्राप्तिके अभिलाषियोंको मन वचन कायको अशुभप्रवृत्तिसे अवश्य रोकना चाहिये ॥ ५२ ॥

निर्जराके स्वरूपका वर्णन ।

निर्जरा शातनं प्रोक्ता पूर्वोपार्जितकर्मणाम् ।
तपोभिर्बहुभि सा स्याद्वैराग्याश्रितचेष्टितैः ॥ ५३ ॥

अर्थः—पहिले संचितहुए कर्मोंका जो एकदेशरूपसे नाशहोना है वही निर्जरा है तथा वह निर्जरा संसार देह आदिसे वैराग्यकरानेवाले अनशन अवमोदर्यादि तपसे होती है ।

भावार्थः—संसार शरीर आदिसे विरक्त होकर अनशनादि तपसे जो पूर्वसंचितकर्मोंका क्षयकरना है उसी का नाम निर्जरा है और उसनिर्जराके उपायका चिंतवन करना निर्जराभावना है ॥ ५३ ॥

लोकानुप्रेक्षाका स्वरूप ।

लोकः सर्वोऽपि सर्वत्र सापायस्थितिरध्रुवः ।
दुःखकारीति कर्तव्या मोक्षएव मतिः सताम् ॥ ५४ ॥

अर्थः—यह समस्तलोक विनाशीक और अनित्य है तथा नानाप्रकारके दुःखोंका करनेवाला है ऐसा विचार कर उत्तमपुरुषोंको सदा मोक्षकी ओर ही बुद्धि लगानी चाहिये ॥ ५४ ॥

बोधिदुर्लभभावनाका स्वरूप ।

रत्नत्रयपरिप्राप्तिर्बोधिः सातीवदुर्लभा ।
लब्धा कथं कथञ्चिचेत्कार्यो यत्नो महानिह ॥ ५५ ॥

अर्थः—सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्रस्वरूपरत्नत्रयकी जो प्राप्ति है उसीका नाम बोधि है

१ पवित्राप्तिरित्यपि पाठान्तरम् ।

अशरणभावनाके स्वरूपका वर्णन ।

व्याघ्रेणाघ्रातकायस्य मृगशावस्य निर्जने ।
यथा न शरणं जन्तोः संसारे न तथापदि ॥ ४६ ॥

अर्थः—जिस मृगके बच्चेका शरीर व्याघ्रने प्रबलरीतिसे पकड़ लिया है ऐसे मृगके बच्चेको जिसप्रकार निर्जनबनमें कोई बचानेकेलिये समर्थ नहीं है उसीप्रकार इससंसारमें आपत्तिके आनेपर जीवको भी कोई इन्द्र अहमिन्द्र आदि नहीं बचा सक्ते इसलिये भव्यजीवोंको सिवाय धर्मके किसीको भी रक्षक नहीं समझना चाहिये॥४६॥

संसारभावनाका स्वरूप ।

यत्सुखं तत्सुखाभासो यद्दुःखं तत्सदञ्जसा ।
भवे लोक सुखं सत्यं मोक्षएव स साध्यताम् ॥ ४७ ॥

अर्थः—हे जीव संसारमें जो सुख मालूम होता है वह सुख नहीं है सुखाभास है अर्थात् सुखके समान मालूम पड़ता है और जो दुःख है सो सत्य है किन्तु वास्तविकसुख मोक्षमें ही है इसलिये तुझे मोक्षकी प्राप्तिकेलियेही प्रयत्न करना चाहिये ॥ ४७ ॥

एकत्वभावनाका स्वरूप ।

स्वजनोत्रा परोवापि नो कश्चित्परमार्थतः ।
केवलं स्वार्जितं कर्म जीवेनैकेन भुज्यते ॥ ४८ ॥

अर्थः—यदि निश्चयरीतिसे देखा जावे तो संसारमें जीवका न तो कोई स्वजन है और न कोई परजनही है तथा यह जीव अपने कियेहुवे कर्मके फलको अकेलाही भोगता है ॥ ४८ ॥

अन्यत्वभावनाका स्वरूप ।

क्षीरनीरवदेकत्र स्थितयोर्देहदेहिनोः ।
भेदोयदि ततोन्येषु कलत्रादिषु का कथा ॥ ४९ ॥

अर्थः—शरीर और आत्माकी स्थिति दूध तथा जलके समान मिली हुई है यदि ये दोनों भी परस्परमें भिन्न हैं तो सर्वथा भिन्न स्त्री पुत्र आदि तो अवश्यही भिन्न हैं इसलिये विद्वानोंको शरीर स्त्री पुत्र आदिको अपना कदापि नहीं मानना चाहिये ॥ ४९ ॥

अशुचित्वभावनाका वर्णन ।

तथाऽशुचिरयं कायः कृमिधातुमलान्वितः ।
यथा तस्यैव सम्पर्कादन्यत्राप्यपवित्रता ॥ ५० ॥

अर्थः—कीड़ा धातु मल मूत्र आदि अपवित्रपदार्थोंसे भरा हुवा यह शरीर इतना अपवित्र है कि उसके संबन्धसे दूसरीवस्तु भी अपवित्र हो जाती है ।

भावार्थः—अतर चन्दन वस्त्र आभूषण आदि यद्यपि अत्यन्तसुगंधित तथा पवित्रपदार्थ हैं तो भी यदि उनका संबन्ध एकसमय भी इसशरीरसे हो जावे तो वे सर्व अपवित्र हो जाते हैं तथा ऐसे अपवित्र हो जाते हैं कि फिरसे सज्जनपुरुष उनके स्पर्शकरनेमें भी घृणा करते हैं और विष्टा मूत्र कफ आदि अपवित्र वस्तुओंकी भी उत्पत्ति इसीशरीरसे होती है इसलिये इसशरीरके समान संसारमें कोई भी अपवित्र पदार्थ नहीं है अतः सज्जनों को कदापि इसमें ममत्व नहीं रखना चाहिये किन्तु इससे होनेवाले जो तप आदि उत्तम कार्य है उनसे इसको सफल ही करना चाहिये ॥ ५० ॥

और इसबोधिकी प्राप्ति संसारमें अत्यंतकठिन है यदि किसीरीतिसे उसकी प्राप्तिभी हो जावे तो उसकी रक्षाकेलिये विद्वानोंको प्रबलयत्न करना चाहिये ।

भावार्थः—अनन्तजीव ऐसे हैं जोकि अभी निगोदमें ही पड़ेहुए हैं उन्होंने सिवाय निगोदके दूसरी पर्यायही नहीं धारणकी है इसलिये प्रथम तो निगोदसे निकलनाही अत्यंत दुःसाध्य है दैवयोगसे यदि निगोदसे निकल भी आवे तो आकर पृथ्वीकायिक आदि स्थावरजीव होते हैं इसलिये त्रस पर्याय पाना अत्यंत दुर्लभ है यदि त्रस पर्याय भी मिलजावे तो पञ्चेन्द्री होना अत्यंत कठिन है यदि पंचेन्द्री भी होगये तो सैनी (समनस्क) होना दुःसाध्य है सैनीभी हुए तो मनुष्यभव तथा उच्चकुलपाना कठिन है यदि वेभी मिलगये तो चिरायु होना तथा धनवान होकर सुखी होना दुःसाध्य है यदि यह सब सामिग्री भी मिलगई तो रत्नत्रयकी प्राप्ति अत्यत दुर्लभ है तथा भाग्यसे कईएक पुरुषोंको इसकी प्राप्तिभी होजावे तो वे प्रमादके वशीभूतहोकर इसकी रक्षा नहीं करसक्ते इसलिये इसप्रकार अत्यंतकठिन इसरत्नत्रयको पाकर भव्यजीवोंको कदापि प्रमाद नहीं करना चाहिये तथा भलीभांति इसरत्नत्रयकी रक्षा ही करनी चाहिये इसप्रकारका चिंतवन करना दुर्लभानुप्रेक्षा है ॥ ५५ ॥

धर्मानुप्रेक्षाका वर्णन ।

निजधर्मोयमत्यन्तं दुर्लभो भविनां मतः ।
तथा ग्राह्यो यथा साक्षादामोक्षं सह गच्छाति ॥ ५६ ॥

अर्थः—संसारमें प्राणियोंको ज्ञानानंदस्वरूप निजधर्मका पाना अत्यंत कठिन है इसलिये यह धर्म ऐसी रीतिसे ग्रहण करनाचाहिये कि मोक्षपर्यंत यह साथही बना रहे ।

भावार्थः—जिनेन्द्रसे कहाहुआ यह आत्मस्वभावरत्नत्रयस्वरूप तथा उत्तमक्षमादिस्वरूपधर्म ऐसी दृढ़तासे धारणकरना चाहिये कि मोक्षपर्यंत यह साथ बना रहै ॥ ५६ ॥

दुःखग्राहगणाकीर्णे संसारक्षारसागरे ।
धर्मपोतं परं प्राहुस्तारणार्थं मनीषिणः ॥ ५७ ॥

अर्थः—नानाप्रकारके दुःखरूपी नक्र मकरसे व्याप्त इससंसाररूपीखारीसमुद्रसे पारकरनेवाला धर्मरूपी जहाज है ऐसा गणधर आदि महापुरुष कहते हैं इसलिये संसारसे तरनेकी इच्छाकरनेवाले भव्यजीवोंको इसधर्मरूपीजहाजका आश्रय अवश्य लेना चाहिये ॥ ५७ ॥

अनुप्रेक्षा इमाःसद्भिः सर्वदा हृदये धृताः ।
कुर्वते तत्परं पुण्यं हेतुर्यत्स्वर्गमोक्षयोः ॥ ५८ ॥

अर्थः—जो सज्जनपुरुष वारंवार इन बारहभावनाओंका चिंतवन करते हैं वे उस पुण्यका उपार्जन करते हैं जो पुण्य स्वर्ग तथा मोक्षका कारण है इसलिये स्वर्गमोक्षके कारणस्वरूपपुण्यको चाहनेवाले भव्यजीवोंको सदा इन बारहभावनाओंका चिंतवन करना चाहिये ॥ ५८ ॥

आद्योत्तमक्षमा यत्र योधर्मो दशभेदभाक् ।
श्रावकैरपि सेव्योऽसौ यथाशक्ति यथागमम् ॥ ५९ ॥

अर्थः—उत्तमक्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, अकिंचन्य, तथा ब्रह्मचर्य, इसप्रकार इन दश धर्मोंका भी श्रावकोंको शक्तिके अनुसार तथा शास्त्रके अनुसार पालन अवश्य करना चाहिये ॥५९॥

अन्तस्तत्वं विशुद्धात्मा वहिस्तत्वं दयाङ्गिषु ।

॥२१४॥

द्वयोः सन्मीलने मोक्षस्तस्माद्द्वितयमाश्रयेत् ॥६०॥

अर्थ—चिदानन्दचैतन्यस्वरूपआत्मातो अंतस्तत्व (भीतरीतत्व) है तथा समस्तप्राणियोंमें जो दया है वह वाह्यतत्व है और इन दोनोंतत्वोंके मिलनेपर मोक्षकी प्राप्ति होती है इसलिये मोक्षाभिलाषी भव्यजीवोंको इन दोनोंतत्वोंका भली भांति आश्रय करना चाहिये ॥ ६० ॥

ज्ञानी अपनीआत्माकी इसप्रकार भावना करता है ।

कर्मभ्यः कर्मकार्येभ्यः प्रथग्भूतं चिदात्मकम् ।
आत्मानं भावयेन्नित्यं नित्यानन्दपदप्रदम् ॥ ६१ ॥

अर्थः—कर्मोंसे तथा कर्मोंके कार्योंसे सर्वथा भिन्न, और किदानन्दचैतन्यस्वरूप, तथा अविनाशी, और आनन्द स्वरूपस्थानको देनेवाले आत्माका ज्ञानीको सदा चिंतवन करना चाहिये ।

भावार्थः—यह आत्मा ज्ञानावरण आदि कर्मोंसे जुदा है तथा कर्मोंके कार्यभूत रागद्वेष आदिसे भी जुदा है और चैतन्य स्वरूप है तथा अविनाशी और आनन्दस्वरूपमोक्षस्थानका देनेवाला है ऐसा ज्ञानी पुरुषोंको अपनी आत्माका चिंतवन निरंतर करना चाहिये ॥ ६१ ॥

इत्युपासकसंस्कारः कृतः श्रीपद्मनन्दिना ।
येषामेतदनुष्ठानं तेषां धर्मोऽतिनिर्मलः ॥ ६२ ॥

अर्थः—इसप्रकार श्रीपद्मनन्दिआचार्यने इसउपासकसंस्कारकी (श्रावकाचारकी) रचना की है जिन पुरुषोंकी प्रवृत्ति इस श्रावकाचारके अनुसार है उन्हीको निर्मल धर्मकी प्राप्ति होती है ।

भावार्थः—इसउपासकाचारमें जिस आचरणका वर्णन कियागया है उस आचरणके अनुकूल जिन

मनुष्योंकी प्रवृत्ति है उन्ही मनुष्योंको निर्मलधर्मकी प्राप्ति होती है इसलिये इसनिर्मलधर्मकी प्राप्तिके अभिलाषी भव्यजीवोंको इसके अनुकूल ही प्रवृत्ति करनी चाहिये ॥ ६२ ॥

इसप्रकार श्रीपद्मनन्दिपञ्चविंशतिकामें उपासकसंस्कार (श्रावकाचार)

नामक अधिकार समाप्तहुवा ।



देशव्रतोद्योतनम् ।

शार्दूलविक्रीड़ित ।

वाह्याभ्यन्तरसङ्गवर्जनतया ध्यानेन शुक्लेन यः कृत्वा कर्मचतुष्टयक्षयमगात्सर्वज्ञतां निश्चिताम् ।
तेनोक्तानि वचांसि धर्मकथने सत्यानि नान्यानि तद्भ्राम्यत्यत्र मतिस्तु यस्य स महापापी न भव्योऽथवा

अर्थः—समस्त वाह्य तथा अभ्यंतर परिग्रहको छोड़कर और शुक्लध्यानसे चारघातियाकर्मोंको नाशकर जिसने सर्वज्ञपना प्राप्त करलिया है उसी सर्वज्ञदेवके वचन, धर्मके निरूपण करनेमें सत्य हैं, किंतु सर्वज्ञसे अन्यके वचन सत्यनहीं है ऐसा भलीभांति जानकर भी जिसमनुष्यको सर्वज्ञदेवके वचनोंमें सन्देह है तो समझना चाहिये वह मनुष्य महापापी तथा अभव्य है ॥ १ ॥

एकोप्यत्र करोति यः स्थितिमतिं प्रीतः शुचौ दर्शने स श्लाघ्यः खलु दुःखितोप्युदयतो दुष्कर्मणः प्राणिभृत
अन्यैः किं प्रचुरैरपि प्रमुदितैरत्यन्तदूरीकृतस्फीतानन्दभरप्रदामृतपथैर्मिथ्यापथप्रस्थितैः ॥ २ ॥

अर्थः—खोटेकर्मके उदयसे दुःखितभी जो मनुष्य संतुष्टहोकर इसअत्यन्तपवित्र सम्यग्दर्शनमें निश्चल स्थितिको करता है अर्थात् सम्यग्दर्शनको धारण करता है वह अकेलाही अत्यंत प्रशंसाके योग्य समझा

जाता है किन्तु जो अत्यंतआनन्दके देनेवाले सम्यग्दर्शन आदि रत्नत्रयरूपीमोक्षमार्गसे वाह्यहैं तथा वर्तमान कालमें शुभकर्मके उदयसे प्रसन्न हैं ऐसे मिथ्यामार्गमें गमनकरनेवाले मिथ्यादृष्टिमनुष्य यदि वहुतसेभी होवे तोभी वे प्रशंसाके योग्य नहीं है ।

भावार्थः—पापके उदयसे दुःखितभी मनुष्य यदि वह सम्यग्दर्शनका धारक है तो वह अकेला ही प्रशंसाके योग्यहै किन्तु जो सम्यग्दर्शनसे पराङ्मुख हैं तथा मिथ्यामार्गमें स्थित हैं और सुखी हैं ऐसे मिथ्यादृष्टि चाहैं अनेक भी होवे तोभी प्रशसाके योग्य नहीं है इसलिये भव्यजीवोंको सम्यक्दर्शनके धारण करनेमें निरन्तर प्रयत्न करना चाहिये ॥ २ ॥

बीजं मोक्षतरोर्दृशं भवतरोर्मिथ्यात्वमाहुर्जिनाः प्राप्तायां दृशि तन्मुमुक्षुभिरलं यत्नो विधेयो बुधैः ।
संसारे वहुयोनिजालजटिले भ्राम्यन् कुकर्मावृतः क प्राणी लभते महत्यपि गते काले हि तां तामिह॥

अर्थः—मोक्षरूपी वृक्षका वीजतो सम्यग्दर्शन है तथा संसाररूपीवृक्षका वीज मिथ्यात्वहै ऐसा सर्वज्ञदेवने कहाहै इसलिये मोक्षाभिलाषीउत्तमपुरुषोंको सम्यग्दर्शनके पानेपर उसकी रक्षाकरनेमें अत्यंत प्रयत्न करना चाहिये क्योंकि नरक तिर्यंच आदि नानाप्रकारकी योनियोंसे व्याप्त इससंसारमें अनादिकालसे भ्रमण करताहुवा और खोटेकर्मोंसे युक्त, यहप्राणी वहुतकालके व्यतीत होनेपरभी इस सम्यग्दर्शनको कहां पासक्ताहै ? अर्थात् सम्यग्दर्शनका पाना अत्यंतदुर्लभ है ॥ ३ ॥

औरभी आचार्य उपदेशदेते हैं ।

सम्प्राप्तेऽत्र भवे कथं कथमपि द्राघीयसाऽनेहसा मानुष्ये शुचिदर्शने च महता कार्यं तपो मोक्षदम् ।
नो चेल्लोकनिषेधतोऽथ महतो मोहादशक्तेरथ सम्पद्येत न तत्तदा गृहवतां षट्कर्मयोग्यं व्रतम् ॥ ४॥

अर्थः—अनंतकालके वीतजानेपर इससंसारमें बड़ी कठिनतासे मनुष्यजन्मके मिलनेपर तथा सम्यग्दर्शनके प्राप्तहोनेपर उत्तमपुरुषोंको मोक्षको देनेवाला तप अवश्य करना चाहिये यदि लोकनिन्दासे अथवा प्रवलचारित्र-मोहनीयकर्मके उदयसे वा असमर्थपनेसे तप न होसके तो गृहस्थोंके देवपूजा गुरुसेवा स्वाध्याय आदि षट्कर्मों-के योग्य व्रततो अवश्यही करना चाहिये ।

भावार्थः—इससंसारमें प्रथमतो निगोदादिसे निकलनाही अत्यंतकठिन है दैवयोगसे यदि वहांसे निकलभी आवे तो यहां आकार पृथ्वीकायिक तथा जलकायिक आदि एकेन्द्रीस्थावरजीव होते हैं त्रसपर्याय नहीं मिलती यदि वहभी मिलजावे तो उसत्रसपर्यायमें मनुष्यपर्यायकी प्राप्ति बड़ी कठिनतासे होती है यदि वहभी मिलजावे तो जीवादिपदार्थोंका श्रद्धानरूपसम्यग्दर्शन नहीं मिलता यदि वहभी मिलजावे तो मनुष्य उसकी रक्षाकरनेमें बड़ाभारी प्रमाद करता है इसलिये वह पाया हुवाभी न पाये हुवेके समान हो जाता है अतःआचार्य उपदेश देते हैं कि वड़े भाग्यसे यदि मनुष्यजन्म तथा सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होजावे तो उत्तम पुरुषोंको प्रमाद छोड़कर तपकरना चाहिये यदि लोकनिन्दा, अथवा प्रवलचारित्रमोहनीयकर्मके उदयसे वा असमर्थपनेसे तप न होसके तो षट्कर्मके योग्य श्रावकोंके व्रततो अवश्यही धारण करना चाहिये किन्तु पाये हुवे मनुष्यजन्मको तथा सम्यग्दर्शनको व्यर्थ नहीं खोना चाहिये ॥ ४ ॥

अब आचार्य श्रावकके व्रतोंको बतलाते हैं तथा वे व्रत गृहस्थोंको पुण्यके करनेवाले होते हैं इसबातकोभी आचार्य बतलाते हैं ।

दृङ्मूलव्रतमष्टधा तदनु च स्यात्पञ्चधाणुव्रतं शीलाख्यं च गुणव्रतं त्रयमतः शिक्षाश्चतस्रः पराः ।
रात्रौ भोजनवर्जनं शुचिपटात्पेयं पयः शक्तितः मौनादिव्रतमप्यनुष्ठितमिदं पुण्याय भव्यात्मनाम् ॥

अर्थः—सम्यग्दर्शनपूर्वक आठमूलगुणोंकापालना, तथा अहिंसादि पांच अणुव्रतोंका धारणकरना और दिग्व्रतआदि तीनगुणव्रत तथा देशावकाशिक आदि चारप्रकारके शिक्षाव्रत इसप्रकार इन सात शीलव्रतोंको पालना, और रातमें खाद्य स्वाद्य आदि अहारोंका त्यागकरना और स्वच्छकपड़ेसे छानेहुवे जलका पीना तथा शक्तिके अनुकूल मौन आदि व्रतोंकाधारण, इसप्रकार ये श्रावकोंके व्रत हैं तथा भलीभांति आचारण कियेहुवे ये श्रावकोंके व्रत भव्यजीवोंको पुण्यके करनेवाले होतेहैं इसलिये धर्मात्माश्रावकोंको इनश्रावकोंके व्रतोंका अवश्य ही ध्यानपूर्वक पालन करना चाहिये ॥ ५ ॥

देशव्रतकाधारी श्रावक इसरीतिसे व्रतोंको धारण करता है ।

हन्ति स्थावरदेहिनः स्वविषये सर्वांस्त्रसान् रक्षति ब्रूते सत्यमचौर्यवृत्तिमवलां शुद्धां निजां सेवते ।
दिग्देशव्रतदण्डवर्जनमतः सामायिकं प्रोषधं दानं भोगयुगं प्रमाणमुररीकुर्याद् गृहीति व्रती ॥ ६॥

अर्थः—व्रतीश्रावक अपने प्रयोजनके लिये स्थावरकायके जीवोंको मारता है तथा दो इन्द्रियको आदि-लेकर सैनीपचेंद्री पर्यंत समस्तत्रसजीवोंकी रक्षाकरता है और सत्यवोलता है तथा आचौर्यव्रतका पालन करता है और स्वस्त्रीका सेवन करता है तथा दिग्व्रत देशव्रत अनर्थदण्डव्रतका पालन करता है और सामायिक प्रोषधोपवास तथा दानको करता है और भोगोपभोगपरिमाण नामक व्रतको स्वीकार करता है ॥ ६ ॥

यद्यपि गृहस्थके देवपूजा आदिगुण हैं तोभी उनमें दान सबमें उत्तमगुण हैं इसवातको आचार्य बताते हैं ।

देवाराधनपूजनादिवहुषु व्यापारकार्येषु स पुण्योपार्जनहेतुषु प्रतिदिनं संजायमानेष्वपि ।
संसारार्णवतारणे प्रवहणं सत्पात्रमुद्दिश्य यत्तद्देशव्रतधारिणो धनवतो दानं प्रकृष्टो गुणः ॥ ७ ॥

अर्थः—यद्यपि धनवान और धर्मात्मा श्रावकोंके श्रेष्ठपुण्यके संचय करनेवाले जिनेन्द्रदेवकी सेवा तथा पूजन

प्रतिष्ठा आदि प्रतिदिन अनेक उत्तमकार्य होतेरहते हैं तथापि उनसब उत्तमकार्योंमें संसारसमुद्रसे पारकरनेमें जहाजके समान श्रेष्ठमुनि आदि पात्रोंको जो दानदेना है वह उन धर्मात्माश्रावकोंका सबसे प्रधान गुण (कर्तव्य) है इसलिये भव्यश्रावकोंको सदा उत्तम आदि पात्रोंमें दान देना चाहिये ॥ ७ ॥

सर्वो वाञ्छति सौख्यमेव तनुभृत्तन्मोक्षएव स्फुटं दृष्ट्यादित्रय एव सिध्यति स तन्निर्ग्रन्थ एव स्थितम्।
तद्वृत्तिर्वपुषोऽस्य वृत्तिरशनात्तद्दीयते श्रावकैः काले क्लिष्टतरेऽपि मोक्षपदवी प्रायस्ततोवर्तते ॥ ८ ॥

अर्थः—समस्तजीवोंकी अभिलाषा सदा यही रहा करती है कि हमको सुखमिले परन्तु यदि अनुभव किया जावेतो वास्तविक सुख मोक्षमें ही है और उसमोक्षकी प्राप्ति सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र स्वरूप रत्नत्रयकेधारणकरनेसे ही होती है और उसरत्नत्रयकी प्राप्ति निर्ग्रन्थ अवस्थामेंही होतीहै और निर्ग्रन्थ अवस्था शरीरके होते संतेही होतीहै तथा शरीरकी स्थिति अन्नसे रहतीहै और वह अन्न धर्मात्माश्रावकोंके द्वारा दियाजाता है इसलिये इस दुःखमकालमें मोक्षपदवीकी प्रवृत्ति गृहस्थोंकेदियेहुवेदानसे ही होती है ऐसाजानकर धर्मात्मा श्रावकोंको सदा सत्पात्रोंकेलिये दान देना चाहिये ॥ ८ ॥

अब आचार्य औषधिदानकी महिमाका वर्णन करते हैं ।

स्वेच्छाहारविहारजल्पनतया नीरुग्वपुर्जायते साधूनां तु न सा ततस्तदपटु प्रायेण सम्भाव्यते ।
कुर्यादौषधपथ्यवारिभिरिदं चारित्रभारक्षमं यत्तस्मादिह वर्तते प्रशमिनां धर्मोगृहस्थोत्तमात् ॥ ९ ॥

अर्थः—इच्छानुसार भोजन भ्रमण तथा भाषाणसे शरीर रोग रहित रहता है परन्तु मुनियोंकेलिये न तो इच्छानुसार भोजन करनेकी ही आज्ञा है और न इच्छानुसार भ्रमण तथा भाषाणकी ही आज्ञा है इसलिये उनका शरीर सदा अशक्तही बना रहता है किन्तु धर्मात्मा श्रावकगण उत्तम दवा तथा पथ्य और निर्मल जल

देकर मुनियोंके शरीरको चारित्रके पालन करनेके लिये समर्थ बनाते हैं इसलिये मुनिधर्मकी प्रवृत्ति भी उत्तमश्रावकोंसे ही होती है अतः आत्माके हितकी अभिलाषा करनेवाले भव्यजीवोंको अवश्यही मुनिधर्मकी प्रवृत्तिके प्रधानकारण इस गृहस्थ धर्मको धारण करना चाहिये ॥ ९ ॥

ज्ञानदानकी महिमाका वर्णन ।

व्याख्या पुस्तकदानमुन्नतधियां पाठाय भव्यात्मनां भक्त्या यत्क्रियते श्रुताश्रयमिदं दानं तदाहुर्बुधाः ।
सिद्धेऽस्मिञ्जननान्तरेषु कतिषु त्रैलोक्यलोकोत्सवश्रीकारिप्रकाटीकृताखिलजगत्कैवल्यभाजोजनाः॥१०॥

अर्थः—सर्वज्ञदेवसे कहे हुवे शास्त्रका भक्तिपूर्वक जो व्याख्यान किया जाता है तथा विशालबुद्धिवाले भव्यजीवोंको पढ़नेकेलिये जो पुस्तक दी जातीं हैं उसको ज्ञानीपुरुष शास्त्र (ज्ञान) दान कहते हैं तथा भव्यों को इस ज्ञानदानकी प्राप्तिके होने पर थोड़ेही भवोंमें, तीनोंलोकके जीवोंको उत्सव तथा लक्ष्मीके करनेवाले और समस्तलोकके पदार्थोंको हाथकी रेखाके समान देखनेवाले, केवलज्ञानकी उत्पत्ति होती है ।

भावार्थः—जो धर्मात्माश्रावक शास्त्रका व्याख्यान करते हैं तथा पुस्तक लिखकर तथा लिखवाकर देतेहैं और पढ़ना पढ़ाना इत्यादि ज्ञानदान में प्रवृत्त होते हैं उन श्रावकोंको थोड़ेही कालमें समस्तलोकालोकको प्रकाशकरनेवाले केवलज्ञानीकी प्राप्ति होती है इसलिये अपने हितके चाहनेवाले भव्यजीवोंको यह उत्तम ज्ञान दान अवश्यही करना चाहिये ॥ १० ॥

सर्वेषामभयं प्रवृद्धकरुणैर्यद्दीयते प्राणिनां दानं स्यादभयादि तेन रहितं दानत्रयं निष्फलम् ।
आहारौषधशास्त्रदानविधिभिः क्षुद्रोगजाड्याद्भयं यत्तत्पात्रजने विनश्यति ततोदानं तदेकं परम् ॥११॥

अर्थः—विस्तीर्णकरुणाके धारी भव्यजीवोंद्वारा जो समस्तप्राणियोंके भयको छुटाकर उनकी रक्षाकी

जाती है उसको ज्ञानीजन अभयदान कहते हैं तथा उस अभयदानके विना बाकीके तीनों दान सर्वथा निष्फल है अथवा आहार औषध और शास्त्र इनतीनों दानोंके देनेसे क्षुधाके भयका तथा रोगके भयका और मूर्खताके भयकाही नाश होता है इसलिये एक अभयदानही समस्तदानोंमें उत्कृष्टदान है ।

भावार्थः—अभय का अर्थ भयका न होना होता है यदि आहार औषध तथा शास्त्र दानके देनेपर भी क्षुधा, रोग, तथा मूर्खतासे उत्पन्न होनेवाले भयोंका नाश होता है तो वे तीनोंही अभय दानके ही आधीन हैं इसलिये अभयदान ही समस्त दानोंमें उत्कृष्ट दान है ॥ ११ ॥

आहारात्सुखितौषधादतितरां नीरोगताजायते शास्त्रात्पात्रनिवेदितात्परभवे पण्डित्यमत्यद्भुतम् ।
एतत्सर्वगुणप्रभापरिकरः पुन्सोऽभयाद्दानतः पर्यन्ते पुनरुन्नतोन्नतपदप्राप्तिर्विमुक्तिस्ततः ॥ १२ ॥

अर्थः—उत्तमआदिपात्रोंमें आहारदानके देनेसे तो इन्द्र धरणेन्द्र चक्रवर्ती आदिके सुखोंकी प्राप्ति होती है तथा औषधादानके देनेसे परभवमें अत्यन्त रूपवान तथा नीरोग शरीर मिलता है और शास्त्रदानके देने से अत्यन्तआश्चर्यकी करनेवाली विद्वत्ताकी प्राप्ति होती है और अभयदानके देनेसे सुख तथा नीरोगपना आदि समस्तगुणोंकी प्राप्ति होती है अन्तमें उत्तमोत्तम चक्रवर्ती आदि पदोंकी प्राप्ति होकर मोक्षकी प्राप्ति होती है इसलिये उत्तमोत्तमसुख नीरोगता आदि गुणोंके अभिलाषीमनुष्यों अवश्यही चारोंप्रकारका दान देना चाहिये॥१२॥

कृत्वा कार्यशतानि पापबहुलान्याश्रित्य खेदं परं भ्रान्त्वा वारिधिमेखलां वसुमतीं दुःखेन यच्चार्जितम् ।
तत्पुत्रादपि जीवितादपि धनं प्रेयोऽस्य पन्था शुभो दानं तेन च दीयतामिदमहो नान्येन तत्सद्गतिः॥१३॥

अर्थ—सैकड़ों पापसहित कार्योंको करके तथा नानाप्रकारके दुःखोंको उठाकरके और समुद्रपर्यंत पृथ्वी पर भ्रमणकरके बड़े कष्टसे धनका संचय किया जाता है तथा वह धन पुत्र और अपने जीवनसे भी प्यारा

होता है उसधनके खर्चकरनेका यदि मार्ग है तो यही है कि वह दानके काममें लाया जावे किन्तु इससे भिन्न उसधनके खर्चकरनेका कोई भी उत्तम मार्ग नहीं इसलिये सज्जनपुरुषोंको चाहिये कि वे दानमार्गसेही धनका व्यय करै किंतु दानसे अतिरिक्त मार्गमें उसधनका उपयोग न करै ॥ १३ ॥

दानेनैव गृहस्थता गुणवती लोकद्वयोद्योतिका नैव स्यान्ननु तद्विना धनवतो लोकद्वयध्वन्सकृत् ।
दुर्व्यापारशतेषु सत्सु गृहिणः पापं यदुत्पद्यते तन्नाशाय शशाङ्कशुभ्रयशसे दानं नचान्यत्परम् ॥१४॥

अर्थः—धनी मनुष्योंका गृहस्थपना दानसे ही गुणोंका करनेवाला होता है और दानसे ही दोनों लोकोंका प्रकाशकरनेवाला होता है किन्तु बिना दानके वह गृहस्थपना दोनों लोकोंका नाश करनेवालाही है क्योंकि गृहस्थोंके सैकड़ों खोटे २ व्यापारोंके करनेसे सदा पापकी उत्पत्ति होती रहती है उसपापके नाशकेलिये तथा चन्द्रमाके समान यशकी प्राप्तिकेलिये यह एक पात्रदानही है दूसरी कोई वस्तु नहीं है इसलिये अपनी आत्माके हितको चाहनेवाले भव्योंको चाहिये कि वे पात्रदानसे ही गृहस्थपनेको तथा धनको सफल करै ॥ १४ ॥

पात्राणामुपयोगि यत्किल धनं तद्धीमतां मन्यते येनानन्तगुणं परत्र सुखदं व्यावर्तते तत्पुनः ।
यद्भोगाय गतं पुनर्धनवतस्तन्नष्टमेव ध्रुवं सर्वासामिति सम्पदां गृहवतां दानं प्रधानं फलम् ॥ १५ ॥

अर्थः—जो धन उत्तमादिपात्रोंके उपयोगमें आता है विद्वान लोग उसीधनको अच्छा धन समझते हैं तथा वह पात्रमें दियाहुवा धन परलोकमें सुखका देनेवाला होता है और अनन्तगुणा फलता है किन्तु जो धन नानाप्रकारके भोग विलासोंमें खर्च होता है वह धनवानोंका धन सर्वथा नष्टही हो गया ऐसा समझना चाहिये क्योंकि गृहस्थोंके सर्वसम्पदाओंका प्रधान फल एक दानही है ।

भावार्थः—यों तो धनी गृहस्थोंके प्रतिदिन नानाकार्योंमें धनका खर्च होता रहता है परन्तु जो धन

उत्तमादिपात्रोंके दानोंमें खर्च होता है वास्तवमें वही धन उत्तमधन है और उत्तमआदिपात्रोंके दानमें खर्च कियाहुवा वह धन परलोकमें नानाप्रकारके सुखोंका करनेवाला होता है तथा अनन्तगुणा होकर फलता है किन्तु जो धन भोग विलास आदि निकृष्टकार्योंमें खर्च किया जाता है वह धन सर्वथा नष्टही हो जाता है तथा परलोकमें उससे किसीप्रकारका सुख नहीं मिलता और न वह अनन्तगुणा होकर फलताही है क्योंकि समस्त सम्पदाओंके होनेका प्रधान फल दानही है इसलिये धर्मात्माश्रावकोंको निरन्तर उत्तम आदि पात्रोंमें दान करना चाहिये तथा पाये हुवे धनको सफल करना चाहिये ॥ १५ ॥

औरभी आचार्य दानकी महिमाका वर्णन करते हैं ।

पुत्रो राज्यमशेषमर्थिषु धनं दत्वाभयं प्राणिषु प्राप्ता नित्यसुखास्पदं सुतपसा मोक्षं पुरा पार्थिवाः ।
मोक्षस्यापि भवेत्ततः प्रथमतोदानं निदानं बुधैः शक्त्या देयमिदं सदातिचपले द्रव्ये तथा जीविते॥१६॥

अर्थः—भूतकालमेंभी बड़े २ राजा पुत्रोंको राज्यदेकर तथा याचकजनोंको धनदेकर और समस्त प्राणियोंको अभयदान देकर अनशन आदि उत्तम तपोंको आचरणकर अविनाशी सुखके स्थान मोक्षको प्राप्त हुवे हैं इसलिये मोक्षका सबसे प्रथम कारण यह एक दानही है अर्थात् दानसे ही मोक्ष की प्राप्ति होती है अतः विद्वानों को चाहिये कि धन तथा जीवन को जलके बबूले के समान अत्यन्त विनाशीक समझकर सर्वदाशक्ति के अनुसार उत्तम आदि पात्रोंमें दान दिया करैं ॥ १६ ॥

ये मोक्षं प्रति नोद्यताः सुनृभवे लब्धेऽपि दुर्बुद्धयस्ते तिष्ठन्ति गृहे न दानमिह चेत्तन्मोहपाशो दृढः ।
मत्वेदं गृहिणा यथर्द्धि विविधं दानं सदा दीयतां तत्संसारसरित्पतिप्रतरणे पोतायते निश्चितम्॥१७॥

अर्थः—अत्यन्तदुर्लभ इस मनुष्यभवको पाकर भी जो मनुष्य मोक्षकेलिये उद्यम नहीं करते हैं तथा घर

में ही पड़े रहते हैं वे मनुष्य मूढ़बुद्धि हैं और जिसघरमें दान नहीं दिया जाता वह घर अत्यन्तकठिन मोह का जाल है ऐसा भलीभांति समझकर अपने धनके अनुसार भव्यजीवोंको नानाप्रकारका दान अवश्य करना चाहिये क्योंकि यह उत्तमआदिपात्रोंमें दियाहुवा दानही संसाररूपीसमुद्रसे पारकरनेमें जहाजके समान है ।

भावार्थः—अत्यंतदुर्लभ इसमनुष्यभवको पाकर तथा ऊंचा कुल आदि पाकर भव्यजीवोंको मोक्षकेलिये प्रयत्न अवश्य करना चाहिये यदि मोक्षके लिये प्रयत्न न होसके तो शक्ति तथा धनके अनुसार दानतो अवश्य ही करना चाहिये क्योंकि यहदानही संसारसमुद्रसे पार करनेवाला है किन्तु दानके विना जीवनको तथा धन को कदापि व्यर्थ नहीं खोना चाहिये ॥ १७ ॥

यैर्नित्यं न विलोक्यते जिनपतिर्न स्मर्यते नार्च्यते न स्तूयेत न दीयते मुनिजने दानं च भक्त्या परम् ।
सामर्थ्ये सति तद्गृहाश्रमपदं पाषाणनावा समं तत्रस्था भवसागरेऽतिविषमे मज्जन्ति नश्यन्ति च ॥

अर्थः—जो मनुष्य समर्थहोनेपरभी निरन्तर न तो भगवानका दर्शनही करते हैं तथा न उनका स्मरण ही करते हैं और उनकी पूजा भी नहीं करते हैं तथा न उनका स्तवन करते हैं और न निर्ग्रन्थ मुनियोंको भक्तिपूर्वक दानही देतेहैं उन मनुष्योंका वह गृहस्थाश्रमरूपस्थान पत्थरकी नावके समान है तथा उस गृहस्थाश्रममें रहनेवाले गृहस्थ इसभयंकर संसाररूपी समुद्रमें नियमसे डूवते हैं और डूवकर नष्ट होजाते हैं इसलिये आचार्य उपदेश देतेहैं कि जो भव्यजीव गृहस्थाश्रमको तथा अपने जीवन और धनको पवित्र करना चाहते हैं उनको जिनेन्द्रदेवकी पूजा स्तुति आदिकार्य तथा उत्तमादि पात्रोंकेलिये दान अवश्यही देना चाहिये ॥ १८ ॥

आचार्य दाताकी महिमाका वर्णन करते हैं ।

चिन्तारत्नसुरद्रुकामसुरभिस्पर्शोपलाद्या भुवि ख्याता एव परोपकारकरणे दृष्टा न ते केनचित् ।

तैरत्रोपकृतं न केषुचिदपि प्रायो न सम्भाव्यते तत्कार्याणि पुनः सदैव विदधद्दाता परं दृश्यते ॥१९॥

अर्थः—चिन्तामणिरत्न कल्पवृक्ष कामधेनु पारसपत्थर आदिक पदार्थ संसारमें परोपकारी है यह वात आजतक सुनीही है किन्तु किसीने अभीतक ये साक्षात उपकार करते हुवे देखे नहीं हैं तथा उन्होंने किसीमें उपकार किया है इसवातकीभी संभावना नहीं कीजाती परन्तु चिन्तामणिरत्न आदिके कार्यको करनेवाला दाता (मनोवांछित दानदेनेवाला) अवश्य देखनेमें आता है इसलिये चिंतामणिरत्न कल्पवृक्ष आदि उत्कृष्ट पदार्थ दाताही हैं किन्तु इनसे भिन्न चिंतामणि आदिक कोई पदार्थ नहीं हैं ॥१९ ॥

यत्र श्रावकलोक एव वसति स्यात्तत्र चैत्यालयो यस्मिन्सोऽस्ति च तत्र सन्ति यतयो धर्मश्च तैर्वर्तते ।
धर्मे सत्यघसंचयो विघटते स्वर्गापवर्गाश्रयं सौख्यं भावि नृणां ततो गुणवतां स्युः श्रावकाः सम्मताः॥२०॥

अर्थः—जिस नगर तथा देशमें श्रावकलोग रहते हैं वहांपर जिनमदिर होता है और जहांपर जिनमंदिर होता है वहांपर यतीश्वर निवास करते हैं और जहांपर यतीश्वरोंका निवास होता है वहांपर धर्मकी प्रवृत्ति रहती है तथा जहापर धर्मकी प्रवृत्ति रहती है वहांपर अनादिकालसे संचयकिये हुए प्राणियोंके पापोंका नाश होता है तथा भाविकालमें स्वर्ग तथा मोक्षके सुखोंकी प्राप्ति होती है इसलिये गुणवान मनुष्योंको धर्मात्मा श्रावकोंका अवश्य आदर करना चाहिये ॥

भावार्थः—धर्मात्मा श्रावकही अपने धनसे जिनमन्दिरको बनवाते हैं तथा जिनमन्दिरोंमें यतीश्वर निवास करते हैं और यतीश्वरोंसे धर्मकी प्रवृत्ति होती है तथा धर्मसे पापोंका नाश तथा उत्तम स्वर्ग मोक्ष आदिके सुखोंकी प्राप्ति होती है इत्यादि ये समस्त बातें श्रावकोंके द्वाराही होती हैं यदि श्रावक न होवे तो ये बातें कदापि नहीं हो सकीं इसलिये ऐसे उत्तमश्रावकोंका भव्यजीवोंको अवश्य आदर सत्कार करना चाहिये ॥ २० ॥

काले दुःखमसंज्ञके जिनपतेर्धर्मे गते क्षीणतां तुच्छे सामयिके जने बहुतरे मिथ्यान्धकारे सति ॥
चैत्ये चैत्यगृहे च भक्तिसहितो यः सोऽपि नो दृश्यते यस्तत्कारयते यथाविधि पुनर्भव्यः स वन्द्यः सताम्॥

अर्थः—इस दुःखमनामकालमें जिनेन्द्रभगवानके धर्मके क्षीण होनेसे तथा आत्माके ध्यानकरनेवाले मुनिजनोंकी विरलायतसे और गाढ़ मिथ्यात्वरूपी अंधकारके फैलजानेसे जो जिनेन्द्रभगवानकी प्रतिमामें तथा जिनमन्दिरोंमें भक्तिसहितथे तथा उनको भक्तिपूर्वक बनवातेथे वे मनुष्य इससमय देखनेमें नहीं आते हैं किन्तु जो भव्यजीव इससमय भी विधिके अनुसार उन जिनमन्दिर आदिकार्योंको करता है वह सज्जनोंका वंद्यही है अर्थात समस्तउत्तमपुरुष उसकी निर्मलहृदयसे स्तुति करते हैं ॥ २१ ॥

विम्बादलोन्नतियवोन्नतिमेव भक्त्या ये कारयन्ति जिनसद्म जिनाकृतिं वा ॥
पुण्यं तदीयमिह वागपि नैव शक्ता स्तोतुं परस्य किमु कारयितुर्द्वयस्य ॥२२॥

अर्थः—आचार्य कहते हैं जो भव्यजीव इससंसारमें भक्तिपूर्वक यदि छोटेसे छोटे विम्बा (कुन्दुक) पत्तेके समान जिनमन्दिर तथा यव (जौ) के समान जिनप्रतिमाको भी बनावे तो उसमनुष्यको भी इतने पुण्यकी प्राप्ति होती है कि जिसको औरकी तो क्या बात ? साक्षात् सरस्वती भी वर्णन नहीं करसक्ती किन्तु जो मनुष्य ऊंचे २ जिनमन्दिर तथा जिनप्रतिमाओंका बनानेवाला है उसको तो फिर अगम्यपुण्यकी ही प्राप्ति होती है ॥

भावार्थः—बिम्बाके पत्रकी उचाई बहुत थोड़ी होती है और यवकी भी उचाई बहुत थोड़ी होती है किन्तु आचार्य इसबातका उपदेशदेते हैं कि इस कलिकाल पंचमकालमें यदि कोई मनुष्य बिम्बाके पत्तेकी उचाईके समान जिनमन्दिरको तथा यवकी उचाईके समान ऊंची जिनप्रतिमाको भी बनावे तो उसके पुण्यकी स्तुतिकरनेकेलिये साक्षात सरस्वती भी हार मानती है किन्तु जो मनुष्य ऊंचे २ जिनमन्दिरोंका बनानेवाला

है तथा ऊंची २ जिनप्रतिमाओंका निर्माण करनेवाला है उसका तो पुण्य फिर अगम्यही समझना चाहिये इसलिये भव्यजीवोंको चाहिये कि वे ऊंची २ जिनप्रतिमाओंका तथा जिनमन्दिरोंका उत्साहपूर्वक इसपंचम कालमें अवश्य निर्माण करावें ॥ २२ ॥

शार्दूलविक्रीडित ।

यात्राभिःस्नपनैर्महोत्सवशतैः पूजाभिरुल्लोचकै नैवेद्यैर्बलिभिर्ध्वजैश्च कलशैस्तौर्यत्रिकैर्जागरैः ॥
घण्टाचामरदर्पणादिभिरपि प्रस्तार्य शोभां परां भव्याः पुण्यमुपार्जयन्ति सततं सत्यत्र चैत्यालये ॥२३॥

अर्थ—इससंसारमें चैत्यालयके होनेपर भव्यजीव यात्रासे कलशाभिषेकोंसे तथा और सैकड़े बड़े उत्सवों से और पूजा तथा चांदनियोंसे और नैवेद्यसे वलिसे तथा ध्वजाओंकेआरोपणसे कलशारोपणसे और अत्यत शब्दों के करनेवाले बाजोंसे तथा घंटा चमर दर्पण आदिकसे उनचैत्यालयोंकी उत्कृष्टशोभाको बढ़ाकर पुण्यका संचय करलेते हैं इसलिये भव्यजीवोंको चैत्यालयका निर्माण अवश्यही कराना चाहिये ॥ २३ ॥

ते चाणुव्रतधारिणोऽपि नियतं यान्त्येव देवालयं तिष्ठन्त्येव महर्द्धिकामरपदं तत्रैव लब्ध्वा चिरम् ।
अत्रागत्य पुनः कुलेऽति महति प्राप्य प्रकृष्टं शुभान्मानुष्यं च विरागतां च सकलत्यागं च मुक्तास्ततः ॥

अर्थः—जो षटआवश्यक पूर्वक अणुव्रतके धारणकरनेवाले श्रावकहैं वे नियमसे स्वर्गको जाते हैं तथा वहां पर महानऋद्धिके धारी देवहोकर चिरकालतक निवास करते हैं और पीछे वे इसमर्त्यलोकमें आकर शुभकर्मके योग से अत्यंत उत्तमकुलमें मनुष्यजन्मको पाकर तथा वैराग्यको धारणकर और समस्त वाह्य तथा अभ्यंतर परिग्रहका नाशकर सीधे सिद्धालयको पधारते हैं तथा वहांपर अनन्तसुखके भोगनेवाले होते हैं इसप्रकार जब अणुव्रत आदिभी मुक्तिके कारण हैं तो भव्योंको चाहिये कि वे षट आवश्यक पूर्वक अणुव्रतोंको प्रयत्नसे धारण करै ॥ २४ ॥

पुन्सोऽर्थेषु चतुर्षु निश्चलतरो मोक्षः परं सत्सुखः शेषास्तद्विपरीतधर्मकलिता हेया मुमुक्षोरतः ।
तस्मात्तत्पदसाधनत्वधरणो धर्मोऽपि नो सम्मतो यो भोगादिनिमित्तमेव स पुनः पापं बुधैर्मन्यते २५

अर्थ—चारो पुरुषार्थोंमें मनुष्यकेलिये अविनाशी तथा उत्तमसुखका भंडार केवल मोक्षही पुरुषार्थ है किन्तु मोक्षसे आतिरिक्त अर्थ काम आदि पुरुषार्थ विपरीतधर्मके भजनेवाले है इसलिये वे मोक्षाभिलाषी को सर्वथा त्यागने योग्य है तथा धर्मनामकपुरुषार्थ यदि मोक्षका कारण होवे तो वह अवश्य ग्रहण करने योग्य हैं किन्तु यदि वही पुरुषार्थ नानाप्रकारके भोगविलासोंका कारण होवे तो वह भी सर्वथा नहीं मानने योग्य हैं तथा ऐसे भोगविलासके कारण धर्मपुरुषार्थको ज्ञानीजन पापही कहते है ।

भावार्थः—धर्म अर्थ काम तथा मोक्ष इसप्रकार चारप्रकारके पुरुषार्थ हैं उनसवमें अविनाशी तथा अनंतसुखकाभंडार मोक्षही उत्तमपुरुषार्थ है इसलिये विद्वानोंको वही ग्रहणकरने योग्य है परन्तु इससें विपरीत अर्थ आदि पुरुषार्थ हैं वे विनाशीक तथा दुःखकेकारण हैं इसलिये सर्वथा त्यागने योग्य हैं और यदि धर्मनामक पुरुषार्थ मोक्षका कारण होवे वह तो विद्वानोंको सदा ग्रहणकरने योग्य है किन्तु यदि वही पुरुषार्थ नानाप्रकारके भोगोंका कारण होवे तो वह पापही है इसालिये सर्वथा वह त्याग करने योग्यही है इसलिये भव्यजीवोंको चाहिये कि वे मोक्षपुरुषार्थकेलिये तो सर्वथाही प्रयत्नकरैं तथा यदि धर्मनामक पुरुषार्थ मोक्षका साधन होवे तो उसकेलियेभी भलीभांति प्रयत्न करैं किन्तु इनसे अतिरिक्त पुरुषार्थोंको पापके कारण समझकर उनकेलिये कदापि प्रयत्न न करैं ॥ २५ ॥

भव्यानामणुभिर्व्रतैरनणुभिः साध्योऽत्र मोक्षः परं नान्यत्किञ्चिदिहैव निश्चयनयाज्जीवः सुखी जायते ।
सर्वंतु व्रतजातमीदृशधिया साफल्यमेत्यन्यथा संसाराश्रयकारणं भवति यत्तदुःखमेव स्फुटम् ॥ २६ ॥

अर्थः—भव्यजीव अणुव्रत तथा महाव्रतको मोक्षकी प्राप्तिकेलिये ही धारणकरते हैं किन्तु उनकेधारण करनेसे उनको अन्य कोई भी वस्तु साध्य नहीं है क्योंकि निश्चयनयसे जीवको सुखकी प्राप्ति मोक्षमेंही होती है तथा मोक्षकी प्राप्तिकेलिये जो अणुव्रत महाव्रत आदि व्रत आचरण कियेजाते हैं वे सफल समझे जाते हैं किन्तु जो व्रत मोक्षकी प्राप्तिकेलिये नहीं है संसारके ही कारण हैं वे दुःखस्वरूपही हैं यह भलिभांति स्पष्ट है इसलिये भव्यजीवोंको मोक्षकेलिये ही व्रतोंको धारण करना चाहिये ॥ २६ ॥

देशव्रतोद्यननामकअधिकारको समाप्त करते हुवे आचार्य इसव्रतोद्योतननामक अधिकारका फल दिखाते हैं—

यत्कल्याणपरम्परार्पणपरं भव्यात्मनां संसृतौ पर्यन्ते यदनन्तसौख्यसदनं मोक्षं ददाति ध्रुवम् ।
तज्जीयादतिदुर्लभं सुनरतामुख्यैर्गुणैः प्रापितं श्रीमत्पङ्कजनन्दिभिर्विरचितं देशव्रतोद्योतनम् ॥२७॥

अर्थः-जो देशव्रतोद्योतन संसारमें भव्यजीवोंको इन्द्र चक्रवर्ती आदि समस्तकल्याणोंका देनेवाला है और सबसे अंतमें अनन्त सुखोंका भंडार जो मोक्ष उसका देनेवाला है तथा जिसकी प्राप्ति अत्यंन्त दुर्लभ जो मनुष्यपना आदि अनेकगुण उनसे होती है और जिसकी रचना श्रीपद्मनन्दिनामक आचार्यने की है ऐसा वह व्रतोद्योतन चिरकाल तक इससंसार में जयवंत रहो ।

भावार्थः—यह देशदेशव्रतोद्योतन क्रमसे इन्द्र अहमिन्द्र चक्रवर्ती आदि बड़े २ कल्याणोंको प्राप्तिकरा कर अंतमें मोक्षको देता है तथा मनुष्यपना उत्तम कुल आदि अनेकगुणोंसे ही उसकी प्राप्ति होती है और जिसकी रचना आचार्य श्रीपद्मनन्दिनेकी है ऐसा यह व्रतोद्योतन चिरकालतक इससंसार में जयवंत रहो ॥२७॥

इसप्रकार इसपद्मनन्दिपंचविंशतिकामें देशव्रतोद्योतननामक अधिकार समाप्त हुवा ।

सिद्धस्तुतिः ।

शार्दूलविक्रीड़ित ।

सूक्ष्मत्वादणुदर्शिनोऽवधिदृशः पश्यन्ति नो यान्परे यत्संविन्महिमस्थितं त्रिभुवनं स्वच्छं भमेकं यथा।
सिद्धांनामहमप्रमेयमहसां तेषां लघुर्मानघो मूढात्मा किमु वच्मि तत्र यदि वा भक्त्या महत्या वशः ॥

अर्थः—परमाणुपर्यन्त सूक्ष्मपदार्थोंको देखनेवालेभी अवधिज्ञानीपुरुष अत्यंतसूक्ष्म जिनसिद्धोंको नहीं देखसक्ते हैं तथा जिनकी ज्ञानकी महिमामें ये तीनोंलोक निर्मल नक्षत्रके समान स्थित माळुम पड़ते है और जो अपरिमित तेजके धारी हैं उन सिद्धोंकी स्तुतिको मैं अत्यन्त छोटा मनुष्य तथा अज्ञानी किसप्रकार करसक्ता हूं ? अर्थात् मैं उनकी स्तुतिकरनेमें समर्थ नहीहूं । तोभी प्रवल भक्तिसे प्रेरित हुवा मैं उनकी स्तुतिकरताहूं ॥

भावार्थः—जोपदार्थ स्थूल तथा छोटा और परिमित होवे तथा उसका वर्णन करनेवाला योग्य होवे तो उस का वर्णन कियाजासक्ता है किन्तु सिद्धतो अत्यंत सूक्ष्महै जिनको परमाणुपर्यंत पदार्थोंको प्रत्यक्षकरनेवाला अवधिज्ञानीभी नहीं देखसक्ताहै तथा अत्यंत महान है क्योंकि यह असंख्यात प्रदेशीभी लोक उनके ज्ञानमें एक नक्षत्रके समान झलकता है अर्थात् उनके ज्ञानके कोनेमें यह तीनलोक समारहा है और वे अपरिमित तेजके धारी हैं इसलिये अपरिमितभी है और मैं अत्यंत छोटा तथा अज्ञानी मनुष्य हूं फिरमें किसप्रकार उनकी स्तुति करनेकेलिये समर्थ होसक्ताहूं ? तोभी मुझे उनकी भक्ति प्रेरणा करती है इसलिये कुछ उनकी स्तुतिको करताहूं॥१॥

निश्शेषामरशेखराश्रितमणिश्रेण्यर्चिताङ्घ्रिद्वया देवास्तेऽपि जिना यदुन्नतपदप्राप्त्यै यतन्ते तराम ।

१ क. पुस्तकमें स्वस्तम्भमेकम्" यह भी पाठ है तथा उसका आशय यह है कि भगवानके ज्ञानमें यह तीनोंलोक आकाशमें खड़े हुवे स्तम्भके समान माळुम पड़ता है ।

सर्वेषामुपरि प्रवृद्धपरमज्ञानादिभिः क्षायिकैर्युक्ता न व्यभिचारिभिः प्रतिदिनं सिद्धान्नमामो वयम् ॥

अर्थः—समस्तप्रकारके देवोंके मुकटोंमें लगीहुई जो मणि उनसे जिनके चरणोंके युग्म पूजित हैं ऐसे उत्कृष्टदेव तीर्थंकरभी जिसउच्चपद सिद्धपदकी प्राप्तिकेलिये प्रयत्नकरते हैं ऐसे समस्तलोककी शिखरपर विराजमान तथा कलंकरहित अत्यंत विस्तीर्णज्ञान आदि क्षायिकगुणोंके धारी सिद्धोंको प्रतिदिन हम नमस्कार करते हैं ॥

भावार्थः—समस्तदेव आकार तीर्थंकरभगवानकी सेवा पूजा आदि करते हैं इसलिये यद्यपि संसारमें तीर्थंकरभी एक प्रधानपद है तोभी वे तीर्थंकर सदा उस सिद्धपदकी प्राप्तिकेलिये सदा प्रयत्न करते रहते हैं तथा जो सिद्ध तीनलोकके शिखरपर विराजमान हैं निर्दोष विस्तीर्ण क्षायिकज्ञान आदि गुणोंके धारी हैं ऐसे सिद्धोंको सदा हम नमस्कार करते हैं ॥ २ ॥

ये लोकाग्रविलम्बिनस्तदधिकं धर्मास्तिकायं विना नो याताः सहजास्थिरामललसद्दृग्बोधसन्मूर्तयः।
संप्राप्ताः कृतकृत्यतामसदृशाः सिद्धा जगन्मङ्गलं नित्यानन्दसुधारसस्य च सदा पात्राणि ते पान्तु वः ॥

अर्थः—जो सिद्धभगवान लोकके अग्रभागमें गये हैं और जिनका स्वरूप स्वाभाविक तथा निश्चल जो निर्मलज्ञान और दर्शन उससे शोभायमान है और जो कृतकृत्य है और जिनकी उपमाको कोईभी धारण नहीं करसक्ता और जो समस्तजगतको मंगलके करनेवाले हैं तथा जो अविनाशी आनन्दरूपी अमृतके पात्र हैं ऐसे सिद्धभगवान आपकी रक्षाकरो अर्थात् एसे सिद्धभगवानकेलिये मैं सदा नमस्कार है ॥ ३ ॥

ये जित्वा निजकर्मकर्कशरिपून् प्राप्ताः पदं शाश्वतं येषां जन्मजरामृतिप्रभृतिभिः सीमापि नोल्लंघ्यते ।
येष्वैश्वर्यमाचिन्त्यमेकमसमज्ञानादिसंयोजितं ते सन्तु त्रिजगच्छिखाग्रमणयः सिद्धा मम श्रेयसे ॥ ४ ॥

अर्थः—जो सिद्ध महाराज अपने समस्त कठोरकर्मरूपीवैरियोंको जीतकर अविनाशी सिद्धपदको प्राप्तहुवे हैं और जन्म जरा मरण आदिक अठारह दोष जिनके पासभी नहीं फटकने पाते तथा जो अनन्त-ज्ञानादिकरकिये हुवे अचिंत्य ऐश्वर्यके धारी हैं वे तीन जगतके शिखामणि सिद्धभगवान मेरे कल्याणके लिये हो अर्थात् ऐसे सिद्धोंको मैं नमस्कार करता हूं ॥ ४ ॥

सिद्धो बोधमिति स बोध उदितो ज्ञेयप्रमाणो भवेद् ज्ञेयं लोकमलोकमेव च वदत्यात्मेति सर्वस्थितः ।
मूषायां मदनोज्झिते हि जठरे यादृङ् नभस्तादृशः प्राक्कायात्किमपि प्रहीण इति वा सिद्धः सदानन्दति॥

अर्थः—निष्कलंक वह शुद्धात्मा तो ज्ञान प्रमाण कहागया है और वह ज्ञान ज्ञेय (पदार्थ) प्रमाण है तथा वे ज्ञेय लोकालोक प्रमाण हैं इसलिये इसयुक्तिसे तो आत्मा समस्त जगहपर मौजूद है अर्थात् व्यापक है किन्तु मनुष्याकार एक मोमकी पुतली बनाकर तथा उसके ऊपर मिट्टीका लेप चढ़ाकर, और उसपुतली को तपाकर मोम निकलजानेके पीछे जो उस मूषामें पुरुषाकार आकाश रहजाता है उसीप्रकार सिद्धावस्थाके प्रथमशरीरसे कुछ कमती आत्मप्रदेशोंके आकारस्वरूप भी वह शुद्धात्मा है अर्थात् अव्यापक भी है इसलिये व्यापकत्व अव्यापकत्व ऐसे दोनों धर्मोंकरसंयुक्त सिद्धपरमेष्ठी सदा जयवंत है ।

भावार्थः—सिद्धोंका ज्ञान लोकालोक के पदार्थोंका प्रकाश करनेवाला है तथा वह ज्ञान आत्मास्वरूप ही है इयलिये इस ज्ञानगुणकी अपेक्षासे तो सिद्धोंकी आत्मा व्यापक है किन्तु सिद्धोंकी आत्माके प्रदेश चरम-शरीरसे कुछ कमती रहते हैं इसलिये प्रदेशोंकी अपेक्षासे वह आत्मा चरमशरीरसे कुछ कमती भी है अतः व्यापक नहीं भी है ॥ ५ ॥

दृग्बोधौपरमौ तदावृतिहतेः सौख्यं च मोहक्षयात् वीर्यं विघ्नविघाततो प्रतिहतं मूर्तिर्न नामक्षतेः ॥

आयुर्नाशवशान्न जन्ममरणे गोत्रे न गोत्रं विना सिद्धानां न च वेदनीयविरहाद्दुःखं सुखं चाक्षजम् ॥

अर्थः—ज्ञानावरणीय तथा दर्शनावरणीयके नाश हो जानेसे तो सिद्धोंके अनन्त ज्ञान तथा अनन्त दर्शन हैं और मोहनीयकर्मके सर्वथा क्षय होजानेके कारण उनको अनन्तसुखकी प्राप्ति हुई है और वीर्यान्तरायकर्मके नाश हो जानेके कारण उनको अनन्त वीर्यकी प्राप्ति हुई है तथा नाम कर्मके अभावसे उनकी कोई मूर्ति नहीं है और आयुकर्मके नाश हो जानेके कारण न उनके जन्म है न मरण है तथा गोत्रकर्मका नाश हो गया है इसलिये उनका कोई गोत्र भी नहीं है और वेदनीयकर्मके नाश होजानेके कारण सिद्धोंके इन्द्रियजन्य सुखदुःख भी नहीं है ।

भावार्थः—जबतक आत्माके साथ ज्ञानावरण तथा दर्शनावरणका संबंध रहता है तबतक अनन्तज्ञान तथा अनन्तदर्शनकी प्राप्ति नहीं होती किन्तु सिद्धोंके सम्यग्ज्ञान तथा सम्यग्दर्शनके स्वरूपको सर्वथा ढकनेवाले ज्ञानावरण तथा दर्शनावरण दोनों नष्ट होगये हैं इसलिये वे अनन्तज्ञान तथा अनन्तदर्शनके धारी हैं उसीप्रकार जबतक मोहनीय तथा अंतरायकर्मका संबंध आत्माके साथ रहता है तबतक तो अनन्त सुख तथा अनन्त वीर्यकी उत्पत्ति नहीं होती किन्तु सिद्धोंके इनदोनों मोहनीय तथा अंतरायकर्मका भी अभाव है इसलिये वे अनन्त सुख तथा अनन्त वीर्यकर सहित हैं तथा नामकर्मके उदयसे आकार बनता है किन्तु सिद्धोंके नामकर्मका अभाव है इसलिये उनकी कोई मूर्ति आकार भी नहीं है तथा आयुकर्मके नाशसे जन्म तथा मरण होता है किन्तु सिद्धोंके आयुकर्मका अभाव है इसलिये वे जन्म मरणकर रहित हैं और गोत्रकर्मकी कृपासे उच्चगोत्री तथा नीचगोत्री समझे जाते हैं उनके गोत्रकर्मका सर्वथा नाश होगया है इसलिये उनका कोई गोत्र भी नहीं है और साता तथा असाता वेदनीयकर्मके उदयसे इन्द्रियजन्य सुख तथा दुःख होता है किन्तु सिद्धोंके

॥२३४॥

समस्तप्रकारके वेदनीयकर्मका नाश होगया है इसलिये वे इन्द्रियजन्य सुख और दुःखसे रहित हैं ॥ ६ ॥

यैर्दुःखानि समाप्नुवन्ति विधिवज्जानन्ति पश्यन्ति नो वीर्यं नैव निजं भजन्त्यसुभृतो नित्यं स्थिताः संसृतौ ।
कर्माणि प्रहतानि तानि महता योगेन यैस्ते सदा सिद्धा नित्यचतुष्टयामृतसरिन्नाथा भवेयुर्न किम् ॥७॥

अर्थः—संसारमें जिन कर्मोंकी कृपासे संसारीजीव नानाप्रकारके दुःखोंको सहन करते हैं तथा वास्तविक रीतिसे पदार्थोंके स्वरूपको न तो जानते हैं और न देखतेही है तथा जिनकर्मोंकी कृपासे जीव सामर्थ्यको भी नहीं प्राप्त करते हैं उन कर्मोंको जिन्होंने दुर्धर्षध्यानसे जड़से नष्ट करदिया है वे सिद्धभगवान क्या अनन्त विज्ञान आदि अनन्तचतुष्टयरूपी अमृत नदीके स्वामी (समुद्र) अर्थात् अनन्तचतुष्टयके धारी नहीं है ? अवश्यही है ।

भावार्थः—जिन सिद्धभगवानने अनन्तज्ञान अनन्तदर्शन आदि समस्तगुणोंके रोकनेवाले कर्मोंका नाशकिया है वे सिद्ध अनन्तचतुष्टयके धारी हैं ॥ ७ ॥

एकाक्षाद्बहुकर्मसंवृतमतेर्द्व्यक्षादिजीवाः सुखज्ञानाधिक्ययुता भवन्ति किमपि क्लेशोपशान्तेरिह ।
यैः सिद्धास्तु समस्तकर्मविषमध्वान्तप्रबन्धच्युताःसद्बोधाः सुखिनश्च ते कथमहो न स्युस्त्रिलोकाधिपाः॥८॥

अर्थः—बहुत कर्मोंसे छिपा हुवा है ज्ञान जिनका ऐसे एकेन्द्रीजीवोंकी अपेक्षा जब कुछएकदुःखोंकी शान्तिसे दो इन्द्री आदिक जीव अधिक सुखी तथा अधिक ज्ञानवान है तो जो समस्त कर्मरूपी भयंकरअंधकारके संबन्धसे रहित है और जो तीनोलोकोंके स्वामी है ऐसे सिद्धभगवान क्यों नहीं सबकी अपेक्षा अधिक श्रेष्ट-ज्ञानके धारी तथा अधिक सुखी होंगे ।

भावार्थः—जैसा २ ज्ञान अधिक २ बढ़ता जाता है वैसा २ सुख भी अधिक बढ़ता चला जाता है एकन्द्रीसे दो इन्द्री का ज्ञान कुछ अधिक है इसलिये वह एकेन्द्रीकी अपेक्षा अधिक सुखी है इसीरीतिसे दो इन्द्री

से ते इन्द्री तथा ते इन्द्रीसे चौ इन्द्री चौ इन्द्रीसे पंचेन्द्री अधिक ज्ञानी तथा सुखी हैं तो सिद्धोंके समस्त ज्ञानावरणादि कर्मोंका नाश होगया है इसलिये वे तो सर्वजीवोंसे अधिक ज्ञानी तथा सुखी हैंही ॥ ८ ॥

यः केनाप्यतिगाढ़गाढ़मभितो दुःखप्रदैः प्रग्रहैः बद्धोऽन्यश्च नरो रुषा घनतरैरापादमामस्तकम्।
एकस्मिन् शिथिलेऽपि तत्र मनुते सौख्यं स सिद्धाः पुनः किं न स्युः सुखिनः सदा विरहिता बाह्यान्तरैर्बन्धनैः ९

अर्थः—कोई मनुष्य किसीमनुष्यको, क्रोधसे अत्यन्त दुःखके देनेवाले, तथा कठिन, बन्धनोंसे पैरसे लगाकर मस्तक पर्य्यन्त चारो ओरसे बांधै उसबन्धनकी यदि एकभी रस्सी ढीली हो जावे तो वह बधा हुवा भी जीव सुख मानता है फिर जो समस्त बाह्य तथा अभ्यन्तर परिग्रहके बन्धनसे रहित है ऐसे सिद्धभगवान क्यों नहीं सुखी होंगे ? अर्थात अवश्यही होंगे।

भावार्थः—आचार्यवर, सिद्धोंमें सुखकी अधिकता का वर्णन करते हैं कि जो पुरुष पैरसे लेकर शिरपर्यन्त कठिन बन्धनोंसे बंधा हुवा है यदि उस बन्धनकी एक भी लड़ी ढीली हो जावे तो पैरसे शिरतक बंधा हुवा भी वह जीव अपने को सुखी मानता है तब जो सिद्धभगवान् समस्तप्रकारके बाह्य तथा अभ्यन्तर कर्मोंके बन्धनोंसे रहित है वे क्यों नहीं सुखी होंगे ? अर्थात् समस्तबन्धनोंसे रहित होनेके कारण वे अनन्त सुखके भण्डार अवश्यही हैं इसमें किसीप्रकारका संशय नहीं ॥ ९ ॥

सर्वज्ञः कुरुते परं तनुभृतः प्राचुर्यतः कर्मणां रेणूनां गणनं किलाधिवसतामेकं प्रदेशं घनम्।
इत्याशास्वखिलासु बद्धमहसो दुःखं न कस्माद्भवेन्मुक्त्या यस्य तु सर्वतः किमिति नो जायेत सौख्यं परम् १०

अर्थः—आत्माके एकभी प्रदेशमें सघनरीतिसे व्याप्त इतने अधिक परमाणू हैं कि उनकी गिनती सर्वज्ञको छोड़कर दूसरा कोई नहीं करसक्ता इसरीतिसे प्रत्येक आत्माके प्रदेशपर अनन्ते २ परमाणुके चिपटने के कारण

॥२३६॥

जिस आत्माका तेज चारों ओरसे रुकगया है अर्थात् न जो आत्मा भलीभांति पदार्थोंको जानही सक्ता है और न देखही सक्ता है ऐसे उस आत्माको क्यों नहीं दुःख होगा ? अवश्यही होगा किन्तु जिसने समस्त कर्मोंको जड़से उड़ादिया है अर्थात् जिसकी आत्माके प्रदेशोंकेसाथ किसीभी कर्मका बन्ध नहीं है, ऐसे सिद्धभगवानको तो अनन्तसुख क्यों नहीं होगा अवश्यही होगा ? ॥ १० ॥

सिद्धही अत्यन्ततृप्त है इसबातको आचार्य बतलाते हैं ।

येषां कर्मनिदानजन्यविविधक्षुतृण्मुखा व्याधयस्तेषामन्नजलादिकौषधगणस्तच्छान्तये युज्यते ।
सिद्धानान्तु न कर्म तत्कृतरुजो नातः किमन्नादिभिर्नित्यात्मोत्थसुखामृताम्बुधिगतास्तृप्तास्त एवध्रुवम् ११

अर्थः—जिन जीवोंके कर्मके उदयसे उपन्न हुवे क्षुधा तृषा आदिक रोग हैं उनजीवोंको उनरोगोंकी शान्तिकेलिये अन्न जल आदिका आश्रय करना पड़ता है किन्तु सिद्धभगवानके तो कर्मही नहीं हैं तथा कर्मों के अभावसे उनको अन्न जल आदिका आश्रय भी नहीं करना पड़ता इसलिये निश्चयसे अविनाशी और आत्मा सेही उत्पन्न हुवे ऐसे सुखरूपीअमृतसमुद्रमें मग्न सिद्धही अत्यन्त तृप्त है ऐसा समझना चाहिये ।

भावार्थः—संसारीजीवोंको कर्मके उदयसे नानाप्रकारके क्षुधा तृषा आदि रोगोंका सामना करना पड़ता है तथा क्षुधा तृषा आदिके होनेसे उनको उनकी शान्तिकेलिये अन्न जल आदिका आश्रय करना पड़ता है तथा उस अन्नजलसें ही वे अपनेको तृप्त मानते हैं किन्तु वास्तवमें उससे तृप्ति नहीं होसक्ती क्योंकि फिरवेदनाके होनेपर फिर उनको पीड़ा होगी तथा फिर भी उनको जलआदिका आश्रय करनापड़ेगा। किन्तु जिन्होंने समस्त कर्मोंका नाशकरदिया है इसीलिये जिनको अन्नआदिकी भी अवश्यकता नहीं है वेही तृप्त हैं और वे सिद्धही हैं इसलिये समस्तजीवोंकी अपेक्षा सिद्धही अत्यंत तृप्त हैं ॥ ११ ॥

सिद्धज्योतिरतीवनिर्मलतरं ज्ञानैकमूर्तिस्फुरद्वर्तिर्दीपमिवोपसेव्य लभते योगी स्थिरं तत्पदम्।
सद्बुद्ध्याथ विकल्पजालरहितस्तद्रूपतामाप तं स्ताद्दग्जायत एव देवविनुतस्त्रैलोक्यचूडामणिः॥

अर्थः—जिसप्रकार बत्ती स्फुरायमानदीपकके संगसे दीपपनेको प्राप्त होजाती है उसीप्रकार अत्यंतनिर्मल जोज्ञान उस ज्ञानस्वरूप स्फुरायमान है मूर्ति जिसकी ऐसी सिद्धज्योतिकी आराधना करनेसे मुनिगण भी उस स्थिर सिद्धपदको प्राप्त होजाते हैं अथवा समस्तप्रकारके विकल्पोंसे रहितहोकर जो योगीश्वर श्रेष्ठबुद्धिसे उन सिद्धोंके स्वरूपको प्राप्तहोकर उनके स्वरूपका ध्यान करता है वह भी समस्तदेवोंमें वंदनीक तथा तीनलोकका चूडामणि उन सिद्धोंके समानही होजाता है॥ १२॥

शार्दूलविक्रीड़ित।

यत्सूक्ष्मंच महच्च शून्यमपि यन्नो शून्यमुत्पद्यते नश्यत्येवच नित्यमेव च तथा नास्त्येव चास्त्येव यत्।
एकं यद्यदनेकमेव तदपि प्राप्तं प्रतीतिं दृढां सिद्धज्योतिरमूर्ति चित्सुखमयं केनापि तल्लभ्यते॥

अर्थः—जो सिद्धज्योति सूक्ष्म भी है और महान भी है शून्य भी है तथा शून्यनहीं भी है विनाशीक भी है और नित्य भी है और है, भी है, नहीं भी है, तथा एक भी है अनेक भी है इसप्रकार अनेकधर्मको लिये हुए है तोभी स्याद्वादसे जिसकी प्रतीति दृढ़ है ऐसी अमूर्तीक तथा ज्ञानसुखस्वरूप सिद्धोंकी ज्योति (तेज) को संसारमें कोई एक मनुष्यही प्राप्तकरसक्ता है सब नहीं।

भावार्थः—सिद्धोंकी ज्योति सूक्ष्म तो इसलिये है कि वह अमूर्त है इसलिये कोई भी इन्द्रिय उसका प्रत्यक्ष नहीं करसक्ती, तथा महान इसलिये है कि समस्तलोकालोकके जाननेवाले केवलीभगवान उसको प्रत्यक्ष देखते हैं तथा पुद्गलादि परद्रव्य और उनके स्पर्श रस आदिगुणोंसे रहितहोनेके कारण तो शून्य है किन्तु सदा

अपने केवलज्ञान केवलदर्शन आदिगुणोंसे विराजमान है इसलिये शून्य भी नहीं है तथा यद्यपि पर्यायार्थिक नयकीअपेक्षासे अगुरुलघु गुणके द्वारा प्रतिक्षण वह विनाशीक भी है तोभी द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षा उसमें नाश तथा उत्पाद धर्म नहीं हैं इसलिये वह नित्य भी है तथा परद्रव्य परक्षेत्र परकाल परभावकी अपेक्षासे उसका अभाव है तोभी स्वद्रव्य स्वक्षेत्र स्वकाल स्वभावकी अपेक्षा वह मोजूद ही है, और अपने स्वरूपको छोड़कर पररूपको प्राप्त नहीं होती इसलिये यद्यपि वह एकरूप है तोभी ज्ञानसे अनेक पदार्थोंको प्रत्यक्ष करती है इसलिये अनेक रूपभी है इसप्रकार वह सिद्धज्योति अनेक धर्मस्वरूप होनेपर भी स्याद्वादसे उसकी प्रतीति दृढ़ है अर्थात् स्याद्वादसिद्धान्तके आश्रयसे उसमें किसीप्रकारका दोष नहीं आता तथा अमूर्तीक है और ज्ञानमय तथा सुखमय है और कोई एकही मनुष्य उसको प्राप्त करसक्ता है हरएक मनुष्य नहीं ॥ १३ ॥

स्याच्छब्दामृतगर्भितागममहारत्नाकरस्नानतो धौता यस्य मतिः सएव मनुते तत्वं विमुक्तात्मनः ।
तत्तस्यैव तदेव याति सुमतेः साक्षादुपादेयतां भेदेन स्वकृतेन तेन च विना स्वं रूपमेकं परम् ॥१४॥

अर्थः—जिसपुरुषकी बुद्धि स्याद्वादरूपीजलसे भरेहुवे विस्तीर्ण सागरमें स्नान करनेसे निर्मल होगई (धुलगई) है अर्थात् जो स्याद्वादका जानकार है वही मनुष्य सिद्धोंके स्वरूपको जानता है तथा वही बुद्धिमान उनसिद्धोंके स्वरूपको साक्षातरीतिसे प्राप्त होता है, अथवा अपनेसे कियाहुवा जो भेद उसके दूर होजानेपर अपना जो स्वरूप है वही सिद्धोंका स्वरूप है अर्थात् जबतक आत्मामें मेरा तेरा भेद रहता है तबतक तो आत्मा मलिन ही है किन्तु जिससमय यह भेदबुद्धि नष्ट होजाती हैं उससमय मलिनतारहित होनेकेकारण अपनी आत्माका स्वरूपही सिद्धस्वरूप है इसलिये भव्यजीवोंको चाहिये कि वे स्याद्वादके स्वरूप को भलीभाति पहिचानकर सिद्धोंके स्वरूपको पहिंचाने ॥ १४ ॥

दृष्टिस्तत्त्वविदः करोत्यविरतं शुद्धात्मरूपे स्थिता शुद्धं तत्पदमेकमुल्वणमतेरन्यत्र चान्यादृशम् ।
स्वर्णात्तन्मयमेव वस्तु घटितं लोहाच्च मुक्त्यर्थिना मुक्त्वा मोहविजृम्भितं ननु पथा शुद्धेन संचर्यताम् ॥

अर्थः—जिसप्रकार सोंनेसे बनाहुवा पात्र सुवर्ण स्वरूपही होता है तथा लोहसे बनाहुवा पात्र लोहस्वरूप ही होता है उसीप्रकार शुद्धआत्मस्वरूपमें, निश्चलरीतिसे ठहरीहुई तत्वज्ञानीपुरुषकी दृष्टि तो निर्मल देदीप्यमान जो एक अविनाशी मोक्षपद उसको प्राप्त कराती है और तत्वज्ञानरहितपुरुषकी दृष्टि शुद्धात्मस्वरूपसे अतिरिक्तस्थानमें ठहरनेकेकारण मोक्षसे भिन्न जो नरक तिर्यंच निगोद आदि स्थान उनस्थानोंको प्राप्त करती है इसलिये आचार्य उपदेशदेते हैं कि मोक्षके अभिलाषी मनुष्योंको मोहके उत्पन्न करनेवाले मार्गको छोड़कर निश्चयसे शुद्धमार्गसे ही गमन करना चाहिये ॥ १५ ॥

निर्दोषश्रुतचक्षुषा षडपि हि द्रव्याणि दृष्ट्वा सुधीरादत्ते विशदं स्वमन्यमिलितं स्वर्णं यथा धावकः ।
यः कश्चित्किल निश्चिनोति रहितः शास्त्रेण तत्वं परं सोऽन्धोरूपनिरूपणं हि कुरुते प्राप्तो मनःशून्यताम् ॥

अर्थः—जिसप्रकार सुनार अन्यधातुओंसे मिलेहुवे भी सुवर्णको नेत्रोंसे जुदा करलेता है उसीप्रकार विद्वान्पुरुष निष्कलंकशास्त्ररूपीनेत्रसे छहोद्रव्योंको भलीभांति देखकर अन्यद्रव्योंसे मिलेहुवे भी अपने निर्मल आत्मस्वरूपको जुदाकर ग्रहण करते हैं किन्तु जो मनुष्य शास्त्रके विना देखेही उत्कृष्टतत्त्वका निश्चय करते हैं वे मनरहित तथा अंधेहोकर रूपको देखना चाहते हैं ऐसा मालूम होता है ।

भावार्थः—जबतक छद्मस्थ अवस्था रहती है तबतक विनाशास्त्रके सुने तथा देखे कदापि निर्मल स्वरूपको ग्रहण नहीं करसक्ते इसलिये आत्माके निर्मल स्वरूपको देखनेके अभिलाषी मनुष्योंको अवश्य शास्त्रको देखना तथा सुनना चाहिये किन्तु जो अज्ञानीपुरुष विना शास्त्रके सुने देखेही उत्कृष्ट स्वरूपको देखना

घाहता है वह मनुष्य जिसप्रकार मनरहित तथा अंधा मनुष्य रूपको नहीं देखसक्ता उसीप्रकार कदापि उत्कृष्ट स्वरूपको नहीं देख सक्ता है ॥१६॥

यो हेयेतरबोधसंभृतमतिर्मुञ्चन् स हेयं परं तत्वं स्वीकुरुते तदेव कथितं सिद्धत्वबीजं जिनैः।
नान्यो भ्रान्तिगतः स्वतोऽथ परतो हेये परेर्थेऽस्य तद्दुष्पापं शुचि वर्त्म येन परमं तद्धाम संप्राप्यते ॥ १७॥

अर्थः—जिसमनुष्यको यहवस्तु त्यागने योग्य है तथा यह वस्तु ग्रहण करने योग्य है इसप्रकारका ज्ञान है वह मनुष्य त्यागनेयोग्य जो वस्तु है उसको छोड़कर ग्राह्यस्वरुपको ग्रहण करता है और वह ग्राह्यस्वरूप का स्वीकारही सिद्धपनेका कारण है ऐसा श्रीजिनेंन्द्रदेवने कहा है तथा जो मनुष्य त्यागनेयोग्य अपनेसे भिन्नपदार्थोंमें अपनेआप तथा परके उपदेशसे भ्रान्त (भ्रमसहित) है उसअज्ञानीको अत्यंत निर्मल मार्गकी प्राप्तिनहीं होसक्ती और जबनिर्मल मार्गकीही प्राप्ति नहीं हुई तो वह उत्कष्ट मोक्षस्थानभी, उसको प्राप्त नहीं होसक्ता॥

भावार्थः—जिस मनुष्यको हेयोपादेयका ज्ञान है वही पुरुष अपनेसे भिन्न त्यागनेयोग्य वस्तुओंको त्यागकर तथा निज ज्ञानानन्दस्वरूपको ग्रहणकर क्रमसे मोक्षको प्राप्त होजाता है किन्तु जिसपुरुषको हेयोपादेय का ज्ञान नहीं है इसीलिये जो अपनेसे भिन्न सर्वथा त्यागनेयोग्य वस्तुओंको भी अपनी वस्तु मानता है वह कदापि मुक्तिको प्राप्त नहीं होसक्ता और न उसको मुक्तिका मार्गही सूझसक्ता है इसलिये मोक्षाभिलाषी पुरुषों को चाहिये कि वे सर्वथा छोड़नेयोग्यवस्तुओंको छोड़कर अपने ज्ञानानंदस्वरुपको ही ग्रहण करैं ॥ १७ ॥

साङ्गोपाङ्गमपि श्रुतं बहुतरं सिद्धत्वनिष्पत्तये येऽन्यार्थं परिकल्पयन्ति खलु ते निर्वाणमार्गच्युताः
मार्गं चिन्तयतोऽन्वयेन तमतिक्रम्यापरेण स्फुटं निश्शेषश्रुतमेति तत्र विपुले साक्षाद्विचारे सति १८

अर्थः—अंग तथा उपांग सहित जितना भर शास्त्र है वह समस्त सिद्धपनेकी प्राप्तिकेलियेही है किन्तु

जो अज्ञानीमनुष्य उसको अन्य प्रयोजनकेलिये कल्पना करते हैं वे निश्चयसे मोक्षमार्गसे भ्रष्टहैं हैं अर्थात् सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्ररुपमोक्षमार्गका उनको अंशमात्रभी ज्ञान नहीं है क्योंकि विचारशीलहो नेपर परंपरासे आये हुवे द्रव्यश्रुतको छोड़कर यदि वह भावश्रुतसेभी मार्गका चिंतवन करै तोभी उनके स्फुट-रीति से समस्त शास्त्रकी प्राप्ति होती है।

भावार्थ—चाहै द्रव्यश्रुत हो चाहै भावश्रुतहो समस्तही शास्त्रोंसे सिद्धपनेको प्राप्ति होती है किन्तु जो पुरुष शास्त्रको अन्यप्रयोजनकी सिद्धिकेलिये मानते हैं वे अज्ञानीही हैं ऐसा समझना चाहिये ॥ १८ ॥

निश्शेषश्रुतसम्पदः शमनिधेराराधनायाः फलं प्राप्तानां विषये सदैव सुखिनामल्पैव मुक्तात्मनाम्।
उक्ता भक्तिवशान्मयाप्यविदुषा या सापि गीः साम्प्रतं निःश्रेणीर्भवितादनन्तसुखतद्धामारुरुक्षोर्मम ॥

अर्थः—जिन्होंने आराधनाके फलको प्राप्तकरलिया है तथा जो सदाकाल सुखी है ऐसे सिद्धोंके विषय में जो मुझ अपंडितने भक्तिके वशसे थोड़ीसे वाणी कही है अर्थात् जोकुछ भक्तिपूर्वक उनकी थोड़ीसी स्तुति की है वह थोड़ीसीही वाणी (स्तुति) समस्तशास्त्ररुपी संपदाके धारी तथा शमी मुझ अनन्त सुखमय मोक्ष रुपी महलपर चढनेकी इच्छाकरनेवालेकेलिये निःश्रेणी (सीढी) के समान है ॥ १९ ॥

विश्वं पश्यति वेत्ति शर्म लभते स्वोत्पन्नमात्यन्तिकं नाशोत्पत्तियुतं तथाप्यविचलं मुक्त्यर्थिनां मानसे।
एकीभूतमिदं वसत्यविरतं संसारभारोज्झितं शान्तं जीवधनं द्वितीयरहितं मुक्तात्मरूपं महः ॥ २० ॥

अर्थः—यद्यपि जो सिद्धस्वरूपतेज समस्तलोकको देखता है तथा समस्त लोकको जानता है और सब से अंतमें होने वाले आत्मीक सुखको प्राप्त है और उत्पाद व्यय तथा ध्रौव्यकर सहित है तौभी मोक्षाभिलाषी मनुष्योंके मनमें वह संसारमें भारस्वरुप जो जन्म मरणादि उनकर रहित शान्त, तथा ज्ञानस्वरुप और अपने

से भिन्न वस्तुओंके सवंधसे रहित सदा एकरुपही विराजमान है॥ २० ॥

त्यक्त्वा न्यासनयप्रमाणविवृतीः सर्वं पुनः कारकं संवन्धं च तथा त्वमित्यहमितिप्रायान् विकल्पानपि।
सर्वोपाधिविवर्जितात्मनि परं शुद्धैकवोधात्मनि स्थित्वा सिद्धिमुपाश्रितो विजयते सिद्धः समृद्धो गुणैः ॥

भावार्थः——नाम स्थापना आदि निक्षेपोंको छोड़कर तथा नैगम आदिनयको त्यागकर और प्रत्यक्ष परोक्ष प्रमाणके व्यापारको छोड़कर और कर्ता कर्म करण आदि कारकोंको छोड़कर तथा समस्तसबंधको, और तू मैं, इत्यादि समस्त विकल्पोंको भी छोड़कर जोसिद्धभगवान समस्तप्रकारकी कर्म आदि उपाधियों से रहित होकर तथा शुद्ध और ज्ञानानन्द स्वरूप आत्मामें लीन होकर मोक्षको प्राप्त हुवे हैं वे समस्त अनन्त विज्ञान आदि गुणोंसे सदा वृद्धिको प्राप्त, सिद्ध भगवान सदा इसलोक में विशेषरीतिसे जयवंत है अर्थात् ऐसे सिद्धभगवान को मैं हाथ जोडकर विशिष्टरीतिसे नमस्कार करता हूं ॥ २१ ॥

तैरेव प्रतिपद्यतेऽत्र रमणीस्वर्णादिवस्तु प्रियं तत्सिद्धैकमहः सदन्तरदृशा मन्दैर्न यैर्दृश्यते ।
ये तत्तत्वरसप्रभिन्नहृदया स्तेषामशेषं पुनः साम्राज्यं तृणवद्वपुश्च परवद्भोगाश्च रोगाइव ॥ २२ ॥

अर्थः——जिनमनुष्योंने अंतरंग दृष्टिसे उस अलौकिक सिद्धस्वरूपतेजको नहीं देखा है उन्ही मूर्खमनुष्योंको स्त्री सुवर्ण आदिक पदार्थ प्रिय मालूम पड़ते हैं किन्तु जिन भव्यजीवोंका हृदय उन सिद्धोंके स्वरूप रूपी रससे भिदगया है वे भव्यजीव समस्त साम्राज्यको तृणके समान जानते हैं तथा शरीरको पर (वैरी) समझते हैं और उनको भोग रोगके समान मालूम होते हैं ।

भावार्थः——जवतक मनुष्योंको वास्तविक पदार्थ दृष्टिगोचर नहीं होता तवतक वे अवास्तविक पदार्थोंको भी वास्तविक मानते हैं किन्तु जिससमय उनकी दृष्टि वास्तविक पदार्थोंपर पड़जाती है उससमय वे उसवा-

स्तविक पदार्थके सामने अवास्तविक पदार्थोंको अंशमात्रभी वास्तिक नहीं समझते। मनुष्योंको ग्रहणकरनेयोग्य वास्तविक पदार्थ सिद्धस्वरूप है और उससे भिन्न त्यागकरनेयोग्य सब अवास्तविक है इसलिये जबतक मनुष्योंकी दृष्टि उससिद्धस्वरूप तेजपर नहीं पड़ती है तबतक वे मनुष्य अवास्तविक स्त्री पुत्र सुवर्ण धन धान्य आदिकोही वास्तिवक तथा प्रिय मानते हैं किन्तु जिससमय उनको सिद्धस्वरूपतेजका अनुभव होजाता है उससमय वे सिद्धस्वरूपके सामने किसीभी साम्राज्य शरीर भोग आदिपदार्थोंको उत्तम नहीं मानते और वास्तवमें ये उत्तम पदार्थभीनहीं इसलिये भव्यजीवोंको सिद्धस्वरूप तेजकी और ही अपनी दृष्टि देनी चाहिये तथा उसीका अनुभव करना चाहिये ॥ २२ ॥

वन्द्यास्ते गुणिन स्तएव भुवने धन्यास्तएव ध्रुवं सिद्धानां स्मृतिगोचरं रुचिवशान्नामापि यैर्नीयते ।
ये ध्यायन्ति पुनः प्रशस्तमनसस्तान् दुर्गभूभृद्दरीमध्यस्थाः स्थिरनासिकाग्रिमदृशस्तेषां किमु ब्रूमहे॥२३॥

अर्थः—जो मनुष्य प्रीतिपूर्वक सिद्धोंके नामकाभी स्मरण करते हैं वे मनुष्य भी जब संसारमें वंदने योग्य तथा गुणी और धन्य समझेजाते हैं तब जोमनुष्य पवित्रचित्तसे किले पर्वतोंकी गुफाके मध्यमें बैठिकर तथा नाकके अग्रभागमें दृष्टिलगाकर उनसिद्धोंका ध्यान तथा उनके स्वरूपका मनन चिंतवन करते हैं आचार्य कहते हैं उनकी हम क्या कहैं? अर्थात् वे उनसेभी अधिक धन्य है इसलिये भव्य जीवोंको चाहिये कि वे उनसिद्धों स्वरूपका भलीभांति ध्यान करै यदि ध्यान न होसके तो उनके नामको अवश्यही स्मरण करै ॥ २३ ॥

यः सिद्धे परमात्मनि, प्रविततज्ञानैकमूर्तौ किल ज्ञानी निश्चयतः सएव सकलप्रज्ञावतामग्रणी ।
तर्कव्याकरणादिशास्त्रसहितैः किं तत्र शून्यैर्यतो यद्योगं विदधाति वेध्यविषये तद्बाणमावर्ण्यते॥२४॥

अर्थः—विस्तीर्ण ज्ञानहीहै एक स्वरूप जिनका ऐसे सिद्धोंमें जो पुरुष ज्ञानी हैं अर्थात् सिद्धोंके स्वरूपका

॥२४४॥

जो भलीभांति जाननेवालाहै वास्तविकरीतिसे वही समस्त विद्वानोंमें मुख्य है ऐसा समझना चाहिये और यदि न्यायशास्त्र तथा व्याकरण आदिशास्त्रोंके जानकारभी हुवें तथा हृदयसे शून्यही रहे तो उनसे कोई प्रयोजन नहीं क्योंकि जो वेधनेयोग्य पदार्थमें निशानको करता है वही बाण कहलाता ।

भावार्थः—जो बाण वेधनेयोग्यपदार्थमें निशान करता है वही जिसप्रकार बाण कहलाता है अन्यनहीं उसीप्रकार न्याय व्याकरण आदिशास्त्रोंको भलीभांति अध्ययनकरके जो मनुष्य सिद्धोंके स्वरूपका जानकार है वही वास्तविक रीतिसे विद्वानोंमें अग्रणी विद्वान है किन्तु न्याय व्याकरण आदि शास्त्रोंको भलीभांति पढ़कर जिसने सिद्धोंके स्वरूपको नहीं पहिचाना वह अंशमात्रभी विद्वान नहीं इसलिये भव्यजीवोंको चाहिये कि वे न्याय व्याकरण आदि शास्त्रोंको भलीभांति जानकर सिद्धोंके स्वरूपके ज्ञातावने ॥ २४ ॥

सिद्धात्मा परमः परं प्रविलसद्वोधः प्रबुद्धात्मना येनाज्ञायि स किं करोति बहुभिः शास्त्रैर्बहिर्वाचकैः ।
यस्य प्रोद्गतरोचिरुज्वलतनुर्भानुः करस्थो भवेत् ध्वान्तध्वंसविधौ स किं मृगयते रत्नप्रदीपादिकान् ॥

अर्थ—प्रबुद्ध है आत्मा जिसकी ऐसे जिस भव्यजीवने देदीप्यमान ज्ञानका धारी तथा सर्वोत्कृष्ट ऐसे सिद्ध भगवानके स्वरूपको जानलिया है उस भव्यजीवको वाह्यशास्त्रोंसे क्या प्रयोजन है ? अर्थात् कुछ भी प्रयोजन नहीं क्योंकि जिस मनुष्यके हाथमें जिसकी किरण उदित होरही है ऐसा प्रकाशयान सूर्य मौजूद है वह मनुष्य अंधकारके नाशकरनेकेलिये क्या रत्न तथा प्रदीपआदि पदार्थोंका अन्वेषण करता है ? कदापि नहीं ।

भावार्थः—रत्न तथा प्रदीपआदि पदार्थोंकी अपेक्षा अंधकारके नाशकेलिये ही की जाती है यदि हाथमें स्थित प्रकाशमान सूर्यसे ही अंधकारका नाश होगया तो फिर जिप्रसकार प्रदीपआदिकी अपेक्षा नहीं करनी पड़ती उसीप्रकार न्याय व्याकरणआदि शास्त्रोंका अध्ययन सिद्धस्वरूपके जाननेकेलिये किया जाता है यदि

उस सिद्धस्वरूपका ज्ञान पाहिलेसे ही मौजूद है तो पुनः न्याय व्याकरणआदि शास्त्रोंका अध्ययन, विना प्रयोजन का ही है ऐसा समझना चाहिये ॥ २५ ॥

शार्दूलविक्रीड़ित ।

सर्वत्र च्युतकर्मबन्धनतया सर्वत्र सद्दर्शनाः सर्वत्राखिलवस्तुजातविषयव्यासक्तबोधत्विषः
सर्वत्रस्फुरदुन्नतोन्नतसदानंदात्मका निश्चलाः सर्वत्रैव निराकुलाः शिवसुखं सिद्धाः प्रयच्छन्तु नः ॥

अर्थः—जिन सिद्धोंके समस्तआत्मप्रदेशोंसें कर्मबंध छूटगया है, तथा जिनके समस्त आत्मप्रदेशोंमें समीचीन दर्शन मौजूद है अर्थात् जो सम्यग्दर्शनके धारी है और समस्त पदार्थोंके समूहको जाननेवाली सम्यग्ज्ञानरूपीकिरण जिनके समस्त आत्मप्रदेशोंमें व्याप्त हैं तथा जिनके सर्वत्र सर्वोत्कृष्ट चिदानंद स्वरूपतेज फुरायमान है और जो निश्चल तथा निराकुल हैं ऐसे सिद्धभगवान हमारेलिये मोक्षसुखको प्रदानकरो ॥

भावार्थः—जो समस्तकर्मोंकर रहित हैं तथा सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्रके धारी हैं और निश्चल तथा समस्त प्रकारकी आकुलताकर रहित हैं ऐसे सिद्धभगवान हमारेलिये मोक्षरूपीसुखको प्रदान करो अर्थात् ऐसे सिद्धोंके हम सेवक हैं ॥ २६ ॥

आत्मोत्तुङ्गगृहं प्रसिद्धवहिराद्यात्मप्रभेदक्षणं वह्वात्माध्यवसानसंगतलसत्सोपानशोभान्वितम् ॥
तत्रात्माविभुरात्मनात्मसुहृदो हस्तावलम्बी समारुह्यानन्दकलत्रसंगतभुवं सिद्धः सदा मोदते ॥

अर्थः—जहांपर बहिरात्मा तथा अंतरात्माके भेदको वास्तविकरीतिसे देखसक्ते हैं और जो आत्माका अध्यवसान (चिंतवन) रूप जो मनोहर सीढ़ी उसकर शोभायमान है ऐसा यह आत्मारूपी ऊंचा मकान है उसपर चढ़कर आत्मरूपी मित्रका अवलम्बी अर्थात् अपनेको स्वयं आपही आधार तथा चिदानंदस्वरूप स्त्रीकर

सहित प्रभु आत्मा जो सिद्ध है सदा हर्षसंयुक्त निवास करता है ॥ २७ ॥

सैवैका सुगतिस्तदेव च सुखं ते एव दृग्बोधने सिद्धानामपरं यदस्ति सकलं तन्मे प्रियं नेतरत् ॥
इत्यालोच्य दृढं त एव च मया चित्ते धृताः सर्वदा तद्रूपं परमं प्रयातु मनसा हित्वाभयं भीषणम् ॥

अर्थः—जो सिद्धोंकी गति है वही तो एक सुगति है तथा जो उनका सुख है वही वास्तविक सुख है और वे सिद्धही सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान हैं इसलिये ये तथा इनसे भिन्न और भी जो सिद्धोंका स्वरूप है वह समस्त मुझे प्रिय है किन्तु इनसे अतिरिक्त और मुझे कुछ भी प्रिय नहीं है ऐसा मनमें दृढ़श्रद्धान करके मैंने सर्वकाल उन्हीं सिद्धोंका ध्यान किया हैं इसलिये मनसे समस्तभयंकरसंसारका भय छूटकर मुझे उत्कृष्ट उन्हीं सिद्धोंके स्वरूपकी प्राप्ति हो ऐसी आशा सहित हूं ॥ २८ ॥

ते सिद्धाः परमेष्ठिनो न विषया वाचामतस्तान्प्रति प्रायो वच्मि यदेव तत्खलु नभस्यालेख्यमालिख्यते ॥
तन्नामापि मुदे स्मृतं तत इतो भक्त्याथ वाचालितास्तेषां स्तोत्रमिदं तथापि कृतवानम्भोजनन्दी मुनिः ॥

अर्थः—इस अधिकारको समाप्त करतेहुए आचार्य कहते हैं कि वे अलौकिकगुणके धारी भगवान सिद्ध-परमेष्ठी वचनके तो विषय ही नहीं है इसलिये मैं जो उनके गुणोंका स्तवन अथवा उनके विषयमें कुछ वर्णन करना चाहता हूं वह आकाशमें चित्रकारी करता हूं ऐसा मालूम होता है (अर्थात् जिसप्रकार आकाशमें चित्र-कारी करना कठिन बात हैं उसीप्रकार सिद्धपरमेष्ठीके विषयमें भक्तिपूर्वक वर्णन करना अत्यंत कठिन है) तोभी उनसिद्धोंका स्मरणकियाहुआ नामभी हर्षका करनेवाला होता है इसकारण भक्तिसे वाचालित होकर मुझ पद्मनन्दिनामक मुनिने यह उन सिद्धोंकी स्तुति की है ॥

भावार्थः—सिद्धपरमेष्ठी दृष्टिके अगोचर अमूर्तीक पदार्थ है इसलिये जब वे दृष्टिके अगोचर हैं देखनेमें

ही नहीं आते हैं तो वे वचनके अगोचर भी हैं इसलिये उनकी स्तुति तथा उनके विषयमें वर्णन करना भी अत्यंत कठिन है तोभी मेरी जो उन सिद्धोंमें भक्ति है उसने मुझे वाचालित किया है इसीलिये मैंने यह कुछ उन सिद्धोंकी स्तुति की है ॥ २९ ॥

इसप्रकार पद्मनन्दिआचार्य विरचित इस पद्मनन्दिपञ्चविंशतिकामें सिद्धस्तुतिरूप अधिकार समाप्तहुआ ॥

आलोचनाधिकारः ।

शार्दूलविक्रीडित ।

यद्यानन्दविधिं भवन्तममलं तत्वं मनोगाहते त्वन्नामस्मृतिलक्षणो यदि महामन्त्रोऽस्त्यनन्तप्रभः ॥
यानं च त्रितयात्मके यदि भवेन्मार्गे भवद्दर्शिते को लोकेऽत्र सतामभीष्टविषये विघ्नो जिनेश प्रभो ॥

अर्थः—हे जिनेश हे प्रभो यदि सज्जनोंका मन अंतरंग तथा वहिरंगमलसे रहितहोकर तत्वस्वरूप तथा वास्तविक आनन्दके निधान आपको अवगाहन (आश्रयण) करता है और यदि उनके मनमें आपके नामका स्मरणरूप अनंतप्रभाकाधारी महामंत्र मौजूद है तथा आपसे प्रकट कियेहुए सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र रूपी मोक्षमार्गमें यदि उनका गमन है तो उन सज्जनोंको अभीष्टकी प्राप्तिमें किसीप्रकारका विघ्न नहीं आसक्ता ॥

भावार्थः—यदि सज्जनोंके मनमें आपका ध्यान होवे तथा आपका नाम स्मरणरूप महामंत्र मौजूद होवे और यदि वे मोक्षमार्गमें गमन करनेवाले होवें तो उनके अभिलषितकीप्राप्तिमें किसीप्रकारका विघ्न नहीं आसक्ता ॥१॥

निस्सङ्गत्वमरागिताथ संमता कर्मक्षयो बोधनं विश्वव्यापि समं दृशा तदुतलानन्देन वीर्येण च ॥
ईदृग्देव तवैव संसृतिपरित्यागाय जातःक्रमः शुद्धस्तेन सदा भवच्चरणयोः सेवा सतां सम्मता ॥

अर्थ—और भी आचार्य स्तुति करते हैं कि हे जिनेन्द्रदेव संसारके त्यागकेलिये परिग्रह रहितपना तथा रागरहितपना और समता तथा सर्वथा कर्मोंका नाश और अनंतदर्शन अनंतसुख और अनंतवीर्यके साथ समस्त लोकालोकको प्रकाश करनेवाला केवलज्ञान ऐसा क्रम आपके ही हुआ था किन्तु आपसे भिन्न किसी देवके यह क्रम नहीं था इसलिये आपही शुद्ध है तथा आपके चरणोंकी सेवाही सज्जन पुरुषोंको करने योग्य है ॥

भावार्थः—आपने ही संसारसे मुक्तहोनेके लिये हेभगवन् समस्त परिग्रहका त्यागकिया है तथा राग-भावको छोड़ा है और समताको धारणकिया है तथा अनन्त विज्ञान अनन्तवीर्य अनन्त सुख और अनंतदर्शन आपके ही प्रकट हुवे हैं इसलिये आपही शुद्ध तथा सज्जनोंकी सेवाके पात्र हैं ॥ २ ॥

यद्येतस्य दृढा स्थितिरभूत्त्वत्सेवया निश्चितं त्रैलोक्येश वलीयसोऽपि हि कुतः संसारशत्रोर्जयम् ।
प्राप्तस्यामृतवर्षहर्षजनकं सद्यन्त्रधारागृहं पुन्सः किं कुरुते शुचौ खरतरो मध्यान्हकालातपः ॥ ३ ॥

अर्थः—हे तीनलोकके ईश यदि मेरे निश्चयसे आपकी सेवामें दृढ़पना है तो मुझे अत्यंत वलवानभी संसाररूपी वैरीका जीतना कोई कठिनबातनहीं क्योंकि जिसमनुष्यने जलके वर्षणसे हर्षको करनेवाले उत्तम-फव्वारा सहितघरको प्राप्तकरलिया है उसपुरुषका जेठमासकी अत्यंत तीक्ष्णभी दुपहरकीधूप कुछ भी नहीं करसक्ती।

भावार्थः—जिसप्रकार फव्वारा सहित उत्तमघरमें बैठे हुवे पुरुषका जेठमासकी अत्यंत कठोर भी दुप-हरकी धूप कुछ नहीं करसक्ती उसीप्रकार यदि मैं निश्चयसे आपकी सेवामें दृढ़ रीतिसे स्थितहूं तो मुझे वलवान

१ शमता यह भी क पुस्तकमें पाठ है ।

भी संसाररूपी वैरी कुछ भी त्रास नहीं देसक्ता ॥ ३ ॥

यः कश्चिन्निपुणो जगत्त्रयगतानर्थानशेषांश्चिरं सारासारविवेचनैकमनसा मीमांसते निस्तुषम् ।
तस्य त्वं परमेक एव भगवन् सारो ह्यसारं परं सर्वं मे भवदाश्रितस्य महती तेनाभवन्निर्वृतिः ॥ ४ ॥

अर्थः—यह पदार्थ सारहै और यह असार है इसप्रकार सारासारकी परीक्षामें एकचित्तहोकर जो कोई बुद्धिमान मनुष्य तीनोंलोकके समस्तपदार्थोंका बाधारहित गहरीदृष्टिसे विचार करता है उसपुरुषकी दृष्टिमें हे भगवन् आपही एक सारभूतपदार्थ हैं और आपसे भिन्न समस्तपदार्थ असारभुतही हैं अतः आपके आश्रयसेही मुझे परम संतोषहुआ है ॥ ४ ॥

ज्ञानं दर्शनमप्यशेषविषयं सौख्यं तथात्यन्तिकं वीर्यं च प्रभुता च निर्मलतरा रूपं स्वकीयं तव ।
सम्यग्योगदृशा जिनेश्वर चिरात्तेनोपलब्धे त्वयि ज्ञातं किं न विलोकितं न किमथ प्राप्तं न किं योगिभिः

अर्थः—हे जिनेन्द्र समस्तलोकालोकको एकसाथ जाननेवाला तो आपका ज्ञान है और समस्त लोकालोकको एकसाथ देखनेवाला आपका दर्शन है और आपके अनंतसुख और अनन्त बल है तथा प्रभूपना भी आपका अतिशयकर निर्मल है और शरीरभी आपका देदीप्यमान है इसलिये यदि योगीश्वरोंने समीचीन योगरूपी नेत्रसे आपको प्राप्तकरलिया तो क्या तो उन्होंने जान न लिया? और क्या उन्होंने देख न लिया? तथा क्या उन्होंने पा न लिया?

भावार्थः—यदि योगीश्वरोंने अपनी उत्कृष्ट योगदृष्टिसे अनन्त गुणोंकेधारी आपको देखलिया तो उन्होंने सबकुछ देखलिया और सब कुछ जानलिया तथा प्राप्त करलिया ॥ ५ ॥

त्वामेकं त्रिजगत्पतिं परमहं मन्ये जिनं स्वामिनं त्वामेकं प्रणमामि चेतसि दधे सेवे स्तुवे सर्वदा ।
त्वामेकं शरणं गतोऽस्मि बहुना प्रोक्तेन किञ्चिद्भवे सिद्धं तद्भवतु प्रयोजनमतो नान्येन मे केनचित् ॥

अर्थः—हे जिनेन्द्र आपको ही मैं तीनलोकका स्वामी मानताहूं और आपको ही अष्टकर्मोंका जीतनेवाला तथा अपना स्वामी मानता है और केवल आपकोही भक्तिपूर्वक नमस्कार करताहू और सदा आपकाही ध्यान करताहूं तथा आपकीही सेवा और स्तुति करताहूं और केवल आपकोही मैं अपना शरण मानताहूं अधिक कहनेसे क्या ? यदि कुछ संसारमें प्राप्त होवेतो यही होवे कि आपके सिवाय अन्य किसीसे भी मेरा प्रजोजन न रहै ॥

भावार्थः—हे भगवन् आपसे ही मेरा प्रयोजन रहै आपसेभिन्न अन्यसे मेरा किसीप्रकारका प्रयोजन न रहे यह विनयपूर्वक प्रार्थना है ॥ ६ ॥

पापं कारितवान्यदत्र कृतवानन्यैः कृतं साध्विति भ्रान्त्याहं प्रतिपन्नवांश्च मनसा वाचा च कायेन च ।
काले सम्प्रति यच्च भाविनि नवस्थानोद्गतं यत्पुनस्तन्मिथ्याखिलमस्तु मे जिनपते स्वं निन्दतस्ते पुरः ॥

अर्थः—हे जिनेश्वर भूतकालमें जो पाप मैंने भ्रमसे मनवचकायकेद्वारा दूसरोंसे कराये हैं तथा स्वयं किये हैं और दूसरोंको पाप करतेहुवे अच्छा कहा है तथा उसमें अपनी सम्मति दी है और वर्तमानमें जो पाप मैं मनवचकायकेद्वारा दूसरोंसे कराता हूं तथा स्वयं करता हूं और अन्यको करतेहुवे भला कहता हूं और भविष्यत्कालमें जो मैं मनवचकायसे पाप कराऊंगा तथा स्वय करूंगा और दूसरेको करतेहुवे अच्छा मानूंगा वे समस्त पाप आपके सामने अपनी निन्दाकरनेवाले मेरे सर्वथा मिथ्या हो ॥

भावार्थः—भूत भविष्यत् वर्तमान तीनों कालोंमें जिनपापोंका मैंने मनवचनकाय तथा कृतकारितअनुमोदनासे उपार्जन किया है तथा करूगा और करता हूं उन समस्तपापोंका अनुभवकर हे जिनेश्वर मैं आपके सामने अपनी निन्दाकरता हूं इसलिये वे ससस्तपाप मेरे मिथ्या हो ॥ ७ ॥

लोकालोकमनन्तपर्ययुतं कालत्रयीगोचरं त्वं जानासि जिनेन्द्र पश्यसि तरां शश्वत्समं सर्वतः ।

स्वामिन् वेत्सि समैकजन्मजनितं दोषं न किञ्चित्कुतो हेतोस्ते पुरतः सवाच्य इति मे शुद्ध्यर्थमालोचितम् ॥

अर्थः—हे जिनेन्द्र यदि तुम भूत भविष्यत् वर्तमान तीनोंकालोंके गोचर नाना पर्यायोंसहित लोक तथा अलोकको चारोओरसे एक साथ जानते हो तथा देखते हो तो हे स्वामिन् मेरे एकजन्ममें होनेवाले पापोंको क्या तुम नहीं जानते हो ? अर्थात् अवश्य ही जानते हो इसलिये अपनेको स्वय निंदताहुवा जो मैं आपके सामने अपने दोषोंका कथन (आलोचन) करता हूं सो केवल शुद्धिकेलिये ही करता हूं।

भावार्थः—हे भगवन् जब तुम अनंतभेदसहित लोक तथा अलोकको एकसाथ जानते हो तथा देखते हो तो आप मेरे समस्त दोषोंको भी भलीभाति जानते हो फिर भी जो मैं आपके सामने अपने दोषोंका कथन (आलोचन) करता हूं सो केवल आपके सुनानेकेलिये नहीं किन्तु शुद्धिकेलिये ही करता हू ॥ ८ ॥

आश्रित्य व्यवहारमार्गमथवा मूलोत्तराख्यान् गुणान् साधोर्धारयतो मम स्मृतिपथप्रस्थापि यद्दूषणम्।
शुद्ध्यर्थं तदपि प्रभो तव पुरः सज्जोऽहमालोचितुं निःशल्यं हृदयं विधेयमजडैर्भव्यैर्यतः सर्वथा ॥ ९ ॥

अर्थः—व्यवहारनयको आश्रयणकरके और मूलगुण तथा उत्तरगुणोंको धारण करनेवाले मुझ मुनीको जिस दूषणका भलीभांति स्मरण है उस दूषणकी शुद्धिके अर्थ आलोचना करनेकेलिये हे प्रभो जिनेन्द्र मैं आपके सामने सावधानीसे बैठाहुवा हूं क्योंकि ज्ञानवान भव्यजीवोंको सदा अपना मन माया मिथ्या निदान इनतीनों शल्योंकर रहित ही रखना चाहिये ॥ ९ ॥

सर्वोऽप्यत्र मुहुर्मुहुर्जिनपते लोकैरसङ्ख्यैर्मितव्यक्ताव्यक्तविकल्पजालकलितः प्राणी भवेत्संसृतौ।
तत्तावद्भिरयं सदैव निचितो दोषैर्विकल्पानुगैः प्रायश्चित्तमियत्कुतः श्रुतगतं शुद्धिर्भवत्सन्निधे ॥१०॥

हेभगवन् इससंसारमें समस्तजीव वारंवार असंख्यातलोक प्रमाण प्रकट तथा अप्रकट नाना प्रकारके

विकल्पोंकर सहित हैं और जितने विकल्पोंकर सहित ये जीव हैं उतनेही नाना प्रकारके दुःखोंकर सहित भी हैं किन्तु जितने विकल्प हैं उतने प्रायाश्चित्त शास्त्रमें नहीं हैं इसलिये उनसमस्त असंख्यात लोकप्रमाण विकल्पोंकी शुद्धि आपके पासमें ही होती है ।

भावार्थः—यद्यपि दूषणोंकी शुद्धि प्रायाश्चित्तके करनेसेभी होती है किन्तु हे भगवन् जितने दूषण हैं उतने प्रायश्चित्त, शास्त्रमें नहीं कहेगये हैं इसलिये समस्त दूषणोंकी शुद्धि आपके समीपमें ही होती हैं ॥१०॥

भावान्तःकरणेन्द्रियाणि विधिवत्संहृत्य बाह्याश्रयादेकीकृत्य पुनस्त्वया सह शुचिज्ञानैकसन्मूर्तिना ।
निःसङ्गः श्रुतसारसंगतमतिः शान्तो रहःप्राप्तवान् यस्त्वां देव समीक्षते स लभते धन्यो भवत्सन्निधिम् ॥

हे भगवन् समस्तप्रकारके परिग्रहोंसे रहित और समस्तशास्त्रोंका जाननेवाला तथा क्रोधादिकषायोंसे रहित और एकान्तवासी जो भव्यजीव समस्त बाह्यपदार्थोंसे मन तथा इन्द्रियोंको हटाकर तथा अखंड और निर्मल सम्यग्ज्ञानरूपी मूर्तिकेधारी आपमें स्थिरकर आपको देखता है वह मनुष्य आपकी समीपता को प्राप्त होता है।

भावार्थः—जबतक मन तथा इन्द्रियका व्यापार बाह्यपदार्थोंमें लगा रहता है तबतक कोईभी मनुष्य आपके स्वरूपको प्राप्त नहीं करसक्ता किन्तु जो मनुष्य मन तथा इन्द्रियोंको बाह्य पदार्थसे हटालेता है वही वास्तविक रीतिसे आपके स्वरूपको देख तथा जानसक्ता है इसलिये जिसमनुष्यने समस्तप्रकारके परिग्रहोंसे रहितहोकर तथा शास्त्रोंका भलीभांति ज्ञानी होकर और शान्त तथा एकान्तवासी होकर मन तथा इन्द्रियोंको बाह्य पदार्थोंसे हटाकर तथा आपके स्वरूपमें लगाकर आपको देखलिया है उसीमनुष्यने आपके समीपपनेको प्राप्त किया है ऐसा भलीभांति निश्चित है ॥ ११ ॥

त्वामासाद्य पुराकृतेन महता पुण्येन पूज्यं प्रभुं ब्रह्माद्यैरपि यत्पदं न सुलभं तल्लभ्यते निश्चितम् ।

अर्हन्नाथ परं करोमि किमहं चेतो भवत्सन्निधावद्यापि ध्रियमाणमप्यतितरामेतद्बहिर्धावति ॥ १२ ॥

अर्थः—पूर्वभवमें कष्टसे संचय कियेहुवे बड़ेभारी पुण्यसे जिस मनुष्यने हेभगवन् तीनलोकके पूजनीक आपको पालिया है उसमनुष्यको उसउत्तमपदकी प्राप्ति होती है जिसको निश्चयसे ब्रह्मा विष्णु आदि भी नहीं पासक्ते परन्तु हे अर्हज्जिनेन्द्र तथा हे नाथ मैं क्या करूं ? आपके समीपमें लगाया हुवा भी मेरा चित्त प्रबल रीतिसे बाह्यपदार्थोंकी ओर ही दौड़ता है ।

भावार्थः—सहसा यदि कोई मनुष्य चाहै कि मैं आपको प्राप्त करलूं वह स्वप्नमें भी नहीं करसक्ता किन्तु पूर्वमें संचय कियेहुवे बड़ेभारी पुण्यसेही आपकी प्राप्ति होती है इसलिये हेभगवन् जिसमनुष्यने आपको प्राप्त करलिया है उसमनुष्यको उस उत्तमपदकी प्राप्तिहोती है जिस पदको ब्रह्मा विष्णु आदिके भक्तोंकी तो क्याबात ? स्वयं ब्रह्मा विष्णुभी प्राप्त नहीं करसक्ते किन्तु हे जिनेन्द्र इनसमस्तबातोंको जानता हुवाभी मेरा चित्त आपके समीपमें लगाया हुवाभी बाह्य पदार्थोंमें दौड़ २ कर जाता है यह बड़ा खेद है ॥ १२ ॥

संसारो बहुदुःखतः सुखपदं निर्वाणमेतत्कृते त्यक्त्वार्थादि तपोवनं वयमितास्तत्रोज्झितः संशयः ।
एतस्मादपि दुष्करव्रतविधेर्नाद्यापि सिद्धिर्यतो वाताली तरलीकृतं दलमिव भ्राम्यत्यदो मानसम् ॥ १३ ॥

अर्थः—हे जिनेश यह संसारतो नानाप्रकारके दुःखोंका देनेवाला है और वास्तिक सुखका स्थान है अथवा वास्तविक सुखका देनेवाला मोक्षहै इसलिये उसीमोक्षकी प्राप्तिकोलिये हमने समस्त धनधान्य आदि परिग्रहोंका त्याग किया और हम तपोवनकोभी प्राप्तहुवे तथा हमने समस्त प्रकारका संशय भी छोड़दिया तथा अत्यंत व्रतभी धारण किये किन्तु अभीतक उनकठिनव्रतोंके धारणकरनेसेभी सिद्धिकी प्राप्ति नहीं हुई क्योंकि पवनके समूह-से कपाये हुवे पत्तेके समान यह हमारा मन रातदिन बाह्यपदार्थोंमें भ्रमण करता रहता है ॥ १३ ॥

झम्पाः कुर्वदितस्ततः परिलसद्बाह्यार्थलाभाद्दन्नित्यं व्याकुलतां परां गतवतः कार्यं विनाप्यात्मनः ।
ग्रामं वासयदैन्द्रियं भवकृतो दूरं सुहृत्कर्मणः क्षेमं तावदिहास्ति कुत्र शमिनो यावन्मनो जीवति ॥१४॥

अर्थः—हेभगवन् जोमन बाह्यपदार्थोंको मनोहर मानकर उनकी प्राप्तिके लिये जहां तहां भटकता है और जो ज्ञानस्वरूपभी आत्माको विना प्रयोजन सदा अत्यन्त व्याकुल करता रहता है तथा जो इन्द्रियरूपी गांवको बसानेवाला है अर्थात् इसमनकी कृपासेही इन्द्रियोंकी विषयोंमें स्थिति होती है और जो संसारके पैदाकरने वाले कर्मोंका परममित्र है अर्थात् आत्मारूपी घरमें सदा कर्मोंको लाता रहता है ऐसा मन जबतक जीवित रहता है तबतक मुनियोंको कदापि कल्याणकी प्राप्ति नहीं होसक्ती ।

भावार्थः—जबतक आत्मामें कर्मोंका आवागमन लगारहता है तबतक आत्मा सदा व्याकुलही बना रहता है वे कर्म आत्मामें मनके द्वारा लायेजाते हैं क्योंकि मनके सहारेसेही इन्द्रियां रूप आदिके देखनेमें प्रवृत्त होतीहैं तथा रूप आदिके देखनेसे रागद्वेष उत्पन्न होते हैं फिर उनसे ज्ञानावरण आदि द्रव्यकर्मोंकी उत्पत्ति होती है इसलिये उनकर्मोंके संबन्धसे आत्मा सदा व्याकुलही रहता है और जब आत्माहीं व्याकुल रहा तब मुनियोंको कल्याणकी प्राप्तिभी कैसे होसक्ती है इसलिये कल्याणका रोकनेवाला मनही है ॥ १४ ॥

नूनं मृत्युमुपैति यातममलं त्वां शुद्धबोधात्मकं त्वत्तस्तेन बहिर्भ्रमत्यविरतं चेतो विकल्पाकुलम् ।
स्वामिन् किं क्रियतेऽत्र मोहवशतो मृत्योर्न भीःकस्य तत् सर्वानर्थपरम्पराकृदहितो मोहः स मे वार्यताम् ॥

अर्थः—निर्मल तथा अखंडज्ञानस्वरूप आपको पाकर मेरा मन मृत्युको प्राप्तहोजाता है इसलिये हेजिनेन्द्र नानाप्रकारके विकल्पोंकर युक्त मेराचित्त आपसे बाह्य समस्त पदार्थोंमेंही निरन्तर घूमता फिरता है क्या कियाजाय ? क्योंकि मृत्युसे सर्वही डरते हैं अतः यह सविनय प्रार्थना है कि समस्तप्रकारके अनर्थोंको

करनेवाला तथा अहितकारी इसमेरे मोहको नष्टकरो ।

भावार्थः—जबतक मोहका संबन्ध आत्माके साथ रहेगा तबतक चित्त मेरा तेरा करनेसे बाह्यपदार्थोंमें घूमताही रहेगा और जबतक चित्त घूमता रहेगा तबतक सदा आत्मामें कर्मोंका आवागमनभी लगाही रहेगा तथा इसरीतिसे आत्मा सदा व्याकुलही रहेगा इसलिये हेभगवन् इस सर्वथा नानाप्रकारके अनर्थोंके करने वाले मेरे मोहको नष्टकरो जिससे मेरी आत्माको शान्ति मिले ॥ १५ ॥

मोहही समस्तकर्मोंमें वलवान है इसबातको आचार्य दिखाते हैं ॥

सर्वेषामपि कर्मणामतितरां मोहो वलीयानसौ धत्ते चञ्चलतां बिभेति च मृतेस्तस्य प्रभावान्मनः ।
नो चेज्जीवति को म्रियेत क इह द्रव्यत्वतः सर्वदा नानात्वं जगतो जिनेन्द्र भवता दृष्टं परं पर्ययैः ॥

अर्थः—ज्ञानावरण आदि समस्त कर्मोंके मध्यमें मोहही अत्यंत बलवान कर्म है और इसी मोहके प्रभावसे यह मन जहां तहां चंचल होकर भ्रमण करता है और मरणसे डरता है यदि यह मोह नहोवे तो निश्चयनयसे न तो कोई जीवे और न कोई मरे क्योंकि आपने जो इसजगतको अनेक प्रकार देखा है वह पर्यायार्थिकनयकी अपेक्षासेही देखा है द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षासे नहीं इसलिये हेभगवन् इसमेरे मोहकोही सर्वथा नष्ट कीजिये ॥ १६ ॥

शार्दूलविक्रीडित ।

वातव्याससमुद्रवारिलहरीसंघातवत्सर्वदा सर्वत्रक्षणभङ्गुरं जगदिदं संचिन्त्य चेतो मम ।
सम्प्रत्येतदशेषजन्मजनकव्यापारपारस्थितं स्थातुं वाञ्छति निर्विकारपरमानन्दे त्वयि ब्रह्मणि ॥१७॥

अर्थः—पवनकर व्याप्त ऐसाजो समुद्र उसकी जो जललहरीं उनके समूहके समान सर्वकाल तथा सर्व-

॥२५६॥

क्षेत्रोंमें यहजगत क्षणभरमें विनाशीक है ऐसा भलीभांति विचारकर यह मेरा मन इससमय हे जिनेन्द्र समस्त संसारके उत्पन्न करनेवाले जो व्यापार उनसे रहितहोकर निर्विकार परमानन्दस्वरूप परब्रह्म जो आप हैं सो आपमें ही ठहरनेकी इच्छा करता है ॥ १७ ॥

एनः स्यादशुभोपयोगत इतः प्राप्नोति दुःखं जनो धर्मः स्याच्च शुभोपयोगत इतः सौख्यं किमप्याश्रयेत् ॥
द्वन्द्वं द्वन्द्वमिदं भवाश्रयतया शुद्धोपयोगात्पुनः नित्यानन्दपदं तदत्र च भवानर्हन्नहं तत्र च ॥१८॥

अर्थः—जिससमय अशुभ उपयोग रहता है उससमय तो पापकी उत्पत्ति होती है तथा उसपापसे जीव नानाप्रकारके दुःखोंको प्राप्त होते हैं और जिससमय शुभ उपयोग रहता है उससमय धर्म (पुण्य) की उत्पत्ति होती है तथा धर्मसे जीवोंको सुख मिलता है और ये दोनों पापपुण्यरूपी द्वन्द्व संसारके ही कारण हैं अर्थात् इन दोनोंसे सदा संसार ही उत्पन्न होता रहता है किन्तु शुद्धोपयोगसे अविनाशी तथा आनन्दस्वरूप-पदकी प्राप्ति होती है और हे जिनेन्द्र आप तो उसपदमें निवास करते हैं तथा मैं शुद्धोपयोगरूपी पदमें निवास करता हूं ।

भावार्थः—उपयोगके तीनभेद हैं पहला अशुभोपयोग दूसरा शुभोपयोग तीसरा शुद्धोपयोग उनमें आदिके जो दो उपयोग हैं उनसे तो संसारमें ही भटकना पड़ता है क्योंकि जिससमय जीवोंका उपयोग अशुभ होगा उससमय उनको पापका बंध होगा तथा पापके बंध होनेसे उनको नानाप्रकारकी खोटी २ गतियोंमें भ्रमण करना पड़ेगा और जिससमय उपयोग शुभ होगा उससमय उस शुभयोगकी कृपासे उनको राजा महाराजा आदि पदोंकी प्राप्ति होगी इसलिये वहभी संसारका ही बढ़ानेवाला है किन्तु जिससमय उस शुभोपयोगकी प्राप्ति होगी उससमय संसारकी प्राप्ति नहीं हो सकती किन्तु निर्वाणकी प्राप्ति ही होगी इसलिये

हे भगवन् मैं शुद्धोपयोगमें ही स्थित रहना चाहता हूं ॥ १८ ॥

यन्नान्तर्न बहिःस्थितं न च दिशि स्थूलं न सूक्ष्मं पुमान्नैव स्त्री न नपुंसकं न गुरुतां प्राप्तं न यल्लाघवम्॥
कर्मस्पर्शशरीरगन्धगणनाव्यहारवर्णोज्झितं स्वच्छं ज्ञानदृगेकमूर्तितदहं ज्योतिःपरं नापरम् ॥ १९ ॥

अर्थः—जो आत्मस्वरूपतेज न तो भीतर स्थित है और न बाहिर स्थित है तथा न दिशामें ही स्थित है और न मोटा है न महीन है तथा आत्मारूपीतेज न तो पुल्लिंग है और न स्त्रीलिंग है तथा नपुंसक-लिंग भी नहीं है और न भारी है और न हलका है तथा जो तेज कर्म, स्पर्श, शरीर, गंध, संख्या, वचन वर्णसे रहित है और जो निर्मल है तथा सम्यग्ज्ञान सम्यक्दर्शनस्वरूप है मूर्ति जिसकी ऐसा है उसी उत्कृष्ट तेजस्वरूप मैं हूं किन्तु आत्मस्वरूप उत्कृष्टतेजसे भिन्न नहीं हूं ॥ १९ ॥

शार्दूलविक्रीड़ित।

एतेनैव चिदुन्नतिक्षयकृता कार्यं विना वैरिणा शश्वत्कर्मखलेन तिष्ठति कृतं नाथावयोरन्तरम् ॥
एषोऽहं स च ते पुरः परिगतो दुष्टोऽत्र निस्सार्यतां सन्दक्षेतरनिग्रहो न यवतो धर्मः प्रभोरीदृशः ॥

अर्थः—हे भगवन् चैतन्यकी उन्नतिको नाशकरनेवाले और विनाकारण ही सदा वैरी इस दुष्टकर्मने आपमें तथा मुझमें भेद डालदिया है किन्तु कर्मशून्य अवस्थामें जैसी आपकी आत्मा है वैसी ही मेरी आत्मा है तथा इससमय यह कर्म आपके सामने मौजूद है इसलिये इसदुष्टको हटाकर दूर करो क्योंकि नीतिवान् प्रभुओंका यही धर्म है कि वे सज्जनोंकी रक्षा करैं तथा दुष्टोंका नाश करैं।

भावार्थः—हे भगवन् जिसप्रकार अनन्तविज्ञान अनन्तवीर्य अनन्तसुख तथा अनन्तदर्शन आदिगुण स्वरूप आपकी आत्मा है उसीप्रकार उन्हीं गुणोंकर सहित मेरी भी आत्मा है किन्तु भेद इतना ही है कि आपके

तो वे गुण प्रकट होगये हैं और मेरे उनगुणोंकी प्रकटता नहीं हुई है उसभेदका करनेवाला यहकर्म ही है क्योंकि कर्मोंकी कृपासे ही उसमेरे स्वभावोंपर आवरण पड़ा हुआ है तथा इससमय हमदोनों आपके सामने मौजूद हैं इसलिये इसदुष्टको दूरकरो क्योंकि आप तीनोंलोकके स्वामी हैं और नीतिवान् स्वामीका यह धर्म है कि वह सज्जनोंकी रक्षा करै तथा दुष्टोंका नाश करै ॥ २० ॥

आधिव्याधिजरामृतिप्रभृतयः संबन्धिनो वर्गणस्तद्भिन्नस्य ममात्मनो भगवतः किं कर्तुमीशा जडाः ॥
नानाकारविकारकारिण इमे साक्षान्नभोमण्डले तिष्ठन्तोऽपि न कुर्वते जलमुचस्तत्र स्वरूपान्तरम् ॥

अर्थः—हे भगवन् नानाप्रकारके आकार तथा विकारोंको करनेवाले मेघ आकाशमें रहतेहुए भी जिसप्रकार आकाशके स्वरूपका कुछ भी हेरफेर नहीं करते उसीप्रकार आधि, व्याधि, जरा, मरण आदि भी मेरा कुछ नहीं करसक्ते क्योंकि ये समस्त शरीरके विकार जड़ हैं तथा मेरी आत्मा ज्ञानवान् और शरीरसे भिन्न है।

भावार्थः—जिसप्रकार आकाश अमूर्त्तीक है इसलिये रंगविरंगे भी मेघ उसके ऊपर कुछ भी अपना प्रभाव नहीं डालसक्ते तथा उसके स्वरूपका परिवर्तनभी नहीं करसक्ते उसी प्रकार आत्मा ज्ञानदर्शनमय अमूर्तीक पदार्थ है इसलिये इस परभी आधि, व्याधि, जरा, मरण, आदि कुछभी अपना प्रभाव नहीं डालसक्ते क्योंकि ये मूर्तीक शरीरके धर्म हैं और आत्मा शरीरसे सर्वथा भिन्न है ॥ २१ ॥

संसारातपदह्यमानवपुषा दुःखं मया स्थीयते नित्यं नाथ यथा स्थलस्थितिमता मत्स्येन ताम्यन्मनः ।
कारुण्यामृतसंगशीतलतरे त्वत्पादपङ्केरुहे यावद्देव समर्पयामि हृदयं तावत्परं सौख्यवान् ॥ २२ ॥

अर्थः—हे भगवन् जिसप्रकार जलसे बाहिर स्थलमें विना पानीके मछली तड़फड़ाती है उसीप्रकार संसाररूपी संतापसे जिसका शरीर जलरहा है एसा मैं सदा दुःखित ही रहताहू किन्तु जबतक करुणारूपी

जलके संगसे जो अत्यंत शीतल हैं ऐसे आपके चरणकमलोंमें मैं अपने मनको लगाता हूं तबतक मैं अत्यन्त सुखी रहता हूं ॥

भावार्थः—जिसप्रकार स्थलमें पड़ी हुई मछली दुःखित रहती है उसीप्रकार इस नानाप्रकारके दुःखोंसे भरे हुवे संसारमें मैं भी सदा संतप्त रहता हूं तथा जिसप्रकार वही मछली जबतक जलमें भीतर रहती है तबतक सुखी रहती है उसीप्रकार जबतक मेरा मन करुणारूपी रससे अत्यंत शीतल आपके चरणकमलोंमें प्रविष्ट रहता है तबतक मैं भी सुखी रहता हूं इसलिये हे भगवन् आपके चरणकमलोंको छोड़कर मेरा मन दूसरी जगह न प्रवेश करै जिससे मैं दुःखी रहूं यही प्रार्थना है ॥ २२ ॥

साक्षग्राममिदं मनो भवति यद्वाह्यार्थसंबन्धभाक् तत्कर्म प्रविजृम्भते पृथगहं तस्मात्सदा सर्वथा ।
चैतन्यात्तव तत्तथेति यदि वा तत्रापि तत्कारणं शुद्धात्मन्मम निश्चयात्पुनरिव त्वय्येव देव स्थितिः ॥

अर्थ—हे भगवन् इन्द्रियोंके समूहकर सहित जो मेरा मन बाह्यपदार्थोंसे संबन्ध करता है उसीसे नानाप्रकारके कर्म मेरी आत्माके साथ आकर बंधते हैं किन्तु वास्तविकरीतिसे मैं उनकर्मोंसे सर्वकालमें तथा सर्वक्षेत्रमें जुदा ही हूं तथा आपके भी चैतन्यसे भी सर्वथा वे कर्म जुदे ही हैं अथवा उस चैतन्यसे कर्मोंकेभेद करनेमें आपहीकारण हैं इसलिये हे शुद्धात्मन् हे जिनेन्द्र निश्चयसे मेरी स्थिति आपहीमें है ।

भावार्थः—यदि निश्चयनयसे देखाजावे तो हे जिनेन्द्र आप तथा मैं समान ही हूं क्योंकि निश्चयनयसे आपकी आत्मा भी कर्मबंधकर रहित है तथा मेरी आत्माके साथभी किसीप्रकार कर्मोंका बंधन नहीं रहता है इसलिये हे भगवन् मेरी स्थिति निश्चयसे आपके स्वरूपमें ही है ॥ २३ ॥

किं लोकेन किमाश्रयेण किमुत द्रव्येण कायेन किं किं वाग्भिः किमुतेन्द्रियैः किमसुभिः किं तैर्विकल्पैरपि ।

सर्वे पुद्गलपर्यया बत परे त्वत्तः प्रमत्तो भवन्नात्मन्नेभिरभिश्रयस्यतितरामालेन किं बन्धनम् ॥ २४ ॥

अर्थः—हे आत्मन् न तो तुझै लोकसे काम है और न दूसरेके आश्रयसे काम है तथा न तुझै द्रव्यसे प्रयोजन है और न शरीरसे प्रयोजन है तथा तुझै बचन और इन्द्रियोंसे भी कुछ काम नहीं और प्राणोंसेभी प्रयोजन नहीं तथा नानाप्रकारके विकल्पोंसे भी कुछ काम नहीं क्योंकि ये समस्त पुद्गलद्रव्यकीही पर्यायें हैं और तेरेसे भिन्न है तो भी बड़ेखेदकी बातहै कि तू इनको अपना मानकर आश्रय करता है सो क्या तू दृढ़ बंधनको प्राप्त नहीं होगा ? अवश्य ही होगा ।

भावार्थः—हे आत्मन् तु तो निर्विकार चैतन्यस्वरूपी है और समस्तलोक तथा शरीर, इन्द्रिय, द्रव्य, वचन आदि समस्त पदार्थ पुद्गल द्रव्यकी पयार्य है और तुझसे सर्वथा भिन्न है ऐसा होनेपर भी यदि तू इनको अपने समझकर आश्रय करेगा तो तू अवश्य ही बंधनको प्राप्त होगा इसलिये इनसमस्त परपदार्थोंसे ममताको छोड़-कर शुद्धानंद चैतन्यस्वरूप आत्माका ध्यानकर जिससे तू कर्मोंसे न बधे ॥ २४ ॥

धर्माधर्मनभांसि काल इति मे नैवाहितं कुर्वते चत्वारोऽपि सहायतामुपगतास्तिष्ठन्ति गत्यादिषु ।
एकः पुद्गल एव सन्निधिगतो नोकर्मकर्माकृतिर्वैरी बन्धकृदेष सम्प्रति मया भेदासिना खण्डितः ॥२५॥

अर्थः—धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य, कालद्रव्य ये चारोंद्रव्य मेरे किसीप्रकारके अहितको नहीं करते हैं किंतु ये चारोंद्रव्य गति, स्थिति आदि कामोंमें सहकारी है इसलिये ये मेरे सहायी होकर ही रहते हैं परन्तु नोकर्म (तीन शरीर छै पर्याप्ति) तथा कर्म हैं स्वरूपजिसका ऐसा तथा समीपमें रहनेवाला और बंधका करनेवाला एक पुद्गल ही मेरा बैरी है इसलिये उसींके इससमय मैंने भेदरूपी तलवारसे खंड २ उड़ा दिये हैं ।

भावार्थ—मुझसे धर्म, अधर्म, आकश, काल तथा पुद्गल ये पांच द्रव्य भिन्न हैं उनमेंसे धर्म, अधर्म, आ-

काश, काल ये चार द्रव्य तो मेरा किसीप्रकार अहित नहीं करते किंतु मेरी सहायता ही करते हैं अर्थात् धर्म-द्रव्य तो मेरे गमनमें सहकारी है तथा अधर्मद्रव्य ठहरनेमें सहकारी है और आकाशद्रव्य मुझे अवकाशदान देता है इसलिये अवकाशदान देनेमें वह भी मुझे सहकारी है और कालद्रव्यसे परिवर्तन होता है इसलिये परिवर्तन करनेमें वह भी सहकारी है परन्तु एक पुद्गलद्रव्यही मेरे बड़ेभारी अहितका करनेवाला है क्योंकि नोकर्म तथा कर्मस्वरूपमें परिणत होकर पुद्गलद्रव्य मेरे आत्माके साथ बंधको प्राप्त होता है तथा उसकी कृपासे मुझे नानाप्रकारकी गतियोंमें भ्रमण करना पड़ता है और सत्यमार्ग भी नहीं सुझता है इसलिये इससमय भेद-विज्ञानसे मैंने उसका खंडन किया है ॥ २५ ॥

शार्दूलविक्रीड़ित ।

रागद्वेषकृतैर्यथा परिणमेद्रूपान्तरैः पुद्गलो नाकाशादिचतुष्टयं विरहितं मूर्त्या तथा प्राणिनाम् ।
ताभ्यां कर्मघनं भवेदविरतं तस्मादियं संसृतिस्तस्यां दुःख परंपरेऽपि विदुषा त्याज्यौ प्रयत्नेन तौ ॥

अर्थ—जीवोंके नानाप्रकारके रागद्वेषोंके करनेवाले परिणामोंसे जिसप्रकार पुद्गलद्रव्य परिणमित होता है उसीप्रकार धर्म, अधर्म, आकाश, तथा काल ये चार अमूर्तिकद्रव्य रागद्वेषके करनेवाले परिणामोंसे परिणमित नहीं होते तथा उसरागद्वेषकेद्वारा प्रबलकर्मोंकी उत्पत्ति होती है और उसकर्मसे संसार होता है तथा संसारमें नानाप्रकारके दुःख भोगने पड़ते हैं इसलिये कल्याणकी अभिलाषा करनेवाले सज्जनोंको चाहिये कि वे राग तथा द्वेषको सर्वथा छोड़ दें ॥

भावार्थः—पुद्गलके अनेक परिणाम होते हैं उनमें रागद्वेषरूप जो पुद्गलके परिणामहैं उनसे सदा कर्म आत्मामें आकर बंधते रहते हैं और उन कर्मोंसे आत्माको संसारमें घूमना पड़ता है तथा वहांपर नाना

प्रकारके दुःख सहन करने पड़ते हैं इसलिये भव्यजीवोंको ऐसे परमअहितके करनेवाले रागद्वेषोंका त्याग अवश्य ही करदेना चाहिये ॥ २६ ॥

किं बाह्येषु परेषु वस्तुषु मनः कृत्वा विकल्पान् बहून् रागद्वेषमयान् मुधैव कुरुषे दुःखाय कर्माशुभम्।
आनन्दामृतसागरे यदि वसस्यासाद्य शुद्धात्मनि स्फीतं तत्सुखमेकतामुपगतं त्वं यासि रे निश्चितम्॥

अर्थः—हे मन बाह्य तथा तुझसे भिन्नजो स्त्री पुत्र आदिपदार्थ हैं उनमें रागद्वेषस्वरूप अनेक प्रकारके विकल्पोंको करके क्यों दुःखके लिये तू व्यर्थ अशुभ कर्मको बांधता है यदि तू आनद रूपी जलके समुद्रमें शुद्धात्माको पाकर उसमें निवास करेगा तो तू विस्तीर्ण निर्वाणरूपी सुखको अवश्य प्राप्त करैगा इसलिये तुझे आनंद स्वरूप शुद्ध आत्मामें ही निवास करना चाहिये और उसीका ही ध्यान तथा मनन करना चाहिये॥२७

इत्याध्याय हृदि स्थिरं जिन भवत्पादप्रसादात्सती मध्यात्मैकतुलामयं जन इतः शुद्ध्यर्थमारोहति।
एवं कर्तुममी च दोषिणमितः कर्मारयो दुर्धराः तिष्ठन्ति प्रसभं तदत्र भगवन् मध्यस्थसाक्षी भवान्॥

अर्थः—हे जिनेन्द्र आपके चरणकमलोंकी कृपासे पूर्वोक्त बातोंको भलीभांति मनमें चिंतवनकर जिस समय यह प्राणी शुद्धिके लिये अध्यात्मरुपी तुला (तखड़ी) चढ़ता है उससमय उसको दोषी बनानेके लिये कर्म रूपी भयंकर बैरी मौजूद हैं इसलिये हे भगवान् ऐसी दशामें आपही मध्यमें बैठकर साक्षी हैं॥

भावार्थ—तखड़ीके दो पले होते हैं उनमें से अध्यात्मरुपी एक पलडेपरतो शुद्धि के लिये यह प्राणी चढ़ता है और दूसरेमें कर्मरूपी बैरी उस प्राणीको दोषी बनानेकेलिये मौजूद हैं और हे भगवन् आप उनदोनों-के बीचमें साक्षी हैं इसलिये आपको पूरीतौरसे न्याय करना चाहिये ॥ २८ ॥

विकल्परूप ध्यानतो संसारस्वरूप है और निर्विकल्पध्यान मोक्षस्वरूप है इस बातको आचार्य दिखाते हैं—

द्वैतं संसृतिरेव निश्चयवशादद्वैतमेवामृतं संक्षेपादुभयत्र जल्पितमिदं पर्यन्तकाष्ठागतम् ।
निर्गत्याद्यपदाच्छनैः सबलितादन्यत्समालम्बते यः सोऽसंज्ञ इति स्फुटं व्यवहृतेर्ब्रह्मादिनामेति च ॥

अर्थः—द्वैत सविकल्पकध्यानतो वास्तविकरीतिसे संसार स्वरूप है तथा अद्वैत (निर्विकल्पक) ध्यान मोक्षस्वरुप है यह संसार तथा मोक्षमें अंतदशाको प्राप्त संक्षेपसे कथन है तथाजो मनुष्य इनदोनोंमेंसे आदिका जो द्वैतपद है उससे धीरेसे हटकर अद्वैतपदको आलम्बन करता है वह पुरुष वास्तविक रीतिसे नामरहित हो जाता है अथवा उसी पुरुषको व्यवहार नयसे ब्रह्मा धाता आदि नामसे पुकाग्ते हैं।

भावार्थ—जो पुरुष सविकल्पध्यानको करने वाला है वह तो संसारमें ही घूमा करता है किन्तु जो पुरुष निर्विकल्पकध्यानको आचरण करता है वह मोक्षमें जाकर सिद्धपदको प्राप्त करता है तथा सिद्धोंका निश्चयनयसे कोई नाम न होनेसे वह नाम रहित हो जाते हैं अथवा व्यवहारनयसे उन्हींको ब्रह्मा आदि नामसे भी पुकारते हैं ॥ २९ ॥

चारित्रं यदभाणि केवलदृशो देव त्वया मुक्तये पुंसो तत्खलु मादृशेन विषमे काले कलौ दुर्धरम् ।
भक्तिर्या समभूदिह त्वयि दृढा पुण्यैः पुरोपार्जितैः संसारार्णवतारणे जिन ततः सैवास्तु पीतो मम ॥

अर्थः—हे जिनेन्द्रदेव जो आपने केवलज्ञानरूपी दृष्टिसे मुक्तिके लिये चारित्रका वर्णन कियाहै उस चारित्रको इस भयकर कलिकालमें मेरे समान मनुष्य बड़ी कठिनतासे धारण करसक्ताहै किन्तु पूर्वकालमें संचित जो पुण्य उससे जो मेरी आपमें दृढ़ भक्ति है वही हे जिन मुझे संसाररूपी समुद्रसे पारकरनेमें जहाजके समान हो अर्थात् मुझे संसार समुद्रसे वही भक्ति पार कर सकेगी।

भावार्थः—विना कर्मोंका नाशकर मोक्षको प्राप्ति नहीं हो सक्ती और कर्मोंका नाश आपकेद्वारा वर्णन

॥२६४॥

किये हुवे चारित्र (तप) से होता है उस तपको शक्तिके अभावसे इस पंचमकालमें हेभगवन् मुझ सरीखा मनुष्य धारण नहीं करसक्ता इसलिये हेभगवन् यही प्रार्थना है कि भाग्यके उदयसे जो आपमें मेरी दृढ़भक्ति है उसीसे मेरे कर्म नष्ट हो जावे और मुझे मोक्षकी प्राप्ति होवे ॥ ३० ॥

इन्द्रत्वं च निगोदतां च बहुधा मध्ये तथा योनयः संसारे भ्रमता चिरं यदखिलाः प्राप्ता मयाऽनन्तशः ।
तन्नापूर्वमिहास्ति किञ्चिदपि मे हित्वा विमुक्तिप्रदां सम्यग्दर्शनबोधवृत्तपदवीं तां देव पूर्णां कुरु ॥३१॥

अर्थः—इससंसारमें भ्रमणकर मैंने इन्द्रपना निगोदपना और बीचमें अन्य भी समस्त प्रकारकी योनि अनंतबार प्राप्तकी हैं इसलिये इन पदवियोंमेंसे कोई भी पदवी मेरेलिये अपूर्व नहीं है किन्तु मोक्षपदको देनेवाली सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रकी पदवी अभीतक नहीं मिली है इसलिये हेभगवन् यह प्रार्थना है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रकी पदवीकोही पूर्णकरो ।

भावार्थः—यद्यपि संसारमें बहुतसी इन्द्र चक्रवर्ती आदि पदवी हैं और वे समस्त पदवी मैंने प्राप्तभी करली हैं किन्तु हे भगवन् जो पदवी सर्वोत्कृष्ट मोक्षरूपी सुखके देनेवाली है वह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रकी पदवी अभीतक मैंने नहीं प्राप्त की है इसलिये यह विनयपूर्वक प्रार्थना है कि कृपाकर मुझे सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्रकी पदवीको पूर्णतया प्रदान करैं ॥ ३१ ॥

श्रीवीरेण मम प्रसन्नमनसा तत्किञ्चिदुच्चैःपदप्राप्त्यर्थं परमोपदेशवचनं चित्ते समारोपितम् ।
येनास्तामिदमेकभूतलगतं राज्यं क्षणध्वंसि यत् त्रैलोक्यस्य च तन्न मे प्रियमिह श्रीमज्जिनेश प्रभो ॥

अर्थः—बाह्य तथा अभ्यंतर लक्ष्मीसे शोभित ऐसे श्री वीरनाथ भगवानने अपने प्रसन्नचित्तसे सबसे

१—वृत्ति यह भी ख. पुस्तक में पाठ है ।

ऊंचे पदकी प्राप्तिकेलिये जो मेरे चित्तमें उपदेशं जमाया है अर्थात् उपदेशदिया है उस उपदेशके सामने क्षणभरमें विनाशीक ऐसा पृथ्वीका राज्य मुझै प्रिय नहीं है यह बाततो दूररहो किन्तु हे प्रभो हे जिनेन्द्र उस उपदेशके सामने तीनलोकका राज्यभी मुझै प्रिय नहीं है ।

भावार्थः—यद्यपि संसारमें पृथ्वीका राज्य तथा तीनलोकका राज्यमिलना भी एक उत्तमबात है किन्तु हेभगवन् प्रसन्नचित्तसे श्रीवीरनाथभगवानने जो मुझै उपदेशदिया है उसके सामने वे दोनों वातें मुझै इष्ट नहीं है इसलिये मैं ऐसे उपदेशकाही प्रेमी हूं ॥ ३२ ॥

सूरेः पङ्कजनन्दिनः कृतिमिमामालोचनामर्हतामग्रे यः पठति त्रिसन्ध्यममलश्रद्धानताङ्गो नरः ।
योगीन्द्रैश्चिरकालरूढतपसा यत्नेन यन्मृग्यते तत्प्राप्नोति परं पदं स मतिमानानन्दसद्म ध्रुवम् ॥३३॥

अर्थः—श्रद्धासे जिसका शरीर नम्रीभुत है ऐसा जो मनुष्य श्रीपद्मनन्दि आचार्य द्वारा कीगई अलोचना नामकी कृतिको तीनोंकाल श्रीअर्हन्तदेवके सामने पढ़ता है वह बुद्धिमान मनुष्य उसपदको प्राप्त होता है जिसपदको चिरकालपर्य्यंत तपकर बड़े २ मुनि घोरप्रयत्न करनेपर प्राप्त करते हैं ।

भावार्थः—जो मनुष्य प्रातःकाल मध्यान्हकाल तथा सायंकाल तीनोंकालोंमें श्रीअर्हन्तदेवके सामने अलोचनाका पाठ पढ़ता है वह शीघ्रही मोक्षको प्राप्त होता है इसलिये मोक्षाभिलाषियोंको अवश्यही श्रीअर्हंत देवके सामने पद्मनन्दि आचार्यद्वारा बनाई हुई आलोचनानामक कृतिका तीनोंकाल पाठ करना चाहिये॥३३॥

इसप्रकार इसग्रंथमें आलोचनानामक अधिकार समाप्त हुवा ।

सद्बोधचन्द्रोदयाधिकारः ।

शार्दूलविक्रीडित ।

यज्ज्ञानन्नपि बुद्धिमानपि गुरुः शक्तो न वक्तुं गिरा प्रोक्तं चेन्न तथापि चेतसि नृणां सम्माति चाकाशवत् ।
यत्र स्वानुभवस्थितेऽपि विरला लक्ष्यं लभन्ते चिरात्तन्मोक्षैकनिबन्धनं विजयते चित्तत्वमत्यद्भुतम् ॥

अर्थः—मोक्षरूपी सुखके देनेवाले जिस आत्मतत्वको भलीभांति जानता हुवा तथा बुद्धिमान भी वृहस्पति वाणीसे कुछभी वर्णन नहीं करसक्ता है यदि किसी रीतिसे वर्णन भी करे तो भी अत्यन्त विस्तीर्ण होनेके कारण आकाशके समान मनुष्योंके हृदयमें उसको समाविष्ट नहीं करसक्ता है और स्वानुभवमें स्थितहोकर विरलेही प्राणी जिस आत्मतत्त्वको लक्ष्यमें लाते हैं ऐसा वह अत्यन्त आश्चर्यका करनेवाला आत्मतत्त्व सदा इसलोक में जयवन्त है ।

भावार्थः—यह आत्मतत्त्व कठिन तो इतना है कि जिसको साधारण पंडितोंकी तो क्या वात साक्षात वृहस्पति भी वर्णन नहीं करसक्के और विस्तृत इतना है कि वह किसीके हृदयमें आकाशकी तरह प्रविष्ट नहीं होसक्ता अर्थात् जिसप्रकार आकाश अधिक लम्बा चोड़ा है इसलिये वह किसी जगहपर नहीं अमासक्ता उसी प्रकार यह आत्मतत्त्वभी इतना विस्तृत है कि साधारणरीतिसे मनुष्य समझ नहीं सक्के और अनेकप्रकारके प्रयत्न करनेपर विरलेही मनुष्य इस आत्मतत्त्वको लक्ष्यमें लासक्ते हैं ऐसा समस्त मोक्ष आदि उत्तम सुखोंका देनेवाला आत्मतत्त्व सदा इसलोकमें जयवंत है ॥ १ ॥

नित्यानित्यतया महत्तनुतयानेकैकरूपत्वतश्चित्तत्वं सदसत्तया च गहनं पूर्णं च शून्यं च यत् ।
तज्जीयादखिलश्रुताश्रयशुचिज्ञानप्रभाभासुरो यस्मिन् वस्तुविचारमार्गचतुरो यः सोऽपि संमुह्यति ॥२॥

अर्थः—जो चैतन्यरूपी तत्त्व नित्य तथा अनित्यपनेसे और गुरू तथा लघुपनेसे तथा एकरूप और

अनेकरूपपनेसे तथा सतरूप और असतरूपपनेसे अत्यंत गहन है और जो पूर्ण तथा शून्यभी है ऐसा आत्मतत्त्व सदा इसलोकमें जयवंत है जिस आत्मतत्त्वमें समस्तशास्त्रोंके अभ्याससे पाई हुई जो ज्ञानकी प्रभा उससे देदीप्यमान तथा वास्तविक पदार्थोंके विचारकरनेमें चतुरभी मनुष्य मुग्ध होजाता है अर्थात् उसकोभी इस चैतन्य (आत्म) तत्त्वका पता नहीं लगने पाता ।

भावार्थः—जो चैतण्यरूपीतत्त्व द्रव्यकी अपेक्षातो नित्य है तथा पर्यायकी अपेक्षा अनित्य है और जो संसारावस्थामें कर्मोंके जरियेसे भारी होनेपरभी कर्मरहित अवस्थामें हलका है तथा जो स्वद्रव्यकी अपेक्षा एकरूप है तथा पर्यायकी अपेक्षा अनेकरूप है और जो स्वचतुष्टयकी अपेक्षा सत् स्वरूप है तथा पर चतुष्टय-की अपेक्षा असत स्वरूप है तथा जो चैतन्यरूपी तत्त्व स्वद्रव्यादिचतुष्टयकी अपेक्षा पूर्ण है तथा परद्रव्यादि चतुष्टयकी अपेक्षा शून्य है ऐसा यह अत्यंत गहन आत्मतत्त्व इसलोकमें सदा जयवंत है और समस्तशास्त्रों-के अभ्याससे जिन महापुरुषोंने ज्ञानरूपी प्रभाको पाकर अपनी आत्माको देदीप्यमान बनाया है और वास्त-विक पदाथाके विचार करनेमें जिनकी बुद्धि अत्यंत प्रवीण है ऐसे महापुरुषभी उस आत्मतत्त्वका खोज नहीं करसक्ते हैं अर्थात् वास्तविक रीतिसे उनको भी आत्मतत्वका पता नहीं लगता ॥ २ ॥

सर्वस्मिन्नणिमादिपङ्कजवने रम्येऽपि हित्वा रतिं यो दृष्टिं शुचिमुक्तिहंसवनितां प्रत्यादराद्दत्तवान् ।
चेतोवृत्तिनिरोधलब्धपरमब्रह्मप्रमोदाम्बुभृत्सम्यक्साम्यसरोवरस्थितिजुषे हंसाय तस्मै नमः ॥ ३ ॥

अर्थः—जो हंस अत्यंत मनोहरभी अणिमा महिमा आदि स्वरूप कमलवनसे अपनी प्रीतिको हटाकर अत्यंत पवित्र मोक्षरूपी हंसिनीमें अपनी दृष्टिको देताहुवा ऐसे उसचित्तकी वृत्तिके रोकनेसे प्राप्तहुवा जो परब्रह्मका उत्तम आनंद वही हुवा जल उससेभराहुवा जो मनोहरसमतारूपी सरोवर उसमें स्थिति करनेवाले

प्रियहंसकेलिये नमस्कार है ॥

भावार्थः—हंसका अर्थ आत्माभी है तथा हंसभी है जिसप्रकार हंस अत्यंत मनोहरभी कमलवनको छोड़कर और अत्यंत शुभ्र हंसिनीमें दृष्टिको लगाकर जलके भरेहुवे उत्तम सरोवरमें प्रीतिपूर्वक निवास करता है उसीप्रकार जो आत्मा अणिमा महिमा आदिक ऋद्धियोंकी कुछभी इच्छा न कर तथा अति आदरसे मोक्षमें दृष्टि लगाकर समतामें लीनहोता है उस आत्माकेलिये नमस्कार है ॥ ३ ॥

रथोद्धता ।

सर्वभावविलये विभाति यत्सत्समाधिभरनिर्भरात्मनः ।
चित्स्वरूपमभितः प्रकाशकं शर्मधाम नमताद्भुतं महः ॥ ४ ॥

अर्थः—चारोंतरफसे प्रकाशरूप तथा नानाप्रकारके कल्याणोंका देनेवाला और आश्चर्यकारी जो चैतन्यरूपीतेज समीचीन समाधिसे जिनकी आत्मा व्याप्त है ऐसे महामुनियोंके समस्त रागद्वेष आदि विभावोंके नाशहोनेपर प्रकट होता है उसचैतन्यरूपी तेजकेलिये नमस्कार करो ।

भावार्थः—यदि सामान्यतया देखाजावे तो जीवमात्रमें चैतन्यरूपीतेज मोजूद है किन्तु जो चैतन्यरूपी तेज समस्त रागादिभावोंके नाश होनेपर प्रकट होताहै और जो चौतर्फा प्रकाशरूप तथा समस्तप्रकारके कल्याणोंका देनेवाला है उस चैतन्यरूपी तेजके लिये नमस्कार है ॥ ४ ॥

विश्ववस्तुविधृतिक्षमं लसज्जालमन्तपरिवर्जितं गिराम् ।
अस्तमेत्यखिलमेवहेलया यत्र तज्जयति चिन्मयं महः ॥ ५ ॥

अर्थः—जो चैतन्यरूपीतेज समस्तपदार्थोंका प्रकाशकरनेवाला है और स्वयं प्रकाशस्वरूप है तथा अंत-

कर रहित है और यदि समस्तवाणी युगपत् मिलजावें तो भी उसका बर्णन नहीं करसक्ती हैं अर्थात् जो वाणीके अगोचर है ऐसा वह चैतन्यरूपीतेज सदा इसलोकमें जयवंत है ॥ ५ ॥

रथोद्धता ।

नो विकल्परहितं चिदात्मकं वस्तु जातु मनसोऽपि गोचरम् ।
कर्मजाश्रितविकल्परूपिणः का कथा तु वपुषो जडात्मनः ॥ ६ ॥

अर्थः—समस्त प्रकारके विकल्पोंकर रहित जो चैतन्यरूपीतेज किसीभी रीतिसे मनकेभी गोचर नहीं हो सक्ता, वह चैतन्यरूपीतेज कर्मोंसे पैदाहुवे नानाप्रकारके विकल्प वही है रूप जिसका तथा जड़स्वरूप ऐसे शरीरके गोचर कब हो सक्ता है ? अर्थात् कदापि नहीं हो सक्ता ॥ ६ ॥

अब आचार्य इसबातको बताते हैं कि वह चैतन्यरूपी तत्व मन आदिके प्रत्यक्ष न होकर भी स्वानुभव गम्य है

चेतसो न वचसोऽपि गोचरस्तर्हि नास्ति भविता खपुष्पवत् ।
शङ्कनीयमिदमत्र नो यतः स्वानुभूतिविषयस्ततोऽस्ति तत् ॥ ७ ॥

अर्थः—यदि कोई मनुष्य इसबातकी शंका करै कि चैतन्यरूपीतेज न तो मनके गोचर है और न बचनके गोचर है इसालिये आकाशके फूलके समान उसका नास्तित्व हो जायगा तो आचार्य समाधान देते हैं कि ऐसी शंका कदापि नहीं करनी चाहिये क्योंकि वह चैतन्यरूपीतत्त्व स्वानुभवसे जानाजाता है इसलिये नास्तित्व न होकर उसका अस्तित्व ही है ॥

भावार्थः—आकाशका फूल न तो विचारनेमें ही आसक्ता है और न उसको देख तथा सुनही सक्ते है तथा उसको वचनसे भी नहीं कह सक्ते हैं इसालिये जिसप्रकार उसकी आस्तिता नहीं कही जासक्ती उसीप्रकार

आत्मतत्त्वकी भी अस्तिता नहीं बनसक्ती, क्योंकि यह भी न तो मनके गोचर है और न वचनके गोचर है यदि कोई इसप्रकारकी शंकाकरे तो ग्रंथकार कहते हैं कि उसकी इसप्रकारकी शंका सर्वथा अयुक्त है क्योंकि वह चैतन्यतत्व मन तथा वचनके गोचर न होनेपरभी स्वानुभवगोचर है इसलिये आकाशके फूलके समान उसकी नास्तिता न कहकर अस्तिता ही कहनी चाहिये ॥ ७ ॥

नूनमत्र परमात्मनि स्थितं स्वान्तमन्तमुपयाति तद्बहिः ।
तं विहाय सततं भ्रमत्यदः को बिभेति मरणान्न भूतले ॥ ८ ॥

अर्थः—जिससमय मन परमात्मामें स्थित होता है उससमय उसमनका नाश हो जाता है इसीलिये वह मन उसपरमात्माको छोड़कर जहां तहां बाहर भ्रमण करता है क्योंकि पृथ्वीतलमें मरणसे कौन नहीं डरता है ? अर्थात् सर्व ही डरते हैं ॥

भावार्थ—जबतक मनका संबंध इस आत्माके साथमें रहता है तबतक वह मन बाह्य पदार्थोंमें घूमता रहता है इसलिये आत्माकी परिणतिभी बाह्यपदार्थोंमें लगीरहती है किन्तु जिससमय यह आत्मा परमात्मा हो जाता है उससमय इसमनका सर्वथा नाश होजाता है उससमय इसकी बाह्यपदार्थोंमें परिणति नहीं लगती इसीलिये मन परमात्मामें स्थित न होकर बाह्यपदार्थोंमें ही घूमता रहता है क्योंकि पृथ्वीतलमें जब सब मरणसे डरते हैं तो अपने मरणका मनको भी पूरा २ भय है ॥ ८ ॥

तत्त्वमात्मगतमेव निश्चितं योऽन्यदेशनिहितं समीक्षते ।
वस्तु मुष्टिविधृतं प्रयत्नतः कानने मृगयते स मूढधीः ॥ ९ ॥

अर्थः—यदि निश्चयसे देखाजावे तो चैतन्यरूपी तत्त्व आत्मामें है आत्मासे भिन्न किसीभी स्थानमें नहीं

है किंतु जो मनुष्य आत्मासे भिन्न किसी दूसरेस्थानमें चैतन्यरूपी तत्त्व रहता है ऐसा समझते हैं तथा जानते हैं वे मूढ़बुद्धि मनुष्य वैसाही काम करते हैं जैसा कि मुट्ठीमें रक्खी हुई वस्तुको बनमें जाकर ढूड़ना।

भावार्थः—मुट्ठीमें रक्खी हुई भी वस्तुका बनमें जाकर ढूडना जिसप्रकार व्यर्थ है उसीप्रकार अपनेसे भिन्न स्थानमें चैतन्यका मानना तथा देखना वृथा है इसलिये चैतन्यतत्त्वके खोजकरनेवाले उत्तमपुरुषोंको चैतन्यतत्त्व अपनेमेंही समझना चाहिये अपनेसे भिन्न स्थानमें नहीं ॥ ९ ॥

अब आचार्य इसबातको दिखाते हैं कि जो मनुष्य आत्मीकवस्तुमें तत्पर है वे ही उत्कृष्टध्यानके पात्र हैं ।

तत्परः परमयोगसम्पदां पात्रमत्र न पुनर्बहिर्गतः ।
नापरेण चलितः पथेप्सिता स्थानलाभविभवो विभाव्यते ॥ १० ॥

अर्थः—यदि कोई मनुष्य मार्गतो दूसरा है परंतु उसको छोड़कर दूसरे मार्गसे चले तो कदापि उसको अभीष्ट स्थानका लाभ नहीं हो सक्ता किन्तु ठीक मार्गपर चले तभी वह अपने अभीष्ट स्थानपर पहुंच सक्ता है उसीप्रकार जो पुरुष आत्मामें आसक्त हैं वे ही मनुष्य उत्कृष्ट ध्यानके पात्र हैं किन्तु जो मनुष्य आत्मामें आसक्त नहीं हैं बाह्यपदार्थोंमें ही आसक्त हैं वे कदापि उत्कृष्टध्यानके पात्र नहीं और न हो ही सक्ते हैं इसलिये उत्कृष्टध्यानके प्रेमी उत्तमपुरुषोंको आत्मामें अवश्य आसक्त रहना चाहिये ॥ १० ॥

अब आचार्य इसबातको दिखाते हैं कि जो तपस्वी आत्मस्वरूपमें लक्ष्य नहीं देते वे मूर्ख हैं ।

साधु लक्ष्यमनवाप्य चिन्मये यत्र सुष्ठु गहने तपस्विनः ।
अप्रतीतिभुवमाश्रिता जडा भान्ति नाट्यगतपात्रसन्निभाः ॥ ११ ॥

अर्थ—अत्यंत गहन ऐसे जिस चैतन्यरूपी तत्त्वमें भलीभांति लक्ष्य न देकर जो तपस्वी अज्ञानमयीभूमि

को आश्रित है अर्थात् अज्ञानी वनरहे हैं वे तपस्वी जड़ हैं और वे नाटकके पात्रके समान शोभित होते हैं ।

भावार्थः—जिसप्रकार नाटकका पात्र कभी राजा कभी मंत्री स्त्री आदि नानाप्रकारके वेषोंको धारण करता है किन्तु वह वास्तविक राजा, मंत्री, स्त्री, नहीं कहाजासक्ता उसीप्रकार तपस्वीका वेष धारणकर जो तपस्वी चैतन्यरूपी तत्वकी और अपना लक्ष्य नहीं देते वे तवस्वी कहलानेके योग्य नहीं और वे जड़ हैं इसलिये तपस्वियोंको चैतन्यरूपी तत्वपर अवश्यही लक्ष्य देना चाहिये ॥ ११ ॥

भूरिधर्मयुतमप्यबुद्धिमानन्धहस्तिविधिनावबुध्य यत् ।
भ्राम्यति प्रचुरजन्मसङ्कटे पातु वस्तदतिशायि चिन्महः ॥ १२ ॥

अर्थः—अज्ञानीपुरुष अंधहस्तिन्यायके समान अनेकधर्मोंकर सहित ऐसे चैतन्यतत्वको जानकरभी अनेक जन्म संकटोंमें भ्रमण करता है ऐसा वह अत्यंत अतिशयका भंडार चैतन्यरूपी तेज आपकी रक्षाकरो ।

भावार्थः—अंधेके आखोंके न होनेके कारण वह हाथीके समस्तस्वरूपको नहीं देखसक्ता इसलिये हाथीके समस्त स्वरूपके अज्ञानी उस अन्धेद्वारा वतलाया हुवा हाथीका स्वरूप जिसप्रकार प्रमाणभूत नहीं मानाजाता उसीप्रकार अज्ञानीद्वारा जाना हुवा अनेकान्तात्मकचैतन्यतेज प्रमाणभूत नहीं मानाजासक्ता अतएव अज्ञानी चैतन्यस्वरूपको जानताहुवाभी संसारमेंही भ्रमणकरता रहता है इसलिये ग्रंथकार कहते हैं कि ऐसा अतिशयशाली चैतन्यरूपी तेज सदा आपकी रक्षा करो ॥ १२ ॥

कर्मबंधकलितोप्यवंधनो द्वेषरागमलिनोऽपि निर्मलः ।
देहवानपि च देहवर्जितश्चित्रमेतदखिलं चिदात्मनः ॥ १३ ॥

अर्थः—जो आत्मा कर्मोंके वंधनकर सहित होकरभी कर्मवंधनकर रहित है तथा द्वेष और रागसे

मलिन होने परभी जो निर्मल है और देहधारी होनेपरभी जो देहकर रहित है इसलिये आचार्य कहते हैं कि आत्माका स्वरूप आश्चर्यकारी है ।

भावार्थः—इसश्लोकमें विरोधाभास नामक अलंकार है इसलिये आचार्य विरोधको दिखाते हैं कि जो कर्मबंधन कर सहित है वह कर्मबंधनकर रहित कैसे होसक्ता है ? और जो समल है वह निर्मल कैसे होसक्ता है ? और जो देहसहित है वह देहरहित कैसे होसक्ता है ? अब आचार्य विरोधका परिहार करते हैं यद्यपि अशुद्धनिश्चयसे आत्मा कर्मबंधनकर सहित है तथापि शुद्धनिश्चयनयसे आत्मा कर्मबंधनकर रहितही है तथा यद्यपि आत्मा अशुद्धनिश्चयनयसे रागद्वेषसे मलिन है तोभी शुद्धनिश्चयनयसे वह निर्मल है और आत्मा व्यवहारनयसे शरीरकर सहित है तोभी शुद्धनिश्चयनयसे उसका कोई शरीर नहीं है ।

सारार्थ-किसी अपेक्षासे आत्मा कर्मबंधनकर सहित है तथा किसी अपेक्षासे कर्मबंधनकर रहित है और किसी अपेक्षासे रागद्वेषसे मलिन है तथा किसी अपेक्षासे निर्मल है और किसी अपेक्षासे आत्मा शरीर सहित है तथा किसी अपेक्षासे शरीर कर रहित है इसप्रकार आत्मा अनेकधर्मात्मक है एकधर्मात्मक नहीं ऐसा विश्वास रखना चाहिये ॥

अब आचार्य इसबातको दिखाते हैं कि अनेकान्तात्मक वस्तुमें किसीप्रकारका विरोध नहीं आसक्ता ।

रथोद्धता ।

निर्विनाशमपि नाशमाश्रितं शून्यमप्यतिशयेन सम्भृतम् ।
एकमेव गतमप्यनेकतां तत्वमीदृगपि नो विरुध्यते ॥ १४ ॥

अर्थः—जो अनेकान्तात्मक तत्व नाशरहित होनेपरभी नाशकर सहित है और शून्य होनेपरभी संपूर्ण है (भराहुवा है) तथा एक होनेपरभी अनेक है ऐसा होनेपरभी उसमें किसीप्रकारका विरोध नहीं है ॥

भावार्थः——समस्तपदार्थोंकी सिद्धि किसी न किसी अपेक्षाके द्वाराही होती है यदि पदार्थों की सिद्धिमें अपेक्षा न मानीजाय अर्थात् यदि उनकी सिद्धि एकान्तरीतिसे ही कीजाय तो कदापि उनकी निर्दोष सिद्धि नहीं होसक्ती इसीलिये अनेकान्तात्मक तत्वमें किसी प्रकारका दोप आकर उपस्थित नहीं होता क्योंकि अपेक्षासेही अनेकान्तात्मक तत्वकी स्थिति है जैसे——यदि द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षा कीजावे तो तत्व नाशकर रहित है और यदि पर्यायार्थिकनयकी अपेक्षा कीजावे तो तत्वोंका नाशभी है और यदि परद्रव्यचतुष्टयकी अपेक्षा कीजावे तो तत्व शून्य भी है तथा स्वद्रव्यचतुष्टयकी अपेक्षा कीजावे तो तत्व शून्यताकर रहित भी है और शुद्धनिश्चयनयकी अपेक्षासे एकभी है तथा व्यवहारनयकी अपेक्षासे अनेक भी है इसरीतिसे अस्तित्व नास्तित्वादि अनेक धर्म तत्वमें मोजूद है तथा वे सव अपेक्षासे माने गयेहैं इसलिये उसमें किसी प्रकारका विरोध भी नहीं है ऐसा निश्चयसे समझना चाहिये ॥ १४ ॥

आत्मीकतत्वके पानेवालेही स्वस्वरूपके पानेवाले समझे जातेहैं इसबातको आचार्य दिखाते हैं ।

विस्मृतार्थपरिमार्गणं यथा यस्तथा सहजचेतनाश्रितः ।
स क्रमेण परमेकतां गतः स्वस्वरूपपदमाश्रयेद्ध्रुवम् ॥ १५ ॥

अर्थः——मूर्छित हुवा मनुष्य जिसप्रकार सावधान होकर अपनी भूली हुई चीजको ढूंढता है पीछे शान्त होकर अपने स्वरूपमें स्थित होता है उसीप्रकार जो मनुष्य अनादिकालसे भूलेहुवे अपने स्वाभाविक चैतन्यको आश्रयकर क्रमसे साम्यभावको धारण करता है वह मनुष्य निश्चयसे आत्मस्वरूपको आश्रय करता है अर्थात् उसको आत्मस्वरूपकी प्राप्ति होती है ॥ १५ ॥

यद्यदेव मनसि स्थितं भवेत्तत्तदेव सहसा परित्यजेत् ।

इत्युपाधिपरिहारपूर्णता सा यदा भवति तत्पदं तदा ॥ १६ ॥

अर्थः—जो २ वात मनमें होवे (अर्थात् जिस २ वातकी मनमें इच्छा होवे) उसी २ वातको सवसे पहिले छोड़देवे इसप्रकार जिससमयमें समस्त उपाधिका नाशहोजाता है उसीसमयमें आत्मस्वरूपकी प्राप्ति होजाती है।

भावार्थः—ज्ञान दर्शनकी परिपूर्णताही आत्माका स्वरूप है और जिससमयमें इस अखण्डज्ञान तथा दर्शन की प्राप्ति होजाती है उसीको स्वस्वरूपकी प्राप्ति कहते हैं किन्तु जवतक कर्मजानित राग द्वेष अथवा इच्छा आदि उपाधियोंका संवंध इस आत्माके साथ रहता है तवतक आत्मस्वरूपकी प्राप्ति नहीं होती इसलिये स्वस्वरूपकी प्राप्तीके इच्छुक भव्यजीवोंको चाहिये कि वे जिससमय चित्तमें इच्छा आदिक उपाधि उत्पन्न होवे उसीसमय उनका त्यागकर आत्मस्वरूपकी प्राप्तिकरैं ॥ १६ ॥

संहृतेषु स्वमनोऽनिलेषु यद्भाति तत्वममलात्मनः परम् ।
तद्गतं परमनिस्तरङ्गतामाग्निरुग्र इह जन्मकानने ॥ १७ ॥

अर्थः-पांचों इन्द्रियोंके तथा मनके और श्वासोच्छ्वासके संकुचित होनेपर जो आत्माका निर्मल तथा उत्कृष्टस्वरूप उदितहोकर शोभित होता है ऐसा वह अत्यंत निश्चल आत्मतत्व संसाररूपी वनकेलिये भयंकर अग्निके समान है ।

भावार्थः—जिसप्रकार वनमें लगी हुई अग्नि समस्तवनको भस्म करदेती है उसीप्रकार परमात्मतत्वभी समस्तसंसारका नाशकरनेवाला है अर्थात् परमात्मतत्वके प्राप्तहोनेपर संसारका सर्वथा नाश होजाता है॥१७॥

निर्विकल्पपदवीका आश्रयणकरनेवालाही संयमी मोक्षपदको प्राप्त होता है इसवातको आचार्य दिखाते हैं।

मुक्त इत्यपि न कार्यमञ्जसा कर्मजालकलितोऽहमित्यपि ।
निर्विकल्पपदवीमुपाश्रयन् संयमी हि लभते परं पदम् ॥ १८ ॥

अर्थः—मैं समस्त कर्मोंकर रहित मुक्तहूं ऐसा भी संयमियोंको नहीं मानना चाहिये तथा मैं समस्त कर्मोंकर सहितहूं ऐसाभी नहीं मानना चाहिये क्योंकि निर्विकल्पपदवीको आश्रय करनेवालाही संयमी मोक्षपदको प्राप्त होता है

भावार्थः—मैं कर्मकर रहितहूं यह भी विकल्प है तथा मैं कर्मकर सहितहूं यहभी विकल्प है और जिस संयमीके जवतक ऐसा विकल्प रहता है तवतक उसकी कदापि मुक्ति नहीं होती इसलिये जो संयमी मोक्षाभिलाषी हैं उनको निर्विकल्पक पदवीकाही आश्रय करना चाहिये ॥ १८ ॥

अब आचार्य द्वैत तथा अद्वैतभावका निषेध वर्णन करते हैं ।

कर्मचाहमिति च द्वये सति द्वैतमेतदिह जन्मकारणम् ।
एक इत्यपि मतिः सती न यत्साप्युपाधिरचिता तदङ्गभृत् ॥ १९ ॥

अर्थः—हे जीव कर्म तथा मैं दो हूं इसप्रकारका द्वैतभी जीवोंको संसारका कारण है अर्थात् इसप्रकारके द्वैतसेभी जीवोंको नानाप्रकारके भवोंमें भ्रमण करना पड़ता है तथा मैं एकहूं यहभी वुद्धि ठीक नहीं क्योंकि उपर्युक्त दोनोंप्रकारकी बुद्धि उपाधिजन्य हैं ।

भावार्थः—मैं द्वैतहू तथा एकहूं इसप्रकारके दोनोंभाव असत्य हैं क्योंकि ये संसारके उत्पन्न करनेवाले हैं तथा कर्मजनित उपाधिसे पैदा हुवे हैं इसलिये जोपुरुष मोक्षाभिलाषी हैं उनको इनदोनोंभावोंका त्यागकर निर्विकल्प पदवीकाही आश्रय करना चाहिये ॥ १९ ॥

अब आचार्य इसवातको दिखाते हैं कि शुद्धभावनातो शुद्धपदकी कारण है और अशुद्धभावना अशुद्ध पदकी कारण है

संविशुद्धपरमात्मभावना संविशुद्धपदकारणं भवेत् ।
सेतरेतरकृते सुवर्णतो लोहतश्च विकृती तदाश्रिते ॥ २० ॥

अर्थः—जिसप्रकार सुवर्णसे सुवर्णपात्रकी उत्पति होती है तथा लोहसे लोहपात्रकी उत्पत्ति होती है उसीप्रकार शुद्ध परमात्माकी भावना करनेसे शुद्धपद मोक्षदपकी प्राप्ति होती है तथा अशुद्ध भावनासे अशुद्धपद स्वर्गनरकादि पदकी प्राप्ति होती है ।

भावार्थः—"कारण सदृशानि कार्याणि भवन्ति" अर्थात् कारणके समानही कार्य उत्पन्न होते हैं इस नीति के अनुसार जो भव्यजीव निष्कलंक शुद्ध बुद्ध परमात्माका ध्यान करते हैं उनको परमपद मोक्षपदकी प्राप्ति होती है अर्थात् वे मोक्षको जाते हैं और जो मनुष्य परमात्माकी भावना नहीं करते हैं उनको परमपदकी प्राप्ति नहीं होती अर्थात् उनको संसारमें नरकादिगतियोंमें भ्रमण करना पड़ता है ॥ २० ॥

परमार्थको जाननेवाले योगीको किसीप्रकारके सुख दुःखका अनुभव नहीं करना पड़ता इसबातको आचार्य दिखाते हैं।

कर्मभिन्नमनिशं स्वतोऽखिलं पश्यतो विशदबोधचक्षुषा ।
तत्कृतेऽपि परमात्मवेदिनो योगिनो न सुखदुःखकल्पना ॥ २१ ॥

अर्थः—समस्तकर्म मुझसे भिन्न हैं इसप्रकार निरंतर अपने दिव्यसम्यग्ज्ञानरूपी चक्षुसे देखनेवाले तथा परमात्माको भलीभांति जाननेवाले योगीके कर्मसे उत्पन्न सुखदुःखके होनेपरभी सुख दुःखकी कल्पना नहीं होती।

भावार्थः—अपनेसे कर्मको भिन्न समझनेवाला और परमार्थको भलीभांति जाननेवाला योगीश्वर कर्म जनित सुखदुःखके होनेपरभी अपनेको सुखी दुःखी नहीं मानता ॥ २१ ॥

मानसस्य गतिरस्ति चेन्निरालम्ब एव पथि भास्वतो यथा ।
योगिनो दृगवरोधकारकः सन्निधिर्न तमसां कदाचन ॥२२॥

अर्थः—सूर्यकेसमान योगियोंके मनकी गति यदि निरालंबमार्गमें ही होवेतो कभीभी उनके सम्यग्दर्शन

सम्यग्ज्ञानकी प्रभाको रोकनेवाले अंधकारकी निकटता न होवे ।

भावार्थः—जिसप्रकार सूर्य निरावरण मार्गमें गमन करता है इसलिये उसका प्रकाश किसीकेद्वारा रोका नहीं जाता उसीप्रकार जिसयोगीका मन निरालम्बमार्गमें गमन करता है अर्थात् जिससमय योगी निरालम्ब-ध्यानको करता है उससमय उसयोगीके सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञानरूपीतेजको दर्शनावरण ज्ञानावरणरूपी अंधकार रोक नहीं सक्ता इसलिये योगियोंको सदा निरालम्बही ध्यान करना चाहिये ॥ २२ ॥

रुग्जरादिविकृतिर्न मेऽञ्जसा सा तनोरहमितः सदा पृथक् ।
मीलितेऽपि सति खे विकारिता जायते न जलदैर्विकारिभिः ॥ २३ ॥

अर्थः—नानाप्रकारके विकारोंकर सहितमेघोंकेसाथ संबंध होनेपरभी जिसप्रकार आकाशमें किसीप्रकारका विकार पैदा नहीं होता क्योंकि वे विकार मेघोंके हैं उसीप्रकार रोग वृद्धावस्था आदि नानाप्रकारके विकार शरीरके विकार ही हैं मेरे (आत्माके) विकार नहींहैं क्योंकि शरीरमे मैं सदा जुदाहूं ।

भावार्थः—मूर्तीकपदार्थोंमेंही विकार होता है अमूर्तीक पदार्थोंमें नहीं आकाश अमूर्तीक है इसलिये अनेकप्रकारके विकार सहित मेघोंके सम्बन्धहोनेपरभी जिसप्रकार आकाशमें विकार नहीं होता उसीप्रकार आत्माका भी विकार नहीं होसक्ता क्योंकि आत्मा अमूर्तीक है जो रोग वृद्धावस्था आदि विकार हैं वे शरीरके विकार हैं तथा शरीर आत्मासे सर्वथा भिन्न है ॥ २३ ॥

व्याधिनाङ्गमभिभूयते परं तद्गतोऽपि न पुनश्चिदात्मकः ।
उच्छ्रितेन गृहमेव दह्यते वन्हिना न गगनं तदाश्रितम् ॥ २४ ॥

अर्थः—यदि किसीकारणसे मकानमें अग्नि लगजावे तो उस अग्निसे मकानहीं जलता है किन्तु उसके

भीतर रहाहुवा आकाश नहीं जलता उसीप्रकार शरीरमें किसीकारणसे व्याधि उत्पन्न होजावे तो उस व्याधिसे शरीरही नष्ट होता है उसके भीतर रहेहुवे आत्माका नाश नहीं होता ।

भावार्थः—जिसप्रकार मकानमें उठीहुई अग्निसे मकानही जलता है उसीप्रकार शरीरमें उठी हुई व्याधिसे शरीरही नष्ट होता है किन्तु अग्निसे जिसप्रकार मकानके भीतर रहा हुवा आकाश नहीं जलता उसीप्रकार व्याधिसे शरीरके भीतर रहाहुवा चैतन्यस्वरूप आत्मा भी नष्ट नहीं होता ॥ २४ ॥

बोधरूपमखिलैरुपाधिभिर्वर्जितं किमपि यत्तदेव नः ।
नान्यदल्पमपि तत्वमीदृशं मोक्षहेतुरिति योगनिश्चयः ॥ २५ ॥

अर्थः—समस्तप्रकारकी रागद्वेष आदि उपाधियोंसे रहित तथा सम्यग्ज्ञानस्वरूप जो कोई वस्तु है वही हमारी है किन्तु इससे भिन्न थोड़ी भी वस्तु हमारी नहीं है इसप्रकार जो योगका निश्चय है वही मोक्षका कारण है किन्तु इससे भिन्न योगका निश्चय मोक्षका कारण नहीं ॥ २५ ॥

अब आचार्य इसबातको दिखाते हैं कि योगसेही तो आत्मा बंधनको
प्राप्त होता है और योगसेही मोक्षको प्राप्त होता है ।

योगतो हि लभते विबंधनं योगतो हि किल मुच्यते नरः ।
योगवर्त्म विषमं गुरोर्गिरा बोध्यमेतदखिलं मुमुक्षुणा ॥ २६ ॥

अर्थः—ध्यानसे ही तो मनुष्य बंधनको प्राप्त होता है तथा ध्यानसे ही मनुष्य मोक्षको प्राप्त होता है इसप्रकार यह ध्यानका मार्ग अत्यंत कठिन है किन्तु जो भव्यजीव मोक्षके अभिलाषी हैं उनको यह समस्त ध्यानका मार्ग गुरूके उपदेशसे समझना चाहिये ॥

भावार्थः—ध्यान अनेकप्रकारका होता है उनमें जो मनुष्य जैसा ध्यान करता है उसको उसीप्रकारके फलकी प्राप्ति होती है इसलिये मोक्षाभिलाषियोंको चाहिये कि वे मोक्षके कारणभूत ध्यानको ही गुरूके उपदेशसे समझै और संसारका जो कारण ध्यान है उसकी ओर दृष्टि न देवें ॥ २६ ॥

शुद्धज्ञानस्वरूप वस्तुही रमणीकस्थानहै इसवातको आचार्य दिखाते हैं ।

शुद्धबोधमयमस्ति वस्तु यद्रामणीयकपदं तदेव नः ।
स प्रमाद इह मोहजः क्वचित्कल्प्यते यदपरापि रम्यता ॥ २७ ॥

अर्थः—जो वस्तु शुद्धबोधस्वरूप है अर्थात् निर्मलसम्यग्ज्ञानस्वरूप है वही हमारा रमणीय स्थान है किन्तु जो मनुष्य निर्मल सम्यग्ज्ञानसे आतिरिक्तभी रमणीयता है इसबात को कहते हैं वह वास्तविक रमणीयता नहीं किन्तु वह मोहनीयकर्मसे उत्पन्नहुवा प्रमाद ही है ।

भावार्थः—निर्मलसम्यग्ज्ञानस्वरूपही रमणीय है किन्तु इससे भिन्न कोईभी पदार्थ रमणीय नहीं है यदि कोई मनुष्य इससे भिन्न पदार्थकोभी रमणीय माने तो उसका प्रमादही समझना चाहिये ॥ २७ ॥

आत्मबोधशुचितीर्थमद्भुतं स्नानमत्रकुरुतोत्तमं बुधाः ।
यन्न यात्यपरतीर्थकोटिभिः क्षालयत्यपि मलं तदन्तरम् ॥ २८ ॥

अर्थः—आचार्य उपदेश देते हैं कि हे भव्य पंडितो यदि तुम अपने पापोंका नाशकरना चाहते हैं तो अत्यंत पवित्र तथा आश्चर्यके करनेवाले उत्तम इस आत्मज्ञानस्वरूपी तीर्थमेंही स्नानकरो क्योंकि जो अंतरंगका मल अन्यकरोड़ों तीर्थोंमें स्नानकरनेपरभी नष्ट नहीं होता है वह अंतरंगका मल इस आत्मज्ञानस्वरूप तीर्थमें एकसमय स्नानकरनेपर ही नष्ट होजाता है ।

भावार्थः—पापसे भयभीतहोकर करोडों मनुष्य काशी प्रयाग आदि स्थानोंपर गंगा आदि नदियोंमें स्नान करते हैं तथा अपनेको मलरहित शुद्धमानते हैं परंतु गंगा आदि नदियोंमें स्नानकरनेसे बाह्यमलका ही नाश होता है किंतु रागद्वेष आदि अंतरंगमलका नाश नहीं होता और वास्तविकरीतिसे अंतरंगमलका नाशही वास्तविक सुखका मूल है इसलिये आचार्यवर उपदेश देतेहैं कि हे भव्यजीवो यदि तुम अंतरंगमलका नाशकरना चाहते हो तो तुमको इस परमपवित्र आत्मारूपी तीर्थमें ही स्नान करना चाहिये क्योंकि जो अंतरंगमल दूसरे २ करोड़ों तीर्थोंमें स्नानकरनेपरभी नष्ट नहीं होता वह अंतरंगमल आत्मरूपी पवित्रतीर्थमें एकवारही स्नान करनेसे निश्चयसे पलभरमें नष्ट होजाता है ॥ २८ ॥

चित्समुद्रतटवद्धसेवया जायते किमु न रत्नसंचयः ।
दुःखहेतुरमुतस्तु दुर्गतिः किं न विप्लवमुपैति योगिनः ॥ २९ ॥

अर्थः—आचार्य कहते हैं कि जो पुरुष बड़े उत्साहकेसाथ चैतन्यरूपी समुद्रके तीरकी भलीभांति सेवा करते हैं क्या उनको सम्यक्दर्शन आदि रत्नोंकी प्राप्ति नहीं होती है अवश्यही होती है तथा इस पायेहुवे रत्नसमूहसे चैतन्यरूपी समुद्रकी सेवाकरनेवाले मुनियोंकी क्या नानाप्रकारके दुःखोंको देनेवाली नरक आदि खोटी गतियोंका नाश नहीं होता ? अवश्य ही होता है ।

भावार्थः—जिसप्रकार समुद्रकी पारपर रहनेवाले मनुष्योंको नानाप्रकारके रत्नोंकी प्राप्ति होती है तथा उनरत्नोंकी सहायतासे वे धनिक हो जाते हैं और उनको दरिद्रतासे पैदाहुआ दुःख कुछ भी नहीं सतासक्ता उसीप्रकार जो मुनि सदा अपनी आत्माका चिंतन करनेवाले हैं उनको सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र रूपी रत्नोंकी प्राप्ति होती है तथा उनरत्नोंकी प्राप्ति होनेपर उनको किसीप्रकारकी नरकआदि गतियोंमें नहीं

जानापडता इसलिये दुःखसे सदा भयकरनेवाले मनुष्योंको आत्माका ही चिंतवन करना चाहिये ॥ २९ ॥

निश्चयावगमनास्थितित्रयं रत्नसंचितिरियं परात्मनि
योगदृष्टिविषयीभवन्नसौ निश्चयेन पुनरेक एव हि ॥

अर्थः—परमात्मामें जो निश्चय तथा ज्ञान और स्थिति है उन्हींको सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र कहते हैं और केवलीभगवानकी दृष्टिमें ये तीनों निश्चयनयसे आत्मस्वरूप ही हैं अर्थात् आत्मासे भिन्न सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र कोई पदार्थ नहीं ।

भावार्थः—परमात्मा है इसप्रकारका जो निश्चय है सो तो सम्यग्दर्शन है और परमात्माको भलीभांति जानना सम्यग्ज्ञान है तथा परमात्मामें स्थिरता रखना सम्यक्चारित्र है और यदि निश्चयनयसे देखाजावे तो ये आत्मस्वरूप ही हैं आत्मासे भिन्न नहीं है तथा केवलीभगवान अपने केवलज्ञान तथा केवलदर्शनसे इनको आत्मस्वरूपही जानते हैं तथा देखते हैं ॥ ३० ॥

प्रेरिताः श्रुतगुणेन शेमुषीकार्मुकेण शरवद्दृगादयः
बाह्यवेध्यविषये कृतश्रमाश्छिद्रणे प्रहतकर्मशत्रवः ॥

अर्थः—चैतन्यरूपी संग्राममें शास्त्ररूपी गुण (प्रत्यंचा) सहित जो श्रेष्ठबुद्धिरूपी धनुष उससे प्रेरणा किये गये तथा बाह्यपादार्थोंके वेधनकरनेमें तत्पर ऐसे जो सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्ररूपी बाण हैं वे समस्त कर्मरूपी वैरियोंके नाशकरनेवाले होते हैं ।

भावार्थः—जिसप्रकार संग्राममें प्रत्यंचासहित धनुषसे छोड़ेहुए बाणोंसे समस्तवैरी नष्ट हो जाते हैं उसी प्रकार चैतन्यरूपीसंग्राममें शास्त्ररूपी प्रत्यचासहित बुद्धिरूपी धनुषसे प्रेरित तथा बाह्यपदार्थोंके वेधनकरनेमें

तत्पर जो सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्ररूपी बाण हैं वे समस्तकर्मरूपी वैरियोंको नष्ट करते हैं ॥३१॥

चित्तवाच्यकरणीयवर्जिता निश्चयेन मुनिवृत्तिरीदृशी

अन्यथा भवति कर्मगौरवात् सा प्रमादपदवीमुपेयुषः ॥

अर्थः—निश्चयकरके मुनियोंकी जो प्रवृत्ति है वह मन वचन कायकी प्रवृत्तिकर रहित है किन्तु वह मुनि यदि प्रमाद पदवीको प्राप्त हो जावे अर्थात् प्रमादी बनजावे तो कर्मकी गुरुतासे उसकी प्रवृत्ति विपरीत ही अर्थात् मन वचन कायकर सहितही हो जाती है ।

भावार्थः—निश्चयनयसे मुनियोंकी प्रवृत्ति मन वचन कायकी प्रवृत्तिकर रहित है किन्तु जिससमय वे प्रमादी बनजाते हैं उससमय प्रमादके द्वारा उनकी आत्मामें कर्मोंका आगमन होता है तथा पीछे कर्मोंका बंध होता है उससमय कर्मके संबंधसे उनकी प्रवृत्ति मनवचनकायकर सहितही होती है ॥ ३२ ॥

सत्समाधिशशलाञ्छनोदयादुल्लसत्यमलबोधवारिधिः

योगिनोऽणुसदृशं विभाव्यते यत्र मग्नमखिलं चराचरम् ॥

अर्थः—जिनयोगियोंके निर्मलज्ञानमें चर अचर समस्तजगत परमाणुके समान मालूम पड़ता है ऐसा वह योगियोंका ज्ञानरूपीसमुद्र श्रेष्ठसमाधिरूपचन्द्रमाके उदयसे वृद्धिको प्राप्त होता है ।

भावार्थः—जिसप्रकार चन्द्रमाके उदयसे समुद्र वृद्धिको प्राप्त होता है उसीप्रकार समाधिसे निर्मलज्ञान की वृद्धि होती जाती है तथा उसज्ञानमें समस्तजगत बड़ा भी परमाणुके समान छोटा मालूम पड़ता है अर्थात् अनंत भी जगत उसज्ञानमें परमाणुके समान ही है ॥ ३३ ॥

कर्मशुष्कतृणराशिरुन्नतोऽप्युद्गते शुचिसमाधिमारुतात्

भेदबोधदहने हृदिस्थिते योगिनोझटिति भस्मसाद्भवेत् ॥

अर्थः—पवित्र समाधिरूपीपवनसे उदयको प्राप्त, ऐसे भेदज्ञानरूपीअग्निके, योगीके हृदयमें स्थित होने पर प्रबल भी कर्मरूपी सूखेतृणोंका समूह शीघ्रही भस्मीभूत हो जाता है ।

भावार्थ—जिसप्रकार सूखेतृणोंमें पड़ीहुई थोड़ीसी भी चिनगारी (अग्निका फुलिंगा) जिससमय पवनकी सहायतासे बढ़जाती है उससमय बहुत भी तृणोंके समूहको पलभरमें भस्म करदेती है उसीप्रकार जिससमय मुनियोंके मनमें (मेरी आत्मा भिन्न है और ये स्त्री पुत्र मित्र आदिपदार्थ भिन्न हैं ऐसा) स्वपरका भेदविज्ञान समाधिरूपीपवनसे उदयको प्राप्त हो जाता है उससमय जितने कर्मोंका आत्माके साथ संबंध मोजूद है वे समस्त कर्म पलभर में नष्ट हो जाते हैं इसलिये जिनमुनियोंको अपनी आत्मासे कर्मोंके जुदेकरनेकी अभिलाषा है उन को चाहिये कि वे निर्मलसमाधिसे भेदज्ञानको उदितकरैं जिससे उनके समस्तकर्म आत्मासे शीघ्र जुदे होजावें॥३४॥

अब आचार्य इसबातको बताते हैं कि समाधिरूपीकल्पवृक्ष मुनियोंको वांछितफलका देनेवाला है ॥

चित्तमत्तकरिणा न चेद्धतो दुष्टबोधवनवन्हिनाथवा
योगकल्पतरुरेष निश्चितं वाञ्छितं फलति मोक्षसत्फलम् ॥

अर्थः—यदि यह समाधिरूपी कल्पवृक्ष मनरूपीमतवाले हाथीसे नष्ट न कियाजाय और दुष्टज्ञान (मिथ्याज्ञान) रूपी वनाग्निसे भस्म न कियाजाय तो वह अवश्य ही वांछित मोक्षरूपी श्रेष्ठफलको देता है ।

भावार्थः—जिसप्रकार बनमें खड़ेहुए कल्पवृक्षको यदि मत्तहाथी नष्ट न करै अथवा बनकी अग्नि भस्म न करै तो वह अवश्यही उत्तम तथा मिष्टफलको देता है उसीप्रकार यह समाधि भी यदि खोटे विषयोंमें प्रवृत्त मनसे नष्ट न होवे और मिथ्याज्ञानपूर्वक न कीजाय तो अवश्यही मोक्षके देनेवाली होती है इसलिये जो मुनि

मोक्षरूपी उत्तमफलके इच्छुक हैं उनको चाहिये कि वे मनको अपने वशमें रक्खे और सम्यग्ज्ञानपूर्वक ही समाधिका आचरण करै अन्यथा उनको उत्तमफलकी प्राप्ति नहीं होगी ॥ ३५ ॥

जबतक मनमें परमात्माका ज्ञान नहीं होता है तभीतक बुद्धि शास्त्रोंमे भटकती फिरती है इसबातको आचार्य समझाते हैं ।

तावदेव मतिवाहिनी सदा धावति श्रुतगता पुरः पुरः
यावदत्र परमात्मसंविदा भिद्यते न हृदयं मनीषिणः ॥

अर्थः—आचार्य कहते हैं कि जबतक चित्त परमात्माके ज्ञानसे भेदको प्राप्त नहीं होता है तभीतक बुद्धिमानपुरुषकी बुद्धिरूपीनदी सदा शास्त्रोंमें आगे २ दौड़ती चली जाती है ।

भावार्थः—बुद्धिमानपुरुष शास्त्रका स्वाध्याय इसीलिये करते हैं कि किसीरीतिसे परमात्माका ज्ञान प्राप्त होवे किन्तु जिससमय चित्त परमात्माके ज्ञानसे भिन्न हो जाता है अर्थात् जिससमय मनमें परमात्माका ज्ञान हो जाता है उससमय बुद्धिमानकी बुद्धि शास्त्रकी ओर नहीं जाती है ॥ ३६ ॥

संसारमें चैतन्यरूपी दीपकही देदीप्यमान है इसबातको आचार्य दिखाते हैं ॥

यः कषायपवनैरचुम्बितो बोधवन्हिरमलोल्लसद्दशः
किं न मोहतिमिरं विखण्डयन् भासते जगति चित्प्रदीपकः ॥

अर्थः—जिस चैतन्यरूपी दीपकका पवनने स्पर्श नहीं किया है और जिसमें सम्यग्ज्ञानरूपी अग्नि मौजूद है तथा जिसकी दशा निर्मल और देदीप्यमान है ऐसा चैतन्यरूपी दीपक मोहरूपी अंधकारको नाश करता हुआ क्या जगतमें प्रकाशमान नहीं है ? अवश्यही है ।

भावार्थः—जो दीपक पवनद्वारा स्पृष्ट नहीं है अर्थात् जिसका पवनने स्पर्श नहीं किया है और जिसमें अग्नि मौजूद है तथा जिसमें बत्ती उत्तम है ऐसा दीपक जिसप्रकार अंधकारको नाश करता है और प्रकाशमान रहता है उसीप्रकार जिस चैतन्यके साथ क्रोधादि कषायोंका संबंध नहीं है और जिसमें सम्यग्ज्ञान मौजूद है तथा जिसकी स्थिति निर्मल और देदीप्यमान है ऐसा चैतन्य अवश्यही मोहको नाशकर संसारमें प्रकाशमान रहता है ॥ ३७ ॥

जो बुद्धि आत्मस्वरूपसे भिन्न बाह्यपदार्थोंमें भ्रमण करती है वह बुद्धि उत्तमबुद्धि नहीं इसबातको आचार्य समझाते हैं ॥

बाह्यशास्त्रगहने विहारिणी या मतिर्बहुविकल्पधारिणी
चित्स्वरूपकुलसद्मनिर्गता सा सती न सदृशी कुयोषिता ॥

अर्थः—जो बुद्धि अपने चैतन्यरूपी जो कुलगृह उससे निकली हुई है अतएव जो बाह्य शास्त्ररूपी बनमें विहार करनेवाली है । और अनेकप्रकारके विकल्पोंको धारण करनेवाली है ऐसी वह बुद्धि उत्तम बुद्धि नहीं किन्तु कुलटा स्त्रीके समान निकृष्ट है ।

भावार्थः—जिसप्रकार अपने घरसे निकलकर बाह्यवनोंमें भ्रमण करनेवाली और अनेकप्रकारके संकल्प विकल्पोंको धारण करनेवाली स्त्री कुलटा समझी जाती है और निकृष्ट समझी जाती है उसीप्रकार जो बुद्धि अपने चैतन्यरूपी मन्दिरसे निकलकर बाह्यशास्त्रोंमें विहार करनेवाली हैं और अनेक विकल्पोंको धारण करने वाली है अर्थात् स्थिर नहीं है ऐसी बुद्धि उत्तम बुद्धि नहीं समझी जाती इसलिये अपनी आत्माके हितके अभिलाषियोंको चाहिये कि वे अपने आत्माके स्वरूपसे भिन्न पदार्थोंमें अपनी बुद्धिको भ्रमण न करने देवें और स्थिर रक्खें उसीसमय उनकी बुद्धि उत्तम बुद्धि हो सक्ती है ॥ ३८ ॥

हेय और उपादेय दोनोंप्रकारके पदार्थोंमें जो भव्यजीव हेयको छोड़कर उपादेयको ग्रहण करता है वही मोक्षको जाता है इसबातको आचार्य दिखलाते हैं ॥

यस्तुहेयमितरञ्च भावयन्नाद्यतो हि परमाप्तुमीहते
तस्य बुद्धिरुपदेशतोगुरोराश्रयेत्स्वपदमेव निश्चलम् ॥

अर्थः—जो भव्यजीव हेय तथा उपादेयपदार्थोंका रातदिन चिंतवन करता है और उनदोनोंमें त्यागने योग्य पदार्थोंको त्यागकरता है उस भव्यजीवकी बुद्धि उत्तमगुरुके उपदेशसे चैतन्यरूपी जो अविनाशी स्थिरपद है उसको प्राप्त होती है इसमें किसीप्रकारका संशय नहीं ॥

भावार्थः—संसारमें भव्यजीवोंको त्यागनेयोग्यपदार्थतो स्त्रीपुत्र धन धान्य आदिक पादार्थ हैं और ग्रहणकरने योग्य चैतन्य स्वरूप है इसप्रकारका विचारकर जो भव्यजीव स्त्री पुत्र धन धान्य आदिक त्यागने योग्य पदार्थोंको त्यागकरता है उसमनुष्यकी बुद्धि अवश्यही निर्लोभीउत्तमगुरुओंके उपदेशसे नहीं चलायमान तथा अविनाशी, चैतन्यस्वरूपको प्राप्त होती है इसलिये निश्चलचैतन्यस्वरूपके अभिलाषी भव्यजीवोंको अवश्यही हेय पदार्थोंका त्यागकरदेना चाहिये ॥ ३९ ॥

जो मनुष्य मोहनिद्रामें मग्न है उसमनुष्यको बाह्यपदार्थभी स्वस्वरूपही मालूम पड़ते हैं इसबातको आचार्यवर दिखाते हैं।

सुप्त एव बहुमोहनिद्रया लंघितः स्वमवलादि पश्यति ।
जाग्रतोच्चवचसा गुरोर्गतं संगतं सकलमेव दृश्यते ॥ ४० ॥

अर्थः—गाढ़ मोहरूपीनिद्राने जिसके ऊपर अपना प्रभावडाल रक्खा है अतएव जो मोहरूपी नींदमें

सुप्त एतदिह यहभी क पुस्तकमें पाठ है।

मग्न है वह मनुष्य अपनेसे भिन्नभी स्त्री पुत्र आदिको अपना मानता है किन्तु जो मनुष्य जगरहा है उस-मनुष्यको तो समस्तजगत उत्तमगुरूके उपदेशसे संयुक्तमात्र क्षणभंगुरही मालूम पड़ता है ।

भावार्थः—जबतक जीव मोहनिद्रामें सोते रहते हैं तबतक उनको अपना पराया कुछभी भेद नहीं मालूम पड़ता इसीलिये वे जीव अपनेसे सर्वथा भिन्नभी स्त्री पुत्र धन धान्य आदिपदार्थोंको अपने स्वरूपही समझते हैं किन्तु जिससमय वे मोहनिद्रामें मग्न नहीं रहते उससमय उनकी दृष्टिके सामने गुरूके उपदेशसे समस्तजगत् क्षणभंगुर मालूम पड़ता है अतएव वे अपनेसे भिन्न किसी पदार्थमें रत नहीं होते ॥४०॥

निर्मल समाधिकी सिद्धिकेलिये बुद्धिमानपुरुषोंको सर्वपदार्थोंमें समताही
धारणकरनीचाहिये इसबातको आचार्य दिखाते हैं ।

जल्पितेन बहुना किमाश्रयेद् बुद्धिमानमलयोगसिद्धये ।
साम्यमेव सकलैरुपाधिभिः कर्मजालजनितैर्विवर्जितम् ॥ ४१ ॥

अर्थः—आचार्यवर कहते हैं कि बहुत कहांतक कहाजावे जो पुरुष बुद्धिमान हैं अर्थात् जिन पुरुषोंको इसबातका भलीभांति ज्ञान है कि यह पदार्थ त्यागने योग्य है और यह पदार्थ ग्रहणकरने योग्य है उनको चाहिये कि वे निर्मल योगकी सिद्धिकेलिये नानाप्रकारके कर्मोंसे पैदा हुई जो नानाप्रकारकी उपाधियां उनसे सर्वथा रहित साम्यभावका आश्रयकरैं ।

भावार्थः—जबतक पदार्थोंमें समता नहीं होती तबतक कदापि चित्तकी एकाग्रताके न होनेसे निर्मल योगकी प्राप्तिभी नहीं होसक्ती इसलिये आचार्यवर उपदेश देते हैं कि अधिक कहनेसे क्या ? जिन मनुष्योंको निर्मलयोगके प्राप्तकरनेकी अभिलाषा है उनको चाहिये कि वे समस्तप्रकारके कर्मोंसे उत्पन्न हुई उपाधियोंसे

सर्वथा रहित साम्यभावका ही अवलम्बन करै जहांतहां व्यर्थ भटकते न फिरैं ॥ ४१ ॥

आचार्यवर परमात्माके नाममात्रके लेनेसेही क्यालाभ होता है इसवातको वतलाते हैं।

नाममात्रकथया परात्मनः भूरिजन्मकृतपापसंक्षयः।
बोधवृत्तरुचयस्तु तद्गताः कुर्वते हि जगतां पतिं नरम् ॥ ४२ ॥

अर्थः—परमात्माके नाममात्रके कथनसेही अनेकजन्मोंमें संचय कियाहुवा पापोंका समूह पलभरमें नष्ट होजाता है और उसआत्मामे विद्यमान जो सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र रूपी रत्नत्रय है वहतो मनुष्यको जगतका पतीही वनादेता है अर्थात् परमात्मपदको प्राप्त करादेता है।

भावार्थः—उस आत्माकी सिद्धिकेलिये प्रयत्न करना तो दूररहो किन्तु जो भव्यजीव उस परमात्माका केवल नामभी लेताहै उस मनुष्यके जन्म जन्मके पापोंके समूह पलभरमें नष्ट होजाते हैं और उस आत्मामें विद्यमान जो सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक् चारित्र हैं वेतो इसको परमात्माही वनादेते हैं अर्थात् सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्रकी और लक्ष्यदेनेसे तो मनुष्य साक्षात् तीनलोकका पति (सिद्ध) होजाता है इसलिये जो मनुष्य जन्मजन्मके पापोंके नाशकरनेकी इच्छा करनेवाले हैं तथा तीनोंलोकके पति होना चाहते हैं उनको चाहिये कि वे अवश्य परमात्माका नामलेवे और सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक् चारित्रकी और लक्ष्य देवे॥४२॥

जो मनुष्य चैतन्यस्वरूपआत्मामें लीनहै वह समस्तयोगियोंमें उत्तम हैं इसवातको आचार्य कहते हैं।

चित्स्वरूपपदलीनमानसो यः सदा स किल योगिनायकः।
जीवराशिरखिलश्चिदात्मको दर्शनीय इतिचात्मसन्निभः ॥ ४३ ॥

अर्थः—जिसयोगीका चित्त चैतन्यरूपजो मोक्षपद उसमें लगाहुवा है वही योगी समस्त यो-

गियोंमें उत्तम योगी है अर्थात् योगियोंका ईश्वर है और वही योगीश्वर समस्त चैतन्य स्वरूप प्राणियोंको अपने समान देखता है ।

भावार्थः—यों तो वेषधारी वहुतसे योगी संसारमें देखनेमें आते हैं किन्तु वास्तविक योगी (योगियोका ईश्वर) वही योगी है जिसका चित्त संसारिक सुखोंसे सर्वथा विरक्त है और चैतन्यस्वरूप उत्तमपद मोक्षपदमें लगाहुवा है तथा वही मनुष्य समस्तप्राणियोंको अपने समान देखता है अन्ययोगी नहीं ॥ ४३ ॥

अव आचार्य इसवातको दिखाते हैं कि जितनेभर संसारमें जीव मोजूद हैं उनसवको
अपने समान ही देखना चाहिये तभी कार्यसिद्धि होती है ।

अंतरङ्गवहिरङ्गयोगतः कार्यसिद्धिरखिलेति योगिना ।
आसितव्यमनिशं प्रयत्नतः स्वं परं सदृशमेव पश्यता ॥ ४४ ॥

अर्थः—समस्तप्रकारके कार्योंकी सिद्धि अंतरंग तथा वहिरंग योगसे होती है इसलिये जो योगी आपको तथा परको समान देखनेवाला है उसको वड़ेभारी प्रयत्नसे रहना चाहिये ।

भावार्थः—यह लोक एकेन्द्रीजीवोंसे पञ्चेन्द्रीजीवपर्यंत सवजगह घीके घड़ेके समान भराहुवा है उनसवजीवों को जो मनुष्य अपने समान मानता है उसीको समस्तकार्योंकी सिद्धि होती है किन्तु जो मनुष्य अपनेसे छोटेजीवोंको तुच्छ समझता है इसीलिये उनके मारनेमेंभी नहीं डरता है उस मनुष्यको कदापि किसी उत्तमकार्यकी सिद्धि नहीं होती इसलिये उत्तमकार्योंकी सिद्धिके अभिलाषी भव्यजीवोंको, आपको और परको समानही देखना मानाना चाहिये ॥ ४४ ॥

ख, पुस्तकमें आशितव्यम् यह भी पाठ है ॥

योगियोंका हृदय संसारके चरित्रोंको देखकर कदापि विकारभावको नहीं प्राप्त होता इस वातको आचार्य दिखातेहैं।

लोक एष बहुभावभावितः स्वार्जितेन विविधेन कर्मणा ।
पश्यतोऽस्य विकृतिर्जडात्मनः क्षोभमेति हृदयं न योगिनः ॥ ४५ ॥

अर्थः—अपने आप पैदा कियेहुवे जो नानाप्रकारके कर्म उनसे यह लोक अनेक भावोंकर सहित है इसलिये इसजड़स्वरूप संसारको देखते हुवेभी योगीका मन कदापि क्षोभको प्राप्त नहीं होता ।

भावार्थः—जिसयोगीको भलीभांति आत्माका ज्ञान होगया है और जिसकी इच्छा मोक्षस्थानमें निवास करनेकी है उसयोगीके मनमें इसलोकके देखनेसे अंशमात्रभी क्षोभनहीं होता क्योंकि अपनेद्वारा उपार्जनकिये कर्मोंसे यहलोक नानापरिणाममय होता है यह इसलोकका स्वभावही है इसबातको वह योगी भलीभांति समझताहै

अब आचार्य लोकके उद्धारका उपाय वताते हैं ।

सुप्तएव बहुमोहनिद्रया दीर्घकालमविरामया जनः ।
शास्त्रमेतदधिगम्य साम्प्रतं सुप्रबोध इह जायतामिति ॥ ४६ ॥

अर्थः—जिसका अंत नहीं है ऐसी जो गाढ़ मोहरूपीनिद्रा उससे यह लोक चिरकालसे सोयाहुआ है अब इसशास्त्रको जानकर जाग्रतदशाको प्राप्त हों ।

भावार्थः—अनादिकाल वीतगया यहलोक मोहरूपी गाढ़ निद्रामें सोयाहुवा है इसलिये इसको इस बातका भी ज्ञान नहीं कि कौनसी वस्तु तो मुझे ग्रहणकरनेयोग्य है और कौनसी वस्तु मुझे छोड़ने योग्य है इसलिये आचार्य उपदेश देते हैं कि अब हुवा सो तो हुआ किन्तु आगेकेलिये शास्त्रके अभिप्रायको भली-भांति जानकर तो जाग्रत अवस्थाको प्राप्त हो जिससे तुमको उत्तमसुखमिले नहीं तो अनादिकालतक तुमको

संसारमें ही रुलना पड़ेगा ॥ ४६ ॥

चित्स्वरूपगगने जयत्यसावेकदेशविषमापि रम्यता ।
ईषदुद्गतवचःकरैः परैः पद्मनन्दिवदनेन्दुना कृता ॥ ४७ ॥

अर्थः—पद्मनन्दिमुनिका जो मुख वही हुआ चंद्रमा उससे कुछ उदयको प्राप्त ऐसी जो वचनरूपी उत्कृष्ट किरण उनसे की गई, और स्वसंवेदन प्रत्यक्षके गोचर ऐसी यह रम्यता चैतन्यस्वरूपी आकाशमें चिरकालतक जयवंत प्रवर्तो ॥

भावार्थः—जिसप्रकार चंद्रमाकी किरणोंसे की हुई रम्यता आकाशमें रहती है उसीप्रकार पद्मनन्दि आचार्यके मुखसे निकले हुवे वचनोंसे की हुई यह रम्यता भी सदा सबजगहपर चिरकालतक जयवंत प्रवर्तो।

अब आचार्य इसबातको दिखाते हैं कि यदि मोहवैरी विघ्नकरनेवाला संसारमें न होता तो मोक्षकी प्राप्ति अत्यंत सुलभ हो जाती ।

शार्दूलविक्रीडित ।

त्यक्ताशेषपरिग्रहः शमधनो गुप्तित्रयालंकृतः शुद्धात्मानमुपाश्रितो भवति यो योगी निराशस्ततः।
मोक्षो हस्तगतोऽस्य निर्मलमतेरेतावतैव ध्रुवं प्रत्यूहं कुरुते स्वभावविषमो मोहो न वैरी यदि ॥४८॥

अर्थः—जिसने बाह्य तथा अभ्यंतरके भेदसे समस्त परिग्रहोंका नाश करदिया है और जिसके शान्तिही धन है तथा मनोगुप्ति वचनगुप्ति और कायगुप्ति इनतीन प्रकारकी गुप्तियोंसे जो शोभित है और जिसको शुद्धात्माकी प्राप्ति होगई है और जो निराश है अर्थात् जिसकी किसीभी पदार्थमें अंशमात्रभी इच्छा नहीं रही है ऐसा योगी होता है इसीलिये निर्मल है बुद्धि जिसकी ऐसे उसयोगीके यदि स्वभावसे ही कुटिल मोहरूपी

वैरी उसमोक्षकी प्राप्तिमें विघ्न न करता तो परिग्रह आदिके रहितपने आदिकारणोंसेही मोक्ष निश्चयसे हस्तगत होजाती अर्थात् उसकी प्राप्ति बहुत शीघ्र होजाती ।

भावार्थः—मोक्षकी प्राप्तिमें अन्यान्य सामिग्रीके होतेसन्तेभी यदि स्वभावसे ही कुटिल ऐसा मोह विघ्न करनेवाला होवे तो कदापि मोक्षकी प्राप्ति नहीं होसक्ती इसलिये जो मनुष्य मोक्षके अभिलाषी हैं उनको सबसे पहिले मोहरूपी प्रवल वैरीको जीतलेना चाहिये क्योंकि यही मोक्षकी प्राप्तिमें विघ्नका करनेवाला है और जबतक यह मोजूद रहना है तवतक मोक्षकी प्राप्तिमें दूसरे २ कारण व्यर्थ ही है ॥ ४८ ॥

त्रैलोक्ये किमिहास्ति कोपि स सुरः किंवा नरः किंफणी यस्माद्भीर्मम यामि कातरतया यस्याश्रयं चापदि।
उक्तं यत्परमेश्वरेण गुरुणा निश्शेषवाञ्छाभयभ्रान्तिक्लेशहरं हृदि स्फुरति चेच्चित्तत्वमत्यद्भुतम् ॥४९॥

अर्थः—जो चैतन्यतत्व समस्तप्रकारके अभिलाषा भय भ्रम तथा दुःखोंका दूरकरनेवाला है और अत्यंत आश्चर्यका करनेवाला है ऐसा चैतन्यरूपीतत्व परमईश्वर श्रीगुरुद्वारा कहागया यदि मेरे हृदयमें स्फुरायमान है मोजूद है तो तीनोंलोकमें न तो कोई ऐसा देव है जिससे मुझे भय होवे और न कोई ऐसा पुरुष तथा सर्प ही है जिससे मैं डरूं और कातर होकर आपत्तिमें किसीके सहारे जाऊं ।

भावार्थः—जबतक मनुष्यको चैतन्यस्वरूपका भलीभांति ज्ञान नहीं होता तथा जब तक किसी पदार्थकी अभिलाषा रहती है और भय तथा भ्रम और दुःख होते हैं तव मनुष्य एकदम कातर होकर उस इच्छाकी पूर्तिके लिये तथा भय भ्रम दुःखोंके दूरकरनेकेलिये जहांतहां देवी देवआदिकोंकी सेवाकेलिये भटकता फिरता है और उससे कुछ फलभी नहीं निकलता किन्तु मेरे हृदयमें तो श्रीगुरुमहाराजके उपदेशसे वह चैतन्य तत्व स्फुरायमान है जो चैतन्यस्वरूप तत्व समस्तप्रकारकी इच्छाओंका पूरण करनेवाला है और जिस-

की कृपासे भय भ्रम दुःख मेरे पास तकभी नहीं फटकने पाते फिर मुझे क्या आवश्यकता है जो मैं जहांतहां भटकूं और इच्छाकी पूर्तिकेलिये तथा भय भ्रम दुःख आदिके दूरकरनेकेलिये किसी देवी देवकी सेवा करूं ऐसा "जिसमनुष्यको चैतन्य स्वरूपका ज्ञान होगया है वह" सदा विचार करता रहता है ॥ ४९ ॥

अव आचार्यवर श्रेष्ठज्ञानकी महिमाको गातेहुवे सद्बोधचन्द्रोदयनामक अधिकारको समाप्त करते हैं ।

तत्वज्ञानसुधार्णवं लहरिभिर्दूरं समुल्लासयन् तृष्णापत्रविचित्रचित्तकमले संकोचमुद्रां दधत् ।
सद्विद्याश्रितभव्यकैरवकुले कुर्वन् विकारश्रियं योगीन्द्रोदयभूधरे विजयते सद्बोधचन्द्रोदयः ॥५०॥

अर्थः—वह श्रेष्ठज्ञानरूपी चंद्रमा अथवा "सद्बोधचन्द्रोदयनामक अधिकार" इससंसारमें योगियोंके जो इन्द्र अर्थात् बड़े २ योगी वेही हुवे उदयाचल उनमें सदा जयवंत है जो सद्बोधचन्द्रोदय, तत्वज्ञान-रूपी जो अमृतसमुद्र उमको कल्लोलोंसे दूरतक उछालने वाला है औ तृष्णारूपीही हैं पत्र जिसमें ऐसे जो नानाप्रकारके चित्तरूपी कमल उनको संकुचित करनेवाला है तथा श्रेष्ठज्ञानका आधारभुत जो भव्यजीवरूपी "कैरवकुल" अर्थात् रात्रिविकामी कमलोंका समूह उसका विकास करनेवाला है ।

भावार्थः—जिसप्रकार उदयाचलमें चंद्रमाका उदय होता है उससमय समुद्र अपनी लहरोंको दूरतक उछालता हुवा वढ़ता चलाजाता है और सूर्यविकासी कमल संकुचित होजाते हैं तथा रात्रिविकासी कमल विकसित होजाते हैं उसीप्रकार जिससमय योगीश्वरोंकी आत्मामें श्रेष्ठज्ञानका उदय होता है अर्थात् जिस समय उनकी आत्मा सम्यग्ज्ञानको धारण करती है उससमय निरंतर उनयोगियोंका तत्वज्ञान बढताही चला-जाता है और चित्तमें जो कुछ किसीवस्तुकी तृष्णा रहती है वहसब नष्ट होजीती है और भव्यजीवोंके मनको अत्यंत प्रसन्नता होजाती है अर्थात् उनश्रेष्टज्ञानकेधारी योगीश्वरोंसे वास्तविकसुखके मार्गके सुननेसे भव्य-

जीवोंके चित्तको बड़ा भारी संतोष होता है ऐसा वह सम्यग्ज्ञानरूपी चन्द्रमाका उदय चिरकालतक इससंसारमें जयवंत रहता है ॥ ५० ॥

इसप्रकार श्रीपद्मनन्दिआचार्यद्वारा रचित इसपद्मनन्दिपञ्चविंशतिकामें

सद्बोधचन्द्रोदयनामक अधिकार समाप्त हुआ ॥

निश्चयपञ्चाशत् ।

आर्या ।

दुर्लक्ष्यं जगति परं ज्योतिर्वाचां गणः कवीन्द्राणाम् ।
जलमिव वज्रे यस्मिन्नलब्धमध्यो बहिर्लुठति ॥ १ ॥

अर्थः—जिसप्रकार जल हीरानामकरत्नके अंदर प्रवेश नहीं करता है और बाहिरीभागमेंही रहा आता है उसीप्रकार जिसचैतन्यस्वरूपज्योतिमें बड़े २ कवियोंकी बाणी भी प्रवेश नहीं करसक्ती बाहिरीभागमें ही रहजाती है ऐसा वह चैतन्यस्वरूपीतेज संसारमें दुर्लक्ष्य है अर्थात् जिसको बड़ी कठिनाईसे भी नहीं देख सक्ते

भावार्थः—जो बस्तु दृष्टिके गोचरहोवै अर्थात् जिसको देख सकैं उसको तो कविलोग वचनसे कहसक्ते हैं उसका वर्णन करसक्ते हैं किन्तु चैतन्यस्वरूपतेज संसारमें इतना दुर्लक्ष्य है कि जिसप्रकार जल हीराके मध्यभागमें प्रवेश नहीं करसक्ता है बाहिरीभागमें ही रहजाता है उसीप्रकार कवियोंकी बाणी भी उसके अंतरंगमें प्रवेशकर उसकावर्णन नहीं करसक्तीं किन्तु बाहिरमें ही लडखडाती रहजाती हैं ॥ १ ॥

मनसोऽचिन्त्यं वाचामगोचरं यन्महस्तनोर्भिन्नम् ।
स्वानुभवमात्रगम्यं चिद्रूपममूर्तमव्याद्वः ॥ २ ॥

अर्थः—जिस चैतन्यरूपीतेजका मनसे चिंतवन नहीं करसक्ते हैं और वाणीसे भी वर्णन नहीं करसक्ते हैं और जो शरीरसे सर्वथा भिन्न है और केवल स्वानुभवसे ही जानाजाता है ऐसा वह चैतन्यरूपीतेज आपलोगोंकी रक्षा करै ॥

वपुरादिपरित्यक्ते[1] मज्जत्यानंदसागरे मनसि ।
प्रतिभाति यत्तदेकं जयति परं चिन्मयं ज्योतिः ॥ ३ ॥

अर्थः—शरीर धन धान्य आदिसे रहित होनेपर जिससमय चित्त आनन्दसागरमें डूबता है उससमय जो तेज मालूम पडता है वह एक, तथा चैतन्यस्वरूपी उत्कृष्ट ज्योति इससंसारमें जयवंत है ॥

भावार्थः—जबतक प्राणियोंकी, यह शरीर मेरा है, यह स्त्री मेरी है, तथा ये पुत्र धन धान्य आदिक मेरे हैं, इसप्रकारकी शरीर, स्त्री, पुत्र, धन, धान्य, आदि पदार्थोंमें ममता लगी रहती है तबतक किसीको भी उसउत्कृष्ट चैतन्यस्वरूपी तेजका अनुभव नहीं होसक्ता किन्तु जिससमय शरीर आदिसे ममता छूटजाती है और मन आनंद सागरमें गोता मारता है उससमय जो तेज अनुभवमें आता है वही चैतन्य स्वरूप उत्कृष्टतेज है तथा वह तेज सदा इसलोकमें जयवंत है ॥ ३ ॥

अब आचार्य सद्गुरूको नमस्कार करते हैं ।

स जयति गुरुर्गरीयान् यस्यामलवचनरश्मिभिर्झटिति ।
नश्यति तन्मोहतमो यदविषयो दिनकरादीनाम् ॥ ४ ॥

[1] एक पुस्तकमें "परेत्यक्ते" यह भी पाठ है उसका अर्थ यह है कि शरीर आदिके जो पर हैं उनके त्याग होने पर—

अर्थः—जिनगुरुओंके निर्मलवचनरूपी किरणोंसे जिसको सूर्य चन्द्र आदिकभी नाश नहीं करसक्ते ऐसा प्रवल मोहरूपी अंधकार वातकी बातमें नष्टहोजाता है ऐसे वे उत्तम गुरू सदा इसलोकमें जयवंत हैं अर्थात् ऐसे गुरुओंको मैं नमस्कार करता हूँ ।

भावार्थः—यों तो संसारमें वेषधारी वहुतसे गुरू मोजूद हैं और अपनेको जगद्गुरूके नामसे पुकारनेका प्रयत्न भी करते हैं किन्तु वे वनावटी गुरू सच्चे गुरू नहीं होसक्ते क्योंकि गुरुशद्बका अर्थ ही यह है जो मोहान्धकारको दूरकरनेवाला हो इसलिये जो अपने वचनोंसे मोहांधकारको दूरकरनेवाले हैं वास्तवमें वेही गुरू हैं और उन्हीं गुरुओंको मैं नमस्कार करता हूं ॥४॥

मोक्ष दुःसाध्य है इसवातको आचार्य दिखाते हैं ।

अस्तां जरादिदुःखं सुखमपि विषयोद्भवं सतां दुःखम् ।
तन्मन्यते सुखं यत्तन्मुक्तौ सा च दुःसाध्या ॥५॥

अर्थः—संसारमें जो जीवोंको जरा मरण आदिक दुःख होते हैं वे तो दुःखही हैं इसलिये वे तो दूरही रहो परन्तु विषयोंसे उत्पन्न हुवे सुखकोजो जीव सुखमानते हैं वह भी सुखनहीं हैं दुःखही हैं किन्तु वास्तविक सुखतो मोक्षमें ही है और वह मोक्ष अत्यंत दुःखसाध्य है ॥

भावार्थः—जरा मरण आदिके दुःखको तो सर्वमनुष्य दुःखही कहते हैं इसलिये वे तो दुःख हैं ही किन्तु वहुतसे अज्ञानीजीव इन्द्रियोंसे उत्पन्नहुवे सुखको भी सुख कहते हैं सो उसको सुख कहना ठीक नहीं वह सुख नहीं दुःखही है किन्तु यदि वास्तविक सुख है तो मोक्षमें ही है और वह मोक्ष अत्यंत दुःखसे साध्य है ॥५॥

विषयादिक सुखतो सुलभ है किन्तु मोक्षकेलिये शुद्धात्माकी प्राप्ति सुलभ नहीं है इसवातको आचार्य दिखाते हैं ।

श्रुतपरिचितानुभूतं सर्वं सर्वस्य जन्मने सुचिरम् ।
न तु मुक्तयेऽत्र सुलभा शुद्धात्मज्योतिरुपलब्धिः ॥ ६ ॥

अर्थः—जिनको चिरकालसे सुना है और जिनका परिचय तथा अनुभव किया है ऐसे समस्त काम क्रोध भोग विकथा आदिक सर्वप्राणियोंके जन्मकेलिये है अर्थात् उनकी प्राप्ति सबको सुलभरीतिसे हो सक्ती है किन्तु मुक्तिकेलिये शुद्ध जो आत्मज्योतिः उसकी प्राप्ति अत्यत दुर्लभ है ॥

भावार्थः—काम क्रोध भोग विकथा आदिक पदार्थतो अनादिकालसे प्रत्येक जन्ममें सुनेगये हैं तथा उनका परिचय और अनुभव कियागया है इसलिये उनकी प्राप्ति तो संसारमें अत्यंत सुलभ है अर्थात् उद्बोधक कारण पाकरही वे तो बहुत शीघ्र प्रकट होजाते हैं किन्तु मुक्तिकेलिये शुद्ध आत्माकी प्राप्ति अत्यंत दुर्लभ है अर्थात् इसकी प्राप्ति जल्दी नहीं होसक्ती क्योंकि किसी जन्ममें इसको भलीभांति सुना भी नहीं है और न इसका परिचय तथा अनुभव किया है इसलिये मोक्षाभिलाषियोंको शुद्ध आत्मज्योतिकी प्राप्तिकेलिये अवश्य प्रयत्न करना चाहिये ॥

आत्माका अनुभवभी कठिन है इसवातको आचार्य दिखाते हैं ।

बोधोऽपि यत्र विरलो वृत्तिर्वाचामगोचरोवाढम् ।
अनुभूतिस्तत्र पुनर्दुर्लक्ष्यात्मनि परं गहनम् ॥ ७ ॥

अर्थः—और जिस आत्माका ज्ञानभी अत्यंत दुर्लभ है और जिसका वर्णनभी वाणीके अगोचर है अर्थात् वाणीसे जिसका वर्णन नहीं करसक्ते और जव उसका वाणीसे वर्णन ही नहीं करसक्ते तब उसका अनुभव तो अत्यंत ही दुर्लक्ष्य है इसलिये आचार्य कहते हैं कि आत्मज्योति अत्यंत गहन है ॥

भावार्थः—जो पदार्थ गहन नहीं होता है उसका ज्ञान तो करसक्ते हैं अर्थात् उसको जानसक्ते हैं और

जब उसको जानसक्ते हैं तब उसका वर्णन भी करसक्ते हैं तथा वर्णन करनेसे उसका अनुभव भी होसक्ता है किन्तु आत्मा तो अत्यंत गहन है इसलिये प्रथम तो उसको जानही नहीं सक्ते यदि किसीरीतिसे जानभी लेवे तो उसका वर्णन नहीं करसक्ते यदि कुछ उसकावर्णन भी करसके तो उसका अनुभव नहीं करसक्ते इसलिये आत्माका बोध वर्णन अनुभव सर्वही कठिन है ॥ ७ ॥

अब आचार्य इसबातको कहते हैं दोनों नयोंमें व्यवहारनय तो अज्ञानीजनोंको समझानेकेलिये है और शुद्धनय कर्मोंके नाशकेलिये है इसलिये शुद्धनयका कुछ वर्णन करता हूं ।

व्यवहृतिरबोधजनबोधनाय कर्मक्षयाय शुद्धनयः ।
स्वार्थं मुमुक्षुरहमिति वक्ष्ये तदाश्रित किंचित् ॥ ८ ॥

अर्थः—जीव अज्ञानी है उनके समझानेकेलिये तो व्यवहारनय है और शुद्धनय कर्मोंके नाशकेलिये है इसलिये आचार्य कहते हैं कि मोक्षका इच्छाकरनेवाला मैं अपनेलिये शुद्धनयका आश्रयकर कुछ कहता हूं अर्थात् शुद्धनयका वर्णन करता हूं ।

भावार्थः—यदि निश्चयनयसे अनुभव कियाजाय तो आत्मा एक अखंडपदार्थ है उसमें किसीप्रकारका भेद नहीं लेकिन जिनपुरुषोंके ज्ञानपर आवरण पड़ाहुवा है अर्थात् जो अज्ञानी हैं वे सहसा आत्माकेस्वरूपको नहीं जानसक्ते इसलिये सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान आदि आत्माके गुणोंको जुदा कर उनको आत्माका स्वरूप समझाया जाताहै और अखंडवस्तुको खंडरूपसे जानना यहविषय व्यवहार नयकाहै इसलिये व्यवहारनयतो मूर्खोंको समझानेकेलिये है किन्तु उसके आशयसे कर्मोंका नाश नहीं होसकता और शुद्धनयसे जो पदार्थ जैसाहै वह वैसाही समझाजाताहै इसलिये पदार्थके वास्तविकस्वरूपके समझानेके कारण शुद्धनय कर्मोंको

नाशकरने वालीहै अर्थात् मोक्षकी प्राप्तिमें कारण है इसलिये स्वयं मोक्षको जानेकी इच्छाकरनेवाले श्रीआचार्य कहतेहैं कि मैं अबइसग्रंथमें शुद्धनतका कुछ वर्णनकरताहूं ॥ ८ ॥

प्रथमही आचार्य इसबातको दिखातेहैं कि जो पुरुष निश्चयनयके अनुगामी हैं वे मोक्षको जातेहैं।

व्यवहारोऽभूतार्थो भूतार्थो देशितस्तु शुद्धनयः।
शुद्धनय आश्रिता ये प्राप्नुवन्ति यतयः पदं परमम् ॥ ९ ॥

अर्थः—व्यवहारनयतो असत्यार्थभूत कहागया है और शुद्धनय सत्यार्थभूत कहागया है और जो मुनि शुद्धनयको आश्रितहैं वे मुनि मोक्षपदको प्राप्तहोते हैं।

भावार्थः—अखंडपदार्थको खंडरीतिसे जानना यह जो व्यवहारनयका विषय है वह सत्यार्थभूत नहीं है इसलिये व्यवहारनयभी सत्यार्थभूत नहींहै अतः जो जीव इसनयका आश्रय करतेहैं उनको संसारमें ही रुलना पड़ताहै मोक्षको नहीं जाते किन्तु जो जीव शुद्धनिश्चयनयका आश्रय करते हैं उनको मोक्षपदकी प्राप्तिहोती है क्योंकि जोपदार्थ जैसाहै वह शुद्धनिश्चयनयसे उसीरीतिसे जानाजाताहै इसलिये जोजीव मोक्षके अभिलाषी हैं उनको शुद्धनिश्चयनयकाही आश्रय करनाचाहिते और यदि संसारमें भटकना हो तो उनको संसारके प्रधानकारण व्यवहारनयका अवलम्बन करनाचाहिये ॥ ९ ॥

व्यवहारनयसे तो तत्वका स्वरूप कुछ कहसकतेहैं किन्तु निश्चयनयसे तत्व अवाच्यहै इसबातको आचार्य बतलाते हैं।

तत्वं वागतिवर्ति व्यवहृतिमासाद्य जायते वाच्यम्।
गुणपर्ययादिविवृतेः प्रसरति तच्चापि शतशाखम् ॥ १० ॥

अर्थः—निश्चयनयसे तो तत्व वाणीके अगोचरहै अर्थात् वचनसे उसकेस्वरूपका वर्णन नहीं करसक्ते

किन्तु वही तत्व व्यवहारनयकी अपेक्षासे वाच्य है अर्थात् वचनसे उसको कुछ कहसक्ते हैं और पीछे वहतत्व गुणपर्याय आदिके विवरणसे सैकडों शाखास्वरूपमें परिणत होजाताहै ।

भावार्थः—जिसप्रकार एकभी वृक्ष शाखा प्रशाखाओंसे अनेकप्रकारका होजाताहै उसीप्रकार यद्यपि निश्चयनयसे आत्मा अवाच्य तथा एक है तोभी व्यवहारनयसे वह वाच्य अर्थात् वचनद्वारा वर्णन करनेयोग्य हैं तथा गुणपर्याय आदि भेदोंसे अनेकप्रकारका है ॥ १० ॥

व्यवहारनयभी हेय नहींहै किन्तु उपादेय और पूज्य है इसबातको आचार्य दिखातेहैं ।

"मुख्योपचारविवृतिव्यवहारोपायतो" यतः संतः ।
ज्ञात्वा श्रयन्ति शुद्धं तत्वमिति व्यवहृतिः पूज्या ॥ ११ ॥

अर्थः—मुख्य जो शुद्धनय उसमें उपचार से है विवरण जिसका ऐसा व्यवहारनय है उसकी सहायतासे सज्जनपुरुष शुद्धजो तत्व उसका अवलम्बन करते हैं इसलिये व्यवहारनयभी पूज्यही है ।

भावार्थः—यह भलीभाति अनुभव है किजन्मलेते ही जीव इतने बुद्धिमान नहीं होते जोकि विना प्रयास के ही वे असली तत्वको समझलेवे किन्तु उपदेशआदिके बलसे ही उनको असलीतत्व समझायाजाताहै और असली तत्वका जो स्वरूप है वह व्यवहारनयको अवलम्बन करके समझायाजाता है इसलिये असलीतत्वके आश्रयकरनेमें व्यवहारनयमी अवश्यकारण पडी अतः व्यवहारनय पूज्यही है किन्तु हेय नहीं ॥ ११ ॥

अव आचार्य निश्चयरत्नत्रय संसारका नाशक है इसबातको दिखाते हैं ।

१ क पुस्तक में मुख्योपचारविवृतिम् यहभी पाठ है तथा इसपाठ में, इस श्लोकका अभिप्राय यह है कि मुख्य जो शुद्धनय और उपचार जो व्यवहारनय इनदोनों के स्वरूपको व्यवहारनयकी सहायतासे जानकर भव्यजीव शुद्धतत्वका आश्रय करते हैं इसलिये व्यवहारनयभी पूज्यही है हेय नहीं है ।

आत्मनि निश्चयबोधस्थितयो रत्नत्रयं भवक्षतये ।
भूतार्थपथप्रस्थितबुद्धेरात्मैव तत्त्रितयम् ॥ १२ ॥

अर्थः—आत्मामें जो निश्चय बोध स्थितिरूप रत्नत्रय है अर्थात् मम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र-रूप रत्नत्रय है वह संसारके नाशकेलिये होती है और वह रत्नत्रय कोई जुदा पदार्थ नहीं है किन्तु जिन भव्यजीवोंकी बुद्धि भूतार्थमार्गमें स्थित है अर्थात् शुद्धनिश्चयनयको आश्रय करनेवाली है उन भव्यजीवोंकी आत्माही सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र स्वरूप जो रत्नत्रय उसरत्नत्रय स्वरूप है ।

भावार्थः—जो भव्यजीव सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक् चारित्र स्वरूप जो रत्नत्रय उसरत्नत्रयस्वरूप जो आत्मा उस आत्माका ध्यान करते हैं वे समस्त दुःखोंसे छूट जाते हैं और सीधे मुक्तिको जाते हैं इस-लिये मोक्षाभिलाषियोंको अवश्यही रत्नत्रयस्वरूपआत्माका आराधन करना चाहिये ॥ १२ ॥

सम्यग्दर्शनादिरत्नत्रय आत्माका अखंडरूप है इसवातको आचार्य वतलाते हैं ।

सम्यक्सुखबोधदृशां त्रितयमखण्डं परात्मनोरूपम् ।
तत्तत्र तत्परो यः सएव तल्लब्धिकृतकृत्यः ॥ १३ ॥

अर्थः—सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र ये तीनों आत्माके अखंडरूप हैं इसलिये आचार्य कह-कहते हैं कि जो पुरुप परमात्मामें लीनहैं अर्थात् परमात्माके आराधक हैं उनको सम्यग्दर्शन आदिकी प्राप्ति होती है और वे कृतकृत्य होजाते हैं ।

भावार्थः—जो मनुष्य आत्माके अराधन करनेवाले हैं उनको सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्रकी प्राप्ति होती है क्योंकि सम्यग्दर्शन आदिक आत्मासे भिन्न नहीं हैं आत्माकेही अखंड स्वरूप हैं और सम्य-

ग्दर्शन आदिकी प्राप्तिसे वे मनुष्य कृतकृत्य होजाते हैं अर्थात् उनको संसारमें कोईभी काम करनेकेलिये वांकी नहीं रहता इसलिये जो मनुष्य कृतकृत्य होना चाहते हैं उनको अवश्यही सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक् चारित्रकी प्राप्ति करनी चाहिये ॥ १३ ॥

अव आचार्यवर सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्रके स्वरूपको कहते हैं ।

अग्नाविवोष्णभावः सम्यग्बोधेऽस्ति दर्शनं शुद्धम् ।
ज्ञातं प्रतीतमाभ्यां सत्स्वास्थ्यं भवति चारित्रम् ॥ १४ ॥

अर्थः—जिसप्रकार अग्निमें उष्णता है उसीप्रकारसे जो आत्मामें ज्ञान हैं इसप्रकारकी जो दृढ़ प्रतीति है इसका नामतो सम्यग्दर्शन है और आत्माका जो भलीभांति ज्ञान है उसको निश्चयज्ञान कहते हैं तथा सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सहित जो आत्मा उस आत्मामें समचीन जो स्वस्थता उसको चारित्र कहते हैं ।

भावार्थः—आत्मामें निश्चलरीतिसे जो श्रद्धान है उसकोतो सम्यग्दर्शन कहते हैं और इसी आत्माका जो ज्ञान है वह सम्यग्ज्ञान है और आत्मामें जो स्थिति है उसको चारित्र कहते हैं ॥ १४ ॥

अव आचार्य सम्यग्दर्शन आदिकी सफलताका वर्णन करते हैं ।

विहिताभ्यासा बहिरर्थवेध्यसंवन्धतो दृगादिशराः ।
सफलाः शुद्धात्मरणे छिन्दितकर्मारिसंघाताः ॥ १५ ॥

अर्थः—बाह्य जो पदार्थ वेही हुई वेध्य "निशान" उनके संवन्धसे कियागया है अभ्यास जिनका ऐसे जो सम्यग्दर्शन आदिक वाण हैं वे शुद्धात्मारूपी संग्राममें समस्त कर्मरूपी वैरियोंको नाशकर सफलहोते हैं ।

१ क. पुस्तक में "बहिरर्थसंबन्धिनः" यह भी पाठ है ।)

भावार्थः—नानाप्रकारके निशानोंको मार २ कर जिसबाणका अभ्यास कियागया है ऐसा वह वाण जिससमय वैरीका छेदकरता है उससमय जिसप्रकार सफल समझाजाता है उसीप्रकार जिससमय सम्यग्दर्शन आदिके होते सन्ते समस्तकर्म नष्ट होजाते हैं उससमय सम्यग्दर्शन आदिक सफल समझेजाते हैं ॥ १५ ॥

सम्यग्ज्ञानकी जबतक प्राप्ति नहीं होती है तबतक कदापि जीव सिद्ध नहीं होसक्ता इसबातको आचार्य दिखाते हैं।

हिंसोज्झित एकाकी सर्वोपद्रवसहो वनस्थोऽपि ।
तरुरिव नरो न सिध्यति सम्यग्बोधादृते जातु ॥ १६ ॥

अर्थः—समस्तप्रकारकी हिंसाओंकररहित और अकेला तथा समस्तप्रकारके उपद्रवोंको (विघ्नोंको) सहन करनेवाला मुनि वृक्षकेसमान वनमें स्थितभी सम्यग्ज्ञानके विना कभी भी सिद्ध नहीं बनसक्ता ।

भावार्थ—जबतक मुनि सम्यग्ज्ञानको नहीं प्राप्त करलेता तबतक चाहै तैसा वह हिंसाका त्यागी क्यों न हो और वह वनमें अकेलाही क्यों न रहताहो तथा समस्तप्रकारके उपसर्गोंको भलीभांति सहनेवाला क्यों न हो कभी भी सिद्धपदवीको नहीं पासक्ता इसलिये सिद्धपदके अभिलाषियोंको चाहिये कि वे सबसे पहले सम्यग्ज्ञानको प्राप्तकरैं॥

शुद्धनयमें स्थित कौन पुरुष होसक्ता हैं इसवातको आचार्यवर समझाते हैं ।

अस्पृष्टमवद्धमनन्यमयुतमविशेसमभ्रमोपेतः ।
यःपश्यत्यात्मानं स पुमान् खलु शुद्धनयनिष्ठः ॥ १७ ॥

अर्थः—जो मनुष्य भ्रमरहित होकर आत्माको अस्पृष्ट अवद्ध अनन्य अयुत अविशेष मानता है वही पुरुष शुद्धनयमें स्थित है ऐसा समझना चाहिये ।

भावार्थः—जो मनुष्य शुद्धनयका अवलम्बन करनेवाला है वह मनुष्य, जिसप्रकार जलमें पड़ाहुवा

भी कमलका पत्र जलसे अस्पृष्ट है अर्थात् जलके स्पर्शकर रहित है उसीप्रकार आत्मा भी कर्मोंके स्पर्शकर रहित है अर्थात विमुक्त है ऐसा देखता है तथा आत्मा कर्मोंके वंधनकर रहित है अर्थात् एक है यहभी देखता है और आत्मा कर्मस्वरूप नहीं है कर्मोंसे भिन्न है यहभी वह देखता है और आत्मा अविशेष है अर्थात् कर्मोंद्वारा कियेहुवे जो मनुष्य देव आदि नानाप्रकारके विशेष, उनकरके रहित है ऐसाभी देखता है ॥ १७ ॥

नाटक समयसारकलशाभिषेक में भी कहा है ।

भेदाविज्ञानतःसिद्धा सिद्धा ये किल केचन ।
अस्यैवाभावतोबद्धा बद्धा ये किल केचन ॥१॥

अर्थः—जोकुछजीव सिद्धहुवे हैं वे जीव स्वपरभेदविज्ञानसे ही सिद्धहुवे है और जो कुछजीव बंधे हैं वे स्वपरभेदविज्ञानके अभावसे ही बंधे हैं इसलिये सिद्धवननेकी इच्छाकरनेवाले भव्यजीवोंको अवश्यही भेदविज्ञानकी ओर दृष्टि देनीं चाहिये ॥ १ ॥

जो शुद्धआत्माका ध्यान करता है उसको तो शुद्धआत्माकी प्राप्ति होती है और जो अशुद्धआत्माका ध्यान करता है उसको अशुद्धआत्माकी प्राप्ति होती है इसवातको आचार्य वतलाते हैं ।

शुद्धाच्छुद्धमशुद्धं ध्यायन्नाप्नोत्यशुद्धमेव स्वम् ।
जनयति हेम्नो हैमं लोहाल्लौहं नरः कटकम् ॥१८॥

अर्थः—जिसप्रकार मनुष्य सुवर्णसे सुवर्णमयही कढाईको वनाता है और लोहसे लोहमय कढ़ाईकोही वनाता है उसीप्रकार जो मनुष्य शुद्धात्माका ध्यान करता है उसको तो शुद्धात्माकीही प्राप्ति होती है और जो मनुष्य अशुद्धआत्माका ध्यान करता है उसको अशुद्धआत्माकी प्राप्ति होती है ।

भावार्थः—यह नियम है कि जिसप्रकारका कारण होता है कार्यभी उसीप्रकारका होता है सुवर्णसे सुवर्णमयपात्रकी तथा लोहसे लोहमयपात्रकी ही क्यों उत्पत्ति होती है उसका कारण यही है कि उन दोनोंका कारण सुवर्ण तथा लोहा है उसीप्रकार शुद्धात्माकी प्राप्ति में कारण शुद्धात्माका ध्यान है और अशुद्धात्माकी प्राप्तिमें अशुद्धात्माका ध्यान है इसलिये जो मनुष्य शुद्धात्माका ध्यान करते हैं उनको तो शुद्धात्माकी प्राप्ति होती है और जो मनुष्य अशुद्धआत्माका ध्यान करते हैं उनको अशुद्ध आत्माकीही प्राप्ति होती है अतः जो मनुष्य शुद्धआत्माकी प्राप्तिके अभिलाषी हैं उनको शुद्धआत्माकाही ध्यान मनन करना चाहिये ॥ १८ ॥

चारित्रकर शुद्ध यदि सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान रहैं तो जन्म नहीं होसक्ता इसबातको आचार्य कहते हैं।

सानुष्ठानविशुद्धे दृग्बोधे जृम्भिते कुतो जन्म ।
उदिते गभस्तिमालिनि किं न विनश्यति तमो नैशम् ॥ १९ ॥

अर्थः–जिसप्रकार सूर्यके उदयहोनेपर रात्रिका अंधकार नष्ट होजाता है उसीप्रकार सम्यक्चारित्रसे शुद्ध जिससमय सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र होते हैं उससमय जन्म कदापि नहीं होसक्ता।

भावार्थः—जबतक सूर्यका उदय नहीं होता है तभीतक निशाका अंधकार आकाशमें व्याप्त रहता है किन्तु जिससमय सूर्यका उदय होजाता है उससमय पलभरमें रात्रिका अंधकार दूर भगजाता है उसीप्रकार जबतक आत्मामें अखंड सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्रकी प्राप्ति नहीं होती तभीतक संसार रहता है अर्थात् ससारमें भटकना पड़ता है किन्तु जिससमय निर्मल सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्रकी प्राप्ति होजाती है उससमय आत्माको संसारमें भटकना नहीं पड़ता ॥ १९ ॥

मनको नाशकरदेना चाहिये इसवातको आचार्य वर्णन करते हैं।

आत्मभुवि कर्मवीजाच्चित्ततरुर्यत्फलं फलति ।
जन्ममुक्त्यर्थिना स दाह्यो भेदज्ञानोग्रदावेन ॥ २० ॥

आर्थः–आत्मारूपी भूमिमें कर्मरूपीवीजसे उत्पन्नहुवा मनरूपी वृक्ष, संसाररूपीफलको फलता है इसलिये आचार्य कहते हैं कि जिनको जन्मसे मुक्त होनेकी इच्छा है अर्थात् जो मुमुक्षु हैं उनको चाहिये कि वे भेद-ज्ञानरूपी जाज्वल्यमानअग्निसे उसचित्तरूपी वृक्षको जलावैं ।

भावार्थः—जिसप्रकार भूमिमें उत्पन्नहुवा वृक्ष फलको देता है उसीप्रकार जिससमय मनकी सहायतासे इन्द्रियां विषयोंमें प्रवृत्त होती हैं उससमय नानाप्रकारके कर्मोंका संबंध आत्मामें होता है और फिर कर्मोंके संवंधसे आत्माको संसारमें भटकना पड़ता है इसलिये संसारका पैदा करनेवाला मन ही है अतः भव्यजीवोंको चाहिये कि वे इसमनको स्वपरकेविवेकसे सर्वथा नष्टकरैं ॥ २० ॥

आत्माको कर्म अशुद्ध वनाते हैं तोभी भव्यजीवोंको भय नहीं करना चाहिये इसवातको आचार्य कहते हैं ।

अमलात्मजलं समलं करोति मम कर्मकर्दमस्तदपि ।
का भीतिः सति निश्चितभेदकरज्ञानकतकफले ॥ २१ ॥

अर्थः—यद्यपि कर्मरूपीकीचड़ अत्यंत निर्मलभी मेरे आत्मारूपीजलको गदला करती है तोभी मुझै कोई भयनहीं क्योंकि निश्चयसे स्वपरके भेदको करनेवाला ज्ञानरूपी कतक (फिटकिरी) फल मेरे पास मोजूद है।

भावार्थः—जिसप्रकार गदलेजलमें यदि फिटिकिरी छोडदीजावे तो वह फिटिकिरी शीघ्रही उसजलमें रही हुई कीचड़को नष्टकरदेती है और जलको निर्मल वनादेती है उसीप्रकार यद्यपि ज्ञानावरणादिकर्म आत्माको मलिन कररहे हैं तोभी स्वपरके भेदज्ञानसे वह कर्मोंसे कीहुई मलिनता पलभरमें नष्टहोजाती है इसलिये

यदि मेरी आत्मामें स्वपरका भेद विज्ञान है तो चाहै जितना कर्म मेरी आत्माको मलिन करैं मुझै किसीप्रकार-का भय नहीं है ऐसा भेदज्ञानी सदा विचार करता रहता है ॥ २१ ॥

औरभी आचार्य कहते हैं ।

अन्योहमन्यमेतच्छरीरमपि किं पुनर्न बहिरर्थाः ।
व्यभिचारी यत्र सुतस्तत्र किमरयः स्वकीयाःस्युः ॥ २२ ॥

अर्थः—मैं अन्यहूं और यदि यह शरीरभी मुझसे अन्य है तो बाह्य जो स्त्री पुत्र आदिक पदार्थ हैं वे तो मुझसे अवश्यही भिन्न है क्योंकि यदि संसारमें अपना पुत्रही अनिष्टका करनेवाला होजावे तो वैरीभी मेरे नहीं होसक्ते अर्थात् वेतो अवश्यही मेरे अनिष्टके करनेवाले होंगे ।

भावार्थः—संसारमें सबसे स्वकीय (अपना) पुत्र समझा जाताहै यदि वहभी मुझै दुःखका देनेवाला होजावे और मेरे अनिष्टोंका करनेवाला होजावे तो वैरी तो अवश्यही अनिष्टके करनेवाले होंगे क्योंकि वे पहिलेसेही स्वकीय (अपने) नहीं हैं उसीप्रकार संसारमें सबसे अधिक अपना संबंधी शरीर है यदि वहभी आत्मासे भिन्न है तो स्त्री पुत्र आदिकतो अवश्यही भिन्न हैं ऐसा समझना चाहिये ॥ २२ ॥

औरभी आचार्यवर आत्मा शरीरसे जुदा है इसबातको बताते हैं ।

व्याधिस्तुदति शरीरं न माममूर्तं विशुद्धबोधमयम् ।
अग्निर्दहति कुटीरं न कुटीरासक्तमाकाशम् ॥२३॥

अर्थः—यदि झोंपड़ेमें अग्नि लगजावे तो वह झोंपड़ेमें लगीहुई अग्नि झोंपड़ेकोही जलाती है किन्तु उसकेमध्यमें रहेहुवे आकाशको नहीं उसीप्रकार जो शरीर में नानाप्रकारके रोग उत्पन्न होते हैं वे रोग उस

शरीरकोही नष्ट करते हैं किन्तु उसशरीरमें रहेहुवे निर्मलज्ञानमय आत्माको नष्ट नहीं करते ।

भावार्थः—जिसप्रकार अमूर्तीक आकाशका मूर्तीकअग्नि कुछभी नहीं करसक्ती किन्तु वह मूर्तीक झोपड़ेकोही जलाकर नष्टकरदेती है उसीप्रकार आत्मातो अमूर्तीक और निर्मलज्ञानमय है इसलिये मूर्तीक शरीके धर्म जो रोग आदिक हैं वे इस आत्माका कुछभी नहीं करसक्ते किन्तु वे शरीरके ही नाश करनेवाले होते हैं इसलिये शरीरमें रोग आदिके होनेपर सज्जनपुरुषोंको कभीभी नहीं डरना चाहिये ॥ २३ ॥

क्षुधा आदिक जो दुःख हैं वे शरीरमें ही होते हैं इसवातको आचार्यवर वर्णन करते हैं ।

वपुराश्रितामिदमखिलं क्षुधादिभिर्भवति किमपि यदसातम् ।
नो निश्चयेन तन्मे यदहं बाधाविनिर्मुक्तः ॥ २४ ॥

अर्थः—भूंख प्यास आदिकारणोंसे जो दुःख होना है वह समस्तदुःख मेरे शरीरमें ही होता है और निश्चयनयसे वह शरीर मेरा नहीं है क्योंकि मैं समस्तप्रकारकी बाधाओंकर रहित हूं ।

भावार्थः—मैं तो निर्मलज्ञानस्वरूप हूं और शरीर जड़पदार्थ है इसलिये वह मुझसे भिन्न है यदि असातावेदनीकर्मके उदयसे क्षुधा तृषा आदि कारणोंसे दुःखभी होवे तो वह दुःख शरीरमें होता है मुझे कोई दुःख नहीं होता क्योंकि मैं समस्तप्रकारके दुःखोंसे रहित हूं ॥ २४ ॥

क्रोध मान आदिकभी आत्माके धर्म नहीं हैं इसवातको आचार्य दिखाते हैं ।

नैवात्मनो विकारः क्रोधादिः किन्तु कर्मसंवन्धात् ।
स्फटिकमणेरिव रक्तत्वमाश्रितात्पुष्पतो रक्तात् ॥ २५ ॥

अर्थः—जिसप्रकार लालफूलके आश्रयसे स्फटिकमणि लाल होजाती है उसीप्रकार आत्मामें कर्मके

॥२१०॥

संवंधसे क्रोध आदि विकार पैदा होजाते हैं किन्तु वे क्रोधादिविकार आत्माके विकार नही हैं।

भावार्थः—स्फटिकमणि स्वभावसे लाल नहीं है किन्तु उसका तो सफेदही स्वभाव है परन्तु जिससमय उसकेपास लालफूल रखदिया जाता है तो उसलालफूलके संवंधसे वहभी लाल होजाती है उसीप्रकार आत्मा स्वभावसे न तो क्रोधी है और न मानी लोभी आदिकही है किन्तु कर्मोंके संवंधसे वह क्रोधी लोभी वनजाता है इसलिये क्रोध आदि विकार आत्माके विकार नहीं हैं किन्तु कर्मोंके ही विकार हैं ॥ २५ ॥

कर्मोंसे उत्पन्न हुवे विकल्पभी शुद्ध आत्मामें नहीं हैं इसवातको आचार्य समझाते हैं।

कुर्यात् कर्म विकल्पं किं मम तेनातिशुद्धरूपस्य।
मुखसंयोगजविकृतेर्न विकारी दर्पणो भवति ॥ २६ ॥

अर्थः—मुखके संयोगसे उत्पन्न हुवे विकारसे अर्थात् मलिनमुखके संवंधसे जिसप्रकार दर्पण मलिन नहीं होता उसीप्रकार कर्म चाहैं कितनेहीं विकल्प क्यों न करो किन्तु अत्यंत शुद्धस्वरूप मुझ आत्माका वे विकल्प कुछ नहीं करसक्ते।

भावार्थः—जिसप्रकार मलिन मुखके संवंधसे दर्पण मलिन नहीं होता वह स्वच्छही वनारहता है उसी-प्रकार कर्मोंसे पैदाहुवे नानाप्रकारके विकल्पोंसे मेरा आत्मा विकल्पी नहीं वनसक्ता वह तो निर्मलही रहैगा ॥२६॥

औरभी आचार्य इसीविषयमें कहते हैं।

अस्तां बाहिरुपाधिचयस्तनुवचनविकल्पजालमप्यपरम्।
कर्मकृतत्वान्मत्तः कुतो विशुद्धस्य मम किञ्चित् ॥ २७ ॥

अर्थः—बाह्य स्त्री पुत्र आदि उपाधितो दूररहो किन्तु शरीर वचन और विकल्पभी मुझसे भिन्न हैं क्योंकि

शरीर वचन और विकल्पभी कर्मसे कियेगये हैं मैं विशुद्ध हूं इसलिये मेरा कुछभी नहीं है।

भावार्थः—जोकुछ कर्मोंद्वारा कीहुई उपाधि हैं वे समस्त उपाधि मुझसे भिन्नही हैं मेरी कोई भी नहीं हैं क्योंकि जिनसे अत्यंत घनिष्ठ संबंध है ऐसे शरीर वचन आदिकभी जब मुझसे भिन्न हैं तो स्त्री पुत्र आदिक सर्वथा भिन्न तो मेरी आत्मासे भिन्न ही हैं ॥२७॥

कर्म तथा कर्मोंसे कियेहुवे सुखदुःखादिकभी भिन्न हैं इसवातको आचार्यवर दिखाते हैं।

कर्म परं तत्कार्यं सुखमसुखं वा तदेव परमेव।
तस्मिन् हर्षविषादौ मोही विदधाति खलु नान्यः ॥२८॥

अर्थः—कर्मभी भिन्न हैं और कर्मोंके जो सुखदुःख आदिकार्य हैं वेभी भिन्न हैं और उनकर्मके सुख दुःख आदि कार्योंमें निश्चयसे मोही जीवही हर्ष विषादको करता है अन्य नहीं।

भावार्थः—जिसमनुष्यको हिताहितका विवेक नहीं है अर्थात् जो मोही है वह मनुष्य ज्ञानावरणादिकर्मों कोभी अपना मानता है और कर्मोंके कार्यकोभी अपना मानता है इसलिये जिससमय सातावेदनीयकर्मके उदयसे कुछ सुख होता है उससमय हर्षमानता है तथा असातवेदनीयकर्मके उदयसे जिससमय दुःख होता है उससमय विषादको करता है अर्थात् दुःख मानता है किन्तु जो मनुष्य बुद्धिमान है अर्थात् जिसमनुष्यको यहवस्तु मेरे हितको करनेवाली है और यहवस्तु मेरे अहितको करनेवाली है इसवातका ज्ञान है वह मनुष्य कर्म तथा कर्मोंके कार्यको अपना नहीं मानता और सातावेदनीयकर्मके उदयसे जिससमय कुछ सुखहोता है उससमय हर्ष नहीं मानता और जिससमय असातावेदनीय कर्मके उदयसे दुःख होता है उस समय विषाद नहीं करता क्योंकि वह समझता है कि कर्म तथा कर्मोंके जितनेभर कार्य हैं वे सब जड़हैं और मैं चेतन हूं

इसलिये वे मुझसे सर्वथा भिन्न हैं ॥ २८ ॥

मोक्षका अभिलाषी पुरुषही कुछ सुखी है इसवातको आचार्यवर दिखाते हैं ।

कर्म न यथा स्वरूपं न तथा तत्कार्यकल्पनाजालम् ।
तत्रात्ममतिविहीनो मुमुक्षुरात्मा सुखी भवति ॥ २९ ॥

अर्थः—जिसप्रकार कर्म आत्माका स्वरूप नहीं हैं उसीप्रकार उसकर्मका जो सुख दुःख आदिकार्य, उनकी जो कल्पना, उनका समूहभी, आत्माका स्वरूप नहीं है इसलिये उनकर्मोंमें तथा कर्मके कार्यजो सुख दुःख आदिक हैं उनमें, जो मोक्षकी इच्छाकरनेवाला भव्यजीव आत्मबुद्धिकर रहित है अर्थात् उनको अपना नहीं मानता है वही आत्मा (भव्यजीव) संसारमें सुखी है ।

भावार्थः—जबतक जीव अपनेसे सर्वथा भिन्न जो कर्म तथा कर्मोंके सुख दुःख आदि कार्यहैं उनको अपना मानता है तबतक उसको रंचमात्रभी सुख नहीं होता क्योंकि कर्म तथा कर्मोंके कार्योंको अपनानेके कारण उसको संसारमें भटकना पड़ता है और भटकनेसे उसको अनन्ते नरकादिदुःखोंका सामना करना पड़ता है किन्तु मोक्षकी इच्छा करनेवाले भव्यजीव कर्म तथा कर्मोंके कार्यको अपनाते नहीं हैं अतः उनकोही सुखकी प्राप्ति होती है अर्थात् वेही सुखी होते हैं इसलिये मोक्षाभिलाषियोंको चाहिये कि वे परपदार्थोंमें आत्मबुद्धि न करैं ॥२९॥

औरभी आचार्यवर कर्मकी भिन्नताका वर्णन करते हैं ।

कर्मकृतकार्यजाते कर्मैव विधौ तथा निषेधे च ।
नाहमतिशुद्धबोधो विधूतविश्वोपाधिर्नित्यम् ॥ ३० ॥

अर्थः—कर्मद्वारा कियेहुवे जो सुख दुःखरूपकार्य उनकार्योंके विधानमें तथा निषेधमें कर्मही है अर्थात्

कर्महीं कर्ता है किन्तु अत्यंत निर्मलज्ञानका धारी मैं नहीं हूं क्योंकि मैं सदा समस्तप्रकारकी, कर्मोंसे पैदा हुई जो उपाधियां उनसे रहित हूं ।

भावार्थः—कर्मके द्वारा जो राग, द्वेष, सुख, दुःख, आदिकार्य होते हैं उनसमस्तकार्योंका कर्ता, कर्महीं है किन्तु मेरी आत्मा उन सुख दुःख आदिकार्योंका कर्ता नहीं है क्योंकि मेरी आत्मा अत्यंत शुद्धज्ञानका धारी है और सदा समस्तप्रकारकी जो कर्मजनितउपाधियां हैं उन उपाधियोंसे रहित है ॥ ३० ॥

बाह्यविकारोंकोभी मोही जीव सदा आत्मस्वरूपही मानता है इसबातको आचार्यवर दिखाते हैं ।

बाह्यायामपि विकृतौ मोही जागर्ति सर्वदात्मेति ।
किं नोपभुक्तहेमो हेमग्रावाणमपि मनुते ॥ ३१ ॥

अर्थः—जो मनुष्य धतूरेको खालेता है उसमनुष्यको जिसप्रकार पत्थरभी सोना मालूम पड़ता है उसी-प्रकार जो मनुष्य मोही है अर्थात् जिसमनुष्यको हिताहितका ज्ञान नहीं है वह मनुष्य बाह्य स्त्री पुत्र आदि विकृतिको आत्माही मानता है ।

भावार्थः—धूलि मट्टी पत्थर आदिक पदार्थ यद्यपि सुवर्ण नहीं है किन्तु जिसमनुष्यने धतूरा पी लिया है उसको वे सुवर्णही मालूम पड़ते हैं उसीप्रकार यद्यपि निश्चयनयसे स्त्री पुत्र धन धान्य पदार्थ जड़पदार्थ हैं इसलिये अपने नहीं हैं तोभी जिन मनुष्योंकी आत्मापर प्रबलमोहरूपी पर्दा पड़ाहुवा है उनको वे सब विपरीत ही सूझते हैं अर्थात् मोही मनुष्य उनसबको अपनाही मानता है ॥ ३१ ॥

मोक्षकी इच्छाकरनेवाला मनुष्य इसबातका विचार करता रहता है ।

सति द्वितीये चिन्ता कर्म ततस्तेन वर्तते जन्म ।
एकोऽस्मि सकलचिन्तारहितोऽस्मि मुमुक्षुरिति नियतम् ॥ ३२ ॥

अर्थः—द्वितीयवस्तुके होते सन्ते तो चिंता होती है और चिन्तासे कर्मोंका आगमन होता है और कर्मों-से जन्महोता है इसलिये निश्चयसे मोक्षकी इच्छा करनेवाला मैं अकेलाहूं तथा समस्तप्रकारकी चिंताओंसे रहितहूं।

भावार्थः—यह नियम है कि संसारमें जो जीव दुःखित हैं वे कर्मोंसे बंधेहुए हैं इसीलिये दुःखित हैं और आत्माकेसाथ जो कर्मोंका बंध है वह चिंतासे है और वह चिंता द्वितीयपदार्थोंके होते सन्तेही होती है इसीलिये मोक्षाभिलाषी ऐसा विचार करता रहता है कि निश्चयसे मैं अकेला हूं और समस्त प्रकारकी चितओंसे भी रहित हूं॥३२॥

और भी मोक्षाभिलाषी इसप्रकारका विचार करता रहता है।

> **यादृश्यपि तादृश्यपि परताश्चिंता करोति खलु बन्धम्**
> **किं मम तया मुमुक्षोः परेण किं सर्वदैकस्य** ॥ ३३ ॥

अर्थः—चिंता जिस २ प्रकारकी होती है उस २ प्रकारकी वह समस्तचिंता बंधको ही करनेवाली होती है मैं तो मोक्षकी इच्छा करनेवाला हूं इसलिये मुझै उसचिंतासे क्या प्रयोजन है और मैं तो सदा एक हूं इसलिये मुझै दूसरे पादार्थोंसे भी क्या प्रयोजन है।

भावार्थः—चिंता दोप्रकारकी है एक तो शुभचिंता दूसरी अशुभचिंता उनमें शुभचिंता तो उसेकहते हैं जो शुभपदार्थोंकी चिंता की जाय जिसप्रकार तीर्थंकरके आसन आकार आदिककी, और अशुभचिंता उसे कहते हैं जो अशुभपदार्थोंकी चिंता की जाय जिसप्रकार स्त्री पुत्र आदिककी चिंता, किन्तु ये दोनों ही चिंता बंधकी ही कारण हैं, क्योंकि शुभचिंताके करनेसे शुभकर्मोंका बंध होता है और अशुभचिंताके करनेसे अशुभकर्मोंका बंध होता है और पीछे संसारमें भटकना पड़ता है इसलिये मोक्षाभिलाषी ऐसा विचार करता है कि मैं मुमुक्षु हूं इसलिये मुझै चिंतासे क्या प्रयोजन है और मैं सदा अकेला हू इसलिये मुझै पर जो स्त्री

पुत्र मित्र आदिक पदार्थ हैं उन पदार्थोंसे भी क्या प्रयोजन है ॥ ३३ ॥

मैं निर्मलज्ञानस्वरूप तथा निर्विकार हूं ज्ञानी इसबातका विचार करता है इसबातको आचार्य कहते हैं।

मयि चेतः परजातं तच्च परं कर्मविकृतिहेतुरतः
किं तेन निर्विकारः केवलमहममलबोधात्मा ॥ ३४ ॥

अर्थः—मेरी आत्मामें जो मन है वह मुझसे भिन्न है क्योंकि वह परपदार्थसे उत्पन्न हुआ है और जिससे मन उत्पन्न हुआ है ऐसा वह कर्म भी मुझमे भिन्न है क्योंकि वह विकारका करनेवाला है और मैं तो निश्चयसे विकार रहित हूं और निर्मलज्ञानका धारी हूं।

भावार्थः—यदि मन पर न होता और कर्म, विकारोंके करनेवाले न होते तब तो मैं उनको अपना मानता किन्तु मनतो मुझसे सर्वथा पर है क्योंकि वह जड़कर्मसे पैदा हुआ है और कर्म मुझे विकृत करनेवाला है अर्थात् मेरे ज्ञानादिगुणोंका घात करनेवाला है इसलिये मैं उनदोनोंको अपना कैसे मानूं? इसलिये मैं तो विकार रहित हू तथा निर्मलज्ञानका धारी हूं अर्थात् निर्मलज्ञानस्वरूप हूं ॥ ३४ ॥

मोक्षाभिलाषियोंको समस्तप्रकारकी चिताओंका त्यागकरदेना चाहिये इसबातको आचार्यवर दिखाते हैं।

त्याज्या सर्वा चिन्तेतिबुद्धिराविष्करोति तत्तत्त्वम्
चन्द्रोदयायते यच्चैतन्यमहोदधौ झटिति ॥ ३५ ॥

अर्थः—समस्तप्रकारकी चिंता त्यागनेयोग्य हैं जिससमय इसप्रकारकी बुद्धि होती है उससमय वहबुद्धि उसतत्त्वको प्रकट करता है कि जो तत्त्व चैतन्यरूपी प्रबलसमुद्रमें शीघ्रही चंद्रमाके समान आचरण करता है।

भावार्थः—जिसप्रकार चंद्रमाके उदयहोनेपर समुद्र वृद्धिको प्राप्त होता है उसीप्रकार समस्त चिंताएं

त्यागनेयोग्य हैं इसप्रकारकी बुद्धि भी उसतत्त्वको प्रकट करती है कि जिसतत्वकी प्रकटतासे चैतन्यतत्व सदा बढ़ताही चला जाता है इसलिये मोक्षाभिलाषियोंको अवश्यही समस्तचिंताओंका त्यागकरदेना चाहिये ॥ ३५ ॥

और भी आचार्यवर चैतन्यके स्वरूपको वर्णन करते हैं ।

चैतन्यमसम्पृक्तं कर्मविकारेण यत्तदेवाहम्
तस्य च संसृतिजन्मप्रभृति न किंचित्कुतश्चिंता ॥ ३६ ॥

अर्थः—जो चैतन्य, कर्मोंके विकारोंसे अलिप्त है वही चैतन्य मैं हूं और उसचैतन्यके संसार में जन्म मरण आदिक कुछ भी नहीं हैं फिर किससे चिंता करनी चाहिये ॥

भावार्थः—यदि चैतन्यमें जन्म मरण आदिक होते तो चिंता होती किन्तु चैतन्यमें तो न जन्म है और न मरण है और वह चैतन्य रागद्वेष आदिक जो कर्मोंके विकार हैं उनसे अलिप्त है और उसी चैतन्य स्वरूप मैं हूं इसलिये मुझे चिंता नहीं करनी चाहिये ॥ ३६ ॥

मनको वशमें रखना चाहिये इसबातको आचार्य दिखलाते हैं ।

चित्तेन कर्मणा त्वं वद्धो यदि बध्यते तया तदतः
प्रतिवन्दीकृतमात्मन् मोचयति त्वां न सन्देहः ॥ ३७ ॥

अर्थः—अरे आत्मा तू इसमनकी कृपासे कर्मोंसे बंधाहुआ है यदि तू इसमनको बांधलेवे अर्थात् मनको वशमें करलेवे तो इसमें किसीप्रकारका संदेह नहीं कि बंधाहुआ तू छूटजावेगा ।

भावार्थः—आचार्य उपदेश देते हैं कि तेरा सबसे अधिक वैरी मन है क्योंकि जबतक यहमन वशमें नहीं होता तबतक इसीकी कृपासे नानाप्रकारके कर्म आते हैं और तुझे बांधते हैं और इसीकी कृपासे तू इस-

समय भी कर्मोंसे बंधाहुआ है यदि अब भी इसको वशमें करले तो कर्मोंसे तू बंध नहीं सकता इसमें कुछ भी संदेह नहीं इसलिये तुझे मनको अवश्यही बांधना चाहिये ॥ ३७ ॥

मनको इसरीतिसे समझाना चाहिये—

नृत्वतरोर्विषयसुखच्छायालाभेन किं मनःपान्थ
भवदुःखक्षुत्पीडित ? तुष्टोऽसि गृहाण फलममृतम् ॥ ३८ ॥

अर्थः—" संसारका दुःखरूप जो क्षुधा उससे दुःखितहुआ अरे मनरूपी बटोही " तू क्यों मनुष्यरूपी वृक्षसे विषयसुखरूपी छायाके लाभसे संतुष्ट है, । अमृतफलको गृहणकर ।

भावार्थः—जिसप्रकार कोई रस्तागीर अत्यंत बुभुक्षित होकर वृक्षके नीचे बैठे और उसवृक्षपर लगेहुए फल खानेका प्रयत्न न करता हो तो कोई हितैषी मनुष्य वहां आकर उसको इसरीतिसे समझावे कि अरे भाई तू इसवृक्षकी छायामात्रके लाभसे क्यों संतुष्ट होरहा है इसवृक्षपरसे उत्तमफलोंको तोड़कर उनको खा जिससे तेरी भूखकी शान्ति होवे उसीप्रकार आत्मा मनको समझाता है कि अरे मन तू संसारके दुःखोंसे पीड़ितहुआ इसमनुष्यजन्ममें इन्द्रियोंके विषयोंके लाभसे ही क्यों वृथा संतुष्ट होरहा है अरे इसमनुष्यजन्मसे ही प्राप्त होनेवाले अमृतरूपी फलको प्राप्तकर, अर्थात् जिसमें किसीप्रकारका न तो जन्म है और न मरण है ऐसे उसमोक्षपदकी ओर दृष्टिलगा क्योंकि विषयोंके लाभसे सन्तुष्टहो कर तू संसारमें ही भटकैगा और नानाप्रकार के दुःखोंको उठावेगा इसमें किसीप्रकारका संदेह नहीं है ॥ ३८ ॥

मुनियोंका चित्त निरालम्बमार्गकाही अवलम्बन करता है इसबातको आचार्य समझाते हैं ।

स्वान्तं ध्वान्तमशेषं दोषोज्झितमर्कविम्बमिव मार्गे
विनिहन्ति निरालम्बे संचरदनिशं मुनीशानाम् ॥ ३९ ॥

अर्थः—समस्तदोषोंकर रहित सूर्यके प्रतिविम्बके समान मुनीश्वरोंका मन निरालम्बमार्गमें ही गमन करत करता है तथा निरालम्बमार्गमें गमनकरनेके कारण वह समस्तअंधकारको दूर करदेता है।

भावार्थः—जिसप्रकार सूर्य आकाशमें गमन करता है और जव वह वादलोंके समूहसे ढका नहीं जाता तथा राहुसे ग्रसा नहीं जाता उससमय वह समस्त अंधकारको नाश करदेता है उसीप्रकार मुनियोंका चित्त जिससमय समस्तदोषोंकर रहित होता है तथा जिसमें कोई अवलम्बन नहीं ऐसे मार्गमें अर्थात् निर्विकल्प मार्गमें गमन करता है उससमय वह मुनियोंका चित्तभी समस्त अज्ञानादि अंधकारको दूरकरदेता है ॥ ३९ ॥

अपने चैतन्यस्वरूपको देखनेवाला योगी सिद्ध होता है इसबातको आचार्य समझाते हैं।

संविच्छिखिना गलिते तनुमूषाकर्ममदनमयवपुषि
स्वमिव स्वं चिद्रूपं पश्यन् योगी भवति सिद्धः ॥ ४० ॥

अर्थः—सम्यग्ज्ञानरूपी जो अग्नि उससे जिससमय शरीररूपी जो मूषा, उसमें जो कर्मरूपीमोम स्वरूप शरीर, वह पिघलकर निकलजाता है उससमय जो योगी आकाशके समान अपने चैतन्यरूपको देखताहै वहीयोगी सिद्धहोता है।

भावार्थः—एक मिट्टीका मनुष्याकार पात्र बनायाजाय तथा उसके भीतर मोम भरदियाजाय और पीछे वह आंचसे तपायाजाय उससमय जिसप्रकार उसमोमके निकलजानेपर उसमूषामें मनुष्याकार आकाशके प्रदेश रहजाते हैं उसीप्रकार यह शरीर तो मूषाहै और कर्म मोम है और सम्यग्ज्ञानरूपी अग्नि है इनमेंसे जिससमय सम्यग्ज्ञान-रूपी अग्निसे कर्म सर्वथा नष्टकर दियेजाते हैं उससमय जोकुछ उसशरीरके भीतर अमूर्तीकप्रदेश रहजाते हैं वे आत्माके प्रदेश हैं अर्थात् उन्हीका नाम आत्मा है इसलिये जो मनुष्य उस आत्माका ध्यान करते हैं वे सिद्ध पदको प्राप्त होते हैं अर्थात् उनको नरक आदि गतियोंमें भ्रमण नहीं करना पड़ता।

सारार्थः—जोभव्यजीव समस्तकर्मोंकर रहित चैतन्यस्वरूप उनसिद्धोंका ध्यानकरते हैं उनको सिद्धपद की प्राप्ति होती है ॥ ४० ॥

मैं ही चैतन्यस्वरूप हूं इसबातको आचार्य दिखाते हैं ।

अहमेव चित्स्वरूपश्चिद्रूपस्याश्रयो मम स एव
नान्यत्किमपि जडत्वात्प्रीतिः सदृशेषु कल्याणी ॥ ४१ ॥

अर्थः—मैंही चैतन्यस्वरूप हूं और मेरे चैतन्यस्वरूपका आश्रय वह चैतन्यही है और चैतन्यसे भिन्न वस्तु चैतन्यस्वरूप नहीं है और न चैतन्यसे भिन्नवस्तु मेरे चैतन्यकी आश्रय हैं क्योंकि वे जड़ हैं मेरी प्रीति उनमें नहीं हो सकती, प्रीति समानपदार्थोंमेंही कल्याणकी करनेवाली होती है ।

भावार्थः—जिसप्रकार अग्निका लक्षण उष्णता है और वह कदापि अग्निसे जुदा नहीं रहसक्ता उसीप्रकार आत्माका लक्षण ज्ञान है और वह कदापि आत्मासे जुदा नहीं रहसक्ता इसलिये वहज्ञानस्वरूप मैं हूं और मेरे चैतन्यस्वरूपका आश्रय ज्ञानादिस्वरूप चैतन्यही है किन्तु चैतन्यसे भिन्न अर्थात् जिनमें चेतनता नहीं रहती है ऐसे पुद्गल धर्म अधर्म आकाशआदि जो द्रव्य हैं वे मेरा स्वरूप नहीं है और न वे मेरे आधार हैं क्योंकि वे जड़ हैं और मैं चेतनहूं और पुद्गल आदिपदार्थोंमें मेरी प्रीति भी नहीं हो सकती क्योंकि वे मेरे समानजातीय नहीं है मेरा समानजातीय तो चैतन्यही है इसलिये मेरी प्रीति उसीमेंही है और चैतन्यमें की हुई प्रीति ही मुझे सुखको देसक्ती है और देती है ॥ ४१ ॥

स्वपरके विवेकसेही आत्मा परको छोड़कर शुद्ध होता है ऐसा आचार्यवर दिखाते हैं—

स्वपर विभागावगमे जाते सम्यक् परे परित्यक्ते ।
सहजबोधैकरूपे[1] तिष्ठत्यात्मा स्वयं शुद्धः ॥ ४२ ॥

अर्थः—जिससमय आत्मामें स्वपरके विभागका ज्ञान होजाता है और त्यागने योग्य जो वस्तु उनका त्याग होजाता है उससमय स्वाभाविक निर्मलज्ञान स्वरूप जो अपना रूप है उसमें आत्मा ठहरता है और पीछे स्वयं शुद्ध होजाता है।

भावार्थः—यहवस्तु मेरी है और यह वस्तु मेरी नहीं है जवतक इसप्रकारका स्व परका विवेक आत्मामें नहीं होता है और जवतक आत्मा परपदार्थोंको नहीं छोड़ता है तवतक आत्मा बाह्यपदार्थोंमें ही घूमा करता है और स्वस्वरूपमें कभीभी स्थिर नहीं रहता इसीलिये शुद्धभी नहीं होता किन्तु जिससमय ज्ञान दर्शन आदिक मेरे हैं और रूप रस आदिक मेरे नहीं हैं इसप्रकारका आत्मामें विवेकज्ञान होजाता है और रूप रस आदिक जो पर हैं उनसे वह जुदा होजाता है उससमय वह स्वाभाविक निर्मलज्ञानरूप अपने स्वरूपमें स्थिर होजाता है और अत्यंत शुद्ध होजाता है ॥ ४२ ॥

इसीश्लोकके आशयको लेकर समयसारमें भी कहा है।

चैद्रूप्यं जड़रूपतां च दधतोः कृत्वा विभागं द्वयोरन्तर्दारुणदारणेन परितो ज्ञानस्य रागस्य च।
भेदज्ञानमुदेति निर्मलमिदं मोदध्वमध्यासिताः शुद्धज्ञानघनौघमेकमधुना सन्तो द्वितीयच्युताः॥

आर्थः—चैतन्यरूपता और जड़रूपताको धारणकरनेवाले अर्थात् चेतन और जड़ जो आत्मा और शरीर हैं उनके, विभागको करके (उनको जुदी २ रीतिसे जानकर) और अच्छीतरह अंतरंगसे, ज्ञानके तथा रागके

1 क पुस्तकमें "सहजैकबोधरूपे तिष्ठत्यात्मा परं सिद्ध." यह भी पाठ है इसमें सिद्ध पदका अर्थ शुद्धही है।

विभागको करके "अर्थात् ज्ञान आत्माका धर्म है तथा राग शरीरका धर्म है इसबातको भलीभांति जानकर" यह निर्मलभेदज्ञान उत्पन्न होता है इससमय मोक्षाभिलाषी जो भव्यजीव हैं वे शुद्ध जो ज्ञान वहीहै धनका समूह जिसकें उसको अर्थात् आत्माको प्राप्तहोकर और परपदार्थोंके संबंधसे रहित होकर चिरकालतक आनंदसे रहो।

भावार्थः—स्व तथा परके विभागसे आत्मा शुद्ध होता है इसलिये भव्यजीवोंको स्वपरविभागकी ओर अवश्य लक्ष्य देना चाहिये ॥ ४२ ॥

निश्चयकर आत्मा हेयोपादेयके विभागसे भी रहित है इसबातको आचार्यवर दिखाते हैं।

हेयोपादेयविभागभावना कथ्यमानमपि तत्वम् ।
हेयोपादेयविभागभावनावर्जितं विद्धि ॥ ४३ ॥

अर्थः—जो तत्व हेय तथा उपादेयकी भावनाकर रहित कहागया है वह तत्व भी निश्चयसे हेय तथा उपादेयकी भावना कर रहित ही है ऐसा समझो।

भावार्थः—जड़रूपजो परतत्व है वहतो हेय है और चैतन्यरूप जो स्वतत्व है वह उपादेय है इसप्रकार स्वपरविभागकी भावनासे जो चैतन्यतत्वका वर्णन कियागया है वह तत्वभी वास्तविकरीतिसे हेय तथा उपादेयकी भावनाकर रहितही है क्योंकि जिससमय शुद्धनिश्चयनयका आश्रयण कियाजाता है उससमय निर्विकल्पक अवस्था होती है तथा उस अवस्थामें हेय उपादेय आदिक कोई भी किसीप्रकारका विकल्प नहीं होता॥४३॥

शुद्धात्मतत्व मनके गोचर नहीं हैं इसबातको भी आचार्य बतलाते हैं।

प्रतिपद्यमानमपि च श्रुतादिशुद्धं परात्मनस्तत्वम् ।
उररीकरोतु चेतस्तदपि न तच्चेतसोगम्यम् ॥ ४४ ॥

।३२२॥

अर्थः—शास्त्रकेद्वारा भलीभांति कहे हुवेभी अत्यंत विशुद्ध परमात्मतत्वको चाहै मन, स्वीकार करो तोभी वह मनके गम्य नहीं है अर्थात् मन उसको नहीं जानसक्ता है ।

भावार्थः—यद्यपि शास्त्रने उस अत्यंतशुद्ध परमात्माके स्वरूपका भलीभांति वर्णन किया है और उस परमात्मतत्वको मनने स्वीकारभी करलिया है तो भी वह मनके गोचर नहीं है अर्थात् मन उसको भलीभांति जान नहीं सक्ता क्योंकि मन सविकल्पक है तथा आत्मा निर्विकल्पक है इसलिये मन उसको कैसे जानसक्ता है? ॥४४॥

अद्वैतभावनासे मोक्ष होती है इसवातको आचार्य वर्णन करते हैं ॥

अहमेकाक्यद्वैतं द्वैतमहं कर्मकलित इति बुद्धेः ।
आद्यमनपायि मुक्तेरद्विविकल्पं भवस्य परम् ॥ ४५ ॥

अर्थः—मैं अकेला हूं इसप्रकारकी जो बुद्धि है वह तो अद्वैत बुद्धि है और कर्मोंकर सहित हूं इस प्रकारकी जो बुद्धि है वह द्वैत बुद्धि है इनदोनों बुद्धियोंमें आदिकी जो अविनाशी अद्वैत बुद्धि है वह तो मोक्ष की कारण है और दूसरी जो द्वैतबुद्धि है वह संसार की कारण है ॥

भावार्थः—जवतक मैं, तथा अन्य, इसप्रकारका द्वैत भाव रहता है तबतक जीवको संसारमें डोलना पड़ता है किन्तु जिससमयमें यह द्वैतभाव नष्ट हो जाता है अर्थात् अद्वैत भाव हो जाता है उसीसमय जीव मोक्षको प्राप्त होता है क्योंकि मैं तथा तू इत्यादि विकल्परहित निर्विकल्पकअवस्थाहीका तो नाम मोक्ष है इसलिये मोक्षाभिलाषी भव्यजीवोंको चाहिये कि वे मैं अकेलाही हूं इसप्रकारके अद्वैतभावका ही चिंतवन करें ॥ ४५ ॥

द्वैत तथा अद्वैतभावसे रहितपनाही मोक्ष है इसबातको आचार्य वतलाते है ।

बद्धो मुक्तोऽहमथ द्वैते सति जायते ननु द्वैतम् ।
मोक्षायेत्युभयमनोविकल्परहितो भवति मुक्तः ॥ ४६ ॥

अर्थः—मैं बंधाहुवाहूं तथा मैं मुक्त हूं इसप्रकारके द्वैतके होतेसन्ते निश्चयसे द्वैत होता है और इस प्रकारके दोनोंविकल्पोंसे रहित जीव मुक्त होता है ।

भावार्थः—द्वैत तथा अद्वैतका जिससमय सर्वथा त्याग हो जाता है उसीसमय मुक्ति होती है इसलिये जो जीव मुक्त होना चाहते हैं उनको दोनोंप्रकारके विकल्पोंके त्यागकरनेका प्रयत्न करना चाहिये ॥ ४६ ॥

निर्विकल्पचित्तसे परमानंदकी प्राप्ति होती है इसबातका आचार्यवर वर्णन करते हैं ।

गतभाविभवद्भावाभावप्रतिभावभावितं चित्तम् ।
अभ्यासाच्चिद्रूपं परमानन्दान्वितं कुरुते ॥ ४७ ॥

अर्थः—भूत भविष्यत वर्तमानकालके जो पदार्थ उनकी भावनासे भाया हुवा जो चित्त है वह अभ्याससे चैतन्यरूपको परमानंदकरसहित करता है ।

भावार्थः—भूत भविष्यत जो विकल्प उनसे रहित भाया हुवा जोचित्त वह चैतन्यको परमादनंकर युक्त करता है अर्थात् उसप्रकारकी भावनासे चित्त अत्यंत आनंदित हो जाता है ॥ ४७ ॥

जो मनुष्य जिसरीतिसे आत्माको देखता है उसको उसीप्रकारके आत्माकी प्राप्ति होती है इसबातको आचार्यवर दिखाते हैं ।

बद्धं पश्यन् बद्धो मुक्तं मुक्तो भवेत् सदात्मानं ।
याति यदीयेन पथा तदेव पुरमश्नुते पान्थः ॥ ४८ ॥

अर्थः—जिसप्रकार जो रस्तागीर जिसपुरके मार्गसे गमन करता है वह उसीपुरको प्राप्त होता है

उसीप्रकार जो जीव आत्माको सदा बंधा हुवा देखता है वह कर्मोंसे बद्ध ही रहता है और जो पुरुष आत्मा को सदा कर्मोंसे रहित देखता है वह मुक्त ही होता है ॥

भावार्थः—जिसप्रकार जो मनुष्य जिसनगरके मार्गसे गमन करता है वह उसी नगरमें पहुंचता है उसी प्रकार जो मनुष्य जिसप्रकारके आत्माका आराधन करता है वह उसीप्रकारके आत्मस्वरूपको प्राप्त होता है अर्थात् यदि वह आत्माकी भावना करनेवाला कर्मोंसे बद्ध आत्माका ध्यान करेगा तो उसकी आत्मा कर्मोंसे बद्धही रहैगी और यदि वह कर्मोंसे मुक्त आत्माका ध्यान करैगा तो उसकी आत्मा मुक्त ही होवेगी ॥ ४८ ॥

मनको इसरीतिसे शिक्षा देनीचाहिये ॥

माग़ा बहिरन्तर्वा साम्यसुधापानवर्द्धितानन्द ।
आस्व यथैव तथैव च विकारपरिवर्जितः सततम् ॥ ४९ ॥

अर्थः—समतारुपी जो अमृत उसके पीने से बढ़ा है अनंद जिसको ऐसा हे मन, तू बाहर तथा भीतर मत गमन करै और जिसरीतिसे तू समस्तप्रकारके विकारोंसे रहित हो उसी प्रकारसे रह ।

भावार्थः—जबतक मन जहांतहां घूमता फिरता है तबतक साम्यभावका अनुभव नहीं करसक्ता और नानाप्रकारोंके विकारोंसे विकृत हो जाता है किन्तु जिससमय उसका जहांतहां घूमना बंद हो जाता है उस समय वह समताका अनुभव करता है तथा विकारोंसे विकृतभी नहीं होता इसालिये आचार्यवर इस बातको समझाते हैं कि भव्यजीवोंको मनको इसरीतिसे शिक्षा देनी चाहिये कि हे समतारुपीअमृतके पानसे अत्यंत आनंदित मन, तू बाहर तथा भीतर कहीं भी मत घूमे और जिस प्रकारसे बने उसप्रकारसे तू समस्त विकार रहितही रह ॥ ४९ ॥

तज्जयति यत्र लब्धे श्रुतभुवि मत्यापगातिधावन्ती ।
व्यावृत्ता दूरादपि झटिति स्वस्थानमाश्रयति ॥ ५० ॥

अर्थः—जिसचैतन्यरूपतत्वके प्राप्तहोनेपर शास्त्ररूपीभूमिमें अत्यंत दौड़तीहुई बुद्धिरूपी नदी दूरसेही लौटकर शीघ्रही अपनेस्थानको प्राप्तहोजाती है ऐसा वह चैतन्यरूपीतत्व सदा इसलोकमें जयवंत है ॥

भावार्थ—जबतक बुद्धि शास्त्रमें लगी रहती है तबतक कदापि उसचैतन्यतत्व (परमात्मतत्त्व) की प्राप्ति नहीं होती किन्तु जिससमय चैतन्यकी प्राप्तिहोनेपर बुद्धि शास्त्रसे व्यावृत्तहोजाती है अर्थात् शास्त्रसे फिरजाती है उससमय बुद्धि शीघ्रही अपने चैतन्यस्वरुपको प्राप्त होती है इसलिये वह चैतन्यरूपीतत्व सदा इसलोकमें जयवंत है ॥ ५० ॥

और भी आचार्यवर उपदेश देते हैं ।

तन्नमत गृहीताखिलकालत्रयजगत्त्रयव्याप्ति ।
यत्रास्तमेति सहसा सकलोऽपि हि वाक्परिस्पन्दः ॥ ५१ ॥

अर्थः—ग्रहण की है तीनोंकालोंमें तीनोंजगतकीव्याप्ति जिसने तथा जिसके होतेसंते समस्तवाणीका परिस्पन्द शीघ्रही नष्ट होजाता है उसचैतन्यको नमस्कार करो ॥

भावार्थः—जो चैतन्य तीनोंकालोंमें तीनोंजगतमें व्यापरहा है और जिसचैतन्यका वाणीसे सर्वथा वर्णन नहीं करसक्ते उसचैनन्यरुपीतेजको नमस्कार करो ॥ ५१ ॥

तन्नमत विनष्टाखिलविकल्पजालद्रुमाणि परिकलिते ।
यत्र वहन्ति विदग्धा दग्धवनानीव हृदयानि ॥ ५२ ॥

अर्थः—उसचैतन्यरूपको नमस्कार करो जिस चैतन्यरूपकी प्राप्तिके होनेपर मुनिगण सर्वथा नष्टहो गये हैं विकल्परूपी वृक्ष जिनसे ऐसे हृदयोंको जले हुवे वनोंके मानिन्द धारण करते हैं ॥

भावार्थः—जबतक मनुष्योंके चित्तमें नानाप्रकारके विकल्पलगे रहते हैं तबतक मनुष्योंको कभी भी सुखकी प्राप्ति नहीं हो सक्ती किन्तु जिसचैतन्यके होंतेसन्ते मनुष्योंके मनके समस्तविकल्प नष्ट होजाते हैं ऐसे उसचैतन्यतत्त्वको नमस्कार करो ॥ ५२ ॥

जिससमय समस्तनयोंका पक्षपात नष्ट हो जाता है उससमय समयसारकी प्राप्ति है इसबातको आचार्यवर दिखाते हैं।

बद्धो वा मुक्तोवा चिद्रूपो नयविचारविधिरेषः ।
सर्वनयपक्षरहितो भवति हि साक्षात्समयसारः ॥ ५३ ॥

चैतन्यस्वरूप आत्मा कर्मोंसे बधाहुवा है तथा कर्मोंसे रहितभी है यह नयविचारकी विधि है और समस्त नयोंके पक्षसे रहित होंनेपर ही निश्चयसे समयसार होता है ॥

भावार्थः—समयसार नाम शुद्धात्माका है उसशुद्धात्माकी प्राप्ति उसी समय होती है जिससमय समस्त निश्चय तथा व्यवहारनयका पक्षपात दूर होजाता है किन्तु जबतक व्यवहारनयसे आत्मा बंधाहुवा है तथा निश्चयनयसे आत्मा मुक्त है इसप्रकारका नयका पक्षपात रहता है तब तक उस समयसार शुद्धात्माकी प्राप्ति कदापि नहीं होसक्ती इसलिये शुद्धात्माकी प्राप्तिके इच्छुकोंको नयोंके पक्षपात कर रहित ही रहना चाहिये॥५३॥

नाटकसमयसारमेंभी कहा है ।

एकस्य बद्धो न तथा परस्य चितिद्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ १ ॥

अर्थः—व्यवहारनयसे तो आत्मा कर्मोंसे बंधा हुवा है और निश्चयनयसे आत्मा मुक्त है इसप्रकार इन दोनोंप्रकारके आत्माओंमें दोनों प्रकारके पक्षपात है जो मनुष्य वास्तविक तत्वका जाननेवाला है और समस्त प्रकारके नयोंके पक्षपातोंसे रहित है उसका चैतन्य है सो निश्चयकरके चैतन्य ही है ॥ १ ॥

और भी कहा है

अलमलमतिजल्पैर्दुर्विकल्पैरनल्पैरयमिव परमार्थः सेव्यतां नित्यमेव ।
स्वरसविसरपूर्णज्ञानविस्फूर्तिमात्रान्न खलु समयसारादुत्तरं किञ्चिदस्ति ॥ २ ॥

अर्थः—नानाप्रकारके जो खोटे २ विकल्प उनके अत्यंतकहनेसे पूर्णहो पूर्णहो सदा इसपरमार्थ परमात्मा की ही सेवा करो क्योंकि अपना रस जो विसर अर्थात् फैलाव उससे परिपूर्ण जो ज्ञान उसकी है केवल प्रकटता जिसमें ऐसे समयसारसे उत्कृष्ट, यहांपर कोईभी वस्तु नहीं है अर्थात् समयसारही उत्कृष्ट वस्तु है ॥ २ ॥

आत्मा नय प्रमाण निक्षेपआदिविकल्पोंसे भी रहित है इसबातको आचार्यवर दिखाते हैं ?

नयनिक्षेपप्रमितिप्रभृतिविकल्पोज्झितं परं शान्तम् ।
शुद्धानुभूतिगोचरमहमेकं धाम चिद्रूपम् ॥ ५४ ॥

अर्थः—जिसमें नय निक्षेप प्रमिति आदिक किसी प्रकारके विकल्प नहीं है और जो उत्कृष्ट है तथा शांत है और शुद्धानुभवके गोचर है तथा एक है वह चैतन्यरुपी तेज मैं ही हूं ॥

भावार्थः—नतो मुझमें द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकस्वरूप नयका विकल्प है और न प्रत्यक्ष परोक्षरूपप्रमाण का विकल्प है तथा नाम स्थापना आदि निक्षेपका विकल्प भी मुझमें नहीं है और मैं उत्कृष्ट हूं तथा शांत

॥३२८॥

हूं तथा शुद्धानुभवके गोचर हूं और चैतन्यस्वरूप तेज हूं ॥ ५४ ॥

समयसारमें भी कहा है ।

उदयति न नयश्रीरस्तमेति प्रमाणं क्वचिदपि च न विद्मो याति निक्षेपचक्रम् ।
किमपरमभिदध्मो धाम्नि सर्वंकषेऽस्मिन्ननुभवमुपयाते भाति न द्वैतमेव ॥

अर्थः—सबको कषनेवाले इसचैतन्यरूपी तेजके अनुभव होनेपर द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक नयभी उदयको प्राप्त नहीं होते तथा प्रत्यक्ष तथा परोक्षप्रमाण अस्त होजाते हैं और नाम स्थापना द्रव्य भाव रूपी निक्षेप न जाने कहां चलाजाते है और अधिक कहां तक कहा जावे द्वैत भी दृष्टि गोचर नहीं होता ॥ १ ॥

चैतन्यरूपके जाननेपर सब जाना जाता है तथा चैतन्यरूपके देखने पर सब देखा जाता है इसबातको आचार्यवर दिखाते हैं ।

ज्ञाते ज्ञातमशेषं दृष्टे दृष्टं च शुद्धचिद्रूपे ।
निश्शेषबोध्यविषयौ दृग्बोधौ यन्न तद्भिन्नौ ॥ ५५ ॥

अर्थः—जिसचैतन्यस्वरूपतेजके जानने पर तो समस्तवस्तु जानीं जातीं है और देखनेपर समस्तवस्तु देखीं जातीं हैं क्योंकि समस्त जो ज्ञेयपदार्थ वे हैं विषय जिनके ऐसे जो दर्शन और ज्ञान हैं वे आत्मस्वरुप ही हैं आत्मासे भिन्न नहीं है ॥ ५५ ॥

जबतक आत्माका दर्शन नहीं होता तबतक अन्यपदार्थोंमें प्रीति होती है किन्तु जिससमय आत्माका दर्शन होजाता है उससमय बाह्यपदार्थोंमें प्रीति नहीं होती इसबातको आचार्यवर दिखाते हैं ॥

भावे मनोहरेऽपि च काचिन्नियता च जायते प्रीतिः ।
अपि सर्वाः परमात्मनि दृष्टे तु स्वयं समाप्यन्ते ॥ ५६ ॥

अर्थः—अत्यंतमनोहरभी पदार्थमें कोई विचित्र तथा निश्चितप्रीति होजाती है किंतु जिससमय परमात्मा का दर्शन होजाता है उससमय उन अन्यपदार्थोंमें प्रीतिकी समाप्ति होजाती है ।

भावार्थः—जबतक मनुष्य परमात्माको नहीं देखता तभीतक उसमनुष्यको बाह्यपदार्थ प्रीतिके करने वाले होते हैं अर्थात् वह बाह्यपदार्थोंको प्रिय मानता है किन्तु जिससमय उसको परमात्माका दर्शन हो जाता है उससमय वह बाह्यपदार्थोंको अंशमात्रभी प्रिय नहीं मानता अप्रियही मानता है ॥ ५६ ॥

बुद्धिमान् पुरुषोंके आत्माके साथ विद्यमानभी कर्मोंका सम्बंध अविद्यमान सरीखाही है इसबातको आचार्यवर दिखाते हैं

सन्नप्यसन्निव विदां जनसामान्योऽपि कर्मणो योगः ।
तरणपटूनामृद्धः पथिकानामिव सरित्पूरः ॥ ५७ ॥

अर्थः—यद्यपि कर्मोंका संबंध सबप्राणियोंके समान है तोभी बुद्धिमानपुरुषके वह विद्यमानभी नहीं विद्यमानके समानही है जिसप्रकार तैरनेमें चतुररस्तागीरोंको बढ़ाहुवा नदीका प्रवाह ।

भावार्थः—यद्यपि जिसप्रकार नदीका प्रवाह समस्तप्राणियोंको समान भयका करने वाला है तोभी जो रस्तागीर तैरनेमें चतुर हैं अर्थात् जिनको तैरना अच्छा आता है उनको वह भयका करनेवाला नहीं होता उसीप्रकार यद्यपि कर्मोंका संबंध सबजीवोंके समान है तोभी जो पुरुष बुद्धिमान हैं अर्थात् जिनको स्वपरका विवेक है उनपुरुषोंको आत्माके साथ विद्यमानभी कर्मोंका संबंध नहीं विद्यमानसाही है ॥ ५७ ॥

तत्वज्ञानियोंको हेय तथा उपादेयका अवश्य ध्यान रखनाचाहिये इसबातको आचार्यवर दिखाते हैं ।

मृगयमाणेन सुचिरं रोहणभुवि रत्नमीप्सितं प्राप्य ।
हेयाहेयश्रुतिरपि विलोक्यते लब्धतत्वेन ॥ ५८ ॥

अर्थः—रोहणपर्वतकी भुमिमें चिरकालसे रत्नको ढूंड़नेवाला मनुष्य दैवयोगसे इष्टरत्नको पाकर जिस प्रकार यह तत्व हेय है अथवा उपादेय है इसबातका बिचार करता है उसीप्रकार जिसमनुष्यको वास्तविकतत्व की प्राप्ति होगई है उसको भी यह तत्व हेय है अथवा उपादेय है ऐसा बिचार करना चाहिये ।

भावार्थः—जिसप्रकार किसीमनुष्यको रत्नकी इच्छा हुई और उसी इच्छासे वह रोहणाचलकी भूमि में रत्न ढूड़ने लगगया और उसको इष्टरत्नकी प्राप्तिभी होगई उससमय जिसप्रकार वह मनुष्य विचार करता है कि यह तत्व हेय है अथवा अहेय है अर्थात् छोड़ने योग्य है अथवा ग्रहणकरने योग्य है उसीप्रकार अनादि कालसे तत्वकी प्राप्तिके इच्छुक मनुष्यको यदि भाग्यवश तत्व मिलजावे तो उसको भी इसप्रकारका विचार करना चाहिये कि यह तत्व मुझे ग्रहण करने योग्य है कि छोड़ने योग्य है ॥ ५८ ॥

तत्वज्ञानीको इसरीतिसे विचारकरना चाहिये ।

कर्मकलितोपि मुक्तः सश्रीको दुर्गतोप्यहमतीव ।
तपसा दुख्यपि च सुखी श्रीगुरुपादप्रसादेन ॥ ५९ ॥

अर्थः—यद्यपि ज्ञानावरण आदि कर्मोंसे मेरी आत्मा संयुक्त है तोभी मैं श्रीगुरुके चरणारविंदकी कृपासे सदा मुक्त हूं और यद्यपि मैं अत्यंत दरिद्री हूं तोभी मैं श्रीगुरूके चरणोंके प्रसादसे लक्ष्मीकर सहित हूं और यद्यपि मैं तपसे दुःखित हूं तोभी श्रीगुरूके चरणोंकी कृपासे मैं सदा सुखी ही हू अर्थात् मुझे किसी प्रकारका संसारमें दुःख नहीं है ॥ ५९ ॥

बोधादस्ति न किञ्चित्कार्यं यद्दृश्यते मलात्तन्मे ।
आकृष्टयंत्रसूत्राद्दारुनरः स्फुरति नटकानाम् ॥ ६० ॥

अर्थः—जो कुछ मेरे कार्य मोजूद है अर्थात् जो कुछ कार्य मैं कररहा हूं वह कर्मकी कृपासे कररहा हूं ज्ञानसे कुछ भी कार्य नहीं क्योंकि नटके खैंचेहुवे यंत्रके सूत्रसे ही पुतली नाचती है ।

भावार्थः—जिसप्रकार पुतलीके नृत्यमें नटद्वारा खींचा हुवा सूत्रही कारण है उसीप्रकार मेरे जो कार्य दृष्टिगोचर हो रहेहैं उनमें कर्मही कारण है अर्थात् कर्मकी कृपासे ही मुझमें कार्य दीख रहे है ज्ञानकी कृपासे नहीं॥६०॥

निश्चयपंचाशतपद्मनन्दिनं सूरिमाश्रिभिः कैश्चित् ।
शब्दैः स्वभक्तिसूचितवस्तुगुणैर्विरचितेयमिति ॥ ६१ ॥

अर्थः—श्रीपद्मनन्दी आचार्यको आश्रित तथा अपनी भक्तिसे प्रकटकिया है वस्तुका गुण जिन्होने ऐसे कैएक शब्दोंद्वारा इसनिश्चयपञ्चाशत्‌की रचनाकी गई है ।

भावार्थः—इसश्लोकसे आचार्यने अपनी लघुताका वर्णन किया है कि इसअनित्यपञ्चाशत्‌नामक अधिकारकी रचना मैंने नहीं की है किन्तु मुझको आश्रित कईएक वचनोंने की है ॥ ६१ ॥

तृणं नृपश्रीः किमु वच्मि तस्यां न कार्यमाखण्डलसम्पदोऽपि ।
तत्वं परं चेतसि चेन्ममास्ति अशेषवाञ्छाविलयैकरूपं ॥ ६२ ॥

अर्थः—समस्तप्रकारकी इच्छाओंको दूरकरनेवाला यदि चैतन्यरूपी तत्व मेरे मनमें मोजूद है तो राजलक्ष्मी तो तृणके समान है इसलिये मैं उसके विषयमें तो क्या हूं इन्द्रकी संपदा भी मेरे लिये किसी कामकी नहीं॥६२॥

इसप्रकार श्रीपद्मनंदि पंचविंशतिकामें अनित्य पंचाशत नामक अधिकार समाप्त हुवा ।

संयम न होवे तो ब्रह्मचर्यका नाश होता है ऐसा समझना चाहिये ॥ ४ ॥

चेतः संयमनं यथावदवनं मूलव्रतानां मतं शेषाणां च यथाबलं प्रभवतां बाह्यं मुनेर्ज्ञानिनः
तज्जन्यं पुनरांतरं समरसीभावेन चिच्चेतसो नित्यानंदविधायिकार्यजनकं सर्वत्र हेतुर्द्वयम् ॥५॥

अर्थः—ज्ञानीमुनिके यथाशक्ति होनेवाले जो मूलगुण तथा उत्तरगुण हैं उनको यथायोग्य जो रक्षण करना है वह तो बाह्य मनका संयम है तथा उसबाह्यमनके संयमसे उत्पन्न हुवा और सदा आनंदके करनेवाले कार्यको पैदाकरनेवाला "चैतन्य तथा मनके समरसीभावसे, जो मनका संयम होता है वह अंतरंगमनका संयम है तथा सबजगह यह दोनों प्रकारका संयम कारण है ॥ ५ ॥

समस्तस्त्रियोंके त्यागकरनेमें व्रतीको अत्यंत प्रयत्न करनाचाहिये इसबातको आचार्यवर दिखाते हैं ।

चेतोभ्रांतिकरी नरस्य मदिरापीतिर्यथा स्त्री तथा तत्संगेन कुतो मुनेर्व्रतविधिः स्तोकोऽपि सम्भाव्यते ।
तस्मात्संसृतिपातभीतमतिभिः प्राप्तैस्तपोभूमिकां कर्तव्यो व्रतिभिः समस्तयुवतित्यागे प्रयत्नो महान् ॥

अर्थः—जिसप्रकार मदिराकापान मनुष्यको भ्रांतिका करनेवाला होता है उसीप्रकार स्त्रीभी मनुष्यके चित्तको भ्रांतिकी करनेवाली होती है इसलिये उस स्त्रीकी संगतिसे मुनीके थोड़ेभी व्रतके विधानकी संभावना नहीं होसक्ती इसलिये आचार्य कहते हैं कि जिनमुनियोंकी मति संसारमें भ्रमणकरनेसे भयभीत है और जो मुनि तपकी भूमिकाको प्राप्तहोगये हैं उनको समस्तस्त्रियोंके त्यागमें बड़ाभारी प्रयत्न करनाचाहिये ।

भावार्थः—जिसप्रकार शराबको पीनेवाला मनुष्य बेहोश रहता है और वह कुछभी काम नहीं करसक्ता उसीप्रकार स्त्रीका लोलुपी पुरुषभी हिताहितसे शून्य तथा किंकर्तव्यता विमूढ़ रहता है इसलिये ऐसी निकृष्ट स्त्रीकी संगतिसे थोड़ासाभी व्रतका विधान नहीं होसक्ता अतः आचार्य उपदेश देते हैं कि जिनमुनियोंकी

बोधादस्ति न किंचित्कार्यं यदृश्यते मलात्तन्मे ।
आकृष्टयंत्रसूत्राद्दारुनरः स्फुरति नटकानाम् ॥ ६० ॥

अर्थः—जो कुछ मेरे कार्य मोजूद है अर्थात् जो कुछ कार्य मैं कररहा हू वह कर्मकी कृपासे कररहा हूं ज्ञानसे कुछ भी कार्य नहीं क्योंकि नटके खैंचेहुवे यंत्रके सूत्रसे ही पुतली नाचती है ।

भावार्थः—जिसप्रकार पुतलीके नृत्यमें नटद्वारा खींचा हुवा सूत्रही कारण है उसीप्रकार मेरे जो कार्य दृष्टि गोचर हो रहेहैं उनमें कर्मही कारण है अर्थात् कर्मकी कृपासे ही मुझमें कार्य दीख रहे है ज्ञानकी कृपासे नहीं॥६०॥

निश्चयपंचाशत्पद्मनन्दिनं सूरिमाश्रिभिः कैश्चित् ।
शब्दैः स्वभक्तिसूचितवस्तुगुणैर्विरचितेयमिति ॥ ६१ ॥

अर्थः—श्रीपद्मनन्दी आचार्यको आश्रित तथा अपनी भक्तिसे प्रकटकिया है वस्तुका गुण जिन्होने ऐसे कैएक शब्दोंद्वारा इसनिश्चयपञ्चाशत्की रचनाकी गई है ।

भावार्थः—इसश्लोकसे आचार्यने अपनी लघुताका वर्णन किया है कि इसअनित्यपञ्चाशत्नामक अधिकारकी रचना मैंने नहीं की है किन्तु मुझको आश्रित कईएक वचनोंने की है ॥ ६१ ॥

तृणं नृपश्रीः किमु वच्मि तस्यां न कार्यमाखण्डलसम्पदोऽपि ।
तत्वं परं चेतसि चेन्ममास्ति अशेषवाञ्छाविलयैकरूपं ॥ ६२ ॥

अर्थः—समस्तप्रकारकी इच्छाओंको दूरकरनेवाला यदि चैतन्यरूपी तत्व मेरे मनमें मोजूद है तो राजलक्ष्मी तो तृणके समान है इसलिये मैं उसके विषयमें तो क्या हूं इन्द्रकी संपदा भी मेरे लिये किसी कामकी नहीं॥६२॥

इसप्रकार श्रीपद्मनंदिं पंचविंशतिकामें अनित्य पंचाशत नामक अधिकार समाप्त हुवा ।

ब्रह्मचर्यरक्षावर्त्यधिकारः ।

शार्दूलविक्रीडित ।

भ्रूक्षेपेण जयंति ये रिपुकुलं लोकाधिपाः केचन द्राक्तेषामपि येन वक्षसि दृढं रोपः समारोपितः ।
सोऽपि प्रोद्गतविक्रमस्मरभटः शान्तात्मभिर्लीलया यैः शस्त्रग्रहवर्जितैरपि जितः स्तेभ्यो यतिभ्यो नमः ॥

अर्थः—संसारमें कई एक ऐसेभी राजा हैं जोकि अपनी भ्रुकुटीके विक्षेपमात्रसे ही वैरियोंके समूहको जीत लेते हैं उन राजाओंके भी हृदयमें शीघ्रही जिस कामदेवरूपी योधानें दृढ़तासे वाणको समारोपित कर दिया है ऐसे अत्यंत पराक्रमी भी उस कामदेवरूपीसुभटको समस्तप्रकारके शास्त्रोंकररहित तथा जिनकी आत्मा क्रोधादिकषायोंके नाशहोनेसे शांत होगई हैं ऐसे यतियोंने बातकीबातमें जीतलिया हैं उन यतियोंके लिये नमस्कार है अर्थात् वे यतीश्वर मेरी रक्षा करैं ।

भावार्थः—जिन राजाओंकी भौं टेढ़ीहोनेपर ही प्रबलभी शत्रुओंका समूह बातकीबातमें वश हो जाता है उन महापराक्रमी राजाओंके हृदयमें भी जिस कामदेवरूपी सुभटने अपना वाण समारोपित करदिया है अर्थात् उसने ऐसे पराक्रमी राजाओं के ऊपर भी अपना प्रभाव जमा रक्खा है उसमहापराक्रमी भी कामदेवरूपी सुभटको विनाही हथियारके जिन शांतात्मामुनियोंने बातकीबातमें जीतलिया आचार्य कहते हैं कि उनमुनियोंकेलिये मैं मस्तकझुकाकर नमस्कार करताहूं ॥ १ ॥

ब्रह्मचारी कौन होसक्ता है इसबातको आचार्यवर दिखाते हैं ।

आत्मा ब्रह्मविविक्तबोधनिलयो यत्तत्र चर्यं परं स्वांगासंगविवर्जितैकमनसस्तद्ब्रह्मचर्यं मुनेः ।
एवं सत्यवलाः स्वमातृभगिनीपुत्रीसमाः प्रेक्षते वृद्धाद्या विजितेन्द्रियो यदि तदा स ब्रह्मचारी भवेत्

अर्थः—अपने शरीरमें जो आसक्तता उसकर रहित है एकमन जिसका अर्थात् जिसमुनीके मनमें शरीर विषयक कुछभी आसक्तता नहीं है ऐसे मुनीकी जो समस्तपदार्थोंसे भिन्न तथा ज्ञानस्वरूप आत्मा है वही ब्रह्म है और उसब्रह्ममें जो चर्या है अर्थात् एकाग्रता है वही ब्रह्मचर्य है और ऐसे होनेपर जो वृद्ध आदिक स्त्रियां हैं उनको अपनी माता, वहिन, लड़कीके समान देखता है उससमय वह ब्रह्मचारी होता है ॥

भावार्थः—समस्तपदार्थोंसे भिन्न और ज्ञानका स्थान अर्थात् ज्ञानस्वरूप जो आत्मा है वह तो ब्रह्म है और उसब्रह्ममें जो शरीरविषयकममताकररहितमुनीके मनकी एकाग्रता है वह अतरंग ब्रह्मचर्य है और बाह्यमें जो वृद्धस्त्रीको माताके समान समझता है तथा वरावरकी स्त्रीको वहिनके समान तथा छोटीस्त्रीको पुत्रीके समान समझता है उसपुरुषका वह बाह्यब्रह्मचर्य है और जो इन दोनोंप्रकारके ब्रह्मचर्यका पालन करनेवाला है वह (वशी) ब्रह्मचारी होता है ॥२॥

अब आचार्य इसबात को दिखाते हैं कि यदि शयन आदि अवस्थामें मुनिको अतीचारलगे तो वे प्रायश्चित करते हैं

स्वप्ने स्याद‍तिचारिता यदि तदा तत्रापि शास्त्रोदितप्रायश्चितविधिं करोति रजनीभागानुमत्या मुनिः
रागोद्रेकतया दुराशयतया सा गौरवात्कर्मणस्तस्य स्याद्यदि जाग्रतोपि हि पुनस्तस्यां महच्छोधनम् ॥

अर्थः—यदि किसीकारणसे स्वप्नमें मुनिको अतीचार लगजावे तो मुनि रात्रिका विभागकर शास्त्रमें कहेहुवे प्रायश्चित्तको करते हैं और यदि जाग्रतअवस्थामें रागके उद्रेकसे अथवा खोटेआशयसे वा कर्मकी गुरुतासे यदि मुनिको अतीचार लगजावे तो उस अतीचारितामें वे वड़ाभारी संशोधन करते हैं ॥

भावार्थः—यदि मुनीश्वरोंको सोतेसमय रात्रिमें अतीचार लगै तो वे रात्रिका विभागकर प्रायश्चित

करते हैं और यदि जाग्रतअवस्थामें रागकी अधिकतासे वा खोटे आशयसे अथवा कर्मके गौरवसे अतीचार लगे तो मुनि उसका बड़ाभारी संशोधन करते हैं ॥ ३ ॥

साधुके दृढ़मनका संयम जो है वही ब्रह्मचर्यकी रक्षाकरता है इसबातको आचार्य दिखाते हैं।

नित्यं खादति हस्तिसूकरपलं सिंहोबली तद्रतिर्वर्षेणैकादिने शिलाकणचरे पारावते सा सदा ।
न ब्रह्मव्रतमेति नाशमथवा स्यान्नैव भुक्तेर्गुणात्तद्रक्षां दृढ एक एव कुरुते साधोर्मनःसंयमः ॥४॥

अर्थः—भोजनके गुणसे अर्थात् भोजनके करनसे ब्रह्मचर्यव्रत नष्ट होता है तथा भोजनके न करनसे ब्रह्मचर्यव्रत पलता है यह बात नहीं है क्योंकि अत्यंत बलवान सिंह सदा हाथी तथा सूहरके मांसको खाता है किंतु वर्षमें वह एकहीसमय रतिको करता है तथा कबूतर सदा पत्थरके टुकड़े खाता है तोभी वह सदा रति करता रहता है किंतु ब्रह्मचर्यका पालन (रक्षा) एकमात्र साधुका दृढ़ जो मनका संयम है वही करता है।

भावार्थः—बहुतसे मनुष्य ऐसा समझते हैं कि पुष्टभोजनकरनेसे ब्रह्मचर्य नहीं पलता है और पुष्ट भोजनके न करनेसे ब्रह्मचर्य पलता है सो यहबात नहीं क्योंकि यदि पुष्टभोजन करनेसेहीं कामकी अतितीव्रता होती तो सिंहको भी अधिक कामी होना चाहिये क्योंकि वहभी तो दिनरात हाथी तथा सूहरके अत्यंत पुष्ट मांसको खाता है किंतु वह रति वर्षमें एकही दिवस करता है तथा यदि पुष्ट भोजनके न करनेसे ही काम अधिक नहीं सताता है तो कबूतर जोकि रातदिन रूखे पत्थरके टुकड़ोंको खाता, है उसै कामको अधिक नहीं सताना चाहिये किंतु देखनमें आता है कि कबूतर बड़ा कामी होता है तथा सदा रति करता रहता है इसलिये पुष्टभोजनकरनेसे ब्रह्मचर्यका नाश होता है तथा पुष्टभोजनके न करने से ब्रह्मचर्यका पालन होता है यह बात नहीं किंतु ब्रह्मचर्यकी रक्षाका कारण एकमात्र साधुका दृढ़मनका संयमही है और दृढ़मनका

संयम न होवे तो ब्रह्मचर्यका नाश होता है ऐसा समझना चाहिये ॥ ४ ॥

चेतः संयमनं यथावदवनं मूलव्रतानां मतं शेषाणां च यथाबलं प्रभवतां बाह्यं मुनेर्ज्ञानिनः
तज्जन्यं पुनरांतरं समरसीभावेन चिच्चेतसो नित्यानंदविधायिकार्यजनकं सर्वत्र हेतुर्द्वयम् ॥५॥

अर्थः—ज्ञानीमुनिके यथाशक्ति होनेवाले जो मूलगुण तथा उत्तरगुण हैं उनको यथायोग्य जो रक्षण करना है वह तो बाह्य मनका संयम है तथा उसबाह्यमनके संयमसे उत्पन्न हुवा और सदा आनंदके करनेवाले कार्यको पैदाकरनेवाला "चैतन्य तथा मनके समरसीभावसे, जो मनका संयम होता है वह अंतरंगमनका संयम है तथा सबजगह यह दोनों प्रकारका संयम कारण है ॥ ५ ॥

समस्तस्त्रियोंके त्यागकरनेमें व्रतीको अत्यंत प्रयत्न करनाचाहिये इसबातको आचार्यवर दिखाते हैं ।

चेतोभ्रांतिकरी नरस्य मदिरापीतिर्यथा स्त्री तथा तत्संगेन कुतो मुनेर्व्रतविधिः स्तोकोऽपि सम्भाव्यते ।
तस्मात्संसृतिपातभीतमतिभिः प्राप्तैस्तपोभूमिकां कर्तव्यो व्रतिभिः समस्तयुवतित्यागे प्रयत्नो महान् ॥

अर्थः—जिसप्रकार मदिराकापान मनुष्यको भ्रांतिका करनेवाला होता है उसीप्रकार स्त्रीभी मनुष्यके चित्तको भ्रांतिकी करनेवाली होती है इसलिये उस स्त्रीकी संगतिसे मुनीके थोड़ेभी व्रतके विधानकी संभावना नहीं होसक्ती इसलिये आचार्य कहते हैं कि जिनमुनियोंकी मति संसारमें भ्रमणकरनेसे भयभीत है और जो मुनि तपकी भूमिकाको प्राप्तहोगये हैं उनको समस्तस्त्रियोंके त्यागमें बड़ाभारी प्रयत्न करनाचाहिये ।

भावार्थः—जिसप्रकार शराबको पीनेवाला मनुष्य बेहोश रहता है और वह कुछभी काम नहीं करसक्ता उसीप्रकार स्त्रीका लोलुपी पुरुषभी हिताहितसे शून्य तथा किंकर्तव्यता विमूढ़ रहता है इसलिये ऐसी निकृष्ट स्त्रीकी संगतिसे थोड़ासाभी व्रतका विधान नहीं होसक्ता अतः आचार्य उपदेश देते हैं कि जिनमुनियोंकी

बुद्धि संसारके भ्रमणसे अत्यंत भयभीत है और जो तपकी भूमिका को प्राप्त होगये हैं उनमुनियोंको चाहिये कि वे समस्तप्रकारकी स्त्रियोंके त्यागमें बड़ा प्रयत्न करें ॥ ६ ॥

औरभी आचार्यवर स्त्रीके त्यागकी दृढ़ता को बतलाते हैं—

मुक्तेर्द्वारि दृढार्गला भवतरोः सेकेंऽगना सारिणी मोहव्याधविनिर्मिता नरमृगस्यावंधने वागुरा ।
यत्संगेन सतामपि प्रसरति प्राणादिपातादि तत्तद्वार्तापि यतेर्यतित्वहतये कुर्यान्न किं सा पुनः ॥७॥

अर्थः—यहस्त्री मुक्तिके द्वारके रोकनेकेलिये मजबूत अर्गला है और संसाररुपीवृक्षके सींचनेकेलिये नाली है तथा मनुष्यरूपी मृगोंके बांधनेकेलिये मोहरूपीव्याधद्वारा वनाया हुवा जाल है क्योंकि जिस स्त्रीके संगसे सज्जनोंका भी जीवन नष्ट होजाता है और जिसस्त्रीकी बातभी मुनियोंके मुनिपनेके नाशके लिये होती है वह स्त्री संसारमें और क्या २ नहीं करसक्ती ? अर्थात् समस्तप्रकारके अनिष्टोंको करसक्ती है ॥

भावार्थः—स्त्रीको अर्गलाकी उपमा इसलिये दी गई है कि जिससमय किवाड़ लगाकर अर्गला लगादी जाती है उससमय जिसप्रकार उसदरवाजेके भीतर कोईभी प्रवेश नहीं करसकता उसीप्रकार जो मनुष्य स्त्रीके लोलपी हैं अर्थात् स्त्रीके फंदेमें फसे हुवे हैं उनको मोक्षकी प्राप्ति कदापि नहीं होसकती । और स्त्रीको नाली की उपमा इसलिये दी गई है कि जिसप्रकार नालीद्वारा सींचनेसे वृक्ष दिन प्रतिदिन वढ़ता चलाजाता है उसीप्रकार स्त्रीलपटियोंकेलिये संसारभी बढ़ता चलाजाता है अर्थात् उनको निरंतर संसारमें भ्रमण करना पड़ता है और स्त्रीको जालकी उपमा इसलिये दी गई है कि जिसप्रकार जालमें फसकर जीव दुःख पाते हैं उसी प्रकार स्त्रीमें आसक्त होनेसे जीवोंको नानाप्रकारके दुःखोंका सामना करना पड़ता है इसलिये ऐसी स्त्री संसारमें समस्त अनिष्टोंके करनेवाली है क्योंकि जिस स्त्रीके संगसे सज्जनोंका भी जीवन नष्ट होजाता है तथा

यतियोंके यतिपनेका भी नाम निशान उड़जाता है ॥ ७ ॥

और भी आचर्यवर स्त्रीके विषयमें उपदेश देते हैं—

तावत्पूज्यपदस्थितिः परिलसत्तावद्यशो जृंभते तावच्छुभ्रतरा गुणाः शुचिमनस्तावत्तपो निर्मलम्।
तावद्धर्मकथापि राजति यतेस्तावत्स दृश्यो भवेत् यावन्न स्मरकारि हारि युवते रागान्मुखं वीक्षते॥

अर्थः—जबतक यति, प्रीतिसे कामके उद्दीपनकरनेवाले तथा मनोहर स्त्रीके मुखको नहीं देखता तभीतक वह यति पूज्यपदमें अर्थात् उत्तमपदमें स्थित रहता है और तभीतक उसयतीका शोभायमान यश वृद्धिको प्राप्त होता रहता है तथा तभीतक उसके गुण निष्कलंक रहते हैं और तभीतक उसयतीश्वरका मन पवित्र बना रहता है तथा उसीसमयतक उसका निर्मल तप रहता है तथा उसीसमयतक उसकी धर्मकथा शोभित रहती है और तभीतक वह देखने योग्य वनारहता है किंतु स्त्रीके मुखदेखतेही ये कोई बातें नहीं रहतीं इसलिये यतियोंको स्त्रीका मुख कदापि नहीं देखना चाहिये ॥ ८ ॥

मुनीश्वरोंको स्त्रीका सर्वथा त्यागकरदेना चाहिये इसबातको आचार्यवर बताते हैं—

तेजोहानिमपूततां व्रतहतिं पापं प्रपातं पथो मुक्तेरागितयांगनास्मृतिरपि क्लेशं करोति ध्रुवं।
तत्सान्निध्यविलोकनप्रतिवचःस्पर्शादयः कुर्वते किं नानर्थपरंपरामिति यतेस्त्याज्यावला दूरतः ॥९॥

अर्थः—जिसस्त्रीका रागसहितपनेसे स्मरणभी तेजकी हानिको करता है तथा अपवित्रताको करता है और व्रतोंके नाशको करता है तथा पापकी उत्पत्ति करता है और मोक्षके मार्गसे मनुष्योंको गिराता है और निश्चयसे नानाप्रकारके क्लेशोंको करता है तब उसस्त्रीके समीपमें रहना तथा उसका देखना और उसके साथ वचनालाप, और उसके स्पर्श, आदिक किस २ अनर्थको नहीं करते? अर्थात् सबही अनर्थोंको करते हैं इस

लिये ऐसी स्त्री यतियोंको दूरसे ही त्यागने योग्य है ।

भावार्थः—जब स्त्रीका न कुछ स्मरणही तेजका नाशकरता है और पवित्रता नहीं होने देता तथा समस्तप्रकारके व्रतोंको जड़से उड़ाता है और मोक्षमार्गसे भ्रष्ट करता है और नानाप्रकारके दुःखोंको देता है तब उसके पास रहना उसका देखना उसके साथ बार्तालाप करना और स्पर्श आदिकरना किस २ अनर्थको न करेगा ? इसलिये अपने हितके अभिलाषीयतीश्वरोंको चाहिये कि वे सर्वथा स्त्रीसे दूररहै ॥ ९ ॥

और भी आचार्यवर मुनीश्वरोंको उपदेश देते हैं—

वेश्या स्याद्धनतस्तदस्ति न यतेश्चेदस्ति सा स्यात्कुतो नात्माया युवतिर्यतित्वमभवत्तत्यागतो यत्पुरा ।
पुंसोऽन्यस्य च योषिता यदि रतिश्छिन्नो नृपात्तत्पतेः स्यादापज्जननद्वयक्षयकरी त्याज्यैव योषा यतेः ॥

आर्थः—यदि मुनि वेश्याके लोलुपी वनें तो वेश्या उनको मिल नहीं सकती क्योंकि वेश्या अधिक धन होनेपर ही प्राप्त होती है और वह धन यतीके पास है नहीं, यदि कदाचित् धनभी होवे तो वेश्या उनको मिल नहीं सकती और अपनी स्त्रीकीभी यतिको प्राप्ति नहीं हो सकती क्योंकि पहिले उसस्त्रीके त्यागसेही यतिपना हुवा है और यदि दूसरे पुरुषकी स्त्रीके साथ यति रतिकरैं तो वे राजासे छेदन आदिक दंडको प्राप्त होते हैं तथा उसस्त्रीके पतिके द्वाराभी वहुतसे कष्टोंको पाते हैं इसलिये यतियोंको दोनों जन्मोंकी नाशकरनेवाली स्त्रीका सर्वथा त्यागकरदेना चाहिये ।

भावार्थः—यदि स्त्रीके साथमें प्रीतिकरनेसे कुछ सुखामिलता तबतो यतियोंको स्त्रीकेसाथ प्रीतिकरना अच्छा होता किन्तु स्त्रीके साथमें प्रीतिकरनेमें तो अंशमात्रभी सुख नहीं क्योंकि वेश्याके साथ प्रीति तो धन से होती है सो धन यतीके पास है नहीं, इसलिये उनको एकप्रकारका कष्टही है यदि कदाचित् उनके पास

धन होवेभी तो वेश्या उनको कहांसे मिलसकती है यदि कहो अपनी युवतिके साथ रति करैं सो अपनी स्त्री भी यतिको नहीं मिलसकती क्योंकि पहिले उसस्त्रीके त्यागसेही यति हुवे हैं इसलिये भी दुःखही है यदि कहो कि परस्त्रीके साथ ही रति करैं सोभी नहीं बनसकता क्योंकि परस्त्रीसेवियोंको राजा, छेदनभेदन आदि दंड देता है तथा उसस्त्रीका पति भी नानाप्रकारके ताड़न आदि दुःख देता है और स्त्री दोनों जन्मोंके नाशकरने वाली होती है इसलिये ऐसी स्त्रीका मुनिको सर्वथा त्याग करदेना चाहिये ॥ १० ॥

आचार्य ब्रह्मचर्यकी महिमाका वर्णन करते हैं—

दारा एव गृहं नचेष्टकचितं तत्तैर्गृहस्थो भवेत्तत्त्यागे यतिरादधाति नियतं संद्ब्रह्मचर्यं[1] परम् ।
वैकल्यं किल तत्र चेत्तदपरं सर्वं विनष्टं व्रतं पुंसस्तेन विना तदा तदुभयभ्रष्टत्वमापद्यते ॥ ११ ॥

अर्थः—स्त्रीका नामही घरहै किंतु ईंटोंसे व्याप्त घर नहीं कहलाता इसलिये उन स्त्रियोंसे ही मनुष्य गृहस्थ होता है और उसस्त्रीके सर्वथा त्यागसे ही यति उत्कृष्ट तथा श्रेष्ठ ब्रह्मचर्यको निश्चयसे धारण करतेहैं यदि उसब्रह्मचर्यमें किसीकारणसे विकलताहो जावे तो दूसरे २ समस्त व्रत नष्ट हो जाते हैं और उससमय उसब्रह्मचर्यके विना यतिके व्रतीपना तथा गृहस्थपना दोनों नष्ट हो जाते हैं ।

भावार्थः—स्त्रीके ग्रहणसे तो मनुष्य गृहस्थ कहाजाता है और स्त्रीके त्यागसे यति, वास्तविकरीतिसे ब्रह्मचर्यका पालनकरते हैं यदि ब्रह्मचर्यमें किसीप्रकारकी विकलता (हीनता) हो जावे तो और दूसरे २ भी समस्तव्रत नष्ट हो जाते हैं और ब्रह्मचर्यमें विकलताके आजानेके कारण न तो वास्तविकरीतिसे व्रतीपनाही

१ सद्ब्रह्मचर्यम् यहभी क, पुस्तकमें पाठ है ।

रहता है और न गृहस्थपनाही रहताहै इसलिये यतियोंको चाहिये कि वे ब्रह्मचर्यके धारण करनेपर उसका अच्छी तरह पालन करैं और यदि ब्रह्मचर्य भलीभांति पालन न करसके तो वे गृहस्थही वने रहे जिससे उन का गृहस्थपनातो उत्तम बना रहै नहीं तो दोनोंही गृहस्थपना तथा व्रतीपना उनके नष्ट हो जावेंगे ॥ ११ ॥

और भी आचार्यवर मुनियोंको उपदेश देते हैं ।

सम्पद्येत दिनद्वयं यदि सुखं नो भोजनादेस्तदा स्त्रीणामप्यतिरूपगर्वितधियामंगं शवांगायते ।
लावण्याद्यपि तत्र चंचलमिति श्लिष्टं च तत्तद्गतां दृष्ट्वा कुंकुमकज्जलादिरचनां मा गच्छ मोहं मुने॥१२॥

अर्थः—रूपसे अत्यंत घमंडयुक्त हैं बुद्धि जिन्होंकी ऐसी स्त्रियोंको यदि दोदिन भी भोजनादिसे सुख न मिले अर्थात् यदि वे दोदिन भी नहीं खांय तो उनका शरीर मुर्देके शरीरके समान मालूम पड़ता है और उनस्त्रियोंके शरीरमें मौजूद जो लावण्य है वह भी चंचल है अर्थात् क्षणभर में विनाशीक है इसलिये हे मुनियो उनस्त्रियोंके शरीरमें केसर, काजल, आदिकी रचनाको देखकर मोहित मत हो ॥

भावार्थः—यदि स्त्रियोंका शरीर नित्य तथा सुंदर, वना रहता और उनके शरीरका लावण्य चंचल न होता तबतो हे मुनियों तुमको उनके शरीरमें केसर तथा काजल आदिकी रचनाको देखकर मुग्ध होना था लेकिन उनका शरीर तो ऐसा है कि यदि वें दोदिनभी भोजन न करैं तो वह मुर्देके शरीरके समान फीका पड़जाता है और उनमें जो कुछ लावण्य दृष्टि गोचर होता है वह भी पलभर में नष्ट होजाताहै इसलिये ऐसी निस्सार स्त्रीमें कदापि तुमको मोह नहीं करना चाहिये ॥ १२ ॥

स्त्रीके शरीरकी शोभा क्षणभंगुर है इसबातको आचार्य दिखाते हैं—

तद्गतां, यहभी ख पुस्त में पाठ है—

रम्भास्तम्भमृणालहेमशशभृन्नीलोत्पलाद्यैः पुरा यस्य स्त्रीवपुषः पुरः परिगतैः प्राप्ता प्रतिष्ठा न हि ।
तत्पर्यंतदशां गतं विधिवशात्क्षिप्तं क्षतं पक्षिभिर्भीतैश्छादितनासिकैः पितृवने दृष्टं लघु त्यज्यते ॥१३॥

अर्थः—जिस स्त्रीके शरीरके आगे प्राप्त ऐसे केलोंका स्तंभ, कमलका तंतु, वरफ, चंद्रमा, और नीलकमल आदिकोने भी पहिले प्रतिष्ठा नहीं पाईथी वही स्त्रीका शरीर जिससमय मृतशरीर वनजाता है और जब वह श्मसान भूमिमें फैंकदियाजाता है और जिससमय पक्षी उसके टुकड़े २ कर देते है उससमय वह देखा हुआ शरीर, भयभीत तथा जिनकी नाक ढ़की हुई हैं ऐसे मनुष्योंके द्वारा शीघ्र ही छोड़ दिया जाता है ॥ १३ ॥

भावार्थः—जबतक स्त्रीका शरीर जीवितशरीर रहता है तबतकतो इतना मनोहर रहता है कि केलोंका स्तंभभी उसके सामने कोई चीज नहीं, और न कमल तंतुही कोई चीज है तथा शीतल इतना होता है कि वरफ चंद्रमा तथा नीलकमलकीभी शीतलता उसके सामने कोई चीज नहीं। किंतु वही शरीर जब मृतशरीर वन जाता है उससमय वह श्मसानभूमिमें फेंक दिया जाता है और पक्षिगण उसके टुकड़े २ उड़ा देते हैं और मनुष्य उसको भयभीत होकर तथा नाक ढ़ककर देखते है और शीघ्रही छोड़देते हैं इसलिये ऐसे अपवित्र तथा अनित्यशरीरमें मुनियोंको कभी भी रागनहीं करना चाहिये ॥ १३ ॥

और भी इसीविषयमें आचार्य कहते हैं—

अंगं यद्यपि योषितां प्रविलसत्तारुण्यलावण्यवद्भूषावत्तदपि प्रमोदजनकं मूढात्मनां नो सताम् ।
उच्छूनैर्बहुभिः शवैरातितरां कीर्णं श्मसानस्थलं लब्ध्वा तुष्यति कृष्णकाकनिकरो नो राजहंसव्रजः ॥१४॥

अर्थः—यद्यपि स्त्रियोंका शरीर मनोहर यौवनअवस्था तथा लावण्यकर सहितभी है, और अनेक प्रकार के भूषणोंसे भूषितहै तोभी वह मूढ़बुद्धिपुरुषोंको ही आनंदका देनेवाला है किंतु सज्जनपुरुषोंको आनंदका

देनेवाला नहीं जिसप्रकार सड़े हुवे अनेक मुर्दोंसे व्याप्त श्मसानभूमिको प्राप्त होकर काले काकोंका समूहही संतुष्ट होताहै राजहंसोंका समूह संतुष्ट नहीं होता ॥

भावार्थः—जिसप्रकार सड़ेहुवे मुर्दोंसे व्याप्त श्मसानभूमिको प्राप्त होकर कौवा संतुष्ट होता है और राजहस संतुष्ट नहीं होता उसीप्रकार यद्यपि स्त्रीका शरीर उत्तम यौवन तथा लावण्यकर सहितभी है और नानाप्रकारके भूषणोंसे भी सहित है तोभी उसको मूर्खलोगही हर्षका करनेवाला मानते है विद्वानलोग हर्षका करनेवाला कदापि नहीं मानते ॥ १४ ॥

स्त्रीका शरीर अपावित्र है इसलिये विद्वानलोग उसमें राग नहीं करते इसबातको आचार्यवर दिखाते हैं।

यूकाधाम कचाः कपालमजिनाच्छन्नं मुखं योषितां तच्छिद्रे नयने कुचौ पलभरौ वाहूतते कीकसे।
तुंदं मूत्रमलादिसद्म जघनं प्रस्पन्दिवर्चोगृहं पादस्थूणमिदं किमत्र महतां रागाय संभाव्यते ॥१५॥

अर्थः——स्त्रियोंके वालतो जूंवाओंके स्थान हैं और मुख तथा कपाल चामकर वेष्टित हैं और दोनों नेत्र उसके छेद है तथा स्तन मांससे भेरे हुवे हैं और दोनों भुजा विस्तृत हाड्डियां है और स्त्रियोंका पेट मूत्र तथा मलका घर है और जघन वहती हुई विष्टाके घर हैं और स्त्रियोंके चरण स्थूणके समानहै इसलिये नहीं मालूम सज्जनोंको स्त्रियोंकी कोनसी चीज रागकेलिये होती है।

भावार्थः—यदि स्त्रीकी कोई भी चीज पवित्र तथा सुंदर होती तो स्त्रीमें विद्वान पुरुषोंके रागकी संभावना हो सक्ती थी किंतु स्त्रीकी तो कोई चीज पवित्र तथा सुंदर नहीं क्योंकि उनके वालोंमें तो असंख्याते जूवां लीख आदि जीव भरे हुवे हैं और मुख तथा कपाल चर्मकर वेष्ठित हैं तथा दोनों नेत्र छिद्र है और स्तन मांसके पिंड

१ क पुस्तकमें अजिनाच्छादि यहभी पाठ है।

है और भुजा लंबी २ हड्डियां है और पेट मल मूत्रका पिटारा है और जघन वहती हुई विष्टाके घरहैं और चरण थूड़ीके समानहैं इसलिये ऐसे अपवित्र स्त्रीके शरीरमें उत्तमपुरुषोंको कदापि मोह नहीं करना चाहिये॥१५॥

और भी आचार्यवर स्त्रीकी अपवित्रताको दिखाते हैं—

कार्याकार्यविचारशून्यमनसो लोकस्य किं ब्रूमहे यो रागांधतयादरेण वनितावक्त्रास्यलालां पिवेत् ।
श्लाघ्यास्ते कवयः शशांकवदिति प्रव्यक्तवाग्डंबरैश्चर्मानद्धकपालमेतदपि यैरग्रे सतां वर्ण्यते ॥ १६ ॥

अर्थः—रागसे अंधाहोकर जो लोक बड़े आदरसे स्त्रीके मुखकी लारका पान करता है ग्रंथकार कहते हैं कि कार्य तथा अकार्यके विचारसे रहित है मन जिसका ऐसे उसलोकके विषयमें हम क्या कहे ? और वे कविभी सराहना करने योग्य है कि जो कवि सज्जनोंके सामने चामसे ढकाहुवा है कपाल जिसका ऐसेभी स्त्रीके मुखको, अपने प्रबलबाणीके आडंबरसे चंद्रमाके समान कहते हैं ।

भावार्थ—विनाही उपदेशके समस्तजीव स्त्रीके सेवकवनेहुवे हैं और रातादिन बड़े आदरसे उनकी लारका पान करते है किन्तु कविलोग चामसे ढकेहुए भी स्त्रीके मुखको चंद्रमाकी उपमा देकर और उनको चंद्रवदनी कहकर और भी जीवोंको भ्रांत करते हैं यह बड़ीभारी भूल है इसलिये ऐसी निकृष्ट तथा अपवित्र स्त्रीकी प्रशंसा करनेवाले वे कवि कुकवि हैं ऐसा समझना चाहिये ॥ १६ ॥

आचार्यवर कवियोंकी निंदा करते हैं—

एष स्त्रीविषये विनापि हि परप्रोक्तोपदेशं भृशं रागांधो मदनोदयादनुचितं किं किं न कुर्याज्जनः ।
अप्येतत्परमार्थबोधविकलः प्रौढं करोति स्फुरच्छृंगारं प्रविधाय काव्यमसकृल्लोकस्य कश्चित्कविः ॥१७॥

अर्थः—रागसे अंध यह लोक परके दियेहुवे उपदेशके विनाही कामके उदयसे अर्थात् कामीहोकर क्या

२ अनुचित काम नहीं करता है अर्थात् सबही अनुचित काम को करता है इतनेपरभी जिसको अंशमात्रभी परमार्थका ज्ञान नहीं ऐसा कोई कवि जिसमें भलीभांति शृंगारका वर्णन कियागया है ऐसे काव्यको वनाकर और भी निरंतर लोगोंको चतुर (स्त्रियोंके सेवनमें प्रौढ़) करता रहता है।

भावार्थः—यह नीतिकारका सिद्धांत है कि जो पदार्थ त्यागने योग्य होता है उसमें मनुष्यकी बुद्धि विना उपदेशके प्रवेशकर जाती है, उपादेय पदार्थके ग्रहणकरनेमें उतनी जल्दी बुद्धि प्रवेश नहीं करती इसलिये जो पुरुष रागांध है उनकी एकतो विना उपदेशके ही स्त्रीके विषयमें बुद्धि प्रवृत्त होजाती है और जब उनकी बुद्धि स्त्री विषयमें फसजाती है तब वे अनेकप्रकारके अनुचित कामकर बैठते हैं। ऐसे होनेपर भी कविलोग अपनेको दयालु समझकर और भी उनकोलिये शृंगारविशिष्ट काव्योंको वनाकर उनको स्त्रीविषयमें चतुर वनादेते हैं इसलिये ऐसे कवियोंको उत्तम कवि न समझकर कुकवि हीं समझना चाहिये ॥ १७ ॥

अब आचार्यवर इसबातको बताते कि हैं जो मुनि स्त्री तथा धनका त्यागी है वह देवोंका देव है और सबोंका मानने योग्य है—

दारार्थादिपरिग्रहः कृतगृहव्यापारसारोऽपि सन् देवः सोऽपि गृही नरः परधनस्त्रीनिस्पृहः सर्वदा।
यस्य स्त्री नतु सर्वथा नच धनं रत्नत्रयालंकृतो देवानामपि देव एव स मुनिः केनात्र नो मन्यते॥

अर्थः—जिसपुरुषके स्त्रीका परिग्रह मौजूद है और धनका परिग्रह मौजूद है तथा जिसने समस्त गृहसंबंधी व्यापारको करलिया है ऐसा गृहस्थ भी मनुष्य, यदि परधन तथा परस्त्रीमें निस्पृह है तो वहभी जव देव कहाजाता है तब जिसमुनिके न तो स्त्री है और न सर्वथा धनही है और जो सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र स्वरूप रत्नत्रयसे शोभित है वहतो देवोंकाभी देवहै ही। और उसमुनिकी सबही प्रतिष्ठा करते हैं।

भावार्थः—चाहै उस मनुष्यके स्त्री तथा धन हो और चाहे उसने समस्तघरके काम किये हुवे हों यदि वह परधन तथा परस्त्रीमें इच्छा रहित है वह भी जब देव कहलाता है तब जो सर्वथा स्त्रीका त्यागी है और सर्वथा धनका त्यागी है अर्थात् जिसके पास कणमात्रभी धन नहीं है और सम्यग्दर्शनादिरत्नत्रयसे विभूषित है तो वह क्यों नहीं देवोंका देव होगा और वह क्यों नहीं सज्जनोंके आदरका पात्र होगा ? अवश्यही होगा इसलिये मुनियोंको चाहिये कि वे स्त्री तथा धनमें सर्वथा इच्छाका त्याग करदेवें ॥ १८ ॥

कामिन्यादि विनात्र दुःखहतये स्वीकुर्वते तच्च ये लोकास्तत्र सुखं पराश्रिततया तद्दुःखमेव ध्रुवम् ।
हित्वा तद्विषयोत्थमंतविरसं स्तोकं यदाध्यात्मिकं तत्तत्वैकदृशां सुखं निरुपमं नित्यं निजं नीरजम् ॥

अर्थः—स्त्री आदिके विना संसारमें दुःख होता है यह समझकर लोग दुःखके दूरकरनेकेलिये स्त्री आदिका स्वीकार करते हैं परंतु स्त्री आदिकमें जो सुख है सो पराधीनताके कारण दुःखही है इसलिये अंतमें विरस तथा थोड़ा जो विषयसे उत्पन्न सुख है उसको छोड़कर जो तत्त्वज्ञानियोंका आत्मसंबधी सुख है वही सुख उपमारहित तथा सदाकाल रहनेवाला और अपना तथा निर्दोष है ऐसा समझना चाहिये ॥

भावार्थः—जो अल्पज्ञानी दुःखके दूरकरनेकेलिये स्त्री भोजन आदिका स्वीकार करते हैं सो ठीक नहीं क्योंकि स्त्री भोजन आदिके स्वीकारसे दुःख दूर नहीं होता और न सुखही मिल सकता क्योंकि वह जो सुख है वह पराधीनताके कारण दुःखही है और वह विषयोत्थ सुख अंतमें विरस तथा थोड़ा है इसलिये ऐसे सुखको छोड़कर, तत्वज्ञानी पुरुष जो उपमारहित तथा नित्य और स्वीय तथा निर्दोष सुखका अनुभव करते हैं वास्तवमें वही सुख है ऐसा समझना चाहिये ॥ १९ ॥

अब आचार्य इसबातको वताते है कि जो पुण्यवान हैं वे भी यतीश्वरोंको नमस्कार करते हैं ।

सौभाग्यादिगुणप्रमोदसदनैः पुण्यैर्युतास्ते हृदि स्त्रीणां ये सुचिरं वसंति विलसत्तारुण्यपुण्याश्रियाम् ॥
ज्योतिर्बोधमयं तदंतरदृशा कायात्पृथक् पश्यतां येषां ता नतु जातु तेऽपि कृतिनस्तेभ्यो नमःकुर्वते ॥

अर्थः—वे मनुष्य सौभाग्य आदिगुण तथा आनंदके स्थानभूत जोपुण्य उनकर सहित हैं जोमनुष्य मनोहर जो यौवनअवस्था उससे पवित्र है शोभा जिनकी, ऐसी स्त्रियोंके मनमें चिरकालतक निवासकरते हैं और वे पुण्यवान पुरुष भी, जो मुनि अपनी प्रसिद्ध अंतर्दृष्टिसे सम्यग्ज्ञानमयतेजको शरीरसे जुदा देखने वाले हैं और जिनके पास स्त्री फटकनेतक भी नहीं पाती ऐसे मुनीश्वरोंको नमस्कार करते हैं।

भावार्थः—यद्यपि संसारमें वे मनुष्य भी पुण्यात्मा तथा धन्य है जो यौवन अवस्थासे शोभायमान स्त्रियोंके हृदयमें चिरकालतक निवासकरते हैं अर्थात् जिनको स्त्रियां हृदयसे चाहती हैं किन्तु उनसे भी धन्य वे यतीश्वर हैं जोकि अपनी अंतर्दृष्टिसे सम्यग्ज्ञानमय ज्योतिको जुदाकर देखते हैं और जिनके पास स्त्रियां स्वप्नमेंभी नहीं फटकने पातीं तथा वे पुण्यात्मा और स्त्रियोंके प्रिय भी मनुष्य, जिनको मस्तक झुकाकर नमस्कार करते हैं॥२०॥

मनुष्यभवसे मोक्षकी प्राप्ति होती है इसलिये भव्यजीवोंको मनुष्यभव पाकर तपकरना चाहिये इसबातका आचार्य उपदेश देते हैं।

दुष्प्रापं बहुदुःखराशिरशुचि स्तोकायुरल्पज्ञता ज्ञातप्रांतदिनः जराहतमतिः प्रायो नरत्वं भवे ॥
अस्मिन्नेव तपस्ततः शिवपदं तत्रैव साक्षात्सुखं सौख्यार्थीति विचिंत्य चेतसि तपः कुर्यान्नरो निर्मलम् ॥

अर्थः—जिसनरभवमें बहुत दुःखोंका समूह है और जिसमें अपवित्र तथा थोड़ी आयु है और जिसमें थोड़ा ज्ञानपना है तथा जिसमें अंतके दिनका निश्चय नहीं है "अर्थात् कब मरण होगा यहबात मालूम नहीं है" और जिसनरभवमें बुद्धि वृद्धावस्थाकर नष्ट है ऐसा इससंसारमें यह नरभव है किंतु तपकी प्राप्ति इसी

नरभवमें होती है और उसतपसे मोक्षपदकी प्राप्ति होती है तथा उसमोक्षपदमें साक्षात् सुखमिलता है इसलिये ग्रंथकार कहते हैं कि ऐसा भलीभांति चित्तमें विचारकर जो मनुष्य उत्तमसुखकी प्राप्तिके अभिलाषी हैं उनको अवश्य ही निर्मलतप करना चाहिये ।

भावार्थः—यद्यपि इस नरभवमें बहुतसे दुःख है तथा अपवित्र और थोड़ी आयु है और थोड़ा ज्ञान है तथा इसनरभवमें मरणके दिनका भी निश्चय नहीं है जरासे बुद्धि भी नष्ट है तौभी तपकी प्राप्ति इसनरभवमें ही होती है और उसतपसे मोक्षपदकी प्राप्ति होती है तथा मोक्षमें साक्षात् सुख मिलता है इसलिये ऐसा विचारकर और इस उत्तमनरभवको पाकर मनुष्य को निर्मलतप अवश्य करना चाहिये किन्तु व्यर्थ ही इसनरभवको व्यतीत नहीं करना चाहिये ॥ २१ ॥

उक्तेयं मुनिपद्मनंदिभिषजा द्वाभ्यां युतायाः शुभा सद्वृत्तौषधिविंशतेरुचितवागर्थाम्भसा वर्तिता ॥
निर्ग्रन्थैः परलोकदर्शनकृते प्रोद्यत्तपोवार्द्धकैश्चेतश्चक्षुरनंगरोगशमनी वर्तिः सदा सेव्यताम् ॥

अर्थः—श्रीपद्मनंदिनामक वैद्यद्वारा, उचित जो वचन और अर्थ वही हुआ जल उससे दो श्लोकों कर सहित तथा श्रेष्ठ छन्दरूपही हैं औषधि जिसमें ऐसी जो विशंति उससे "अर्थात् बाईस श्लोकोंसे" यहशुभ सलाई (ब्रह्मचर्यरक्षावर्ति) बनाई है इसलिये जो समस्तप्रकारके परिग्रहोंकर रहित निर्ग्रंथ है और उन्नत जो तप उससे वर्धमान है अर्थात् जो अत्यंत तपस्वी हैं उनको मनरूपी नेत्रमें स्थित जो कामरूपीरोग, उसको शांत करनेवाली यह सलाई परलोकके दर्शनकेलिये अवश्य ही सेवनीय है ।

भावार्थः—जिसप्रकार नेत्रका रोगी पुरुष नेत्रसे देखनेकेलिये किसी वैद्यद्वारा उत्तमजलसे बनाईहुई सलाईका सेवन करता है उसीप्रकार आचार्यवरपद्मनंदिनामकवैद्यने भी यह ब्रह्मचर्यरक्षावर्ति उत्तम वचन तथा

अर्थरूपजलसे २२ श्लोकोंमें बनाई है इसलिये जो मनुष्य समस्तप्रकारके परिग्रहोंसे रहित निर्ग्रंथ है और प्रबलतपस्वी तथा परलोकके देखनेके अभिलाषी हैं उनको अवश्य ही इस कामरूपीज्वरको शमन करनेवाली सलाई (ब्रह्मचर्यरक्षावर्ति) का सेवनकरना चाहिये अर्थात् उनको अवश्यही पूरीतौरसे ब्रह्मचर्यका रक्षणकरना चाहिये ॥२२॥

इसप्रकार श्रीपद्मनंदिआचार्यद्वारा रचित श्रीपद्मनंदिपंचविंशतिकामें ब्रह्मचर्यरक्षावर्तिनामक अधिकार समाप्तहुआ ।



ऋषभस्तोत्रप्रारंभः ।

गाथा ।

जय उसह णाहिणंदण तिहुवणणिलयेकदीव तित्थयर ।
जय सयलजीववच्छल णिम्मलगुणरयणणिहि णाह ॥

जय ऋषभ नाभिनंदन त्रिभुवननिलयैकदीप तीर्थंकर
जय सकलजीववत्सल निर्मलगुणरत्ननिधे नाथ ।

अर्थः—श्रीमान नाभिराजाकेपुत्र, तथा उर्ध्वलोक मध्यलोक और अधोलोकरूपी जो घर उसकेलिये दीपक, तथा धर्मतीर्थकी प्रवृत्तिकरनेवाले, हे ऋषभदेव भगवान तुम सदा इसलोकमें जयवंत रहो। तथा समस्तजीवों-पर वात्सल्यको धारणकरनेवाले, और निर्मल जो गुण वेही हुए रत्न उनके आकर (खजाना) ऐसे हे नाथ तुम सदा इसलोकमें जयवंत रहो ॥ १ ॥

सयलसुरासुरमणिमउडकिरणकव्बुरियपायपीठ तुमं
धण्णा पेच्छंति थुणंति जवंति झायंति जिणणाह ॥

सकलसुरासुरमणिमुकुटकिरणै. कर्बुरितपादपीठ
त्वां धन्याः प्रेक्षंते स्तुवंति जपंति ध्यायति जिमनाथ ।

अर्थः——समस्त जो सुर तथा असुर उनके जो चित्रविचित्र मणियोंकर सहित मुकुट, उनकी जो किरणें उनसे कर्बुरित अर्थात् चित्रविचित्र है सिंहासन जिनका ऐसे हे जिननाथ जो मनुष्य आपको देखते हैं और आपकी स्तुति करते हैं तथा आपका जप और ध्यान करते हैं वे मनुष्य धन्य हैं ।

भावार्थः——हे जिनेंद्र आपको वड़े २ सुर असुर भी आकर नमस्कार करते हैं इसलिये हरएक मनुष्यको आपके दर्शनका तथा आपकी स्तुतिका और आपके जप तथा ध्यानका सुलभरीतिसे अवसर नहीं मिलसकता किंतु जो मनुष्य ऐसे पुण्यवान हैं जिनको आपका दर्शनमिलता है और आपकी स्तुति तथा जप और ध्यानका भी अवसर मिलता है वे मनुष्य संसारमें धन्य हैं अर्थात् उनमनुष्योंको धन्यवाद है ॥ २ ॥

इसीश्लोकके तात्पर्यको लेकर कहींपर कहा भी है——

यःपुष्पैर्जिनमर्चति स्मितसुरस्त्रीलोचनैः सोऽर्च्यते यस्तं वंदाति एकशस्त्रिजगता सोऽहर्निशं वन्द्यते ॥
यस्तं स्तौति परत्र वृत्तदमनस्तोमेन संस्तूयते यस्तं ध्यायति क्लृप्तकर्मनिधनः स ध्यायते योगिभिः ।

अर्थः——जो मनुष्य जिनेंद्रभगवानकी फूलोंसे पूजन करता है वह मनुष्य परभवमें मंदहास्यसहित ऐसी जो देवांगना उनके नेत्रोंसे पूजित होता है और जो मनुष्य एकबारभी जिनेंद्रको वंदता है वह मनुष्य रात दिन तीनों लोकमें वंदनीय होता है अर्थात् तीनोंलोक आकर उसकी वंदना करता है तथा जो मनुष्य एकबार भी जिनेंद्रभगवानकी स्तुति करता है परलोकमें बड़े २ इंद्र उसकी स्तुति करते हैं और जो मनुष्य एकबार भी जिनेंद्रभगवानका ध्यान करता है वह समस्तकर्मोंसे रहित होजाता है तथा बड़े २ योगीश्वर भी उसमनुष्यका ध्यान करते हैं इसलिये भव्यजीवोंको चाहिये कि वे भगवानकी पूजन तथा वंदना और स्तुति तथा ध्यान सर्वदा किया करैं ॥१॥

॥३५०॥

चम्मच्छिणावि देहे तइतइलोयेण माइ महहरिसो
णाणाच्छिणा उणोजिण ण याणिमो किं परिप्फुरइ ॥

चर्माक्ष्णापि दृष्टे त्वयि त्रैलोक्ये न माति महाहर्ष
ज्ञानाक्ष्णा पुनर्स जिन न जानीम' किं परिस्फुरति ।

अर्थः—हे जिनेंद्र हे भगवन् यदि हम आपको चामकी आंखसे भी देखलें तो भी हमें इतना भारी हर्ष होता है कि वह हर्ष तीनोंलोकों में नहीं समाता फिर यदि आपको हम ज्ञानरूपी नेत्रसे देखें तबतो हम कहीं नहीं सकते कि हमको कितना आनंद न होगा ?

भावार्थः—चर्मके नेत्रका विषय परिमित तथा बहुत थोड़ा है इसलिये उसचर्मनेत्रसे आपका समस्तस्वरूप हमको नहीं दीखसकता किंतु हेप्रभो उसचर्मनेत्रसे जो कुछ आपका स्वरूप दृष्टिगोचर होता है उससेही हमको इतना भारी हर्ष होता है कि औरकी तो क्या बात वह तीनोंलोकमें भी नहीं समाता किंतु यदि हम ज्ञानरूपी नेत्रसे आपके समस्तस्वरूपको देखे तब हम नहीं जानसकते हमको कितना आनन्द न होगा ? ॥३॥

तं जिण णाणमणंतं विसईकयसयलवत्थुवित्थारं
जो थुणइ सो पयासइ समुद्दकहमवटसालूरो ।

त्वा जिन ज्ञानमनत विषयीकृतसकलवस्तुविस्तार
य.स्तौति स प्रकाशयति समुद्रकथामवटसालूर' ।

अर्थः—हे जिनेंद्र जो पुरुष, नहीं है अंत जिसका तथा जिसने समस्तवस्तुओंके विस्तारको विषयकर लिया है ऐसे ज्ञानस्वरूप आपकी स्तुति करता है वह कूवाका मैढ़क समुद्रकी कथा का वर्णन करता है ।

भावार्थः—जिसप्रकार कूवाका मैढ़क समुद्रकी कथा नहीं करसकता उसीप्रकार हे जिनेंद्र जो पुरुष

॥३५१॥

ज्ञानस्वरूप आपका स्तवन तथा आपको नमस्कार नहीं करता उसका ज्ञान समस्तपदार्थोंका विषयकरनेवाला नहीं होता किंतु जो मनुष्य आपकी भक्तिपूर्वक स्तुति करता है उसको विस्तृतज्ञानकी प्राप्ति होती है ॥४॥

अह्मारिसाण तुह गोत्तकित्तणेणवि जिणेस संचरई ।
आयेसम्मग्गंती पुरडाहियेइच्छिया लच्छी ॥

अस्मादृशां तव गोत्रकीर्तनेनापि जिनेश संचरति
आदेशं मार्गयंती पुरतोहृदयेप्सिता लक्ष्मीः ।

अर्थः—हे जिनेद्र हेप्रभो आपके नामके कीर्तनमात्रसेही हमसरीखे मनुष्यों के आगे आज्ञाको मांगता हुई मनोवांछित लक्ष्मी गमन करती है ।

भावार्थः—हेजिनेन्द्र आपके नाममें ही इतनी शक्ति है कि आपके नामके कीर्तनमात्रसेही हमसरीखे मनुष्योंके सामने हमारी आज्ञाको मागती हुई लक्ष्मीदोड़ती फिरती है तब जो मनुष्य साक्षात् आपको प्राप्त करलेगा उसकी तो फिर बातही क्या है? अर्थात् उसकोतो आवश्यही अंतरंग तथा वहिरंग लक्ष्मीकी प्राप्ति होगी ॥५॥

जासिसिरी तइ संते तुव अवयणमित्तियेणट्ठा ।
संके जणियाणट्ठा दिट्ठा सव्वट्ठसिद्धावि ॥

आसीत् श्रीः त्वयि सति त्वयि अवतीर्णे नष्टा
शंके जनितानिष्टा दृष्टा सर्वार्थसिद्धावपि ।

अर्थः—हे सर्वज्ञ हे जिनेश जिससमय आप सवार्थसिद्धिविमानमेंथे उससमय जैसी उस विमानकी शोभाथी वह शोभा आपके इसपृथ्वीतल उतरनेपर आपके वियोगसे उत्पन्नहुवे दुःखसे नष्ट होगई ऐसा मैं (ग्रंथकार) शंका (अनुमान) करता हूं ।

भावार्थ—हे भगवन् आपमें यहबड़ी भारी एक प्रकारकी खूबी मोजूद है कि जहांपर आप निवास करते हैं वहीं पर उत्तम शोभाभी रहती है क्योंकि जिससमय आप सर्वार्थसिद्धिनामके विमानमें विराजमानथे उस समय उसविमानकी बड़ी भारी शोभाथी किंतु जिससमय आप इस पृथ्वीतलमें उतरकर आये उससमय उस विमानकी उतनी शोभा नहीं रही किंतु इसपृथ्वीतलकी शोभा अधिक बढ़गई ॥६॥

णाहिघरे वसुहारा वडणंजं सुइर महितहो अरणी ।
आसि णहाहि जिणसेर तेण धरा वसुमयी जाया ॥

नाभिगृहे वसुधारापतनं यत् सुचिरं महीमवतरणात्
आसीत् नभसो जिनेश्वर तेन धरा वसुमती जाता ।

अर्थः—हे जिनेश्वर जिसमय आप इस पृथ्वीतलपर उतरेथे उससमय जो नाभिराजाके घरमें बहुत कालतक धनकी वर्षा आकाशसे हुई थी उसीसे हे प्रभो यह पृथ्वी वसुमती हुई है ।

भावार्थः—पृथ्वीका नाम वसुमती है और जो धनको धारणकरनेवाली होवे उसीको वसुमती कहते हैं इसलिये ग्रंथकार उत्प्रेक्षा करते हैं कि इस पृथ्वीका नाम वसुमती जो पड़ा है सो हे भगवन् आपकी कृपासे ही पड़ा है क्योंकि जिससमय आप सर्वार्थसद्धिविमानसे पृथ्वीमंडलपर उतरे थे उससमय बराबर १५ मासतक रत्नोंकी वृष्टि इसपृथ्वी मंडलमें नाभिराजाके घरमें हुई थी इसलिये पृथ्वीके समस्त दारिद्रय दूर होगये थे। किंतु पहिले इसका नाम वसुमती नहीं था ॥ ७ ॥

सच्चियसुरणवियपया मरुएवी पहु ठिऊसि जं गब्भे ।
पुरऊपद्दो वज्झइ मज्झे से पुत्तवत्तीणं ॥

शचीसुरनामितपदा मरुदेवी प्रभो स्थितोऽसि यद्गर्भे

पुरतःपट्टो बध्यते मध्ये तस्या' पुत्रवतीनाम् ।

अर्थः—हे प्रभो हे जिनेंद्र आप मरुदेवीमाताके गर्भमें स्थित होतेहुए इसीलिये मरुदेवीमाता इन्द्राणी तथा देवोंसे नमस्कार कियेगये हैं चरणजिसके ऐसी होतीहुई और जितनीभर पुत्रवती स्त्रियां थीं उनसबमें मरुदेवीका ही पद सबसे प्रथम रहा ।

भावार्थः—संसारमें बहुतसी स्त्रियां पुत्रोंको पैदाकरनेवालीं हैं, उनमें मरुदेवीके ही चरणोंको क्यों इन्द्राणी तथा देवोंने नमस्कारकिया? और उनके चरणोंकी ही क्यों सेवा की? इसका कारण केवल यही है कि हे प्रभो मरुदेवीमाताके गर्भमें आप आकर विराजमान हुए थे इसलिये उनकी इतनी प्रतिष्ठाहुई और वे जितनीभर पुत्रोंको पैदाकरनेवालीं स्त्रियां थीं और हैं, उनमें सबमें उत्तम समझी गई और कोई कारण नहीं ॥ ८ ॥

अंकत्थे तइ दिट्ठे जं तेण सुरालयं सुरिंदेण

अणिमेसत्तवहुत्तं सहलं णयणाणपडिवट्ठं ॥

अंकस्थे त्वयि दृष्टे गच्छता सुरालयं सुरेन्द्रेण

अनिमेषत्ववहुत्वं सफल नयनानां प्रतिपन्नम् ।

अर्थः—हे जिनेन्द्र हे प्रभो जिससमय आपको लेकर इंद्र मेरुपर्वतको चला तथा आपको गोदमें बैठे हुए उसने देखा उससमय उसके नेत्रोंका निमेष (पलक) कर रहितपना तथा वहुतपना सफल हुवा ।

भावार्थः—हे प्रभो इन्द्रके नेत्रोंकी अनिमेषता और अधिकता आपके देखनेसे ही सफल हुई थी यदि इन्द्र आपके स्वरूपको न देखता तो उसके नेत्रोंका पलकरहितपना और हजार नेत्रोंका धारण करना, सर्वथा निष्फल ही समझा जाता ।

सारार्थः—आपके समान रूपवान संसारमें दूसरा कोई भी मनुष्य नहीं था ॥ ९ ॥

तित्थत्तणमावण्णो मेरु तुह जम्मण्हाणजलजोए ।
तत्तस्स सूरपमुहा पयाहिणं जिण कुणंति सया ॥

तीर्थत्वमापन्नो मेरुस्तव जन्मस्नानजलयोगेन
तत् तस्य सूरप्रमुखाः प्रदक्षिणा जिन कुर्वंति ।

अर्थः—हे प्रभो हे जिनेंद्र जिससमय आपका जन्मस्नान मेरुके ऊपर हुआ था उससमय उसस्नानके जलके संबंधसे मेरु तीर्थपनेको प्राप्तहुआ था अर्थात् तीर्थ बना था और इसीलिये हे जिनेंद्र उस मेरुपर्वतकी सूर्य चंद्रमा आदिक सदा प्रदक्षिणा करते रहते हैं ।

भावार्थः—आचार्य उत्प्रेक्षा करते हैं कि हे प्रभो जबतक मेरुपर्वतके ऊपर आपका जन्मस्नान नहीं हुआ था तबतक वह मेरुपर्वत सामान्यपर्वतोंके समान था और तीर्थ भी नहीं था किंतु जिससमयसे आपका जन्म-स्नान मेरुके ऊपर हुआ है उससमयसे उस आपके जन्मस्नानके जलके संबंधसे मेरुपर्वत तीर्थ अर्थात् पवित्र स्थान होगया है और यह वात संसारमें प्रत्यक्षगोचर है कि जो वस्तु पवित्र हुआकरती है उसकी लोग भक्ति तथा परिक्रमा आदि करते हैं इसीलिये उसमेरुको पवित्रमानकर सूर्य चंद्रमा आदि रातदिन उसमेरुकी प्रदक्षिणा (परिक्रमा) करते रहते हैं ऐसा मालूम होता है ॥ १० ॥

मेरुसिरे पडणुच्छलि यणीरताडणपणट्ठदेवाणं ।
तं वित्तं तुह ण्हाणं तह जह णहमासियं किण्णं ॥

मेरुशिरसि पतनोच्छलननीरताडनप्रनष्टदेवानाम्
तद्वृत्त तव स्नान तथा यथा नभ आश्रित कीर्णम् ।

अर्थः—हे जिनेंद्र हे प्रभो मेरुपर्वतके मस्तकपर आपके स्नानके होनेपर पतनसे उछलताहुआ जोजल उसके ताड़नसे अत्यंतनष्ट जोदेव उनदेवोंकी ऐसी दशा होतीहुई मानो चारोओरसे आकाश ही व्याप्त हो गया हो ॥११॥

णाह तुह जम्म हरिणो मेरुस्सि पणच्चमाणस्स ।
वेल्लिरभुवाहिभग्गा तहे अज्जवि भंगुरा मेहा ॥

नाथ तव जन्मस्नाने हरे मेरौ प्रनृत्यमानस्य
प्रलंबभुजाभ्यां भग्ना. तथा अद्यापि भंगुरा मेघाः ।

अर्थः—हे प्रभो आपके जन्मस्नानकेसमय जिससमय अपनी लंबी भुजाओंको फैलाकर इंद्रने नृत्यकिया था उनलंबी भुजाओंसे जो मेघ भग्नहुए थे वे मेघ इससमय भी क्षणभंगुर ही हैं ।

भावार्थः—ग्रंथकार उत्प्रेक्षा करते हैं कि जो मेघ क्षणभंगुर मालूम पड़ते हैं उनकी क्षणभंगुरताका यही कारण है कि जिससमय भगवानका जन्मस्नान मेरुपर्वतके ऊपर हुआ था उससमय उसमेरुपर्वतके ऊपर आनंदमें आकर अपनी भुजाओंको फैलाकर इंद्रने भगवानके सामने नृत्यकिया था और उससमय फैलीहुईभुजाओंसे मेघ भग्नहुए थे इसीकारण अब भी मेघोंमें भंगुरता है किंतु भंगुरताका दूसरा कोई भी कारण नहीं है ॥ १२ ॥

जाण वहुएहि वित्ती जाया कप्पदुमेहि तेहि विणा ।
एक्केणवि ताण तए पयाण परिकप्पिया णाह ॥

यासां बहुभिर्वृत्तिर्जाता कल्पद्रुमैः, तैर्विना
एकेनापि तासां त्वया प्रजानां परिकल्पिता नाथ ।

अर्थः—हे नाथ हे प्रभो जिनप्रजाओंकी आजीविका बहुतसे कल्पवृक्षोंसे होती हुई उन कल्पवृक्षोंके अभावमें उन प्रजाओंकी आजीविका आप अकेलेने ही की ।

भावार्थः——जबतक ऋषभदेव भगवानकी उत्पत्ति पृथ्वीतलपर नहीं हुई थी उससमयतक इसजम्बूद्वीपमें भोगभूमिकी रचना थी और उस भोगभूमिकी स्थितिमें समस्तजीव भोगविलासी ही थे क्योंकि युगलिया उत्पन्न होते थे और जिससमय उनको जिसबातकी अवश्यकता होती थी उससमय उसवस्तुकी प्राप्तिकेलिये उनको प्रयत्न नहीं करना पड़ता था किंतु वे सीधे कल्पवृक्षोंके पास चलेजाते थे तथा जिसबातकी उनको अभिलाषा होती थी उस अभिलाषाकी पूर्ति उन कल्पवृक्षोंके सामनें कहनेपर ही हो जाती थी क्योंकि उससमय दश-प्रकारके कल्पवृक्ष मौजूद थे तथा जुदी २ सामिग्री देकर जीवोंको आनंद देते थे । किंतु जिससमय भगवान आदिनाथका जन्म हुआ उससमय जम्बूदीपमें कर्मभूमिकी रचना हो गई भोगभूमिकी रचना न रही, तथा कल्पवृक्षभी नष्टहोगये उससमय जीव भूंखे मरने लगे और उनको अपनी आजीविकाकी फिक्र पड़ी तव उस समय भगवान आदीश्वरने असि, मषि, वाणिज्य, आदिका उपदेश दिया तथा और भी नानाप्रकारके लौकिक उपदेश दिये जिससे उनको फिरभी वैसाही सुख मालूम होनेलगा इसलिये कर्मभूमिको आदिमें भगवान आदि नाथने ही कल्पवृक्षोंका काम किया था इसलिये इसीवातको ध्यानमें रखकर ग्रंथकार भगवानकी स्तुति करते हैं कि हे प्रभो जिनप्रजाओंकी आजीविका भोगभूमिकी रचनाके समय वहुतसे कल्पवृक्षोंसे हुईथी वही आजीविका कर्मभूमिके समय विना कल्पवृक्षोंके आप अकेलेनेहीं की इसालिये हेजिनेंद्र आप कल्पवृक्षोंमें भी उत्तमकल्पवृक्षहैं॥१३॥

पहुणा तए सणाहा धरा सती एकहन्नहो वूढो
णवघणसमयसमुलासि यसासछम्मेण रोमंचो ।

प्रभुणा त्वया सनाथा धरा आसीत् तस्या' कथमहोवृद्धः
नवघनसमयसमुल्लासितश्वासच्छद्मना रोमाच. ।

अर्थः—हे जिनेश हे प्रभो आपनेही यह पृथ्वी सनाथकी क्योंकि यदि ऐसा न होता तो नवीन मेघके समयमें होनेवाला जो श्वासोच्छ्वास उसके वहानेसे इसमें रोमांच कैसे हुवे होते ?

भावार्थः—जो स्त्री विवाहकी अत्यंत अभिलाषिणीहै यदि उसका विवाह होजावे अर्थात् वह सनाथा हो जाय तो जिसप्रकार उसके शरीरमें रोमांच उद्गत होजाते हैं और उस रोमांचके उद्गमसे उसकी सनाथता का अनुमान करलिया जाता है उसीप्रकार हे प्रभो जिससमय आप इसपृथ्वीपर अवतीर्ण हुवे थे उससमय पृथ्वी में रोमांच हुवे इसलिये उन रोमांचोंसे यह बात जानली थी कि आपने इसपृथ्वीको सनाथा अर्थात् नाथसहित किया॥१४॥

विज्जुव्व घणे रंगे दिट्ठपणिट्ठा पणच्चिरी अमरी
जइया तइयावि तये रायसिरी तारिसी दिट्ठा ॥

विद्युदिव घने रंगे दृष्टप्रणष्टा प्रनत्यती अमरी
यदा तदापि त्वया राज्यश्रीः तादृशी दृष्टा।

अर्थः—हे वीतराग जिसप्रकार मेघमें विजली दीखकर नष्ट हो जाती है ,उसीप्रकार आपने जिससमय नृत्यकरती हुई नीलांजसा नामकीदेवांगनाको पाहिलें देखकर पीछै नष्ट हुई देखी उसीसमय आपने राज्य लक्ष्मी को भी वैसाही देखा अर्थात् उसको भी आपने चंचल समझ लिया।

भावार्थः—किसीसमय भगवान सिंहासन पर आनंदसे विराजमानथे और नीलांजसा नामकी अप्सरा का नांच देखरहे थे उसीसमय अकस्मात वह अप्सरा लीन हो पुनः प्रकट हुई इस दृश्यको देखकर ही भगवानको शीघ्र ही इसबातका विचार हुवा कि जिसप्रकार यह अप्सरा लीनहोकर तत्कालमें प्रकट हुई है उसी प्रकार इसलक्ष्मी का भी स्वभाव है अर्थात् यहभी चंचल है अतएव उससमय शीघ्रही भगवानको वैराग्य हो गया उसी अवस्थाको ध्यानमें रखकर ग्रंथकारने इसश्लोकसे भगवानकी स्तुति की है ॥१५॥

वेरग्गदिणे सहसा वसुहा जुण्णंतिणव्व जं मुक्का
देव तएसा अज्जवि विलवइ सरिजलरवा वरई ।

वैराग्यदिने सहसा वसुधा जीर्णतृणमिव यत् मुक्ता
देव त्वया सा अद्यापि विलपति सरिज्जलमिषेण वराकी ।

अर्थः—हे जिनेश हे प्रभो जिसदिन आपको वैराग्य हुआ था उसदिन जो आपने यह पृथ्वी पुराने तृणके समान छोड़दीथी वह दीनपृथ्वी इससमयभी नदीके व्याजसे विलाप कररही है ॥

भावार्थः—जिससमय नदीमें जलका प्रवाह आता है उससमय नदी कल २ शब्द करती है उसको अनुभवकर ग्रथकार उपेक्षा करते है कि हेप्रभो यह नदी जो कल २ शब्द कर रही है यह इसका कल २ शब्द नहीं है किंतु यह कल २ शब्द इसपृथ्वीके विलापका शब्द है क्योंकि जिसदिन आपको वैराग्य हुवाथा उस समय आपने इस बिचारी पृथ्वीको सड़ेतृणके समान छोड़दिया था और आप इसके नाथ थे, इसलिये आपके द्वारा ऐसा अपमान पाकर यह विलाप कररही है । और कोईभी कारण नहीं ॥१६॥

अइ सोहओसि तइया काउस्सग्गट्ठिओ तुमं णाह
धम्मिक्कघरारंभे उज्झीकिय मूलखंभोव्व ।

अतिशोभितोऽसि तदा कायोत्सर्गास्थितस्त्वं नाथ
धर्मैकगृहारंभे ऊर्ध्वीकृत मूलस्तंभ इव ।

अर्थः—हेभगवन् हेप्रभो जिससमय आप कायोत्सर्गसहित विराजमानथे उससमय धर्मरूपी घरके निर्माणमें उन्नत मूलखंभके समान आप अत्यंत शोभित होते थे ॥

भावार्थः—हेभगवन् जिससमय आप कायोत्सर्गमुद्राको धारणकर वनमें खड़े थे उससमय ऐसा मालूम

होता था कि आप इसधर्मरूपीघरके स्थितरहनेमें प्रधानखंभही है अर्थात् जिसप्रकार मूलखंभके आधारसे घर टिका रहता है उसीप्रकार आपके द्वारा ही यह धर्म विद्यमान था ॥ १७ ॥

हिययत्थझाणसिहिओज्झमाणसहसासरीरधूमोव्व
सोहइ जिण तुह सीसे महुपरकुलसणिहकेसभरो ॥

हृदयस्थध्यानशिखिदह्यमानशीघ्रशरीरधूम्रवत्
शोभते जिन तव शिरसि मधुकरकुलसन्निभः केशसमूहः ।

अर्थः—हे प्रभो हे जिनेंद्र भौंरोंकेसमूहके समान काला जो आपके मस्तकपर बालोंकासमूह है वह हृदयमेंस्थित जो ध्यानरूपीअग्नि उससे शीघ्रजलायाहुआ जो शरीर उसके धूआंकेसमान शोभित होता है ऐसा मालूम पड़ता है ।

भावार्थः—धूआं भी काला है और भगवानके मस्तकपर विराजमान केशोंका समूह भी काला है इस लिये ग्रंथकार उत्प्रेक्षा करते हैं कि हे प्रभो यह जो आपके मस्तकपर बालोंका समूह है वह बालोंका समूह नहीं है किंतु वैराग्यसंयुक्त आपके हृदयमें जलती हुई जो ध्यानरूपी अग्नि उससे जलायाहुआ जो आपका शरीर है उसका यह धूआं है ॥ १८ ॥

कम्मकलंकचउक्के णट्ठेणिम्मलसमाहि भूईए
तुहणाणदप्पणेच्चिय लोयालोयं पडिप्फलियं ॥

कर्मकलंकचतुष्के नष्टे निर्मलसमाधिभूत्या तव
ज्ञानदर्पणेऽत्र लोकालोकं प्रतिबिम्बितम् ॥

अर्थः—हे जिनेश हे प्रभो निर्मलसमाधिके प्रभावसे चार घातिया कर्मोंके नाशहोनेपर आपके सम्यग्ज्ञा-नरूपीदर्पणमें यह लोक तथा अलोक प्रतिविम्बित होता हुआ ।

भावार्थः—जबतक इसआत्मामें अखंडज्ञान (केवलज्ञान) की प्रकटता नहीं होती तबतक यह आत्मा लोक तथा अलोकके पदार्थोंको नहीं जानसकता किंतु जिससमय उसकेवलज्ञानकी प्रकटता हो जाती है उस समय यह लोकालोकके पदार्थोंको जानने लगजाता है तथा उस सम्यग्ज्ञानकी प्रकटता तेरवे गुणस्थानमें, जबकि प्रकृष्टध्यानसे चार घातियाकर्मोंका नाश हो जाता है तब होती है इसीआशयको लेकर ग्रंथकार स्तुति करते हैं कि हे प्रभो आपने प्रकृष्टध्यानसे चार घातियाकर्मोंका नाश करदिया है इसीलिये आप समस्त लोकालोकके भलीभांति जाननेवाले हुए हैं ॥ १९ ॥

आवरणाईण तए समूलमुम्मूलियाइ दट्ठूण
कम्मचउक्केणमुअंव णाह भीएण सेसेण ॥

आवरणादीनि त्वया समूलमुन्मूलितानि दृष्ट्वा
कर्मचतुष्केण मृतवत् नाथ भीतेन शेषेण ॥

अर्थः—हे प्रभो हे जिनेन्द्र जिससमय आपने जड़सहित ज्ञानावरणादि घातियाकर्मोंका सर्वथा नाश कर दिया था उससमय उन सर्वथा नष्ट ज्ञानावरणादि कर्मोंको देखकर शेषके जो चार घातियारहे वे भयसे आपकी आत्मामें मरेहुए के समान रहगये ।

भावार्थः—जिससमय ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, और अंतराय, इन चारकर्मोंका सर्वथा नाश हो जाता है उससमय शेष जो वेदनीय, आयुः, नाम, तथा गोत्र, ये चार अघातियाकर्म हैं वे बलहीन रहजाते हैं इसी आशयको मनमें रखकर ग्रंथकार उत्प्रेक्षा करते हैं कि हे भगवन् जो अघातियाकर्म आपकी आत्मामें मृतके समान अशक्त होकर पड़ेरहे उनकी अशक्तताका कारण यह है कि जब आपने अत्यंतप्रबल चार घातिया

कर्मोंको नाश करदिया उससमय उनको बड़ाभारी भयहुआ कि हम भी अब निर्मूल किये जायंगे इसीलिये वे मरेहुएके समान अशक्त ही आपकी आत्मामें स्थित रहे ॥ २० ॥

णाणामणिणिम्माणे देव ढ्डिउ सहसि समवसरणम्मि ।
उवरिव्व सण्णिविट्ठो जियाण जोईण सव्वाणं ॥

नानामणिनिर्माणे देव स्थितः शोभते समवशरणे
उपरि इव सन्निविष्ट' यावतां योगिना सर्वेषाम् ॥

अर्थः—हे जिनेश हे प्रभो जिससमवशरणकी रचना चित्रविचित्र मणियोंसे की गई थी ऐसे समवशरणमें जितनेभर मुनि थे उन समस्तमुनियोंके ऊपर विराजमान आप अत्यंत शोभाको प्राप्त होते थे ॥ २१ ॥

लोउत्तरावि सा समवसरणसोहा जिणेस तुह पाये ।
लहिऊण लहइमहिमं रविणो णलिणिव्व कुसुमट्ठा ॥

लोकोत्तरापि सा समवशरणशोभा जिनेश तव पादौ ।
लब्ध्वा लभते महिमानं रवेः नलिनीव कुसुमस्था ॥

अर्थः—हे भगवन् हे प्रभो जिसप्रकार पुष्पमें स्थित कमलिनी सूर्यके किरणोंको पाकर और भी अधिक महिमाको प्राप्त होती है उसीप्रकार यद्यपि समवशरणकी शोभा स्वभावसे ही लोकोत्तर होती है तो भी हे जिनेन्द्र आपके चरणकमलोंको पाकर वह और भी अत्यंत महिमाको धारण करती है ।

भावार्थः—एकतो कमलिनी स्वभावसे ही अत्यंत मनोहर होती है किंतु यदि वही कमलिनी सूर्यके किरणोंको प्राप्तहो जावे तो और भी महिमाको प्राप्त होती है उसीप्रकार समवशरणकी शोभा एक तो स्वभावसे

ही लोकोत्तर अर्थात् सबसे उत्तम होती है और आपके चरणोंके आश्रयको प्राप्तहोकर, और भी वह अत्यंत महिमा को धारण करती है ॥ २२ ॥

णिद्दोसो अकलंको अजडो चंदोव्व सहासितं तहवि ।
सींहासणायलत्थो जिणंदकयकुवलयाणंदो ॥

निर्दोष अकलक अजड: चन्द्रवत् शोभते तथापि ।
सिंहासनाचलस्थ जिनेंद्र कृतकुवलयानद ॥

अर्थः—हे जिनेंद्र हे प्रभो आप यद्यपि निर्दोष तथा अकलंक और अजड़ है तोभी अचल सिंहासनमें स्थित तथा किया है कुवलयको आनंद जिन्होंने ऐसे आप चंद्रमाके समान शोभित होते हैं ।

भावार्थ—आपतो निर्दोष हैं और चंद्रमा दोषा (रात्रि) कर सहित है अर्थात् सदोष है और आपतो कर्मकलंककर रहित हैं किंतु चंद्रमा कलंककर सहित हैं तथा आप तो जडता रहित हैं किंतु चंद्रमा जड़ताकर सहित है इसलिये इसरीतिसे तो आपमें तथा चंद्रमामें भेद है परंतु जिसप्रकार चंद्रमा पर्वतकी शिखिरपर स्थित रहता है और रात्रिविकासीकमलोंको आनंदका देनेवाला होता है इसलिये शोभाको प्राप्त होता है उसीप्रकार पर्वतके समान आप भी सिंहासनपर स्थित थे तथा आपने समस्त पृथ्वीमंडलको आनंद दिया था इसलिये आप भी चंद्रमाके समान ही शोभित होते थे ॥ २३ ॥

अच्छंतु ताव इयरा फुरियविवेया णमंतसिरसिहरा ।
होइ असोहो रुक्खोवि णाह तुह संणिहाणत्थो ॥

आस्ता तावत् इतरा स्फुरितविवेका नम्रशिर शिखरा
भवति अशोको वृक्ष. अपि नाथ तव सन्निधानस्थ ॥

अर्थः—आचार्य कहते हैं कि हे प्रभो हे जिनेंद्र जिनभव्यजीवोंके ज्ञानकी ज्योति स्फुरायमान है और जो आपको मस्तक झुकाकर नमस्कार करते हैं वे तो दूरही रहें किंतु हे भगवन् आपके समीप रहाहुआ जड़ भी वृक्ष, अशोक हो जाता है।

भावार्थः—हे जिनेश जिनको ज्ञान मौजूद है अर्थात् जो ज्ञानी हैं तथा आपको मस्तक झुकाकर नमस्कार करनेवाले हैं ऐसे भव्यजीव आपके पासमें रहकर तथा आपका उपदेश सुनकर शोकरहित होजाते हैं इसमें तो कोई आश्चर्य नहीं किन्तु जो वृक्ष जड़ है वह भी आपके केवल समीपमें रहा हुआ ही अशोक हो जाता है इसमें वड़ाभारी आश्चर्य है॥ २४॥

छत्तत्तयमालंवियणिम्मलमुत्ताहलच्छलात्तुज्झ।
जणलोयणेसु वरिसइ अमयंपिव णाह विंदूहिं॥

छत्रत्रयमालंवितनिर्मलमुक्ताफलच्छलात्तव
जनलोचनेषु वर्षति अमृतमिव नाथ विंदुभि.॥

अर्थः—हे भगवन् हे नाथ आपके जो ये तीनों छत्र हैं वे लटकतेहुए जो निर्मल मुक्ताफल उनके व्याजसे मनुष्योंकी आंखोंमें विंदुओंसे अमृतकी वर्षा करते हैं ऐसा मालूम होता है।

भावार्थः—हे भगवन् जिससमय भव्यजीव आपके छत्रको देखते हैं उससमय उनको इतना आनंद होता है कि आनंदके मारे उनकी आंखोंसे अश्रुपात होने लगता है॥ २५॥

कयलोयलोयणुप्पलहरिसाह सुरेसहच्छचालियाह।
तुह देव सरहससहरकिरणकयाइव्व चमराइ॥

कृतलोकलोचनोत्पलहर्षाणि सुरेशहस्तचालितानि
तव देव शरच्छशधराकिरणकृतानि इव चमराणि ॥

अर्थः—जिन चमरोंके देखनेसे समस्तलोकके नेत्ररूपी कमलोंको हर्ष होता है और जिनको वड़े २ इंद्र ढोरते हैं ऐसे हे जिनेंद्र आपके चमर शरदऋतुके चंद्रमाकी किरणोंसे बनाये गये हैं ? ऐसा मालूम होता है ।

भावार्थः—और ऋतुकी अपेक्षा शरदऋतुके चंद्रमाकी किरण बहुत स्वच्छ तथा सफेद होती है इसलिये ग्रंथकार कहते हैं कि हे भगवन् आपके चमर इतने स्वच्छ तथा सफेद हैं जोकि ऐसे मालूम होते हैं मानों शरदकालीन चंद्रमाकी किरणोंसे ही वनाये हुए हैं और जिनको देखनेमात्रसे समस्तलोकके नेत्रोंको आनंद होता है तथा जिनको वड़े इंद्र आकर ढोरते हैं ॥ २६ ॥

विहलीकयपंचसरो पंचसरो जिण तुमस्मि काऊण
अमरकयपुप्फविट्ठिछलइव वहु मुअइ कुसुमसरो ॥

विफलीकृतपञ्चशरः पञ्चशरो जिन त्वयि कृत्वा
अमरकृतपुष्पवृष्टिच्छलाद् इव वहून् मुचति कुसुमशरान् ॥

अर्थः—हे भगवन् हे जिनेंद्र जिस कामदेवके आपके सामने पांचोंबाण विफल हो गये हैं ऐसा वह कामदेव, देवोंकर कीहुई जो आपके ऊपर पुष्पोंकी वर्षा उसके व्याजसे पुष्पोंके वाणोंका त्यागकर रहा है ऐसा मालूम है ।

भावार्थः—आपके अतिरिक्त जितनेभर देव हैं उनको वाण मार २ कर कामदेवने वशमें करलिया किंतु हे प्रभो जब वही कामदेव अपने वाणोंसे आपको भी वशकरने आया तव आपके सामने तो उसके वाण कुछकरही नहीं सकते थे । इसलिये उसकामदेवके समस्तवाण आपके सामने विफल होगये इसलिये ऐसा मालूम होता है कि जिससमय देवोंने आपके ऊपर फूलोंकी वर्षा की उससमय वह फूलोंकी वर्षा नहीं थी

॥३६५॥

किंतु अपने बाणोंको योग्य न समझकर कामदेव अपने फूलोंके बाणोंको फैंकरहा है, क्योंकि संसारमें यहबात देखने में भी आती है कि समयके ऊपर जो चीज काम नहीं देती है उसको मनुष्य फिर छोड़ ही देता है ॥२७॥

एस जिणो परमप्पा णाणोण्णाणं सुणेह मावयणं
तुह दुंदुही रसंतो कहइव तिजयस्स मिलियस्स ॥

एष जिन. परमात्मा नान्योऽन्येषा शृणुत मावचनम्
तव दुदुभि रसन् कथयति इव त्रिजगतः मिलितस्य ॥

अर्थः—हे भगवन् वजतीहुई जो आपकी दुंदुभि (नगाड़ा) वह तीनोंलोकको इकट्ठाकर यह बात कहती है कि हे लोगो यदि वास्तविक परमात्मा है तो भगवान आदिनाथ ही हैं किंतु इनसे भिन्न परमात्मा कोई भी नहीं इसलिये तुम इनसे अतिरिक्त दूसरेका उपदेश मत सुनो इन्ही भगवानके उपदेशको सुनो ।

भावार्थः—मंगलकालमें जिससमय आपकी दुंदुभि आकाशमें शब्दकरती है अर्थात् वजती है उससमय उसके वजनेका शब्द निष्फल नहीं है किंतु वह इसवातको पुकार २ कर कहती है कि हे भव्यजीवो यदि तुम परमात्माका उपदेश सुनना चाहते हो तो भगवान श्रीआदिनाथका दियाहुआ ही उपदेश सुनो किंतु इनसे भिन्न जो दूसरे २ देव हैं उनके उपदेशको अंशमात्र भी मत सुनो क्योंकि यदि परमात्मा हैं तो श्रीआदीश्वर भगवान ही है किंतु इनसे भिन्न लोकमें दूसरा परमात्मा नहीं ॥ २८ ॥

रविणो संतावयरं ससिणो उण जड्डयाअरं देव
संतावजडत्तहरं तुम्हच्चिय पहु पहावलयं ॥

रवे संतापकर शशिन पुन जडताकर देव
संतापजडत्वहर तवार्चित प्रभो प्रभावलयम् ॥

अर्थः—हे जिनेश हे प्रभो सूर्यका प्रभासमूह तो मनुष्योंको संतापका करनेवाला है तथा चंद्रमाका प्रभासमूह जड़ताका करनेवाला है किंतु हे पूज्यवर आपका प्रभासमूह तो संताप जडता दोनोंको नाश करनेवाला है।

भावार्थः—यद्यपि संसारमें बहुतसे तेजस्वी पदार्थ दृष्टिगोचर होते हैं किन्तु हे पूज्यवर प्रभो आपके समान कोई भी तेजस्वी पदार्थ उत्तम नहीं क्योंकि हम यदि सूर्यको उत्तम तेजस्वी पदार्थ कहैं सो हम कह नहीं सकते क्योंकि उसका जो प्रभाका समूह है वह मनुष्योंको अत्यत संतापका करनेवाला है और यदि चंद्रमाको हम उत्तम तथा तेजस्वी पदार्थ कहैं तो यह भी बात नहीं बन सकती क्योंकि चंद्रमाकी प्रभाका समूह जड़ताका करनेवाला है किन्तु हे जिनवर आपकी प्रभाका समूह संताप तथा जड़ता दोनोंका सर्वथा नाश करनेवाला है इसलिये आपकी प्रभाका समूह ही उत्तम तथा सुखदायक है ॥ २९ ॥

मंदरमहिज्जमाणांवुरासिणिग्घोससण्णिहा तुज्झ
वाणीसुहा ण अण्णा संसारविसस्सणासयरी ॥

मदरमथ्यमानाम्बुराशिनिर्घोषसन्निभा तव ।
वाणी शुभा ससारविषस्य नाशकरी ॥

अर्थः—हे भगवन् हे जिनेश मंदराचलसे मथन किया गया जो समुद्र उसका जो निर्घोषि (बड़ाभारी शब्द) उसके समान जो आपकी वाणी है वह शुभ है किंतु अन्यवाणी शुभ नहीं। तथा आप की वाणीही संसाररूपी विषको नाशकरने वाली है किंतु और दूसरी वाणी संसाररूपी विषको नाशकरने वाली नहीं है।

भावार्थः—हेभगवन् यद्यपि संसारमें बहुतसे बुद्ध प्रभृति देव मौजूद हैं और वाणी उनकीभी मौजूद है किंतु हे प्रभो जैसी आपकी वाणी (दिव्य ध्वनि) शुभ तथा उत्तम है वैसी बुद्ध आदिकी वाणी नहीं

क्योंकि आपकी वाणी अनेकांतस्वरुप पदार्थका वर्णन करनेवालीहै और उनकी वाणी एकांतस्वरुप पदार्थका वर्णन करने वाली है तथा वस्तु अनेकांतात्मकही है एकान्तात्मक नहीं। और आपकी वाणी समस्तसंसाररूपी विषको नाशकरने वाली है किन्तु बुद्ध आदिकी वाणी संसाररूपी विषको नाशकरने वाली नहीं संसाररूपी विषको उत्कटकरने वालीही है तथा आपकी वाणी मंदराचलसे जिससमय समुद्रको मथन हुवाथा और जैसा उस समयमें शब्द हुवा था उसी शब्दके समान उन्नत तथा गंभीर है ॥ ३० ॥

पत्ताण सारणिंपिव तुज्झगिरं सा गई जडाणंपि
जा मोक्खतरुट्ठाणे असरिसफलकारणं होई ॥

प्राप्तानां सारिणीमिव तव गिरं सा गतिः जड़ानामपि
या मोक्षतरुस्थाने असदृशफलकारणं भवति

अर्थः—हेप्रभो हेजिनेश जो अज्ञानीजीव आपकी वाणीको प्राप्तकर लेते हैं उन अज्ञानीभी जीवोंकी वह गति होती है जोगति मोक्षरूपी वृक्षके स्थानमें अत्युत्तम फलकी कारण होती है ॥

भावार्थः—जोजीव ज्ञानी है वे आपकी वाणीको पाकर मोक्षस्थानमें जाकर उत्तम फलको प्राप्त होते हैं इस में तो किसीप्रकारका आश्चर्य नहीं किंतु हे भगवन् अज्ञानीभी पुरुष आपकी वाणीका आश्रयकर मोक्ष स्थानमें उत्तम फलको प्राप्त करते हैं और जिसप्रकार नदी वृक्षके पासमें जाकर उत्तम फलोंकी उत्पत्तिमें कारण होती है उसीप्रकार आपकी वाणीभी उत्तम फलोंकी उत्पत्तिमें कारण है इसलिये आपकी वाणी उत्तम नदीके समान है ॥३१॥

पोयंपिव तुह पवयणम्मि सलीणफुड़महो कयजड़ोहं ।
हेलाणच्चिय जीवा तरंति भवसायरमणंतं ॥

पोत इव तव प्रवचने सल्लीना स्फुटमहो कृतजलौघम् ।
हेलयार्चैत जीवा तरति भवसागरमनत ॥

अर्थः—जिन मनुष्योंके पास जहाज मौजूद है वे मनुष्य जिसप्रकार उसजहाजमें बैठिकर जिसमें बहुत सा जलका समूह विद्यमान है ऐसे समुद्रको बातकी बातमें तरजाते हैं उसीप्रकार हे पूज्य हे जिनेश जोमनुष्य आपके वचनमें लीन हैं अर्थात् जिनमनुष्योंको आपके वचनके ऊपर श्रद्धान है बड़े आश्चर्यकी बात है कि वे मनुष्य भी पलमात्रमें जिसका अंत नहीं है ऐसे संसाररूपी सागरको तरजाते हैं ।

भावार्थः—हे प्रभो इससमय जितनेभर जीव हैं सब अज्ञानी हैं उनको स्वयं वास्तविक मार्गका ज्ञान नहीं हो सकता यदि हो सकता है तो आपके वचनमें श्रद्धान रखनेपर ही हो सकता है । इसलिये हे प्रभो जिन मनुष्योंको आपके वचनोंपर श्रद्धान है वे मनुष्य, अनंत भी इस संसारसमुद्रको बातकी बातमें तरजाते हैं किंतु जो मनुष्य आपके वचनोंमें श्रद्धान नहीं रखते वे इससंसार समुद्रसे पार नहीं हो सकते जिसप्रकार जहाजवाला ही समुद्रको पार करसकता है और जिसके पास जहाज नहीं वह नहीं कर सकता ॥ ३२ ॥

तुह वयणं चिय साहइ णूणमणेयंतवायवियडपहं
तह हियपईपअरं सव्वत्तणमप्पणो णाह ॥

तव वचनमेव साधयति नूनमनेकांतवादविकटपथम्
तथा हृदयप्रदीपकरं सर्वज्ञत्वमात्मनो नाथ ॥

अर्थः—हे जिनेंद्र हे प्रभो आपके वचन ही निश्चयसे अनेकांतवादरूपी जो विकट मार्ग है उसको सिद्ध करते हैं तथा हे नाथ यह जो आपका सर्वज्ञपना है वह समस्त मनुष्योंके हृदयोंको प्रकाश करनेवाला है ।

भावार्थः—जितनेभर पदार्थ हैं वे समस्तपदार्थ अनेकधर्मस्वरूप हैं जब और जिसवाणीसे उन पदार्थोंके अनेकधर्मोंका वर्णन कियाजायगा तभी उन पदार्थोंका वास्तविकस्वरूप समझाजायगा किंतु दो एक धर्मके कथन से उन पदार्थोंका वास्तविक स्वरूप नहीं समझा जा सकता और हे भगवन् आपसे अतिरिक्त जितनेभर देवहैं उन सवकी वाणी एकांतमार्गको ही सिद्ध करती है इसलिये उनकी वाणी वस्तुके वास्तविक स्वरूपको नहीं कह सकती किंतु आपकी वाणी ही अनेकांतमार्गको सिद्ध करनेवाली है इसलिये वही पदार्थोंके वास्तविक स्वरूपका वर्णनकर सकती है तथा आपके सर्वज्ञपनेसे भी समस्तमनुष्योंके हृदयको प्रकाश होता है अर्थात् जिससमय आप उनको यथार्थ उपदेश देते हैं उससमय उनके हृदयमें भी वास्तविक पदार्थोंका ज्ञान हो जाता है ॥३३॥

विप्पडिवज्जइ जो तुह गिराए मइसुइवलेण केवलिणो
वरदिट्ठिदिट्ठणहजंतपक्खगणणेवि सो अंधो ॥

विप्रतिपद्यते यस्तव गिरि मतिश्रुतिवलेन केवलिन.
वरदृष्टिदृष्टनभोयातपक्षिगणनेपि सोन्धः ॥

अर्थः—हे भगवन् जो मनुष्य मतिज्ञान तथा श्रुतज्ञानकेही बलसे आप केवलीके वचनमें विवाद करता है वह मनुष्य उसप्रकारका काम करता है कि अच्छी दृष्टिवाले मनुष्य द्वारा देखेहुए जो अकाशमें जातेहुए पक्षी उनकी गणनामें जिसप्रकार अंधा संशय करता है ।

भावार्थः—जिसकी दृष्टि तीक्ष्ण है ऐसा कोई मनुष्य यदि आकाशमें उड़ते हुए पक्षियोंकी गणना करै और उससमय कोई पासमें बैठा हुआ अंधापुरुष उससे पंक्षियोंकी गणनामें विवाद करै तो जैसा उससूझते पुरुषके सामने उस अंधेका विवाद करना निष्फल है उसीप्रकार हे प्रभो हे जिनेश यदि कोई केवल मतिज्ञान

तथा श्रुतज्ञानका धारी आपके वचनमें विवाद करै तो उसका भी विवादकरना निरर्थक ही है क्योंकि आप केवली हैं तथा आपके ज्ञानमें समस्तलोक तथा अलोकके पदार्थ हाथकी रेखाके समान झलक रहे हैं और वह प्रतिवादी मनुष्य मतिज्ञान तथा श्रुतज्ञानका धारी होनेककारण थोड़ेही पदार्थोंका ज्ञाता है ॥ ३४ ॥

भिण्णाण परणयाणं एक्केक्कमसंगयाणया तुज्झ
पावंति जयम्मि जयं मज्झम्मि रिऊण किं चित्तं ॥

भिन्नाना परनयानाम् एकमेकमसगताना तव
प्राप्नुवंति जगत्त्रये जय मध्ये रिपूणा किं चित्रम् ॥

अर्थः—हे भगवन् हे प्रभो आपके नय, परस्परमें नहीं संवंध रखनेवाले, तथा भिन्न, ऐसे परवादियोंके नयरूपीवैरियोंके मध्यमें तीनोंजगतमें विजयको प्राप्त होते हैं इसमें कोई भी आश्चर्य नहीं ।

भावार्थः—परस्परमें नहीं संवंध रखनेवाले तथा एकदूसरेके विरोधी ऐसे शत्रु, जिनमें एकता है तथा एकदूसरेके विरोधी नहीं हैं ऐसे योधाओंके द्वारा जिसप्रकार बातकीबातमें जीतलिये जाते हैं तो जैसा उन शत्रुओंके जीतनेमें कोई आश्चर्य नहीं है उसीप्रकार हे प्रभो जो परवादियोंकी नय परस्परमें एकदूसरेसे संवंध नहीं रखनेवाली हैं तथा भिन्न हैं ऐसी उन नयोंको यदि परस्परमें संवंधरखनेवाली तथा अभिन्न आपकी नय जीतलेवे तो इसमें क्या आश्चर्य है ? कुछ भी आश्चर्य नहीं है ॥ ३५ ॥

अण्णस्स जए जीहा कस्स सयाणस्स वण्णणे तुज्झ
जच्छ जिण तेवि जाया सुरगुरुपमुहा कई कुंठा ॥

अन्यस्य जगति जिह्वा कस्य सज्ञानस्य वर्णने तव
यत्र जिन तेऽपि जाता. सुरगुरुप्रमुखाः कवय. कुठाः ॥

अर्थः—हे जिनेश हे प्रभो ऐसा संसारमें कौंनसा पुरुष समर्थ है कि जिसकी जिह्वा उत्तमज्ञानके धारक आपके वर्णन करनेमें समर्थ हो ? क्योंकि वृहस्पति आदिक जो उत्तम कवि हैं वे भी आपके वर्णन करनेमें मंदबुद्धि हैं ।

भावार्थः—संसारमें वृहस्पतिके बराबर पदार्थोंके वर्णन करनेमें दूसरा कोई उत्तम कवि नहीं है क्योंकि वेइंद्रके भी गुरु हैं किंतु हे जिनेंद्र आपके गुणानुवाद करनेमें वे भी असमर्थ हैं अर्थात् उनकी बुद्धिमें भी यह सामर्थ्य नहीं जो आपका गुणानुवाद वे करसके क्योंकि आपके गुण संख्यातीत तथा अगाह है । और जब वृस्पतिकी जिह्वा भी आपके गुणानुवाद करनेमें हार मानती है तब अन्य साधारणमनुष्योंकी जिह्वा आपका गुणानुवाद करसके यह बात सर्वथा असंभव है ॥ ३६ ॥

सो मोहत्थेण रहिओ पयासिओ पहु सुपहो तएवईया
तेणाज्जवि रयणजुआ णिव्विघ्घं जंति णिव्वाणं ॥

स मोहचौररहित. प्रकाशित प्रभो सुपथा तस्मिन्काले
तेनाद्यापि रत्नत्रययुता निर्विघ्न यांति निर्वाणम् ॥

अर्थः—हे प्रभुओंकेप्रभु जिनेंद्र आपने उससमय मोहरूपी चोरकररहित उत्तममार्गका प्रकाशन किया था इसलिये सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्रके धारी भव्यजीव इससमय भी उसमार्गसे बिना ही क्लेशके मोक्षको चलेजाते हैं ।

भावार्थः—यदि मार्ग साफ तथा चोरोंके भयकर रहित होवे तो रस्तागीर जिसप्रकार बिना ही विघ्नसे उसमार्गसे चलेजाते हैं उसीप्रकार हे भगवन् आपने भी जिसमार्गका उपदेश दिया है वह मार्ग भी साफ तथा सबसे वलवानमोहरूपीचोरकर रहित है इसलिये जो भव्यजीव सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्ररूपी रत्नत्रयके धारी हैं वे विना ही किसी विघ्नके सुखसे उसमार्गसे मोक्षको चलेजाते हैं ।

सारार्थः—यदि मोक्षमार्गमें गमन करनेवाले प्राणियोंको रोकनेवाला है तो मोहरूपीचोर ही है इसीलिये भव्यजीव सहसा मोक्षको नहीं जाते । और हे भगवन् आपने मोहरहित मार्गका वर्णन किया है इसलिये भव्य जीव निर्विघ्न मोक्षको चलेजाते हैं ॥ ३७ ॥

उम्मुद्दियम्मि तम्मि हु मोक्खणिहाणे गुणणिहाण तए
केहिं ण जुणतिणाइव इयरणिहाणाइ भुवणम्मि ॥

उन्मुद्रिते तस्मिन् खलु मोक्षनिधाने गुणनिधान त्वया
कैर्न जीर्णतृणानीव इतरनिधानानि भुवने ॥

अर्थः—हे भगवन् हे गुणनिधान जिससमय आपने मोक्षरूपी खजानेको खोलदिया था उससमय ऐसे कौनसे भव्यजीव नहीं हैं जिन्होंने सड़ेतृणके समान दूसरे २ राज्यआदि निधानोंको नहीं छोड़दिया ।

भावार्थः—हे जिनेश हे गुणनिधान जबतक भव्यजीवोंने मोक्षरूपी खजानेको नहीं समझा था तथा उसके गुणोंको नहीं जाना था तभीतक वे राज्यआदिको उत्तम तथा सुखका करनेवाला समझते थे किंतु जिस समय आपने उनको मोक्षरूपीखजानेको खोलकर दिखादिया तव उन्होंने राज्य आदिक निधानोंको सड़ेहुए तृणके समान छोड़दिया अर्थात् वे सब मोक्षरूपी खजानेकी प्राप्तिके इच्छुक हो गये ॥ ३८ ॥

॥२७३॥

मोहमहाफणिडक्को जणो विरायं तुमं पमुत्तूण
इयरणाए कह पहु विवेयणो चेयणं लहइ ॥

मोहमहाफणिदष्टो जनो विरागं त्वां प्रमुच्य
इतराज्ञया कथ प्रभो चेतनां लभते ॥

अर्थः—हे प्रभो हे जिनेश जो पुरुष मोहरूपी प्रवल सर्पसे काटा गया है अर्थात् जो अत्यंत मोही है वह मनुष्य समस्तप्रकारके रोगोंसे रहित वीतराग आपको छोड़कर आपसे भिन्न जो कुदेव हैं उनकी आज्ञासे कैसे चेतनाको प्राप्त कर सकता है ? अर्थात् वह कैसे ज्ञानी बन सकता है ?

भावार्थः—जो जीव यह पुत्र मेरा है यह स्त्री मेरी है तथा यह संपत्ति मेरी है इसप्रकार अनादिकालसे मोहकर ग्रस्त हो रहा है अर्थात् जिसको अंशमात्र भी हिताहितका ज्ञान नहीं है हे प्रभो उस मनुष्यको कभी भी आपसे भिन्न कुदेवादिकी आज्ञासे चेतनाकी प्राप्ति नहीं हो सकती है अर्थात् वह मनुष्य कदापि कुदेवादि के मार्गमें गमन करनेसें ज्ञानका संपादन नहीं कर सकता ॥ ३९ ॥

भवसायरम्मि धम्मो धरइ पडंतं जणं तुहच्चेव
सवरस्सव परमारणकारणमियराण जिणणाह ॥

भवसागरे धर्मो धरति पतंतं जनं तवैव
शवरस्येव परमारणकारणमितरेषा जिननाथ ॥

अर्थः—हे प्रभो हे जिनेश संसाररूपी समुद्रमें गिरतेहुए जीवोंको आपका धर्म ही धारण करता है किंतु हे जिनेन्द्र आपसे भिन्न जितनेभर धर्म हैं वे भीलके धनुषके समान दूसरोंके मारनेमें ही कारण हैं ।

भावार्थ—जिसप्रकार भीलका धनुष जीवोंको मारने ही वाला है रक्षा करनेवाला नहीं उसीप्रकार हे

जिनेन्द्र यद्यपि संसारमें बहुतसे धर्म मौजूद है परंतु वे सर्वधर्म प्राणियोंको दुःखोंके ही कारण हैं अर्थात् जो प्राणि उन धर्मोंको धारण करता है उसको अनेकगतियोंमें भ्रमणहीकरना पड़ता है तथा उन गतियोंमें नाना प्रकारके दुःखोंको वह उठाता है क्योंकि उन धर्मोंमें वस्तुका वास्तविक स्वरूप जोकि जीवोंको हितकारी है नहीं बतलाया गया है किंतु हे प्रभो आपके धर्ममें वस्तुका यथार्थस्वरूप भलीभांति बतलाया गया है अर्थात् असली मोक्षमार्ग आदिको विस्तृत रीतिसे समझाया गया है इसलिये जो प्राणी आपके धर्मके धारण करनेवाले हैं वे शीघ्र ही इस भयंकर संसाररूपी समुद्रको तर जाते है इसलिये आपका धर्म ही उत्तम धर्म है ॥४०॥

अण्णो को तुह पुरउ वग्गइ गुरुयत्तणं पयासंसो
जम्मि तइ परमियत्तं केशणहाणंपि जिण जायं ॥

अन्य क तव पुरतो वल्गति गुरुत्वं प्रकाशयन् ॥
यस्मिन् त्वयि प्रमाणत्वं केशनखानामपि जिन जातम् ॥

अथः—हे प्रभो हे जिनेन्द्र जब आपके केश तथा नख भी परिमित हैं अर्थात् बढते घटते नहीं तब ऐसा कौन है जो आपके सामने अपनी गुरुताको प्रकाशित करता हुआ बोलने की सामर्थ्य रखता हो ।

भावार्थः—जब अचेतन भी नख तथा केश आपके प्रतापसे सदा परिमित ही रहते हैं अर्थात् न कभी बढ़ते हैं तथा न कभी घटते हैं तब जो आपके प्रतापको जानता है वह कैसे आपके सामने अपनी महिमाको प्रकटकर सकता है तथा आपके सामने अधिक बोल सकता है ॥ ४१ ॥

सोहइ सरीरं तुह पहु तिहुयणजणणयणविंबविच्छुरियं
पडिसमयमच्चियं चारुतरलनीलुप्पलेहिंव ॥

॥३७५॥

शोभते शरीरं तव प्रभो त्रिभुवनयनचित्रविच्छुरितं
प्रतिसमयमर्चितं चारुतरलनीलोत्पलैरिव ॥

अर्थः—हे प्रभो हे जिनेन्द्र तीनोंलोकके जीवोंके जो नेत्र उनकी जो प्रतिबिंब उनसे चित्रविचित्र आपका शरीर ऐसा माल्रूम पड़ता है मानों सुंदर तथा चंचल नीलकमलोंसे प्रतिसमय पूजित ही है क्या ?

भावार्थः—हे जिनेन्द्र आपका शरीर अत्यंत स्वच्छ सोनेके रंगका है और जीवोंके नेत्रोंको उपमा नील-कमलोंसे दीगई है इसलिये जिससमय वे जीव आपके दर्शन करते हैं उससमय उनके नेत्रोंके प्रतिबिंब आपके शरीरमें पड़ते हैं उननेत्रोंके प्रतिबिंबको अनुभवकर ग्रंथकार उत्प्रेक्षा करते हैं कि हे प्रभो वे नेत्रोंके प्रतिबिंब नहीं हैं किंतु प्रतिसमय समस्तजीव आपकी नीलकमलोंसे पूजा करते हैं इसलिये वे नीलकमल हैं ॥ ४२ ॥

अहमहमिआये णिवडंति णाह छुहियालिणोव्व हरिचक्खू
तुज्झच्चिय णहपहसरसज्झट्ठियचलणकमलेसु ॥

अहमहमिकया निपतति नाथ क्षुधितालय इव हरिचक्षूंषि
तव अर्चितनखप्रभासरोमध्यास्थितचरणकमलेषु ॥

अर्थः—हे जिनेश हे प्रभो आपके पूजित जो नख उनकी जो प्रभा (कांति) वही हुआ सरोवर उसके मध्यमें स्थित जो चरणकमल उनमें भूंखेभ्रमरोंके समान इन्द्रोंके नेत्र अहम् अहम् (मैं मैं) इसरीतिसे गिरते हैं।

भावार्थः—जिसप्रकार कमलोंमें सुगंधके लोलुपी भ्रमर बारम्बार आकर गिरते हैं उसीप्रकार हे जिनेन्द्र जिससमय इन्द्र आकर आपके चरणकमलोंको नमस्कार करते हैं उससयय आपके चरणकमलोंमें भी उन इन्द्रोंके नेत्ररूपी भ्रमर पड़ते हैं और वे नेत्र काले २ भ्रमरोंके समान माल्रूम पड़ते हैं ॥ ४३ ॥

कणयकमलाणमुवरिं सेवातुहविवुहकप्पियाण तुह
अहियासिरीणं तत्तो जुत्तं चरणाणसंचरणं ॥ ?

कनककमलानामुपरि सेवातुरविबुधकल्पितानां तव
अधिकश्रीणां ततो युक्तं चरणानां संचरणम् ॥

अर्थः—हे जिनेन्द्र हे प्रभो आपके चरण अत्यंत उत्तम शोभाकर संयुक्त हैं इसलिये उनका, भक्तिवश देवोंद्वारा रचित जो सुवर्णकमल उनके ऊपर गमन करना युक्त ही है ।

भावार्थः—जिससमय भगवान ज्ञानावरणादि चारघातिया कर्मोंको सर्वथा नष्ट कर देते हैं उससमय उनको केवलज्ञानकी प्राप्ति होती है और केवलज्ञानकी प्राप्ति होनेके पीछे वे उपदेश देनेको निकलते हैं उस समय यद्यपि वे आकाशमें अधर चलते हैं तोभी देव भक्तिके वशहोकर उनके चलनेकेलिये सुवर्णकमलोंसे निर्मित मार्गकी रचना करते हैं उसी आशयको मनमें रखकर ग्रंथकार भगवानकी स्तुति करते हैं कि हे भगवन् आपने जो देवरचित सुवर्णकमलों पर गमन किया था वह सर्वथा युक्त ही था क्योंकि जैसे सुवर्णकमल एक उत्तम पदार्थ थे उसीप्रकार आपके चरण भी अति उत्तम शोभाकर संयुक्त थे ॥ ४४ ॥

सइहरिकयकण्णसुहो गिज्जइ अमरेहि तुह जसो सग्गो
मण्णे तं सोउमणो हरिणो हरिणंकसल्लीणे ॥

शचीन्द्रकृतकर्णसुखं गीयते अमरैस्तव यशः स्वर्गे
मन्ये तच्छ्रोतुमना हरिणः हरिणांकसल्लीनः ॥

अर्थः—हे भगवन् हे जिनेन्द्र जिसके सुननेसे इंद्र तथा इंद्राणीके कानोंको सुख होता है ऐसे आपके यशको

सदा स्वर्गोंमें देवतालोग गाया करते हैं इसलिये ऐसा मालूम होता है कि उसीके सुननेकेलिये मृग चंद्रमामें जाकर लीन हो गया।

भावार्थः—संसारमें यह किंवदन्ती भलीभांति प्रसिद्ध है कि चंद्रमाके हिरणका चिह्न है इसीलिये उसका नाम मृगांक है (अर्थात् चंद्रमामें हिरण रहता है) अतः आचार्यवर उत्प्रेक्षा करते हैं कि इस भूमंडलको छोड़कर जो चंद्रमामें जाकर हिरणने स्थिति की है उसका यही कारण है कि वह पासमें स्वर्गमें गाना सुननेकेलिये गया है क्योंकि हे जिनेन्द्र इन्द्र तथा इन्द्राणीके कानोंको सुखके करनेवाले आपके यशको स्वर्गमें सदा देव गान किया करते हैं और हिरण गानेका अत्यंत प्रिय है यह प्रत्यक्षगोचर है ॥ ४५ ॥

अलियं कमले कमला कमकमले तुह जिणिंद सा वसई
णहकिरणणिहेण घडंति णयजणे से कडक्खछडा ॥

अलीकं कमले कमला क्रमकमले तव जिनेन्द्र सा वसति
नखकिरणनिभेन घटते नतजने तस्याः कटाक्षच्छटाः ॥

अर्थः—हे प्रभो हे जिनेश लक्ष्मी कमलमें रहती है यह बात सर्वथा असत्य है क्योंकि वह लक्ष्मी आपके चरणकमलोंमें रहती है क्योंकि जो भव्यजीव आपको शिरझुकाकर नमस्कार करते हैं उन भव्यजीवोंके ऊपर नखोंकी किरणोंके बहानेसे उस लक्ष्मीका कटाक्षपात प्रतीत होता है।

भावार्थः—ग्रंथकार उत्प्रेक्षा करते हैं कि हे भगवन् आपकी जो नखोंकी किरणे हैं वे नखोंकी किरण नहीं किंतु आपके चरणोंमें विराजमान जो लक्ष्मी (शोभा) है उसके कटाक्षपात हैं क्योंकि जो पुरुष भक्ति पूर्वक आपके चरणकमलोंको नमस्कार करते हैं उनके ऊपर मुग्ध होकर लक्ष्मी कटाक्षपात करती है अर्थात्

जो पुरुष आपके चरणकमलोंको शिर झुकाकर नमस्कार करते हैं उनको लक्ष्मीकी प्राप्ति होती है वे लक्ष्मी-वान बन जाते हैं इसलिये हे प्रभो जो यह संसारमें किंवदंती प्रसिद्ध है कि लक्ष्मीकमलमें निवास करती है यहबात सर्वथा असत्य है किंतु वह आपके चरणकमलोंमें ही रहती है अन्यथा भव्यजीव लक्ष्मीवान कैसे हो सकते हैं ॥ ४६ ॥

जे कयकुवलयहरिसे तुमम्मि विद्देसिणो स ताणंपि
दोसो ससिम्मि वा आहयाण जह वाहिआवरणं ॥

ये कृतकुवलयहर्षे त्वयि विद्वेषिणः स तेषामपि
दोप शशिनि इव आहताना यथा वाह्यावरणम् ॥

अर्थः—चंद्रमा तो सदा पृथ्वीको (रात्रिविकासी कमलोंको) आनंदका ही देनेवाला है किंतु जो मनुष्य रोग ग्रस्त हैं वे चंद्रमासे घृणा करते हैं सो जिसप्रकार उस घृणाके करनेमें उनके वाह्य आवरणका (उनके रोगका) ही दोष है चंद्रमाका दोष नहीं। उसीप्रकार हे जिनेंद्र आपतो समस्त भूमडलको आनंदके करनेवाले हैं यदि ऐसा होनेपर भी कोई मूर्ख आपसे विद्वेष करै तो वह उसीका दोष है इसमें आपका कोई भी दोष नहीं ॥४७॥

को इहहि उव्वरंति जिण जयसंहरणमरणवणासिहिणो
तुह पयथुरणिज्झरणीवारणमिणमो ण जइ होंति ॥

क इहहि उद्धरंति जिन जगत्संहरणमरणवनाशिखिन.
तव पादस्तुतिनिर्झरिणीवारणमिदं न यदि भवति ॥

अर्थः—हे भगवन् हे प्रभो आपके चरणोंकी स्तुति वही हुई नदी उससे यदि वारण बुझाना नहीं होता

अग्नि उससे कैसे उद्धार होता ?

तो समस्तजगतको संहार करनेवाली ऐसी जो मरणरूपी वनकी अग्नि लगजावे और उस अग्निका बुझानेवाला यदि नदीका जल

भावार्थः—यदि किसीकारणसे वनमें अग्नि लगजावे और उस अग्निका बुझानेवाला यदि नदीका जल हो जातीं हैं उसीप्रकार हे जिनेन्द्र

न होवे तो उस अग्निसे जिसप्रकार कुछ भी चीज नहीं बचती सब ही भस्म हो जातीं हैं उसीप्रकार हे जिनेन्द्र

न होवे तो उस अग्निसे जिसप्रकार कुछ भी चीज नहीं वचती सब ही भस्म होता तो समस्त जगतको नष्ट करनेवाली मरण-

यदि आपके चरणोंकी स्तुतिरूप जो नदी उससें बुझाना न होता तो समस्त जगतको नष्ट करनेवाली मरण-

रूपी वनाग्निसे किसीप्रकारसे उद्धार नहीं हो सकता था ।

सारार्थः—हे जिनेन्द्र यदि जीवोंको मरनेसे वचाने वाली है तो आपकी चरणोंकी स्तुति ही है ॥ ४८॥

करजुयलकमलमउले भालत्थे तुह पुरो करा वसई

सग्गापवग्गकमला थुणंति तं तेण सप्पुरिसा ॥

करयुगलकमलमुकुले भालस्थे तव पुरत कृते वसति

स्वर्गापवर्गकमला कुर्वंति तत् तेन सत्पुरुषा ॥

अर्थः—हे भगवन् हे जिनेन्द्र जिससमय भव्यजीव आपके सामने दोनों हाथरूपी कमलोंको मुकुलितकर

अर्थात् जोड़कर मस्तकपर रखते हैं उससमय उनको स्वर्ग तथा मोक्षकी लक्ष्मीकी प्राप्ति होती है इसी लिये

उत्तम पुरुष हाथ जोड़कर मस्तकपर रखते हैं ।

भावार्थः—ग्रंथकार उत्प्रेक्षा करते हैं कि हे भगवन् जो सज्जनपुरुष हाथ जोड़कर मस्तकपर रखते हैं

उनका उसप्रकारका कार्य निष्फल नहीं है किंतु उनको, हाथ जोड़कर मस्तकपर रखनेसे स्वर्ग तथा मोक्ष लक्ष्मीकी

प्राप्ति होती है अर्थात हे भगवन् जो भव्यजीव आपको हाथ जोड़कर तथा मस्तक नवाकर नमस्कार करते

हैं उनको स्वर्ग तथा मोक्षके सुखोंकी प्राप्ति होती है ॥ ४९ ॥

वियलइ मोहणधूली तुह पुरओ मोहठगपरिट्ठविया
पणवियसीसाउ तओ पणवियसीसा वुहा होंति ॥

विगलति मोहनधूलिस्तव पुरतो मोहठकस्थापिता
प्रणमितशीर्षान् तत प्रणमितशीर्षा बुधा भवति ॥

अर्थः—हे भगवन् हे प्रभो जो भव्यजीव आपको मस्तक झुकाकर नमस्कार करते हैं उनकी मोहरूपी ठगसे स्थापित मोहन रूपी धूली आपके सामने बातकी बातमें नष्टहो जाती है इसीलिये विद्वान पुरुष आपको नमस्कार करतेहैं

भावार्थः—जिन जीवोंकी आत्मा पर जबतक मोहरूपी भयंकर तथा दुर्जय ठगद्वारारचित मोहनधूली विद्यमान रहती है तबतक उन जीवोंको अंशमात्र भी हेयोपादेयका ज्ञान नहीं होता किंतु वे विक्षिप्तके समान यह पुत्र मेरा है यह स्त्री मेरी है और यह द्रव्य मेरा है ऐसे असत्यविकल्पोंको सदा किया करते हैं किंतु हे प्रभो जिससमय वे भव्यजीव आपको मस्तक नवाकर विनयसे नमस्कार करते हैं उससमय आपके सामने प्रबल भी उस मोहरूपी ठगकी कुछ भी तीन पांच नहीं चलती अर्थात् वह आपको नमस्कार करनेवाले भव्यजीवोंके ऊपर अंशमात्र भी मोहनधूली नहीं डालसकता इसीलिये उत्तम विद्वानपुरुष आपको मस्तक झुकाकर नमस्कार करते हैं ५०॥

बंभप्पमुहा सण्णा सव्वा तुह जे भणंति अण्णस्स
ससिजोण्णा खज्जोए जडेहि जोडिज्जये तेहिं ॥

ब्रह्मप्रमुखा संज्ञा सर्वा तव ये भणति अन्यस्य
शशिज्योत्स्ना खद्योते जडैः युज्यते तैः ॥

अर्थः—हे प्रभो हे जिनेन्द्र ब्रह्मा विष्णु आदिक जो संज्ञा सुननेमें आती हैं वे आपकीही हैं अर्थात् आप ही ब्रह्मा हैं तथा आप ही विष्णु हैं तथा बुद्ध आदिक भी आप ही हैं किंतु जो मनुष्य ब्रह्मा विष्णु आदि

संज्ञा दूसरोंकी मानते हैं वे मूढमनुष्य चंद्रमाकी चांदनीका खद्योत (जिगुनू) के साथ संबंध करतेहैं ऐसा मालूम होताहै।

भावार्थः—खद्योतका (पटबीजनाका) प्रकाश बहुत कम होता है और शीतल नहीं होता और चंद्रमाका प्रकाश अधिक तथा शान्तिका देनेवाला होता है यह बात भलीभांति प्रतीति सिद्ध है ऐसे होनेपर भी जो मनुष्य चंद्रमाकी अधिक तथा शीतल चांदनीको यदि खद्योतकी चांदनी कहै तो जिसप्रकार वह मूर्ख समझा जाता है उसीप्रकार हे प्रभो वास्तविक रीतिसे तो ब्रह्मा आदिक संज्ञा आपकी ही है किंतु जो मनुष्य चतुर्मुख व्यक्तिको ब्रह्मा कहता है तथा गोपिकाओंके साथ रमण करनेवालेको पुरुषोत्तम (विष्णु) कहता है और पार्वती नामकी स्त्रीके पतिको महादेव कहता है वह मनुष्य मूर्ख है क्योंकि ब्रह्मा आदिक जो संज्ञा है वे सार्थक हैं तथा उनका अर्थ चतुर्मुख आदि व्यक्तियोंमें घट नहीं सकता इसलिये वे ब्रह्मा आदिक नहीं हो सकते ॥ ५१ ॥

आदिनाथ स्तोत्रमें भी यही बात कही है—

वसंततिलका ।

बुद्धस्त्वमेव विबुधार्चितबुद्धिबोधात्त्वं शंकरोऽसि भुवनत्रयशंकरत्वात् ।
धातासि धीर शिवमार्गविधेर्विधानाद्व्यक्तं त्वमेव भगवन् पुरुषोत्तमोऽसि ॥

अर्थः—हे आदीश्वर भगवन् आपके ज्ञानकी बड़े २ देव आकर पूजन करते हैं इसलिये आप ही बुद्ध हो किंतु आपसे भिन्न दूसरा कोई भी बुद्ध नहीं तथा आपही तीनोंलोकके कल्याणके करनेवाले हैं इसलिये आप ही शंकर हो किंतु आपसे भिन्न कोई भी शंकर (महादेव) नहीं है और हे धीर मोक्षमार्गकी विधिके रचना करनेवाले आपही हैं इसलिये आप ही विधाता (ब्रह्मा) हैं किंतु आपसे भिन्न कोई भी व्यक्ति ब्रह्मा नहीं है और आप प्रकट रीतिसे समस्त पुरुषोंमें उत्तम हैं इसलिये आप ही पुरुषोत्तम (विष्णु) हैं किंतु

आपसे भिन्न कोई भी व्यक्ति पुरुषोत्तम नहीं है ॥ १ ॥

और भी आदिनाथ स्तोत्रमें कहा है—

त्वामव्ययं विभुमचिंत्यमसंख्यमाद्यं ब्रह्माणमीश्वरमनंतमनंगकेतुम् ।
योगीश्वरं विदितयोगमनेकमेकं ज्ञानस्वरूपममलं प्रवदंति सन्तः ॥

अर्थः—हे भगवन् आप नाशकर रहित हैं तथा विभु हैं अर्थात् आपका ज्ञान सर्व जगहपर व्यापक है और आप अचिन्त्य हैं अर्थात् आपका भलीभांति कोई चिंतवन नही कर सकता और आप असंख्य हैं तथा आप सबके आदिमें हुए हैं और आप ब्रह्मा हैं तथा ईश्वर हैं और अंतकर रहित हैं तथा आप कामदेव स्वरूप हैं और समस्त योगियोंके ईश्वर हैं तथा आप प्रसिद्धध्यानी हैं और आप अपने गुणोंकी अपेक्षा व्यवहारनयसे अनेक हैं तथा परमशुद्धनिश्चयनयकी अपेक्षा एक हैं और आप ज्ञानस्वरूप है तथा निर्मल हैं ऐसा उत्तम पुरुष कहते हैं॥५२॥

तं चेव मोक्खपयवी तं चिय सरणं जणस्स सव्वस्स
तं णिक्कारणविद्दो जाइजरामरणवाहिहरो ॥

त्व चैव मोक्षपदवी त्वचैव शरण जनस्य सर्वस्य
त्व निष्कारणवैद्य. जातिजरामरणव्याधिहर: ॥

अर्थः—हे भगवन् हे जिनेश आप ही तो मोक्षके मार्ग हैं तथा समस्त प्राणियोंके आप हीं शरण हैं और समस्त जन्म जरा मरण आदि रोगोंके नाश करनेवाले आप ही बिना कारणके वैद्य हैं ॥ ५३ ॥

किच्छाहि समुवलद्धे कयकिच्चा जम्मि जोइणो होंति
तं परमकारणं जिण ण तुमाहिंतो परोअत्थि ॥

कृच्छात्समुपलब्धे कृतकृत्या यस्मिन् योगिनो भवंति
तत्परमपदकारणं जिन न त्वत्तः परोऽस्ति ॥

अर्थः—हे प्रभो हे जिनेन्द्र वड़े कष्टोंसे आपको प्राप्तहोकर योगीलोग कृतकृत्य होजाते हैं अर्थात् संसारमें उन को दूसरा कोई भी काम नहीं बाकी रहता इसलिये आपसे भिन्न कोई भी परमपद (मोक्षपद) का कारण दूसरा नहीं है ।

भावार्थः—यद्यपि संसारमें बहुतसे देव हैं तथा वे अपनेको परमपदका कारण भी कहते हैं किंतु हे जिनेन्द्र उनमें अनेक दूषण मौजूद हैं इसलिये वे परमपदके कारण नहीं हो सकते किंतु यदि परमपदके कारण हो तो आपही हो क्योंकि योगी तपआदिको करके आपके स्वरूपको प्राप्त होकर कृतकृत्य हो जाते हैं ॥५४॥

सुहमोसि तह ण दीससि जह पहु परमाणुपेत्थियेहिंपि
गुरवो तह वोहमए जह तइ सत्वंपि सम्मायं ॥

सूक्ष्मोऽसि तथा न दृश्यसे परमाणुप्रेक्षिभिरपि
गरिष्टस्तथा बोधमये यथा त्वयि सर्वमपि सम्मातम् ॥

अर्थः—हे प्रभो हे जिनेश आप सूक्ष्म तो इतने हैं कि परमाणुपर्यंत पदार्थोंको प्रत्यक्ष करनेवाले भी आपको देख नहीं सकते तथा गुरु आप इतने हैं कि सम्यग्ज्ञानस्वरूप आपमें यह समस्त पदार्थसमूह समाया हुआ है अर्थात् आपका ज्ञान आकाशसे भी अनंतगुणा है इसलिये अकाशादि समस्त पदार्थ आपके ज्ञानमें झलक रहे हैं ॥५५॥

णिस्सेसवत्थुसत्थे हेयमहेयं निरूवमाणस्स
तं परमप्पासारो सेसमसारं पलालं वा

निश्शेषवस्तुसार्थे हेयमहेय विरूप्यमाणस्य
त्वं परमात्मा सार. शेषमसार पलाल वा ॥

अर्थः—हे प्रभो हे जिनेन्द्र समस्तवस्तुओंके समूहमें जो मनुष्य हेय तथा उपादेयको देखनेवाला है उस पुरुषकी दृष्टिमें परमात्मा आप ही सार हैं और आपसे भिन्न जितनेभर पदार्थ हैं वे समस्त सूखेतृणके समान असार हैं ।

भावार्थः—यद्यपि संसारमें अनेक पदार्थ हैं किंतु हे प्रभो जो मनुष्य हेय तथा उपादेयका ज्ञाता है अर्थात् यह वस्तु त्यागने योग्य है तथा यह वस्तु ग्रहणकरने योग्य है जिसको इसबातका भलीभांति ज्ञान है उस मनुष्यकी दृष्टिमें यदि सारभूत पदार्थ हो तो आप ही हो क्योंकि आप समस्त कर्मोंकर रहित परमात्मा हो परंतु आपसे भिन्न कोई भी पदार्थ सार नहीं किंतु जिसप्रकार सूखा तृण असार है उसीप्रकार आपसे भिन्न समस्त पदार्थ असार हैं ॥ ५६ ॥

धरइ परमाणुलीलं जं गब्भे तिहुयणंपि तंपि णह
अंतो णाणस्स तुह इयरस्स न एरिसी महिमा ॥

धरति परमाणुलीला यद्गर्भे त्रिभुवनमपि तदपि नभ.
अंतो ज्ञानस्य तव इतरस्य न ईदृशी महिमा ॥

अर्थः—हे प्रभो हे जिनेश जिस आकाशके गर्भमें ये तीनोंभुवन परमाणुकी लीलाको धारण करते हैं अर्थात् परमाणुके समान मालूम पड़ते हैं वह आकाश भी आपके ज्ञानके मध्यमें परमाणुके समान मालूम पड़ता है ऐसी महिमा आपके ज्ञानमें ही मौजूद है किंतु आपसे भिन्न और किसी भी देवके ज्ञानमें ऐसी महिमा नहीं है।

भावार्थः—जैनसिद्धांतमें आकाश अनंतप्रदेशी माना गया है और उस आकाशके दो भेद स्वीकार किये हैं एक लोकाकाश दूसरा अलोकाकाश उनमें जिसमें जीवादि द्रव्य रहें उसको लोक कहते हैं वह लोक इस आकाशके मध्यमें सर्वथा छोटा परमाणुके समान मालूम पड़ता है क्योंकि लोक असंख्यात प्रदेशी ही हैं तथा

आकाश अनंतप्रदेशी है परंतु हे भगवन् यह एक आपकी अपूर्व महिमा है कि अनंतप्रदेशी भी यह आकाश आपके ज्ञानमें परमाणुके समान ही है अर्थात् आपका ज्ञान आकाशसे भी हे प्रभो अनंतगुणा है किंतु हे भगवन् आपसे भिन्न जितनेभर देव हैं उनमें यह महिमा नहीं मौजूद है क्योंकि जब उनके केवलज्ञान ही नहीं है तो वह अनंतगुण हो किसप्रकार सकता है॥ ५७॥

भुवणत्थुय थुणइ जइ जए सरस्सइ संतयं तुहं तहवि
ण गुणंतं लहइ तहिं को तरइ जडो जणो अण्णो ॥

भुवनस्तुत्य स्तौति यदि जगति सरस्वती संततं त्वां तथापि
न गुणांत लभत तर्हि कस्तरति जडो जनोऽन्यः॥

अर्थ—हे तीनभुवनके स्तुतिकेपात्र संसारमें सरस्वती आपकी स्तुति करती है यदि वह भी आपके गुणोंके अंतको नहीं प्राप्त करसकती है तब अन्य जो मूर्ख पुरुष है वह यदि आपके गुणोंकी स्तुति करै तो वह कैसे आपके गुणोंका अंत पा सकता है?

भावार्थः—सरस्वतीके सामने पदार्थके वर्णन करनेमें दूसरा कोई भी प्रवीण नहीं है क्योंकि वह साक्षात् सरस्वती ही है परंतु हे प्रभो जब वह भी आपके गुणोंके अंतको नहीं प्राप्त करसकती है अर्थात् आपके गुणोंके वर्णन करनेमें जब वह भी हार मानती है तब हे जिनेश जो मनुष्य मूर्ख हैं अर्थात् जिसकी बुद्धिपर ज्ञानावरणकर्मका पूरा २ प्रभाव पड़ाहुआ है वह मनुष्य कैसे आपके गुणोंको वर्णन करसकता है?

सारार्थः—हे जिनेन्द्र आपमें इतने अधिक गुण विद्यमान हैं तथा वे इतने गंभीर हैं कि उनको कोई भी वर्णन नहीं करसकता॥ ५८॥

॥३८६॥

खयरिव्व संचरंती तिहुयणगुरु तुह गुणोहगयणम्मि
दूरंपि गया सुइरं कस्स गिरा पत्तयेरंता ॥

खचरीव सचरती त्रिभुवनगुरो तव गुणौघगमने
दूरमपि गता सुचिर कस्य गी. प्राप्तपर्यंता ॥

अर्थः—हे त्रिभुवनगुरो हे जिनेन्द्र आपके गुणोंके समूहरूपी आकाशमें गमन करनेवाली तथा दूरतक गईहुई ऐसी किसकी वाणीरूपी पक्षिणी है ? जो अंतको प्राप्त हो जावे ।

भावार्थः—जिसप्रकार आकाशमें गमन करनेवाली पक्षिणी यदि दूरतक भी उड़ती २ चली जावे तोभी आकाशके अंतको नहीं प्राप्त करसकती है क्योंकि आकाश अनत है उसीप्रकार हे प्रभो आपके गुण भी अनत हैं इसलिये कवि अपनी वाणीसे चाहे जितना आपके गुणोंका वर्णन करै तौभी उसकी वाणी आपके गुणोंके अंतको नहीं पा सकती ॥ ५९ ॥

जच्छअसको सको अणीसरो ईसरो फणीसोवि
तुह थोत्ते तच्छ कई अहममई तं खमिज्जासु ॥

यत्राशक्त. शक्रोऽनीश्वर ईश्वर. फणीश्वरोऽपि
तव स्तोत्रे तत्र वा कवि. अहममति तत्क्षमस्व ॥

अर्थः—हे गुणागार प्रभो जिस आपके स्तोत्रकरनेमें इन्द्र भी असमर्थ हैं और महादेव तथा शेषनाग भी अशक्त हैं उस आपके स्तोत्र करनेमें मैं अल्पबुद्धि कवि क्या चीज हूं ? इसलिये मैं ने भी जो आपका स्तोत्र किया है उसको क्षमा कीजिये ।

भावार्थः—हे प्रभो हे जिनेन्द्र आपके गुणोंका स्तोत्र इतना कठिन है कि साधारण मनुष्योंकी तो क्या

बात जो अत्यंत बुद्धिमान तथा सामर्थ्यवान हैं ऐसे इन्द्र ईश्वर (महादेव) तथा धरणीन्द्र है वेभी नहीं करसकते किंतु मुझ अल्पबुद्धिने इस आपके स्तोत्रके करनेका साहस किया है इसलिये यह मेरा एकप्रकारका बड़ाभारी अपराध है अतः विनयपूर्वक प्रार्थना है कि इस मेरे अपराधको आप क्षमा करें ॥ ६० ॥

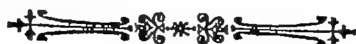
तं भव्वपोमणंदी तेयणिहीणो सरुव्वणिद्दोसो
मोहंधयारहरणे तुह पाया मम पसीयंतु ॥

त्वं भव्यपद्मनंदी तेजोनिधि सूर्यवन्निर्दोष
मोहांधकारहरणे तव पादौ मम प्रसीदेताम् ॥

अर्थः—हे जिनेश हे प्रभो आप भव्यरूपी कमलोंको आनंदके देनेवाले तथा तेजके निधान और निर्दोष सूर्यके समान हैं इसलिये मोहरूपी अंधकारके नाश करनेकेलिये आपके चरण सदा प्रसन्न रहैं।

भावार्थः—जिसप्रकार सूर्य कमलोंको आनंदका करनेवाला होता है तथा तेजका भंडार होता है और निर्दोष होता है तथा उसकी किरण समस्त अंधकारके नाश करनेवाली होती हैं उसीप्रकार हे प्रभो आप भी भव्यरूपी कमलोंको आनंदके देनेवाले हैं तथा तेजके निधान हैं तथा निर्दोष हैं इसलिये आप सूर्यके समान हैं इसलिये विनयपूर्वक प्रार्थना है कि आपके चरण मोहरूपी अंधकारके नाश करनेकेलिये सदा मेरेऊपर प्रसन्न रहैं ॥ ६१ ॥

इसप्रकार श्रीपद्मनंदिआचार्यद्वारा रचितश्रीपद्मनंदिपंचविंशतिकामें
ऋषभस्तोत्र समाप्तहुआ ॥



श्रीमाज्जिनवरस्तोत्रप्रारंभः ।

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर सहलीहूआइ मज्झ णयणाई
चित्तं गत्तं च लहू अमिएणव सिंचियं जायं ॥
दृष्टे त्वयि जिनवर सफलीभूतानि मम नयनानि
चित्त गात्र च लघु अमृतेनवै सिंचित जातम् ॥

अर्थः—हे जिनेश हे प्रभो आपके देखनेपर मेरे नेत्र सफल होते हैं तथा मेरा मन और मेरा शरीर ऐसा मालूम होता है कि मानों अमृतसे ही शीघ्र सींचा गया हो ।

भावार्थः—उत्तम पदार्थोंके देखनेसे ही नेत्र सफल होते हैं हे भगवन् आप उत्तमपदार्थ हैं इसलिये आपके देखनेसे मेरे नेत्र सफल होते हैं तथा मनमें और मेरे शरीरमें इतना आनंद होता है मानों ये दोनों अमृतसे ही सींचे गये हों ॥ १ ॥

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर दिट्ठिहरासेसमोहतिमिरेण
तह णट्ठं जह दिट्ठं जहट्ठियं तं मए तच्चं ॥
दृष्टे त्वयि जिनवर दृष्टिहरनिखिलमोहतिमिरेण
तथा नष्ट यथा दृष्ट यथास्थित तन्मया तत्त्वम् ॥

अर्थः—हे जिनेन्द्र आपके देखनेपर, जो सर्वथा दृष्टिको रोकनेवाला था ऐसा मोहरूपी अंधकार इसरीतिसे नष्ट हो गया कि मैंने जैसा वस्तुका स्वरूप था वैसा देखलिया ।

भावार्थः—जिसप्रकार अंधकारमें वस्तुका वास्तविक स्वरूप थोड़ाभी नहीं मालूम पड़ता क्योंकि अंध-

कार दृष्टिका प्रतिरोधक (रोकनेवाला) है उसीप्रकार जबतक मोहका प्रभाव इस आत्माके ऊपर पड़ा रहता है तबतक वस्तुका अंशमात्रभी वास्तविक स्वरूप नहीं मालूम पड़ता किंतु हेप्रभो जिससमय आपके दर्शन होजाते हैं उससमय वलवानभी मोहरूपी अंधकार पलभरमें नष्ट होजाता है और ऐसा सर्वथा नष्ट होजाता है कि वस्तुका वास्तविक स्वरूप दीखने लगजाता है ॥ २ ॥

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर परमाणंदेण पूरियं हिययं
मज्झ तहा जह मग्गे मोक्खंपिव पत्तमप्पाणं ॥

दृष्टे त्वयि जिनवर परमानंदेन पूरित हृदयं
मम तथा यथा मन्ये मोक्षमपि वा प्राप्तमात्मानम् ॥

अर्थः—हेजिनेन्द्र हेप्रभो आपके देखनेसें परमानन्दसे भरेहुवे मैं अपने मनको ऐसा मानता हूं मानों मैं ही मोक्षको साक्षात् प्राप्त होगया हों ॥

भावार्थः—जिससमय मेरा आत्मा मोक्षको प्राप्त होजाय तथा जैसा उसको वहां पर आनंद मिले उसी प्रकार हे प्रभो मुझे आपके देखनेसे आनंद मालूम पड़ता है अर्थात् आपके दर्शनसे पैदा हुवा सुख तथा मोक्षका सुख ये दोनों सुख बराबर हैं किंतु इनमें किसी प्रकारका भेद नहीं ॥ ३ ॥

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर णट्ठं चिय मण्णयं महापावं
रविउग्गमे निसाए ठाइ तमो कित्तियं कालं ॥

दृष्टं त्वयि जिनवर नष्टे चैव ज्ञात महापापम्
रव्युद्गमे निशाया तिष्ठेत् तमः कियतं कालम् ॥

अर्थः—हेजिनवर आपके देखनेपर प्रबलपाप नष्ट होगया ऐसा मुझे मालूम हुवा सो ठीक ही है

क्योंकि सूर्यके उदय होनेपर रात्रिका अंधकार कितने कालतक रहसक्ता है ? ॥

भावार्थः—हेजिनेन्द्र जिसप्रकार अत्यंत प्रबलभी रात्रिका अंधकार सूर्यके देखतेंही पलभरमें नष्ट हो जाता है उसीप्रकार हेकृपानिधान अत्यंत जवर्दस्त, तथा बड़ाभारीभी पाप आपके दर्शनसे पलभरमें नष्ट होजाता हे ॥४॥

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर सिज्झइ सो कोवि पुण्णपब्भारो
होइ जणो जेण पहु इह परलोयत्थसिद्धीणं ॥

दृष्टे त्वयि जिनवर सिध्यति स कोऽपि पुण्यप्राग्भरः
भवति जनो येन प्रभु' इहपरलोकस्थसिद्धीनाम् ॥

अर्थः—हेजिनेन्द्र आपके देखनेसे ऐसे किसी उत्तम पुण्योंके समूहकी प्राप्ति होती है कि जिसकी कृपा से, यहजन इसलोक तथा परलोक दोनों लोककी सिद्धियोंका स्वामी होजाता है ॥

भावार्थः—जोमनुष्य आपका दर्शन करते हैं उनको हेप्रभो ऐसे अपूर्व पुण्यकी प्राप्ति होती है कि वे उस पुण्यकी कृपासे इसलोकमें तो तीर्थंकर चक्रवर्ती आदि विभूतियोंको प्राप्त करते हैं तथा परलोकमें अणिमा महिमा आदि ऋद्धियोंके धारी इन्द्र अहमिन्द्र आदि विभूतियों को पाते हैं ॥ ५ ॥

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर मण्णे तं अप्पणो सुकयलाहम्
होही सो जेणासरिससुहनिही अक्खओ मोक्खे ॥

दृष्टे त्वयि जिनवर मन्य तमात्मनः सुकृतलाभम्
भविष्यति येनासदृशसुखनिधिः अक्षयो मोक्ष ॥

अर्थः—हेजिनेश हेप्रभो आपके देखनेसे उस पुण्यलाभ को मानता हूं जिस पुण्यलाभसे असाधारण सुखका निधि तथा अविनाशी ऐसे मोक्षपद की प्राप्ति होती है ॥ ६ ॥

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर संतोषो मज्झ तह परो जाओ
इंदविहवोपि जणइ ण तण्हालेसंपि जह हियए ॥

दृष्टे त्वयि जिनवर संतोषो मम तथा परोजात.
इन्द्रविभवोऽपि जनयति न तृष्णालेशमपि यथा हृदये ॥

अर्थः—हे स्वामिन् हेजिनेन्द्र आपके देखनेसे मुझै ऐसा उत्तम संतोष हुवा है कि जिससंतोषके सामने इन्द्रका ऐश्वर्यभी मेरे हृदयमें तृष्णाके लेशकोभी उत्पन्न नहीं करता ॥

भावार्थः—संसारमें यद्यपि इन्द्रके ऐश्वर्यका पानाभी बड़े भारी पुण्यका फल है तो भी हेजिनेन्द्र आपके दर्शन से ही मुझे इतना उत्कृष्ट तथा बड़ा भारी संतोष होता है कि मुझे इन्द्रके ऐश्वर्यके पानेकी तृष्णाही नहीं होती अर्थात् मैं आपके दर्शनसे उत्पन्न हुवे सतोषके सामने इन्द्रके ऐश्वर्यको भी सड़े तृणके समान असार मानता हूं॥७॥

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर वियारपडिवज्जिए परमसंते
जस्स ण हिट्ठी दिट्ठी तस्स ण णियजम्मविच्छेओ ॥

दृष्टे त्वयि जिनवर विकारपरिवर्जिते परमशान्ते
यस्य न हृष्टा दृष्टिः तस्य न निजजन्मविच्छेदः ॥

अर्थः—समस्तप्रकारके विकारोंकर रहित तथा परमशांत ऐसे आपको देखकर हे जिनेन्द्र जिसमनुष्यकी दृष्टिको आनंद नहीं होता उस मनुष्यके स्वीयजन्मोंका नाशभी नहीं होता ॥

भावार्थः—हे भगवन् हे जिनेश जो मनुष्य समस्त प्रकारके विकारोंकर रहित तथा परमशांत ऐसी आप की मुद्राको देखकर आनंदित होता है उसको संसारमें जन्म नहीं धारण करने पड़ते किंतु जिसमनुष्यकी

दृष्टिको समस्तविकारोंकर रहित तथा शान्तस्वभावी आपको देखकर आनंद नहीं होता उसमनुष्यको अनंत कालतक इससंसारमें परिभ्रमण करना पड़ता ॥ ८ ॥

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर जम्मह कज्जंतराउलं हिययं
कइयावि होइ पुव्वाजियस्स कम्मस्स सो दोसो ॥

दृष्टे त्वयि जिनवर यन्मम कार्यान्तराकुल हृदय
कदापि भवति पूर्वार्जितस्य कर्मण स दोष ॥

अर्थः—हे प्रभो हे जिनेन्द्र आपको देखकर भी जो कभी २ मेरा मन दूसरे २ कार्योंसे आकुलित हो जाता है उसमें मेरे पूर्वोपजित कर्मका ही दोष है ॥

भावार्थः—हे प्रभो संसारमें आपके दर्शन अलभ्य है अर्थात हरएक मनुष्यको आपके दर्शन नहीं मिल सक्ते इसालिये यद्यपि आपका दर्शन मनकी एकाग्रता से ही करना चाहिये तो भी हे प्रभो मैंने जो पूर्वभवोंमें अशुभकर्मोंका उपार्जन किया है उन अशुभकर्मोंने मेरे ऊपर इतना अपना प्रभाव जमारक्खा है कि आपके दर्शनके होनेपर भी मेरा मन दूसरे २ कार्योंसे व्याकुलित होजाता है इसलिये दूसरे २ कार्योंमें जो मेरा मन आसक्त होता है उसमें पूर्वोपार्जित कर्मोंका ही दोष है मेरा कोई दोष नहीं है ॥ ९ ॥

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर अछओ जम्मंतरं ममेहावि
सहसा सुहेहि घडियं दुक्खेहि पलाइयं दूरं ॥

दृष्टे त्वयि जिनवर आस्ता जन्मांतरं ममेहापि
सहसा सुखैर्घटितं दुःखैश्च पलायित दूरम् ॥

स॰ पुस्तकमें णयजम्मविच्छेओ यह भी पाठ है ।

अर्थः—हे जिनवर प्रभो आपके दर्शनसे मेरे दूसरे जन्मोंकी तो बात दूरही रहो किंतु इसजन्ममेंभी मुझे नानाप्रकारके सुखोंकी प्राप्ति होती है और मेरे समस्तपाप दूरभग जाते है ॥

भावार्थः—हेजिनेश आपके दर्शनोंमें इतनी शक्ति है कि जो मनुष्य आपको विनयभावसे देखता है उसमनुष्यके जन्मजन्मांतरके समस्तदुःख नष्ट हो जाते हैं तथा नानाप्रकारके सुखोंकी प्राप्ति होती है यह तो कुछ बात नहीं अर्थात् जन्मान्तरके दुःख तो अवश्य ही नष्ट होते हैं तथा जन्मांतरमें सुख मिलता ही है किंतु हे प्रभो इसजन्ममें भी आपके दर्शनोंसे नानाप्रकारके सुखोंकी प्राप्ति होती है तथा समस्तप्रकारके दुःखोंका नाश होजाता है अर्थात् आपके दर्शन तत्काल फलके देनेवाले हैं ॥ १० ॥

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर वज्झइ पट्टो दिणम्मि अज्जयणे
सहलत्तणेण मज्झे सव्वदिणाणंपि सेसाणं ॥

दृष्टे त्वयि जिनवर बध्यते पट्टो दिनेऽद्यतने
सफलत्वेन मध्ये सर्वदिनानामपि शेषाणाम् ॥

अर्थः—हे प्रभो जिनवर आपके दर्शनोंके होनेकेकारण समस्त दिनोंमें आजका दिन उत्तम तथा सफल है ऐसा जानकर पट्टबंधन किया।

भावार्थः—समस्त दिनोंमें मेरा आजका दिन उत्तम तथा सफल है ऐसा मैं समझता हूं क्योंकि आज मुझे आपका दर्शन मिला है ॥ ११ ॥

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर भवणमिदं तुज्झ महमहग्घतरं
सव्वाणंपि सिरीणं संकेयघरेव पडिहाये ॥

दृष्टे त्वयि जिनवर भवनमिदं तव महार्घ्यतरम्
सर्वासामपि श्रीणां संकेतगृहमिव प्रतिभाति ॥

अर्थः—हे प्रभो जिनेश्वर आपके देखनेसे यह जो बहुमूल्य आपका मंदिर है वह मेरेलिये समस्तप्रकार की लक्ष्मीके संकेत घरके समान है ऐसा मुझे मालूम पड़ता है ।

भावार्थः—हे भगवन् आपके दर्शनसे यह आपका स्थान मुझे ऐसा मालूम पड़ता है मानों समस्तप्रकारकी लक्ष्मीकी प्राप्तिकेलिये मेरेलिये संकेत घर है ॥ १२ ॥

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर भत्तिजलोल्लं समासियं छेत्तं
जंतं पुलयमिसा पुणवीयांकुरियमिव सोहइ ॥

दृष्टे त्वयि जिनवर भक्तिजलौघेन समाश्रित क्षेत्रम् ॥
यत्तत्पुलकमिषात् पुण्यबीजमङ्कुरितमिव शोभते ॥

अर्थः—हे प्रभो हे जिनेन्द्र आपके देखनेसे जो मेरा क्षेत्र (शरीर) भक्तिरूपी जलसे समाश्रित हुआ (सींचागया) वह शरीर रोमांचोंके बहानेसे ऐसा शोभित होता है मानों अंकुरस्वरूपसे परिणत पुण्यबीज ही है ।

भावार्थः—हे प्रभो हे जिनेन्द्र जिससमय मैं आपको भक्तिपूर्वक देखता हूं उससमय मारे आनंदके मेरे शरीरमें रोमांच होजाते हैं तथा वे रोमांच ऐसे मालूम होते हैं मानों पुण्यरूपीबीजसे अंकुर ही उत्पन्न हुए हों ॥ १३ ॥

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर समयामयसायरे गहीरंम्मि
रायाइदोसकलुसे देवे को मण्णइ सयाणे ॥

दृष्टे त्वयि जिनवर समयामृतसागरे गंभीरे ॥
रागादिदोषकलुषे देवे को मन्यते सज्ञानः ॥

अर्थः—हे प्रभो हे जिनेन्द्र सिद्धांतरूपी अमृतके गंभीरसमुद्र, आपके देखनेपर ऐसा कौंनसा ज्ञानी होगा जों, रागादिदोषोंसे जिनकी आत्मा मलिन हो रही है ऐसे देवोंको मानेगा ? ।

भावार्थः—जबतक मनुष्य ज्ञानी नहीं होता अर्थात् कौंनसा पदार्थ मुझे हितका करनेवाला है और कौनसा पदार्थ मुझे अहितका करनेवाला है ऐसा मनुष्यको ज्ञान नहीं होता तबतक वह जहां तहां रागी तथा द्वेषी भी देवोंको उत्तमदेव समझता है किंतु जिससमय उसको हिताहितका ज्ञान होजाता है उससमय वह रागी तथा द्वेषी देवोंको न अपना हितकारी मानता है तथा उनके पास भी नहीं झांकता है इसलिये हे प्रभो जिसने सिद्धांतरूपी अमृतके समुद्र आपको देखलिया है वह ज्ञानवान् प्राणि कभी भी रागी तथा द्वेषी देवों को नहीं मानसकता है ॥ १४ ॥

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर मोक्खा अइदुलहोवि संपडई
मिच्छत्तमलकलंकी मणो ण जइ होइ पुरिसस्स ॥

दृष्टे त्वयि जिनवर मोक्षोऽतिदुर्लभ सम्प्रतिपद्यते
मिथ्यात्वमलकलंकितमनो न यदि भवति पुरुषस्य ॥

अर्थः—हे प्रभो जिनेश यदि मनुष्यका मन मिथ्यात्वरूपी कलंकसे कलंकित नहीं हुआ हो तो वह पुरुष आपके दर्शनसे अत्यंत दुर्लभ भी मोक्षको भलीभांति प्राप्त कर लेता है ।

भावार्थः—यदि मनुष्यका चित्त मिथ्यात्वरूपी मलसे ग्रस्त हो जावे तो उस मनुष्यको तो मोक्षकी प्राप्ति हो ही नहीं सकती क्योंकि जिसप्रकार पित्तज्वरवालेको मीठा भी दूध जहरके समान कडुआ लगता है उसी प्रकार उस मिथ्यादृष्टिको आपका उपदेश तथा आपका दर्शन विपरीत ही मालूम पड़ता है और जब वह

॥३९६॥

आपके उपदेशको ही अच्छा न मानेगा तबतक उसको वास्तविक पदार्थका स्वरूप नहीं मालूम पड़सकता और वास्तविक स्वरूपके न जाननेसे वह मोक्षको नहीं जासकता किंतु जिसमनुष्यका मन मिथ्यात्वरूपी कलंकसे कलंकित नहीं है अर्थात् जो मनुष्य सम्यग्दृष्टि है वह मनुष्य आपके दर्शनसे अत्यंत कठिन भी मोक्षको सुलभरीतिसे प्राप्त करलेता है ॥ १५ ॥

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर चम्ममएणाच्छिणावि तं पुण्णं
जं जणइ पुरोकेवलदंसणणाणाइ णयणाई ॥

दृष्टे त्वयि जिनवर चर्ममयेनाक्ष्णापि तत्पुण्यं
यज्जनयति पुरः केवलदर्शनज्ञानानि नयनानि ॥

अर्थः—हे प्रभो जो मनुष्य आपको इस चामके नेत्रसे भी देखलेता है उस मनुष्यको उसअपूर्व पुण्यकी प्राप्ति होती है जो पुण्य आगे केवलदर्शन तथा केवलज्ञानरूपीनेत्रोंको उत्पन्न करता है ।

भावार्थः—हे प्रभो जो मनुष्य आपको चर्मके नेत्रोंसे देख लेता है उस मनुष्यको जब उसचर्मके नेत्रसे देखते ही इतने पुण्यकी प्राप्ति होती है कि वह आगे केवलदर्शन तथा केवलज्ञानको भी प्राप्त करलेता है अर्थात् वह पुरुष चारघातिया कर्मोंको नाशकर केवली वनजाता है तब जो पुरुष आपको दिव्यनेत्रसे देखता है उसको क्या २ फलकी प्राप्ति न होगी अर्थात् दिव्यदृष्टिसे आपको देखनेवाला मनुष्य तो अवश्य ही अचिंत्य फलको प्राप्त करताहै इसमें किसीप्रकारका संशय नहीं ॥ १६ ॥

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर सुकयत्थो मण्णई ण जेणाप्पा
सो वहुअ वड्डुणोद्धुडुणाइ भवसायरे काही ॥

दृष्टे त्वयि जिनवर सुकृतार्थो मानितो न येनात्मा
स बहु मज्जनोन्मज्जितानि भवसागरे करिष्यति ॥

अर्थः—हे प्रभो हे जिनेन्द्र जिस मनुष्यने आपको देखकर भी अपनी आत्माको कृतकृत्य नहीं माना वह मनुष्य नियमसे संसाररूपी समुद्रमें मज्जन तथा उन्मज्जनको करैगा अर्थात् जिसप्रकार मनुष्य समुद्रमें उछलता तथा डूबता है उसीप्रकार वह मनुष्य बहुतकालतक संसारमें जन्म मरण करता हुआ भ्रमण करैगा ॥ १७ ॥

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर णिच्छयादिट्ठीय होइ जं किंपि
ण गिराइगोयरं तं साणुभवत्थंपि किं भणिमो ॥

दृष्टे त्वयि जिनवर निश्चयदृष्ट्या भवति यत्किमपि,
न गिरां गोचरं तत् स्वानुभवस्थमपि किं भणामः ॥

अर्थः—हे प्रभो हे जिनेश वास्तविक दृष्टिसे आपके देखनेपर जोकुछ हमको (आनंद) होता है वह यद्यपि हमारे मनमें स्थित है तो भी वह वचनके अगोचर ही है इसलिये हम उसके विषयमें क्या कहैं ?।

भावार्थः—हे प्रभो जिससमय मैं आपको निश्चयदृष्टिसे देखलेता हूं उससमय मुझे इतना आनंद होता है कि मैं यद्यपि अपने आप उसको जानता हूं तोभी उसको वचनसे नहीं कह सकता ॥ १८ ॥

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर दट्ठव्वावहिविसेसरूवम्मि
दंसणसुद्धायगयं दाणिं मम णत्थि सव्वत्थ ॥

दृष्टे त्वयि जिनवर द्रष्टव्यावधिविशेषरूपे
दर्शनशुद्ध्या गतमिदानीं मम नास्ति सर्वार्थः ॥

अर्थः—हे प्रभो जिनेन्द्र देखनेयोग्य पदार्थोंकी सीमाके विशेषस्वरूप अर्थात् केवलज्ञानस्वरूप आपके

देखनेपर मैं दर्शनविशुद्धिको प्राप्त हुआ और इससमय जितनेभर बाह्यपदार्थ हैं वे मेरे नहीं हैं ॥ १९ ॥

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर अहियं सुहिया समुज्जला होई
जणदिट्ठी को पेच्छइ तद्दंसणसुहयरं सूरं ॥

दृष्टे त्वयि जिनवर अधिक सुखिता समुज्ज्वला भवति
जनदृष्टिः कः प्रेक्षते तद्दर्शनसुखकर सूरम् ॥

अर्थः—हे भगवन् आपको देखकर मनुष्योंकी दृष्टि अधिक सुखी तथा अत्यंत निर्मल होती है इसलिये दर्शनको सुखके करनेवाले सूर्यको कौन देखता है ? अर्थात् कोई नहीं ।

भावार्थः—यद्यपि संसारमें आप तथा सूर्य दोनों हीं प्रतापी हैं और दोनों ही देखनेयोग्य पदार्थ हैं किंतु हे प्रभो जब आपके दर्शनसे ही मनुष्योंकी दृष्टि अधिक सुखी तथा अत्यंत स्वच्छ हो जाती है तब सूर्यके देखनेकी क्या आवश्यकता है ? ॥ २० ॥

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर वुहम्मि दोसोज्झियम्मि वीरम्मि
कस्स किल रमइ दिट्ठी जडम्मि दोसायरे खत्थे ॥

दृष्टे त्वयि जिनवर बुद्धे दोषोज्झिते वीरे
कस्य किल रमते दृष्टिः जडे दोषाकरे खस्थे ॥

अर्थः—हे जिनेन्द्र ज्ञानवान समस्तदोषोंकर रहित और वीर ऐसे आपको देखकर ऐसा कौन मनुष्य है जिसकी दृष्टि जड़ तथा दोषाकर और आकाशमें रहनेवाले ऐसे चंद्रमामें प्रीतिको करै ।

भावार्थः—यद्यपि चंद्रमा भी मनुष्योंको आनंदका देनेवाला है किंतु हे प्रभो चंद्रमा ज्ञानरहित जड़ है और दोषाकार है तथा आकाशमें ऊपर रहनेवाला है और आप ज्ञानवान हैं अर्थात् ज्ञानस्वरूप हैं और

क्षुधातृषा आदि अठारह दोषोंके जीतनेवाले हैं तथा अष्टकर्मोंके जीतनेकेकारण आप वीर हैं इसलिये आपको छोड़कर ऐसा कौन मनुष्य है जिसकी दृष्टि चंद्रमामें प्रीतिको करैगी ? ॥ २१ ॥

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर चिंतामणिकामधेणुकप्पतरू
खज्जोयव्व पहाये मज्झ मणे णिप्पहा जाया ॥

दृष्टे त्वयि जिनवर चिंतामणिकामधेनुकल्पतरवः
खद्योता इव प्रभाते मम मनसि निष्प्रभा जाता. ॥

अर्थः—हे प्रभो जिनेन्द्र आपके देखने पर जिसप्रकार सुवहके समयमें पटवीजना प्रभा रहित हो जाता है उसीप्रकार चिंतामाणी कामधेनु और कल्पवृक्ष भी मेरे मनमें प्रभारहित हो गये ॥

भावार्थः—जब तक अंधेरी रात रहती है तब तक तो पटवीजनाका प्रकाशभी प्रकाश समझा जाता है किंतु जिससमय प्रातःकाल होता है और सूर्यकी किरण जहां तहां चारो ओर कुछ फैल जातीं है उस समय जिसप्रकार उस पटवीजनाका प्रकाश कुछ भी नहीं समझा जाता उसी प्रकार हे प्रभो । जब तक मैं ने आपको नहीं देखा था तब तक मैं चिंतामणी कामधेनु तथा कल्पवृक्षों को उत्तम समझता था क्योंकि संसारमें ये इच्छाके पूरण करनेवाले गिने जाते हैं किंतु जिससमयसे मैंने आपको देख लिया है उससमय से मेरे मनमें आपही तो चिंतामणी हैं तथा आपही कामधेनु और कल्पवृक्ष हैं किंतु जिनको संसारमें चिंतामणी कामधेनु कल्पवृक्ष कहते हैं वे आपके दर्शनके सामने फीके हैं ॥२२॥

दृष्टे तुमम्मि जिणवर रहसरसो यह मणम्मि जो जाओ
आणांदासुमिसासो तत्तो णीहरइ बहिरंतो ॥

॥४००॥

दृष्टे त्वयि जिनवर रहस्यरसो मम मनसि योजात
आनदाश्रुमिषात् स ततो निस्सरति बहिरत ॥

अर्थः—हे जिनेश आपके देखनेसे जो मेरे मनमें रहस्यरस (प्रेमरस) उत्पन्न हुवा है वह प्रेमरस आमंदाश्रुओंके व्याजसे भीतरसे बाहिर निकलता है ऐसा मालूम होता है।

भावार्थः—हे प्रभो हे दीनवन्धो मैं जिससमय आपको देखता हूं उससमय मेरे मनमें इतना आधिक आनंद होता है कि मारे आनंदके मारे मेरी आखोंमें आंसू निकल आते हैं किंतु मैं उनको आनंदाश्रु नहीं कहता क्योंकि मुझे ऐसा जान पड़ता है कि आनंदके आसुओंके व्याजसे भीतर न अमाता हुवा प्रेमरसही बाहर निकलता है ॥२२॥

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर कल्लाणपरंपरा पुरो पुरिसे
संचरइ अणाहूयावि ससहरे किरणामालव्व ॥

दृष्टे त्वयि जिनवर कल्याणपरपरा पुर पुरुषस्य
संचरति, अनाहूतापि शशधरे किरणमाला इव ॥

अर्थः—हे प्रभो जिनेन्द्र जिसप्रकार चंद्रमामें किरणोंकी माला (पंक्ति) आगे गमन करती है उसी प्रकार आपके दर्शनसे पुरुषोंके सामने विना बुलाये भी कल्याणोंका परंपरा आगे गमन करती है।

भावार्थः—जो मनुष्य आपका दर्शन करता है उसको इसभवमें तथा परभवमें नाना प्रकारके कल्याणों की प्राप्ति होती है ॥२३॥

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर दिसवल्लीओ फलंति सव्वाओ
इट्ठं अहुलियाविह्न वारिसइ सुण्णंपि रयणेहिं ॥

दृष्टे त्वयि जिनवर दिग्वल्यः फलति सर्वाः
इष्टमफुल्लितापि खलु वर्षति शून्योऽपि रत्नैः ॥

अर्थः—हे प्रभो जिनेश्वर आपके दर्शनसे विना पुष्पितभी समस्त दशदिशारूपी लता इष्टपदार्थों को देती है तथा रत्नोंकर रहितभी आकाश रत्नोंकी वृष्टि करता है ॥

भावार्थः—यद्यपि नियम यह है कि लता पुष्पित होकर फलको देती है किंतु हे प्रभो आपके दर्शनों में इतनी शक्ति है कि नहीं पुष्पित होकर भी मनुष्योंको दिशारूपीलता इष्टफलको देती हैं तथा रत्नोंकर रहित भी आकाश आपके दर्शनोंकी कृपासे रत्नोंकी वृष्टिको करता है ॥ २४ ॥

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर भव्वो भयवज्जिओ हवे णवरं
गणणिंदच्चिय जायइ जोण्हापसरे सरे कुमुअं ॥

दृष्टे त्वयि जिनवर भव्यो भयवर्जितो भवेन्नवरम्
गतनिद्र एव जायते ज्योत्स्नाप्रसरे सरसि कुमुदम् ॥

अर्थः—जिसप्रकार चांदनीके फैलनेपर सरोवरमें रात्रिविकाशी कमल शीघ्र ही प्रफुल्लित होजाते हैं उसीप्रकार हेजिनेश आपके केवल दर्शनसे ही भव्यजीव समस्तकारके भयोंकर रहित तथा मोहरूपी निद्रासे रहित सुखी होजातेहैं।

भावार्थः—जिसप्रकार रात्रिविकाशी कमलोंके संकोचरहितपनेमें तथा प्रफुल्लतामें चंद्रमाकी चांदनी असाधारण कारण है उसीप्रकार हे प्रभो भव्यजीवोंके मोहनिद्राके रहितपनेमें तथा समस्तप्रकारके भयोंको दूरकरनेमें आप ही असाधारण कारण हैं और दूसरा कोई नहीं ॥ २५ ॥

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर हियएण महा सुहं समुल्लसियं
सारिणाहेणिव सहसा उग्गामिए पुण्णिमा इंदे ॥

दृष्टे त्वयि जिनवर हृदयेन महासुखं समुल्लसितम्
सरिन्नाथेनेव सहसा उद्गमिते पूर्णिमाचंद्रे ॥

अर्थः—हे जिनेश हे प्रभो जिसप्रकार चंद्रमाके उदय होने पर समुद्र शीघ्रही उल्लासको प्राप्त होता है उसीप्रकार आपके दर्शनसे भी मेरे हृदयमें अत्यंत प्रसन्नता होती है ।

भावार्थः—जिससमय पूर्णिमासीके चंद्रमाको देखकर समुद्र उछलता है उससमय यद्यपि चंद्रमा समुद्रके उछलनेकेलिये प्रेरणा नहीं करता किंतु चंद्रमाके उदय होते ही जिसप्रकार वह स्वभावसे ही उल्लासको प्राप्त होता है उसीप्रकार हे प्रभो आपको देखकर आपकी प्रेरणासे मेरा मन प्रसन्न नहीं होता किंतु आपके देखनेसे ऐसा अपूर्व आनंद होता है जिससे वह स्वभावसे ही प्रसन्न होजाता है ॥ २६ ॥

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर दोहिमि चक्खूहिं तह सुही अहियं
हियये जह सहसाहो होहित्ति मणोरहो जातः ॥

दृष्टे त्वयि जिनवर द्वाभ्यां चक्षुर्भ्यां तथा सुखी अधिकं
हृदये यथा सहसार्थो भविष्यति इति मनोरथो जात ॥

अर्थः—हे प्रभो हे जिनेश आपको देखकर मैं इतना हृदयमें अधिक सुखी हुवा मानो बहुत शीघ्र मेरे प्रयोजन सिद्ध होंवेगें ऐसा मेरा मनोरथ हीं सिद्ध हुवा ।

भावार्थः—मनुष्यकी जो अभिलाषा हुआकरती है यदि उसकी सिद्धि शीघ्र होनेवाली हो तो जिस प्रकार उसमनुष्यके हृदयमें वचनातीत आनंद होता है उसीप्रकार हे प्रभो आपको देखकर मुझे भी वचनातीत आनंद हुआ अर्थात् मैं आपके दर्शनसे अत्यंत सुखी हुआ ॥ २७ ॥

॥४०३॥

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर भवोवि मित्तणं गओ एसो
एयम्मि ठियस्स जओ जायं तुह दंसणं मज्झ ॥

दृष्टे त्वयि जिनवर भवोऽपि मित्रत्वं गत एष
एतस्मिन् स्थितस्य यतः जातं तव दर्शनं मम ॥

अर्थः—हे प्रभो हे जिनेश आपके दर्शनसे यह जन्म भी मेरा परममित्र बनगया क्योंकि इसजन्ममें रहनेवाले मुझे आपका दर्शन हुआ है ।

भावार्थः—संसारमें जितनेभर दुःखोंको उत्पन्न करनेवाले पदार्थ हैं वे किसीके हितकारी मित्र नहीं होते इसलिये यद्यपि जन्म जीवोंका मित्र नहीं हो सकता क्योंकि वह जीवोंको नानाप्रकारके दुःखोंका देनेवाला है किन्तु हे प्रभो आपके दर्शनसे वह जन्म मित्र ही बनगया क्योंकि अनेक जन्मोंसे आपका दर्शन नहीं मिला है किंतु इसीजन्ममें आपका दर्शन मुझे भाग्यसे मिला है ॥ २८ ॥

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर भव्वाणं भूरिभत्तिजुत्ताणं
सव्वाओ सिद्धीओ होंति पुरो एकलीलाए ॥

दृष्टे त्वयि जिनवर भव्यानां भूरिभक्तियुक्तानाम्
सर्वाः सिद्धयो भवति पुर एकलीलया ॥

अर्थः—हे प्रभो हे भगवन् गाढ़ जो भक्ति उसभक्तिकर सहित जो भव्यजीव हैं उनको आपके दर्शनसे बातकी बातमें समस्तप्रकारकी सिद्धियोंकी प्राप्ति हो जाती है ।

भावार्थः—संसारमें उत्तमोत्तम सिद्धियोंकी प्राप्ति यद्यपि अत्यंत कठिन है किंतु हे प्रभो जो मनुष्य आपके गाढ़भक्त हैं अर्थात् आपमें भक्ति तथा श्रद्धा रखते हैं उन मनुष्योंको केवल आपके दर्शनसे ही समस्त

प्रकारकी सिद्धियां बातकी बातमें आगे आकर उपस्थित हो जाती हैं ॥ २९ ॥

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर सुहगइसंसाहणेकवीयम्मि
कंठगयजीवियस्सवि धीरं संपज्जए परमं ॥

दृष्टे त्वयि जिनवर शुभगतिसंसाधनैकवीजे
कंठगतजीवितस्यापि धैर्यं सपद्यते परमम् ॥

अर्थः—हे प्रभो हे जिनेन्द्र शुभगतिकी सिद्धिमें एक असाधारण कारण ऐसे आपके दर्शनसे जिसप्राणीके प्राण कंठमें आगये हैं अर्थात् जो तत्काल मरनेवाला है ऐसे उसप्राणीको उत्तमधीरता आजाती है ।

भावार्थः—जिसप्रकार किसी जीवपर अधिक कष्ट आकर पड़े और उससमय यदि कोई उसका हितैषी मनुष्य सामने पड़जावे तो उसको एकदम धीरता आजाती है उसीप्रकार हे प्रभो जिसमनुष्यके प्राण सर्वथा कंठमें आपहुंचे हैं अर्थात् जो शीघ्र ही मरनेवाला है उसमनुष्यको यदि आपका दर्शन होजावे तो वह शीघ्रही धीरवीर बनजाता है अर्थात् उसको मरणसे किसीप्रकारका भय नहीं रहता क्योंकि आप जीवोंको शुभगतिकी प्राप्तिमें एक असाधारण कारण है इसलिये वह आपके दर्शनसे समझलेता है कि अब मेरे समस्तदुःख दूरहोगये ॥३०॥

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर कमम्मि सिद्धे ण किं पुरा सिद्धं
सिद्धियरं को णाणी यहइ ण तुह दंसणं तह्मा ॥

दृष्टे त्वयि जिनवर क्रमे सिद्धे न किं पुरा सिद्धम्
सिद्धिकरं को ज्ञानी इच्छति न तव दर्शनं तस्मात् ॥

अर्थः—हे प्रभो हे जिनेश आपकेदर्शनसे आपके चरणकमलोंकी प्राप्ति होनेपर ऐसी कौनसी वस्तु बाकी रही जो मुझे न मिली हो? अर्थात् समस्त पदार्थोंकी सिद्धि हुई इसलिये ऐसा कौनसा ज्ञानी है जो

नवाकर नमस्कार करते हैं इसलिये आचार्यवर सरस्वतीके चरणकमलोंकी आशीर्वादात्मक स्तुति करते हैं कि इसप्रकार आश्चर्यके करनेवाले सरस्वतीको चरणकमल सदा इसलोकमें जयवंत हैं ॥ १ ॥

अपेक्षते यन्न दिनं न यामिनीं नचांतरं नैव बहिश्च भारति
न तापकृज्जाड्यकरं न तन्महः स्तुवे भवत्याः सकलप्रकाशकम् ॥

अर्थः—हे सरस्वति जो आपका तेज न तो दिनकी अपेक्षा करता है और न रात्रिकी अपेक्षा करता है और न भीतरकी अपेक्षा करता है और न बाहिरकी अपेक्षा करता है और जो तेज न जीवोंको संतापका देनेवाला है और न जड़ताका करनेवाला है तथा जो समस्त प्रकारके पदार्थोंका प्रकाश करनेवाला है आचार्य कहते हैं कि इसप्रकारके सरस्वतीके तेजको मैं मस्तकझुकाकर नमस्कार करता हूं अर्थात् ऐसा सरस्वतीका आश्चर्यका करनेवाला तेज मेरी रक्षा करो ।

भावार्थः—यद्यपि संसारमें सूर्यआदि बहुतोंके तेज मौजूद हैं किंतु वे एकदूसरेकी अपेक्षाके करनेवाले हैं जिसप्रकार सूर्यका तेज तो दिनकी अपेक्षा करनेवाला है तथा चंद्रमाका तेज रात्रिकी अपेक्षा करनेवाला है और सूर्य तथा चंद्रमा दोनोंके तेज मनुष्योंको नानाप्रकारके संतापोंके देनेवाले हैं अर्थात् सूर्यके तेजसे तो मनुष्य मारे गर्मीके व्याकुल हो जाते हैं तथा चंद्रमाका तेज कामोत्पादक होनेके कारण कामी पुरुषोंको नाना प्रकारके संतापोंका देनेवाला होता है और सूर्य तथा चंद्रमाके तेज बाह्यके ही प्रकाशक हैं अंतरंगके प्रकाशक नहीं हैं तथा सूर्य चंद्रमाके तेज थोड़े ही पदार्थोंके प्रकाशक हैं समस्त पदार्थोंके प्रकाशक नहीं हैं । किंतु सरस्वतीका तेज न तो दिनकी अपेक्षा करता है और न रातकी अपेक्षा करता है और न वह भीतर तथा बाहिर की ही अपेक्षा करता है और जीवोंको संतापका भी देनेवाला नहीं है और न जड़ताका करनेवाला

है तथा समस्त पदार्थोंका प्रकाश करनेवाला है इसलिये आचार्यवर कहते हैं कि ऐसे सरस्वतीके तेजकेलिये मैं मस्तक झुकाकर नमस्कार करता हूं ॥ २ ॥

तव स्तवे यत्कविरस्मि साम्प्रतं भवत्प्रसादादिव लब्धपाटवः
सवित्रि गंगासरितेऽर्घदायको भवामि तत्तज्जलपूरिताञ्जलिः ॥

अर्थः—हे सरस्वतिमातः आपकी कृपासे ही प्राप्त किया है चातुर्य जिसने ऐसा जो मैं इससमय आपकी स्तुति करनेमें कवि हुआ हूं उससे ऐसा मालूम होता है कि गंगा नदीके जलसे पूरित (भरीहुई) है अंजिली जिसकी ऐसा मैं गंगा नदीकोलिये ही अर्घदेनेवाला हुआ हूं ।

भावार्थः—जिसप्रकार गंगानदीसे पानी लेकर उसीको अर्घ देते हैं उसीप्रकार हे मातः सरस्वति आपकी कृपासे ही चातुर्यप्राप्तकर आपकी स्तुतिमें ही मैं कवि हुआ हूं ॥ ३ ॥

श्रुतादिकेवल्यपि तावकीं श्रियं स्तुवन्नशक्तोऽहमिति प्रपद्यते
जयेति वर्णद्वयमेवमादृशा वदंति यद्देवि तदेव साहसम् ॥

अर्थः—हे सरस्वति मातः आपकी शोभाकी स्तुति करताहुआ श्रुत है आदिमें जिसके ऐसा केवली भी अर्थात् श्रुतकेवली भी जव "मैं सरस्वतीकी शोभाकी स्तुति करनेमें" असमर्थ हूं ऐसा अपनेको मानता है तव मुझसरीखे मनुष्योंकी तो क्या बात है ? अर्थात् मुझसरीखे मनुष्य तो आपकी स्तुति कर ही नहीं सकते किंतु हे देवि जो मुझसरीखे मनुष्य आपकेलिये जय इन दो वर्णोंको भी बोलते हैं वही मेरेसरीखे मनुष्योंका एक बड़ा भारी साहस है ऐसा समझना चाहिये ।

भावार्थः—यद्यपि श्रुतकेवली समस्त शास्त्रके पारंगत होते हैं किंतु हे मातः आपकी लक्ष्मी (शोभा)

इतनी अधिक है कि वे भी आपकी शोभाका वर्णन नहीं करसकते और जब वेही आपकी शोभाका वर्णन नहीं करसकते तो मुझसरीखे मनुष्योंकी तो बातही क्या है अर्थात् मैं तो अल्पज्ञानी हूं इसलिये मैं तो आपकी शोभा का वर्णन कर ही नहीं सकता और हे देवि हमसरीखे मनुष्योंमें इतनी भी शक्ति नहीं है जो आपकेलिये जय ये दो अक्षर भी कहसकैं किंतु जो हम आपकेलिये जय ये दो अक्षर कहते हैं वह हमसरीखे मनुष्योंका बड़ा भारी साहस है ऐसा समझिये ॥ ४ ॥

त्वमत्र लोकत्रयसद्मनि स्थिता प्रदीपिका बोधमयी सरस्वति
तदंतरस्थाखिलवस्तुसंचयं जनाः प्रपश्यन्ति सद्दृष्टयोप्यतः ॥

अर्थः—हे सरस्वति मातः आप तीनलोकरूपी घरमें स्थित सम्यग्ज्ञानमय उत्कृष्ट दीपक हैं जिसदीपकी कृपासे सम्यग्दृष्टिजीव उन तीनोंलोकोंके भीतर रहनेवाले जीवाजीवादि पदार्थोंको भलीभांति देखते हैं ।

भावार्थः—नानाप्रकारके पदार्थोंसे भरेहुये घरमें यदि अंधकारके समयमें दीपक रखदिया जाय तो नेत्र वाला पुरुष जिसप्रकार दीपककी सहायतासे समस्त पदार्थोंको भलीभांति देखलेता है उसीप्रकार यह तीनों लोक भी एकप्रकारका घर है तथा इसमें एक कोनेसे लेकर दूसरे कोनेपर्यंत भलीभांति जीवादिपदार्थ भरेहुए हैं उस त्रिलोकरूपी घरमें समस्त पदार्थोंके प्रकाशकरनेमें हे मातः आप उत्कृष्टदीपकके समान हैं क्योंकि आपकी कृपासे सम्यग्दृष्टि पुरुष त्रिलोकमें भरेहुए समस्तपदार्थोंको भलीभांति देखलेते हैं ॥ ५ ॥

नभःसमं वर्त्म तवातिनिर्मलं पृथुप्रयातं विबुधैर्न कैरिह
तथापि देवि प्रतिभासतेतरां यदेतदक्षुण्णमिव क्षणेन तत् ॥

अर्थः—हे देवि आपका जो मार्ग है वह आकाशके समान अत्यंत निर्मल है और अत्यंत विस्तीर्ण है

उसमार्गमें ऐसे कौनसे विबुध हैं जो नहीं गये हों अर्थात् सबही गये हैं किंतु मातः तो भी वहमार्ग क्षणभरमें ऐसा मालूम होता है कि अक्षुण्ण ही हैं अर्थात् कोई भी उसमार्गसे नहीं गया है ।

भावार्थः—जिसप्रकार आकाशका मार्ग अत्यंत निर्मल तथा विस्तीर्ण है और उसपर अनेकप्रकारके अनेकदेव भी गमन करते हैं किंतु वह क्षणमात्रमें ऐसा मालूम पड़ता है कि इसमार्गसे कोई भी नहीं गया है उसीप्रकार हे सरस्वति हे मातः आपका मार्ग भी अत्यत निर्मल है और विस्तीर्ण है और अनेक विद्वान उसमार्गसे गये भी हैं तोभी वह मार्ग क्षणभरमें ऐसा मालूम होता है कि उसमार्गसे कोई भी नहीं गया है अर्थात् हे सरस्वति मातः आपका मार्ग अत्यंत गहन है ॥ ६ ॥

तदस्तु तावत्कवितादिकं नृणां तव प्रभावात्कृतलोकविस्मयम्
भवेत्तदप्याशु पदं यदिष्यते तपोभिरुग्रैर्मुनिभिर्महात्मभिः ॥

अर्थः—हे मातः सरस्वति समस्तलोकको आश्चर्यके करनेवाले कविता आदिक गुण मनुष्योंको आपकी कृपासे हों इसमें किसीप्रकारका आश्चर्य नहीं हैं किन्तु हे मातः जिस पदको बडे २ मुनि कठिन २ तप करके प्राप्त करने की इच्छा करते हैं वह पदभी आपकी कृपासे बातकी बातमें प्राप्त हो जाता है ॥

भावार्थः—हे मातः जो मनुष्य आपके उपासकहैं और जिनके ऊपर आपकी कृपा है उन मनुष्योंको आपके प्रसादसे समस्तलोकको आश्चर्यके करने वाली कविता आदिकी प्राप्ति होती है अर्थात् कविताआदिसे वे समस्तलोकको आश्चर्य सहित करते हैं । तथा आपकी कृपासे मनुष्योंको उस मोक्षपदकी प्राप्ति होती है जिस मोक्षपदकी बड़ें २ मुनिगण उग्रतपोंके द्वारा प्राप्त करनेकी अभिलाषा करते हैं ॥ ७ ॥

भवत्कला यत्र न वाणि मानुषे न वेत्ति शास्त्रं स चिरं पठन्नपि ।

मनागपि प्रीतियुतेन चक्षुषा यमीक्षसे कैर्न गुणैः स भूष्यते ॥

अर्थः—हे सरस्वति हे मातः जिसमनुष्यमें आपकी कला नहीं अर्थात् जो मनुष्य आपका कृपापात्र नहीं है वह चिरकालतक पढ़ता हुवा भी शास्त्रको नहीं जानता है किन्तु जिसको आप थोड़ा भी स्नेह सहित नेत्र से देख लेतीहो अर्थात् जो मनुष्य थोड़ाभी आपकी कृपाका पात्र वन जाता है वह मनुष्य संसारमें किन २ गुणोंसे विभूषित नहीं होता है? अर्थात् विनाही प्रयत्नके वह केवल आपकी कृपा से समस्तगुणोंका भंडार हो जाता है।

भावार्थः—हे मातः आपकी विना कृपाके यदि मनुष्य चाहै कि मैं पढ़ २ कर विद्वान हो जाऊं तथा वास्तविक तत्वोंका मुझे ज्ञान हो जावे यह कभी भी नहीं होसक्ता किन्तु जिस मनुष्यपर आपकी थोड़ी भी कृपा रहती है वह मनुष्य विनाही पढ़े विद्वता आदि अनेकगुणोंको बातकी बात में प्राप्त कर लेता हैं इसलिये आपकी कृपा ही मनुष्योंको कल्याणकी करने वाली है ॥ ८ ॥

स सर्ववित्पश्यति वेत्ति चाखिलं नवा भवत्या रहितोऽपि बुध्यते ।
तदत्र तस्यापि जगत्त्रयप्रभोस्त्वमेव देवि प्रतिपत्तिकारणम् ॥

अर्थः—संसारमें जो केवली भगवान समस्तपदार्थोंको भलीभांति देखते हैं तथा समस्तपदार्थोंको भलीभांति जानते हैं वे भी आपकी ही कृपासे हे देवि जानते तथा देखते हैं किन्तु आपकी कृपाके बिना न वे जानते हैं और न देखतेही हैं इसलिये हेमातः इससंसारमें तीनोंजगतके प्रभु उन केवलीके ज्ञान तथा दर्शनमें भी आपही कारण है ॥

भावार्थः—हे सरस्वति यदि आप न होती तो समस्त जगतके प्रभु केवली भगवान भी समस्त पदार्थों को न तो देखही सक्ते थे और न जान ही सक्ते थे इसलिये केवली भगवानके समस्तपदार्थोंके जाननेमें तथा दर्शनमें आपही आसाधारण कारण हैं॥ ९ ॥

चिरादाति क्लेशशतैर्भवाम्बुधौ परिभ्रमन् भूरि नरत्वमश्नुते ।
तनूभृदेतत्पुरुषार्थसाधनं त्वया विना देवि पुनः प्रणश्यति ॥

अर्थः—चिरकालसे इससंसाररूपी समुद्रमें भ्रमण करता हुवा यह जीव सेकड़ों क्लेशोंसे इस मनुष्य जन्मको पाता है तथा वह मनुष्यभवही समस्त पुरुषार्थोंका साधन है किंतु हे देवि आपके विना वह पाया हुवा भी मनुष्यभव नष्टही हो जाता है ।

अर्थः—यद्यपि गतिचार हैं परंतु उनसवमें मनुष्यति (मनुष्यभव) अत्युत्तम है क्योंकि इसमनुष्यभव में ही जीव कर्मोंसे छूटनेका उपाय कर सक्ते हैं तथा सबसे उत्तम जो स्थान मोक्ष हैं उसको भी जीव इसी मनुष्यभवमें प्राप्त करते हैं किंतु इस मनुष्यभवकी प्राप्ति बड़ी कठिनाईसे होती है तथा इसमनुष्यभवकी प्राप्तिका फल यथार्थ तत्वज्ञानी बनना और तत्वज्ञानी बननेका उपाय सरस्वती की सेवा है इसलिये आचार्यवर कहते हैं कि हे मातः सरस्वति यदि आपकी कृपा न होवे तो मनुष्यका मनुष्यभव पाना व्यर्थ ही है क्योंकि वह मनुष्य विना आपकी कृपा से यथार्थ ज्ञान प्राप्त नहीं कर सक्ता है और यथार्थ ज्ञानके विना जो मनुष्यभव की प्राप्तिका फल है वह उसको नहीं मिल सक्ता है ॥१०॥

कदाचिदंव त्वदनुग्रहं विना श्रुते ह्यधीतेऽपि न तत्त्वनिश्चयः ।
ततः कुतः पुंसि भवेद्विवेकता त्वया विमुक्तस्य तु जन्म निष्फलम् ॥

अर्थः—हे मातः आपके अनुग्रहके विना शास्त्रके भलेप्रकार अध्ययनकरनेपरभी वास्ताविकतत्वका निश्चय नहीं होता है और वास्ताबिकतत्वके निश्चय न होनेके कारण मनुष्य में हिताहितका विवेक भी नहीं हो सक्ता है ? इसलिये हे देवि आपके अनुग्रहकर रहित जो पुरुष हैं उसका मनुष्य जन्म पाना निष्फलहीं है ॥

भावार्थः—जिससमय मनुष्यको वास्तविक तत्वका निश्चय (श्रद्धान) होता है उसीसमय उसमनुष्यको यह पदार्थ त्यागने योग्य है तथा यह पदार्थ ग्रहण करने योग्य है इसप्रकारका विवेक होता है और ये दोनों बातें शास्त्रके अध्ययनसे प्राप्त होती हैं विना शास्त्रके अध्ययनके नहीं किंतु आचार्यवर सरस्वतीकी स्तुति करते हैं कि हे मातः यदि मनुष्यके ऊपर आपकी कृपा न होवे तो वह मनुष्य भलीभांति शास्त्रका पाठी ही क्यों न हो? उसको कदापि वास्तविकतत्वोंका निश्चय नहीं हो सक्ता है और जब उसको वास्तविक पदार्थोंका निश्चय ही नहीं हो सक्ता है तब उसको हेय तथा उपादेयका ज्ञान तो होई नहीं सक्ता और आपकी कृपाके विना उस मनुष्यका बड़े क्लेशोंसे पाया हुवा मनुष्यभव भी व्यर्थ ही है इसलिये हे मातः आप ही तो जीवोंके तत्वके निश्चयमें कारण है तथा आपही उनके हिताहित विवेकमें कारण है तथा आपकी ही कृपासे मनुष्यका मनुष्यभव भी सर्वथा फलीभूत है ॥११॥

विधाय मातः प्रथमं त्वदाश्रयं श्रयंति तन्मोक्षपदं महर्षयः।
प्रदीपमाश्रित्य गृहे तमस्तते यदीप्सितं वस्तु लभेत मानवः॥

अर्थः—जिसप्रकार मनुष्य, जो घर अंधकारसे व्याप्त है ऐसे घरमें दीपकके आश्रयसे इष्ट वस्तुको प्राप्त कर लेता है उसी प्रकार हे मातः बड़े २ ऋषि पहले आपके आश्रयको करते हैं पीछे उस प्रसिद्ध सर्वोत्कृष्ट मोक्षस्थान को वे पाते हैं॥

भावार्थः—जिस घर में बहुतसा अंधकार भरा हुवा है यदि उस घरमें से, कोई मनुष्य चाहै कि मैं विना दीपकके ही अपनी इष्ट वस्तुको निकालकर ले आऊं तो वह मनुष्य कदापि नहीं ला सक्ता किंतु दीपक की सहायता से ही ला सक्ता है इसलिये जिसप्रकार वह मनुष्य दीपककी चाह करता है उसीप्रकार हे मातः

सरस्वति यदि बड़े २ मुनि इसबातको चाहैं कि हम विनाही आपकी कृपाके सीधे मोक्षपदको चले जावे तो वे कदापि नहीं जासक्ते किंतु आपकी सहायता से, कृपासे, ही वे जा सक्ते हैं इसलिये वे सबसे प्रथम आप का आश्रय करते हैं पीछे मोक्षको जाते है इसलिये अत्यंत तपस्वी भी मुनियों की मोक्षकी प्राप्तिमें आपही कारण हैं॥१२॥

त्वयि प्रभूतानि पदानि देहिनां पदं तदेकं तदपि प्रयच्छति ।
समस्तशुक्लापि सुवर्णविग्रहा त्वमत्र मातः कृतचित्रचेष्टिता ॥

अर्थः—हे मातः यद्यपि तुझमें अनेकपद हैं तौभी तू जीवोंको एकही पददेती है तथा यद्यपि तू चौतर्फा शुक्ल है तौभी तू सुवर्णविग्रहा (सुवर्ण के समान शरीरको धारण करने वाली) है इसलिये तू इससंसारमें आश्चर्यकारी चेष्टाको धारण करने वाली है ।

भावार्थः—इसश्लोकमें विरोधाभासनामक अलंकार है इसलिये आचार्यवर शब्दसे विरोध दिखाते हैं कि जो अनेक पदोंका धारण करनेवाला होगा ? वह जीवोंका एकही पद क्यों देगा तथा जो चौतर्फा सफेदहोगा वह सुवर्णके रंगके समान शरीरको धारण करनेवाला कैसे होगा ? अब आचार्यवर उसविरोधका अर्थसे परिहार करते है कि हे मातः यद्यपि आपमें अनेकपद (सुबंत तथा तिङन्तरूप) मौजूद है तोभी अपनेभक्तों को आप एक मोक्षपदको देती है और यद्यपि आप शुक्ल (उज्वल) हैं तोभी आप सुवर्णविग्रहा (श्रेष्ठ "वर्ण" अक्षररूपी शरीरको धारणकरनेवाली) हो इसलिये आपकी इस प्रकारका चेष्टा आश्चार्य करती है ॥

सारार्थः—हेमात आप अनेक सुबंत तथा तिङन्तस्वरूपपदोंको धारण करनेवाली हो तथा भव्यजीवोंको मोक्ष को देनेवालीहो और आप सर्वथा निर्मलहो तथा श्रेष्ठवर्णरूपी शरीरको धारण करनेवाली हो ॥ १३ ॥

समुद्रघोषाकृतिरर्हति प्रभौ यदा त्वमुत्कर्षमुपागता भृशम् ।

अशेषभाषात्मतया त्वया तदा कृतं न केषां हृदि मातरद्भुतम् ।

अर्थः—हेमातः सरस्वति जिससमय तू भगवान् अर्हंतमें अत्यंत उत्कर्षको प्राप्त हुईथी अर्थात् जिस समय समवसरणमें तू भगवान अर्हंतके मुखसे दिव्यध्वनिरूपमें प्रकट हुईथी उससमय तेरी ध्वनि समुद्रके समान धीर तथा गंभीर थी और उससमय तू अनेक भाषास्वरूपथी इसलिये किसके मनमें तेने उस समय आश्चर्य नहीं कियाथा अर्थात् तुझको सुनकर समस्तजीव आश्चर्य करते थे ।

भावार्थः—जिससमम ज्ञानावरणादि चारघातियाकर्म नष्ट हो जाते हैं उससमय केवलज्ञानकी प्राप्ति होती है तथा उनकेवलीके विनाही इच्छाके दिव्यवाणी प्रगट होती है उसीसमयका ध्यानकर ग्रंथकार सरस्वती की स्तुति करते हैं कि हे मातः जिससमय आप केवलीके मुखसे दिव्यध्वानिरूप परिणत होकर निकलती है उस समय आपकी ध्वनि समुद्रकी ध्वानिके समान होती है जिससे दूरभी बैठे हुवे पशु पक्षी भली भांति सुन सक्ते हैं तथा उससमय आपसमस्तभाषास्वरूप परिणत होकर उनकेवलीके मुखसे प्रकट होती हो । इसलिये समस्त पशु पक्षी आदिक अपनी २ भाषामें आपको समझलेते है तथा उनको असली तत्वका भली भांति निश्चय हो जाता है और आपको इसस्वरूपमें परिणत सुनकर वे लोग बड़ा आश्चर्य करते है ॥ १४ ॥

सचक्षुरप्येष जनस्त्वया बिना यदंध एवेति विभाव्यते बुधैः ।
तदस्य लोकत्रितयस्य लोचनं सरस्वति त्वं परमार्थदर्शने ॥

अर्थः—हे मातः सरस्वति आपकेबिना नेत्रों सहितभी इसपुरुषको विद्वानलोग अंधाही समझते हैं इसलिये हे सरस्वति इसतीनोंलोकके वास्तविक दर्शनमें आपही नेत्र हैं ।

भावार्थः—यद्यपि इसलोकमें अनेक पदार्थ भरेहुवे हैं किन्तु उनसब पदार्थोंमें परमपदार्थ जो मोक्ष है

वही उत्तम पदार्थ है तथा उसपरमपदार्थका दर्शनही नेत्रका फलहै यदि मोक्षस्थानका दर्शन नेत्रसे न होवे तो वहनेत्रही नहीं है आंखोंसे मोक्षरूप परमपुरुषार्थका दर्शन हो नहीं सक्ता इसलिये आंखोंके होतेभी आप-केविना उसपुरुषको विद्वानलोग अंधाही कहते हैं तथा वह परमार्थकादर्शन हे सरस्वति आपकी कृपासेही होता है इसलिये परमार्थके दर्शनमें आपही नेत्र हैं ॥ १५ ॥

गिरा नरप्राणितमेति सारतां कवित्ववक्तृत्वगुणे च सा च गीः ।
इदं द्वयं दुर्लभमेव ते पुनः प्रसादलेशादपि जायते नृणाम् ॥

अर्थः—मनुष्यका जो जीवन है वह बाणीसे सफल समझा जाता है और कवित्व तथा वक्तृत्वगुणके होनेपर वाणी सारभूत समझी जाती है किन्तु इससंसारमें कविपना तथा वक्तापना दोनोंही दुर्लभ हैं परन्तु आपके तो थोड़ेसेही प्रसाद (अनुग्रह)से ये दोनों गुण बातकीबातमें प्राप्त हो जाते हैं ।

भावार्थः—इससंसारमें बड़ेकष्टोंसे तो जीवन प्राप्तहोता है यदि उसजीवनमें बाणीकी प्राप्ति न होवे तो वह दुःखोंसे पाया हुवाभी मनुष्यजन्म निस्सारही समझा जाता है इसलिये मनुष्यकेजीवनकी तो सफलता वाणीसे है और उसवाणीकी सफलता कविपनेसे तथा वक्तावननेसे होती है क्योंकि सुंदरबाणीकीभी प्राप्ति हुई किन्तु सुंदर कविताकरना तथा अच्छीतरह बोलना नहीं आया तो उसबाणीका मिलना न मिलना एकसाही है किन्तु ये दोनोंबातें "अर्थात् कविपना तथा वक्तापना" संसारमें अत्यंत दुर्लभ हैं किन्तु हेमातः सरस्वति आपकी कृपासे इन दोनों बातोंको मनुष्य बातकीबातमें पालेता है अर्थात जिसमनुष्यपर आपकी कृपा होती है वह मनुष्य प्रसिद्ध कविभी बनजाता है और अच्छीतरह बोलनेवाला भी वह मनुष्य हो जाता है ॥ १६ ॥

नृणां भवत्सन्निधिसस्कृतं श्रवो विहाय नान्यद्धितमक्षयं च तत् ।
भवेद्विवेकार्थमिदं परं पुनर्विमूढतार्थं विषयं स्वमर्पयत् ॥ १७ ॥

अर्थः—हे मातः सरस्वति जिसकानका आपके समीपमें संस्कार कियागया है अर्थात् जो कान आपके सहवाससे शुद्ध एवं पवित्र कियागया है वही कान हितका करनेवाला तथा अविनाशी है किन्तु उससे भिन्न कान न हितकारी है और न अविनाशी है और आपके सहवाससे पवित्रही कान मनुष्योंको विवेककेलिये होता है किन्तु उससे भिन्न अपने विषयोंकी ओर झुकताहुवा कान विवेककेलिये नहीं होता किन्तु विशेषतासे मूढ़ताके लियेही होता है।

भावार्थः—हेमातः जिसकानसे आपके असली २ तत्व सुनेजाते हैं वही कान मनुष्योंको हितका करनेवाला होता है अर्थात् उसकानसे असलीतत्वोंको सुनकर मनुष्य खोटे मार्गमें प्रवृत नहीं होते किन्तु हितकारी मार्गसेही गमनकरते हैं तथा वही कान अविनाशी है अर्थात् उसका कभीभी नाश नहीं होता किन्तु उससे भिन्न कान अर्थात् जिसकानसे आपके असली तत्व नहीं सुने जाते वह कान न तो मनुष्योंको हितका करनेवाला होता है और न अविनाशीही होता है तथा हे सरस्वति आपके असलीतत्वोंसे पवित्रही कान मनुष्योंको विवेककेलिये होता है अर्थात् उसकानसे असलीतत्वोंको समझकर मनुष्य यहबात जानलेते हैं कि यह वस्तु हमको त्यागने योग्य है तथा यह वस्तु हमको ग्रहण करने योग्य है किंतु उसकानसे भिन्न कान मनुष्योंको विवेककेलिये नहीं होता मूढ़ताकेलियेही होता है क्योंकि वह कान अपने अन्य विषयोंमें अर्थात् खोटे २ गायन तथा खोटे २ शब्दोंके सुननेमें प्रवृत्त हो जाता है इसलिये उसकानकी कृपासे मनुष्य अधिक मूढ़ही बनजाते हैं ॥१७॥

कृत्वापि ताल्वोष्टपुटादिभिर्नृणां त्वमादिपर्यंतविवर्जितास्थितिः ।
इतित्वयापीदृशधर्मयुक्तया स सर्वथैकान्तविधिर्विचूर्णितः ॥ १८ ॥

अर्थः—हे मातः सरस्वति यद्यपि तू मनुष्योंके तालू तथा ओष्ठ पुटोंसे की गई है तोभी तेरी स्थिति आदि तथा अंतकर रहितही है अतः इसप्रकारके धर्मोंकर संयुक्त हे सरस्वति तूने सर्वथा एकान्तमार्गका नाश करदिया ऐसा भलीभांति प्रतीत होता है।

भावार्थः—अनेक महाशयोंका यह सिद्धांत है कि सरस्वति कंठ तालु आदिक स्थानोंसे ही पैदा हुई है किंतु यह एकांतसिद्धांत उनका वास्तविक सिद्धांत नहीं क्योंकि यदि ऐसाही मानाजाय तो सरस्वती आदि अंतकर रहित नहीं हो सक्ती किंतु अनेकांतमतको मानकर ऐसाही स्वीकार करना चाहिये कि किसीरीतिसे सरस्वती कंठ तालु आदिकस्थानोंसे उत्पन्नभी हुई है तथा किसीरीतिसे आदि अंतकर रहितभी है अर्थात् द्रव्य श्रुतकीतो तालू कंठ आदिस्थानोंसे उत्पत्ति है किंतु भावश्रुत ज्ञानात्मक है इसलिये शुद्धनिश्चयनयसे वह आदि तथा अंतकर रहित है इसी आशयकोलेकर इसश्लोकसे आचार्यवर सरस्वतिमाताकी स्तुतिकरते हैं कि हेमातः यद्यपि आप किसी स्वरूपसे कंठ तालु आदिस्थानोंसे उत्पन्नहुईहो तोभी आप किसी स्वरूपसे आदि अंतकर रहितहीहो इसलिये इसप्रकारके धर्मोंको धारण करनेके कारण आपने एकांत विधिका सर्वथा नाशकरदिया है॥१८॥

अपि प्रयाता वशमेकजन्मनि द्युधेनुचिंतामणिकल्पपादपाः।
फलंति हि त्वं पुनरत्र चापरे भवे कथं तैरुपमीयसे बुधैः॥

अर्थः—हे सरस्वति मातः किसीरीतिसे वशको प्राप्त ऐसे कामधेनु, चिंतामणि, तथा कल्पवृक्ष, एकही भवमें मनुष्योंको इष्टफलके देनेवाले होते है किन्तु आप इसभवमें तथा परभवमें (दोनोंभवोंमें) मनुष्योंके इष्टफलोंको देनेवालीहो इसलिये आपको कामधेनु, आदिकी उपमा कभीभी नहीं दीजासक्ती है॥

भावार्थः—हे सरस्वति बहुतसे कवि जिससमय आपका वर्णन करते हैं उससमय आपको कामधेनु

चिंतामणि तथा कल्पवृक्षकी उपमा दियाकरते हैं किंतु उसप्रकारकी आपकेलिये उपमा देना योग्य नहीं है क्योंकि यदि किसीरीतिसे कामधेनु तथा कल्पवृक्ष और चिंतामणि मनुष्योंके ऊपर संतुष्टहोजावे तो वे इतनाही काम करसक्ते है कि उसमनुष्यको इसीभवमें इष्टफलोंको देसक्ते हैं दूसरे भवमें नहीं किन्तु हेमातः यदि आपकिसी जीवपर संतुष्टहोजावो तो उसको इसभवमें तथा परभवमें दोनोंभवोमें इष्टफलको देती हो इसलिये वे कदापि आप की समताको धारण नहीं करसक्ते ॥ १९ ॥

अगोचरो वासरकृन्निशाकृतो जनस्य यच्चेतसि वर्तते तमः ।
विभिद्यते वागधिदेवते त्वया त्वमुत्तमज्योतिरिति प्रगीयसे ॥

अर्थः—हे वागधिदेवते हे सरस्वति जो अंधकार सूर्य तथा चंद्रमाके भी गोचर नहीं है अर्थात् न जिस अंधकारको सूर्यदेखसक्ता है और न चद्रमा देखसक्ता है ऐसा मनुष्योंके चित्तमें अंधकार विद्यमान है उसअंधकार को तू नाशकरती है इसलिये संसारमें तूही उत्तम ज्योति है ऐसा (विद्वान मनुष्य) तेरा गुणगान करते हैं ।

भावार्थः—यद्यपि संसारमें सूर्यचंद्र दीपक रत्न आदिक बहुतसे पदार्थ है, जो अंधकारको नाशकरते हैं किंतु वे बाहिरी अंधकारको ही नाशकरते हैं मनुष्योंके मनमें स्थित जो भीतरी अंधकार है उसको नाश नहीं करसक्ते क्योंकि वह अंधकार उनके अगोचर है किंतु हेमातः आप उसभीतरी अंधकारकोभी नाशकरती हो इस लिये सूर्यचंद्र आदि समस्तज्योतियोंमें आपही उत्तम ज्योति हो ऐसा बडे २ विद्वान कवि आपका गुणगान करते है ॥२०॥

जिनेश्वरस्वच्छसरःसरोजिनी त्वमंगपूर्वादिसरोजराजिता ।
गणेशहंसव्रजसेविता सदा करोषि केषां न मुदं परामिह ॥

अर्थः—हेमातः सरस्वति तू जिनेश्वररूपी जो निर्मल सरोवर उसकी तो कमलिनी है और ग्यारह अंग

चौदह पूर्वरूपीजो कमल उनकरके शोभित है और गणधररूपी जो हंसोंका समूह उसकरके सेवित हैं इसलिये तू इस संसारमें किसको उत्तम हर्षके करने वाली नहीं है ?

भावार्थः—जो कमलिनी उत्तमसरोवरमें उत्पन्न हुई है और जिसके चारोंओर भांति २ के कमल शोभा वढारहे है तथा अत्यंतमनोहरहंसोंका समूह जिसकी सेवाकर रहा है ऐसी कमलिनी जिसप्रकार सबोंकेचित्तोंको प्रसन्नकरनेवाली होती है उसीप्रकार हेमातः आपभी जिनेश्वररूपी उत्तम सरोवरसे पैदा हुई हो अर्थात् आपको भी केवली भगवानने प्रगटकिया है तथा आप ग्यारह अंग चौदह पूर्वको धारण करने वाली हो और बडे २ गणधर आपकी सेवा करते हैं फिरभी आप मनुष्योंके चित्तोंको क्यों नहीं प्रसन्नताकी करनेवाली होंगी ? अर्थात् अवश्यही मनुष्य आपको सुनकर प्रसन्न होंगे ॥ २१ ॥

परात्मतत्वप्रतिपत्तिपूर्वकं परं पदं यत्र सति प्रसिध्यति ।
कियत्ततस्ते स्फुरतः प्रभावतो नृपत्वसौभाग्यवरांगनादिकम् ॥

अर्थः—हेमातः सरस्वति जब आपकी कृपासे परमात्मतत्वका जो ज्ञान उसज्ञान पूर्वक परमपद (मोक्ष पद) की सिद्धि होजाती है तब आपके देदीप्यमान प्रभावके सामने राजापना, सौभाग्य तथा उत्तमस्त्री आदिकी प्राप्ति क्या चीज है ?

भावार्थः—यद्यपि संसारमें राजापना तथा सौन्दर्य और उत्तमस्त्री आदिकी प्राप्ति भी अत्यंत कठिन है किन्तु हे मातः आपके देदीप्यमानप्रभावके सामने इनकी प्राप्ति कोई कठिन नहीं है अर्थात् जिसके ऊपर आपकी कृपा है वह भाग्यशाली विनाही परिश्रमसे इनपदार्थोंको प्राप्त करलेता है क्योंकि सबसे कठिन परात्म-तत्वका ज्ञान तथा मोक्षपदकी प्राप्ति है जब मनुष्य आपकी कृपासे परमात्मज्ञानको तथा मोक्षपदको भी वात

कीबातमैं प्राप्तकरलेता है तव उनकी अपेक्षा अत्यंतसुलभ नृपत्व सौभाग्य आदि चीजोंका प्राप्तकरना उसके लिये क्या कठिन बात है ? ॥ २२ ॥

त्वदंघ्रिपद्मद्वयभक्तिभाविते तृतीयमुन्मुलति बोधलोचनम् ।
गिरामधीशे सह केवलेन यत्समाश्रितं स्पर्धमिवेक्षतेऽखिलम् ॥

अर्थः—हे मातः सरस्वति जो भव्यजीवमनुष्य आपके दोनों चरण कमलोंकी भक्ति तथा सेवाकरता है उसमनुष्यके तीसरा सम्यग्ज्ञानरूपी नेत्र प्रकट होता है जो सम्यग्ज्ञानरूपीनेत्र केवलज्ञानके साथ इर्षाकरकेही मानो समस्तपदार्थोंको देखता जानता है ऐसा मालूम पड़ता है ।

भावार्थः—सरस्वतीकी कृपासे जीवोंको श्रुतज्ञानकी प्राप्ति होती है और उसश्रुतज्ञानसे केवलज्ञान के समान समस्तपदार्थ जानेजाते हैं भेद इतनाही है कि केवलज्ञानतो पदार्थोंको प्रत्यक्षरूपसे जानता है क्योंकि केवल आत्माकी सहायतासे होनेवाला केवलज्ञान प्रत्यक्षज्ञान कहा गया है । तथा श्रुतज्ञान पदार्थोंको परोक्षरूपसे जानता है क्योंकि वह मनकी सहायतासे होता है इसलिये वह परोक्ष ज्ञान कहागया है किंतु पदार्थोंके जाननेमें दोनों ज्ञान है समानही । इसलिये आचार्यवर स्तुतिकरते है। कि हे मातः जो मनुष्य आपके दोनों चरणकमलोंका भक्त है उसमनुष्यको श्रुतज्ञानकी प्राप्ति होती है और उसश्रुतज्ञानसे वह मनुष्य केवल ज्ञानकेसमान समस्तपदार्थोंको भली भांति जानता है ॥ २३ ॥

त्वमेव तीर्थं शुचिबोधवारिमत्समस्तलोकत्रयशुद्धिकारणम् ।
त्वमेव चानंदसमुद्रवर्धने मृगांकमूर्तिः परमार्थदर्शिनाम् ॥

अर्थः—हे मातः सरस्वति सम्यज्ञानरूपीजलसे भराहुवा तथा समस्त लोकोंकी शुद्धिका कारण तू ही

तो पवित्र तीर्थ है तथा जो पुरुष मरमार्थको देखनेवाले हैं उनमनुष्योंके आनंदरूपी समुद्रके वढ़ानेमें तू हीं चंद्रमा है ॥

भावार्थः—जिससे भव्यजीव तरैं उसीका नाम तीर्थ है इसलिये लोग जिसप्रकार अत्यंत निर्मल जल से भरे हुवे गंगा आदि तीर्थों को तीनोंलोककी शुद्धिका कारण समझते हैं उसीप्रकार हे मातः सरस्वति सम्यग्ज्ञानरूपी जलसे भरी हुई और समस्तलोककी शुद्धिका कारण तूभी तीर्थ है अर्थात् जो मनुष्य तुझ में गोता लगाते हैं वे मनुष्य अत्यंतशुद्ध हो जाते हैं तथा जिसप्रकार चंद्रमाके उदित होनेपर समुद्र वृद्धि को प्राप्त होता है उसीप्रकार हे मातः जो मनुष्य परमार्थके देखनेवाले हैं उन मनुष्योंके आनंद रूपीसमुद्रके वढ़ाने में तू चंद्रमाके समान है ॥ २४ ॥

त्वयादिवोधः खलु संस्कृतो व्रजेत् परेषु वोधेष्वखिलेषु हेतुतां ।
त्वमक्षि पुंसामति दूरदर्शने त्वमेव संसारतरोः कुठारिका ॥

अर्थः—हे भगवति सरस्वति तेरे द्वारा अत्यंत पवित्रकियाहुवा मतिज्ञानही वाकीके बचे हुवे समस्त श्रुत, मनः पर्यय, आदि ज्ञानों में कारण है और अत्यंत दूर देखनेमें तूही मनुष्यका नेत्र है और संसार रूपी वृक्षके काटनेकेलिये तूही कुठार है ।

भावार्थः—हे मातः समस्तज्ञानोंमें तू ही कारण पड़ती है अर्थात् तेरी हीं कृपासे समस्तज्ञान आत्मा में प्रगट होते हैं और जितने भर दूर पदार्थ हैं उनके देखनेमें तूही नेत्र है क्योंकि जितने भर मेरू आदिक देश से दूर, तथा राम रावण आदि कालसे दूर, तथा परमाणु आदिक स्वभावसे दूर पदार्थ है उन सबका दर्शन तेरी ही कृपा से होता है और संसारके नाश करने में भी तूहीं कारण है अर्थात् जो मनुष्य तेरे भक्त तथा आराधक है वे मनुष्य यथार्थतत्वज्ञानको प्राप्तकर निर्विघ्नरीतिसे सीधे मोक्षको चले जाते हैं अर्थात्

उनका संसार सर्वथा छूट जाता है ॥ २५ ॥

यथाविधानं त्वमनुस्मृता सती गुरूपदेशोयमवर्णभेदतः ।
न ताः श्रियस्ते न गुणा न तत्पदं प्रयच्छसि प्राणभृते न यच्छुभे ॥

अर्थः—हे शुभे हे सरस्वति यह गुरूका उपदेश है कि जो पुरुष शास्त्रानुसार अकारसे लेकर अंततक आपका स्मरण करने वाला है उसपुरुषके न तो कोई ऐसा लक्ष्मी है जिसको आप न देवे और न कोई उत्तम गुण तथा उत्तम पदही है जोकि आपकी कृपासे वह जीव न पासकै।

भावार्थः—हे मातः जो मनुष्य शास्त्रानुसार आपकी सेवा करने वाला है उस मनुष्यको अंतरंग केवलज्ञानादि तथा वहिरंग समवसरणादि समस्त प्रकारकी लक्ष्मीकी प्राप्ति होती है तथा वह मनुष्य आपकी कृपासे औदार्य धैर्य आदिक समस्तगुणोंको भी प्राप्तकरलेता है और आपकी ही कृपासे उसको मोक्षपदकी प्राप्तिभी शीघ्र होजाती है॥

अनेकजन्मार्जितपापपर्वतो विवेकवज्रेण स येन भिद्यते ।
भवद्वपुःशास्त्रघनान्निरेति तत्सदर्थवाक्यामृतभारमेदुरात् ॥

अर्थः—हे मातः हे सरस्वति अनेकभवोंमे संचयकियाहुवा जो पापरूपी पर्वत है वह जिस विवेकरूपी वज्रके द्वारा तोड़ा जाता है वह विवेकरूपी वज्र श्रेष्ठ अर्थ तथा वाक्यरूपी जो जल उसका जो भार उससे वृद्धिको प्राप्त ऐसा आपका शरीर स्वरूपजो शास्त्र वहीहुवा मेघ उससे निकला है।

भावार्थः—जिसप्रकार उत्तमपानीके धारणकरने वाले मेघसे वज्र उत्पन्नहोता है तथा वह वज्र पर्वत को छिन्न भिन्न करदेता है उसीप्रकार हे मातः श्रेष्ठ अर्थ तथा वाक्योंसे परिपूर्ण ऐसे आपके शास्त्रसे मनुष्यों को हिताहितका विवेक होता है तथा उसविवेकसे अनेक जन्मोंमें संचितभी पापका समूह पलभरमें नष्टहो जाता है॥२७॥

तमांसि तेजांसि विजित्य वाङ्मयं प्रकाशयद्यत्परमं महन्महः।
न लुप्यते तैर्नच तैः प्रकाश्यते स्वतः प्रकाशात्मकमेव नंदतु॥

अर्थः—हे सरस्वति अंधकार तथा अन्यतेजोंको जीतकर प्रकाशकरता हुवा तथा सर्वोत्कृष्ट, तेरीवाणी स्वरूप तेज इसलोकमें जयवंत प्रवर्तो क्योंकि जो तेज न तो अंधकारसे नाश होता है और न किसी दूसरे तेज से प्रकाशित होता है किंतु स्वतः प्रकाशस्वरूपही है॥

भावार्थः—यद्यपि सूर्य, चन्द्र आदि बहुतोंके तेज संसारके अंदर मौजूद हैं किंतु हे मातः आपकेवाणी रूपीतेजकी तुलना दूसरा कोईभी तेज नहीं करसकता है क्योंकि वे समस्ततेज अंधकारद्वाराविनाशीक हैं तथा कईएकतेज दूसरेके प्रकाशसे प्रकाशित होते हैं और आपका तेज न तो प्रबलसेप्रबल अंधकार द्वाराही विनाशीक है और दूसरे तेजकी अपने प्रकाशहोनेमें सहायताभी नहीं चाहता किन्तु स्वतः प्रकाशमानही है इसलिये हे सरस्वति ऐसा आपका तेज सदा इसलोकमें जयवंत रहो॥ २८॥

तव प्रसादः कवितां करोत्यतः कथं जडस्तत्र घटेत मादृशः।
प्रसीद यत्रापि मयि स्वनन्दने न जातु माता विगुणेपि निष्ठुरा॥ २९॥

अर्थः—हे सरस्वति हे मातः तेरा प्रसादही कविताका करनेवाला है इसलिये मेरे (ग्रंथकर्ताके) समान वज्रमूर्ख उसकविताके करनेमें कैसे चेष्टाको करसकता है? अतः इसकविताके करनेमें तू मुझपर प्रसन्न हो क्यों कि यदि अपना पुत्र निर्गुणी भी होवै तौभी माता उसके ऊपर कठोर नहीं बनती।

भावार्थः—पुत्र कैसाभी निर्गुणी तथा अविनीत क्यों न हो तौ भी जिसप्रकार माता उसके ऊपर रुष्ट नहीं होती सदा उसके ऊपर दयालु ही रहती है उसीप्रकार हे सरस्वति आप भी मेरी माता हो।

अपना उपकारी मानता है तथा उसकी शक्त्यनुसार सेवा भी करता है उसीप्रकार यह जगत भी प्रमादके वश होकर अज्ञानांधकारमें पडाहुआ था और सर्वथा हिताहितके विवेकसे शून्य था उससमय श्रीआदिनाथभगवानने अपने उपदेशसे इस जगतका उद्धार किया तथा इसको पर और आत्मतत्त्वका ज्ञान कराया अतः सबसे यदि उपकारी हैं तो आदिनाथ ही भव्यजीवोंके उपकारी हैं इसलिये हे भव्यजीवो आपके परमादरणीय तथा सेवाके पात्र श्रीआदिनाथ ही हैं ॥ १ ॥

अजितनाथभगवानकी स्तुति।

भवारिरेको न परोऽस्ति देहिनां सुहृच्च रत्नत्रयमेकमेव हि।
स दुर्जयो येन जिनस्तदाश्रयात्ततोऽजितान्मे जिनतोऽस्तु सत्सुखम्।

अर्थः—जीवोंका संसार ही एक बैरी है और दूसरा कोई भी वैरी नहीं है तथा मित्र सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय ही है और कोई दूसरा मित्र नहीं और वह संसाररूपी वैरी अत्यंत दुर्जय है किंतु जिस श्रीअजितनाथ भगवानने उस सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्ररूपी मित्रकी सहायता से उस संसाररूपी भयंकर बैरी को सर्वथा जीत लिया है उस अजितनाथभगवानसे मुझे श्रेष्ठ सुख मिले ऐसी मेरी प्रार्थना है।

भावार्थः—जिसप्रकार कोई भयंकर बैरी मित्रोंकी सहायतासे पलभरमें जीतलिया जाता है उसीप्रकार श्रीअजितनाथभगवानने भी सम्यग्दर्शनादिरत्नत्रयरूपीमित्रकी सहायतासे संसाररूपी भयंकर बैरीको जीत लिया है क्योंकि जीवोंको सबसे प्रबल बैरी संसार है और मित्र सबसे अधिक रत्नत्रय है इसलिये इसप्रकार अत्यंतबीर श्रीअजितनाथभगवान मुझे उत्तमसुखके दाता हो ऐसी मेरी प्रार्थना है ॥ २ ॥

संभवनाथभगवानकी स्तुति ।

पुनातु नः संभवतीर्थकृज्जिनः पुनः पुनः संभवदुःखदुःखिताः ।
तदर्तिनाशाय विमुक्तिवर्त्मनः प्रकाशकं यं शरणं प्रपेदिरे ॥

अर्थः—बारंबार संसारके दुःखोंसे दुःखित जो प्राणी समस्तसंसारके दुःखोंके नाशकेलिये मोक्षके मार्गको प्रकाश करनेवाले ऐसे जिस श्रीसंभवनाथकी शरणको प्राप्त हुए ऐसे श्रीसंभवनाथजिनेंद्र हमारी रक्षा करो अर्थात् ऐसे श्रीसभवनाथभगवानको हम नमस्कार करते हैं ॥

भावार्थः—जो संभवनाथभगवान प्राणियोंको संसारके दुःखोंसे छुटानेवाले हैं तथा मोक्षके मार्गके प्रकाश करनेवाले हैं और शरणमें आये हुए जीवोंकी रक्षा करनेवाले हैं ऐसे श्रीसंभवनाथभगवान हमारी रक्षा करैं ॥३॥

अभिनंदननाथभगवानकी स्तुति ।

निजैर्गुणैरप्रतिमैर्महानजो नतु त्रिलोकीजनतार्चनेन यः ।
यतो हि विश्वं लघु तं विमुक्तये नमामि साक्षादभिनंदनं जिनम् ॥

अर्थः—जो अभिनंदनभगवान तीनोंलोकके जनोंसे पूजित हैं इसलिये बडे नहीं है, किंतु दूसरोंजीवोंमें नहीं पाये जांय ऐसे जो स्वीयगुण हैं उनसे बडे हैं और जो जन्मकर रहित है तथा जिनसे समस्तलोक छोटा है अर्थात् जो सांसारिक सुखोंको तुच्छ समझते हैं अथवा जिनके ज्ञानके सामने यह लोक बहुत छोटी चीज है ऐसे जीवोंको समस्तप्रकारके आनंदके देनेवाले श्रीअभिनंदनजिनेंद्रको मैं मस्तक झुकाकर ममस्कार करता हूं ।

भावार्थः—जो अपने असाधारणगुणोंसे महान है किंतु तीनोंलोकके जीवोंद्वारा पूजित है इसलिये महान नहीं है तथा जन्म मरण आदिक जिनके पासभी नहीं फटकने पाते और जो समस्त पदार्थोंको देखने

वाले हैं और जिनके नामके स्मरणमात्रसेही समस्त जीवोंको आनंद होता है ऐसे श्रीअभिनंदननाथको मैं मुक्तिकेलिये मस्तकझुकाकर नमस्कार करता हूं ॥ ४ ॥

सुमतिनाथभगवानकी स्तुति ।

नयप्रमाणादिविधानसंघटं प्रकाशितं तत्त्वमतीव निर्मलम् ।
यतस्त्वया तत्सुमतेऽत्र तावकं तदन्वयं नाम नमोस्तु ते जिन ॥

अर्थः—हे सुमतिनाथ जिनेन्द्र, जिसमें प्रमाण तथा नयोंका भलीभांति संघट है और जो अत्यंत निर्मल है ऐसा तत्त्व आपने प्रकाशित किया है इसलिये हेजिनेश आपका नाम सार्थक है तथा आपके लिये नमस्कार हो।

भावार्थः—जिसकी बुद्धि शोभन होवे उसको सुमति कहते हैं यह सुमति शब्दका अर्थ है हे सुमति नाथ जिनेश आपका यह नाम सर्वथा सार्थक है क्योंकि आपने उसतत्वका प्रकाशकिया है जिसतत्वमें प्रमाण तथा नयका अच्छीतरह संघट है तथा जिसमें किसीप्रकारका दोष नहीं है और इसीलिये जो निर्मल हैं अतः हे प्रभो हे जिनेश आपके लिये नमस्कार है ॥ ५ ॥

पद्मप्रभतीर्थंकरकी स्तुति ।

रराज पद्मप्रभतीर्थकृत्सदस्यशेषलोकत्रयलोकमध्यगः ।
नभस्युडुव्रातयुतः शशी यथा वचोऽमृतैर्वर्षति यः स पातु वः ॥

अर्थः—आकाशमें चंद्रमा जिसप्रकार नक्षत्रोंसे शोभित होता है तथा जीवोंको आनंदामृतका वर्षण करता है उसीप्रकार जो पद्मप्रभभगवान तीनोंलोकके जो समस्तजीव उनके मध्यभागमें शोभित होते थे

१ क. पुस्तकमें सद्‌पर्ड सहमी पाठ है। २ क. पुस्तमें पाठ न- यह भी पाठ है।

तथा जो अपने वचनरूपी अमृतको वर्षानेवाले थे ऐसे वे श्रीपद्मप्रभभगवान हमारी रक्षा करैं अर्थात् ऐसे पद्मप्रभभगवानको हम नमस्कार करते हैं ।

भावार्थः—जिसप्रकार चंद्रमा आकाशमें नक्षत्रोंसे वेष्ठित हुवा अधिक शोभाको प्राप्त होता है उसी प्रकार जो पद्मप्रभभगवान समवशरणमें समस्तजीवोंके मध्यमें अत्यंत शोभित होते थे तथा जिसप्रकार चंद्रमा अपने प्रकाशसे जगतको आनंदका देने वाला है उसीप्रकार जो पद्मप्रभभगवान अपने उपदेशसे जीवोंका आनंदके देनेवाले थे अर्थात् जिनके उपदेशको सुनकर भव्यजीव आनंद सागरमें मग्न हो जाते थे ऐसे श्री पद्मप्रभभगवान हमारी रक्षा करैं ॥ ६ ॥

सुपार्श्वनाथकी स्तुति ।

नरामराहीश्वरपीडने जयी धृतायुधो धीरमना झषध्वजः ।
विनापि शस्त्रैर्ननु येन निर्जितो जिनं सुपार्श्वं प्रणमामि सर्वदा ॥

अर्थः—जो कामदेव नरेन्द्र देवेन्द्र फणीन्द्रको भी दुःखका देनेवाला है और जो शस्त्रोंका धारी है तथा जिसका मन अत्यंतधीर है और जिसकी मीनकी ध्वजा है ऐसाभी कामदेव जिस सुपार्श्वनाथ जिनेन्द्रने विना ही शस्त्रके पलभरमें जीतलिया उन सुपार्श्वभगवानको मैं सर्वदा मस्तकझुकाकर नमस्कार कारता हूं ॥

भावार्थः—यद्यपि संसारमें नरेन्द्र देवेन्द्र तथा फणीन्द्रभी बड़े बीर गिने जाते हैं किन्तु कामदेवके सामने जिनकी कुछ भी बीरता नहीं चलती अर्थात् जो कामदेव इनको भी जीतनेवाला है तथा जिस कामदेवके पास सदा शस्त्र (बाण) रहते हैं और जो धीरमन तथा मीनकी ध्वजाकी धारी है उस कामदेवको भी विना शस्त्र के जिन सुपार्श्वनाथभगवानने बातकी बातमें जीतलिया अर्थात् जिन भगवानके सामने तीनलोकके विजयी भी

कामदेवकी कुछ भी तीन पांच न चली उन श्रीसुपार्श्वजिनेंद्रको मैं सर्वदा मस्तकझुकाकर नमस्कार करता हूं॥७॥

चन्द्रप्रभभगवानकी स्तुति ।

शशिप्रभो वागमृतांशुभिः शशी परं कदाचिन्न कलंकसंगतः ।
नवापि दोषाकरतां ययौ यतिर्जयत्यसौ संसृतिपापनाशनः ॥ ८ ॥

अर्थः—जो चंद्रप्रभभगवान वाणीरूपी अमृतकी किरणोंसे यद्यपि चंद्रमा हैं परन्तु कभीभी कलंककरके युक्त नहीं हैं और न कभी दोषाकरताको ही प्राप्तहुवे हैं तथा समस्तसंसारके पापोंके नाशकरनेवाले हैं ऐसे यति चंद्रप्रभभगवान सदा इसलोकमें जयवंत हैं ।

भावार्थः—जिसप्रकार चंद्रमा अपनी अमृतमयी किरणोंसे जीवोंको आनंदका देनेवाला होता है उसीप्रकार चंद्रप्रभभगवान भी अपने वचनामृतकीवर्षासे जीवोंको आनंदके देनेवाले हैं अतः इसरीतिसेतो चंद्रप्रभभगवान चंद्रमा ही हैं किन्तु जिसप्रकार चंद्रमा कलंककरसहित हैं तथा दोषाकर है उसप्रकार भगवान कलंकसहित नहीं हैं किन्तु कलंककर रहितही हैं तथा दोषाकर नहीं हैं किंतु दोषोंकर रहितही हैं और समस्त संसारके नाशकरनेवाले हैं इसलिये ऐसे अपूर्व चंद्रमा श्रीचंद्रप्रभभगवान सदा इसलोकमें जयवंत हैं ॥८॥

पुष्पदंतभगवानकी स्तुति ।

यदीयपादद्वितयप्रणामतः पतत्यधो मोहनधूलिरंगिनाम् ।
शिरोगता मोहठकप्रयोगतः स पुष्पदंतः सततं प्रणम्यते ॥ ९ ॥

अर्थः—मोहरूपीठगद्वारा प्राणियोंके शिरोमें स्थापित मोहनरूपी धूलि जिस पुष्पदंतभगवानके दोनोंचरणकमलोंके प्रणामसेही पलभरमें नीचे गिरपड़ती है उनपुष्पदंतभगवानको हम सदा प्रणाम करते हैं ।

भावार्थः—कोईठग किसीमनुष्यपर मोहनधूलि (जादू) डाल देवे तो जिसप्रकार उसको कुछभी नहीं सूझता तथा वहठग उसकी सबचीजोंको ठगलेता है उसीप्रकार इससंसारमें मोहभी एक बड़ाभारी ठग है तथा उसने भी प्राणियोंके मस्तकोंपर मोहनधूलि डालरक्खी है इसलिये उन प्राणियोंको कुछ भी हिताहितका विवेक नहीं है अर्थात् मोहद्वारा उनका सबविवेक ठगागया है किंतु वह मोहनधूलि श्रीपुष्पदंतभगवानके दोनो चरण कमलोंको प्रणाम करनेसे बातकीबात पलभरमें नष्ट हो जाती है इसलिये आचार्य कहते हैं कि हम ऐसे श्रीपुष्पदन्त-भगवानको नमस्कार करते हैं ॥९॥ शीतलनाथभगवानकी स्तुति ।

सतां यदीयं वचनं सुशीतलं यदेव चन्द्रादपि चन्दनादपि
तदत्र लोके भवतापहारि यत् प्रणम्यते किं न स शीतलो जिनः ॥

अर्थः—जिस शीतलनाथभगवानके वचन सज्जनोंको चन्द्रमा तथा चंदनसे भी अधिक शीतल जान-पड़ते हैं और जो वचन समस्तसंसारके तापोंके नाश करनेवाले हैं ऐसे शीतलनाथभगवान क्या नमस्कारके पात्र नहीं हैं ? अवश्य ही हैं ।

भावार्थः—यद्यपि संसारमें चंद्रमा तथा चंदन भी शीतलपदार्थ हैं तथा तापके दूरकरनेवाले हैं किंतु ये बहुत थोड़े शीतल पदार्थ हैं तथा थोड़ेही तापको नाश कर सकते हैं किंतु भगवान शीतलनाथके वचन अत्यंत शीतल तथा समस्तसंसारके तापोंको दूरकरनेवाले हैं इसलिये ऐसे शीतलनाथभगवानको मस्तक झुकाकर नमस्कार हैं ॥१०॥

श्रेयोनाथभगवानकी स्तुति ।

जगत्त्रये श्रेय इतो ह्ययादिति प्रसिद्धनामा जिन एष वन्द्यते
यतो जनानां बहुभक्तिशालिनां भवंति सर्वे सफला मनोरथाः ॥

अर्थः—तीनोंलोकमें समस्तकल्याणोंकी प्राप्ति श्रीश्रेयोनाथभगवानसे होती है इसलिये ये जिनेन्द्र, श्रेयोनाथ इसनामसे प्रसिद्ध हैं तथा जो भव्यजीव इन श्रेयोनाथभगवानमें गाढ़भक्तिकर सहित हैं उन भव्य जीवोंके इन्हीं भगवानकी कृपासे समस्तमनोरथ सिद्ध होते हैं ।

भावार्थः—११ ग्यारहवें तीर्थंकरका जो श्रेयोनाथभगवान नाम पड़ा है उसका कारण यही है कि तीनोंलोकमें उन्हीकी कृपासे कल्याणोंकी प्राप्ति होती है और उन्हीकी कृपासे भव्यजीवोंके समस्तमनोरथ सिद्ध होते हैं ॥११॥

वासुपूज्यतीर्थंकरकी स्तुति ।

पादाब्जयुग्मे तव वासुपूज्य जनस्य पुण्यं प्रणतस्य तद्भवेत्
यतो न सा श्रीरिह हि त्रिविष्टपे न तत्सुखं यन्न पुरः प्रधावति ॥

अर्थः—हे वासुपूज्यजिनेश जो भव्यजीव आपके दोनों चरणकमलोंको नमस्कार करनेवाला है उस भव्यजीवको इस संसारमें उसअपूर्व पुण्यकी प्राप्ति होती है कि जिस पुण्यकी कृपासे इनतीनोंलोकमें न तो कोई ऐसी लक्ष्मी है जो आगे दौड़कर न आती हो और न कोई ऐसा सुख है जो न मिलता हो ।

भावार्थः—हे वासुपूज्यजिनेश जो मनुष्य आपके चरणकमलोंकी सेवा करनेवाले हैं उनमनुष्योंको अपूर्व पुण्यकी प्राप्ति होती है तथा उस पुण्यकी कृपासे वे इस संसारमें उत्तमोत्तम लक्ष्मीको प्राप्तकर लेते हैं और समस्तप्रकारके सुख उनके सामने पलभरमें आकर उपस्थित होजाते हैं ॥ १२ ॥

विमलनाथतीर्थंकरकी स्तुति ।

मलैर्विमुक्तो विमलो न कैर्जिनो यथार्थनामा भुवने नमस्कृतः
तदस्य नामस्मृतिरप्यसंशयं करोति वैमल्यमघात्मनामपि ॥

अर्थः—इससंसारमें ऐसा कौन होगा जिसने समस्तमलोंकर रहित तथा सार्थकनामको धारण करने वाले जिनेन्द्र श्रीविमलनाथको नमस्कार न किया हो अर्थात् समस्त ही जीव श्रीविमलनाथभगवानको नमस्कार करते हैं इसीलिये श्रीविमलनाथभगवानके नामका स्मरण ही पापीभी मनुष्योंको अत्यंत विमल बनादेता है।

भावार्थः—जो मनुष्य पापी हैं अर्थात् रातदिन पापका संचय करतेरहते हैं यदि वे मनुष्य भी श्रीविमलनाथ जिनेन्द्रका नाम लेलेवें तो वे बातकी बातमें समस्तपापोंकर रहित हो जाते हैं क्योंकि विमलनाथ स्वयं समस्तप्रकारके मलोंकर रहित हैं तथा (समस्तप्रकारके मलोंकर जो रहित होवे उसको विमल कहते हैं) इस सार्थकनामको भी विमलनाथभगवान धारण करते हैं तथा समस्त संसारीजीव उनको नमस्कार करते हैं ॥१३॥

अनंतनाथतीर्थंकरकी स्तुति ।

अनंतबोधादिचतुष्टयात्मकं दधाम्यनंतं हृदि तद्गुणाशया
भवेद्यदर्थी ननु तेन सेव्यते तदन्वितो भूरितृषेव सत्सदः ॥

अर्थः—अनंत विज्ञानादि स्वरूप श्रीअनंतनाथभगवानको मैं उनके गुणोंकी आशासे अपने हृदयमें धारण करता हूं क्योंकि संसारमें यह बात प्रत्यक्षगोचर है कि जो पुरुष जिसगुणकी प्राप्तिका इच्छुक होता है वह मनुष्य उसकी ही सेवा करता है जिसप्रकार अत्यंत प्यासा मनुष्य अपनी प्यासकी शांतिकेलिये उत्तम (स्वच्छजलसे भरेहुए) सरोवरकी सेवा करता है।

भावार्थः—जिसप्रकार अत्यंत प्यासा मनुष्य अपनी प्यासके बुझानेकेलिये अत्यंतनिर्मल जलसे भरेहुए सरोवरकी सेवा करता है उसीप्रकार अनंतविज्ञान अनंतवीर्य अनंतसौख्य तथा अनंतदर्शन इसअनंतचतुष्टयका मैं भी आकांक्षी हूं इसलिये अनंतचतुष्टयके धारण करनेवाले श्रीअनंतनाथभगवानको मैं अपने हृदयमें धारण

करता हूं क्योंकि जो जिसगुणकी प्राप्तिका अभिलाषी होता है वह अवश्य ही उसकी सेवा करता है ॥१४॥

धर्मनाथतीर्थंकरकी स्तुति ।

नमोस्तु धर्माय जिनाय मुक्तये सुधर्मतीर्थप्रविधायिने सदा
यमाश्रितो भव्यजनोऽतिदुर्लभां लभेत कल्याणपरम्परां पराम् ॥

अर्थः—जिस धर्मनाथभगवानको आश्रयकर भव्यजीव अत्यंतदुर्लभ सर्वोत्कृष्ट कल्याणोंकी परंपराको प्राप्त होते हैं उन श्रेष्ठ धर्मरूपीतीर्थके प्रवर्तानेवाले तथा अष्टकर्मोंके जीतनेवाले श्रीधर्मनाथभगवानको मैं मोक्षकी प्राप्तिकेलिये सर्वदा नमस्कार करता हूं ॥ १५ ॥

शांतिनाथभगवानकी स्तुति ।

विधाय कर्मक्षयमात्मशांतिकृज्जगत्सु यः शांतिकरस्ततोऽभवत्
इति स्वमन्यं प्रति शांतिकारणं नमामि शांतिं जिनमुन्नतश्रियम् ॥

अर्थः—जो शांतिनाथ भगवान् अपनी आत्माकी शांतिकरनेवाले कर्मोंके क्षयको करके समस्तजगतमें शांतिके करनेवाले होतेहुवे ऐसे स्व तथा परको शांतिके करनेवाले और अंतरंग तथा बहिरंग दोनोंप्रकारकी लक्ष्मीके स्वामी सोलहवें तीर्थंकर श्रीशांतिनाथभगवानको मैं मस्तक झुकाकर नमस्कार करता हूं अर्थात् शांतिके देनेवाले श्रीशांतिनाथभगवान मुझै भी शांतिप्रदान करैं

भावार्थः—जबतक इसआत्माके साथ कर्मोंका संबंध रहता है तबतक यह मेरा है यह तेरा है इस प्रकारके विकल्पोंको करताहुआ यह सदा व्याकुल ही रहाकरता है किंतु जिससमय कर्म आत्मासे जुदे हो जाते हैं उससमय विकल्पोंसे रहित होनेके कारण आत्मा शांत हो जाता है श्रीशांतिनाथभगवानने अपने तपोबलसे

घातियाकर्मोंका सर्वथा नाशकरदिया है इसलिये कर्मोंसे रहित होनेके कारण वे शांत हैं और वे स्वयंशांत समस्त जगतमें भी शांतिके करनेवाले हैं इसलिये इसप्रकार स्व परकी शांतिके करनेवाले और समस्त लक्ष्मीके स्वामी श्रीशांतिनाथभगवानको मैं मस्तक झुकाकर शांतिकी प्राप्तिकेलिये नमस्कार करता हूं ॥ १६ ॥

कुंथुनाथतीर्थंकरकी स्तुति ।

दयांगिनां चिद्द्वितयं विमुक्तये परिग्रहद्वन्द्वविमोचनेन तत्
विशुद्धमासीदिह यस्य मादृशां स कुंथुनाथोऽस्तु भवप्रशांतये ॥

अर्थः—बाह्य तथा अभ्यंतरके भेदसे समस्तप्रकारके परिग्रहोंके छोड़नेके कारण जिस कुंथुनाथभगवानके समस्त प्राणियोंपर दया और चैतन्य ये दोनों विशुद्ध होगये वे श्रीकुंथुनाथ भगवान मेरेसमान मनुष्योंको संसारकी शांतिकेलिये हों ।

भावार्थः—जबतक ममेदामिति (यह मेरा है ऐसे) मूर्छालक्षण परिग्रहका संबंध आत्माके साथमें रहता है तबतक किसीप्रकारकी विशुद्धता नहीं होती और जिससमय इस परिग्रहका संबंध छूटजाता है उससमय विशुद्धिकी प्राप्ति होती है श्रीकुंथुनाथभगवानने समस्तप्रकारके परिग्रहका त्याग करदिया है इसलिये बाह्यमें तो समस्तप्राणियोंपर दयाकी विशुद्धि हुई तथा अंतरंगमें चैतन्यकी विशुद्धि हुई इसलिये ऐसे श्रीकुंथुनाथ भगवान मेरेसमान मनुष्योंको संसारकी शांतिकेलिये होवें ॥ १७ ॥

अरनाथतीर्थंकरकी स्तुति ।

विभांति यस्यांघ्रिनखा नमत्सुरस्फुरच्छिरोरत्नमहोऽधिकप्रभः
जगद्गृहे पापतमोविनाशना इव प्रदीपाः स जिनो जयत्यरः ॥

अर्थः—नमस्कार करतेहुए जो देवता उनके मस्तकोंपर मुकुटोंमें लगेहुए जो देदीप्यमान रत्न उनकी जो कान्ति उससे भी है अधिक प्रभा जिनकी ऐसे जिस अरनाथ जिनेन्द्रके चरणोंके नख, संसाररूपी घरमें पापरूपी अंधकारको नाशकरनेवाले दीपकोंके समान शोभित होते हैं वे अरनाथभगवान इसलोकमें जयवंत हैं ।

भावार्थः—जिसप्रकार दीपक अंधकारको नाश करता है उसीप्रकार अत्यंत देदीप्यमान भगवानके चरणके नख भी पापरूपी अंधकारको नाश करते हैं अर्थात् जो भव्यजीव भगवानके चरणोंके नखोंकी आराधना करते हैं उनके समस्तपाप नष्ट हो जाते हैं ॥ १८ ॥

मल्लिनाथभगवानकी स्तुति ।

सुहृत्सुखी स्यादहितः सुदुःखितः स्वतोप्युदासीनतमादपि प्रभोः
यतः स जीयाज्जिनमल्लिरेकतां गतो जगद्विस्मयकारिचेष्टितः ॥

अर्थः—यद्यपि मल्लिनाथभगवान स्वयं उदासीन हैं तो भी जिन मल्लिनाथ प्रभूसे उनके स्नेही भक्त सुख पाते हैं तथा उनके शत्रु दुःख पाते हैं इसलिये ऐसे वे आत्मस्वरूपमें लीन तथा समस्तजगतको आश्चर्य करनेवाली चेष्टाको धारण करनेवाले श्रीमल्लिनाथभगवान सदा इसलोकमें जयवंत प्रवर्तो ।

भावार्थः—यद्यपि यहबात अनुभव गोचर है कि जो मनुष्य उदासीन होता है अर्थात् जो मित्र शत्रुको समान मानता है उससे न तो मित्र सुखी होते हैं और न शत्रु दुःखी ही होते हैं किंतु मल्लिनाथभगवानमें यह विचित्रता है कि वे स्वय उदासीन होनेपर भी अपने भक्तोंको सुखके देनेवाले हैं तथा निंदकोंको दुःखके देनेवाले हैं (अर्थात जो मनुष्य उनकी सेवा तथा भक्ति करता है उसको शुभकर्मका बंध होता है जिस से उसको शुभकर्मके फलस्वरूप सुखकी प्राप्ति होती है तथा जो मनुष्य उनकी निंदा करता है उनको घृणाकी

दृष्टिसे देखता है उसको अशुभकर्मोंका बंध होता है जिससे उसको संसारमें नानाप्रकारके दुःखोंका सामना करना पड़ता है) इसलिये इसप्रकार अपने आत्मस्वरूपमें लीन तथा आश्चर्यकारी चेष्टाको धारण करनेवाले श्रीमल्लिनाथभगवान इसलोकमें जयवंत रहो ॥ १९ ॥

सुव्रतनाथभगवानकी स्तुति ।

विहाय नूनं तृणवत्स सम्पदं मुनिर्व्रतैर्योऽभवदत्र सुव्रतः
जगाम तद्धामविरामवर्जि तं सुबोधदृग्भ्ये स जिनः प्रसीदतु ॥

अर्थः—जो सुव्रतनाथमुनि, समस्तपदार्थोंको निश्चयसे तृणकेसमान छोड़कर व्रतोंका धारणकरनेसे सुव्रतनामको धारणकरतेहुए और जो नाशकर रहित (अविनाशी) मोक्षपदको प्राप्तहुए तथा जो सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञानके धारी हैं ऐसे वे सुव्रतनाथ भगवान मेरेऊपर प्रसन्न हों ।

भावार्थः—जो उत्तम व्रतोंको धारण करनेवाला हो उसको सुव्रत कहते हैं बीसवे तीर्थंकारका जो सुव्रतनाम पड़ा है सो इसलिये पड़ा है कि उन्होंने समस्त संपदाओंका त्यागकर व्रतोंको धारण किया है इस लिये इसप्रकार व्रतोंको पालनकेकारण सुव्रतनामको धारण करनेवाले तथा अविनाशी मोक्षपदको प्राप्त और सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञानके धारी श्रीसुव्रतनाथभगवान मुझपर प्रसन्न हों ऐसी मेरी प्रार्थना है ॥ २० ॥

नमिनाथतीर्थंकरकी स्तुति ।

परम्परायत्ततयातिदुर्बलं चलं स्वसौख्यं यदसौख्यमेव तत्
अदः प्रमुच्यात्मसुखे कृतादरो नामिर्जिनो यः स ममास्तु मुक्तये ॥

अर्थः—जो नमिनाथभगवान पराधीनतासे प्राप्त तथा पर (भिन्न) और अत्यंत दुर्बल तथा चंचल ऐसा

इन्द्रियोंसे उत्पन्नहुआ सुख दुःखस्वरूप ही है ऐसा समझकर तथा इन्द्रिय संबंधी सुखको छोड़कर आत्मसंबंधी सुखमें आदर करतेहुए वे श्रीनमिनाथभगवान मुझे मुक्तिकेलिये हों ।

भावार्थः—इन्द्रियोंसे उत्पन्नहुआ सुख पराधीन है और वास्तविक सुखसे भिन्न है अत्यंत दुर्बल है तथा चंचल है और वह सुख नहीं दुःखस्वरूप ही है किंतु आत्मसंबंधी सुख स्वाधीन है स्वीय (अपना) है दुर्बलता रहित है स्थिर है और वही वास्तविक सुख है ऐसा भलीभांति समझकर जो नमिनाथभगवान इन्द्रियसबंधी सुखको छोड़कर आत्मसंबंधी सुखमें भलीभांति आदर करतेहुए वे श्रीनमिनाथभगवान मुझे मुक्तिके लिये होवें अर्थात् मुझे मुक्ति देवें ऐसी मेरी प्रार्थना है ॥ २१ ॥

अरिष्टसंकर्तनचक्रनेमितामुपागतो भव्यजनेषु यो जिनः
अरिष्टनेमिर्जगतीतिविश्रुतः स ऊर्जयन्ते जयतादितः शिवम् ॥

अर्थः—जो भगवान भव्यजनोंके अशुभकर्मोंके नाशकरनेमें चक्रकी धारापनेको प्राप्त हैं इसीलिये जो संसारमें अरिष्टनेमि इसनामसे प्रसिद्ध हैं तथा जो गिरनारपर्वतसे मोक्षको पधारे हैं वे अरिष्टनेमिभगवान सदा इसलोकमें जयवंत रहो ।

भावार्थः—जिसप्रकार चक्रकी धारा छेदनकरनेमें पैनी रहती है उसीप्रकार भगवान भी भव्यजीवोंके अशुभकर्मोंके नाशक हैं अर्थात् भगवानकी कृपासे भव्यजीवोंके अशुभकर्म नष्ट हो जाते हैं इसीलिये जो भव्यजीवोंके अशुभकर्मोंके नाशकरनेमें चक्रकी धाराके समान है अतएव जिन्होंने अरिष्टनेमि इसनामको धारणकिया है तथा जिन्होंने परमपूज्य श्रीगिरनारपर्वतसे मोक्षपाई है वे श्रीअरिष्टनेमिभगवान सदा इसलोकमें जयवंत रहो ॥ २२ ॥

पार्श्वनाथभगवानकी स्तुति ।

यदूर्ध्वदेशे नभसि क्षणादहिप्रभोः फणारत्नकरैः प्रधावितम्
पदातिभिर्वा कमठाहतेःकृते करोतु पार्श्वः स जिनो ममामृतम् ॥

अर्थः—जिसपार्श्वनाथभगवानके मस्तकपर आकाशमें कमठासुरके मारनेकेलिये शेषनागके फणोंमें लगेहुए जो रत्न उनकी किरणें, पदाति (सेना) के समान धावाकरतींहुईं वे पार्श्वनाथभगवान मेरेलिये मोक्षको दो ।

भावार्थ—किसीसमय भगवान ध्यानमें अत्यंत लीन होकर वनमें विराजमान थे उससमय उनके पूर्व भवका वैरी कमठासुर आकाशमार्गसे चलाजारहा था जिससमय उसका विमान इनके मस्तकपर आया तो आगे चलाही नहीं क्योंकि तीर्थंकर आदि महात्माओंके ऊपरसे किसीका विमान नहीं जाता । तब वह नीचे उतरा और भगवानको देखते ही उसको पूर्वभवका स्मरण हो गया बस फिर क्या था ! भगवानको ध्यानसे चलाय मान करनेकेलिये उसने वहुतसे उपाय सोचे और किये परंतु भगवानके सामने वे सब निष्फलही हुवे अंत में उसने मेघ वर्षाये तथा ओले गिराये और प्रचंड पवन चलाई उससमय धरणेंद्र और पद्मावतीने भगवानका उपसर्ग निवारणकिया क्योंकि धरणेंद्रने भगवानके मस्तकपर अपना फणा फैलाकर मेघका निवारण किया तथा पद्मावतीने आसन वनकर भगवानके उपसर्गको निवारण किया उसीबातको अपनेमनमें धारणकर ग्रंथकार उत्प्रेक्षाकरते हैं कि पार्श्वनाथ भगवानके मस्तकपर शेषनागके फणोंके रत्नोंके किरण जहातहां नहीं फैल रहे हैं किंतु वे कमठके मारनेकेलिये सेनाही है अतः ऐसे पार्श्वनाथ भगवान मुझे मुक्ति प्रदान करैं ॥२३॥

वर्धमानभगवानकी स्तुति ॥

त्रिलोकलोकेश्वरतां गतोपि यः स्वकीयकायेऽपि तथापि निस्पृहः ।
स वर्धमानोऽन्त्यजिनो नताय मे ददातु मोक्षं मुनिपद्मनंदिने ॥

अर्थः—जोवर्धमानस्वामी तीनलोकके ईश्वर होने परभी अपने शरीर में भी निस्पृह (इच्छा रहित) होते हुवे वे अंतिमजिनेंद्र वर्धमानस्वामी नमस्कार करतेहुवे मुझपद्मनंदिमुनिकेलिये मोक्ष प्रदान करो ॥२४॥

इसप्रकार इस श्रीपद्मनंदी आचार्यविरचित श्रीपद्मनंदिपंचविंशतिकामें स्वयंभुस्तोत्र "चतुर्विंशतिजिनेन्द्र" स्तोत्र समाप्त हुवा ॥

सुप्रभाताष्टकस्तोत्रम्।

शार्दूलविक्रीड़ित।

निश्शेषावरणद्वयस्थिति निशाप्रान्तेन्तरायक्षयो द्योते मोहकृते गते च सहसा निद्राभरे दूरतः।
सम्यग्ज्ञानदृगाक्षियुग्ममभितो विस्फारितं यत्र त लब्धं यैरिह सुप्रभातमचलं तेभ्यो यतिभ्यो नमः॥१॥

अर्थः—दोनो जो निश्शेषावरण अर्थात् ज्ञानावरण और दर्शनावरण उनकी जो स्थिति वही हुई रात्रि उसके अंतहोनेपर तथा अंतराय कर्मके क्षयहोनेसे प्रकाशहोनेपर और मोहिनीय कर्मकेद्वारा किये हुवे निद्राके भारके शीघ्रही दूरहोने पर जिससुप्रभातमें सम्यग्ज्ञान तथा सम्यग्दर्शनरूपदोनों नेत्र उन्मीलित हुवे (खुले) उस अचल सुप्रभातको जिन यतियोंने प्राप्त करलिया है उन यतियोंकेलिये नमस्कार है ॥

भावार्थः—जिसप्रकार प्रभातकालमें रात्रिका सर्वथा अंत होजाता है तथा प्रकाश प्रकट होजाता है और निद्राका नाश होजाता है अर्थात् सोते हुवे प्राणी उठ बैठते हैं और दोनों नेत्र खुल जाते हैं उसी प्रकार जिस सुप्रभातमें ज्ञानावरण और दर्शनावरणके सर्वथा नाशहोनेपर तथा मोहनीय कर्मकी कृपासे उत्पन्न हुई निद्राके सर्वथा दूर होजाने पर सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन प्रकट हुवे और ऐसे सुप्रभातको जिन मुनियोंने

प्राप्तकरलिया है उन मुनियोंके लिये मस्तक झुकाकर नमस्कार है ॥ १ ॥

यत्सच्चक्रसुखप्रदं यदमलं ज्ञानप्रभाभासुरं लोकालोकपदप्रकाशनविधिप्रौढं प्रकृष्टं सकृत्।
उद्भूते सति यत्र जीवितमिव प्राप्तं परं प्राणिभिः त्रैलोक्याधिपतेर्जिनस्य सततं तत्सुप्रभातं स्तुवे॥२॥

अर्थः—तीनोलोकके स्वामी श्रीजिनेन्द्र भगवानके मैं उस सुप्रभातस्तोत्रको नमस्कार करता हूं कि जो जिनेंद्रभगवानका सुप्रभात समस्तजीवोंको सुखका देनेवाला है और समस्तप्रकारके मलोंसे रहित होनेके कारण अमल है और ज्ञानकीजो प्रभा उससे देदीप्यमान है तथा समस्त लोकालोकको प्रकाश करनेवाला है और जो अत्यंत महान है और जिसके एकवारही उदित होने पर समस्त प्राणियोंको ऐसा मालूम पड़ता है कि हमको उत्कृष्ट जीवन की प्राप्ति हो जाती है अर्थात् वे अपना जीवन धन्य समझते हैं।

भावार्थः—जिसप्रकार प्रभातकाल समस्तप्राणियोंको सुखका देनेवाला होता है और अंधकारके नाश हो-जानेपर निर्मल होता है देदीप्यमान सूर्यकी कान्तिसे चमकीला होता है और समस्तपदार्थोंका प्रकाशक होता है और प्रकृष्ट होता है तथा जिसप्रभातकालके उदित होनेपर समस्तप्राणी अपना जीवन उत्कृष्ट समझते हैं उसीप्रकार तीनलोकके स्वामी श्रीजिनेंद्रदेवका भी प्रभात (केवल ज्ञान) है क्योंकि यह भी समस्तजीवोंको सुख का देनेवाला है (अर्थात् जिससमय केवल ज्ञान प्रगट होता है उससमय तीनोंलोकके जीवोंको आनंद होता है) और ज्ञानावरणादि कर्मोंके अभावसे निर्मल है तथा ज्ञानकी (अपनी) प्रभासे देदीप्यमान है और समस्त लोक तथा अलोकका प्रकाशकरनेवाला है और महान है और जिस केवलज्ञानके उदित होनेपर समस्तप्राणी अपनेको धन्यसमझते हैं उसतीनोंलोकके स्वामी श्रीजिनेन्द्रदेवके सुप्रभात (केवलज्ञान) केलिये नमस्कार है॥२॥

॥४४३॥

एकान्तोद्धतवादिकौशिकशतैर्नष्टं भयादाकुलैः जातं यत्र विशुद्धखेचरनुतिव्याहारकोलाहलम्।
यत्सद्धर्मविधिप्रवर्तनकरं तत्सुप्रभातं परं मन्येऽर्हत्परमेष्ठिनो निरुपमं संसारसंतापहृत् ॥ ३ ॥

अर्थः—जिसअर्हतभगवानके उपमारहित सुप्रभातके होनेपर भयभीत होकर एकांतसिद्धांतसे मत्त ऐसे सैकडों वादीरूपी कौशिक (वाल उल्लू) नष्ट होगये और अत्यंतशुद्ध जो विद्याधरोंकी स्तुति उसका जो शब्द उसका कोलाहल होताहुआ और जो सुप्रभात उत्तमधर्मकी प्रवृत्तिका करनेवाला है वह अर्हतभगवानका सुप्रभात (केवलज्ञान) समस्तसंसारके संतापोंको दूरकरनेवाला है ऐसा मैं मानता हूं।

भावार्थः—जिसप्रकार सुबहकेसमय समस्त उल्लू छिपजाते हैं तथा पक्षिगण अपने कलकल शब्दोंसे आकाशमें कोलाहलकरते हैं और उत्तमधर्मकी प्रवृत्ति होती है अर्थात् जिसप्रभातकालमें मनुष्य अपनी २ धर्म क्रियायोंमें तत्पर होजाते हैं और जो सुप्रभातउपमारहित है तथा समस्तसंतापोंको दूरकरनेवाला है उसीप्रकार अर्हतभगवानका भी सुप्रभात है क्योंकि भगवानके सुप्रभातके (केवलज्ञानके) सामने भी वस्तुके एकांतस्वरूपको ही मानकर मदोन्मत्तवादीरूपी उल्लू नष्ट होजाते हैं और जिससुप्रभातमें विद्याधर भगवानकी स्तुति करते हैं उससमय उनकी स्तुतिके शब्दका कोलाहल सबजगहपर व्याप्त होजाता है तथा भगवानका सुप्रभात (केवल ज्ञान) श्रेष्ठधर्मकी प्रवृत्तिका करनेवाला है अर्थात् जिससमय संसार अज्ञानांधकारसे व्याप्त होजाता है उस-समय केवलज्ञानीके केवलज्ञानसे ही श्रेष्ठमार्गकी प्रवृत्ति होती है और यह भगवानका सुप्रभात उत्कृष्ट है उपमा रहित है तथा समस्तसंसारके संतापोंका दूरकरनेवाला है ऐसा मैं मानता हूं ॥ ३ ॥

सानंदं सुरसुन्दरीभिरभितः शक्रैर्यदा गीयते प्रातः प्रातरधीश्वरं यदतुलं वैतालिकैः पठ्यते।
यच्चाश्रावि नभश्चरैश्च फणिभिः कन्याजनाद्गायतस्तद्वन्दे जिनसुप्रभातमखिलं त्रैलोक्यहर्षप्रदम् ॥

अर्थः—जिसजिनेन्द्रभगवानके समस्तसुप्रभातस्तोत्रको आनंदयुक्त देवांगना तथा इंद्र गानकरते हैं तथा-उपमारहित जिससुप्रभातस्तोत्रको वंदीजन राजाओंकेसामने सुबहकेसमय पढ़ते हैं और गानकरती हुई नाग-कन्याओंसे गायेहुये जिस स्तोत्रको विद्याधर तथा नागेन्द्र सुनतेभी हैं उस तीनोंलोकको हर्षके देनेवाले भगवानके सुप्रभातस्तोत्रको मैं शिर नवाकर नमस्कार करता हूं।

भावार्थः—जिसजिनेंद्रभगवानके स्तोत्रको स्वर्गमेंतो बड़े आनंदसे देवांगना तथा इन्द्र गानकरते हैं और मध्यलोकमें राजाओंकेआगे प्रातःकालमें वंदीजन गानकरते हैं तथा अधोलोकमें नागकन्या अपने मधुर स्वरसे गानकरती है जिसको बड़ी लालसासे विद्याधर तथा नागेन्द्र सुनते हैं ऐसे उस तीनोंलोकोंको हर्षके करनेवाले भगवानके सुप्रभातको में नमस्कार करता हूं ॥ ४ ॥

उद्योते सति यत्र नश्यतितरां लोकेऽन्धचौरश्चिरं दोषेशोंतरतीत यत्र मलिनो मंदप्रभो जायते।
यत्रानीतितमस्ततेर्विघटनाज्जाता दिशो निर्मला वंद्यं नंदतु शाश्वतं जिनपतेस्तत्सुप्रभातं परम् ॥

अर्थः—जिसजिनेन्द्रभगवानके सुप्रभातके प्रकाशमान होनेपर संसारमें पापरूपीचोर सर्वथा नष्ट होजाते हैं तथा मनरूपी चंद्रमा मलिन मंदप्रभ(फीका) होजाता है और अनीतिरूपी अंधकारके सर्वथा नाश-होजानेके कारण समस्त दिशायें स्वच्छ होजाती हैं तथा जो भगवानका सुप्रभात उत्कृष्ट है तथा सदाकाल रहनेवाला है और वंदनीक है ऐसा वह जिनेन्द्रभगवानका सुप्रभात सदा इसलोकमें जयवंत प्रवर्तो।

भावार्थः—जिसप्रकार सुबहके होजानेपर सबचोर नष्टहोजाते हैं और चंद्रमा मलिन तथा फीका पड़-जाता है तथा समस्त अंधकारके नाशहोजानेसे दिशा सर्वथा स्वच्छ होजाती है और जो उत्कृष्ट तथा वंद्य है उसीप्रकार श्रीजिनेन्द्रदेवका भी सुप्रभात (केवलज्ञान) है क्योंकि इसजिनेन्द्रके सुप्रभातके प्रकाशमान होने-

परभी समस्त पापरूपी चोर सर्वथा नष्ट होजाते हैं तथा मनरूपी चंद्रमा भी मलिन तथा फीका पड़जाता है अर्थात् मनका व्यापार सर्वथा नष्ट होजाता है और अनीतिरूपी मार्गके सर्वथा नाश होजानेकेकारण समस्त दिशायें निर्मल होजाती हैं (अर्थात् भगवानके सुप्रभातके प्रकाशमान होनेपर मिथ्यामार्गकी प्रवृति नष्ट होजाती है और उत्तममार्गकी प्रवृत्ति, होती है) और जो जिनेन्द्रभगवानका सुप्रभात उत्कृष्ट है तथा सदाकाल रहनेवाला है और समस्तभव्यजीवोंका वंद्य (स्तुतिके करने योग्य) है ॥ ५ ॥

मार्गं यत्प्रकटीकरोति हरते दोषानुषंगस्थितिं लोकानां विदधाति दृष्टिमचिरादर्थावलोकक्षमाम् ।
कामासक्तधियामपि कृशयति प्रीतिं प्रियायामिति प्रातस्तुल्यतयापि कोऽपि महिमापूर्वः प्रभातोऽर्हताम्

अर्थः—जो अर्हतभगवानका सुप्रभात मार्गको प्रकटकरता है और समस्त दोषोंके संगसे होनेवाली स्थितिको नष्टकरता है तथा लोगोंकी दृष्टियोंको शीघ्रही पदार्थोंके देखनेमें समर्थ बनाता है और जिनमनुष्यों-की बुद्धि काम में आसक्त हैं अर्थात् जोपुरुष कामीहैं उनकी स्त्री विषयक प्रीतिको नष्ट करता है इसलिये यद्यपि अर्हतदेवका प्रभात प्रातःकालके समान मालूम पड़ता है तोभी यह प्रातःकालसे वचनागोचर अपूर्व महिमाकाधारी है ऐसा जान पड़ता है ।

भावार्थः—यद्यपि शब्दसे प्रातःकाल तथा जिनेन्द्रका सुप्रभात समानही प्रतीत होते हैं तोभी प्रातःका-लकी (सुबहकी) अपेक्षा अर्हतभगवानके सुप्रभातकी महिमा अपूर्वही है क्योंकि प्रातःकालतो मनुष्योंके चलने के लिये सड़क आदिमार्गको प्रकट करता है किंतु भगवानका सुप्रभात सम्यग्दर्शनादि स्वरूप मोक्षके मार्गको प्रकट करता है तथा प्रातःकालतो रात्रिकी स्थितिका नाश करता है किंतु भगवानका सुप्रभात रागद्वेष रूपी दोषोंकी स्थितिको दूर करता है और प्रातःकाल तो घटपटादि थोड़े पदार्थोंके देखनेमें ही मनुष्यों की दृष्टियों

को समर्थ करता है किंतु अर्हंत भगवानका सुप्रभात मनुष्योंकी दृष्टिको मूर्तीक तथा अमूर्तीक समस्तपदार्थोंके देखनेमें समर्थ बनाता है तथा प्रातःकाल तो कामी पुरुषोंकी स्त्रीविषयक प्रीतिकोही नष्ट करता है किन्तु अर्हंत भगवानका सुप्रभात समस्तप्रकारके मोहका नाश करनेवाला है इसलिये प्रातःकालकी अपेक्षा अर्हंत भगवानका सुप्रभात अपूर्व महिमाकाधारी है इसमें किसीप्रकारका सन्देह नहीं ॥ ६ ॥

यद्भानोरपि गोचरं न गतवाञ्चिते स्थितं तत्तमो भव्यानां दलयत्तथा कुवलये कुर्वद्विकासश्रियम् ।
तेजः सौख्यहतेरकर्तृ सदिदं नक्तंचराणामपि क्षेमं वो विदधातु जैनमसमं श्रीसुप्रभातं सदा ॥

अर्थः—जो अंधकार सूर्यके भी गोचर [विषयभुत] नहीं है ऐसे इस भव्यजीवोंके चित्तोंमें विद्यमान भी अंधकारको जो जिनेन्द्रका सुप्रभात नष्टकरनेवाला है तथा भूमंडलमें जो जिनेन्द्रका सुप्रभात विकासकी शोभाको धारणकरता है [अर्थात् पृथ्वीमंडलमें विकसित होता है] और जो जिनेन्द्रका सुप्रभात रात्रिमें गमनकरनेवाले जीवोंके तेज तथा सुखके नाशको नहीं करता है ऐसा यह समीचीन तथा उपमारहित जिनेन्द्रभगवानका सुप्रभात सदा आपलोगोंके कल्याणको करो ।

भावार्थः—जो जिनेन्द्रका सुप्रभात, जहांपर सूर्यकी भी गम्य नहीं है ऐसे भव्यजीवोंके मनमें मौजूद अंधकारका नाश करनेवाला है तथा जो समस्त पृथ्वीमंडलके ऊपर प्रकाशमान है और सूर्य तो रात्रिमें गमन करनेवाले उल्लू आदि जीवोंके तेज तथा सुखका नाश करनेवाला है किंतु जिनेन्द्रभगानका सुप्रभात रात्रिमें गमन करनेवाले जिवोंके न तो तेजका नाश करनेवाला है तथा न सुखका नाश करनेवाला है और जो समीचीन है तथा उपमारहित है ऐसा यह जिनेन्द्रभगवानका सुप्रभात सदा आप लोगोंके कल्याणको करे ॥७॥

भव्याम्भोरुहनन्दिकेवलरविः प्राप्नोति यत्रोदयं दुष्कर्मोदयनिद्रया परिहृतं जागर्ति सर्वं जगत् ॥
नित्यं यैः परिपठ्यते जिनपतेरेतत्प्रभाताष्टकं तेषामाशु विनाशमेति दुरितं धर्मःसुखं वर्धते ॥

अर्थः—जिस श्रीजिनेंद्रदेवके सुप्रभातमें भव्यरूपीकमलोंको आनंदकादेनेवाला केवलज्ञानरूपी सूर्य उदय को प्राप्त होता है और जिसभगवानके सुप्रभातमें समस्तजगत खोटेकर्मोंसे पैदा हुई जो निद्रा उससे रहित होकर प्रबोध अवस्थाको प्राप्त होता है आचार्यवर कहते हैं कि जिनेन्द्रभगवानके इसप्रकारके उत्तम सुप्रभाताष्टकको जो भव्यजीव नित्य पढते हैं उनभव्यजीवोंके समस्त पापोंका नाश होजाता है और उनके धर्मकी वृद्धि होती है तथा सुखकी भी वृद्धि होती है ।

भावार्थः—जिसप्रकार प्रातःकालमें कमलोंको आनंदके देनेवाले सूर्यका उदय होताहै तथा समस्तलोक निद्रासे रहितहोकर प्रबोध अवस्थाको प्राप्त होजाता है अर्थात् जगजाता है उसीप्रकार भगवानका-सुप्रभात भी है क्योंकि भगवानके सुप्रभातमेंभी भव्यरूपीकमलोंको आनंदके देनेवाले अथवा भव्यपद्मनंदी आचार्यको आनंदके देनेवाले केवलज्ञानरूपी सूर्यका उदय होता है और समस्तलोक खोटेकर्मोंसे पैदा हुई जो निद्रा उससे रहित होकर प्रबोध अवस्थाको प्राप्त होता है इसलिये आचार्यवर कहते हैं कि जो भव्यजीव सदा इसजिनेन्द्रभगवानके सुप्रभाताष्टकस्तोत्रको पढ़ते हैं उन भव्यजीवोंके समस्त अशुभ कर्मोंका नाश होजाता है और उनके सुखकी तथा धर्मकी वृद्धि होती है ॥ ८ ॥

इसप्रकार श्रीपद्मनंदी आचार्यद्वारा विरचित श्रीपद्मनंदिपंचविंशतिकामें
सुप्रभाताष्टकस्तोत्र नामक अधिकार समाप्तहुआ ।

श्रीशांतिनाथस्तोत्रम्।

शार्दूलविक्रीडित।

त्रैलोक्याधिपतित्वसूचनपरं लोकेश्वरैरुद्धृतं यस्योपर्युपरीन्दुमण्डलनिभं छत्रत्रयं राजते॥
अश्रांतोद्गतकेवलोज्वलरुचा निर्भर्त्सितार्कप्रभं सोऽस्मान् पातु निरञ्जनो जिनपतिःश्रीशांतिनाथः सदा॥१॥

अर्थः—जिन श्रीशांतिनाथभगवानके मस्तकके ऊपर तीनोंलोकके स्वामीपनेके प्रकट करनेमें तत्पर तथा देवन्द्रोंद्वारा आरोपित चंद्रमाके प्रतिबिम्बके समान तीनछत्र शोभित होते हैं और निरंतर उदयको प्राप्त ऐसा जो केवलज्ञान उसकी जो निर्मलकांति उससे जिनने सूर्यकी प्रभाको भी नीचे करदिया है और जो समस्त पापोंकर रहित हैं ऐसे वे श्रीशांतिनाथ जिनेन्द्र सदा हम लोगोंकी रक्षा करो।

भावार्थः—श्रीशांतिनाथभगवान तीनोंलोकके स्वामी हैं इसबातके प्रकट करनेकोलिये जिन श्रीशांतिनाथ भगवानके मस्तकके ऊपर देवेन्द्रोंने चंद्रमाके समान तीनछत्र आरोपित किये हैं और जिन्होंने सदा उदयको प्राप्त ऐसे अपने केवलज्ञानकी कांतिसे सूर्यकी प्रभाको भी नीचे करदिया है और ज्ञानावरणादि कर्म जिनके पास भी नहीं फटकने पाते इसीलिये जो कर्मोंसे उत्पन्नहुई कालिमासे रहित हैं ऐसे श्रीशांतिनाथभगवान सदा हमारी रक्षाकरो अर्थात ऐसे श्रीशांतिनाथभगवानको नमस्कार है॥ १॥

देवः सर्वविदेष एव परमो नान्यस्त्रिलोकीपतिः संत्यस्यैव समस्ततत्त्वविषया वाचः सतां सम्मताः।
एतद्घोषयतीव यस्य विबुधैरास्फालितो दुन्दुभिः सोस्मान् पातु निरंजनो जिनपतिः श्रीशांतिनाथःसदा॥

अर्थः—देवताओंकर ताड़ित (बजाईहुई) जिस श्रीशांतिनाथभगवानकी दुन्दुभि (नक्काड़ा) संसारमें मानों इसबातको प्रकट करके कहरहा है कि समस्तपदार्थोंको जाननेवाले तथा उत्कृष्ट और तीनोंलोकके पति

यदि है तो शांतिनाथभगवान ही हैं किंतु इनसे भिन्न न कोई समस्तपदार्थोंका जाननेवाला है और न उत्कृष्ट तथा तीनोंलोकोंका पति ही है तथा समस्त तत्त्वोंको वर्णन करनेवाले इसी [भगवान] के वचन सज्जनोंको सम्मत हैं किंतु इनसे भिन्न किसीके वचन सम्मत नहीं है ऐसे वे समस्त कर्मोंकर रहित श्रीशांतिनाथभगवान सदा हमारी रक्षाकरो ॥ २ ॥

दिव्यस्त्रीमुखपङ्कजैकमुकरप्रोल्लासिनानामणिस्फारीभूतविचित्ररश्मिरचितानम्रामरेन्द्रायुधैः ।
सच्चित्रीकृतवातवर्त्मनि लसत्सिंहासने यः स्थितः सोऽस्मान् पातु निरंजनो जिनपतिः श्रीशांतिनाथःसदा ॥

अर्थ——जो श्रीशांतिनाथभगवान, देवांगनाओंके जो मुखकमल वेही हुए एकदर्पण उनमें देदीप्यमान जो नाना प्रकारके रत्न उनकी जो चारोओर फैलीहुई किरणें उनकरके बनाये हुए, तथा चारोओरसे मुड़ेहुए, ऐसे जो इन्द्र धनुष, उनसे चित्रविचित्र जो आकाश, उसमें देदाप्यमान सिंहासनमें विराजमान होते हुवे ऐसे वे समस्त पापोंकर रहित श्रीशांतिनाथभगवान सदा हमारी रक्षाकरो ।

भावार्थः——जिससमय भगवानको देवांगना आकर नमस्कार करती हैं उससमय उनके भूषणोंके रत्नोंकी किरणोंसे चित्रविचित्र आकाश ऐसा मालूम पड़ता है मानों उसमें इन्द्रधनुष ही पडे हों तो इसप्रकार इन्द्र धनुषों के समान चित्रविचित्र आकाशमें जो शांतिनाथभगवान सिंहासनपर विराजमान होते हुवे ऐसे वे समस्तपापोंकर रहित श्रीशांतिनाथभगवान हमारी रक्षाकरो अर्थात् ऐसे शांतिनाथभगवानको मस्तकझुकाकर नमस्कार है ॥३॥

गंधाकृष्टमधुव्रतव्रजरुतैर्व्यापारिता कुर्वती स्तोत्राणीव दिवःखुरैः सुमनसां वृष्टिर्यदग्रेऽभवत् ॥
सेवापातसमस्तविष्टपपतिस्तुत्याश्रयस्पर्धया सोऽस्मान् पातु निरंजनो जिनपतिः श्रीशांतिनाथो जिनः॥४॥

अर्थ——जिस श्रीशांतिनाथभगवानके आगे आकाशमें देवोंद्वारा कीहुई फूलोंकी वर्षा इसप्रकारसे होती

हुई मानों सेवामें आयेहुए जो समस्तलोकके स्वामी देवेन्द्रादिक उनकी स्तुतिसे उत्पन्नहुई ईर्षासे, सुगंधसे खैंचेहुए जो भ्रमर उनका जो समूह उनके शब्दोंसे स्तोत्रोंको ही कररही हो इसलिये इसप्रकार समस्तपापोंसे रहित श्रीशांतिनाथभगवान हमारी रक्षाकरो ।

भावार्थः—आचार्यवर उत्प्रेक्षा करते हैं कि जिससमय भगवानके ऊपर पुष्पवृष्टि होती है उससमय उसकी सुगंधिसे आयेहुए जो भ्रमर उनके जो गुंजारशब्द वे गुंजार शब्द नहीं हैं किंतु तीनोंलोकके पति देवेन्द्र नरेन्द्र धरणेन्द्र आकर भगवानकी स्तुति करते हैं उससमय उनकी स्तुतिकी ईर्षासे पुष्पवृष्टि भी भगवान की मानों स्तुति कररही है ऐसी मालूम होती है ॥ ४ ॥

खद्योतौ किमुतानलस्य कणिके शुभ्राभ्रलेशावथ सूर्याचंद्रमसाविति प्रगुणितौ लोकाक्षियुग्मैःसुरैः ॥
तर्क्येते हि यदग्रतोतिविशदं तद्यस्यभामण्डलं सोऽस्मान्पातु निरंजनो जिनपतिःश्रीशांतिनाथःसदा ॥५॥

अर्थः—जिस श्रीशांतिनाथभगवानके भामंडलके आगे सूर्य तथा चन्द्रमाको लोगोंके नेत्र तथा देव ऐसा मानते थे कि क्या ये सूर्य चंद्रमा दो खद्योत [जुगनू] हैं अथवा अग्निके दो फुलिंगे हैं वा सफेदमेघके ये दो टुकडे हैं, ऐसा जिस शांतिनाथभगवानका भामंडल था ऐसे वे समस्तपापोंकर रहित श्रीशांतिनाथ-भगवान हमारी रक्षाकरो ।

भावार्थः—जिस श्रीशांतिनाथभगवानका भामंडल इतना देदीप्यमान था कि जिसके सामने अत्यंत प्रकाशमान सूर्यचंद्रमा भी जुगुनू तथा अग्निके फुलिंगे और सफेद मेघके टुकडोंके समान जान पडते थे ऐसे वे समस्तकर्मोंसे पैदाहुई कालिमासे रहित श्रीशांतिनाथभगवान हमारी रक्षाकरो ॥ ५ ॥

यस्याशोकतरुर्विनिद्रसुमनोगुच्छप्रसक्तैः क्वणद्भृंगैर्भक्तियुतः प्रभोरहरहर्गायन्निवास्ते यशः ॥

शुभ्रं साभिनयोमरुच्चलताप्रर्यंतपाणिश्रिया सोऽस्मान्पातु निरंजनो जिनपतिःश्रीशांतिनाथःसदा ॥६॥

अर्थः—जिस श्रीशांतिनाथभगवानका भक्तिसहित अशोकवृक्ष खिलेहुए जो फूल उनके जो गुच्छे उन पर बैठेहुए जो शब्दकरतेहुए भ्रमर उनसे प्रभुके निर्मलयशको गानकररहा है ऐसा माल्रम होता है और पवनसे कंपित जो लता उनके जो अग्रभाग वेही हुए हाथ उनसे ऐसा जान पडता है मानों नृत्य ही कर रहा हो ऐसे वे समस्तपापोंकर रहित श्रीशांतिनाथभगवान हमारी रक्षाकरो ।

भावार्थः—जिसके खिले हुवे फूलोंके गुच्छोंपर भ्रमर गुंजार कर रहे हैं और जिसके शाखाओंके अग्रभाग पवनसे हिलरहे हैं ऐसे अशोक वृक्षके नीचै वैठे ध्यानारूढ़ भगवानको अपने मनमें भावनाकर ग्रंथकार उत्प्रेक्षा करते हैं कि जो अशोक वृक्षके फूलेहुवे फूलोंपर भ्रमर गुंजार शब्द कररहे हैं वे शब्द उनके गुंजारके शब्द नहीं है किंतु भक्तिवश होकर अशोक वृक्ष भगवानके निर्मल यशका गान कररहा है तथा वे जो पवनसे अशोक वृक्षकी लताओंके अग्रभाग हिल रहे हैं वे लताओं के अग्रभाग नहीं है किन्तु वे अशोक वृक्षके हाथ हैं तथा हाथ फैलाकर अशोक वृक्ष भक्तिवश होकर नृत्य कररहा है इसलिये जिनका अशोक वृक्ष भक्तियुक्त होकर ऐसी चेष्टा कर रहा है ऐसे वे समस्तपापोंकर रहित श्रीशांतिनाथ भगवान हमारी रक्षाकरो ॥६॥

विस्तीर्णाखिलवस्तुतत्वकथनापारप्रवाहोज्वला निश्शेषार्थिनिषेविताातिशिशिरा शैलादिवोत्तुंगतः ।
प्रोद्गता हि सस्वती सुरनुता विश्वं पुनाना यतः सोऽस्मान्पातु निरञ्जनो जिनपतिः श्रीशांतिनाथःसदा ७

अर्थः—जो अत्यंत विस्तीर्ण है तथा समस्ततत्वोंका जो कथन वहीहुवा प्रवाह उससे उज्वल है और जिसकी समस्त अर्थिजन (याचक) सेवा करते हैं और जो अत्यंत शीतल है तथा जिसकी समस्तदेव स्तुति करते हैं और जो समस्तजगतको पवित्रकरने वाली है ऐसी सरस्वती (गंगा) अत्यंत ऊंचे पर्वतके समान

जिस श्री शांतिनाथ भगवान से प्रकट हुई है ऐसे वे समस्तपापोंकर रहित श्री शांतिनाथ भगवान हमारी रक्षाकरैं ।

भावार्थः—जिसप्रकार गंगानदी अत्यंत लंवी चौड़ी है और जिसका पार नहीं ऐसे प्रवाहसे उज्वल है तथा जिसकी याचकगण सेवा करते हैं और जो अत्यंत शीतल है तथा जिसकी वड़े २ देव स्तुति करते हैं और जो समस्त जगतको पवित्र करनेवाली है तथा अत्यंत उन्नत ऐसे हिमालय पर्वतसे प्रकट हुई है उसी-प्रकार सरस्वती भी है क्योंकि यहभी अत्यंत विस्तीर्ण है तथा समस्ततत्वोंका जो कथन वही हुवा प्रवाह उस से अत्यंत निर्मल है। इसके भक्तलोग इसकी भी सेवाकरते हैं और यह अत्यंत शीतल है और इसकी वड़े २ देव स्तुतिकरते हैं तथा समस्तजगतको पवित्र करनेवाली है और अत्यंत उन्नत श्रीशांतिनाथ हिमालयसे उत्पन्नहुई है इसलिये जिनसे इसप्रकार गंगानदीके समान सरस्वती उत्पन्नहुई है ऐसे वे समस्त पापोंकर रहित श्री शांतिनाथ भगवान हमारी रक्षाकरो ॥ ७ ॥

लीलोद्वेल्लितबाहुकंकणरणत्कारप्रहृष्टैःसुरैश्चंचच्चन्द्रमरीचिसंचयसमाकारैश्चलच्चामरैः ।
नित्यं यः परिवीज्यते त्रिजगतां नाथस्तथाप्यस्पृहः सोऽस्मान्पातु निरंजनो जिनपतिः श्रीशांतिनाथःसदा

अर्थः—जिस शांतिनाथभगवानके ऊपर लीलासे कंपित जो भुजा उनमें पहिनेहुवे जो ककण उनकाजो रणत्कार शब्द उनसे अत्यंत हर्षित ऐसे देव, देदीप्यमान जो चन्द्रमा उसकी जो किरणें उनका जो समूह उसके समान रूपको धारण करनेवाले चंचल चमरोंको ढोरते हैं और जो तीनोंलोकके नाथ हैं तोभी जो निरी-ह है अर्थात् समस्तपदार्थोंमें इच्छाकर रहित हैं ऐसे वे समस्तपापोंकररहित श्री शांतिनाथभगवान सदा हमारी रक्षाकरो अर्थात् ऐसे श्रीशांतिनाथ भगवानके नमस्कार है ॥

भावार्थः—जिन श्रीशांतिनाथभनवानके ऊपर समस्त आभूषणोंकर सहित देवेन्द्र, चंद्रमाकी किरणोंके

समान निर्मल चमरोंको ढोरते हैं और जो तीनोंलोकके नाथ हैं तोभी जिन भगवानकी किसी पदार्थमें इच्छा नहीं है ऐसे वे समस्तप्रकारके पातकोंकर रहित श्री शांतिनाथ भगवान सदा हमारी रक्षाकरो ॥ ८ ॥

निश्शेषश्रुतबोधवृद्धमतिभिः प्राज्यैरुदारैरपि स्तोत्रैर्यस्य गुणार्णवस्य हरिभिः पारो नहि प्राप्यते ।
भव्यांभोरुहनंदिकेवलरविर्भक्त्या मयापि स्तुतः सोऽस्मान्पातु निरंजनो जिनपतिःश्रीशांतिनाथःसदा

अर्थः—समस्तशास्त्रोंके ज्ञानसे जिनकी बुद्धियां अत्यंत विशाल हैं ऐसे इन्द्र भी अत्यत उत्कृष्ट तथा बडे २ स्तोत्रोंसें जिन श्रीशांतिनाथके गुणरूपी समुद्रका पार नहीं पासकते ऐसे उन भव्यरूपी कमलोंको अथवा भव्यपद्मनंदीको आनंदके करनेवाले केवलज्ञानरूपीसूर्यके धारी श्रीशांतिनाथभगवानकी मैने स्तुतिकी है इसलिये समस्तपापोंकर रहित श्रीशांतिनाथभगवान हमारी रक्षाकरो ॥ ९ ॥

इसप्रकार श्रीपद्मनंदिआचार्यद्वारा विरचित श्रीपद्मनंदि पंचविंशतिकामें
शांत्यष्टकस्तोत्र समासहुआ ।

जिनपूजाष्टकं ।

वसन्ततिलका ।

जातिर्जरामरणमित्यनलत्रयस्य जीवाश्रितस्य बहुतापकृतो यथावत् ।
विध्यापनाय जिनपादयुगाग्रभूमौ धारात्रयं प्रवरवारिकृतं क्षिपामि ॥१॥

अर्थः—जीवोंके आश्रित अर्थात् जीवोंमें होनेवाली तथा अत्यंत संतापको देनेवाली ऐसी जन्म जरा और मरण ये तीनप्रकारकी अग्नी हैं उन तीनोंप्रकारकी अग्नियोंको यथावत् बुझानेकेलिये श्रीजिनेन्द्रभगवानके

१ क० पुस्तकम शुद्धमतिभिः—यह भी पाठ है ।

दोनों चरणाक अग्रभागकी भूमिमें उत्तमजलसे बनाईहुई तीनधाराओंका मैं क्षेप करता हूं ।

भावार्थः—जितनेभर संसारीजीव हैं उनजीवोंको जिसप्रकार अग्नि अत्यंत संतापको देनेवाली होती है उसीप्रकार जन्म जरा और मरण ये तीन अत्यंत संतापके देनेवाले हैं इसलिये इनतीनोंके विनाशकेलिये श्री जिनेन्द्रभगवानके दोनों चरणोंके अग्रभागकी भूमिमें मैं उत्तम निर्मल जलसे बनाईहुई तीनधाराओंका क्षेप करता हूं अर्थात् तीनवार जलको चढ़ाता हूं ॥ १ ॥ जलम

यद्वद्वचोजिनपतेर्भवतापहारि नाहं सुशीतलमपीह भवामि तद्वत् ।
कर्पूरचंदनमितीव मयार्पितं सत्त्वत्पादपंकजसमाश्रयणं करोति ॥ २ ॥

अर्थः—जिसप्रकार भगवानके वचन समस्तसंसारके संतापके हरण करनेवाले हैं उसीप्रकार अत्यंत शीतल भी मैं संसारके सतापोंका हरण करनेवाला नहीं हूं इसीलिये ऐसा समझकर मेरेद्वारा चढ़ाया हुआ यह कपूरमिलाहुआ चंदन हे भगवन् आपके चरणकमलोंके आश्रयको करता है ।

भावार्थः—यद्यपि संसारमें चंदन भी अत्यंतशीतल पदार्थ है किंतु चंदन अपनेको आपके वचनोंके सामने अत्यंत शीतल नहीं समझता क्योंकि आपके वचनतो संसारसंबंधी समस्तसंतापोंके दूरकरनेवाले हैं किंतु ऐसा चंदन नहीं इसीलिये हे भगवन् मेरेद्वार आपके चरणकमलोंमें चढ़ायाहुआ यह कपूरमिश्रित चंदन आपके चरणकमलोंका आश्रय करता है ॥ २ ॥ चंदनम

राजत्यसौ शुचितराक्षतपुंजराजिर्दत्ताधिकृत्य जिनमक्षतमक्षधूर्तैः ।
वीरस्य नेतरजनस्य तु वीरपट्टो वद्धः शिरस्यतितरां श्रियमातनोति ॥ ३ ॥

अर्थः—इन्द्रियरूपी जो धूर्त उससे नहीं नष्टकिये गये ऐसे जो जिनेन्द्रभगवान हैं उनको आश्रयकर

दीगई अत्यंत निर्मल जो अक्षतोंके पुंजोंकी पंक्ति है वह अत्यंत शोभित होती है सो ठीक ही है क्योंकि जो मनुष्य अत्यंत शूरवीर है उसके मस्तकपर बंधाहुआ ही वीरपट्ट शोभाको प्राप्त होता है डरपोकके मस्तकपर बंधाहुआ शोभाको प्राप्त नहीं होता ।

भावार्थः—जो मनुष्य शूरवीर है उसके शिरपर बंधाहुआ वीरपट्ट जिसप्रकार शोभाको प्राप्तहोता है उसप्रकार डरपोकके शिरपर बंधाहुआ वीरपट्ट शोभाको नहीं प्राप्तहोता उसीप्रकार जो मनुष्य इन्द्रियरूपी धूर्तोंसे अक्षत है अर्थात् जो इन्द्रियोंके वशमें नहीं है उन्हीं मनुष्योंको आश्रयकर दीहुई यह निर्मल अक्षतोंके पुंजोंकी श्रेणि सुशोभित होती है किंतु जो मनुष्य इन्द्रियोंके आधीन है उनमनुष्यकेलिये दीहुई अक्षतोंके पुंजोंकी पंक्ति शोभित नहीं होती जिनेन्द्रदेवने समस्तइन्द्रियोंको वशमें करलिया है इसलिये उनको आश्रयकर दीहुई यह यह अक्षतोंके पुंजोंकी पंक्ति शोभित होती है ॥ ३ ॥ अक्षतम्

साक्षादपुष्पशर एष जिनस्तदेनं संपूजयामि शुचिपुष्पशरैर्मनोज्ञैः ॥
नान्यं तदाश्रयतया किल यन्न तत्र तत्तत्र रम्यमधिकां कुरुते च लक्ष्मीम् ॥

अर्थः—ये जिनेन्द्रभगवान साक्षात् अपुष्पशर हैं अर्थात् मदनकरके रहित हैं इसीलिये मैं इन जिनेन्द्र भगवानका अत्यंत मनोहर ऐसे फूलोंके हारोंसे पूजनकरता हूं किंतु भगवानसे जो अन्य हैं वे मदनकर रहित नहीं है सहित ही हैं इसलिये फूलोंके हारोंसे उनकी पूजा नहीं करता क्योंकि जो चीज जहांपर नहीं होती है वही वहांपर मनोहर समझी जाती है और वह वहांपर अत्यंत शोभाको प्राप्त होती है किंतु जो चीज जहां पर होती है वह वहांपर मनोहर नहीं होती और न वहांपर अत्यंत शोभाको ही धारण करसकती है ।

भावार्थः—यह नियम है कि जो चीजजहांपर नहीं होतीहै वही वहांपर मनोहर समझीजातीहै तथा वही

वहांपर शोभाको प्राप्त होती है किंतु जो चीज जहांपर होती है वह वहांपर मनोहर नहीं समझीजाती और वह वहांपर शोभाको भी प्राप्त नहीं होती । श्रीजिनेन्द्रसे भिन्न जितनेभर देव हैं उनसबके पास पुष्पशर हैं अर्थात् वे सब "मदन सहित" हैं इसलिये उनकी पुष्पोंकी मालाओंसे मैं पूजन नहीं करता क्योंकि उनके चरणोंमें चढ़ाई हुई फूलोंकी माला न मनोहरही समझी जासकती हैं और न वहांपर शोभाको ही प्राप्त होसकती हैं । किंतु श्री जिनेन्द्रभगवान पुष्पशररहित (मदनरहित) हैं इसलिये उनके चरणकमलोंमें चढ़ाईहुई फूलोंकी माला मनोहर होती हैं तथा शोभाको भी प्राप्त होसक्ती हैं इसलिये श्रीजिनेन्द्रदेवका, ही मैं फूलोंकी मालाओंसे पूजन करताहूं ॥ ४ ॥ पुष्पम् ॥

देवोयमिन्द्रियवलं प्रलयं करोति नैवेद्यमिन्द्रियवलप्रदखाद्यमेतत् ।
चित्रं तथापि पुरतः स्थितमर्हतोऽस्य शोभां विभर्ति जगतो नयनोत्सवाय ॥ ५ ॥

अर्थः—यह श्रीजिनेन्द्रदेवतो समस्त इन्द्रियोंके वलको नष्टकरता है और यह नैवेद्य इन्द्रियोंके वलको वढ़ानेवाला है तथा खानेयोग्य है तोभी श्रीअर्हंतभगवानके सामने चढ़ायाहुवा यह नैवेद्य समस्त जगतके नेत्रोंके उत्सवके लिये शोभाको धारण करता है यह आश्चर्य है ।

भावार्थः—संसारमें यह देखनेमें आता है कि जो पुरुष जिसव्यसनका विरोधी होताहै यदि वह व्यसनोंको उत्पन्नकरनेवाली वस्तु उसके सामने रखदी जावे तो उसवस्तुको देखकर वह मनुष्य अवश्यही विकृत होजाता है किंतु भगवानमें यह आश्चर्य है कि नैवेद्य भगवानके सामने रक्खा हुवा भी भगवानको विकृत नहीं करता क्यों कि नैवेद्य इन्द्रियोंके वलको वढ़ानेवाला है तथा सुस्वादु है और भगवान समस्त इन्द्रियोंके वलको प्रलयकरनेवाले हैं इसलिये ऐसा नैवेद्य भगवानके सामने रक्खा हुवा लोगोंके नेत्रोंको उत्सवका करनेवाला है ॥ ५ ॥

आरार्तिकं तरलवन्हिशिखं विभाति स्वच्छे जिनस्य वपुषि प्रतिविम्बितं सत्।
ध्यानानलो मृगयमाण इवावशिष्टं दग्धुं परिभ्रमति कर्मचयं प्रचंडः ॥ ६ ॥

भावार्थः—चंचल है अग्निकी शिखा जिसमें ऐसी तथा श्रीजिनेन्द्रभगवानके स्वच्छशरीरमें प्रतिविम्बितहुई आरती ऐसी मालूम होती है मानो प्रचंडध्यानरूपी अग्नि, बचेहुवे कर्मोंको भस्मकरनेकेलिये जहां-तहां ढूंढती हुई भ्रमण करती है।

भावार्थः—उन्नत शिखाको धारणकरनेवाली जो आरतीकी ज्वाला भगवानके शरीरमें प्रतिविम्बित है वह आरतीकी ज्वाला नहीं है किंतु भगवानकी ध्यानरूपी अग्नि है तथा वह वचेहुवे समस्त अघातियाकर्मों-को नाशकरनेकेलिये ढूंढ़ती फिरती है ऐसी मालूम होती है ॥ ६ ॥

कस्तूरिका रसमयीरिव पत्रवल्लीः कुर्वन् मुखेषु चलनैरिव दिग्बधूनाम्।
हर्षादिव प्रभुजिनाश्रयणेन वातप्रेङ्खद्वपुर्नटति पश्यत धूपधूम्रम् ॥ ७ ॥

अर्थः—दिशारूपी स्त्रियोंके मुखमें कस्तूरीकेरससे वनाईहुई पत्ररचनाके समान पत्ररचनाको करताहुवा प्रभू श्रीजिनेन्द्रभगवानके आश्रयसे, पवनसे कंम्पित है शरीर जिसका ऐसा धूपका धूवा, हर्षसे मानों नृत्यही कररहा है ऐसा मालूम होता है।

भावार्थः—धूपका धूवां सवजगहपर फैल रहा है इससे तो यह मालूम पड़ता है मानोंवह दिशारूपी स्त्रियोंके मुखोंपर कस्तूरीकेरससे रचीहुई पत्ररचनाके समान पत्ररचनाको कररहाहो क्योंकि कस्तूरीके रसका रंग तथा धूवांका रंग एकसाही होता है तथा निकलते समय पवन से कंपित होता है उससे ऐसा मालूम पड़ता है कि वह मानो श्रीजिनेन्द्रके आश्रयके करनेसे हर्षसे नृत्यही कररहा हो ॥ ७ ॥ धूपम् ॥

उच्चैः फलाय परमामृतसंज्ञकाय नानाफलैर्जिनपतिं परिपूजयामि।
तद्भक्तिरेव सकलानि फलानि दत्ते मोहेन तत्तदपि याचत एव लोकः ॥ ८ ॥

अर्थः—सबसे ऊंचे तथा उत्तम अमृत है संज्ञा जिसकी ऐसे उस फलकेलिये अर्थात मोक्षफलकेलिये मैं श्रीजिनेन्द्रभगवानकी भांतिभांतिके अनेक प्रकारके फलोंसे पूजा करताहूं यद्यपि श्रीजिनेन्द्रभगवानकी भक्तिही समस्त फलोंको देनेवाली है तोभी लोक मोहसे फलोंकी याचना करताही है।

भावार्थः—यद्यपि भगवानकी भक्तिमें ही यह सामर्थ्य है कि जो मनुष्य भगवानकी भक्तिको करता है उसको उत्तमोत्तम समस्तप्रकारके फलोंकी प्राप्ति होती है तो भी मनुष्य मोहके वशहोकर फलोंकी याचना करता है उसीप्रकार मुझे भक्ति करनेसे अविनाशी सुखके भंडार मोक्षरूपी सुखकी प्राप्ति होसकती है तोभी मैं मोहके वशहोकर उसमोक्षरूप फलकी प्राप्तिके लिये श्रीजिनेन्द्रभगवानकी नानाप्रकारके फलोंको चढ़ाकर पूजाकरताहूं ॥ ८ ॥ फलम् ॥

पूजाविधिं विधिवदत्र विधाय देवे स्तोत्रं च संमदरसाश्रितचित्तवृत्तिः।
पुष्पाञ्जलिं विमलकेवललोचनाय यच्छामि सर्वजनशांतिकराय तस्मै ॥ ९ ॥

अर्थः—श्रेष्ठ जो हर्ष वहीहुवा रस उससे आश्रित है चित्तकी वृत्ति जिसकी ऐसा मैं (पूजक) शास्त्रानुसार भगवानकी भलीभाति पूजाको करके तथा भलीभांति स्तोत्रको भी पढ़करके निर्मल केवल ज्ञानरूपीनेत्रके धारण करनेवाले और समस्तजीवोंको शांतिके देनेवाले उनश्री जिनेन्द्रभगवानके लिये पुष्पोंकी अंजलिको समर्पण करता हूं ॥ ९ ॥ पुष्पांजलिः ॥

श्रीपद्मनंदितगुणौघ न कार्यमस्ति पूजादिना यदपि ते कृतकृत्यतायाः।

स्वश्रेयसे तदपि तत्कुरुते जनोऽर्हन् कार्या कृषिः फलकृते नतु भूपकृत्यै ॥ १० ॥

अर्थः—श्री पद्मनंदि आचार्यद्वारा गान कियागया है गुणोंका समूह जिनका ऐसे हेअर्हन् हे वीतराग यद्यपि आप कृतकृत्य हैं इसलिये उस कृतकृत्यपनेरूपहेतुसे आपको पुजा आदिकसे कुछभी कार्य नहीं है तोभी लोक अपने कल्याणकेलिये ही आपकी पूजाकरता है क्योंकि खेती अपने कल्याणोंकी प्राप्तिकेलिये ही की जाती है किंतु राजाके कामकेलिये नहीं की जाती ॥

भावार्थः—जिसप्रकार किसानलोग खेतीको अपने ही कल्याणोंकेलिये करते हैं राजाके कल्याणोंकेलिये नहीं उसीप्रकार हे समस्तगुणोंके भंडार श्री जिनेन्द्रदेव जो मनुष्य आपकी पूजाकरते हैं वे अपने कल्याणोंकेलिये ही करते हैं आपके लिये नहीं करते क्योंकि आप समस्तकर्मोंको करचुके हैं इसलिये कृतकृत्य है अतः आपको पूजन आदि कार्यसे किसीप्रकारका कोईभी प्रयोजन नहीं है ॥ १० ॥

इसप्रकार श्रीपद्मनंदिआचार्यद्वारा विरचित श्री पद्मनंदिपंचविंशतिकामें पूजाष्टकनामक अधिकार समाप्तहुवा ॥

अथ करुणाष्टकम् ।

त्रिभुवनगुरो जिनेश्वर परमानंदैककारण कुरुष्व ।
मयि किंकरे त्र करुणां यथा तथा जायते मुक्तिः ॥ १ ॥

अर्थः—हे तीनों लोकोकेगुरु, हे कर्मोंके जीतनेवाले महात्माओंके स्वामी, और हे उत्कृष्ट मोक्षरूपी नंदकेदेनेवाले. जिनेन्द्र मुझदासपर ऐसीदया कीजिये जिससे कि मेरी मोक्ष होजावे अर्थात् समस्तपापकर्मोंसे सर्वथा छूटजाऊं ॥ १ ॥

निर्विण्णोहं नितरामर्हन् बहुदुःखया भवस्थित्या ।

अपुनर्भवाय भवहर कुरु करुणामत्र मयि दीने ॥ २ ॥

अर्थः—हे समस्तघातियाकर्मोंको जीतनेवाले अर्हतभगवान, अनेकप्रकारके दुःखोंको देनेवाली ऐसी जो संसारकी स्थिति है उससे मैं सर्वथा खिन्न हूं इसलिये हे संसारके नाशकरनेवाले जिनेन्द्र इससंसारमें मुझ दीनपर ऐमी दया कीजिये जिससे मुझे फिरसे जन्म न धारण करनापड़े अर्थात् मैं मुक्त होजाऊं ॥ २ ॥

उद्धर मां पतितमतो विषमाद्भवकूपतः कृपां कृत्वा ।

अर्हन्नलमुद्धरणे त्वमसीतिं पुनः पुनर्वच्मि ॥ ३ ॥

अर्थः—हे प्रभो मैं इसभयंकर संसाररूपी कूवेमें पडाहुवा हूं इसलिये मेरे ऊपर दयाकरके मुझे इससंसाररूपी भयंकर कूवेंसे बाहिर निकालिये क्योंकि हे अर्हन् हे भगवन् इसकूपसे मुझे निकालनेमें आपही समर्थ हैं ऐसा मैं फिर २ से आपकी सेवामें निवेदन करता हूं ॥ ३ ॥

त्वं कारुणिकः स्वामी त्वमेव शरणं जिनेश तेनाहम् ।

मोहरिपुदलितमानः पूत्कारं तव पुरः कुरुते ॥ ४ ॥

अर्थः—हे जिनेश हे प्रभो यदि संसारमें दयावान हैं तो आपही हैं और भव्यजीवोंके शरण हैं तो आप ही हैं इसलिये मोहरूपीबैरीने जिसका मान (अभिमान) नष्टकरदिया है ऐसा मैं आपके सामनेही पूत्कारको करता हूं अर्थात् फुका मार २ कर रोता हूं ॥ ४ ॥

ग्रामपतेरपि करुणा परेण केनाप्युपद्रुते पुंसि ।

जगतां प्रभो न किं तव जिन मयि खलकर्मभिः प्रहते ॥ ५ ॥

॥४६१॥

अर्थः—जो मनुष्य जिसगांवका अध्यक्ष (मुखिया) है यदि उसगांवमें किसीमनुष्यपर कोई अन्य मनुष्य आकर उपद्रवकरै अर्थात् उसको दुःख देवे तो वह ग्रामका मुखिया भी जब उस दुःखितमनुष्यपर करुणा करता है तो हे जिनेन्द्र आपतो तीनोंलोकके प्रभू हैं और मुझै अत्यंत दुष्ट कर्मोंने सतारक्खा है तो क्या आप मेरे ऊपर करुणा न करेंगे ? अवश्य ही दयाकरेंगे ॥ ५ ॥

अपहर मम जन्म दयां कृत्वेत्येकत्र वचसि वक्तव्यों ।
तेनातिदग्ध, इति मे देव वभूव प्रलापित्वम् ॥ ६ ॥

अर्थः—हे प्रभो सबका मूलभुत एकही शब्द कहदेना चाहिये वह एक शब्द यही है कि कृपाकर आप मेरे जन्मको [संसारको] सर्वथा नष्ट करें क्योंकि मैं इसजन्मसे अत्यंतदुःखित हूं इसीलिये यह मेरा आपके सामने प्रलाप हुआ है अर्थात् मैं विलप २ कर रो रहा हूं ॥ ६ ॥

तव जिन चरणाब्जयुगं करुणामृतसंगशीतलं यावत् ।
संसारातपतप्तः करोमि हृदि तावदेव सुखी ॥ ७ ॥

अर्थः—हे प्रभो हे जिनेन्द्र संसाररूपी आतपसे संतप्तहुआ मैं जबतक दयारूपी जलके संगसैं अत्यन्त शीतल ऐसे आपके दोनों चरणकमलोंको हृदयमें धारणकरता हूं तभीतक मैं सुखी हूं ।

भावार्थः—जिसप्रकार कोई मनुष्य धूपके संतापसे अत्यंत संतप्त होवे तथा उससमय पानीके संबंधसे अत्यंतशीतल ऐसे कमलोंको अपने हृदयपर धरे तो जिसप्रकार वह सुखी होता है उसीप्रकार हे प्रभो हे जिनेंद्र मैं भी संसारके प्रखर संतापसे अत्यंत संतप्त हूं इसलिये जबतक मैं दयारूपी जलके संबंधसे अत्यंत शीतल ऐसे आपके दोनों चरणकमलोंको अपने हृदयमें धारणकरता हूं तबतक मैं अत्यंत सुखी रहता हूं ॥ ७ ॥

जगदेकशरण भगवन्नसमश्रीपद्मनन्दितगुणौघ।
किं बहुना कुरु करुणामत्र जने शरणमापन्ने ॥ ८॥

अर्थः—हे समस्तजगतके एकशरण, हे भगवन् आपसे अतिरिक्त जनोंमें नहीं पायेजांय ऐसे श्रीपद्मनंदि नामक आचार्यद्वारा गानकिये गुणोंके समूहको धारणकरनेवाले हे जिनेश हे प्रभो अब मैं विशेष कहांतक कहूं बस यही प्रार्थना है कि इस शरणमें आयेहुवे जनपर अर्थात् मुझपर आप इससंसारमें दया करें ॥ ८॥

इति श्रीपद्मनन्दिआचार्यद्वाराविरचित श्रीपद्मनन्दिपञ्चविंशतिकामें करुणाष्टकनामक अधिकार समाप्त हुआ।

क्रियाकांडचूलिकाधिकारः।

शार्दूलविक्रीडित।

सम्यग्दर्शनबोधवृत्तशमताशीलक्षमाद्यैर्घनैः संकेताश्रयवज्जिनेश्वर भवान् सर्वैर्गुणैराश्रितः।
मन्ये त्वय्यवकाशलब्धिरहितैः सर्वेऽत्र लोके वयं संग्राह्या इति गर्वितैः परिहृतो दोषैरशेषैरपि ॥१॥

अर्थः—हे प्रभो हे जिनेश निविड़ जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, शमता, शील और क्षमा आदिक समस्त गुण हैं उन्होंने संकेतके घरके समान आपका आश्रय किया है इसीलिये आपमें जिन्होंनो स्थानको नहीं पाया है और जो समस्त लोकमें हम संग्राह्य (ग्रहणकरने योग्य) हैं इसप्रकारके अभिमानकर संयुक्त हैं ऐसे समस्तदोषोंने, आपको छोड़दिया है ऐसा मालूम होता है ॥

भावार्थः—ग्रंथकार कहते हैं कि हे जिनेन्द्र आपमें जो समस्त गुणही गुण दीखते हैं और दोष एक

नहीं दीखता उसका कारण यही मालूम पड़ता है कि समस्तगुणोंने पहलेसे ही आपसमें सलाहकर आपको स्थान बनालिया और पीछे उनके विरोधी जो दोष हैं उन्होंने आपमें स्थानको नहीं पाया तव उनदोषोंको इसवातका अभिमान उत्पन्न हुआ कि हम समस्त संसारमें फैलेहुवे हैं और समस्त संसारके ग्रहणकरने योग्य हैं यदि एक केवल जिनेन्द्रमें हमको आश्रय नहीं मिला और उन्होंने हमको ग्रहण नहीं किया तो हमारा कोईभी नुक्सान नहीं इसीलिये इसप्रकारके अभिमानसे आपको उन्होंने सर्वथा छोड़ादिया ॥ १ ॥

वसंततिलका ।

यस्त्वामनंतगुणमेकभुवं त्रिलोक्याः स्तौति प्रभूतकवितागुणगर्वितात्मा ।
आरोहति द्रुमशिरः स नरो नभोऽतं गन्तुं जिनेन्द्र मतिविभ्रतो बुधोऽपि ॥ २ ॥

अर्थः—हे जिनेन्द्र आपतो अनन्तेगुणोंके भंडार हैं और तीनोंलोकके एकस्वामी हैं ऐसा समझकर भी यदि प्रचुर जो कविताका गुण उससे जिसकी आत्मा अत्यंत गर्वकर सहित है अर्थात् जो कविताचातुर्यका बड़ाभारी अभिमानी है ऐसा कोई मनुष्य आपकी स्तुति करै तो समझलेना चाहिये कि वह बुद्धिमान भी मनुष्य अपनी बुद्धिके भ्रमसे (मूर्खतासे) आकाशके अंतको प्राप्तहोनेकेलिये वृक्षकी चोटीपर चढ़ता है ऐसा निस्संदेह मालूम होता है ॥

भावार्थः—आकाश अनंत है तथा सवजगहपर व्याप्त है इसलिये सैकड़ों वृक्षोंकी चोटीपर चढ़नेसेभी जिसप्रकार उसका अंत नहीं मिलसकता उसीप्रकार हेजिनेन्द्र आप भी अनंते गुणोंके भंडार हैं और समस्त जगतके स्वामी हैं इसलिये आपका स्तवनकरना भी अत्यंत कठिन है यदि कोई मनुष्य अपनी कवित्वशक्तिका अभिमान रखकर आपकी स्तुति करना चाहै तो वह बुद्धिमान होनेपर भी सर्वथा मूर्ख है ऐसा समझना चाहिये ॥

शक्नोति कर्तुमिह कः स्तवनं समस्तविद्याधिपस्य भवतो विबुधार्चिताङ्घ्रेः ।
तत्रापि तज्जिनपते कुरुते जनो यत्तच्चित्तमध्यगतभक्तिनिवेदनाय ॥ ३ ॥

अर्थः—हे प्रभो आप समस्तविद्याओंके स्वामी हैं और आपके चरणोंकी बड़े २ देव अथवा बड़े २ पंडित आकर पूजन करते हैं इसलिये संसारमें आपकी स्तुतिके करनेकेलिये कोई भी समर्थ नहीं है तो भी हे जिनेन्द्र जो लोग आपकी स्तुति करते हैं वे केवल अपने चित्तमें प्राप्त जो भक्ति उसके निवेदन करनेके लिये ही करते हैं और दूसरा कोई भी कारण नहीं है ॥ ३ ॥

नामापि देव भवतः स्मृतिगोचरत्वं वाग्गोचरत्वमथ येन सुभक्तिभाजा ।
नीतं लभेत स नरो निखिलार्थसिद्धिं साध्वी स्तुतिर्भवतु मा किल कात्र चिंता ॥ ४ ॥

अर्थः—हे जिनेन्द्र हे प्रभो जो आपका भक्त मनुष्य आपके नामको भी स्मरण करता है अथवा आपके नामको वचनद्वारा कहता भी है उस मनुष्यको भी संसारमें समस्त प्रकारकी सिद्धियोंकी प्राप्ति होजाती है तब आपकी उत्तमरीतिसे स्तुतिहो अथवा मतहो कोईभी चिंता नहीं ॥

भावार्थः—जो मनुष्य आपकी स्तुति तथा भक्ति करता है वह किसी न किसी लाभकेलिये ही करता है यदि उसभव्यजीवको आपके नामके स्मरणसे अथवा आपके नामके उच्चारण करनेसे ही समस्त प्रकारकी सिद्धियां प्राप्त होजावें तो चाहै आपकी स्तुति उससे उत्तमरीतिसे हो या न हो कोई चिंता नहीं ॥ ४ ॥

एतावतैव मम पूर्यत एव देव सेवां करोमि भवतश्चरणद्वयस्य ।
अत्रैव जन्मनि परत्र च सर्वकालं न त्वामितः परमहं जिन याचयामि ॥ ५ ॥

[1] यह श्लोक ख. पुस्तकमें नहीं है मालूम होता है लेखककी कृपासे छूटगया है क्योंकि यह श्लोक प्रकरणसे सर्वथा संबंध रखता है ॥

अर्थः—हे जिनेश इसभवमें तथा परभवमें मैं आपके दोनों चरणोंकी सदा काल सेवाकरता रहूं यही मुझे प्राप्ति होवे किंतु मैं इससे अधिक आपसे कुछभी नहीं मांगता ॥ ५ ॥

सर्वागमावगमतः खलु तत्त्वबोधो मोक्षाय वृत्तमपि संप्रति दुर्घटं नः ।
जाड्यात्तथा कृतनुतस्त्वयि भक्तिरेव देवास्ति सैव भवतु क्रमतस्तदर्थम् ॥ ६ ॥

अर्थः—समस्तप्रकारके शास्त्रोंके ज्ञानसे निश्चयसे तत्वोंका ज्ञान होता है और उन्हीं शास्त्रोंसे मोक्षकेलिये सम्यक्चारित्रकी भी प्राप्ति होती है किंतु इस पंचमकालमें हमारेलिये वे दोनों मूर्खताके कारण तथा दुर्गंधिमयशरीरके कारण अत्यंत दुर्घट हैं अर्थात् सहसा प्राप्त नहीं होसकते इसलिये मुझमें जो आपकी भक्ति है वही क्रमसे मोक्षकेलिये होवे ऐसी प्रार्थना है ॥

भावार्थः—यद्यपि मोक्षकेलिये तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति तथा सम्यक्चारित्रकी प्राप्ति शास्त्रोंसे होसकतीहै किन्तु इसपंचमकालमें अज्ञानताकी अधिकतासे तथा असमर्थ और दुर्गंधमय शरीरके कारण न तो तत्त्वज्ञानही हम-सरीखे मनुष्योंको होसकता है और न सम्यक्चारित्रही पलसकता है और मोक्षको चाहते ही हैं इसलिये हे जिनेन्द्र यह विनय पूर्वक प्रार्थना है कि जो मुझमें आपकी भक्ति मौजूद है वही मुझे मोक्षकेलिये होवे ॥६॥

हरति हरतु वृद्धं वार्धकं कायकान्तिं दधति दधतु दूरं मंदतामिन्द्रियाणि ।
भवति भवतु दुःखं जायतां वा विनाशः परमिह जिननाथे भक्तिरेका ममास्तु ॥७॥

अर्थः—वृद्धावस्था समस्तशरीरकी कांतिको नष्ट करती है सो करो तथा समस्तइन्द्रियां बहुतकालतक मंद होजाती हैं सो होवें और संसारमें दुःख होता है सो भी हो, तथा विनाशभी हो किंतु जिनेन्द्रभगवानमें जो मेरी भक्ति है वह सदा रहो ऐसी प्रार्थना है॥

भावार्थः—वृद्धावस्थामें चाहे मेरे समस्तशरीरकी कांति नष्ट हो और मेरी समस्त इन्द्रियांभी शिथिल होवें तथा मुझे दुःखभी भोगना पड़े और मेरा मरणभी होजावे तोभी जो जिनेन्द्रभगवानमें मेरी भक्ति है वह सदा स्थिर रहै यह विनयसे प्रार्थना है ॥ ७ ॥

अस्तु त्रयं मम सुदर्शनबोधवृत्तसंबंधि यांतु च समस्तदुरीहितानि ।
याचे न किञ्चिदपरं भगवन् भवन्तं नाप्राप्तमस्ति किमपीह यतस्त्रिलोक्याम् ॥ ८ ॥

अर्थः—हे प्रभो इस संसारमें सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूपी जो त्रयी है वह मेरे होवे तथा मेरे समस्त पाप नष्ट होजावें बस यही मैं आपसे याचना करताहूं किंतु इससे भिन्न दूसरी वस्तु, मैं नहीं मागता क्योंकि संसारमें इनसे भिन्न ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है जो मुझे प्राप्त न होगई हो ॥

भावार्थः—हे जिनेश मैं इससंसारमें बड़ीसे बड़ी ऋद्धिका धारी देवभी होचुका तथा राजाभी होचुका और भी मैंने अनेक विभूतियां प्राप्त करलीं किंतु अभीतक मुझे सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र की प्राप्ति नहीं हुई है और मेरे पापभी अभी नष्ट नहीं हुवे हैं इसलिये मैं यह आपसे याचना करताहूं कि मुझे इनतीनोंकी प्राप्ति होजावे तथा समस्तकर्म मेरे नष्ट होजावे और इनसे अधिक मैं आपसे कुछभी नहीं मांगता क्योंकि सम्यग्दर्शन आदिसे भिन्न बस्तुका मांगना विना प्रयोजनका है ॥ ८ ॥

वसंततिलका ।

धन्योऽस्मि पुण्यनिलयोस्मि निराकुलोऽस्मि शांतोस्मि नष्टविपदस्मि विदस्मि देव ।
श्रीमज्जिनेन्द्र भवतोऽङ्घ्रियुगं शरण्यं प्राप्तोस्मि चेदहमतीन्द्रियसौख्यकारि ॥ ९ ॥

अर्थः—हे श्री जिनेन्द्र जो सुख अतीन्द्रिय है अर्थात् इन्द्रियोंसे नहीं हो सकता है उससुखके करने-

वाले यदि मुझे संसारमें आपके दोनों चरण प्राप्त होगये तो हे देव मैं अपनेको धन्यहूं पुण्यवान हूं समस्तप्रकारकी आकुलताओंकर रहितहूं शांतहूं तथा सब प्रकारकी आपत्तियोंकर भी रहितहूं और ज्ञानीहूं ऐसा भलीभांति समझता हूं ॥

भावार्थः—हेप्रभो यदि संसारमें जीवोंको अलभ्य हैं तो अतीन्द्रियसुखके करनेवाले आपके चरणकमल ही हैं और जब मुझे उन्हीं की प्राप्ति हो गई तब मैं धन्यहूं, पुण्यवानहूं, निराकुलहूं, शांतहूं, और समस्तप्रकारकी आपत्तियोंकर रहितहूं तथा ज्ञानीहूं ऐसा मैं अपनेको मानताहूं ॥ ९ ॥

रत्नत्रये तपसि पंक्तिविधे च धर्मे मूलोत्तरेषु च गुणेष्वथ गुप्तिकार्ये ।
दर्पात् प्रमादत उतागसि मे प्रवृत्ते मिथ्यास्तु नाथ जिनदेव तव प्रसादात् ॥१०॥

अर्थः—हेप्रभो जिनेश सम्यग्दर्शनादिरत्नत्रयमें, तपमें, दशप्रकारकेधर्ममें, तथा मूलगुण और उत्तरगुणोंमें और तीन प्रकारकी गुप्तियोंमें जो कुछ अभिमानसे अथवा प्रमादसे मुझे अपराध लगाहो सो हे जिनदेव हे नाथ आपके प्रसादसे वह मेरा अपराध सर्वथा मिथ्याहो ऐसी प्रार्थना है ॥१०॥

मनोवचोऽङ्गैः कृतमाङ्गिपीडनं प्रमोदितं कारितमत्र यन्मया ।
प्रमादतो दर्पत एतदाश्रयं तदस्तु मिथ्या जिन दुष्कृतं मम ॥ ११ ॥

अर्थः—हे प्रभो हे जिनेन्द्र प्रमादसे अथवा अभिमानसे जो मैंने मन वचन कायसे जीवोंको पीड़ादी है अथवा दूसरोंसे मैंने दिलवाई है वा जीवोंको पीड़ादेनेवाले दूसरेजीवोंको मैंने अच्छा कहा है इनसे पैदाहुवा वह समस्तपाप मेरा मिथ्या हो ॥ ११ ॥

शार्दूल विक्रीडित।

चिंताद्दुष्परिणामसंततिवशादुन्मार्गगाया गिरः कायात्संवृतिवर्जितादनुचितं कर्मार्जितं यन्मया।
तन्नाशं व्रजतु प्रभो जिनपते त्वत्पादपद्मस्मृतेरेषा मोक्षफलप्रदा किल कथं नास्मिन् समर्था भवेत्॥

अर्थः—हे प्रभो हे जिनेन्द्र चिंतासे खोटे परिणामोंकी संततिसे तथा खोटे मार्गमें गमनकरनेवाली वाणीसे और संवर रहित शरीरसे जो मैंने नानाप्रकारके कर्मोंका उपार्जन किया है वे समस्तकर्म आपके चरणकमलोंके स्पर्शसे सर्वथा नाशको प्राप्त होवे क्योंकि आपके दोनों चरणकमलोंकी जो स्मृति है वह निश्चयसे मोक्षफलके देनेवाली है इसलिये वह पापकर्मोंके नाशकरनेमें क्यों नहीं समर्थ होगी ?॥

भावार्थः—हे जिनेश मैंने खोटे पदार्थोंकी चिंतासे तथा खोटे परिणामोंसे कुत्सितवचनोंसे और संवरकररहित शरीरसे अनेक प्रकारके कर्मोंका संचय किया है किंतु हे जिनेन्द्र अब उनकर्मोंके नाशका उपाय आपके दोनों चरणकमलोंकी स्मृतिही है अतः उससे ये मेरे समस्तपाप नष्ट होजावें क्योंकि आपके दोनों चरणकमलोंकी स्मृतिमें जब जीवोंको मोक्षरूपीफलके देनेकी शक्ति मोजूद है तब क्या वह स्मृति इन पापकर्मोंके नाशमें समर्थ नहीं होसकती है अवश्यही होसकती है॥ १२॥

वसन्ततिलका।

वाणी प्रमाणमिह सर्वविदस्त्रिलोकीसद्मन्यसौ प्रवरदीपशिखासमाना।
स्याद्वादकांतिकलिता नृसुराहिवंद्या कालत्रयप्रकटिताखिलवस्तुतत्त्वा॥ १३॥

अर्थः—जो सर्वज्ञदेवकी बाणी स्याद्वादरूपीकांतिकर संयुक्त है और जिसकी मनुष्य देव नागकुमार सब ही स्तुतिकरते हैं तथा जो तीनोकालोंमें रहनेवाले समस्ततत्त्वोंको प्रकट करनेवाली है अतएव जो तीनलोक-

रूपी धरम उत्कृष्टदीपककी शिखाके समान है वही बाणी प्रमाण है ॥

भावार्थः—जिसप्रकार दीपक कांतिकरसहित होता है और वंदनीय होता है तथा पदार्थोंका प्रकाशकरने
वाला होता है उसीप्रकार जो सर्वज्ञकी वाणी स्याद्वादरूपीकांतिकर सहित है और मनुष्य देव नागकुमार आदि
सबोंसे वंदनीय है तथा तीनोंकालोंमें रहनेवाले समस्तपदार्थोंको प्रकटकरनेवाली है ऐसी वह त्रिलोकरूपी मका-
नमें उत्कृष्टदीपकके समान केवलीकी बाणी ही प्रमाण है ॥ १३ ॥

पृथ्वी ।

क्षमस्व तद्वाणि तज्जिनपतिश्रुतादिस्तुतौ यदूनमभवन्मनोवचनकायवैकल्यतः ।
अनेकभवसंभवैर्जडिमकारणैः कर्मभिः कुतोत्र किल मादृशे जननि तादृशं पाटवम् ॥१४॥

अर्थः—हे मातः सरस्वति मनवचनकायकी विकलतासे जिनेन्द्रभगवानकी स्तुतिमें अथवा शास्त्रकी
स्तुतिमें जो कुछ [मुझसे] हीनता हुई है उसको क्षमाकर । क्योंकि अनेकभवोंमें उत्पन्न हुवे तथा जडताके
कारण जो कर्म हैं उनसे मेरेसमानमनुष्यमें जिनेन्द्रकी तथा शास्त्रआदिकी भलीभांति स्तुतिकरनेमें कहांसे इतनी
चतुरता आसकती है? ॥

भावार्थः—हे मातः अनेकभवोंमें उत्पन्न तथा जडताकेकारण घोर कर्मोंका प्रभाव मेरी आत्माके ऊपर
पडाहुवा है इसलिये जिनेन्द्रभगवानकी स्तुतिमें तथा शास्त्र आदिकी स्तुतिमें जितनी विद्वत्ता होनी चाहिये
उतनीविद्वत्ता मुझमें नहीं है इसलिये मनवचनकायकी विकलतासे जो श्रीजिनेन्द्रकी स्तुतिमें अथवा शास्त्र
आदिकी स्तुतिमें हीनता हुई है उसको हे मातः सरस्वति आप क्षमाकरें ॥ १४ ॥

अनुष्टुप् ।

पल्लवोयं क्रियाकांडकल्पशाखाग्रसंगतः ।
जीयादशेषभव्यानां प्रार्थितार्थिफलप्रदः ॥ १५ ॥

अर्थः—समस्त भव्यजीवोंको अभिलषितफलोंका देनेवाला ऐसा यह क्रियाकांडरूपी कल्पवृक्षका शाखामें लगाहुवा क्रियाकांडचूलिकाधिकाररूपी जो पल्लव है वह सदा इसलोकमें जयवंत रहो ।

भावार्थः—जिसप्रकार कल्पवृक्षकी शाखाके अग्रभागमें लगाहुवा पल्लव जीवोंको अभीष्टफलोंका देनेवाला होता है उसीप्रकार यह क्रियाकांडरूपी कल्पवृक्षकी शाखापर लगाहुवा क्रियाकांडचूलिका नामक अधिकाररूपी पल्लव भी भव्यजीवोंको अभीष्टफलका देनेवाला है इसलिये ऐसा वह पल्लव सदा इसलोकमें जयवंत रहो ॥ १५ ॥

भुजंगप्रयात ।

क्रियाकांडसंबंधिनी चूलिकेयं नरैः पठ्यते यैस्त्रिसन्ध्यं च तेषाम् ।
वपुर्भारती चित्तवैकल्यतो या न पूर्णा क्रिया सापि पूर्णत्वमेति ॥१६॥

अर्थः—जो भव्यजीव इसक्रियाकांड संबंधिनी चूलिकाको तीनोंकाल (प्रातःकाल, मध्यान्हकाल, तथा सायंकाल,) पढ़ता है तथा पढेगा उसभव्यजीवकी जो क्रिया मन वचन कायकी विकलतासे पूर्णनहीं हुई है वह शीघ्रही पूर्ण होजाती है ॥ १६ ॥

पृथ्वी ।

जिनेश्वर नमोस्तु ते त्रिभुवनैकचूडामणे गतोऽस्मि शरणं विभो भवभिया भवंतं प्रति ।
तदाहतिकृते बुधैरकाथि तत्वमेतन्मया श्रितं सुदृढचेतसा भवहरस्त्वमेवात्र यत् ॥१७॥

अर्थः—हे तीनभुवनके चूड़ामणि जिनेन्द्र आपकेलिये नमस्कार हो संसारके भयसे भीतहोकर मैं आपके शरणको प्राप्तहुवा हूं विद्वानलोगोंने जो संसारकी पीड़ाके नाशकरनेकेलिये तत्व कहा है उसका मैंने दृढ़चित्तसे आश्रय करलिया है अर्थात् अपने अंतरंगमें धारणकरलिया है क्योंकि इससंसारमें आपही समस्त संसारके नाशकरनेवाले हो ॥ १७ ॥

वसंततिलका ।

अर्हन् समाश्रितसमस्तनरामरादिभव्याब्जनन्दिवचनांशुरवेस्तवाग्रे ।
मौखर्यमेतदबुधेन मया कृतं यत् तद्भूरिभक्तिरभसस्थितमानसेन ॥ १८ ॥

अर्थः—हे अर्हन् सभामें बैठेहुवे जो समस्त मनुष्य तथा देव आदिक भव्यजीव वे ही हुवे कमल उनको आनंदकेदेनेवाले हैं वचनरूपीकिरण जिनके ऐसे आप जिनदेवसूर्यके सामने जो मुझ अपंडितने वाचालता प्रकटकी है वह अत्यंतगाढ़ जो भक्ति उसमें स्थित मनसेही की है ॥

भावार्थः—इसश्लोकसे आचार्यने अपनी लघुता प्रकटकी है यथा हे जिनेन्द्र जिसप्रकार सूर्यकी किरण कमलोंको आनंदके देनेवाली होती हैं उसीप्रकार आपके वचनरूपी किरणभी समवसरणमें बैठे हुवे समस्त मनुष्य देव आदि भव्यजीवोंको आनंदकी देनेवाली हैं इसलिये आप सूर्यके समान हैं अतः आपके आगे मैं मूर्खहूं आपकी स्तुति करनहीं सकता किन्तु यह जो मैंने कुछ वचनोंसे वाचालता प्रकटकी है वह आपकी भक्तिसे प्रेरित मनसेही की है ॥ १८ ॥

इति श्रीपद्मनंदि आचार्यद्वारा विरचित श्रीपद्मनंदिपञ्चविंशतिकामें
क्रियाकाण्डचूलिका नामक अधिकार समाप्त हुवा ॥

अथैकत्वभवानादशकम्।

अनुष्टुप्।

स्वानुभूत्यैव यद्गम्यं रम्यं यच्चात्मवेदिनाम्।
जल्पे तत्परमज्योतिरवाङ्मानसगोचरम् ॥ १ ॥

अर्थः—जो परमतेज स्वानुभवसेही जानाजाता है और जोपुरुष आत्मस्वरूपके जाननेवाले हैं उनको मनोहर माल्रूम पड़ता हैं और जो तेज न वचनके गोचर हैं और न मनका विषयभूत है उस परमतेजका मैं वर्णन करता हूं।

भावार्थः—परमज्योतिसे यहांपर आत्मरूपीतेज लियागया है वह आत्मरूपीतेज अमूर्त है (चैतन्यस्वरूप-है) इसलिये न ता मूर्तवाणीके गोचर हैं और न मनके गोचर है और जो आत्मस्वरूपके जाननेवालोंको अत्यंतमनोहर माल्रूम पड़ता है तथा जो स्वानुभवसेही गम्य है ऐसे उसतेजको मैं वर्णन करताहूं ॥ १ ॥

एकत्वैकपदप्राप्तमात्मतत्वमवैति यः।
आराध्यते स एवान्यैस्तस्याराध्यो न विद्यते ॥२॥

अर्थः—जो भव्यजीव एकत्वस्वरुपको प्राप्त ऐसे आत्मतत्वको जानता है उस पुरुषकी अन्य लोग पूजा आराधना करते हैं किन्तु उसका आराध्य कोई नहीं अर्थात् वह किसी को नहीं पूजता ॥ २ ॥

एकत्वज्ञो बहुभ्योऽपि कर्मभ्यो न विभेति सः
योगी सुनौगतोऽम्भोधिजलेभ्य इव धीरधीः ॥ ३ ॥

अर्थ—जिसप्रकार धीरबुद्धिपुरुष उत्तमनावमें बैठा हुवा समुद्रके जलसे भय नहीं करता है उसीप्रकार

जो योगी एकत्वस्वरूपका जाननेवाला है वह बहुतभी कर्मोंसे अंशमात्रभी भय नहीं करता है ॥ ३ ॥

चैतन्यैकत्वसंवित्तिदुर्लभो सैव मोक्षदा ।
लब्धा कथं कथञ्चिच्चेच्चिंतनीया मुहुर्मुहुः ॥४॥

अर्थः—चैतन्यके एकत्वका जो ज्ञान है वह अत्यंत दुर्लभ है और वह ज्ञानही मोक्षका देने वाला है इसलिये यदि किसी रीतिसे उसचैतन्यका ज्ञान होजावे तो वारंवार उस ज्ञानका चिंतवन करना चाहिये ॥

भावार्थः—जिससमय आत्मा समस्तकर्मोंके संबंधसे रहित एक है इसप्रकार आत्मामें एकत्वका ज्ञान होता है उसीसमय मोक्षकी प्राप्ति होती है क्योंकि मोक्षका कारण चैतन्यके एकत्वका ज्ञानही है किंतु इस चैतन्यके एकत्वका ज्ञान होता बड़ी कठिनतासे है । यदि भाग्यवश चैतन्यके एकत्वका ज्ञान होभी जाय तो विद्वानोंको (मोक्षकी प्राप्तिके अभिलाषियों को) चाहिये कि वे वारंवार इसका चिंतवनकरैं किंतु उसके चिंतवनकरनेमें प्रमाद न करैं ॥ ४ ॥

इसी आशयको लेकर समयसारमें भी कहा है ।

सुदपरिचिदाणुभूदा सव्वस्सवि कामभोगवंधकहा
एयत्तस्सुवलंभो णवरि ण सुलहो विभत्तस्य ॥ ५ ॥

अर्थः—जितनेभर जीव ससारमें मौजूद हैं उनसबने प्रायः काम भोग संबंधी कथातो सुनी है तथा उसका परिचय और अनुभवभी किया है इसलिये कामभोगसंबंधी कथा उनकेलिये सुलभ है किंतु एकत्व और विभक्त आत्माका उनको कभीभी ज्ञान नहीं हुवा है इसलिये केवल उसकी प्राप्ति सुलभ नहीं है इसलिये भव्यजीवोंको चाहिये कि वे एकत्व और विभक्त आत्माकी प्राप्तिकेलिये उद्योग करैं ॥ ५ ॥

मोक्षएव सुखं साक्षात्तच्च साध्यं मुमुक्षुभिः
संसारेऽत्र तु तन्नास्ति यदस्ति खलु तन्न तत् ॥ ६ ॥

अर्थः—साक्षात यदि सुख है तो मोक्षमेंही है और उससुखको मोक्षाभिलाषी ही सिद्ध करसकते हैं इससंसारमें साक्षात सुख नहीं है और जो है भी वह निश्चयसे सुख नहीं दुखही है ॥

भावार्थः—बहुतसे मूर्खमनुष्य इन्द्रियोंसे जायमान सुखको ही साक्षात् सुख समझते हैं किन्तु वह साक्षात सुख नहीं क्योंकि वह अनित्य है तथा परिणाममें दुःखका देनेवाला है किन्तु वास्तविकसुख मोक्षमेंही है क्यों कि वह नित्य है और निर्विकल्प है और उस सुखको जो मनुष्य मोक्षके अभिलाषी हैं वेही सिद्ध कर सकते हैं इसलिये मोक्षाभिलाषियोंको चाहिये कि वे उससुखके लिये पूरा २ प्रयत्न करैं ॥ ६ ॥

किञ्चित्संसारसंवंधि वंधुरं नेति निश्चयात्
गुरूपदेशतोऽस्माकं निःश्रेयसपदं प्रियम् ॥ ७ ॥

अर्थः—संसार संवंधीभी कोई वस्तु निश्चयसे हमको प्रिय नहीं है किन्तु श्रीगुरुके उपदेशसे हमको मोक्षपदही प्रिय है ॥

भावार्थः—अनेक मनुष्य संसारमें स्त्रीः, पुत्र मित्र सुवर्ण आदि पदार्थोंको प्रिय मानते हैं किन्तु वे निश्चयसे हमको प्रिय नहीं हैं क्योंकि वे दुःख के देने वाले हैं यदि एक प्रिय है तो श्रीगुरुके उपदेशसे जिसका स्वरूप जानगया है ऐसा मोक्ष ही प्रिय है ॥ ७ ॥

मोहोदयविषाक्रान्तमपि स्वर्गसुखं चलम् ।
का कथाऽपरसौख्यानामलं भवसुखेन मे ॥ ८ ॥

॥४७५॥

अर्थः—मोहका जो उदय वहीहुवा विष उससे व्याप्त यदि स्वर्गसुखभी संसारमें विनाशीक है तब स्वर्ग से भिन्न जितनेभर सुख हैं उनकी क्या कथा, है अर्थात् वेतो अवश्यही विनाशीक हैं इसलिये मुझै संसार संबंधी सुख नहीं चाहिये ॥

भावार्थः—समस्तमनुष्योंका यह सिद्धांत है कि संसारमें सबसे उत्तम सुख स्वर्गका सुख है किन्तु यह उन मनुष्योंका भ्रम है क्योंकि मोहोदयरूपविषसे व्याप्त वह स्वर्ग सुखभी चलायमान है विनाशीक है और जब स्वर्ग सुख ही चलायमान तथा विनाशीक है तब और सुखतो अवश्यही विनाशीक है इसलिये मुझै संसारके सुखसे कोई प्रयोजन नहीं ॥ ८ ॥

लक्ष्यीकृत्य[1] सदात्मानं शुद्धबोधमयं मुनिः
आस्ते यः सुमतिश्चात्र[2] सोप्यमुत्र चरन्नपि ॥ ९ ॥

अर्थः—श्रेष्ठबुद्धिका धारक जो मुनि इसभवमें निर्मलसम्यग्ज्ञानस्वरूप तथा श्रेष्ठ आत्माको लक्ष्यकर रहता है वह परभवमें गयाहुवा भी इसीप्रकार आत्माको लक्ष्यकर रहता है ।

भावार्थः—आत्मा सम्यग्ज्ञानस्वरूप है तथा अतिश्रेष्ठ है इसलिये जो उत्तम बुद्धिका धारकमुनि इसभव में इसप्रकारके आत्माको लक्ष्यकर रहता है परभवमें गयेहुवे भी उसमुनिका लक्ष्य आत्मामें वैसाही बनारहता है इसलिये मुनियोंको चाहिये कि वे इसीप्रकार आत्मामें लक्ष्यरक्खें ॥ ९ ॥

वीतरागपथे स्वस्थः[3] प्रस्थितो मुनिपुंगवः ।
तस्य मुक्तिसुखप्राप्तेः कः प्रत्यूहो जगत्त्रये ॥१०॥

१ क पुस्तक में " लक्ष्मीकृत्य " यह भी पाठ है ॥ २ ख पुस्तकमें " समितिश्चत्र " यह भी पाठ है ॥ ३ क. पुस्तकमें " स्वच्छ " यह भी पाठ है । ४

अर्थः—अपने आत्मस्वरूपमें तिष्ठनेवाले जिसउत्तममुनिने वीतरागमार्गमें गमनकिया है उस मुनिकी मोक्षकी प्राप्तिमें तीनोंलोकमें कोईभी विघ्न नहीं है॥

भावार्थः—जबतक मुनि वीतराग मार्गमें गमन नहीं करता तबतकतो उसको मोक्षकी प्राप्ति नहीं होस-कती क्योंकि उसकेलिये मोक्षकी प्राप्तिमें बहुतसे विघ्न आकर उपस्थित होजाते हैं किंतु जो मुनि वीतरागमार्ग में गमनकरनेवाले हैं उनको मोक्षसुखकी प्राप्तिमें तीनोंलोकमें किसीप्रकारका विघ्न आकर उपस्थित नहीं होता इसलिये मोक्ष सुखके अभिलाषी मुनियोंको वीतराग मार्गमें ही स्थित रहना चाहिये॥१०॥

इत्येकाग्रमना नित्यं भावयन् भावनापदम्।
मोक्षलक्ष्मीकटाक्षालिमालापद्मश्च जायते॥ ११॥

अर्थः—जो मुनि इसप्रकार एकचित्तहोकर सदा ऐसी भावना करता रहता है वह मुनि मोक्षरूपीजो लक्ष्मी उसके जो कटाक्ष वेही हुवे आलिमाला (भ्रमरसमूह) उसकेलिये कमलके समान होता है॥

भावार्थः—जिसप्रकार कमलपर स्वयं भौंरे आकर बैठजाते हैं उसीप्रकार जो मुनि उपर्युक्तभावनाको करने वाले हैं उनमुनियोंके ऊपर मुग्धहोकर स्वयंमोक्षरूपी लक्ष्मी अपने कटाक्षपातोंको करती है अर्थात् वे मुनि शीघ्रही मोक्षको प्राप्तहोजाते हैं इसलिये मुनियोंको चाहिये कि वे सदा ऐसीही भावना करते रहें॥ ११॥

एतद्धर्मफलं धर्मः स चेदस्ति ममामलः।
आपद्यपि कुतश्चिंता मृत्योरपि कुतो भयम्॥ १२॥

अर्थः—इस मनुष्य भवका फल धर्म है यदि मेरे वह धर्म निर्मल मौजूद हैं तो आपत्तिके आने पर भी मुझै चिंता नहीं और न मुझै मरण से ही भय है॥

भावार्थः—जबतक निर्मल धर्मकी प्राप्ति नहीं होती तबतकतो आपत्ति में चिंता रहती है तथा जन्म मरणसे भी भय रहता है किन्तु यदि इस मनुष्य भवका फल निर्मल धर्म मेरे पास मोजूद है तो नतो मुझे आपत्तिमें किसी प्रकारकी चिंता हो सकती है और न मुझको जन्म मरणसे भी भय हो सकता है ॥१२॥

इति श्रीपद्मनंदिआचार्य द्वारा विरचित श्रीपद्मनंदिपंचविंशतिकामें एकत्वभावना नामक अधिकार समाप्त हुवा ।

अथ परमार्थविंशतिः ।

शार्दूलविक्रीडित ।

मोहद्वेषरतिश्रिता विकृतयो दृष्टाः श्रुताः सेविताः वारम्वारमनंतकालविचरत्सर्वाङ्गिभिः संसृतौ ॥
अद्वैतं पुनरात्मनो भगवतो दुर्लक्ष्यमेकं[1] परं बीजं मोक्षतरोरिदं विजयते भव्यात्मभिर्वंदितम् ॥१॥

अर्थ—संसारमें अनंतकालसे भ्रमण करते हुवे प्राणियोंने मोह द्वेष रागके आश्रित जो विकार हैं उनको देखा है सुना है तथा उनको अनुभव भी किया है किंतु भगवान आत्मा के अद्वैतको न देखा है और न सुना है तथा उसका अनुभव भी नहीं किया है इसलिये कठिनरीतिसे देखने योग्य तथा एक और उत्कृष्ट तथा भव्यजीवोंसे सदा वंदित ऐसा यह भगवान आत्माका अद्वैत इसलोकमें जयवंत है ॥

भावार्थः—मोह राग द्वेष आदिकर्मों का विकार समस्त संसारी प्राणियोंके साधारणरीतिसे पाये जाते हैं इस लिये जो जीव अनंत कालसे संसारमें भ्रमण करने वाले हैं उन्होंने अनेकवार इन मोहविकारोंको देखा है तथा

१ क पुस्तकमें " दुर्लक्षम् " यह भी पाठ है ॥

सुना है और इनका अनुभवभी किया है किंतु अभी तक कर्मोंसे रहित आत्माका अनुभव आदिक नहीं किया है इसलिये दुर्लक्ष्य कठिनरीतिसे देखने योग्य तथा एक उत्कृष्ट और मोक्षरूपी वृक्षका बीज तथा जिसकी भव्य जीव सदा स्तुति करते रहते हैं ऐसा वह आत्माका अद्वैत (कर्म रहित आत्मा) सदा इसलोकमें जयवंत है १ ।

अंतर्बाह्यविकल्पजालरहिता शुद्धैकचिद्रूपिणीं बन्दे तां परमात्मनः प्रणयिनीं कृत्यान्तगां स्वस्थताम् ।
यत्रानंतचतुष्टयामृतसरित्यात्मानमन्तर्गतं न प्राप्नोति जरादिदुस्सहशिखो जन्मोग्रदावानलः ॥२॥

अर्थः—जो स्वस्थता अंतरंग तथा बहिरंग दोनों प्रकारके विकल्पोंकर रहित है तथा शुद्ध एक चैतन्य स्वरूपको धारण करने वाली है और परमात्मासे प्रीति कराने वाली है तथा कृतकृत्य है ऐसी उस स्वस्थता को नमस्कार करता हूं क्योंकि जिस अनंतविज्ञानादि चतुष्टय स्वस्थातारूपीअमृतनदीके मध्यमें रहे हुवे आत्मा को वृद्धावस्था आदि दुस्सह ज्वालाओंको धारण करनेवाली जन्मरूपी भयंकर अग्नि प्राप्त ही नहीं होसकती

भावार्थः—जिसप्रकार उत्तम जलसे भरी हुई नदीके भीतर स्थित पदार्थका भयंकर ज्वाला को धारण करने वाली भयंकरभी अग्नि कुछभी नहीं करसकती उसीप्रकार जिस अनंतचतुष्टयस्वरूपी नदीके मध्यमें प्रविष्ट आत्माका जरा आदि दुस्सह ज्वालाओंको धारणकरनेवाली भी भयंकर जन्मरूपी अग्नि कुछ भी नहीं कर सकती अर्थात् जिस स्वस्थताकी (आत्मस्वरूपके अनुभवपनेकी) प्राप्तिसे आत्मा जन्म मरण आदिकर रहित होजाता है और जो शुद्ध, एक, चैतन्यस्वरूपको धारणकरनेवाली है तथा परमात्मासे स्नेह करानेवाली तथा कृत कृत्य है ऐसी उसस्वस्थताको मैं नमस्कार करताहूं ॥ २ ॥

एकत्वस्थितये मतिर्यदनिशं संजायते मे तयाप्यानंदः परमात्मसंन्निधिगतः किञ्चित्समुन्मीलति ।
कंचित्कालमवाप्य सैव सकलैः शीलैर्गुणैराश्रिता तामानंदकलां विशालविलसद्बोधां करिष्यत्यसौ ॥३॥

अर्थः—जो निरंतर मेरी बुद्धि एकत्वस्थिति की ओर जाती है उससे भी मुझै परमात्म संवन्धी कुछ २ आनंद उत्पन्न होता है यदि वही बुद्धि कुछकालतक समस्तशील आदि उत्तमगुणोंसे सहितहोकर रहेगी तो अवश्यही विशाल तथा देदीप्यमान है ज्ञान जिसमें ऐसी उस आनंदकी कलाको प्राप्त करैगी॥

भावार्थः—जबमुझै एकत्व स्थितिकी ओर बुद्धिके जानेसेही परमात्मासंवन्धी कुछ ज्ञान होता है तब यदि मेरी बुद्धि कुछकालतक शील आदिगुणोंसे विशिष्ट रहेगी तो अवश्यही परमात्माके आनंदको प्राप्त होगी इसमें किसीप्रकारका संशय नहीं॥ ३॥

केनाप्यस्ति न कार्यमाश्रितवता मित्रेण चान्येन वा प्रेमाङ्गेपि न मेस्ति सम्प्रति सुखी तिष्ठाम्यहं केवलः।
संयोगेन यदत्र कष्टमभवत्संसारचक्रे चिरं निर्विण्णः खलु तेन तेन नितरामेकाकिता रोचते॥ ४॥

अर्थः—मेरे आश्रित जो मित्र हैं न तो मुझै उनसे कुछकाम है और न मुझै दूसरेसेभी काम है और मुझै अपने शरीरमेंभी प्रेमनहीं इससमय मैं अकेलाही सुखीहूं क्योंकि मुझै संसाररूपी चक्रसे मित्र आदिके संयोगसे कष्ट हुवाथा इसलिये मैं निश्चयसे उदासीनहूं और मुझै अब एकान्त स्थानही प्रिय है॥

भावार्थः—जवतक मेरा मित्र स्त्री पुत्र आदि परपदार्थोंसे संवन्धरहा तवतक मुझै नानाप्रकारके कष्टों-का सामना करना पड़ा इसलिये अव मुझै उन मित्र तथा स्त्री पुत्र आदिपदार्थोंसे कुछभी काम नहीं हैं किंतु मैं अब सर्वथा उदासीनहूं और मुझै एकांतही अच्छा लगता है॥ ४॥

यो जानाति स एव पश्यति सदा चिद्रूपतां न त्यजेत् सोहं नापरमस्ति किंचिदपि मे तत्वं सदैतत् परम्।
यच्चान्यत्तदशेषकर्मजनितं क्रोधादिकायादि वा श्रुत्वा शास्त्रशतानि सम्प्रति मनस्येतच्छ्रुतं वर्तते॥ ५॥

अर्थः—जो जानता है वही सदा देखता है और जो चैतन्यस्वरूपको नहीं छोड़ता है वह मैंही हूं

तथा अन्यपदार्थ मेरा कुछभी नहीं है और यही समीचीन तत्त्व है । अन्य जो क्रोधादिक तथा शरीर आदिक हैं वे समस्त कर्मोंसे उत्पन्न हुवे हैं इसलिये सैकड़ों शास्त्रोंको सुनकर मनमें यही सिद्धांत स्थित है ॥

भावार्थः—मैंने सैकड़ों शास्त्रोंका अवलोकन किया है इसलिये मेरे मनमें यह सिद्धांत स्थिर होगया है कि जो जानता है वही देखता है और चैतन्यस्वरूपको नहीं छोड़ता है वह मैंही हूं और संसारमें दूसरा कोई भी पदार्थ मेरा नहीं है और ये जो क्रोध आदि तथा शरीर आदिक कार्य हैं वे समस्त कर्मोंसे पैदाहुवे हैं ॥५॥

हीनं संहननं परीषहसहं नाभूदिदं साम्प्रतं काले दुःखमसंज्ञकेऽत्र यदपि प्रायो न तीव्रं तपः ।
कश्चिन्नातिशयस्तथापि यदसावार्त हि दुष्कर्मणामंतः शुद्धचिदात्मगुप्तमनसः सर्वं परं तेन किम् ॥६॥

अर्थः—दुःखम है नाम जिसका ऐसे इसपंचमकालमें संहनन हीन होता है इसीलिये इससमय वह संहन परीषहोंका सहनेवालाभी नहीं होता है और प्रायकरके तीव्र तपभी नहीं होसकता है तथा किसीप्रकारका अतिशयभी नहीं होता तोभी मैं दुष्कर्मोंसे पीड़ितहूं इसलिये अंतरंगमें शुद्ध जो चैतन्य स्वरूप उससे गुप्त मनके धारी मुझसे समस्तपदार्थ पर हैं मुझे उन परपदार्थोंसे क्या प्रयोजन है ? ॥

भावार्थः—जिससमय चतुर्थकालकी प्रवृत्ति थी उससमय संहनन उत्तम था और वह संहनन समस्तपरीषहोंका सहन करनेवालाथा और उससमय घोर तप भी धारण किया जा सकता था तथा अनेकप्रकारके अतिशयभी प्रकट होते थे इसलिये उससमय दुष्कर्मोंकी पीड़ाका भय नहीं था किंतु इसपंचमकालमें न तो उत्तम संहन है और इसीलिये वह संहनन परीषहोंके सहनकरनेमें समर्थ नहीं । और इसकालमें घोरतपभी धारण नहीं कियाजाता है तथा किसीप्रकारका अतिशय भी प्रकट नहीं होता और दुष्कर्म दुःख वरावर देते ही हैं इसलिये

क. पुस्तकमें " कार्यादिवा " यह भी है।

अंतरंगमें शुद्ध ऐसे चैतन्यस्वरूपसे गुप्त मनको धारणकरनेवाले मुझसे समस्तपदार्थ पर हैं तथा उनसे मुझे किसीप्रकारका प्रयोजन नहीं है यही मुझे विचारना चाहिये ॥ ६ ॥

सद्दग्बोधमयं विहाय परमानंदस्वरूपं परं ज्योतिर्वान्यदहं विचित्रविलसत्कर्मैकतायामपि ।
कार्ष्ण्ये कृष्णपदार्थसन्निधिवशाज्जाते मणौ स्फाटिके यत्तस्मात्पृथगेव स द्वयकृतो लोके विकारो भवेत् ॥७॥

अर्थः—नानाप्रकारके विद्यमान जो कर्म उनकी एकता होने परभी मैं सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान स्वरूप और परमानंद स्वरूप तथा उत्कृष्टतेजके धारी आत्माको छोड़कर भिन्न नहीं हूं अर्थात् आत्मस्वरूपही हूं क्योंकि काले पदार्थके संवन्धसे स्फटिकमणिके काले होनेपरभी वह कृष्णता उससे भिन्नही है और विकार जो संसारमें होता है वह दो पदार्थोंद्वारा किया हुवाही होता है ॥

भावार्थः—जिसप्रकार अत्यंत निर्मल स्फटिकमणिके पास कोई चीज कालेवर्णकी रखदीजावे तो यद्यपि उसकाले पदार्थके संबंधसे स्फटिकमणि काली होजाती है तोभी वह कालिमा उस स्फटिकमणिसे भिन्न ही है उसका स्वरूप नहीं। किंतु उसका स्वच्छता आदिकही स्वरूप है उसीप्रकार यद्यपि कर्म तथा आत्मा नीरक्षीरके समान अभिन्न मालूम पड़ते हैं तो भी मैं सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञानस्वरूप तथा परमानंदस्वरूप और उत्कृष्टतेजके धारी आत्मासे, भिन्न नहीं हूं किंतु उसआत्मस्वरूपही हूं ॥ ७ ॥

इसी आशयको लेकर समयसारमें भी कहा है ।

वर्णाद्या वा रागमोहादयो वा भिन्ना भावा सर्व एवास्य पुंसः ।
तेनैवान्तस्तत्वतः पश्यतोऽमी नो दृष्टाःस्यु दृष्टमेकं परं स्यात् ॥ ८ ॥

अर्थः—इसपुरुषके रूप, रस, गंध आदिक तथा राग, द्वेष मोह आदिक जितनेभर भाव हैं समस्तभिन्न

हैं इसलिये जो पुरुष अंतरंग तत्त्वका देखनेवाला है उसके दृष्टिगोचर ये कोई भाव नहीं होते किंतु उसके दृष्टि गोचर वह प्रधान तेज ही होता है ॥ ८ ॥

आपत्सापि यतेः परेण सह यः संगो भवेत् केनचित् सापत्सुष्ठु गरीयसी पुनरहो यः श्रीमतां संगमः।
यत्तु श्रीमदमद्यपानविकलैरुत्तानितास्यैर्नृपैः सम्पर्कः सुमुमुक्षुचेतसि सदा मृत्योरपि क्लेशकृत्॥ ९॥

अर्थः—यतीका किसी दूसरे पदार्थके साथ जो संयोग होता है वह एकप्रकारकी आपत्ति है और उसी यतिका श्रीमानोंके साथ संगम होजावे तो बड़ीभारी आपत्ति है और जो पुरुष लक्ष्मीके मदरूपी मदिरासे मत्त होरहे हैं और जिनके मुख ऊंचेको हैं ऐसे राजाओंके साथ संबंध होजावे तो वह संबन्ध मोक्षाभिलाषीके चित्त-में मरणसे भी अधिक दुःखका देनेवाला है॥

भावार्थः—यहबात अनुभव सिद्ध है कि मनुष्योंको जो कुछ कष्ट होते हैं वे परके संबंधसेही होते हैं और यतियोंका यतिपना तो परके संबंधसे रहित होनेसेही होता है क्योंकि यदि यतियोंका सामान्यलोगोंके साथ भी संबंध होतो उनको दुःख भोगना पड़ता है और यदि उन्हीं यतीश्वरोंका श्रीमानमनुष्योंके साथ संबंध होजावे तो उनको घोर आपत्तिका सामना करना पड़ता है और जिसप्रकार मदिराके पानसे मनुष्य मत्त होजाता है और उन्नत मुख होजाता है उसीप्रकार जो राजा, लक्ष्मीका जो घमंड वही हुवा मद्य उसके पीनेसे मत्त हैं और जिनके मुख ऊपरको चढ़ेहुवे हैं ऐसे राजाओंके साथ उन मोक्षाभिलाषी यतियोंका संबंध होजावे तो उन यतियोंके चित्तमें वह संबन्ध मरणसे अधिकभी वेदनाका करनेवाला होता है इसलिये जो मुनि मोक्षाभिलाषी हैं उनको संसारमें किसीके साथ संबन्ध नहीं रखना चाहिये किंतु अपने आत्मस्वरूपकाही चिंतवन करना चाहिये॥९॥

स्निग्धा मा मुनयो भवंतु गृहिणो यच्छन्तु मा भोजनं मा किञ्चिद्धनमस्तु मा वपुरिदं रुग्वर्जितं जायताम्।

नग्नं मामवलोक्य निन्दतु जनस्तत्रापि खेदो न मे नित्यानंदपदप्रदं गुरुवचो जागर्ति चेच्चेतसि ॥१०॥

अर्थः—सदा आनंदस्थानको देनेवाला ऐसा श्रीगुरुका वचन यदि मेरे चित्तमें प्रकाशमान है तो चाहैं मुनिगण मेरे ऊपर प्रीति मति करो और भलेही गृहस्थ लोग मुझै भोजन मत दो और मेरेपास धनभी चाहैं कुछ न हो और मेरा शरीर भी भलेही रोगकर रहित मत हो और लोग मुझै नग्नदेखकर चाहैं मेरी निन्दाभी करो तोभी मुझै किसीप्रकारका खेद नहीं॥

भावार्थः—जिससमय मेरे मनमें सदा आनंदका देनेवाला गुरूका वचन प्रकाशमान न हो। उससमय यदि मुनिगण मेरे ऊपर प्रीति न करैं, तथा श्रावक लोग मुझै भोजन न देवे, और मेरे पास धन न होवे तथा शरीरभी नीरोग न होवे तथा मुझै नग्न देखकर लोग मेरी निन्दा करैं तो मुझै खेद होसकता है किंतु यदि मेरे मनमें श्रीगुरूका उपदेश विराजमान है तो मुझै उपर्युक्त कोईभी वात खेदके करनेवाली नहीं होसकती क्यों-कि श्रीगुरूका उपदेश सदा आनंदस्थानका देनेवाला है ॥१०॥

दुःखव्यालसमाकुले भववने हिंसादिदोषद्रुमे नित्यं दुर्गतिपल्लिपातिकुपथे भ्राम्यन्ति सर्वेऽगिनः।
तन्मध्ये सुगुरुप्रकाशितपथे प्रारब्धयानो जनो यात्यानंदकरं परं स्थिरतरं निर्वाणमेकं पदम् ॥ ११ ॥

अर्थः—जो संसाररूपीवन नानाप्रकारके दुःखरूपी जो हस्ती अथवा अजगर उनसे व्यास है और जिसमें हिंसा असत्य चोरी आदिकदोषरूपी वृक्ष मौजूद हैं और जो संसाररूपीवन दुर्गतिरूपी जो भीलोंके स्थान उनकरसहितजो खोटेमार्ग उनकर सहित है ऐसे संसाररूपीवनमें सदा समस्तजीव भ्रमण करते रहते हैं किन्तु उसी संसाररूपीवनमें उत्तम गुरुओंद्वारा प्रकाशितमार्गमें जो मनुष्य गमन करनेवाला है वह मनुष्य समस्तप्रकारके आनंदोंको करनेवाले और उत्कृष्ट तथा निश्चल और अनुपम ऐसे निर्वाण स्थानको अर्थात्

मोक्षस्थानको प्राप्त होता है ॥

भावार्थः—जिसप्रकार वन नानाप्रकारके हस्ती अजगर और वृक्ष तथा भिल्लोंके घरोंकर सहित भयंकर मार्गोंका स्थान होता है और उसीवनमें किसी हितैषीद्वारा बतलाये हुवे मार्गसे जो मनुष्य गमन करता है वह अपने उत्तम अभीष्ठ स्थानपर पहुंच जाता है उसीप्रकार यह संसार भी बन है क्योंकि इसमेंभी नानाप्रकारके दुःखरूपी हस्ती मौजूद हैं और यह हिंसा आदिक दोषरूपी वृक्षोंका स्थान है तथा दुर्गतिरूप भीलोंके घरोंकर सहित है खोटे भयंकर मार्ग इसमें भी हैं इसलिये इसप्रकारके संसाररूपी वनमें जो मनुष्य उत्तमगुरुओंद्वारा प्रकाशितमार्गमें गमन करता है वह मनुष्य कल्याणोंके करनेवाले निश्चल उत्कृष्ट तथा अनुपम निर्वाणपुरको प्राप्त होता है ॥ ११ ॥

यत्सातं यदसातमङ्गिषु भवेत्तत्कर्मकार्यं ततस्तत्कर्मैव तदन्यदात्मन इदं जानंति ये योगिनः ।
ईदृग्भेदविभावनाश्रितधियां तेषां कुतोहं सुखी दुःखी चेति विकल्पकल्मषकला कुर्यात्पदं चेतसि ॥१२॥

अर्थः—जीवोंमें जो सुख तथा दुःख हैं वे समस्तकर्मोंके कार्य हैं इसलिये कर्मही हैं और ये कर्म आत्मासे भिन्न हैं इसबातको जो योगीश्वर जानते हैं उन इसप्रकारकी भेदभावनाके भावनेवाले योगीश्वरोंके मन में, मैं सुखी हूं और मैं दुःखीहूं इसप्रकारकी विकल्प संबन्धी जरासी भी मलिनता कैसे स्थानको प्राप्त करसकती है ?॥

भावार्थः—जबतक योगियोंको इसबातका भलीभांति ज्ञान नहीं होता कि सुख दुःख आदिक जो कार्य हैं वे कर्मोंके कार्य हैं इसलिये कर्मही हैं और आत्मा कर्मोंसे सर्वथा भिन्न हैं तभीतक उनके मनमें मैं सुखी हूं तथा दुःखी हूं इसप्रकारके विकल्प उत्पन्न होते रहते हैं किन्तु जिससमय योगियोंको इसप्रकारका भलीभांति ज्ञान होजाता है कि कर्म तथा उनके सुख दुःख आदिकार्य सर्व आत्मासे भिन्न हैं उससमय उनके

मनमें कर्मीभी मैं सुखी हूं तथा दुःखी हूं इसप्रकारके मलिनविकल्प नहीं होते हैं इसलिये योगियोंको चाहिये कि वे कर्म तथा आत्माके भेदको भलीभांति जानकर मैं सुखी हूं तथा दुःखी हूं इसप्रकारके मलिनविकल्पोंसे सर्वदा विमुक्त रहैं ॥ १२ ॥

**देवं तत्प्रतिमां गुरुं मुनिजनं शास्त्रादि मन्यामहे सर्वं भक्तिपरा वयं व्यवहृतौ मार्गे स्थिता निश्चयात् ।
अस्माकं पुनरेकताश्रयणतो व्यक्तीभवच्चिद्गुणस्फारीभूतमतिप्रबंधमहसामात्मैव तत्त्वं परम् ॥ १३ ॥**

अर्थः—जबतक हम व्यवहारमार्गमें स्थित हैं तभीतक हम भक्तिमें तत्पर होकर देवको देवकीप्रतिमाको गुरूको मुनिजनोंको तथा सर्व शास्त्र आदिको मानते हैं किन्तु निश्चयनयसे तो एकत्वके आश्रयसे प्रगटहुवा जो चैतन्यरूपी गुण उससे प्रगल्भ जो बुद्धि उसबुद्धिसंबन्धी तेजके धारी हमारे केवल एक आत्मा ही उत्कृष्ट तत्त्व है किन्तु इससे भिन्न कोई भी तत्त्व नहीं है ॥

भावार्थः—जबतक हम व्यवहार मार्गमें स्थित है तब तकतो हम भक्तिवशहोकर देवको भी मानते हैं देवकी प्रतिमाको भी नमस्कार करते हैं तथा गुरु और मुनिजनोंको भी मानते हैं शास्त्र आदिकी भी भलीभांति भक्ति करते हैं किन्तु जिससमय हम शुद्ध निश्चय मार्गका अवलंबन करते हैं उससमय आत्माही हमारा उत्कृष्ट तत्त्व है क्योंकि उससमय एकत्वकी भावनासे प्राप्त हुई जो बुद्धिकी प्रौढ़ता उससे देव आदिका कुछभी भेद प्रतीत नहीं होता ॥ १३ ॥

**वर्षं हर्षमपाकरोतु तुदतु स्फीता हिमानी तनुं घर्मः शर्महरोस्तु दंशमशकं क्लेशाय सम्पद्यताम् ।
अन्यैर्वा बहुभिः परीषहभटैरारभ्यतां मे मृतिर्मोक्षं प्रत्युपदेशनिश्चलमतेर्नात्रापि किंचिद्भयम् ॥१४॥**

अर्थः—चाहे वर्षा मेरे हर्षको नष्टकरै औ बढ़ाहुवा जो बरफका समूह वह भलेही मेरे शरीरको पीड़ा-

दे, और सूर्यका आतपभी मेरे कल्याणोंका नाशकरनेवालाहो और डांस मच्छरभी मुझै दुःख देवे, तथा औरभी जो वचेहुवे परीषहरूपी सुभट है उनसेभी भलेही मेरा मरण होजाओ तोभी मुझै इनमें किसीसे कुछभी भयनहीं है क्योंकि मेरी बुद्धि मोक्षके प्रति जो उपदेश उससे निश्चल है ॥

भावार्थः—परिषह आदिके जयसे मोक्ष होता है ऐसे मोक्षके लिये श्रीगुरुद्वारा दियेहुवे उपदेशसे मेरी बुद्धि निश्चल है इसलिये वर्षाकालमें चाहै वर्षा मेरे हर्षका नाशकरो और शरदकालमें चाहै बढ़ेहुवे वरफका समूह मेरे शरीरको दुःखितकरो और उष्णकालमें सूर्यका आतप भलेही मेरे कल्याणों का नष्टकरनेवाला होवे और डांस मच्छर आदिकभी चाहैं मुझै दुःख देवे और दूसरे २ बचेहुवे सुभटोंसेभी चाहैं मेरी मृत्युहोजावे तोभी मुझै इनमेंसे किसीसेभी कुछ भय नहीं है ॥ १४ ॥

चक्षुर्मुख्यहृषीककर्षकमयो ग्रामो मृतो मन्यते चेद्रूपादिकृषिक्षमां वलवता बोधारिणा त्याजितः ः
तच्चिंतां न च सोऽपि सम्प्रति करोत्यात्मा प्रभुःशक्तिमान् यत्किञ्चिद्भवतितात्र तेन च भवोप्यालोक्यते नष्टवत्

अर्थः—आत्मा सर्वशक्तिशाली प्रभु है इसलिये यह, यद्यपि सम्यग्ज्ञानका वैरी जो ज्ञानवरणकर्म (अथवा मोह) है उसके द्वारा, नेत्र है प्रधान जिन्होंमें ऐसी जो इन्द्रियां उनइन्द्रियरूपीकिसानोंसे बनाहुवा (इन्द्रियरूपीकिसानस्वरूप) जो ग्राम उसको मराहुवा मानता है तथा उन इन्द्रियरूपी किसानोंकी जो रूपादि खेती उसकी जो जमीन उससे रहित भी मानता है तोभी उन इन्द्रियोंकी तथा इन्द्रियोंके विषयोंकी कुछभी चिंता नहीं करता क्योंकि वह समझताहै कि जो कुछ होनेवालाहै वह तो होगा ही इसलिये वह समस्तजगतको सर्वथा नष्टसा ही समझता है ।

भावार्थः—जिसप्रकार सर्वशक्तिमान राजा किसी वैरीद्वारा उजड़ेहुवे अपने गांवको तथा जमीनको

देखकर कुछभी चिन्ता नहीं करता उसीप्रकार सर्वशक्तिशाली यह आत्माभी ज्ञानावरणादिद्वारा नेत्रादि इन्द्रियोंको नष्ट मानता है तथा रूपादिसे रहितभी मानता है तो भी उनकी चिंता नहीं करता क्योंकि वह भलीभांति जानता है कि जो कुछ होनेवाला है वहतो नियमसे होताही है इसलिये वह समस्तजगतको नष्ट ही सदा समझता रहता है ॥ १५ ॥

कर्मक्षत्युपशांतिकारणवशात्सद्देशनाया गुरोरात्मैकत्वविशुद्धबोधनिलयो निश्शेषसंगोज्झितः ।
शश्वत्तद्गतभावनाश्रितमना लोके वसन् संयमी नावद्येन स लिप्यतेऽब्जदलवत्तोयेन पद्माकरे ॥१६॥

अर्थः—कर्मोंके क्षयसे तथा कर्मोंके उपशमसे अथवा गुरुके उत्तम उपदेशसे जो संयमी आत्माके एकत्वसे निर्मलज्ञानका स्थान है तथा समस्तप्रकारके परिग्रहोंसे रहितहै और निरन्तर जिसका मन आत्मसम्बन्धी भावनाकर सहित है ऐसा वह संयमी संसारमें रहता हुवाभी जिसप्रकार सरोवरमें कमलका पत्ता जलसे लिप्त नहीं होता उसीप्रकार अंशमात्रभी पापोंसे लिप्त नहीं होता ।

भावार्थः—चाहै कमलकापत्ता कितनेभी अगाधपानीमें क्यों न पड़ाहो तोभी वह जराभी पानीसे लिप्त नहीं होता उसीप्रकार जिस संयमीका मन कर्मोंके उपशमसे अथवा कर्मोंके सर्वथा क्षयसे वा गुरुके उत्तम उपदेशसे आत्माके एकत्वसम्बन्धी निर्मलज्ञानका धारक है और समस्तप्रकारकी परिग्रहोंसे रहित है और जिसका चित्त सदा आत्मसम्बन्धी एकत्व भावनाकरसहित है वह संयमी यद्यपि संसारमें भी मौजूद है तथापि समस्तप्रकारके पापोंसे अलिप्तही है अर्थात उसकी आत्माके साथ किसीप्रकारके कर्मोंका सम्बन्ध नहीं ॥ १६ ॥

गुर्वंघ्रिद्वयदत्तमुक्तिपदवीप्राप्त्यर्थनिर्ग्रंथता जातानन्दवशान्ममैन्द्रियसुखं दुःखं मनो मन्यते ।
सुस्वादुः प्रतिभासते किल खलस्तावत्समासादितो यावन्नो सितशर्करातिमधुरा सन्तर्पिणी लभ्यते ॥१७॥

अर्थः—गुरुके जो दोनों चरण उनसे दी हुई जो मोक्षपदवी उसकी प्राप्तिके लिये जो निर्ग्रंथता उससे

नहीं होती तभीतक खल अत्यंत मिष्ट मालूम पड़ती है ॥

भावार्थः—जब तक स्वच्छ अत्यंतमिष्ट तथा तृप्तिकी करनेवाली सक्कर की प्राप्ति नहीं होती तभीतक मनुष्यको खल अत्यंत मिष्ट मालूम पड़ती है किन्तु जिससमय उत्तम मिष्ट शक्कर की प्राप्ति होजाती है उससमय वह खल जराभी मिष्ट नहीं मालूम होती उसीप्रकार जबतक जीवोंको गुरूके दोनोंचरणोंसे प्रदत्त जो मोक्षरूपी पदवी उसकी प्राप्तिकेलिये जो निर्ग्रंथता उससे उत्पन्नहुवा जो आनंद उसका अनुभव नहीं होता तभीतक उनको इन्द्रियोंसे उत्पन्न हुवा सुख, सुख मालूम पडता है किंतु जिससमय उस आनंदका अनुभव होजाता है उससमय इन्द्रियोंसे उत्पन्न हुवा सुख, सुख नहीं प्रतीत होता किंतु वह दुःखही प्रतीत होता है मुझे उसप्रकारके वचनागोचर आनंदका अनुभव है इसलिये मुझै इन्द्रियोंसे जायमान सुख, दुःख ही है ऐसा सर्वथा मालूम पड़ता है ॥ १६ ॥

निर्ग्रन्थत्वमुदा ममोज्वलतरध्यानाश्रितस्फीतया दुर्ध्यानाक्षसुखं पुनः स्मृतिपथप्रस्थाय्यपि स्यात्कुतः ।
निर्गत्योद्गतवातबोधितशिखिज्वालाकरालाद्गृहाच्छीतां प्राप्य च वापिकां विशति कस्तत्रैव धीमान्नरः ॥

अर्थः—अत्यंत निर्मल जो ध्यान उसके आश्रयसे अत्यंत वृद्धिगत निर्ग्रंथतासे पैदाहुवा यदि हर्ष मेरे मौजूद है तो मुझै खोटेध्यानसे उत्पन्नहुवा जो इन्द्रियसंबंधी सुख उसका कैसे स्मरण होसकता है ? क्योंकि ऐसा कौन बुद्धिमान पुरुष है जो चलती हुई जो पवन उससे जाज्वल्यमान जो अग्निकी ज्वाला उससे अत्यंत भयंकर ऐसे घरसे निकलकर और अत्यंत शीत ऐसी बावड़ी को पाकर फिर उसी जाज्वल्यमान

अग्निसे भयंकर घरमें प्रवेश करेगा ?

भावार्थः—अत्यंत उत्कृष्ट जो पवन उससे जाज्वल्यमान जो अग्निकी ज्वाला उससे भयंकर घरसे निकलकर तथा अत्यंत निर्मल जलसे भरीहुई बावड़ी को पाकर जिसप्रकार बुद्धिमान पुरुष फिरसे उस जाज्वल्यमान अग्निसे भयंकर मकानमें प्रवेश नहीं करता। उसीप्रकार यदि मुझमें अत्यन्त निर्मल जो ध्यान उसके आश्रयसे अत्यंत बढ़ाहुवा ऐसा निर्ग्रंथतासे उत्पन्न हुवा आनंद मौजूद है तो मुझै खोटे ध्यानसे उत्पन्न हुवा जो इन्द्रिय संबंधी सुख उसका स्मरण नहीं होसकता है अर्थात् इन्द्रियोंसे उत्पन्नहुवे सुखको मैं सुख नहीं मान सकता ॥ १७ ॥

जायेतोद्गतमोहतोऽभिलषिता मोक्षेपि सा सिद्धिहृत् तद्भूतार्थपरिग्रहो भवति किं क्वापि स्पृहालुर्मुनिः।
इत्यालोचनसंगतैकमनसा शुद्धात्मसंबन्धिना तत्त्वज्ञानपरायणेन सततं स्थातव्यमग्राहिणा ॥ १८ ॥

अर्थः—यदि उत्पन्नहुवे मोहसे मोक्षमें भी अभिलाषा की जाय तो वह इच्छा मोक्षके नाशकरनेवाली ही होती है इसलिये जो शुद्धनिश्चयनयका आश्रय करनेवाला है वह कहीं भी कैसी भी इच्छा नहीं करता इसलिये जिसमुनिका मन आलोचनाकर सहित है और जो शुद्ध आत्मासे संबंध रखनेवाला है और तत्त्वोंके ज्ञानमें दत्तचित्त है उसमुनिको चाहिये कि वह समस्तप्रकारकी परिग्रहोंसे रहित ही रहै ॥

भावार्थः—समस्तकर्म तथा कर्मोंके कार्योंका जिससमय सर्वथा नाश होजाता है उसीसमय मोक्षकी प्राप्ति होती है। इच्छा मोहसे उत्पन्न होती है इसलिये वह कर्मका कार्यहोनेपरभी कर्मही है इसलिये मोक्षके विषयमें भी किसी मुनि की इच्छा हो जावे तो वह इच्छा मोक्षकी निषेध करनेवाली ही है अतः जो मुनि शुद्धनिश्चय नयके आश्रयकरनेवाले हैं और मोक्षके अभिलाषी हैं वे कदापि किसी पदार्थमें जरा भी इच्छा नहीं करते

हैं इसलिये आचार्यवर उपदेशदेते हैं कि जिन मुनियोंका मन आलोचना करके सहित है तथा जो समस्त कर्मोंसे रहित आत्मासे संबन्ध रखनेवाले हैं अर्थात् कर्मरहित आत्माके ध्यान करनेवाले हैं और जो तत्त्वोंके ज्ञानमें दत्तचित्त हैं उनको चाहिये कि वे सर्वथा समस्तप्रकारके परिग्रहोंसे रहितही रहैं अर्थात् किसीपदार्थमें (ममेदं) यह मेरा है ऐसी बुद्धि कदापि न करैं ॥ १८ ॥

जायंते विरसा रसा विघटते गोष्ठीकथाकौतुकं शीर्यन्ते विषयास्तथा विरमति प्रीतिः शरीरेऽपि च ।
जोषं वागपि धारयत्यविरतानन्दात्मशुद्धात्मनश्चिन्तायमपि यातुमिच्छति समं दोषैर्मनः पंचताम् ॥

अर्थः—सदा आनन्दस्वरूप जो शुद्धात्मा उसके चिंतवन होनेपर रस जो हैं सो विरस होजाते हैं और गोष्ठीमें जो कथाका कौतुहल है वह नष्ट होजाताहै और समस्तविषय नष्ट होजाते हैं तथा शरीरमें भी अंशमात्र भी प्रीति नहीं रहती और बाणी भी जोषको धारणकरलेती है अर्थात् मौनका अवलम्बन करना पड़ता है और समस्तदोषोंके साथ मनभी नष्ट होजाता है ।

भावार्थः—जबतक मनुष्य निरंतर आनन्दस्वरूप परमात्माका विचार नहीं करता तबतक उसको रस प्रिय लगते हैं गोष्ठीकी कथाका कौतुहल भी उत्तमलगता है और तबतक विषय भी नष्ट नहीं होने तथा शरीरमें भी प्रीति बनी रहती है और बाणी भी मौनको धारण नहीं करती तथा समस्तदोष भी मौजूद रहते हैं और मनभी कायम बना रहता है किन्तु जिससमय उस आनन्दस्वरूप परमात्माका विचार आकर उपस्थित होजाता है उससमय रस प्रिय नहीं रहते गोष्ठीमें जो कथाका कौतुहल रहता है वह भी नष्ट होजाता है विषय भी समस्त किनारा करजाते हैं शरीरमें प्रीति भी नहीं रहती और बाणी मौनको धारणकरलेती है और कोई प्रकार का दोषभी नहीं रहता तथा दोषोंके साथ मन भी सर्वथा नष्ट होजाता है ॥ १९ ॥

तत्त्वं वागतिवर्ति शुद्धनयतो यत्सर्वपक्षच्युतं तद्वाच्यं व्यवहारमार्गपतितं शिष्यार्पणे जायते ।
प्रागल्भ्यं न तथापि तत्र विवृतौ बोधो न तादृग्विधस्तेनायं ननु मादृशो जडमतिर्मौनाश्रितास्तिष्ठति ॥

अर्थः—शुद्धनिश्चयनयसे तो तत्त्व वचनके अगोचर है तथा समस्तप्रकारके पक्षोंकर (अपेक्षाओंकर) रहित है किन्तु व्यवहारमार्गमें आयाहुआ वह तत्त्व शिष्योंके बोधकेलिये वाच्य (वचनकेद्वारा कहनेयोग्य) होता है तो भी (ग्रंथकार कहते हैं) कि उसतत्त्वके व्याख्यानके करनेमें न तो मुझमें भलीभांति प्रौढ़ता है और न मुझमें उसके वर्णनकरनेयोग्य ज्ञानही है इसलिये मेरे समान जडबुद्धीपुरुष मौनकोधारणकर ही रहता है

भावार्थः—यद्यपि शुद्धनिश्चयनयसे तत्त्व अवाच्य है तथा समस्तप्रकारकी अपेक्षाओंकर रहित है तो भी वह तत्त्व शिष्योंको बोधकरानेकेलिये व्यवहारसे वाच्य है वचनसे कहा जासकता है इसलिये ग्रंथकार कहते हैं तो भी इसपरमार्थतत्त्वको मैं भलीभांति वर्णन नहीं करसकता क्योंकि उसतत्त्वके वर्णन करनेमें न तो मुझै अपनेमें प्रौढ़ताही प्रतीत होती है और न उतना मुझमें ज्ञानही विद्यमान है इसलिये मैं अब मौनको ही धारण करताहूं ॥१०॥

इसप्रकार श्रीपद्मनन्दि आचार्यद्वारा विरचित श्रीपद्मनन्दिपंचविंशतिकामें परमार्थसंगातिनामक अधिकार समाप्त हुआ ।

अथ शरीराष्टकाधिकारः ।

शार्दूलविक्रीडित ।

दुर्गंधाशुचिधातुभित्तिकलितं संछादितं चर्मणा विण्मूत्रादिभृतं क्षुधादिविलसद्दुःखाखुभिश्छिद्रितम् ।
क्लिष्टं कायकुटीरकं स्वयमपि प्राप्तं जराबन्हिना चेदेतत्तदपि स्थिरं शुचितरं मूढो जनो मन्यते ॥ १ ॥

अर्थः—यह शरीररूपी झोंपड़ा दुर्गंध तथा अपवित्र वीर्य आदि धातुरूपी भीतोंसे बनाहुवा है और चामसे ढकाहुआ है तथा विष्टा मूत्र आदिसे भी भराहुआ है और इसमें क्षुधा आदिक बलवान्‌ दुःखरूपी चूहोंने छेदकररक्खे हैं और यह अत्यंत क्लिष्ट है और इसके चारोओर जरारूपी अग्नि मौजूद है तो भी मूर्खजीव इसको स्थिर तथा अत्यंत पवित्र मानताहै यह बड़े आश्चर्यकी बात है ॥ १ ॥

दुर्गन्धं कृमिकीटजालकलितं नित्यं स्रवद्दूरसं शौचस्नानविधानवारिविहितप्रक्षालनं रुग्भृतम् ।
मानुष्यं वपुराहुरुन्नतधियो नाडीव्रणं भेषजं तत्रान्नं वसनानि पट्टकमहो तत्रापि रागी जनः ॥ २ ॥

अर्थः—दुर्गन्धमय तथा लट और कीड़ाओंके समूहकर व्याप्त और जिसमें चारोओरसे रक्त, पीव, आदि बहरहे हैं और जिसका प्रक्षालन पवित्रजलसे कियाजाता है और जो नानाप्रकारके रोगोंकर व्याप्त है और जिसमें औषधि अन्न और वस्त्ररूपी पट्टी है ऐसे मनुष्यके शरीरको उच्चबुद्धिके धारक मनुष्य नाडीव्रण (घाव) कहते हैं तो भी बड़े आश्चर्यकी बात है ऐसे निकृष्ट शरीरमें भी जीव रागी बनते हैं ।

भावार्थः—जिसप्रकार घाव अत्यंत दुर्गंधमय होता है और नानाप्रकारके लट कीड़े आदिकसे व्याप्त होता है और सदा जिसमें रक्त आदि टपकता रहता है और अत्यंत शुद्धजलसे धोया जाता है तथा जिसके ऊपर औषधि लगाई जाती है तथा पट्टी बांधी जाती है उसीप्रकार यह शरीर भी है क्योंकि यह भी नाना-प्रकारकी दुर्गंधोंसे व्याप्त है तथा इसमें भी नानाप्रकारके कीड़े मौजूद हैं और लोहू पीव आदिक घृणाके करनेवाले रसभी इससे सदा बहते रहते हैं और उत्तमजलसे भी इसका स्नान कराया जाता है तथा नाना-प्रकारके भयंकर रोगोंका भी यह घर है अन्न रूपी औषधि भी इसके उपयोगमें लाई जाती है और वस्त्ररूपी पट्टीभी इसपर बांधी जाती है परन्तु बड़े आश्चर्यकी बात है कि ऐसे निकृष्ट शरीरमें भी मनुष्य राग करता है ?

और इसको खराब नहीं मानता है ॥ २ ॥

नृणामशेषाणि सदैव सर्वथा वपूंषि सर्वाशुचिभांजि निश्चितम्।
ततः क एतेषु बुधः प्रपद्यते शुचित्वमम्बुस्तुतिचंदनादिभिः ॥ ३ ॥

अर्थः—मनुष्योंके समस्तशरीर सदाकाल सवप्रकारसे अपवित्र हैं ऐसा भलीभांति निश्चित है इसलिये संसारमें ऐसा कौनसा बुद्धिमान पुरुष होगा जो इस शरीरको स्नानसे तथा चंदनसे पवित्र करनेका प्रयत्न करैगा।

भावार्थः—यदि मनुष्यका शरीर किसीप्रकारसे तथा किसीकालमें पवित्र होता तवतो स्नानोंसे तथा चंदनोंके लेपसे इसका पवित्र करना मनुष्योंका फलप्रद समझा जाता परंतु यह शरीरतो न किसीप्रकारसे शुद्ध होसकता है और न किसीकालमें पवित्र होसकता है इसलिये जो मनुष्य वास्तविकरीतिसे शरीरकी दशाको जाननेवाले हैं ऐसे वे विद्वानपुरुष कभी भी स्नान तथा चंदनादिके लेपोंसे शरीरको शुद्ध बनानेका प्रयत्न नहीं करते॥३॥

तिक्तेरवाकुफलोपमं वपुरिदं नैवोपभोग्यं नृणां स्याच्चेन्मोहकुजन्मरन्ध्ररहितं शुष्कं तपोधर्मतः।
नांते गौरवितं तदा भवनदीतीरे क्षमं जायते तत्तत्र नियोजितं वरमथासारं सदा सर्वथा ॥ ४ ॥

अर्थः—मनुष्योंका शरीर कड़वी तूमड़ीके समान है इसलिये वह सर्वथा उपयोग करनेके योग्य नहीं है यदि यही शरीर मोह तथा खोटे जन्मरूपी छिद्रोंकर रहित होवे और तपरूपी धूप से सूखा हुवा होवे और अंतरंगमें अभिमान करके सहित न होवे तो यह संसाररूपी नदीसे पारकरनेमें समर्थ हो सकता है इसलिये उस शरीरमें उत्कृष्टभी चंदन आदि लगाना सदा सर्वथा असारही है।

भावार्थः—जिस प्रकार तूंबी कड़वी होनेके कारण उपभोग योग्य नहीं होती और यदि वही तूंबी छिद्र

1 पुस्तक में तिक्तेरवाकु यह भी पाठ है॥

कर रहित होवे तथा धूपसे सूखी हुई होवे और अंतरंगमें भारी न होवे तो नदी के पार होनेमें समर्थ होती है उसी प्रकार यह शरीर भी है क्योंकि यह भी तूंबीके समान कडुवा दुःखका देनेवाला है और यदि यही शरीर मोह तथा खोटे जन्मरूपी छेदोंकर रहित होवे। तपरूपी धूप से सूखा हुवा होवे और अंतरंगमें अभिमान कर सहित न होवे तो अवश्यही यह संसाररूपी नदी के पार होने में समर्थ हो सकता है अन्यथा असार है इसलिये भव्य जीवों को ऐसा ही प्रयत्न करना चाहिये कि जिससे उनका शरीर मोहादि छिद्रोंकर रहित होवे और तप सहित होवे तथा अंतरंगमें अभिमान करके सहित न होवे तभी उनको मोक्षकी प्राप्ति हो सकती है ॥४॥

मालिनी

भवतु भवतु यादृक् तादृगेतद्वपुर्मे हृदि गुरुवचनं चेदस्ति तत्तत्त्वदर्शि ।
त्वरितमसमसारानंदकंदायमाना भवति यदनुभावादक्षया मोक्षलक्ष्मीः ॥

अर्थः—वस्तुके वास्तविकस्वरूपका दिखानेवाला यदि गुरूका वचन मेरे मनमें विद्यमान है तो यह मेरा शरीर जैसारहै वैसारहै कोई चिंता नहीं क्योंकि मनमें विद्यमान उस श्रीगुरूके वचनके अनुभवसे ही बातकी बातमें असाधारण सर्वोत्तम आनंदको देनेवाली तथा अविनाशी मोक्षरूपी लक्ष्मी की प्राप्ति होती है ॥

भावार्थः—यदि मनमें गुरूका वचन विद्यमान न रहै और उससमय शरीर पुण्यकी संचयकरने वाली शुभक्रियाओं में न लगा हो तो उससमय चिंता अवश्य करनी चाहिये और यदि समस्तपदाथाके वास्तविकस्वरूपका प्रकाशकरने वाला गुरूका वचन मनमें विद्यमान है तो शरीर चाहे कैसाभी रहे कोई चिंता नहीं क्योंकि उसगुरुके वचनके अनुभवसे ही दूसरी जगहपर न पायाजाय ऐसी सर्वोत्तम आनंदको देनेवाली तथा अविनाशी मोक्षरूपी लक्ष्मी की प्राप्ति होती है इसलिये जहां तक बने वहां तक भव्यजीवोंको गुरूके

॥४९५॥

वचनमें अवश्यही श्रद्धान रखना चाहिये ॥ ५ ॥

शार्दूलविक्रीडित ।

पर्यन्ते कृमयोऽथ वह्निवशतो भस्मैव मत्स्यादनात् विष्ठा स्यादथवा वपुः परिणतिस्तस्येदृशी जायते ।
नित्यं नैव रसायनादिभिरपि क्षय्येव यत्तत्कृते कः पापं कुरुते बुधोऽत्र भविता कष्टा यतो दुर्गतिः ॥

अर्थः—जिस शरीरकी अवस्था ऐसी होती है कि अंतसमयमें तो लटे पड़जाती हैं अथवा अग्निसे भस्म हो जाता है वा मछली आदिकोंके खानेसे विष्टास्वरूपमें परिणत हो जाता है और नित्य नहीं है तथा अनेक प्रकारकी रसायन आदिक खाने परभी नष्ट हो जाता है उस शरीरकेलिये ऐसा संसारमें कौन बुद्धिमान पुरुष होगा जो पाप करेगा जिस पापसे आगे अनेक प्रकारके दुःखोंको देनेवाली दुर्गति होवेगी ।

भावार्थः—यदि यह शरीर अंत समयमें लट आदि कीड़ोंसे व्याप्त तथा अग्निसे भस्मस्वरूप और मछली आदिके खानेपर विष्टास्वरूप, न होता तथा नित्य और रसायनादिके खानेसे विनाशीक न होता तबतो उस शरीरकेलिये अनेक प्रकारके पापोंका करना कोई खराब नहीं था किंतु यह शरीरतो मरणसमयमें अनेक प्रकारके कीड़ाओंसे व्याप्त हो जाता है तथा अग्निसे जलकर भस्म हो जाता है और जिससमय मछली आदिक जीव इसको खालेते हैं उससमय यह उनकी विष्टास्वरूपमें परिणत हो जाता है तथा नित्यभी यह नहीं है और अनेक प्रकारकी रसायन आदिकोंके खानेपरभी नष्ट होजाता है फिर ऐसा कौनसा बुद्धिमान होगा ? जो इसकेलिये अनेकप्रकारके पापोंको संचय करैगा ? क्योंकि पापोंसे अनेकप्रकारके दुःखोंको देनेवाली दुर्गति की आगामी भवोंमें प्राप्ति होती है ॥ ६ ॥

नो तीर्थं न जलं तदस्ति भुवने नान्यात्किमप्यास्ति तन्निश्शेषाशुचि येन मानववपुः साक्षादिदं शुध्यति ।
आधिव्याधिजरामृतिप्रभृतिभिर्व्याप्तं सदा तत्पुनः शश्वत्तापकरं यथास्य वपुषो नामाप्यसह्यं सताम् ॥

अर्थः—यह मनुष्योंका शरीर अत्यंततो अपवित्र है तथा सदा आधि व्याधि जरा मरण आदिक उपाधियोंसे व्याप्त है और सदा तापकाकरनेवाला है तथा सज्जनपुरुष इसका नाम श्रवणभी नहीं करसकते ऐसा यह मनुष्योंका शरीर है इसलिये इसखराब शरीरके शुद्धकरनेमें न तो कोई उत्तमतीर्थ इससंसारमें है और न कोई इसकी साक्षात् शुद्धिका करनेवाला जलहै तथा इनसे भिन्न और भी वस्तु कोई ऐसी नहीं है जो इसशरीरको वास्तविकरीतिसे शुद्ध करसके—

भावार्थः—बहुतसे भोले मनुष्य इसअत्यत अपवित्र शरीरकी वास्तविकदशाको न जानकर दूसरोंके कहनेसुननेसे प्रयाग आदि तीर्थोंमें गंगाआदि नादियोंमें स्नानकर इसको पवित्र समझलेते हैं तथा कोई २ कूवें आदिके जलको ही गंगा आदिका जलमानकर तथा उसजलसे स्नानकर इसको पवित्र समझलेते हैं तथा कोई कोई तीर्थजलसे भिन्न रज आदि लगाकर ही अपने शरीरको पवित्रमानलेते हैं किन्तु आचार्यवर कहतेहैं कि यह उनमनुष्योंकी बड़ीभारी भूल है क्योंकि यह शरीर इतना अपवित्रहै कि इसकी बराबर संसारमें कोई चीज अपवित्र नहीं तथा यह शरीर अनेकप्रकारकी आधि ज्वर आदिक व्याधि वृद्धावस्था मरण आदि दुःखोंका घर है अर्थात् इसीके संबंधसे मनुष्योंको अनेकप्रकारके आधि व्याधि आदिक सहने पड़ते हैं तथा यह जीवोंको अनेकप्रकारके सतापोंका भी करनेवाला है इसलिये ऐसे निकृष्ट इसशरीरके पवित्र करनेके लिये इससंसारमें नतो कोई तीर्थ है तथा कोई जलभी नहीं है और इनसे भिन्न और भी कोई ऐसी चीज नहीं है जो इसशरीरको पवित्र करसके इसलिये सज्जनोंको चाहिये कि वे प्रयाग आदि तीर्थोंको तथा गंगा

वचनमें अवश्यही श्रद्धान रखना चाहिये ॥ ५ ॥

शार्दूलविक्रीडित।

पर्यन्ते कृमयोऽथ वान्हिवशतो भस्मैव मत्स्यादनात् विष्टा स्यादथवा वपुः परिणतिस्तस्येदृशी जायते।
नित्यं नैव रसायनादिभिरपि क्षय्येव यत्तत्कृते कः पापं कुरुते बुधोऽत्र भविता कष्टा यतो दुर्गतिः॥

अर्थः—जिस शरीरकी अवस्था ऐसी होती है कि अंतसमयमें तो लटे पड़जाती हैं अथवा अग्निसे भस्म हो जाता है वा मछली आदिकोंके खानेसे विष्टास्वरूपमें परिणत हो जाता है और नित्य नहीं है तथा अनेक प्रकारकी रसायन आदिक खाने परभी नष्ट हो जाता है उस शरीकेलिये ऐसा संसारमें कौन बुद्धिमान पुरुष होगा जो पाप करेगा जिस पापसे आगे अनेक प्रकारके दुःखोंको देनेवाली दुर्गति होवेगी।

भावार्थः—यदि यह शरीर अंत समयमें लट आदि कीड़ोंसे व्याप्त तथा अग्निसे भस्मस्वरूप और मछली आदिके खानेपर बिष्टास्वरूप, न होता तथा नित्य और रसायनादिके खानेसे विनाशीक न होता तबतो उस शरीरकेलिये अनेक प्रकारके पापोंका करना कोई खराब नहीं था किंतु यह शरीरतो मरणसमयमें अनेक प्रकारके कीड़ाओंसे व्याप्त हो जाता है तथा अग्निसे जलकर भस्म हो जाता है और जिससमय मछली आदिक जीव इसको खालेते हैं उससमय यह उनकी विष्टास्वरूपमें परिणत हो जाता है तथा नित्यभी यह नहीं है और अनेक प्रकारकी रसायन आदिकोंके खानेपरभी नष्ट होजाता है फिर ऐसा कौनसा बुद्धिमान होगा? जो इसकेलिये अनेकप्रकारके पापोंको संचय करैगा? क्योंकि पापोंसे अनेकप्रकारके दुःखोंको देनेवाली दुर्गति की आगामी भवोंमें प्राप्ति होती है॥ ६॥

रूपी विषका फैलाव फैलगया है। इसलिये ये अत्यंत दुःखी हैं तथा इनकी सम्यग्दर्शन रूपी दृष्टिभी बंद होरही है। इसलिये आचार्यवर इनको उपदेश देते हैं कि हे भव्यजीवो यदि उसविषको नाशकर तुम सुखी होना चाहते हो तो यहकामकरो कि श्रीमान् मुनिपद्मनंदिके (हमारे) मुखरूपी चंद्रमासे निकले हुवे इस स्नानाष्टक रूपी अमृतका पानकरो जिससे तुम सुखी होजावो तथा तुम्हारे ऊपर मोहरूपी सर्पके काटने से उत्पन्न हुवा जो मिथ्यात्वरूपी विष वह सर्वथा नष्ट होजावे ॥

इसप्रकार श्रीपद्मनंदिद्वाराविरचितश्रीपद्मनंदिपर्चविंशतिकानामकग्रंथमें
स्नानाष्टकनामक अधिकार समाप्तहुवा ।

अथ ब्रह्मचर्याष्टकम् ।

भवविवर्धनमेव यतो भवेदधिकदुःखकरं चिरमंगिनाम् ।
इति निजांगनयापि न तन्मतं मतिमतां सुरतं किमतोन्यथा ॥ १ ॥

अर्थः—जिस मैथुनके करनेसे संसारकीही वृद्धि होती है तथा जो मैथुन समस्तजीवोंको अत्यंतदुःखका देनेवाला है इसलिये सज्जनपुरुषोंने उसको अपनी स्त्रीके साथकरना भी ठीक नहीं माना है वे सज्जन दूसरी स्त्रियोंसे अथवा अन्यप्रकारसे उसको कैसे अच्छा मानसकते हैं ?

भावार्थः—मैथुनके करनेसे अनेकप्रकारके कीड़ोंका विघात होताहै तथा विघातसे हिंसाहोती है और हिंसासे कर्मोंका बंध होता है तथा कर्मोंके बंधसे इसपंचपरावर्तनरूप संसारमें घूमना पड़ता है इसलिये मैथुनके करनेसे केवल संसारकी वृद्धि ही है तथा मैथुनके करनेसे मनुष्योंको नानाप्रकारके दुःखोंका सामना करना

पड़ता है इसलिये मैथुन समस्तजीवोंको अधिक दुःखका देनेवाला है ऐसा भलीभांति समझकर जिनसज्जन पुरुषोंने उसमैथुनको अपनी स्त्रीके साथभी करना अनुचित समझा है वे सज्जनपुरुष दूसरीं स्त्रियोंसे तथा अन्य प्रकारसे मैथुन करना कैसे योग्य समझ सकते हैं ॥ १ ॥

पशव एव रते रतमानसा इति बुधैः पशुकर्म तदुच्यते ।
अभिधया ननु सार्थकयानया पशुगतिः पुरतोस्य फलं भवेत् ॥ २ ॥

अर्थः—जो मनुष्य मैथुनकरनेके अत्यंत अभिलाषी हैं वे साक्षात् पशु ही हैं क्योंकि जो वास्तविकरीतिसे पदार्थोंके गुणदोषोंको विचारनेवाले हैं ऐसे बुद्धिमानोंने इसमैथुनको पशुकर्मकहा है सो इसमैथुनको पशुकर्म कहना सर्वथा ठीकही है क्योंकि मैथुनकरनेवाले मनुष्योंको मैथुनकर्मसे आगे पशुगति ही होती है ।

भावार्थः—मैथुनको विद्वानलोगोंने पशुकर्म इसलिये कहाहै कि जिसप्रकार पशुओंका काम हित तथा अहितकर रहित होता है उसीप्रकार इसमैथुनमें भी मनुष्य बिना इसके गुणदोषविचारेही प्रवृत्त होजाता है इसलिये इसप्रकारके मनुष्य जोकि सदा मैथुनकीही इच्छाकरनेवाले हैं और उसमें उत्तरोत्तर अभिलाषाको वढातेही जाते हैं वे साक्षात् पशुही है तथा विद्वानलोगोंने जो इसमैथुनको पशुकर्मसंज्ञादी है सो बिलकुल ठीकही है क्योंकि जो मनुष्य बड़ी लालसापूर्वक इसमैथुनकर्मके करनेवाले हैं उनको आगेभवमें जाकर पशुगति ही मिलती है इसलिये आगे जाकर इसमैथुनकर्मकाफल पशुगतिकी प्राप्ति ही है ॥ २ ॥

यदि भवेदवलासु रतिः शुभा किल निजासु सतामिह सर्वथा ।
किमिति पर्वसु सा परिवर्जिता किमिति वा तपसे सततं बुधैः ॥ ३ ॥

अर्थः—आचार्य कहते हैं कि सज्जनपुरुषोंको यदि अपनी स्त्रियोंके साथ मैथुनकर्मकरना शुभ होता

॥५०८॥

आदिनदियोंके जलोंको और रजआदि दूसरी वस्तुओंको भी इससर्वथा अपवित्र शरीरकी शुद्धिमें कारण न समझे किन्तु इनको उलटे अपवित्र करनेवाले ही समझे ॥ ५ ॥

सर्वैस्तीर्थजलैरपि प्रतिदिनं स्नानं न शुद्धं भवेत् कर्पूरादिविलेपनैरपि सदा लिप्तं च दुर्गंधभृत् ।
यत्नेनापि च रक्षितं क्षयपथप्रस्थायि दुःखप्रदं यत्तस्माद्वपुषः किमन्यदशुभं कष्टं च किं प्राणिनाम् ॥

अर्थः—संसारमें जितने प्रयागआदि तीर्थ हैं। तथा जितनी उनतीर्थोंमें गंगाआदिक विशाल २ नदियां हैं। यदि उनसबनदियोंके जलसे धोयाभी जावे तो भी यह शरीर शुद्ध नहीं होसकता। तथा अत्यंत सुगन्धित कपूर आदि पदार्थोंसे भी यदि इसके ऊपर लेप कियाजावे तौ भी यह सुगन्धयुक्त नहीं होता। किन्तु उल्टा दुर्गंधयुक्त ही होजाता है और इसकी अनेकप्रकारोंसे यदि रक्षाभी की जाय तोभी यह शीघ्रही नष्ट होजाता है। तथा यह शरीर नानाप्रकारके दुःखोंको भी देनेवाला है इसलिये जीवोंको इसशरीरसे अधिक न तो कोई अशुभ है तथा कष्टका देनेवाला भी कोई इससे अधिक नहीं है ॥

भावार्थः—बहुतसे मनुष्य यह समझते हैं कि जलसे स्नान करनेपर यह शरीर शुद्ध होजायगा किन्तु आचार्य इसबातका उपदेश देतेहैं कि अरेभाई थोडेसे जलकी तो क्या बात है यदि समस्ततीर्थोंके जलसे भी इसशरीरको धोयाजावे तोभी यह रंचमात्र भी शुद्ध नहीं होता। तथा बहुतसे यह जानते हैं कि अतर फुलेल कपूर आदिकसे लिप्त करैं तो यह सुगंधियुक्त होजायगा किंतु आचार्य इसबातको पुकार २ कर कहते हैं कि इस दुर्गंधमय शरीरसे चाहैं जितना अतर लगायाजाय। चाहैं जितना फुलेल लगायाजाय और कपूरभी खूब लगायाजाय, तोभी यह शरीर अंशमात्र भी सुगंधित नहीं होसकता किंतु उल्टा और दुर्गंधमयही होता चला-जाता है। तथा बहुतसे मनुष्य यह समझते हैं कि यह हमारा शरीर सदाकाल कायम रहे इसलिये वे इसके

लिये नानाप्रकारके प्रयत्न करते हैं इसकी रक्षाके उपायों को सोचते हैं तोभी जिसप्रकार विजली क्षणमात्रमें चमककर नष्ट होजाती है उसीप्रकार यह शरीर भी क्षणमात्र में नष्ट होजाता है। तथा शरीरसे ही मनुष्योंको इससंसारमें नानाप्रकारके दुःखोंका सामना करना करना पड़ता है इसलिये संसारमें इस शरीरसे अधिक न तो कोई प्राणियोंके लिये अशुभपदार्थ है और न कोई उनको इसशरीरसे अधिक कष्टकाही देनेवाला है इसलिये भव्यजीवोंको चाहिये कि वे न तो इसशरीरको जल आदिसे शुद्ध माने और अत्र फुलेल कपूर आदिसे सुगंधित भी न समझै तथा इसको क्षणभरमें विनाशीक समझकर इसकी रक्षाका भी उपाय न करैं। नहीं तो उनको पीछे जरूरही पछिताना पड़ेगा ॥ ७ ॥

तंभव्या भूरिभवार्जितोदितमहादृङ्मोहसर्पोल्लसन्मिथ्याबोधविषप्रसंगविकला मंदीभवद्दृष्टयः।
श्रीमत्पंकजनंदिवक्त्रशशिभृद्बिंबप्रसूतं परं पीत्वा कर्णपुटैर्भवंतु सुखिनः स्नानाष्टकाख्यामृतम् ॥८॥

अर्थः—अनेक भवोंमें जिसका उपार्जन कियागया है ऐसा जो प्रबल दर्शनमोहरूपी महासर्प उसके काटने से तमाम शरीरमें फैलाहुवा जो मिथ्यात्वरूपी विष उसके संबन्धसे जो अत्यन्त दुःखित हैं तथा जिनका सम्यग्दर्शन मंदहोगया है ऐसे जो मनुष्य हैं वे श्रीमान् पद्मनंदीआचार्यके मुखरूपी चंद्रमासे निकलाहुवा जो यह स्नानाष्टकरूपी अमृत है उसको अपने कानोंसे पीकर सुखी होवें।

भावार्थः—जिससमय किसीमनुष्यको कालानाग काटलेता है उससमय उसको बड़ा दुःख होता है तथा समस्तशरीरमें विषके फैलजानेसे उसमनुष्यकी दृष्टि वंद होजाती है। यदि वही मनुष्य कहींसे अमृतको पाकर पान करजावे तो उसका विष सर्वथा नष्ट होजाता है उसीप्रकार इनजीवोंको भी अत्यंत भयंकर तथा वलवान दर्शन मोहरूपी सर्पने काटलिया है तथा दर्शनमोहरूपी सर्पके काटनेसे इनकी आत्मामें मिथ्यात्व

नो तीर्थं न जलं तदस्ति भुवने नान्यत्किमप्यस्ति तन्निश्शेषाशुचि येन मानववपुः साक्षादिदं शुध्यति ।
आधिव्याधिजरामृतिप्रभृतिभिर्व्याप्तं सदा तत्पुनः शश्वत्तापकरं यथास्य वपुषो नामाप्यसह्यं सताम् ॥

अर्थः—यह मनुष्योंका शरीर अत्यंततो अपवित्र है तथा सदा आधि व्याधि जरा मरण आदिक उपाधियोंसे व्याप्त है और सदा तापकाकरनेवाला है तथा सज्जनपुरुष इसका नाम श्रवणभी नहीं करसकते ऐसा यह मनुष्योंका शरीर है इसलिये इसखराब शरीरके शुद्धकरनेमें न तो कोई उत्तमतीर्थ इससंसारमें है और न कोई इसकी साक्षात् शुद्धिका करनेवाला जलहै तथा इनसे भिन्न और भी वस्तु कोई ऐसी नहीं है जो इसशरीरको वास्तविकरीतिसे शुद्ध करसके—

भावार्थः—बहुतसे भोले मनुष्य इसअत्यंत अपवित्र शरीरकी वास्तविकदशाको न जानकर दूसरोंके कहनेसुननेसे प्रयाग आदि तीर्थोंमें गंगाआदि नदियोंमें स्नानकर इसको पवित्र समझलेते हैं तथा कोई २ कूवें आदिके जलको ही गंगा आदिका जलमानकर तथा उसजलसे स्नानकर इसको पवित्र समझलेते हैं तथा कोई कोई तीर्थजलसे भिन्न रज आदि लगाकर ही अपने शरीरको पवित्रमानलेते हैं किन्तु आचार्यवर कहतेहैं कि यह उनमनुष्योंकी बड़ीभारी भूल है क्योंकि यह शरीर इतना अपवित्रहै कि इसकी बराबर संसारमें कोई चीज अपवित्र नहीं तथा यह शरीर अनेकप्रकारकी आधि ज्वर आदिक व्याधि वृद्धावस्था मरण आदि दुःखोंका घर है अर्थात् इसीके संबंधसे मनुष्योंको अनेकप्रकारके आधि व्याधि आदिक सहने पड़ते हैं तथा यह जीवोंको अनेकप्रकारके संतापोंका भी करनेवाला है इसलिये ऐसे निकृष्ट इसशरीरके पवित्र करनेके लिये इससंसारमें नतो कोई तीर्थ है तथा कोई जलभी नहीं है और इनसे भिन्न और भी कोई ऐसी चीज नहीं है जो इसशरीरको पवित्र करसके इसलिये सज्जनोंको चाहिये कि वे प्रयाग आदि तीर्थोंको तथा गंगा

लिये नानाप्रकारके प्रयत्न करते हैं इसकी रक्षाके उपायों को सोचते हैं तोभी जिसप्रकार विजली क्षणमात्रमें चमककर नष्ट होजाती है उसीप्रकार यह शरीर भी क्षणमात्र में नष्ट होजाता है। तथा शरीरसे ही मनुष्योंको इससंसारमें नानाप्रकारके दुःखोंका सामना करना करना पड़ता है इसलिये संसारमें इस शरीरसे अधिक न तो कोई प्राणियोंके लिये अशुभपदार्थ है और न कोई उनको इसशरीरसे अधिक कष्टकाही देनेवाला है इसलिये भव्यजीवोंको चाहिये कि वे न तो इसशरीरको जल आदिसे शुद्ध माने और अत्र फुलेल कपूर आदिसे सुगंधित भी न समझै तथा इसको क्षणभरमें विनाशीक समझकर इसकी रक्षाका भी उपाय न करैं। नहीं तो उनको पीछे जरूरही पछिताना पड़ेगा ॥ ७ ॥

तंभव्या भूरिभवार्चितोदितमहादृङ्मोहसर्पोल्लसन्मिथ्याबोधविषप्रसंगविकला मंदीभवद्दृष्टयः ।
श्रीमत्पंकजनंदिवक्त्रशशिभृद्बिंबप्रसूतं परं पीत्वा कर्णपुटैर्भवंतु सुखिनः स्नानाष्टकाख्यामृतम् ॥८॥

अर्थः—अनेक भवोंमें जिसका उपार्जन कियागया है ऐसा जो प्रबल दर्शनमोहरूपी महासर्प उसके काटने से तमाम शरीरमें फैलाहुवा जो मिथ्यात्वरूपी विष उसके संबन्धसे जो अत्यन्त दुःखित हैं तथा जिनका सम्यग्दर्शन मंदहोगया है ऐसे जो मनुष्य हैं वे श्रीमान् पद्मनंदीआचार्यके मुखरूपी चंद्रमासे निकलाहुवा जो यह स्नानाष्टकरूपी अमृत है उसको अपने कानोंसे पीकर सुखी होवें ।

भावार्थः—जिससमय किसीमनुष्यको कालानाग काटलेता है उससमय उसको बड़ा दुःख होता है तथा समस्तशरीरमें विषके फैलजानेसे उसमनुष्यकी दृष्टि वंद होजाती है। यदि वही मनुष्य कहींसे अमृतको पाकर पान करजावे तो उसका विष सर्वथा नष्ट होजाता है उसीप्रकार इनजीवोंको भी अत्यंत भयंकर तथा वलवान दर्शन मोहरूपी सर्पने काटलिया है तथा दर्शनमोहरूपी सर्पके काटनेसे इनकी आत्मामें मिथ्यात्व

होता है किंतु यत्किंचित् बाह्य शुद्धिकेलिये ही होता है ॥ २ ॥

चित्ते प्राग्भवकोटिसंचितरजः संबंधिताविर्भवन्मिथ्यात्वादिमलव्यपायजनकः स्नानं विवेकः सताम् ॥
अन्यद्वारिकृतं तु जन्तुनिकरव्यापादनात्पापकृत्, नो धर्मो न पवित्रता खलु ततः काये स्वभावाशुचौ॥

अर्थः—पूर्वभवोंमें उपार्जन कियेहुए जो करोड़ोंपाप उनके संबंधसे प्रकट होतेहुए जो मिथ्यात्वादिक मल उनके नाशको करनेवाला सज्जनोंके चित्तमें जो विवेक है वही स्नान है किंतु इससे भिन्न जो जलसे कियाहुआ स्नान है व अनेकजीवोंके विध्वंस करनेवाला होनेसे पापका ही करनेवाला है क्योंकि स्वभावसे ही अपवित्र इस शरीरमें न तो स्नानसे ही पवित्रता हो सकती है और न धर्म ही हो सकता है।

भावार्थः—शुद्धिका अर्थ निर्मलता है और निर्मलता उसीसमय हो सकती है जिससमय समस्त मलों का नाश हो जावे जलसे कियाहुआ जो स्नान है उससे निर्मलता नहीं होती है किंतु मलोंकी (पापोंकी) ही उत्पत्ति होती है क्योंकि जलस्नानके होनेपर अनेक जीवोंका विध्वंस होता है और उससे पापकी उत्पत्ति होती है। किंतु सज्जनोंके चित्तमें जो हिताहितका विवेक है वही स्नान है क्योंकि वही स्नान सर्वभवोंमें उपार्जन कियेहुए जो करोड़ोंपाप उनपापोंसे उत्पन्नहुआ जो मिथ्यात्व आदिक मल उसमलका सर्वथा नाश करने वाला है इसलिये जो मनुष्य स्नानसे शुद्धि मानते है उनको चित्तमें जो हिताहितका विवेक वह विवेक ही परम-शुद्धिका कारण स्नान है ऐसा भलीभांति समझना चाहिये ॥ ३ ॥

सम्यग्बोधविशुद्धवारिणि लसत्सद्दर्शनोर्मिव्रजे नित्यानंदविशेषशैत्यसुभगे निश्शेषपापद्रुहि ॥
सत्तीर्थे परमात्मनामनि सदा स्नानं कुरुध्वं बुधाः शुद्ध्यर्थं किमु धावत त्रिपथगामालाप्रयासाकुलः ॥

अर्थः—भोभव्यजीवो जिसमें सम्यग्ज्ञानरूपी अत्यंत निर्मलजल मौजूद है तथा जिसमें देदीप्यमान अनेक

तरंगे विद्यमान हैं और सदा आनंदको देनेवाली उत्तम शीतलताकर मनोहर है और जो समस्त पापोंका नाश करनेवाला है ऐसे इस परमात्मा नामक उत्तम तीर्थमें ही सदा स्नान करो अनेक प्रकारके प्रयत्नोंसे व्याकुल होकर क्यों शुद्धताकेलिये प्रयाग आदिक तीर्थोंमें गंगा आदिक नदियोंपर भटकते फिरते हो ।

भावार्थः—बहुतसे भोलेप्राणी शुद्धिके अर्थ स्नानकेलिये प्रयाग आदि तीर्थोंमें गंगा आदि तीर्थोंपर भटकते फिरते हैं किंतु परम करुणाके धारी आचार्य उनपर करुणाकर उपदेश देते हैं कि यदि तुम शुद्धिके लिये तीर्थमें स्नान करनेकी इच्छा रखते हो तो तुम इस परमात्मारूपी उत्तम तीर्थमें ही स्नान करो क्योंकि जिसप्रकार प्रयाग आदि तीर्थोंमें गंगाआदि नदियोंका जल रहता है उसीप्रकार इस परमात्मारूपी तीर्थमें भी सम्यग्ज्ञानरूपी उत्तम पवित्र जल मौजूद है तथा जिसप्रकार प्रयागआदि तीर्थोंमें गंगाआदि नदियोंका जल मनोहर लहरोंकर सहित होता है उसीप्रकार इस परमात्मारूपीतीर्थमें भी सम्यग्दर्शनआदि उत्तम तरंगोंका समूह मौजूद है तथा जिसप्रकार प्रयागआदि तीर्थ गंगाआदि नदियोंके जलसे शीतल रहते हैं उसीप्रकार यह परमात्मारूपी तीर्थ भी सदा जो आनंदविशेष वही हुई शीतलता उसकर मनोहर है तथा यह आत्मारूपीतीर्थ समस्त पापोंका नाश करनेवाला है अर्थात् जो पुरुष उसमें गोता मारनेवाले हैं उनकी आत्माके साथ किसीप्रकारके कर्ममलका संबंध नहीं रहता है इसालिये यही समस्त तीर्थोंमें उत्तम तीर्थ है किंतु जो वास्तविक तीर्थ नहीं केवल तीर्थके समान मालूम पड़ते हैं ऐसे प्रयागआदि तीर्थोंमें गंगाआदि नदियोंपर तुम क्यों व्यर्थ स्नान करते हैं।

नो दृष्टः शुचितत्त्वनिश्चयनदो न ज्ञानरत्नाकरः पापैः क्वपि न दृश्यते च समतानामातिशुद्धा नदी ॥
तेनैतानि विहाय पापहरणे सत्यानि तीर्थानि ते तीर्थाभाससुरापगादिषु जडा मज्जंति तुष्यंति च ॥

अर्थः—मूर्खलोगोंने अपने पापों तथा दुर्भाग्योंकी कृपासे न तो पवित्र निश्चयरूपी तालाबको देखा है

और न ज्ञानरूपी समुद्र उनकी नजर पड़ा है तथा कहींपर उन्होंने समतारूपी शुद्ध नदीको भी नहीं देखा है इसीलिये वे मूर्खपुरुष पापोंके सर्वथा नाश करनेवाले इन पवित्र तीर्थोंको छोड़कर जो वास्तविक तीर्थ नहीं है तीर्थाभास अर्थात् तीर्थोंके समान मालूम पडते हैं ऐसे गंगाआदि तीर्थोंमें स्नान करते हैं और स्नान करके अपनेको अत्यत संतुष्ट मानते हैं ।

भावार्थः—यदि निश्चयनयसे देखाजावे तो सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्ररूपी नदीमें भलीभांति स्नानकरनेसे समस्त पापोंका नाशहोता है किन्तु इनसे भिन्न नादियोंमें स्नानकरनेसे थोड़ेभी पापोंका नाश नहीं होता किन्तु जो पुरुष पापी है मूर्खहै इसालिये अपने पापोंकी तीव्रतासे अथवा दुर्भाग्योंसे जिन्होंने सम्यग्दर्शनरूपी तालाबको नहीं देखा है तथा सम्यग्ज्ञानरूपी समुद्रभी जिनकी नजरनहीं पड़ा है और अत्यंतशुद्ध समतारूपी नदीकी ओरभी जो झांककर नहीं देखसके हैं वेही ऐसे समस्तपापोंके नाशकरनेवाले पवित्र तीर्थोंको छोड़कर सदा पापके संचयकरनेवाले तथा जो तीर्थ नहीं है (तारनेवाले नहीं हैं) किंतु उल्टे संसारमें डुबानेवाले होनेकेकारण तीर्थके समानमालूम पड़ते हैं ऐसे गंगा त्रिवेणी आदि तीर्थोंको ही उत्तमतीर्थ मानकर उनमें स्नानकरते हैं तथा उनमें स्नानकर अपनेके संतुष्ट मानते हैं तथा कृतकृत्यमानते हैं थह बड़ी भारी भूल है इसालिये जो सर्वथा पापोंका नाशकरना चाहते हैं सुखी होना चाहते हैं उनको चाहिये कि वे समस्तपापोंके नाशकरनेवाले तथा परम पवित्र सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्ररूपी नादियोंमें ही स्नानकरैं और इन्हींको परमतीर्थ समझैं किन्तु इनसे भिन्न गंगा आदि नदियोंकीओर झांककरभी नहीं देखै और उनको तीर्थ न समझकर सर्वथा तीर्थाभास ही समझै ॥ ५ ॥

नो तीर्थं न जलं तदस्ति भुवने नान्यत्किमप्यस्ति तन्निश्शेषाशुचि येन मानववपुः साक्षादिदं शुध्यति ।
आधिव्याधिजरामृतिप्रभृतिभिर्व्याप्तं सदा तत्पुनः शश्वत्तापकरं यथास्य वपुषो नामाप्यसह्यं सताम् ॥

अर्थः—यह मनुष्योंका शरीर अत्यंततो अपवित्र है तथा सदा आधि व्याधि जरा मरण आदिक उपाधियोंसे व्याप्त है और सदा तापकाकरनेवाला है तथा सज्जनपुरुष इसका नाम श्रवणभी नहीं करसकते ऐसा यह मनुष्योंका शरीर है इसलिये इसखराब शरीरके शुद्धकरनेमें न तो कोई उत्तमतीर्थ इससंसारमें है और न कोई इसकी साक्षात् शुद्धिका करनेवाला जलहै तथा इनसे भिन्न और भी वस्तु कोई ऐसी नहीं है जो इसशरीरको वास्तविकरीतिसे शुद्ध करसके—

भावार्थः—बहुतसे भोले मनुष्य इसअत्यंत अपवित्र शरीरकी वास्तविकदशाको न जानकर दूसरोंके कहनेसुननेसे प्रयाग आदि तीर्थोंमें गंगाआदि नादियोंमें स्नानकर इसको पवित्र समझलेते हैं तथा कोई २ कूवें आदिके जलको ही गंगा आदिका जलमानकर तथा उसजलसे स्नानकर इसको पवित्र समझलेते हैं तथा कोई कोई तीर्थजलसे भिन्न रज आदि लगाकर ही अपने शरीरको पवित्रमानलेते हैं किन्तु आचार्यवर कहतेहैं कि यह उनमनुष्योंकी बड़ीभारी भूल है क्योंकि यह शरीर इतना अपवित्रहै कि इसकी बराबर संसारमें कोई चीज अपवित्र नहीं तथा यह शरीर अनेकप्रकारकी आधि ज्वर आदिक व्याधि वृद्धावस्था मरण आदि दुःखोंका घर है अर्थात् इसीके संबंधसे मनुष्योंको अनेकप्रकारके आधि व्याधि आदिक सहने पड़ते हैं तथा यह जीवोंको अनेकप्रकारके संतापोंका भी करनेवाला है इसलिये ऐसे निकृष्ट इसशरीरके पवित्र करनेके लिये इससंसारमें नतो कोई तीर्थ है तथा कोई जलभी नहीं है और इनसे भिन्न और भी कोई ऐसी चीज नहीं है जो इसशरीरको पवित्र करसके इसलिये सज्जनोंको चाहिये कि वे प्रयाग आदि तीर्थोंको तथा गंगा

संसारस्तनुयोग एष विषयो दुःखान्यतो देहिनो वन्हेर्लोहसमाश्रितस्य घनतो घातो यथा निष्ठुरात्[1] ।
त्याज्या तेन तनुर्मुमुक्षुभिरियं युक्त्या महत्या तया नो भूयोपि यथात्मनो भवकृते तत्सन्निधिर्जायते ॥

अर्थः—जिसप्रकार लोहके आश्रित अग्निको अत्यंत कठिन घनसे घात (चोट) सहने पड़ते हैं उसी प्रकार शरीरके संवन्धसे यह संसार होता है और संसारसे जीवोंको अनेकप्रकारके दुःख भोगने पड़ते हैं इसलिये जो भव्यजीव मुमुक्षु हैं अर्थात् मोक्षके अभिलाषी हैं उनको ऐसी किसी बड़ीभारी युक्तिकेसाथ इसशरीरका त्याग करदेना चाहिये कि जिससे पुनः इस आत्माको संसारमें भ्रमण करानेकेलिये इसशरीरका संबंध न होवे ॥

भावार्थः—जिससमय लोहपिंड अग्निमें रखदिया जाता है और जब वह अग्निस्वरूप परिणत होजाता है उससमय जिसप्रकार उसलोहके पिंडके साथ २ उस अग्निपरभी अत्यन्त कठोर घनके द्वारा अनेक चोटें पड़ती हैं उसीप्रकार जबतक इसशरीरका संबंध रहता है तबतक जीवोंको नाना प्रकारके दुःखोंका सामना करनापड़ता है क्योंकि इसशरीरके संबंधसे जीव नानाप्रकारके पापोंका उपार्जन करता है और उनपापोंसे उसको इसचतुर्गतिस्वरूप संसारमें घूमना पड़ता है और संसारमें घूमनेसे उसको अनेक प्रकारके दुःख भोगने पड़ते हैं इसलिये आचार्यवर उपदेशदेते हैं कि जो मनुष्य मुमुक्षु हैं अर्थात् संसारके दुःखोंसे छूटकर मोक्षको जाना चाहते हैं उनको चाहिये कि वे ऐसी किसी बड़ीभारी युक्तिसे इस शरीरका त्यागकरें कि फिरसे अनेक भावोंमें भ्रमण करानेवाले इसशरीरका आत्माके साथ संबंध न होवे ॥ ७ ॥

रक्षापोषविधौ जनोस्य वपुषः सर्वः सदैवोद्यतः कालादिष्टजरा करोत्यनुदिनं तज्जर्जरं चानयोः ।
स्पर्द्धामाश्रितयोर्द्वयोर्विजयनी सैका जरा जायते साक्षात्कालपुरस्सरा यदि तदा कास्था स्थिरत्वे नृणाम् ॥

1 ख पुस्तक म घाताद्यतो निष्ठुरात् यह भी पाठ है ॥

अर्थः—यह मनुष्यतो इसशरीरकी रक्षाकरनेमें तथा पोषण करनेमें सदा लगारहता है परंतु कालकी आज्ञाकारिणी दासी यह वृद्धावस्था सदा उसशरीरको जर्जरित्त अर्थात् छिन्नाभिन्न करती रहती है और यदि आपसमें ईर्षा द्वेष करनेवाले ऐसे इन जन्ममरणोंके मध्यमें काल है आगे जिसके ऐसी सबको जीतनेवाली यह वृद्धावस्था मोजूद है तो यह शरीर सदाकाल रहैगा ऐसा मनुष्योंको क्या दृढ विश्वास है ? ॥

भावार्थः—यदि इसशरीरको रातदिन उजाड़नेवाली यह कालकी दासी वृद्धावस्था न होती तबतो मनुष्योंका नानाप्रकारसे इसशरीरकी रक्षाकरना, दूध दही घी आदि स्निग्धपदार्थोंसे और इत्र फुलेल सुगंध लगाकर इसशरीरका पोषणकरना व्यर्थ न होता किंतु मनुष्यतो सदा इसशरीरका रक्षण करता रहता है और सदाही इसका पोषण करता रहता है तो भी यह दुष्ट जरा उसको उजाड़ती ही रहती है इसलिये सदा कियाहुवा भी रक्षण तथा पोषण इसशरीरका व्यर्थही होजाता है और यदि परस्परमें ईर्षा रखनेवाले जन्म-मरणके मध्यमें सबको जीतनेवाली और जिसके आगे काल मोजूद है ऐसी वृद्धावस्था न होती तबतो मनुष्योंको, यह शरीर सदाकाल रहैगा कभीभी नाश नहीं होगा ऐसा विश्वास करना उचित होता लेकिन काल-की दासी सबोंको जीतनेवाली वृद्धावस्थातो जन्ममरणोंके वीचमें वैठी हुई है इसलिये क्या निश्चय है कि यह शरीर सदा काल रहेगा इसलिये जो मनुष्य वास्तविक तत्त्वके स्वरूपको जाननेवाले हैं उनको चाहिये कि वे इस शरीरको स्थिर समझकर व्यर्थ इसकी रक्षा तथा पोषण न करैं और यह स्थिर है यह भी न माने ॥ ८ ॥

इतिश्रीपद्मनंदि आचार्यद्वारा विरचित श्रीपद्मनंदिपंचविंशतिकामें शरीराष्टकनामक अधिकार समाप्त हुवा।

अथ स्नानाष्टकम् ।

शार्दूलविक्रीडित ।

सन्माल्यादि यदीयसन्निधिवशादस्पृश्यतामाश्रयेद्विण्मूत्रादिभृतं रसादिघटितं वीभत्सु यत्पूति च ।
आत्मानं मलिनं करोत्यपि शुचिं सर्वाशुचीनामिदं संकेतैकगृहं नृणां वपुरपां स्नानात् कथं शुद्ध्यति ॥

अर्थः—जिसशरीरके संबन्धमात्रसेही उत्तम सुगंधित पुष्पोंकी बनीहुई मालाभी स्पर्श करनेयोग्य नहीं रहती हैं और जो शरीर विष्टा मूत्र आदिकसे चौतर्फा भरा हुवा है और अनेकप्रकारके रस आदिकोंसे बना हुवा है और अत्यंत भयका करनेवाला है तथा दुर्गंधसे व्याप्त है और जो शरीर अत्यंत पवित्र भी आत्माको मलिन करदेता है और समस्ताजितनेभर संसारमें अपवित्र पदार्थ हैं उनसवका संकेत घर है ऐसा यह मनुष्योंका शरीर जलके स्नानसे कैसे शुद्ध होसकता है ? ॥

भावार्थः—अनेक मनुष्य ऐसा समझते हैं कि यह शरीर स्नानकरनेसे पवित्र होताहै लेकिन यह सर्वथा उनकी भूलही है क्योंकि जो मनोहर पुष्पोंकी माला अत्यंत सुगंधित तथा उत्तम होती है वह मालाभी एक समय इसशरीरके संबंधसेही ऐसी होजाती है कि औरकी तो क्या वात ? उसका स्पर्श भी नहीं कियाजाता है और स्वयं यह शरीर विष्टा मूत्र आदि निकृष्ट पदार्थोंका भंडार है तथा अनेकप्रकारके रसोंसे भराहुवा है और अत्यंत भयंकर तथा दुर्गन्धमय है और यद्यपि आत्मा पवित्र है लेकिन यह शरीर उस आत्माको भी अपवित्र बनालेता है और जितनेभर संसारमें अपवित्र पदार्थ हैं उनसबका स्थान यह शरीरही है इसलिये ऐसा निकृष्ट शरीर कैसे जलसे शुद्ध होसकता है ? कदापि नहीं होसकता ॥ १ ॥

आत्मातीव शुचिःस्वभावत इति स्नानं वृथास्मिन् परे कायश्चाशुचिरेव तेन शुचितामभ्येति नो जातुचित् ।
स्नानस्योभयथेत्यभूद्विफलता ये कुर्वते तत्पुनस्तेषां भूजलकीटकोटिहननात्पापाय रागाय च ॥

अर्थः—आत्मा तो स्वभावसे अत्यंत पवित्र है इसलिये इसआत्माके पवित्रकरनेकेलिये स्नान करना व्यर्थही है और शरीर सर्वथा अपवित्रही है यह कदापि पवित्र हो नहीं सकता इसलिये इसशरीरके पवित्र करनेकेलिये भी वह स्नान बिना प्रयोजनका ही है अतः दोनों प्रकारसे स्नान विफलही है ऐसा सिद्धहुवा इसलिये ऐसा निश्चय होनेपर भी जो पुरुष स्नानको करते हैं उनमनुष्योंद्वारा कियाहुवा वह स्नान करोड़ों पृथ्वीकायके तथा जलकायके जीवोंके नाश होनेसे पापके तथा रागकेलिये ही होता है ॥

भावार्थः—यह बातविचारकरने योग्य है कि मनुष्य जो स्नान करते हैं वे किसचीजकी शुद्धिकेलिये स्नान करते हैं। कहोगे यदि आत्माकी शुद्धिकेलिये स्नान करते हैं तो उनका स्नान करना सर्वथा व्यर्थ ही है क्योंकि आत्मा स्वभावसेही अत्यंतशुद्ध है और जो स्वभावसे शुद्ध होता है उसको शुद्धकरनेवाले दूसरे पदार्थकी आवश्यकता नहीं होती यदि कहोगे कि शरीरकी शुद्धिकेलिये स्नान करते हैं तोभी स्नान करना सर्वथा निरर्थकही है क्योंकि जो पदार्थ सर्वथा अशुद्ध होता है वह कदापि शुद्ध हो नहीं सकता जिसप्रकार कोला कभीभी सफेद नहीं होसकता। शरीर सर्वथा अशुद्ध है इसलिये उसकी शुद्धता स्नानसे होनहीं सकती इसलिये स्नान शरीर तथा आत्मा दोनोंकेलिये सर्वथा विफलही है किंतु जो मनुष्य ऐसा समझकर भी स्नान करते हैं वे लोग पापका ही संचय करते हैं क्योंकि स्नानके करनेसे पृथ्वीकायके तथा जलकायके जीवोंका विध्वंस होता है और जीवोंके विध्वंससे पाप होता ही है यह बात सर्वसम्मत है। तथा स्नानके करनेसे राग भी बढ़ता है इसलिये मनुष्योंको यह कभी भी नहीं समझना चाहिये कि स्नान शरीर तथा आत्माकी शुद्धिकेलिये

उत्तम फलका देनेवाला होता तो वे अष्टमी चतुर्दशीआदि पर्वोंमें अपनी स्त्रीका त्याग क्यों करदेते तथा तपके समय भी उनअपनीस्त्रियोंको विद्वानलोग क्यों छोड़ देते ।

भावार्थः—जैनशास्त्रोंमें अष्टमी चतुर्दशी पर्वोंका बड़ाभारी माहात्म्य मानागया है तथा जिन२ भव्यजीवोंने इन पर्वोंमें यथायोग्य व्रतोंका पालनकिया है उनको अनेकप्रकारके उत्तमोत्तम फलोंकी प्राप्ति भी हुई हैं इसलिये उत्तमफलके अभिलाषी सज्जनपुरुष इनपर्वोंमें यथायोग्य भलीभांति व्रतोंका आचरण करते हैं जिससमय ये सज्जनपुरुष अष्टमी चतुर्दशी आदिपर्वोंमें उपवास आदि व्रतोंको धारण करते है उससमय वे परस्त्रियोंका त्यागतो करतेही हैं किंतु अपनीस्त्रियोंको भी सर्वथा त्यागकरदेते हैं इसीयुक्तिको लेकर आचार्य उपदेश देते हैं कि हे अत्यंतनिकृष्टमैथुनकर्मकेअभिलाषीपुरुषो ? यदि सज्जनोंको अपनी स्त्रियोंमें कीहुई प्रीति अथवा उनकेसाथ कियाहुआ मैथुन शुभफलका देनेवाला होता तो सज्जनपुरुष पर्वोंमें उपवास व्रतोंको धारण करतेसमय स्त्रियोंका क्यों सर्वथा त्यागकरदेते इसलिये मालूम होताहै कि अपनी स्त्रियोंकेसाथ कियाहुआ भी मैथुन किसीप्रकारके शुभफलोंका देनेवाला नहीं है तथा जिससमय सज्जनपुरुष संसारमें कामभोग आदिसे विरक्त होकर तपको जाते हैं उससमय सर्वथा स्त्रियोंका त्याग करकेही जाते हैं बताओ यदि स्त्रियोंकेसाथ मैथुन करनेसे जराभी शुभफलकी प्राप्ति होती तो सज्जनपुरुष तपके समय अपनी स्त्रियोंको साथ क्यों नहीं लेजाते इसलिये साफ मालूम होता हैं कि मैथुनकरनेसे थोड़ेसेभी उत्तमफलकी प्राप्ति नहीं होती ॥ ३ ॥

रतिपतेरुदयान्नरयोषितोरशुचिनोर्वपुषोः परिघट्टनात् ।
अशुचि सुष्ठुतरं तदितो भवेत्सुखलवे विदुषः कथमादरः ॥४॥

अर्थः—जिससमय कामकी उत्पत्ति होती है उससमय कामकी उत्पत्तिसे अत्यंत अपवित्र दोनोंशरीरोंका

आपसमें परिघट्टन अर्थात् घिसना होता है तथा उस परिघट्टनसे अत्यंत अपवित्र फलकी प्राप्ति होती है इस-लिये थोड़ेसे सुखकी प्राप्तिकेलिये विद्वानलोग कैसे उसमैथुनमें आदर करसकते हैं। कभी भी नहीं करसकते।

भावार्थः—यह नियम हैं कि कारण जैसा होता है कार्यभी वैसाही होता है यदि कारण अच्छा होवे तो कार्यभी उससे अच्छाही उत्पन्न होता है और यदि कारण खराब होवे तो कार्य भी उससे खराब ही उत्पन्न हुआ देखने में आता है मैथुन उस समय होता है जिस समय कामी दोंनों स्त्री पुरुषोंको कामकी अतितीव्रता होती है तथा तीव्रताके होने पर जब उन दोनोंके अत्यंत अपवित्र शरीरोंका आपसमें मिलाप होता है इस-लिये जब दोनों अपवित्र शरीरोंका मिलाप ही मैथुनकी उत्पत्तिमें कारण पड़ा तो समझना चाहिये कि मैथुन का एक अत्यंत खराब फल है इसलिये इसप्रकारके मैथुनसे उत्पन्न हुवे थोड़े सुखमें विद्वान लोग कैसे आदरको कर सकते हैं ? अर्थात् कभी भी नहीं कर सकते ॥ ४ ॥

अशुचिनि प्रसभं रतकर्मणि प्रतिशरीररतिर्यदपि स्थिता।
चिदरिमोहविजृंभणदूषणादियमहो भवतीति निषेधिता ॥

अर्थः—कामके वशीभुत होकर वलात्कारसे अत्यंत अपवित्र मैथुनकर्मके होनेपर कामी स्त्री पुरुषोंके शरीर में उत्पन्न हुई यह कामसंबंधी प्रीति चैतन्यका वैरी जो मोह उसके फैलावके दूषणसे होती है इसलिये यह कामकी प्रीति सर्वथा निषिद्ध मानी गई है।

भावार्थः—जबतक इस आत्मामें मोहनीय कर्मकी प्रवलता रहती है तबतक वास्तविक चैतन्यस्वरूप-आत्माका प्रगट नहीं होता क्योंकि आत्माका जो वास्तविक चैतन्य स्वरूप है उसका यह मोहनीय कर्म प्रवल वैरी संसार में है। और यह जो रति उत्पन्न होती है सो इस मोहनीय कर्मकी प्रवलतासेही होती है क्योंकि काम

के वशीभूत होकर जब दोनों स्त्री पुरुष परस्पर में स्नेह रूपी रस्सी में बंध जाते हैं तथा स्नेह रूपी रस्सी में बंध कर जब वे मैथुन कर्म में प्रवृत्त होते हैं उस समय उन दोनों के शरीरमें यह काम संबन्धी रति स्थित होती है इसलिये इस रतिकी उत्पत्ति आत्माके वास्तविचैतन्यके वेरी मोहके फैलावसेही होती है इसीलिये सर्वथा वास्तविक वस्तुके स्वरूपसे हटानेवाली इस रतिका निषेध विद्वानलोगोंने किया है ॥ ५ ॥

निरवशेषयमद्रुमखंडने शितकठारहतिर्ननु मैथुनम् ।
सततमात्महितं शुभमिच्छता परिहतिविधिनास्य विधीयते ॥

अर्थः—आचार्य कहते हैं कि यह मैथुन कर्म समस्त संयमरूपी वृक्षके खंडन करनेमें तीक्ष्ण् कुठारकी धाराके समान हैं इसलिये जो मनुष्य निर्मल अपनी आत्माके हितके करनेवाले हैं वे इसका सर्वथा त्याग कर देते है।

भावार्थः—पांच प्रकारके स्थावर तथा जीवोंकी जो रक्षा करना है इसीका नाम संयम है वह संयम मैथुनकर्ममें प्रवृत्तिहोनेपर कदापि नहीं पलता है क्योंकि मैथुनकर्मके करनेसे अनेकप्रकारके जीवोका विघात होता है इसलिये मैथुन करनेसे किसी प्रकारके आत्माके हितकी प्राप्ति नहीं होती हैं इसीलिये जो पुरुष यह चाहते हैं कि हमारी आत्माका किसीप्रकारसे हित होवे वे इस महान निकृष्ट पापके करनेवाले मैथुनकर्मका सर्वथा त्याग करते हैं अतः आत्महितैषियोंको कदापि इस मैथुनकर्म की ओर ऋजु नहीं होना चाहिये किंतु इसका दूरसे ही त्याग करदेना चाहिये ॥ ६ ॥

मधु यथा पिवतो विकृतिस्तथा वृजिनकर्मभृतः सुरते मतिः ।
न पुनरेतदभीष्टमिहागिनां न च परत्र यदायतिदुःखदम् ॥

अर्थः—जिसप्रकार मदिरापीनेवालेपुरुषको, विकार होते हैं उसीप्रकार जो पुरुष पापी हैं उसकी सदा रति

करने मैं इच्छा रहती है किंतु यह मद्य जीवोंको किसीप्रकारके हितका करनेवाला नहीं है तथा दूसरे भवमें भी यह अनेक प्रकारके दुःखोंको देनेवाला है।

भावार्थः—जिसप्रकार जोपुरुष सदा मदिराका पीनेवाला है यदि उसको किसीरीतिसे किसीसमय मादिरा न मिले तो उसको अनेकप्रकारके विकार उत्पन्न हो जाते हैं उसी प्रकार जो मनुष्य पापी है अर्थात मैथुन आदि खराब काम करनेमें जराभी भय नहीं करता है उस मनुष्यको सदा अभिलाषा मैथुनकर्मके करने की ही रहती है किंतु यह मैथुनकर्म किसीप्रकारके हितका करनेवाला नहीं केवल जीवोंको नानाप्रकारके अहितोंकाही करनेवाला है तथा आगामीकालमें भी यह जीवों को नानाप्रकारके भयंकर दुःखों का देनेवाला है इसलिए परभवमें भी किसीप्रकारके सुखको आशा नहीं इसलिये जो पुरुष मोक्षाभिलाषी है आत्माके सुखको चाहते हैं उनको चाहिये कि वे कदापि मैथुनकर्ममें अपनी प्रवृत्ति को नकरैं॥ ७॥

रतिनिषेधविधौ यततां भवेच्चपलतां प्रविहाय मनः सदा।
विषयसौख्यमिदं विषसन्निभं कुशलमस्ति न भुक्तवतस्तव॥

अर्थः—आचार्य महाराज उपदेश देते हैं कि जो मनुष्य अपना हित चाहते हैं उनको इसरीतिसे अपने मनको अच्छीतरह शिक्षा देनी चाहिये कि हेमन तू सदा चपलताको छोड़कर रहा तथा रतिके निषेध करनेमें प्रयत्नकर क्योंकि यह विषयसौख्य विषके समान है और इस विषयसुखको भोगनेवाले तेरी किसी प्रकारसे कुशल नहीं है॥

भावार्थः—जो मनुष्य विषके भक्षण करनेवाला होता है उसकी जिसप्रकार संसारमें खैर नहीं रहती उसको अनेकप्रकारके दुःखोंका सामना करना पड़ता है उसीप्रकार हे मन यह विषय सुख भी मानिंद जहर के है इसलिये जो तू इसमें सुखमानकर रातादिन इसके भोगकरने में तत्पर रहता है इसमें तेरी खैर नहीं

तुझै नानाप्रकारकी आपत्तियोंका सामना करना पड़ेगा इसलिये ऐसा भलीभांति समझकर हे मन तू अपनी चंचलताको छोड़दे तथा रतिकर्मके हटानेके लिये सदा जैसे बने वैसे कोशिश कर ॥ ८ ॥

युवतिसंगतिवर्जनमष्टकं प्रति मुमुक्षुजनं भणितं मया ।
सुरतरागसमुद्रगता जनाः कुरुत मा क्रुधमत्र मुनौ मयि ॥९॥

इति श्रीपद्मनंद्याचार्यविरचितपद्मनंदिपंचविंशतिका
समाप्ता ।

अर्थः—जो मनुष्य मुमुक्षु हैं मोक्षकी प्राप्तिके अभिलाषी हैं उन्हीं मनुष्यों केलिये यह मैंने युवति स्त्रियोंके संगको निषेध करनेवाला अष्टकका अर्थात् ब्रह्मचर्याष्टकका वर्णन किया है किंतु जो मनुष्य भोगरूपी रागसमुद्रमें डूबे हुवे हैं इस अष्टकको अच्छा नहीं समझते हैं वे मुझै मुनि जानकर मेरे ऊपर क्षमाकरैं ॥

इसप्रकार मुनि श्रीपद्मनंदिआचार्यद्वारा विरचित पद्मनंदिपंचविंशतिकामें
ब्रह्मचर्याष्टकनामक अधिकार समाप्तहुवा ।

इसप्रकार यह श्रीपद्मनंदिआचार्यद्वारा विरचित श्रीपद्मनंदिपंचविंशतिकाका
नवीनहिन्दीभाषानुवाद समाप्त हुवा ।

इतिश्रीपद्मनंदिपञ्चविंशतिका

सूचना—इस पते से एक कार्ड भेज दीजिये और घर बैठे पुस्तकें मंगा लीजिये ।

मिलने का पता—मालिक श्री जैन भारती भवन बनारस-सिटी.